प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं

(ANCIENT INDIAN POLITICAL THOUGHT AND INSTITUTIONS)

•

हरीशचन्द्र शर्मा, एम० ए०

भारत में लोक प्रशासन, तुलनात्मक लोक प्रशासन,
भारत में स्थानीय प्रशासन, इंग्लैण्ड में स्थानीय
प्रशासन, फ्रांस में स्थानीय प्रशासन,
अमेरीका में स्थानीय प्रशासन,
आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त
आदि पुस्तकों के लेखक
एवं
अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की विचारभूमि,
लोक प्रशासन के नये क्षितिज आदि पुस्तकों के सह-लेखक

•

कॉलेज बुक डिपो, जयपुर

प्रकाशक
कॉलेज बुक डिपो,
जयपुर

प्रथम संस्करण १९६८

मूल्य . बीस रुपये

मुद्रक .
कालेज प्रेस
जयपुर

प्राक्कथन

प्राचीन भारतीय आचार्यों ने राज्य के स्वरूप, संगठन, कार्य एवं विभिन्न पहलुओं पर पर्याप्त सोचा था किन्तु उनके राजनैतिक विचारों की प्रक्रिया धार्मिक चिन्तन से अधिक प्रभावित रही। इसके अतिरिक्त इन आचार्यों में से अधिकांश ने अपने विचार प्रकट करने पर ही विशेष ध्यान दिया, उन विचारों को प्रभावी बनाने के लिए किसी प्रकार के आन्दोलन का सूत्रपात नहीं किया। फलस्वरूप वे विचार व्यवस्थित रूप में वैज्ञानिक ढग से प्रतिपादित नही हो सके। एक लम्बे समय तक विदेशियों के शासन के आधीन रहने के कारण इन राजनैतिक विचारों एवं संस्थाओं को अधिक महत्व भी प्राप्त नही हो सका। यहां तक कि इनसे सम्बन्धित अधिकांश ग्रन्थ भी अपना कोई अवशेष छोड़े बिना ही अतीत के कलेवर में विलुप्त हो गये। ब्रिटिश शासन के अन्तिम दिनों में जब भारत में राष्ट्रीयता की लहर दौड़ी तो भारतीयों ने अपने अतीत के गौरव की खोज प्रारम्भ की। कई उत्साही एवं लगनशील विद्वानों ने विभिन्न प्राचीन भारतीय एवं विदेशी ग्रन्थों में प्राप्त राजनैतिक सामग्री को एकत्रित करने का प्रशंसनीय कार्य किया।

सम्बन्धित अनुसंधानों ने आज यह प्रमाणित कर दिया है कि राजनीति शास्त्र के भण्डार में प्राचीन भारतीयों ने अपना उल्लेखनीय योगदान किया था। यह तो इतिहास की भूल रही कि वह इसका उचित मूल्यांकन नहीं कर पाया। यह कहना कोई अतिशयोक्ति अथवा दुराग्रह नहीं होगा कि यदि इनका उचित अध्ययन एवं मूल्यांकन किया जाये तो वर्तमान राजनीति शास्त्र अनेक प्रकार से लाभान्वित हो सकता है। प्रस्तुत रचना इसी दिशा में किया गया एक प्रयास है। इसका लक्ष्य राजनीति शास्त्र के जिज्ञासुओं तथा प्राचीन भारतीय गौरव के अन्वेषकों के मार्ग को सरल बनाना है। यह विभिन्न विश्वविद्यालयों के उन विद्यार्थियों के लिये भी उपयोगी रहेगी जिन्होंने प्राचीन भारतीय राजनैतिक विचारों एवं संस्थाओं को अध्ययन के एक विषय के रूप में अपनाया है। ग्रन्थ की विषयवस्तु में उस सबको लाने का प्रयास किया गया है जो कि राजस्थान विश्वविद्यालय के अतिरिक्त लखनऊ, कानपुर, अलीगढ़, आगरा, इलाहाबाद, बनारस आदि विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में सम्मिलित है।

रचना का प्रारम्भ प्राचीन भारतीय राजनैतिक विचारों एवं संस्थाओं के परिचय से होता है। यहां यह जानने की चेष्टा की गई है कि राजनैतिक अध्ययन को भारतीय आचार्यों ने क्या-क्या नाम दिये थे, उनके विचारों का अध्ययन किन उपलब्ध व अनुपलब्ध भारतीय तथा विदेशी स्रोतों से किया जा सकता है, इस अध्ययन की उपादेयता क्या है, इसकी प्रमुख विशेषताएं क्या हैं तथा विभिन्न युगों में इसका विकास किस प्रकार हुआ। दूसरा अध्याय धर्म और सम्प्रभुता सम्बन्धी भारतीय विचारों का उल्लेख करता है। तीसरे अध्याय में राज्य के स्वरूप का वर्णन करते हुए तत्सम्बन्धी सप्तांग सिद्धांत का उल्लेख किया गया है। साथ ही राज्य की उत्पत्ति से सम्बन्धित विभिन्न सिद्धांतों, उसके विकास के सोपानों, राज्य के प्रचलित प्रकारों तथा कार्यों आदि का विश्लेषण किया गया है। चौथा अध्याय राज्य के लोक कल्याणकारी

रूप पर प्रकाश डालते हुए व्यक्ति एवं राज्य के सम्बन्ध, राजनैतिक दायित्व के आधार, नागरिक अधिकार आदि विषयों पर प्रकाश डालता है।

पांचवें अध्याय में सम्पत्ति एवं दण्ड की संस्थाओं का वर्णन है। भारतीय आचार्यों ने सम्पत्ति से सम्बन्धित विभिन्न समस्याओं पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। भारतीय आचार्यों ने सम्पत्ति की रक्षा के लिए दण्ड को आवश्यक माना था। दण्ड के न होने पर अराजकता एवं मात्स्य न्याय की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। दण्ड महत्वपूर्ण है। जब सभी सो जाते हैं तो दण्ड जागता रहता है। यह सभी को उनके धर्म में प्रतिष्ठित करता है। प्राचीन ग्रन्थों में अपराधों के प्रकार और तदनुसार दण्ड की उपयुक्त व्यवस्था की गई है। ग्रन्थ के छठे सातवें और आठवें अध्याय में क्रमशः कार्यपालिका, व्यवस्थापिका एवं न्यायपालिका के तत्कालीन संगठन तथा कार्यों पर विचार किया गया है। प्राचीन भारत के नगरों तथा गांवों के प्रशासन के लिए अलग अलग व्यवस्थाएं की गई थीं। प्रशासनिक सत्ता पर्याप्त विकेन्द्रित थी। इनको देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में प्रजातन्त्र की परम्पराएं पर्याप्त गहरी थीं। उनका प्रचलन वैदिक काल से ही प्रारम्भ हो गया था। समय के साथ साथ उनका विकास होता रहा। दसवां अध्याय विभिन्न कालों में गणराज्यों की स्थिति का स्पष्टतः अध्ययन करता है। आगे के अध्याय राजपद की उत्पत्ति, कार्य एवं महत्व, मंत्री परिषद का संगठन एवं शक्तियां; करारोपण के सिद्धांत, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध एवं कूटनीति और कौटिलीय धर्मशास्त्र के विचारों से सम्बन्धित हैं। अन्तिम अध्याय में राजनैतिक विचारों के लिए प्राचीन भारतीयों के योगदान पर प्रकाश डाला गया है। दो शब्दों में यह कहा जा सकता है कि ग्रन्थ ने प्राचीन भारत की स्थानीय सम्बन्धों से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों तक की सभी समस्याओं के सभी पहलुओं को अपने सूक्ष्म निरीक्षण का विषय बनाया है।

गणपति गणेश की अनुमति से प्रारम्भ होने के बाद भी अनेक घटनाओं एवं दुर्घटनाओं के परिणामस्वरूप यह रचना अपने लक्ष्य तक पहुंचने के बारे में उतनी ही आशंकित हो गई थी जितना कि स्वयं रचनाकार का जीवन संदिग्ध बन गया था। यह रचना अपने रचनाकार के साथ उन समस्त गुरुजनों, आत्मीयों एवं साथियों की दिल से शुक्रगुजार है जिनकी शुभ कामना, सहयोग एवं देख रेख के साये में ही इसे प्राचीन भारतीय ज्ञान भण्डार का थोड़ा साक्षात्कार करने का अवसर प्राप्त हो सका है।

जिन भारतीय एवं विदेशी ग्रन्थकारों के विचारों को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से आलोचना अथवा समर्थन के लिये छुआ गया है उनको रचना हार्दिक धन्यवाद देती है। श्री विष्णुदास चौधरी का अथक सक्रिय सहयोग भी उनको धन्यवाद का पात्र बना देता है। प्रकाशक बन्धुओं को धन्यवाद देना तो उपयुक्त होते हुए भी आवश्यक प्रतीत नहीं होता।

ग्रन्थ के पाठकों से विषयवस्तु एवं उसके प्रस्तुतीकरण के सम्बन्ध में रचनात्मक विचारों की उपलब्धि अपेक्षित है।

—हरीशचन्द्र शर्मा

विषय-सूची

1

प्राचीन भारतीय राजनीति का परिचय

(AN INTRODUCTION OF INDIAN POLITY)

भारतीय राजनीति का इतिहास उतना ही पुरातन है जितना कि यहां की सभ्यता, संस्कृति और धर्म है। वैदिक साहित्य म स्थान-स्थान पर ऐसा वृतान्त आता है जिसे देखने से तत्कालीन राजनैनिक विचारो एवं व्यवस्था का थोड़ा बहुत परिचय प्राप्त होता है। ऋगवेद के कुछ श्लोक राज्यशास्त्र के विषय पर प्रकाश डालते हैं। अथर्ववेद में राजनीति से सम्बंधित अनेक श्लोक हैं। इन श्लोकों में राजपद के सम्बंध में बहुत कुछ कहा गया है। यजुर्वेद में स्थान-स्थान पर राजा द्वारा किये जाने वाले यज्ञों का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त राजतिलक, राज पद का सम्मान, राजकर्मचारियों की सख्या एवं कार्य तथा ऐसे ही अन्य विषयों का भी विवरण आया है। भारतीय राजनीति से सम्बंधित प्राचीन ग्रन्थ परिस्थितियों के उतार-चढ़ाव एवं इतिहास के मोड़ों के साथ अपना अस्तित्व खो बैठे। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि प्राचीन भारत में राजनीति की ओर विचारकों एवं लेखकों का ध्यान ही नहीं गया था। इन अनुपलब्ध ग्रन्थों तथा इनकी परम्परा के अभाव में मैगस्थनीज ने यह कहा था कि भारतवासी लेखन कला से अज्ञात थे; किन्तु उसका यह कथन असत्य होने के साथ-साथ उसके विदेशीपन का भी प्रतीक है। राजनीति विषयक विभिन्न उपलब्ध ग्रन्थों में प्राप्त अनेक उद्धरणों से यह स्पष्टतः ज्ञात हो जाता है कि इस विषय पर बहुत पहले से ही विचार होता रहा है। यहां एक उल्लेखनीय बात यह है कि राज्य से सम्बंधित विचारों एवं संस्थाओं के अध्ययन का नाम समय-समय पर बदलता रहा है। इस विषय का निरूपण अलग-अलग ग्रन्थकारों द्वारा भिन्न-भिन्न नामों के अन्तर्गत किया गया है।

हिन्दू राजनीति का नामाभिधान
(Nominclature of Hindu Polity)

हिन्दू राजनीति को ग्रन्थों में अलग-अलग संज्ञायें प्रदान की गई हैं। प्राचीन काल में इसे राजधर्म, राज्यशास्त्र, दण्डनीति, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि शब्दों से सम्बोधित किया जाता था। समय के अनुसार इन नामों के प्रचलन की लोकप्रियता घटती व बढ़ती रही है। मनुस्मृति के सातवें अध्याय में हिन्दू राजनीति के लिए राजधर्म शब्द का प्रयोग किया गया है। महाभारत के शान्ति पर्व के प्रथम कुछ अध्याय भी राज्य धर्म के सम्बंध में बहुत कुछ कहते हैं। यहां राजधर्म को क्षत्रियधर्म के साथ एक रूप कर दिया गया है। राजा युधिष्ठिर को समझाते हुए अर्जुन कहते हैं कि "क्षत्रियों का धर्म बड़ा भयंकर है। उसमें सदा शस्त्र से ही काम पड़ता है और समय आने पर युद्ध

में शस्त्र द्वारा उनका वध भी हो जाता है।"[1] शान्ति पर्व के ही चौदहवें अध्याय में युधिष्ठिर को समझाते हुए द्रौपदी ने बताया है कि "राजाओं का धर्म यही है कि वे दुष्टों को दण्ड दें, सत्पुरुषों का पालन करें तथा युद्ध में कभी भी पीठ न दिखायें।"

हिन्दू राजनीति के लिए राजशास्त्र शब्द का प्रयोग भी महाभारत में स्थान-स्थान पर हुआ है। राजधर्म तथा राज्यशास्त्र—इन दोनों ही शब्दों का आश्रय राजपद है तथा इनका प्रचलन राजतन्त्र के समय में अधिक लोकप्रिय रहा है। इस काल में राजा का व्यक्तित्व, उसका पद, पद की कठिनाईयां, राजा के उत्तरदायित्व, उसके सहयोगी, राजा के गुण, राजा की शिक्षा-दीक्षा, प्रजा का राजा के प्रति कर्त्तव्य, राजा के अधिकार आदि बातों को राजनीतिशास्त्र के कलेवर में समाहित किया जाता था। महाभारत काल में शक्ति को राज पद का आधार माना गया है। अध्याय १४ के श्लोक १२ के अनुसार जो "कायर और नपुंसक है, वह पृथ्वी का उपभोग नहीं कर सकता। वह न तो धन का उपार्जन कर सकता है और न उसे भोग ही सकता है—ठीक उसी प्रकार जैसे कि केवल कीचड़ में मछलियां पैदा नहीं होतीं और नपुंसक के घर में पुत्र नहीं होते।" राजा में इतनी शक्ति होनी चाहिए कि वह अपने शत्रुओं का नाश कर सके। "शत्रुओं का वध करने से कर्त्ता को कोई पाप नहीं लगता।" इसके विपरीत जो देवता दूसरों का वध करते हैं उन्हीं की संसार अधिक पूजा करता है। उनके प्रताप के सामने नतमस्तक होकर सभी लोग इन्हें नमस्कार करते हैं। इस प्रकार शक्ति राज्य का आधार है और इसी को प्राचीन भारतीय ग्रन्थों ने राजा का विशेष गुण माना है। संसार में योग्यतम की विजय का सिद्धान्त प्रभावी है जिसके अनुसार प्रबल जीव दुर्बल जीवों द्वारा अपने जीवन का निर्वाह करते हैं। 'नेवला चूहे को खा जाता है और नेवले को बिलाव, बिलाव को कुत्ता और कुत्ते को चीता चबा जाता है।"[2] सृष्टि के इस क्रम को दैव का विधान मानकर यह उचित समझा जाता था कि विद्वान पुरुष किसी की हत्या, शोषण, दुःख आदि से विचलित होकर मोह पाश न फंसे। साथ ही वह अपने धर्म का पालन करता रहे। जैसा विधाता ने उसे बनाया है वैसा ही उसे होना चाहिए। शिकारी का धर्म जीवों की हत्या करना है तो ब्राह्मण का धर्म विद्याओं का अध्ययन करना। अपने कर्त्तव्य को न करना ही अधर्म है। राज्य शास्त्र या राज धर्म का नाम इस शास्त्र को इसीलिए दिया गया था क्योंकि इसका मुख्य सम्बन्ध राजा के जीवन व्यवहार से था।

---

1 "क्षात्र धर्मो महारौद्रः शस्त्रनित्य इति स्मृतः।
वधश्च भरतश्रेष्ठ काले शस्त्रेण भयुगे।।"
—महाभारत, पञ्चम् खण्ड, शान्ति पर्व, बाईसवां अध्याय, श्लोक—५, अनुवादक—पण्डित रामनारायण दत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम', गीता प्रेस गोरखपुर, पेज ४४६८

2. नकुलो मूषिकानत्ति बिडालो नकुलं तथा।
बिडालमत्ति श्वा राजञ्श्वानं व्यालमृगस्तथा।।
—महाभारत, शान्तिपर्व—१३ (२१), पेज ४४५५

हिन्दू राजनीति के लिए प्रयुक्त एक तीसरा नाम 'दण्डनीति' है। भारतीय विचारक बहुत पहले से ही सम्प्रभुता को राज्य का आधार मानने लगे थे। उनके मतानुसार बल प्रयोग या दण्ड के बिना कोई राज्य कायम नहीं रखा जा सकता। अराजकता, अव्यवस्था एवं अशान्ति को रोकने के लिए अपराधियों को दण्ड देना तथा अन्य लोगों को दण्ड का भय दिखा कर मर्यादा में बनाये रखना राज्य का प्रमुख कर्तव्य माना गया था। दण्ड की महत्ता के सम्बंध में मनु का कहना था कि जब सभी लोग सो रहे होते हैं तो दण्ड उनकी रक्षा करता है। उसी के भय से लोग न्याय का मार्ग अपनाते हैं।[1] महाभारत की मान्यता है कि यदि दण्ड का भय न हो तो एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को खा जायें, यदि दण्ड रक्षा न करे तो सब लोग घोर अन्धकार में डूब जांये।[2] मि. जायसवाल ने दण्ड नीति को सरकार के सिद्धान्त (*Principles of Government*) कहा है।[3] महाभारत के मतानुसार दण्ड शब्द का प्रयोग उस व्यवस्था विशेष के लिए किया जाता है जो कि उद्दण्ड मनुष्यों का दमन करती है और दुष्टों को सजा देती है[4] इस व्यवस्था से सम्बंधित शास्त्र को दण्ड नीति कहना उपयुक्त समझा गया। दण्ड के अधिकार का प्रयोग अनेक जटिलताओं से पूर्ण है तथा इसके स्वरूप एवं परिणामों पर व्यापक रूप से विचार किया जाना परम आवश्यक बन जाता है। दण्ड नीति के अन्तर्गत विभिन्न विषयों का स्पष्टीकरण इसी आवश्यकता की पूर्ति था। एक अपराधी को कितना दण्ड दिया जाये तथा किस अपराध के लिए क्या दण्ड निर्धारित किया जाये-यह एक ऐसा प्रश्न है जिसके सम्बंध में उपयुक्त विचार किये बिना ही कार्य करने पर सम्भावित परिणाम प्राप्त न हो कर उल्टे तथा अवांछित परिणाम भी प्राप्त हो सकते हैं। यदि राजा द्वारा अधिक मात्रा में तथा कठोर दण्ड दिया जायेगा तो प्रजा में उसके प्रति द्वेष, विरोध एवं असंतोष की भावनायें उभर आयेंगी। इसी प्रकार यदि राजा द्वारा उपयुक्त से भी कम दण्ड प्रदान किया गया तो उसका वांछनीय प्रभाव नहीं होगा और जनता द्वारा राजा का अनादर किया जायेगा। असल में दण्ड का लक्ष्य जनता का सुख, समाज की प्रगति एवं प्रशासन को स्थिरता प्रदान करना होता है। जनता में भय की भावना एवं आतंक के विचारों का उदय दण्ड का एक स्वाभाविक प्रभाव माना जा सकता है किन्तु इसको उद्देश्य स्वीकार नहीं किया जा सकता। असल में दण्ड प्रयोग का लक्ष्य दण्ड प्रयोग के अवसरों को घटाना अथवा पूर्ण रूप से मिटाना है। अपराधियों की दुर्दशा होते देखकर सामान्य जनता में कानून के अनुसार चलने की प्रवृत्ति जाग्रत होती है और इस प्रकार धीरे-धीरे दण्ड देने की आवश्यकता एवं अवसर कम होते चले जाते हैं। कौटिल्य का अर्थशास्त्र दण्ड को अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति का एक साधन मानता

मनुस्मृति, ८ (१४)

2. महाभारत, १५ (७)
3. K. P. Jayaswal, Hindu Polity, P. 5, 2nd ed., The Bangalore Printing and Publishing Co. Ltd., 1943
4. महाभारत–शान्तिपर्व, १५ (८)

है जो कि न केवल व्यक्तिगत रूप से वरन् सामाजिक रूप से भी कल्याणमय है।[1] महाभारत में अर्जुन ने बताया है कि अच्छी तरह प्रयोग में लाया हुआ दण्ड प्रजाजनों की रक्षा करता है। उदाहरण के लिए जब आग बुझने लगती है तो वह फूंक की फटकार पड़ने पर डर जाती है तथा दण्ड के भय से पुनः प्रज्वलित हो उठती है।[2] इस प्रकार प्राचीन भारतीय ग्रन्थों ने दण्ड के उपर्युक्त महत्व को समझा था और राज्य के संगठन तथा कार्यों से सम्बन्धित शास्त्र को दण्डनीति कहना ही उपयुक्त समझा। महाभारत में व्यास जी द्वारा युधिष्ठिर को यह सुझाया गया है कि जो व्यक्ति वेदान्त, वेदत्रयी, वार्ता तथा दण्ड नीति का पारंगत विद्वान हो उसे किसी भी कार्य में नियुक्त किया जा सकता है। क्योंकि ऐसा व्यक्ति बुद्धि की पराकाष्ठा को पहुंचा हुआ होता है।[3] दण्ड नीति के माध्यम से अप्राप्य वस्तुओं को प्राप्त किया जाता है, प्राप्त वस्तुओं की रक्षा की जाती है और रक्षित वस्तुओं की अभिवृद्धि की जाती है। उशनस ने अपने ग्रन्थ का नाम दण्डनीति ही रखा है। महाभारत में भी दण्ड नीति नाम के एक ग्रन्थ का उल्लेख आता है जिसका रचयिता प्रजापति को कहा गया है। मनु के कथनानुसार दण्ड देने वाला व्यक्ति राजा नहीं है अपितु स्वयं दण्ड ही शासक है।[4] राज्य में दण्ड के इस अत्यधिक महत्व के परिणामस्वरूप ही शासकों के कार्यों तथा समाज के कल्याण का वर्णन करने वाले शास्त्र को दण्ड नीति के नाम से जाना गया। कौटिल्य के अर्थशास्त्र को भी कई स्थानों पर दण्ड नीति के नाम से ही पुकारा गया है। उशनस तथा प्रजापति द्वारा शासन तंत्र पर लिखित ग्रन्थ भी दण्ड नीति के नाम से प्रसिद्ध हैं।

आगे चल कर राजनीति शास्त्र विषय के लिए अर्थशास्त्र शब्द का प्रयोग किया जाने लगा। मि० जायसवाल ने अर्थशास्त्र को जनपद सम्बन्धी शास्त्र (*Code of Commonwealth*) कहा है। वैसे वर्तमान समय में अर्थ शास्त्र शब्द का प्रयोग प्रायः सम्पत्ति शास्त्र (*Economics*) के लिए किया जाता है क्योंकि 'अर्थ' शब्द प्रायः पैसा या सम्पत्ति का समानार्थक है। कौटिल्य की यह मान्यता है कि 'अर्थ' शब्द का प्रयोग न केवल व्यक्तियों के व्यवसायों या धन्धों को निर्देशित करने के लिए ही किया जा सकता है किन्तु उस भूमि के लिए भी किया जा सकता है जिस पर रह कर कि उनके द्वारा व्यवसाय का संचालन किया जाता है। मानव जीवन के संचालन का आधार भूमि है अथवा यों कहिये कि भूमि में ही व्यक्ति सम्मिहित रहते हैं। अर्थशास्त्र एक ऐसा विज्ञान है जो कि यह बताता है कि भूमि को कैसे प्राप्त किया जाये तथा किस प्रकार से उसकी रक्षा की जाये। कौटिल्य का अर्थशास्त्र मानवयुक्त भूमि की प्राप्ति एवं उसके रक्षण के उपायों का दिग्दर्शन कराता है। कौटिल्य ने दण्डनीति शब्द की व्याख्या करते हुए बताया है कि इसका सम्बन्ध चार बातों

---

1 कौटिल्य, अर्थशास्त्र, १ (४)
2 महाभारत-शान्तिपर्व, १५ (३१)
3 महाभारत-शान्ति पर्व, २४ (१८)
4 "स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः।"

—मनुस्मृति, ७ (७)

से होता है। प्रथम, अप्राप्य को प्राप्त करना (दण्डनीतिः अलब्ध लाभार्था), दूसरे, इस प्रकार प्राप्त की गई की रक्षा करना (लब्ध परिरक्षणी), तीसरे, रक्षित का अभिवर्धन करना (रक्षित-विवर्धनी) तथा चौथे. इस प्रकार से अभिवर्धित का उपयुक्त व्यक्तियों के बीच वितरण करना[1] मनु का भी मत है कि राजा को ये चारों कार्य दण्ड अथवा सेना के माध्यम से सम्पन्न करने चाहिए।[2] इस प्रकार मनु भी दण्ड नीति को भूमि अथवा प्रदेश से सम्बद्ध करते हैं। यदि इस दृष्टि से देखा जाये तो 'अर्थशास्त्र' दण्ड नीति का ही भाग है जिसका सम्बंध उसकी प्रथम दो बातों से है—अर्थात् अप्राप्य को प्राप्त करने और प्राप्त की रक्षा करने से है।

कुछ विचारक 'अर्थ' शब्द का सम्बंध मानव जीवन के लक्ष्यों अर्थात त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) में से द्वितीय से लगाते हैं। इसके समर्थन में प्रमाण प्रस्तुत करते हुए वात्स्यायन के काम सूत्र का उल्लेख किया जाता है जिसके प्रारम्भ में ही यह कहा गया है कि प्रजापति अथवा ब्रह्मा ने लोगों की सृष्टि की तथा उन्हें धर्म, अर्थ और काम की उपलब्धि कराने के हेतु एक लाख अध्यायो वाली पुस्तक की रचना की। इस पुस्तक के धर्म से सम्बधित भाग को मनु ने इससे पृथक किया, इसके अर्थ सम्बधी भाग को बृहस्पति द्वारा अलग किया गया तथा काम से सम्बंधित भाग को नन्दिन के अलग किया। यहां एक बात ध्यान में रखने योग्य है कि बृहस्पति को हिन्दू राजनीति (*Hindu Polity*) का संस्थापक माना जाता है तथा वह अर्थशास्त्र नामक एक ग्रन्थ का लेखक भी है। अतः यह सिद्ध होता है कि अर्थशास्त्र का सम्बध हिन्दू त्रिवर्ग के द्वितीय अंश 'अर्थ' से होना चाहिए क्योंकि सभी वर्ग के लोगों को धन प्राप्ति का उपाय बताये। किन्तु इसमें संदेह की गुंजाइश नहीं है कि कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में 'अर्थ' का प्रयोग भूमि के लिए अथवा उस प्रदेश के लिए किया है जिसमें कि लोग रहते हैं। कौटिल्य अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में तथा उसके अन्त में अर्थ शब्द के इसी अर्थ की घोषणा करते हैं।

अमरकोश में अर्थशास्त्र तथा दण्डनीति को समानार्थक शब्द माना गया है। शुक्रनीति के अनुसार अर्थशास्त्र में केवल सम्पत्ति प्राप्त करने के उपायों की चर्चा मात्र ही नहीं की जाती वरन् उसमें शासन शास्त्र के सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया जाता है। अर्थशास्त्र और दण्ड नीति-दोनों ही शब्द प्राय. एक ही शास्त्र के लिए प्रयुक्त किये जाते थे। कहा जाता है कि कौटिल्य पहले अपने ग्रन्थ का नाम दण्डनीति रखना चाहते थे। इस बात का आभास अर्थ-शास्त्र के प्रथम अध्याय को देखने पर होता है। किन्तु बाद में उन्होंने इसका नाम दण्डनीति न रख कर अर्थशास्त्र रखने का निर्णय क्यों लिया, इसका उल्लेख उन्होंने स्वय ही ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय में किया है।

बाद में हिन्दू राजनीति से सम्बंधित ग्रन्थों को नीति शास्त्र का नाम

---

1. इस सम्बंध में नीति वाक्यामृत का यह कथन भी उल्लेखनीय है—
"अलब्ध लाभो लब्ध परिरक्षणं रक्षित विवर्धनम् चेत्यर्थानुबंधः।"
2. मनुस्मृति के सातवें अध्याय के श्लोक ९९-१०१ में भी इन चार बातों का उल्लेख किया गया है।

भी प्रदान किया जाने लगा। नीति शास्त्र में नीति शब्द की 'नी' धातु का अर्थ ले जाना होता है। इस मार्ग दर्शन के अर्थ में भी प्रयुक्त किया जा सकता है। जो शास्त्र भलाई व बुराई में भेद करे तथा उचित व अनुचित कार्यों का उल्लेख करे उसे नीति शास्त्र कहा जा सकता है। यह मार्गदर्शन मानव जीवन के किसी भी क्षेत्र में किया जा सकता है। राजनैतिक क्षेत्र में किये गये मार्गदर्शन के लिए भी नीति शास्त्र शब्द का प्रयोग कर दिया जाता था। कामन्दक तथा शुक्र ने राज्य एवं शासन के सम्बन्ध में जो रचनायें की उनको नीति शास्त्र का नाम दिया गया। कामन्दक ने अपने नीति सार में राज कार्यों से सम्बन्धित महत्वपूर्ण बातों को संक्षिप्त रूप प्रदान किया। बाद के समय में कामन्दक का नीतिसार इतना लोकप्रिय हो चुका था कि शुक्र नीति सार के रचयिता ने इसमें से अनेक उद्धरणों को बिना लेखक का नामोल्लेख किये ही स्वतन्त्रतापूर्वक ग्रहण किया है। अग्नि पुराण के जिन कुछ अध्यायों में राम व लक्ष्मण के साथ नीति के सम्बन्ध में जो वार्ता की है वह और कुछ नहीं वरन् कामन्दक के नीति सार के ही कहीं कहीं से लिए गये कथन हैं। राज्य शास्त्र को नीति शास्त्र इसलिए कहा गया था क्योंकि दोनों के लक्ष्य में कोई भिन्नता नहीं थी। दोनों ही समाज की सर्वाङ्गीण उन्नति करके उसे आनन्दमय बनाने के लिए प्रयत्नशील थे। दोनों द्वारा धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष प्रदान करने का प्रयास किया जाता था।[1] ऐसी स्थिति में राज्य से सम्बन्धित शास्त्र का नीति शास्त्र कहना अनुपयुक्त नहीं माना गया। इस समय के सभी राज्य सम्बन्धी ग्रन्थों को नीति का नाम प्रदान किया गया। लक्ष्मीधर (ईसवी सन् ११२५) ने नीति कल्पतरु, धनभट्ट (ईसवी सन् १२००) ने नीति चन्द्रिका, चण्डेश्वर (ईसवी सन् १३१०) ने नीति रत्नाकर, नीलकण्ठ (ईसवी सन् १६२५) ने नीति मयूख एवं मित्र मिश्र (ईसवी सन् १६२५) ने नीति प्रकाश नामक ग्रन्थों की रचना की।

कामन्दक के समय में जो 'नीति' शब्द राज्य की नीति के सम्बन्ध में प्रयुक्त किया जाता था वही अब सामान्य आचरण के लिए प्रयुक्त किया जाने लगा। राजनीति (*Polity*) तो इसका एक भाग मात्र थी। ऐसी स्थिति में राज्य से सम्बन्ध रखने वाले नियमों या तथ्यों को आचरण के अन्य पहलुओं से पृथक दर्शाने के लिए यह 'नीति' शब्द के साथ 'राज' विशेषण का प्रयोग किया जाना आवश्यक बन गया। डा भण्डारकर के शब्दों में "ऐसा लगता है कि जब नीति शब्द का प्रयोग सामान्य आचरण के नियमों के लिए किया जाने लगा तो यह आवश्यक हो गया कि उनको (सामान्य आचरण के नियमों को) राजा के व्यवहार के नियमों से अलग करने के लिए राजनीति शब्द का प्रयोग किया जाये।"[2] इसके बाद से राजनीति शब्द का प्रयोग प्रचलित हुआ

---

1. 'सर्वोपजीवक लोक स्थिति कृन्नीति शास्त्रकम्।
धर्मार्थ काम मूलं हि स्मृतं मोक्ष प्रदं यतो॥"

—शुक्रनीति, १ (५)

2. It seems that when the word *niti* come to stand for 'rules of general conduct,' it became necessary to use the phrase

तथा इसी के अन्तर्गत शासन एवं राज्य व्यवस्था से सम्बंधित रचनायें की जाने लगीं।

हिन्दू राजनीति के अध्ययन के स्रोत
[The Sources of Study of Hindu Polity]

प्राचीन भारत के शिक्षित वर्ग ने इतिहास को बहुत कम महत्व प्रदान किया था। उनके दर्शन ने उनके विचारों को इतिहास से बाहर रख दिया। सिद्धान्त रूप में इस दर्शन को पूर्ण माना गया था, किन्तु व्यवहार में इस दर्शन ने उन्हें संकट के समय सहन करने की शिक्षा दी। प्राचीन राजाओं की वंश परम्परा भी होती थी। उसे पर्याप्त महत्व प्राप्त था। इसके अतिरिक्त कुल के महापुरुषों के नामों को पूजा भी जाता था। फिर भी प्राचीन राजाओं की वंश परम्परा पर विश्वास नहीं किया जा सकता क्योंकि उसमें कई बार गलतियां हो जाती थी। कभी-कभी तो ये गलतियां जान बूझ कर की जाती थी। किसी भी राजवंश को सम्मान प्रदान करने के लिए उसका उच्च कुल से सम्बंध जोड़ दिया जाता था। हिन्दू राजनीति के अध्ययन का आधार जिन स्रोतों को माना जा सकता है उनमें भारतीय सभ्यता के अनेक अवशेष, साहित्यिक कृतियां, शिला लेख आदि का नाम उल्लेखनीय है।

प्राचीन भारत के राजनीतिक विचारों एवं संस्थाओं की जानकारी के स्रोतों को हम मुख्य रूप से दो भागों मे विभाजित कर सकते हैं। प्रथम, प्रमुख स्रोत और दूसरे गौण स्रोत। प्रमुख स्रोतों में वह समस्त साहित्य समाहित है जो कि प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट रूप से राजनीति से सम्बंध रखता है और जिसे तत्कालीन राजनैतिक संस्थाओं के संगठन की दृष्टि से लिखा गया था। गौण स्रोतों में हम उनका नाम ले सकते हैं जो कि अप्रत्यक्ष रूप से प्राचीन भारतीय राजनीति के अध्ययन में सहायता करते हैं अथवा जो प्रमुख स्रोतों से प्राप्त की गई जानकारी की सत्यता अथवा असत्यता को प्रमाणित करते हैं।

पहले हम गौण स्रोतों का उल्लेख करना उपयुक्त समझते हैं जिनके माध्यम से हमें प्राचीन राजवंशों का, उनकी शासन व्यवस्था का, उनके समय में जनता की स्थिति का, एवं ऐसी ही अन्य बहुत सी बातों का पता चलता है। ये स्रोत निम्न प्रकार हैं—

१. पुरातत्व विज्ञान सम्बंधी स्रोत
[Archaeological Sources]

पुरातत्व विज्ञान ने अनेक ऐसी खोजें की है जो कि इतिहास के विभिन्न कालों में रही राजनैतिक व्यवस्था का वर्णन करती है। इसमें से कुछ के द्वारा पूर्व ऐतिहासिक भारत के बारे में भी जानकारी होती है। सिन्धु घाटी की सभ्यता की खोज से इतिहास के कई तथ्य सामने आये है। मोहन

---

rajniti to distinguish them from the rules of kingly Conduct.
—Dr. D.R. Bhandarkar, Some Aspects of Ancient Hindu Polity, Benaras Hindu University, 1926, P. 29

जोदड़ो और हड़प्पा की खुदाइयों से ज्ञात हुआ है कि वहां पर नियोजित रूप से अनेक वस्त्र बनाये गये थे। उस समय की मोहरें तथा अन्य अवशेष यह प्रदर्शित करते हैं कि इस सभ्यता के पूर्व ऐतिहासिक निवासियों ने शासन व्यवस्था किस रूप में अपनाई थी। यद्यपि इन सब के द्वारा यहां के निवासियों का तथ्य पूर्ण इतिहास ज्ञात नहीं होता फिर भी अनुमान के आधार पर कुछ सोचा जा सकता है।

सिंधु नदी की सभ्यता की भांति आमरी तथा बलूचिस्तान की सभ्यता की खोजों ने भी इस दृष्टि से कुछ सहयोग दिया है। पुरातत्व विज्ञान के विद्वानों ने वैदिक काल के मृत अवशेषों से, प्रारम्भिक स्मृतियों से, विभिन्न गुफाओं के अध्ययन से, विभिन्न मस्मा की जानकारी से, मन्दिरों की बनावट तथा वहां प्राप्त सूचनाओं के अवलोकन से प्राचीन भारत की राजनीति को समझने के लिए कुछ-कुछ सहयोग प्रदान किया है।

२ विदेशी स्रोत

[The Foreign Sources]

प्राचीन मिश्र एवं एशिया के कई एक अभिलेखों ने भारत के प्राचीन राजनैतिक रूप पर कुछ प्रकाश डाला है। ईरान तथा मिश्र की कई एक प्राचीन पुस्तकें भारत के प्राचीन राजवंशों का वर्णन करती हैं। भारत के इतिहास के लिए यूनानी स्रोत अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं क्योंकि इनमें अनेक निश्चित वक्तव्य हैं तथा ऐसी तारीखें हैं जिनके आधार पर कि हम अनुमान कर सकें। सिकन्दर से पूर्व भारत के सम्बन्ध में यूनानियों को जो सूचनायें प्राप्त थीं वे आकस्मिक एवं प्रायः गलत होती थीं, किन्तु उनसे वहां के लोगों की रुचि का मोड़ जाहिर होता था। कई एक प्राचीन यूनानी लेखकों ने यात्रियों की कथाओं के माध्यम से भारत की तत्कालीन राजनैतिक व्यवस्था का चित्रण किया है। सिकन्दर के आक्रमण के बाद यूनानी साहित्यकारों द्वारा भारत के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा गया है वह अधिक विश्वसनीय है। मैगस्थनीज ने भारत की सामाजिक व्यवस्था एवं यहां के लोगों का विवरण दिया है। स्ट्रेबो (*Strabo*) तथा पोलीबियस (*Polybius*) ने भी इस सम्बन्ध में काफी कुछ लिखा है।

भारतीय राज्य व्यवस्था से सम्बन्धित सूचनाओं का अन्य स्रोत उन व्यापारियों द्वारा छोड़ी गई सामग्री है जो कि बड़ी भारी संख्या में हिन्द महासागर में नौचालन करते थे। पोलेमी (*Ptolemy*) के भूगोल के जिस भाग में भारत का वर्णन है उसमें भारत के तत्कालीन बन्दरगाहों की जानकारी होती है। इसमें यह उल्लेख किया गया है कि देश के किस भाग पर किन लोगों का अधिकार था तथा भारत का किन राजनैतिक शक्तियों में विभाजन किया गया था।

यूनान के दार्शनिक, इतिहासकार, भूगोल-शास्त्री तथा अन्य लेखकों द्वारा भारत के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा गया है उससे यह प्रमाणित अवश्य होता है कि यूनान निवासियों का भारत के साथ सम्पर्क था तथा उनमें रुचि थी किन्तु उनको भारतीय राजनीति का प्रमाण नहीं माना जा सकता। यूनानी

लोग भारतीय विद्वत्ता की दाद देते थे। उनके कई एक ग्रंथों में ब्राह्मणों आदि को संदर्भित किया गया है।

यूनानी सामग्री के अतिरिक्त लेटिन सामग्री भी भारतीय राजनीति के सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण सूचना प्रदान करती है। प्लिनी (*Pliny*) तथा अन्य ने भारत और इटली के बीच स्थित व्यापारिक सम्बन्ध का वर्णन किया है। विभिन्न ग्रन्थों में भारतीय राजदूत को संदर्भित किया है जिससे यह प्रमाणित होता है कि भारत के साथ उनके कूटनीतिक सम्बन्ध थे। रोम के सम्राटों में ऑगस्टस (*Augustus*) ने अपने साम्राज्य को सिन्ध तक फैलाने का स्वप्न देखा था।

चौथी शताब्दी बाद चीन की सामग्री ने भारतीय इतिहास पर प्रकाश डालने में उतना ही महत्वपूर्ण कार्य किया जितना कि इससे पूर्व यूनानी तथा लेटिन स्रोतों द्वारा किया गया था। यहां एक बात ध्यान रखने योग्य यह है कि चीन के स्रोतों द्वारा हमें कोई क्रमबद्ध सूचना प्राप्त नहीं होती। हमारे प्राचीन ग्रन्थों ने जहां हमको छोड़ा है, ठीक वहीं से चीन के ग्रन्थ सूचना प्रदान करते हों यह बात नही है। विदेशी स्रोतों के बीच इतनी निरन्तरता नहीं पाई जाती कि वे भारतीय इतिहास की अविरल धारा का दिग्दर्शन करा सकें। भारतीय स्रोतों के द्वारा इनमें स्थान-स्थान पर सम्बन्ध स्थापित करने की आवश्यकता है।

परवर्ती चीनी राजवंशों की वार्षिकी द्वारा चीन और भारत के तथा भारत के प्रभावाधीन राज्यों के मध्य स्थित सम्बन्धों पर प्रकाश डाला गया है। भारत में अनेक चीनी तीर्थ यात्रियों एवं राजदूतों के यात्रा वर्णनों से यहां की राजनैतिक व्यवस्था के सम्बन्ध में पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है। पांचवीं शताब्दी के प्रारम्भ में बौद्ध साधु फाइयान (*Fa-Hian*) भारत आया तथा उसने बौद्ध तीर्थों की यात्रायें करने के बाद यहां धर्म एवं राजनीति के सम्बन्ध की ओर थोड़ा संकेत किया। सातवीं शताब्दी में महान् चीनी तीर्थ यात्री यानसाङ्ग (*Hiuan-Isang*) भारत आया। उसने भारत की पद यात्रा की, भारत में लम्बे समय तक रुका तथा करीब-करीब सारे देश का दर्शन किया। हर्ष के दरबार का उसने निकट से अध्ययन किया। उसकी यात्रा की विस्तृत जानकारी उसके दो शिष्यों द्वारा लिखित उसके जीवन से प्राप्त होती है। यानसाङ्ग की यात्रा के परिणामस्वरूप ही वाङ्गयान्सो (*Wang Hiuants'o*) को चार बार राजदूत के रूप में भारत भेजा गया। इस राजदूत के यात्रा वर्णन एवं स्मृतियों से भी भारत की तत्कालीन स्थिति का पर्याप्त ज्ञान होता है। चीन में प्राप्त अनेक तथ्यों के आधार पर उन भारतीयों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त होती है जो कि मिशनरी के रूप में अथवा बौद्ध ग्रन्थों के अनुवादक के रूप में चीन या केन्द्रीय एशिया गये थे।

तिब्बत के साहित्य द्वारा भी भारतीय इतिहास एवं राजनैतिक व्यवस्था की जानकारी प्राप्त होती है। इनमें से अधिकांश ग्रन्थों का सम्बन्ध यद्यपि तिब्बत के इतिहास से है किन्तु इतने पर भी भारतीय दृष्टि से वे पर्याप्त महत्वपूर्ण हैं क्योंकि दोनों देशों के बीच गहरा सम्बन्ध था।

बौद्ध धर्म के जन्म, प्रचार एवं प्रसार से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थों में

भारतीय राजनीति से सम्बन्धित सूचनायें प्राप्त होती है। तारानाथ (ईसवी सन् १५७५) ने 'भारतीय कानून का जन्म' नामक एक ग्रन्थ की रचना सन् १६०८ में की। राजा प्रजातन्त्र के काल में प्रारम्भ होने वाली यह रचना मगध के मुकुन्द देव के शासन के वर्णन के साथ समाप्त होती है।

३ शिला लेख सम्बन्धी स्रोत
(Epigraphic Sources)

भारतीय राजनीति की जानकारी के लिए शिला लेखों का पर्याप्त महत्व है। पत्थर पर खुदी हुई बातें प्राचीन तथ्यों के सम्बन्ध में एक प्रत्यक्ष तथा महत्वपूर्ण प्रमाण होती है। पत्थर लोहा अथवा अन्य धातु पर खुदे हुए ये तथ्य स्थायी अस्तित्व रखते हैं। ये हजारों की संख्या में प्राप्त हैं। भारत भर में तथा भारत की सीमाओं तक ये प्राप्त होते हैं। कम्बोडिया जावा बोर्नियो आदि प्रदेशों में संस्कृत के शिलालेख प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार के लेखों को प्राय पत्थर पर ही खोदा गया है। ये किसी भवन के मुख्य द्वार पर, किसी खम्भे पर किसी मूर्ति की सीढ़ियों पर तथा ऐसी ही अन्य जगहों पर खोदे जाते थे जहां पर कि आसानी से खुदाई की जा सके और उसे सुरक्षित भी रखा जा सके। ये संगमरमर, लाल पत्थर, धातु, तांबा, लोहा आदि पर भी खोदे गये हैं।

इन शिला लेखों की भाषा उस क्षेत्र में प्रचलित भाषा होती थी। अधिकांश प्राचीन शिला लेख मध्य भारत में प्राप्त होते हैं। संस्कृत भाषा उत्तरी भारत में अधिक प्रचलित थी। दक्षिण में यह द्रविड़ों की साहित्यिक भाषा तमिल कन्नड़ एवं तेलगु आदि से प्रतियोगिता न कर सकी। अतः इस क्षेत्र के शिला लेखों में प्राय ये ही भाषायें प्राप्त होती हैं।

ये शिला लेख अलग अलग उद्देश्यों को सामने रखकर चलते थे। इनमें से कुछ का उद्देश्य नियमों की घोषणा करना होता था। अशोक के अधिकांश शिला लेख इसी प्रकार के हैं। अन्य शिला लेख स्मृति के लिए भी बनाये जाते थे। किसी भवन, घटना योग्य नेता मंत्री आदि की स्मृति को बनाये रखने के लिए इनकी रचना की जाती थी। कुछ शिला लेख राजाओं की प्रशंसा या गुणगान के लिए बनाये गये। दूसरे कुछ लेख कुए की खुदाई के समय भवन के शिलान्यास के समय, कोई धर्मशाला बनाने समय, या इसी प्रकार के अन्य लोक हितकारी कार्यों के लिए ग्रामीणों द्वारा दिये गये सहयोग कर द्वारा संग्रहीत धन दान द्वारा प्राप्त आय आदि का उल्लेख करने के लिए बनाये गये हैं। सांची के स्तूप की भांति इमारतों तथा मंदिरों का नाम रोशन करने के लिए भी शिला लेखों की रचना का मार्ग अपनाया जाता था। कुछ शिला लेख शुद्ध रूप से धार्मिक लक्ष्य को सामने रखकर आगे बढ़ते हैं। गौतम बुद्ध की मूर्ति के चरणों में लिखे गये उनके उपदेश आदि इस प्रकार के शिला लेखों के उदाहरण हैं।

इन विभिन्न शिला लेखों का ऐतिहासिक दृष्टि से तो महत्व है ही किन्तु राजनीतिक दृष्टि से भी ये कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। इन शिला लेखों में जो बातें लिखी हुई हैं उनको जानने से भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह जानना होती है कि इनको कब लिखा गया है अर्थात् ये किस समय का प्रतिनिधित्व

करते हैं। कभी कभी तो समय शिला लेख पर ही अंकित कर दिया जाता है किन्तु कभी-कभी यह नहीं भी किया जाता। दूसरी स्थिति में पर्यवेक्षक को केवल अनुमान के आधार पर ही आगे बढ़ना होता है। प्राचीन भारतीय राजनीति की जानकारी की दृष्टि से महत्वपूर्ण शिला लेखों में अशोक के शिला लेख प्रमुख रूप से उल्लेखनीय है। वे भारत के विभिन्न भागों में बिखरे पड़े हैं। ये लेख प्रायः ब्राह्मी लिपि में प्राप्त होते हैं। अशोक के इन लेखों के अतिरिक्त शुङ्ग काल के शिला लेख, शक तथा कुशान काल के शिला लेख, आन्ध्रभृत्य के शिला लेख, उज्जैन के क्षत्रपों का शिला लेख, गुप्तकालीन शिला लेख, हूणों के शिला लेख आदि भी अपना महत्व रखते हैं।

४. मुद्रा सम्बन्धी स्रोत
(The Numismatic Sources)

प्राचीन काल की जो मुद्रायें प्राप्त होती हैं उनकी बनावट तथा उनके लेखन से उस समय की राजनीति का थोड़ा ज्ञान प्राप्त होता है। कभी-कभी तो केवल सिक्के ही किसी शासन के अस्तित्व का एकमात्र प्रमाण बन जाते हैं। शिला लेखों की भांति सिक्कों के माध्यम से यह ज्ञात हो जाता है कि किस राजा के शासन काल में इनको चलाया गया था तथा उन राजाओं ने अपने आपको क्या उपाधि दे रखी थी। कभी-कभी सिक्कों के माध्यम से यह भी ज्ञात हो जाता है कि उस समय का राज्य धर्म क्या था। जिन अन्य देशों में वे सिक्के प्राप्त होते हैं उनके सम्बन्ध में यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उनका जिस देश के ये सिक्के हैं उसके साथ व्यापारिक सम्बन्ध भी रहा होगा। सिक्कों की विस्तृत जानकारी से देशों के पारस्परिक राजनैतिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्धों का भी ज्ञान होता है। विभिन्न सिक्कों की तुलना करने पर उनके प्रसारित होने का क्रम ज्ञात किया जा सकता है तथा इस प्रकार यह जाना जा सकता है कि राजाओं के राजवंशों का क्रम क्या था। कुछ एक राजवंश तो ऐसे हैं जिनके बारे में सिक्कों से प्राप्त सूचना के अतिरिक्त अन्य कुछ भी ज्ञात नहीं है।

भारत में सिक्कों के प्रचलन का निश्चित समय ज्ञात नहीं है। मोहनजोदड़ो की खुदाई में प्राप्त मोहरों के सम्बन्ध में अनुमान लगाया जात है कि वे सिक्के हो सकते हैं किन्तु किसी धातु की बनी न होने के कारण यह अनुमान अधिक मान्य नहीं है। वैदिक साहित्य में बलिदान कर्ता द्वारा दी जाने वाली फीस का जहां उल्लेख आता है वहां उसे गायों के रूप में चुकाने की बात कही जाती है। हो सकता है उस समय गायों की संख्या तथा स्वर्ण मूल्य के बीच कुछ सम्बन्ध स्थापित कर लिया गया होगा। किन्तु सिक्कों के अस्तित्व का हवाला प्राप्त नही होता। ब्राह्मणों, उपनिषदों एवं सूत्रों में भेंट के रूप में तथा भुगतान के रूप में जिन चीजों को देने की बात कही गई है उन्हीं को बाद में सिक्के की संज्ञा के रूप में प्रयुक्त किया गया।

भारतीय सिक्कों में अनेक प्रकार की धातुओं का प्रयोग किया गया है। सोना, चांदी, तांबा, तांबा-चांदी का मेल, निकिल आदि के सिक्के बनाये जाते थे। कोडियों का भी पर्याप्त प्रयोग किया जाता था। मूल्य की दृष्टि से ये ८० कोड़ियां प्रायः तांबे के एक पण के बराबर होती थीं।

५ साहित्यिक स्रोत
(Literary Sources)

साहित्यिक स्रोतों से प्राचीन भारत के राजनैतिक विचारों एवं संस्थाओं का ज्ञान होता है। इस दृष्टि से ऐतिहासिक पुस्तकें, संस्कृत तथा प्राकृत भाषा के ग्रन्थ, धार्मिक पुस्तकें आदि अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। भी तथा पाली भाषा में अनेक प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं। इनका सम्बन्ध बौद्ध धर्म से है। ये भारतीय इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। उस समय की राजनैतिक व्यवस्था के बारे में अनेक तथ्यों का विवरण पाठक को इनके माध्यम से ज्ञात होता है। संस्कृत भाषा में भी अनेक ऐसे वृत्तान्त उपलब्ध होते हैं जिनमें उस समय का राजनैतिक जीवन तथा उसकी विचारधारायें परिलक्षित होती हैं। इन ऐतिहासिक ग्रन्थों में तथ्यों का क्रमबद्ध अभिलेख कम है तथा ये साहित्यिक दृष्टि से अधिक मूल्यवान हैं। ये सम्पूर्ण भारत के इतिहास का अध्ययन करने की अपेक्षा एक राज्य विशेष, राजवंश विशेष या राजा विशेष से ही सम्बन्ध रखते थे। इस प्रकार के ग्रन्थों में राजतरंगिणी का नाम लिया जा सकता है। यह पुस्तक कल्हण द्वारा सन् ११४८ में लिखी गई है। राजतरंगिणी में काश्मीर के राजाओं का वृत्तान्त है। हर्ष के कुछ समय बाद लिखी गई यह पुस्तक एक मात्र ऐतिहासिक ग्रन्थ माना जा सकता है, क्योंकि इसमें अनेक स्रोतों का सहारा लिया गया था। प्राचीन भारतीय लेखन की यह परम्परा रही है कि धार्मिक कहानियों एवं वृत्तान्तों को इतिहास के साथ जोड़ दिया जाता था। यही कहीं कहीं इस ग्रन्थ में भी किया गया है। आलोचनात्मक रुख अपनाते हुए भी कल्हण उन बातों का अस्वीकार नहीं कर पाया है जो कि उसके काल में मान्य समझी जाती थी। एक इतिहासकार के रूप में वह सत्य को अपनाना चाहता था किन्तु एक कवि तथा नीतिज्ञ के रूप में उसे तत्कालीन परम्परायें भी स्वीकार करनी पड़ीं। कल्हण की राजतरंगिणी के बाद भी इस कार्य को जारी रखा गया। जोनराजा द्वारा एक अन्य राजतरंगिणी नामक ग्रन्थ की रचना की गई जिसे कि कल्हण के ग्रन्थ का सहायक माना जा सकता है। उसके बाद जैनरा राजतरंगिणी तथा राजावलि पताका नामक ग्रन्थों की रचना की गई।

इन आख्यायिकाओं के अतिरिक्त संस्कृत भाषा में कम आख्यायिकायें ही प्राप्त होती हैं। फिर भी अनेक ऐसी काव्यात्मक रचनायें उपलब्ध हैं जिनको ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण समझा जा सकता है। इन रचनाओं में किसी धार्मिक या राजनैतिक नेता के चरित्र का वर्णन होता है। अश्वघोष कृत बौद्ध चरित्र ऐसी ही कृति का एक उदाहरण है। महाकवि बाण भट्ट कृत हर्ष चरित इस प्रकार की कृति का एक दूसरा उदाहरण है। इसमें उत्तरी भारत के सम्राट हर्ष वर्धन के जीवन का विवरण दिया गया है। इस प्रकार की रचनाओं को यद्यपि प्रमुख स्रोत नहीं माना जा सकता और न ही केवल इनके आधार पर कोई निष्कर्ष निकाला जा सकता है किन्तु सहायक स्रोतों के रूप में इनका महत्व है। अन्य स्रोतों से प्राप्त की गई सूचनाओं के इनके आधार पर सत्य या असत्य मानने के सम्बन्ध में निर्णय लिया जा सकता है।

प्राचीन ग्रन्थों में प्राकृत एवं स्वदेशी ऐतिहासिक पुस्तकों का भी

महत्वपूर्ण माना जा सकता है। जैन धर्म के साहित्य में अनेक आत्मकथात्मक ऐसी पुस्तकें हैं जिनमें किसी शासक का वर्णन किया गया है और इस प्रकार उसकी राज्य व्यवस्था पर भी प्रकाश डाला गया है। जो प्राकृत कवितायें ऐतिहासिक एवं राजनैतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं उनको प्रायः मराठी भाषा में संकलित किया गया है। इनमें से महत्वपूर्ण गौडा वाहो (*Gauda Vaho*) है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त अनेक धार्मिक पुस्तकें भी अपना महत्व रखती हैं। इनमें वैदिक साहित्य, बौद्ध धर्म की पुस्तकें, महायान तथा हीनयान के अनेक ग्रन्थ आदि का नाम लिया जा सकता है।

उक्त समस्त स्रोतों के द्वारा भारत की राजनैतिक संस्थाओं एवं विचारों को समझने के लिए अप्रत्यक्ष रूप से उपयोगी माना जा सकता है किन्तु प्रत्यक्ष रूप से ये इनके सम्बन्ध में कोई विश्वसनीय ठोस सूचना प्रदान नही करते। ताम्रपत्रों एवं शिला लेखों में सामान्य रूप से प्रशंसात्मक शैली को अपनाया जाता था और इसलिए उनके द्वारा कही गई बातों में अतिशयोक्ति का पुट रहता है। राजा के दरबार में रहने वाले भाट, चारण, कवि अथवा साहित्यकार द्वारा जो भी रचना की जाती थी उससे तथ्यों के वर्णन की आशा कम ही की जा सकती है। फिर भी इन ग्रन्थों से एक राज्य के शासन विभागों का, उनके शासकों के अधिकारों का, उस समय स्थित शासन व्यवस्था का, जनता पर लगाये गये तथा उगाहे जाने वाले करों का, पड़ौसी राज्यों के साथ उनके सम्बन्धों का तथा सम्राट एवं सामन्तों के मध्य स्थित सम्बन्धों का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त होता है जो कि कभी-कभी किसी अन्य स्रोत से प्राप्त नही हो पाता। शिला लेखों पर अंकित प्रशस्तियां कभी-कभी यह भी इंगित करती है कि राजा के क्या कर्त्तव्य होने चाहिए और मन्त्रियों के क्या कर्त्तव्य होने चाहिए तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध किस प्रकार के होने चाहिए।

६. कुछ अन्य महत्वपूर्ण ग्रन्थ (Some Other Important Texts)

प्राचीन भारतीय राजनीति का स्वतन्त्र रूप से कोई ग्रन्थ बहुत समय तक तैयार नहीं किया गया। किन्तु ग्रन्थ के इस अभाव से यह परिणाम नही निकालना चाहिए कि उस समय भारत में राजनैतिक चिन्तन का अभाव था। ईसा से तीन सौ वर्ष पूर्व का जो कौटिल्य विरचित अर्थशास्त्र प्राप्त होता है उसमें अठारह से भी अधिक आचार्यों के नाम दिये गये है जिनको राजनीति शास्त्र के सिद्धान्तों का व्याख्याता माना जाता था। इन आचार्यों की रचनायें उपलब्ध नहीं है किन्तु कौटिल्य द्वारा स्थान-स्थान पर उनका नाम लेने का अर्थ यही है कि वे उस समय तक पर्याप्त लोकप्रिय हो चुके थे तथा कौटिल्य की रचना पर उनके विचारों का भारी प्रभाव है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्राचीन भारत में पर्याप्त राजनैतिक चिन्तन होता था किन्तु इस चिन्तन का वास्तविक रूप क्या था तथा राज्य के सम्बन्ध में तत्कालीन मान्यता क्या थी, आदि बातें निश्चित रूप से नहीं जानी जा सकतीं। डा. जायसवाल का मत है कि हिन्दू राजनीति शास्त्र सम्बन्धी साहित्य की रचना ईसा से ६५० वर्ष पूर्व ही प्रारम्भ हो चुकी थी। इस मत का समर्थन बौद्ध जातकों से भी मिलता है जिनमें अर्थ शास्त्र के अध्ययन को सफल मंत्रियों के लिए आवश्यक माना

गया है।[1] पृथक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है किन्तु फिर भी अनेक प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में राजनीति से सम्बन्धित विवरण पाया है। यह विवरण अप्रत्यक्ष रूप से उस समय की राजनैतिक स्थिति को समझने के लिए आधार प्रदान करता है।

वैदिक साहित्य

वेदों को भारत का नहीं अपितु समस्त संसार का प्राचीनतम ग्रन्थ माना जाता है। ये प्राचीन भारतीय जीवन की जानकारी के विश्वसनीय स्रोत कहे जाते हैं। ऋग्वेद में राज्य व्यवस्था के सम्बन्ध में कहीं-कहीं उल्लेख होता है। अथर्ववेद में ऐसे श्लोकों की संख्या पर्याप्त है जिनका सम्बन्ध राज्य व्यवस्था से है। ये श्लोक तत्कालीन राज्य के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहते हैं।

वेदों के अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रन्थों में भी राजनीति से सम्बन्धित सामग्री उपलब्ध होती है। ऐतरेय ब्राह्मण में राजा के राज्याभिषेक तथा उसके द्वारा किये जाने वाले यज्ञों का वृत्तान्त है। ब्राह्मण ग्रन्थों में राजपद की प्रतिष्ठा, राज कर्मचारियों के कर्तव्य, कर व्यवस्था आदि का उल्लेख किया गया है।

अनुपलब्ध ग्रंथ

वैदिक साहित्य के बाद भारतीय चिन्तन राजनीति की ओर कुछ अधिक झुका। यद्यपि अब भी धर्म एवं आध्यात्म के विषय मुख्य रूप से ध्यान के केन्द्र थे किन्तु फिर भी पहले की अपेक्षा अब विचारों में अधिक स्पष्टता आ गई। आठवीं शताब्दी ईसापूर्व भारत में व्याकरण निरुक्त छन्द एवं ज्योतिष आदि ग्रन्थों की रचना की जाने लगी थी। इस समय से राजनीति शास्त्र पर भी स्वतन्त्र रूप से विचारने की परम्पराओं का प्रारम्भ हुआ। इसके फल-स्वरूप अब इस विषय का अध्ययन अधिक सरल बन गया। इस समय राजनीति विषयक ग्रन्थों की रचना की गई होगी, किन्तु वे आज उपलब्ध नहीं होते हैं। वे न जाने कब काल कवलित हो गये। उनकी स्मृति मात्र शेष है। उनके अस्तित्व का भान तब होता है जबकि उपलब्ध ग्रन्थों में उनका उल्लेख पाते हैं। ईसा से सातवीं शताब्दी पूर्व भारत में अनेक छोटे राज्य विद्यमान थे। इन राज्यों के शासक अपनी शंकाओं के निराकरण एवं समस्याओं के समाधान के लिए अपने धर्म गुरु अथवा मन्त्री से विचार विमर्श किया करते थे। इस विचार विमर्श के परिणामस्वरूप राजनीति शास्त्र के अनेक सिद्धान्तों की रचना होती थी। महाभारत के शान्तिपर्व में अनेक बार ऐसे वृत्तान्त आये हैं तथा इस प्रकार की वार्ताओं की ओर इशारा किया गया है। सम्भव है कि ये वार्तायें पहले या तो किसी ग्रन्थ में संकलित होंगी अथवा अनेक ग्रन्थों का भाग रही होंगी। आज ये रचनायें प्राप्त नहीं हैं।

अप्राप्य ग्रन्थों के सम्बन्ध में कुछ उपलब्ध ग्रन्थ विवरण देते हैं। महाभारत में आई एक कथा के अनुसार ब्रह्माजी ने तत्कालीन अराजकता को समाप्त करके समाज व्यवस्था को लागू किया और राज्य के संचालन के लिए एक विशाल राज्य शास्त्र की रचना की। इस शास्त्र में एक लाख श्लोक थे। इन श्लोकों को शिव विशालाक्ष, इन्द्र, बृहस्पति तथा शुक्र द्वारा संक्षिप्त रूप

1. Dr K P. Jayaswal, op cit , P. 4

प्रदान किया गया। मनु, भारद्वाज तथा गौर शिरस् आदि अन्य राजनीति के आचार्यों के नाम का उल्लेख भी किया गया है। देवताओं के नामों से जुड़ा होने के कारण यह मानना गलत होगा कि ये ग्रन्थ केवल कल्पना मात्र ही है तथा इनमें केवल इतनी ही सत्यता है जितनी कि परियों की कहानियों में हुआ करती है। यहां एक बात उल्लेखनीय यह है कि प्राचीन समय में भारतीय लेखक स्वयं अनाम रहना अधिक अच्छा समझते थे। नाम देने पर उनको यह भय होता था कि कहीं अहं की भावना न बढ़ जाये। यही कारण है कि वे अपनी रचनाओं को किसी भी देवता या महर्षि के नाम कर देते थे। चारों वेदों को प्रजापति ब्रह्मा के मुख से निकला हुआ माना गया है। इसी प्रकार विभिन्न ग्रन्थों को मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर आदि के नाम सौंप दिया गया है। इन विभिन्न आचार्यों के नाम का उल्लेख तथा मन्तव्यों का विचार कौटिल्य द्वारा अर्थशास्त्र में किया गया है।

प्राचीन भारत में राज्य शास्त्र के अध्ययन की कई एक परम्परायें विद्यमान थीं। एक परम्परा किसी महापुरुष के नाम पर चलती थी तथा अन्य परम्परा से उसके विचार किसी न किसी रूप में अवश्य ही भिन्न होते थे। मनु, बृहस्पति, शुक्रउशनस्, ब्रह्मा, इन्द्र एव शिव आदि के नाम कई एक वर्ग बन गये। राजनीति शास्त्र के इस मानव कृत ग्रन्थो का रचयिता देवताओं को बना दिया गया। ये ग्रन्थ आज उपलब्ध नही है। यह कहा जाता है कि इनमें से कुछ ग्रन्थों की सामग्री को तो अर्थ शास्त्र में समाहित कर लिया गया तथा शेष का महत्व अर्थ शास्त्र की रचना हो जाने के बाद फीका पड़ गया। वे प्रभावहीन होकर धीरे-धीरे स्वतः ही नष्ट हो गये। कुछ विचारकों की मान्यता है कि इनमें से कुछ ग्रन्थ तो बहुत समय तक बने रहे।

इन अनुपलब्ध ग्रन्थों के काल में भारत का राजनैतिक चिन्तन यहां के धार्मिक व दार्शनिक चिन्तन से प्रभावित था। कभी-कभी इससे विपरीत स्थिति का भी आभास होता है। ऐसा लगता है कि धर्म शास्त्र एवं दर्शनशास्त्र पर राजनीति का प्रभाव था। राजनीतिज्ञों का एक वर्ग, जो कि बृहस्पति का अनुयायी था, वैदिक साहित्य एवं मंत्रों को एक पवित्र धोखा मानता है। उशनस् वर्ग के अनुयायी तो और भी अधिक आगे बढ़ जाते है। वे समस्त विद्याओं को एक ही विद्या (अर्थात दण्डनीति) में समाहित करना चाहते है। उनके मतानुसार केवल दण्डनीति को ही विद्या कहा जा सकता है। इस प्रकार धर्म शास्त्र एव दर्शन को इन विचारकों ने राजनीति विज्ञान का मातहत बना दिया।

पर्याप्त प्रमाणों के आधार पर अनेक विचारकों का यह कहना है कि कौटिल्य से पूर्व राजनीति शास्त्र के अनेक आचार्य हुए हैं। कौटिल्य वह एक मात्र लेखक नहीं है जिसने कि इनका उल्लेख किया हो। महाभारत का शान्ति पर्व भी इन आचार्यों का नामोल्लेख करता है। एक 'स्कूल' यह मानकर चलता है कि इस विचारधारा का समर्थन अनेक लोगों ने किया होगा तथा समय-समय पर आचार्यों या शिक्षकों ने इसके सिद्धांतों को व्यवस्थित रूप दिया होगा। कौटिल्य के समय में भी राजनीति के कई स्कूल वर्तमान थे।

भारतीय राजनीति के सम्बन्ध में कई एक ऐसे भी अनुपलब्ध ग्रन्थों का अनुमान किया जाता है जो कि किसी भी स्कूल से सम्बद्ध नहीं थे। समस्त पहलुओं पर विचार करने के बाद विद्वान इस निष्कर्ष पर आते हैं कि यदि अधिक पहले नहीं भी माना जाये तो भी यह तो मानना पड़ेगा कि भारतीय राजनीति में विषयक ग्रन्थों की रचना ईसा से सात सौ वर्ष पूर्व होने लगी थी। डा० डी० आर० भण्डारकर का कहना है कि 'यदि सभी बातों पर एक साथ विचार किया जाये तो यह कहना अबुद्धि पूर्ण नहीं होगा कि अर्थ शास्त्र या दण्डनीति को ईसा से ६५० वर्ष पूर्व के बाद से प्रारम्भ नहीं किया गया था।"[1] अर्थात् इसका प्रारम्भ इस समय से पूर्व ही हो चुका था।

इन अनुपलब्ध ग्रन्थों की विषय वस्तु में राजा को दी जाने वाली शिक्षाओं का स्थान प्रमुख है। इसके अतिरिक्त मंत्री मण्डल का संगठन एवं कार्य भी वर्णित किया गया है जिसे देखने पर यह ज्ञात होता है कि ये आचार्य मंत्रियों की संख्या के सम्बन्ध में एकमत नहीं थे। राजकोष से सम्बन्धित विभिन्न कठिनाईयों का उल्लेख किया गया है। राज्यशक्ति के महत्व पर प्रकाश डालते हुए यह बताया गया है कि किलेबन्दी की क्या आवश्यकता है तथा यह किस प्रकार से की जानी चाहिये। कूटनीतिक व्यवहार के सम्बन्ध में अलग-अलग विचार प्रकट किये गये हैं। यदि एक के मतानुसार बलवान के सामने झुक जाना श्रेयस्कर है तो दूसरे का मत है कि लड़ते-लड़ते मर जाना बेहतर है किन्तु शत्रु के आगे सर न झुकाया जाये। प्रान्तीय कार्यकर्त्ताओं पर नियन्त्रण रखने की समस्या पर विचार तो किया गया है किन्तु स्थानीय शासन के विषय पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया है। विभिन्न प्रकार के अपराधों के लिए ये ग्रन्थ दण्ड की व्यवस्था करते हैं। इस सब विषय वस्तु को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि इन ग्रन्थों के समय भारतीय चिन्तकों की राजनीति शास्त्र में कितनी पहुँच हो चुकी थी। अर्थ शास्त्र का साथवां एवं प्रथम चार अध्याय इन ग्रन्थों अथवा ग्रन्थकारों के नामों का उल्लेख करते हैं, जिससे यह स्पष्ट जाहिर होता है कि इनका अस्तित्व कौटिल्य से पूर्व था और उस समय तक ये पर्याप्त लोकप्रिय हो चुके थे।

महाभारत

महाभारत के शान्ति पर्व में राजधर्म पर्व के अन्तर्गत हिन्दू राजनीति से सम्बन्धित विभिन्न प्रश्नों पर विचार किया गया है। महाभारत की मूल सामग्री तो प्राचीन है किन्तु बाद में समय-समय पर इसमें वृद्धि होती रही है। विश्वास किया जाता है कि ईसा से करीब १५० वर्ष पूर्व इसका अधिकांश भाग निश्चित किया जा चुका था। शान्ति पर्व के अधिकांश अध्याय वार्तालाप के रूप में जिन कहानियों का वर्णन करते हैं उनको वे पुराना इतिहास के

1. '

नाम से पुकारते हैं। इस पुराने इतिहास का अधिकांश भाग धर्म से सम्बन्ध रखता है अथवा पौराणिक ग्रन्थों से—केवल कुछ ही भाग अर्थ शास्त्र से सम्बन्ध रखते हैं। महाभारत का सम्बन्ध जिन कथाओं से है उनको दन्तकथा माना जा सकता है जो कि कल्पना पर आधारित हैं।

शान्ति पर्व में राजा के कर्त्तव्यों एव शासन व्यवस्था के विभिन्न अंगों का वर्णन किया गया है। इसमें राजशास्त्र के महत्व का वर्णन किया गया है तथा राजतन्त्र की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे महत्वपूर्ण सिद्धांत स्थापित किये गये हैं। महाभारत के अनेक अध्याय राजा तथा मन्त्रियों के कर्त्तव्यों के वर्णन मे संलग्न हैं। महाभारत के अध्याय ६८ मे वृहस्पति और कौशल के राजा वक्षुमानस के बीच के वार्तालाप का वर्णन किया गया है। वक्षुमानस ने प्रश्न किया कि सृष्टि का सर्जन कर्ता कौन है तथा उसे कौन नष्ट करता है तो इसका उत्तर देते हुए वृहस्पति ने राज्य के शीर्ष पर राजा के अस्तित्व की परम आवश्यकता की ओर इशारा किया। इन दोनों के मध्य का यह वार्तालाप बाहस्पत्य सूत्र कहलाता है। इसे राजनीति शास्त्र का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है। भारद्वाज तथा महेन्द्र और राजा शत्रुञ्जय एवं मान्धाता के मध्य स्थित संवाद भी उतना ही महत्वपूर्ण है। इन सभी वार्तालापों को शान्तिपर्व के द्वारा तो इतिहास कहा गया है। यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। स्वयं कौटिल्य ने भी अर्थ शास्त्र को पुराण और धर्म-शास्त्र की भांति इतिहास के अधीन रखा है। महाभारत में प्राप्त सूचना अपना महत्व रखती है और इसको उस समय की प्रामाणिक सूचना कहा जा सकता है।

महाभारत में शान्ति पर्व के अतिरिक्त स्थानों पर भी जहां-तहां राजनीति विषयक वर्णन प्राप्त होता है सभापर्व के पांचवें अध्याय में आदर्श राज्य व्यवस्था के रूप का वर्णन किया गया है। आदि पर्व का १४२वां अध्याय राज्य के कार्यो का सम्पादन करने के लिए कूटनीति का भी समर्थन करता है। इसके अलावा अन्य कई स्थानों पर राज्य के बारे में कुछ बातें कही गई हैं।

अर्थशास्त्र

कौटिल्य कृत अर्थशास्त्र भारतीय राजनीति का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की खोज से पूर्व यह मत प्रकट किया जाता था कि प्राचीन भारत मे राजनीति से सम्बन्धित विषयों को विचार का आधार नहीं बनाया गया था। किन्तु जब अर्थशास्त्र विचारकों के सामने आया तो यह मान्यता पूरी तरह से बदल गई, साथ ही कई एक नवीन तथ्य भी सामने आये। इसी के माध्यम से यह स्पष्ट हुआ कि प्राचीत भारत में भी राजनीतिक विचारों की कई परम्पराये कायम थी। इस ग्रन्थ में प्रत्येक विषय का सविस्तार वर्णन किया गया है। इसकी शैली तथा वर्णन की प्रक्रिया इस प्रकार की है कि इसमे विभिन्न आचार्यों के विचारों पर पहले विचार किया गया है और बाद में अपना मत प्रकट किया गया है। यह ग्रन्थ उन धर्म शास्त्रों से भिन्न प्रकृति का है जो कि राज्य शास्त्र का वर्णन केवल प्रसंगवश करते हैं। इनके विपरीत

यह ग्रन्थ धर्म का वर्णन प्रसंगवश करता है। यह राजा को वेद, उपनिषद तत्व ज्ञान आदि का अध्ययन करने को कहता है।

अर्थ शास्त्र का मूल विचार यह है कि मानव जाति के अस्तित्व का आधार अर्थ है अर्थात् धरती पर ही व्यक्ति रहते हैं। अर्थ शास्त्र वह विज्ञान है जो कि यह प्रदर्शित करता है कि पृथ्वी को कैसे प्राप्त किया जाये और किस प्रकार उसकी रक्षा की जाये। कौटिल्य ने अपनी पुस्तक के प्रारम्भ में ही यह बात स्पष्ट कर दी है। लिखा गया है कि– 'पृथिव्या लाभे पालने च यावन्ती अर्थ शास्त्राणि।" इस प्रकार इस पुस्तक का सम्बन्ध धरती को प्राप्त करने तथा उसे बनाये रखने से है। इसके प्रथम विभाग में राजतन्त्र से सम्बन्धित विषयों पर विचार किया गया है। दूसरे विभाग में विभिन्न अधिकारियों के अधिकार तथा कर्तव्यों का वर्णन किया गया है। आगे के दो विभागों में रीति रिवाज एवं दीवानी तथा फौजदारी कानून का विवरण है। पाचवें विभाग में यह बताया गया है कि राजा के अनुचरों को क्या करना चाहिये। छठे विभाग में राजा के स्वरूपों का वर्णन है। सातवें विभाग से लेकर पन्द्रहवें विभाग तक राज्य के कूटनीतिक व्यवहार पर प्रकाश डाला गया है। इनमें यह बताया गया है कि एक राजा को दूसरे राजाओं से किस प्रकार का सम्बन्ध रखना चाहिये, उनसे किस प्रकार समझौता करना चाहिये तथा किस प्रकार सम्बन्ध विच्छेद करना चाहिये, शत्रु को पराजित करने के क्या तरीके होते हैं, युद्ध किस प्रकार संचालित किया जाये, शत्रु पक्ष में किस प्रकार से फूट डाली जाये आदि-आदि।

दण्डनीति की प्रकृति एवं क्षेत्र के सम्बन्ध में कौटिल्य द्वारा विस्तार पूर्वक कहा गया है। उसने दण्डनीति में चार बातों को समाहित किया है। पहली बात उस वस्तु पर अधिकार करना है जिसे कि प्राप्त नहीं किया गया है। दूसरी बात है प्राप्त किये हुए की रक्षा करना, तीसरी बात है रक्षित वस्तु की अभिवृद्धि करना और चौथी बात है इस प्रकार अभिवृद्ध वस्तु को उपयुक्त लोगों में बांटना। मनुस्मृति के सातवें अध्याय में इन सारी बातों का विवरण दिया गया है। मनु के मतानुसार इस चतुर्मुखी उद्देश्य की प्राप्ति राजा को दण्ड के माध्यम से करनी चाहिये। दण्ड का सम्बन्ध भूमि या प्रदेश से भी हो सकता है।

भारतीय जीवन दर्शन में मानव जीवन के चार लक्ष्य माने गये हैं, ये हैं–धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। कुछ विचारकों का मत है कि कौटिल्य के अर्थ शास्त्र का सम्बन्ध धर्म के बाद उल्लेखित 'अर्थ' से है। इस बात के समर्थन में इस तथ्य का वर्णन किया जाता है कि वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र के प्रारम्भ में ही यह बात कही है कि प्रजापति ब्रह्मा ने लोगों की उत्पत्ति की तथा उनके लिए एक लाख अध्यायों के ग्रन्थ की रचना की ताकि वे धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति कर सकें। इस ग्रन्थ में से धर्म से सम्बन्धित भाग को मनु द्वारा अलग कर दिया गया, अर्थ से सम्बन्धित भाग को बृहस्पति द्वारा अलग किया गया तथा 'काम' वाले भाग को नन्दिन ने अलग किया।

यहां यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि बृहस्पति को हिन्दू राजनीति का प्रारम्भ कर्ता माना गया है। इनके नाम से एक अर्थ शास्त्र नाम की पुस्तक भी प्रचलित है। इस पुस्तक में 'अर्थ' का अर्थ धर्म, अर्थ, काम वाले 'अर्थ' से है। इसका अर्थ यह हुआ कि इस अर्थशास्त्र का सम्बन्ध सभी वर्गों के लोगों द्वारा धन प्राप्ति से है। कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ मे इस शब्द का प्रयोग इस अर्थ में नहीं किया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में तथा अन्तिम पृष्ठों में उसने यह बात स्पष्ट कर दी है।

अर्थ शास्त्र की रचना राजनीति शास्त्र के सिद्धांतों की व्याख्या के उद्देश्य से नहीं की गई थी। यही कारण है कि उसमें इन सब का दार्शनिक विवेचन उपलब्ध नहीं होता। यह ग्रन्थ मूल रूप से शासन कार्य में राजा के मार्ग निर्देशन का कार्य करता है। शासन से सम्बन्वित विविध समस्याओं पर इसमें विस्तार से प्रकाश डाला गया है। राजा क्या कार्य करे, अपने कर्मचारियों के साथ वह कैसा सम्बन्ध रखे तथा दूसरे राज्यों के साथ उसका कैसा सम्बन्ध हो आदि बातें इसके वर्णन के विषय हैं। शासन तंत्र का वर्णन इस ग्रंथ में विस्तार के साथ प्राप्त होता है। सरकार की व्याहारिक समस्याओं का इतना विषद विवरण किसी भी अन्य प्राचीन भारतीय ग्रंथ में नहीं किया गया है।

कौटिल्य ने अपने वर्णन के विषय की स्वयं ही व्याख्या की है। उसके कथनानुसार त्रयी (धर्मशास्त्र), वार्ता (अर्थशास्त्र) एव दण्डनीति (राजनीति) में से अन्तिम शास्त्र अर्थात दण्डनीति की विषय वस्तु नय और अनय है अर्थात सही नीति और गलत नीति है न कि अर्थ और अनर्थ या धन आदि। इन विषयों का अध्ययन तो धन सम्बन्धी शास्त्र में किया जाता है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र की विषय वस्तु को देखकर इसका लक्ष्य एवं [illegible] स्पष्ट रूप से प्रतीत हो जाता है। असल में अर्थ शास्त्र को दण्डनीति का एक बड़ा भाग माना जा सकता है। दण्डनीति के जो चार भाग होते हैं उनमें से अर्थ शास्त्र केवल दो के सम्बन्ध में ही विचार करता है। यह संरक्षित वस्तु की वृद्धि एवं वृद्धिशील वस्तुओं के उपयुक्त व्यक्तियों में वितरण पर विचार नहीं करता। दण्डनीति के सभी पहलुओं पर जिसमें विचार किया गया हो ऐसा ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं होता। इस सम्बन्ध में डा० भण्डारकर का यह कथन सही है कि दण्डनीति पर विचार करने वाला कोई भी ग्रंथ पूर्ण या आंशिक रूप से सरक्षित नहीं किया गया है। अर्थ शास्त्र के सम्बन्ध में भी कौटिल्य का ग्रंथ ही एक मात्र कार्य है जो कि शेष है।[1]

कौटिल्य के अर्थशास्त्र का मूल महत्व इस बात में निहित है कि उसने व्यवहार एवं सिद्धान्तों के बीच स्थित खाई को कम

---

1. ....no work which deals with Dandniti has been preserved, wholly or partially. And even in regard to the Arthasastra, the treatise of Kautilya is the only work that has survived.

—Dr. D. R Bhandarkar, op. cit., P. 20

किया तथा राजनीति के तत्कालीन सैद्धान्तिक ग्रन्थों की तुलना में व्यवहार की भावना प्रदान की। कौटिल्य से पूर्व यह प्रवृत्ति बढ़ती जा रही थी कि विषय का शास्त्रीय विवेचन किया जाय और इस प्रकार इसे व्यावहारिकता तथा लोकप्रियता से दूर रखकर अधिकाधिक अमूर्त बनाया जा रहा था। ग्रन्थों को संक्षिप्त करने की प्रवृत्ति बढ़ रही थी। विस्तृत व्याख्याओं को एक सूत्र के रूप में कहने का अभ्यास जारी पर था। ब्रह्मा के ग्रन्थ को पहले विशालाक्ष ने फिर इन्द्र ने, तत्पश्चात् बृहस्पति ने तथा उनके बाद शुक्र उशनस् ने संक्षिप्त रूप प्रदान किया। कौटिल्य को भी अपने काल की इस प्रवृत्ति से प्रभावित होना पड़ा था। अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही वह यह स्पष्ट कर देता है कि यह उस समय प्राप्त सभी अर्थशास्त्रों का संग्रह अथवा सार है।

कौटिल्य से पूर्व के राजनैतिक ग्रन्थों में अनावश्यक विस्तार होने के कारण वे लोकप्रियता खोते जा रहे थे तथा अनुपयोगी बनते जा रहे थे। व्यावहारिक राजनीतिज्ञों को इनके अध्ययन में कोई रुचि नहीं थी। अतः वे इनका पूरी तरह से बहिष्कार करते थे। ऐसी स्थिति में इस बात की आवश्यकता थी कि राजनैतिक सिद्धान्तों को कोई व्यावहारिक रूप प्रदान करता। यह कार्य कौटिल्य द्वारा किया गया। एक स्थान पर स्वयं कौटिल्य ने बताया है कि दण्डनीति का अध्ययन एक सैद्धान्तिक शिक्षक तथा व्यावहारिक कार्य-कर्ता दोनों के ही रूप में करना चाहिए। दण्डनीति के अध्ययन से राजनीतिज्ञों एवं कूटनीतिज्ञों को चिढ़ हो चली थी। अतः कौटिल्य ने इसे व्यावहारिक, उपयोगी एवं रोचक विषय बना कर एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया। कौटिल्य ने कम से कम सिद्धान्तों के आधार पर अधिक से अधिक कूटनीति के व्यवहार का वर्णन किया है। इसका अर्थ यह भी नहीं समझना चाहिए कि कौटिल्य का यह ग्रन्थ अपने पूर्व स्थित विचारों का केवल संग्रह मात्र है। जहाँ कहीं नीति अथवा प्रशासन से सम्बन्धित विषयों पर विचार किया गया है वहाँ उसने संक्षिप्त एवं स्पष्ट रूप में स्वयं के दृष्टिकोण का भी वर्णन किया है। इससे यह प्रकट होता है कि वह केवल एक सैद्धान्तिक अथवा साहित्यिक वर्णनकर्ता ही नहीं था, वरन् एक ऐसा राजनीतिज्ञ था जिसमें बहुमूल्य राजनैतिक क्षमता एवं व्यावहारिक बुद्धि थी। अर्थशास्त्र को पढ़ने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि नीति एवं प्रशासन सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर कौटिल्य के अपने अलग विचार थे। वैसे इस ग्रन्थ की मौलिकता की मात्रा का निर्धारण किया जाना अत्यन्त कठिन है क्योंकि उस समय का कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता जिसे कि तुलनात्मक अध्ययन का आधार बनाया जा सके।

कौटिल्य के विचारों एवं अभिव्यक्ति की मौलिकता का एक प्रमाण यह है कि उसने राजनीति के एक नये सम्प्रदाय की स्थापना की और बहुत समय बाद तक उसका आदर होता रहा। एक निश्चित राजनैतिक दर्शन के साथ कौटिल्य का नाम जुड़ गया। कौटिल्य के कार्य का महत्त्व मूल रूप में इस बात से भी प्रकट होता है कि तन्त्राख्यायिका ने कौटिल्य की तुलना मनु, बृहस्पति, शुक्र एवं पाराशर आदि उन आचार्यों से की है जिनको कि

भारतीय राजनीति का प्रारम्भ कर्त्ता कहा जाता है । तंत्राख्यायिका की रचना ईसवी सन् तीन सौ से पांच सौ के बीच के काल में की गई थी । इससे सिद्ध होता है कि ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में ही कौटिल्य को मनु, वृहस्पति आदि जैसा सम्मान प्राप्त होने लगा था । इसी सम्मान के प्रभाव से कौटिल्य भारतीय कानून एवं साहित्य पर प्रभाव डालने में समर्थ हो सका । कौटिल्य के कथनों को अनेक ग्रन्थों में या तो उद्धरित किया गया है अथवा उनकी ओर संकेत किया गया है । इनमें मुख्य हैं—बौद्ध जातक, मनु स्मृति, याज्ञवल्क स्मृति, नारद स्मृति, काम सूत्र, न्याय भास्य भवभूति का महावीर चरित, दण्डी का दसकुमार चरित, सोमदेव सूरी का नीति वाक्यामृत एवं मेघातिथि, हेमचन्द्र और मल्लिनाथ की टीकायें आदि-आदि । इस ग्रन्थों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक कौटिल्य समस्त साहित्यकारों में लोकप्रिय बन चुका था ।

प्रो० अनन्त सदाशिव अलतेकर के मतानुसार राजनीति के वाङ्मय में अर्थ शास्त्र का वही स्थान है जो व्याकरण शास्त्र में पाणिनी की अष्टाध्यायी का है । पाणिनी की भांति कौटिल्य ने समस्त पूर्ववर्तियों को परास्त कर दिया और उनके ग्रन्थ धीरे-धीरे उपेक्षित तथा विलुप्त हो गये ।[1] डा. बेनी प्रसाद ने अर्थशास्त्र को एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ माना है । उनका कहना है कि "एक प्रशासकीय संगठन की योजना के रूप में अर्थशास्त्र से श्रेष्ठ ग्रंथ भारतीय साहित्य में नहीं है । यह अपने नियमों के विस्तार में पूर्ण है, वर्णन में व्यापक है । यह हिन्दू प्रशासकीय सिद्धान्त पर एक वक्तव्य है तथा यह कोई भी वांछनीय चीज नहीं छोड़ता ।"[2]

स्मृतियां

कौटिल्य का ग्रन्थ यद्यपि पर्याप्त महत्वपूर्ण समझा गया तथा इसे अत्यन्त लोकप्रियता प्राप्त हुई, किन्तु फिर भी यह मानना गलत होगा कि कौटिल्य ने हिन्दू राजनीति से सम्बन्धित समस्त ग्रन्थों पर पानी फेर दिया था । सत्य तो यह है कि अन्य ग्रंथों का भी उस समय पर्याप्त महत्व था । काम सूत्र में वृहस्पति कृत अर्थशास्त्र का उल्लेख आता है । यह कौटिल्य से बहुत बाद की रचना है तथा इसमें अधिक कुछ नवीनता नहीं है । इतने पर भी इस ग्रन्थ के व्यापक प्रचार को अस्वीकार नहीं किया जा सकता । संस्कृत के प्रसिद्ध लेखक भास ने अपने प्रतिमा नाटक में रावण से यह कहलवाया है कि उसने

---

1. प्रो. अनन्त सदाशिव अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, भारती भण्डार प्रयाग सम्वत् २०२१, पेज ११
2. As a Scheme of administrative organisation, the Arthsastra is unsurpassed in Hindu Literature. It is complete in its perspective, detailed in its regulations, thorough in its treatment....it is a statement of Hindu administrative theory, it leaves hardly any thing to be desired.
—Dr. Beni Prasad, the State in Ancient India, P. 253

अन्य विभिन्न शास्त्रों के साथ साथ बृहस्पति के अर्थशास्त्र का भी अध्ययन किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि भास के काल में अर्थात् ईसा की चौथी शताब्दी तक राजनीति से सम्बन्धित भास के कार्य का अध्ययन किया जाता था।

बृहस्पति के अतिरिक्त नारद (पिशुन) का नाम लिया जा सकता है। संस्कृत के विद्वान बाण के समय में नारद सुविज्ञ थे। यहाँ तक कि राजनीति रत्नाकर जैसे बाद के ग्रंथों में भी इनका सदर्भ पाया है। नारद स्मृति का हिन्दू राजनीति की दृष्टि से अपना महत्व है। इसी प्रकार मनु स्मृति एवं याज्ञवल्क्य स्मृति भी उल्लेखनीय है, इसका रचना काल दो सौ वर्ष ईसापूर्व से लेकर दूसरी शताब्दी के बीच का माना जाता है। विशालाक्ष की रचनाओं के अध्ययन से कई एक प्रमाण प्राप्त होते हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति पर टीका करते हुए शंकराचार्य के प्रमुख शिष्य विश्व रूपाचार्य ने विशालाक्ष के श्लोक को उद्धरित किया है। इन विभिन्न स्मृतियों में राजा के कार्य, राजा के कर्मचारियों के कार्य, दण्ड विधान, परराष्ट्रनीति आदि विषयों का उल्लेख किया गया है। मनुस्मृति तो दीवानी एवं फौजदारी कानूनों का विवरण भी प्रस्तुत करती है।

कामन्दकीय नीतिसार

कौटिल्य ने राजनीति के अध्ययन को निरर्थक एवं सारहीन होने से बचा लिया तथा प्रशासक वर्ग भी अब उसमें रुचि लेने लगा। कौटिल्य का ग्रन्थ यद्यपि पूर्व ग्रन्थों के सार स्वरूप में प्रकट किया गया था किन्तु वह भी अत्यन्त व्यापक बन गया। कामन्दक ने इस ग्रंथ में से प्रशासन तथा कानून से सम्बन्धित विषयों को निकाल कर इसे और भी छोटा कर दिया। डा. अलतेकर के मतानुसार गुप्तकाल में पांच सौ ईसवी के आस-पास लिखा गया कामन्दकीय नीतिसार कौटिल्य के ग्रन्थ का छन्दोबद्ध संक्षेपीकरण मात्र है।[1] कामन्दकीय नीतिसार के रचयिता ने प्रारम्भ में ही कौटिल्य की वन्दना की है। साथ ही यह स्वीकार भी किया है कि राजविद्या प्रियतमा होने के कारण ही सभी विद्याओं के उस पारदर्शी विशुद्ध ज्ञान सम्पन्न विष्णु गुप्त के दर्शन 'अर्थशास्त्र' से उसने अपना ग्रन्थ तैयार किया है।

कामन्दकीय नीतिसार के वास्तविक लेखक का परिचय अभी तक प्राप्त नहीं हो सका है। प्रो के. पी. जायसवाल के अनुसार इस ग्रन्थ का लेखक द्वितीय चन्द्रगुप्त का मंत्री शिखरस्वामी था, किन्तु डा० अलतेकर इसे अप्रामाणिक मानते हैं क्योंकि विशाखदत्त या दण्डी ने इस ग्रन्थ का उल्लेख नहीं किया है। उनके मतानुसार इस ग्रन्थ का काल छठी से सातवीं शताब्दी के बीच का मानना होगा। इस रचना का मुख्य उद्देश्य यह था कि अध्ययनकर्ता इस विषय को कण्ठस्थ कर सकें। राजकुमारों तथा राजनीतिज्ञों के लिए लिखा गया यह ग्रंथ इतना लोकप्रिय हो गया कि शुक्र नीति सार के रचयिता ने बिना ग्रन्थ-

---

1 डा० अनन्त सदाशिव अलतेकर, पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ १३

कार का नाम लिए ही इस ग्रन्थ से ग्रहण किया है। कामंदकीय नीति सार की विषय वस्तु मुख्य रूप से राजा तथा उसके परिवार का वर्णन है। गणतंत्र के सम्बन्ध मे यह ग्रन्थ कुछ नहीं कहता। इससे प्रकट होता है कि ग्रन्थ के रचना काल में राजतंत्र पर्याप्त शक्तिशाली हो चुका था और गणराज्यों का अस्तित्व मिट चुका था। इसके अतिरिक्त राजस्व विभाग, वर्ण व्यवस्था, दीवानी व फौजदारी कानून आदि को भी ग्रन्थ ने अपने वर्णन का विषय नहीं बनाया क्योंकि इन पर विभिन्न स्मृतियों की रचना की जाने लगी थी। कामंदकीय नीतिसार यद्यपि पर्याप्त लोकप्रिय हुआ किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि उसने अर्थशास्त्र के महत्व को समाप्त कर दिया था। सोमदेव ने दसवीं शताब्दी की रचना नीति वाक्यामृत में कौटिल्य की पुस्तक से अंश लिए हैं। इसी प्रकार चौदहवीं शताब्दी में स्थित मल्लिनाथ ने रघुवंश एवं कुमारसम्भव के कुछ श्लोकों पर टीका करते हुए कौटिल्य की रचना से उद्धरण लिए हैं।

शुक्र नीतिसार

शासन व्यवस्था के सांगोपाङ्ग वर्णन के लिए अर्थशास्त्र के बाद यदि किसी ग्रन्थ का नाम लिया जा सकता है तो वह शुक्रनीति है। कामन्दक के समय तक 'नीति' शब्द का अर्थ केवल राज्य नीति से ही होता था किन्तु दसवीं शताब्दी तक यह शब्द सामान्य आचरण के लिए प्रयुक्त होने लगा और राज-नीति इसका एक भाग मात्र बन गई। बाहस्पत्य सूत्र, चाणक्य सूत्र एव शुक्र-नीति सार को इसी काल की रचना माना जाता है। इन ग्रन्थों के वास्तविक लेखक का नाम ज्ञात नहीं है और जो नाम ज्ञात है वह वास्तविक नहीं है।

'शुक्रनीति सार' का मूल ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। यद्यपि महाभारत जैसे ग्रन्थों में इसका नामोल्लेख किया गया है किन्तु वहां इसे एक हजार अध्यायों वाला ग्रन्थ कहा गया है। कौटिल्य के मतानुसार शुक्र ने दण्डनीति को ही एक मात्र विद्या माना है। शुक्रनीति सार में चार अध्याय हैं। इसमें गण-राज्यों का कोई उल्लेख नहीं है तथा केवल राजतंत्र पर ही विचार किया गया है। राजा, राजा के मंत्री तथा राजा के कर्मचारियों के कार्यों पर प्रकाश डाला गया है। दण्ड नीति एवं परराष्ट्र नीति से सम्बन्धित विषयों पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। शुक्रनीति सार में राजनीति अध्ययन की कोई स्वतंत्र शाखा नहीं है किन्तु इसे सामान्य व्यवहार के विज्ञान में समाविष्ट कर दिया गया है। इसमें स्थान-स्थान पर समाजशास्त्र एवं समाज नीति के कुछ प्रश्नों पर विशद रूप से विचार किया है। शुक्रनीति सार एक प्रकार से लोक कल्याणकारी राज्य का समर्थन करता है। शुक्र के मतानुसार राज्य का उद्देश्य समाज की सर्वाङ्गीण उन्नति करना है। वे केवल पुलिस राज्य को ही वांछनीय नहीं मानते। राज्य को डाकुओं को दंड देना चाहिए साथ ही शराब आदि व्यसनों को भी दूर करना चाहिए किन्तु यह सब करके ही उसे अपने कार्यों की इतिश्री नहीं मान लेनी चाहिए। राज्य को चाहिए कि वह समाज की समस्याओं को दूर करने के लिए तथा उसका सर्वाङ्गीण विकास करने के लिए सकारात्मक रूप से कदम उठाये। इसके लिए उसे अस्पताल एवं धर्मशालायें खोलने के लिए

कहा गया तथा विद्या व विकास के लिए सक्रिय कदम उठाने का समर्थन किया गया। व्यापारिक व धार्मिक क्षेत्र में राज्य के सहयोग को भी महत्वपूर्ण माना गया।

शुक्रनीति सार की एक विशेषता यह है कि इस ग्रन्थ में प्रशासनिक व्यवस्था को निकट से देखा गया है तथा उन बातों का वर्णन किया गया है जो कि अन्य ग्रन्थों में प्राय देखने को नहीं मिलती। इसके पढ़ने पर हम यह जान पाते हैं कि राजा के दरबार में किस अधिकारी को कहां बैठाने की व्यवस्था की जाती थी, सामन्तों के प्रकार एव उनकी आय क्या थी, आदि। विभिन्न मन्त्रियों की सज्ञा तथा तदनुसार उनके कार्यों का निर्धारण किया गया था। मन्त्रियों की दिनचर्या तथा मन्त्रियों के सहायकों के कर्त्तव्यों का विषद ज्ञान हम को इस ग्रन्थ में प्राप्त होता है।

शुक्रनीति सार जिस रूप में आज हमें प्राप्त होता है उसकी रचना एक ही समय में नहीं की गई थी वरन् उसके कई भागों को तो सम्भवत बाद में जोड़ा गया है। इस सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि इस ग्रन्थ के मूल सिद्धान्त प्राचीन हैं और समय-समय पर इसके जो सस्करण निकाले गये उनमें आवश्यकतानुसार सशोधन एव परिवर्धन कर दिया जाता था। मि डी घोषाल के मतानुसार इस ग्रन्थ का रचना काल बारहवीं शताब्दी से लेकर सोलहवीं शताब्दी के बीच में माना जा सकता है।

अन्य रचनायें

ऊपर वर्णित रचनाओं के अतिरिक्त कुछ अन्य रचनायें भी हैं जो कि प्राचीन भारतीय राजनीति को समझने में सहायता प्रदान करती हैं। इन ग्रन्थों की विशेषता यह है कि इनमे मौलिकता का प्राय: अभाव है। इनको बहुत कुछ सीमा तक पूर्व स्थित ग्रन्थों का सकलन मात्र ही कहा जा सकता है। इनमे कोई नई बात नहीं कही गई है। लक्ष्मीधर भट्ट द्वारा रचित राजनीति कल्पतरु का नाम उल्लेखनीय है। गोपाल ने राजनीति कामधेनु की रचना की। राजा भादेस की आज्ञानुसार चण्डेश्वर के द्वारा राजनीति रत्नाकर लिखी गई। जिस समय नीति शब्द का प्रयोग सामान्य आचरण के नियमों के लिये किया जाने लगा तो राजा के आचरण के नियमों का वर्णन करने के लिए राजनीति शब्द प्रचलित हुआ। इनके बाद धर्मशास्त्रों ने राजनीति के सिद्धान्तों का वर्णन किया। इन रचनाओं में राजनीति के प्राचीन ग्रन्थों की अवहेलना नहीं की गई थी। उदाहरण के लिए राजनीति रत्नाकर में नारदनीति, कामदकीय नीति सार आदि ग्रन्थों से श्लोकों को उद्धृत किया गया है।

इन रचनाओं में मित्र मिश्र की कृति वीर मित्रोदय राजनीति, नीलकण्ठ की कृति नीतिमयूख, सोमदेव का नीतिवाक्यामृत, भोजराज का युक्ति कल्पतरु आदि भी उल्लेखनीय हैं। इन ग्रन्थों में मौलिकता के अभाव की स्थिति का वर्णन करते हुए डा० भण्डारकर ने कहा है कि राजनीति पर विचार करने वाले कौटिल्य के बाद के ग्रन्थों में एक बात निश्चित है कि वे केवल नकल अथवा सग्रह मात्र हैं। इनमें जो भी मान्यतायें एव व्यवहार हमारे

विचारार्थ प्रस्तुत किये गये हैं उनको पूर्वस्थित लेखकों से ग्रहण किया गया है।[1] वस्तुस्थिति यह है कि कौटिल्य के बाद से हिन्दू राजनीति की न केवल प्रगति रुक गई वरन् उसका तीव्र गति से ह्रास होने लगा। सम्राट अशोक के शासन-काल में मगध साम्राज्य की विदेश नीति का रूप पूरी तरह से बदल गया। पहले यह सैनिक वाद एवं राजनैतिक महानता के कारण पर्याप्त भय का कारण बना हुआ था। यूनानी लोग मगध की सेनाओं का प्रतिकार करने से भयभीत होते थे; किन्तु अब वे मौर्य साम्राज्य को छिन्न भिन्न करने के लिए अन्दर ही अन्दर प्रयास करने लगे। जब एक बार यूनानी लोग इस देश में प्रवेश पा गये तो उन्होंने अनेक जंगली आक्रमणकारियों के लिए मार्ग प्रशस्त किया। शक, पल्लव, कुशान, हूण, गुर्जर आदि ने समय-समय पर भारत की सीमाओं पर आक्रमण एव उपद्रव किये। यह सच है कि इन विजातियों का प्रवेश केशीघ्र बाद ही हिन्दूकरण कर दिया गया; किन्तु यह भी सच है कि मुसलमानों के आगमन तक देश की शक्ति इन्हीं के हाथों में एकीकृत रही। राजनैतिक विचारों के विकास एव मौलिकता के लिए हिन्दू विद्वता समाप्त हो गई। कौटिल्य के बाद हिन्दू राजनीति का विकास न होने का यह एक मूल कारण समझा जाता है।

विदेशी आक्रान्ताओं के प्रभाव से क्षत्रियों का पुराना गौरव एवं प्रभुत्व समाप्त हो गया। दूसरी ओर ब्राह्मणों को इससे लाभ हुआ। आगन्तुकों को स्तर प्रदान करने वालों के रूप में ब्राह्मणों की शक्ति बढ़ने लगी और यह तब तक बढ़ती रही जब तक कि वे सर्वोच्च नहीं हो गये। समस्त साहित्य एवं सामाजिक जीवन को उन्होंने ऐसा रूप प्रदान किया जो कि उनकी स्वयं की शक्ति को अभिवृद्ध करे।

अध्ययन का महत्व
(The Importance of Study)

हिन्दू राजनीति का अध्ययन जितना उपेक्षणीय है उतना ही महत्वपूर्ण भी है। कुछ समय पूर्व तक न केवल पाश्चात्य विद्वान ही वरन् भारतीय विचारक भी इस मत को मानते थे कि राजनीति के क्षेत्र में भारतीयों ने विचार ही नहीं किया है। इस मान्यता के लिए किसी को दोष भी नहीं दिया जा सकता क्योंकि ऐसे अधिक प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध नहीं थे जिनमें राजनीति के ऊपर पृथक से विचार किया गया हो। केवल धर्मशास्त्रों में ही कहीं-कहीं राज्य के सम्बन्ध में कुछ वृतान्त आता है जो कि अस्पष्ट, अनिश्चित एवं अव्यवस्थित है। प्रामाणिक ग्रन्थ प्राप्त न होने के कारण इन इतर ग्रन्थों का अधिक गहनता के साथ अध्ययन भी नहीं किया गया। प्रोफेसर डनिंग

---

1. Infact, whichever work after Kautilya, dealing with polity, we may take, whether it is Brahmanical or Jain, whether it is a digest or a treatise, this much is certain that it is an adaptation or compilation and that whatever concepts and practices it presents for our consideration are borrowed from the earlier writers.
—Dr. Bhandarkar, op. cit., P. 29.

का यह कथन सत्य माना जाता था कि पूर्वी आर्यों ने अपनी राजनीति को धार्मिक एवं आत्मापरक वातावरण से स्वतन्त्र नहीं किया और आज भी यह उसी वातावरण में स्थित है।[1] प्रो० डनिंग ने अपनी रचना में केवल योरोपीय राजनैतिक विचारों का ही अध्ययन किया है।

प्रो० डनिग ने तो विशेष रूप से भारत का नाम नहीं लिया तथा ऐसा भी प्रतीत नहीं होता कि उन्होंने भारतीय स्थितियों का विशद अध्ययन किया होगा। किन्तु जिन विद्वानों ने भारतीय इतिहास एवं संस्कृति का अध्ययन एवं लेखन किया है वे भी बहुत कुछ ऐसा ही मत रखते हैं। प्रो० मैक्समूलर (*Prof Max Muller*) का कहना है[2] कि "भारतीय कभी भी राष्ट्रीयता की भावना से परिचित नहीं थे। भारतीय मस्तिष्क को कार्य करने रचना करने एवं पूजा करने की स्वतन्त्रता केवल धार्मिक एवं दार्शनिक क्षेत्र में मिली थी। भारत दार्शनिकों का राष्ट्र था। कुल मिलाकर विश्व इतिहास में कोई ऐसा दूसरा उदाहरण प्राप्त नहीं होगा जहां कि समस्त लोगों के जीवन के सभी पहलुओं को आत्मा सम्बन्धी जीवन ने इतना आत्मसात कर लिया हो। असल में वे सभी विशेषतायें नष्ट हो गईं जिनसे कि एक राष्ट्र इतिहास में अपना स्थान बनाता है।" बहुत कुछ इसी प्रकार के विचार प्रोफेसर ब्लूम फील्ड द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं। उनके कथनानुसार "भारतीय इतिहास के प्रारम्भ से ही धार्मिक संस्थाओं ने यहां के लोगों के चरित्र एवं विकास को जिस सीमा तक नियंत्रित किया है उसका उदाहरण कहीं भी नहीं मिलता। ऐसी योजना में राजा के हित एवं जाति के विकास के लिए कोई प्रावधान नहीं होता।"[3] विदेशी विचारकों के इन कथनों पर भारतीय विद्वानों द्वारा भी पूरी तरह से विश्वास किया जाता था। इस बात की सत्यता में संदेह की गुंजाइश नहीं समझी जाती थी कि हिन्दुओं ने राजनीति विज्ञान के लिए कोई योगदान नहीं किया और इसलिए दुनिया के राजनैतिक इतिहास में भारत का कोई स्थान नहीं है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र की जानकारी के बाद वस्तुस्थिति बदली और अब यह मानने के लिए मजबूर होना पड़ा कि भारतीयों ने राजनीति के क्षेत्र में भी अनेक महत्वपूर्ण विचार रखे हैं तथा उन्होंने राजनैतिक समस्याओं पर गहनता से सोचा है। इतने पर भी भारत को पाश्चात्य विचारकों के समतुल्य नहीं माना गया, उनको सदैव ही पिछड़ा हुआ सिद्ध किया गया।

---

1 The oriental Aryans never freed their politics from the theological and metaphysical environment in which it is embedded today.

D- [illegible] tent

2. [illegible] L-31

3 From the beginning of India's history, religious institutions controlled the character and the development of its people to an extent unknown elsewhere

—Prof Bloomfield, the Religion of the Veda, pp

ऐसी स्थिति में यह आवश्यक हो जाता है कि हम प्राचीन भारतीय राजनैतिक संस्थाओं एवं विचारों का अध्ययन करें तथा उनका उचित मूल्यांकन करें ताकि उन्हें उनका उचित स्थान प्राप्त हो सके। अध्ययन के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत के हिन्दुओं ने राजनैतिक विचारधाराओं के विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया है। यह कहना आज तथ्य संगत प्रतीत नहीं होता कि भारतीयों ने उनकी राजनीति को धर्म सम्बन्धी एवं आत्मापरक विचारों से कभी स्वतन्त्र नहीं किया अथवा इसे एक स्वतन्त्र विद्या के रूप में स्थान नहीं दिया। कौटिल्य के अतिरिक्त अनेक आचार्यों ने राजनीतिशास्त्र के सम्बन्ध में विचार किया है तथा लिखा है। ईसा से सातसौ वर्ष पूर्व ही अर्थशास्त्र या दण्ड नीति या राजनीति शास्त्र पर भारतीय लेखन प्रारम्भ हो चुका था।

हिन्दू राजनीति का अध्ययन भारतीयों में अतीत के गौरव को प्रतिष्ठित करता है और इस प्रकार यह उनमें आत्मविश्वास का सृजन करता है। डा० भ डारकर का कहना है कि किसी भी भारतीय को उस समय तक शिक्षित नहीं कहा जा सकता जब तक कि वह अपने देश के इतिहास के सम्बंध में कुछ न जाने, उसे अपनी बौद्धिक एवं आध्यात्मिक प्राचीनता का ज्ञान न हो।[1]

हिन्दू राजनीति के अध्ययन का महत्व स्वतंत्र भारत में अधिक बढ़ गया है। सैकड़ों वर्षों की परतंत्रता के बाद भारतीयों को यह दायित्व मिला है कि वे अपने देश का अपनी कल्पना के अनुसार पुर्ननिर्माण करें। वैसे तो प्रत्येक क्षेत्र में प्रगति का पहला कदम अतीत की जानकारी होता है किन्तु राजनीति के क्षेत्र में इसका विशेष महत्व है। जब तक अतीत की परम्पराओं एवं व्यवहार का पूरा ज्ञान नहीं होता तब तक न तो भविष्य के सम्बंध में उपयोगी योजनायें बनायी जा सकती हैं और न ही वर्तमान को संवारा जा सकता है। अतीत के अनुभवों से लाभ उठाकर आगे बढ़ने से मार्ग सरल एवं अधिक निर्बाध बन जाता है। हमारे पूर्वजों के व्यवहार हमारा पथ–निर्देशन करते हैं तथा इनके माध्यम से अनेक गलतियों को रोका जा सकता है। मि. एच. एन. सिन्हा का यह कथन उपयुक्त प्रतीत होता है कि आज की जटिलताओं के माध्यम से हम स्पष्ट कुछ भी नहीं जान सकते और न ही आने वाले कल के बारे में बुद्धिपूर्वक सोच सकते हैं जब तक कि हम उस निरन्तरता का अध्ययन न करें जो कि पहले घटित हो चुकी है।[2]

---

1. It can rightly be maintained that no Indian deserves to be called an educated man unless he knows something about the history of his country, that is, about his intellectual and spiritiual ancestry.

   —Dr. Bhandarkar, op. cit., P. I.

2. We can not see clearly through the complexities of today nor can we look intelligently forward to tomorrow

हिन्दू राजनीति का विकास
(The Development of Hindu Polity)

हिन्दू राजनैतिक संस्थाओं एवं विचारों का विकास अनेक सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों से प्रभावित रहा है। युग के मूल्यों के अनुसार ही राजनैतिक व्यवस्था में भी परिवर्तन होते रहे हैं। वैदिक काल में समितियों को सम्प्रभु सभा माना जाता था। ये समितियां समस्त जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करती थीं। समिति का शाब्दिक अर्थ होता है एक साथ मिलना। यह समिति स्वयं राजा का चुनाव करती थी। संवैधानिक दृष्टि से समिति को एक सम्प्रभु निकाय ही कहा जा सकता है। समिति कई एक गैर राजनैतिक कार्य भी करती थी। समिति के अतिरिक्त वैदिक काल में सभा भी होती थी। इसे समिति की बहिन कहा जा सकता है। यह भी एक लोकप्रिय निकाय था। सभा के प्रस्तावों को नष्ट नहीं किया जा सकता था। सभा में कुछ चुने हुए लोग होते थे जो कि समिति की देखरेख में कार्य करते थे। सभा का साहित्यिक अर्थ था चमकते हुए लोगों का निकाय। इसमें केवल गणमान्य लोगों को ही स्थान प्रदान किया जाता था।

वैदिक युग के बाद प्रजातन्त्रों का जन्म हुआ। इस युग में लोगों की प्रवृत्ति स्वशासन की ओर उन्मुख हो गई। वैदिक युग में तो केवल राजा द्वारा शासन करने की ही परम्परा थी, किन्तु बाद में इसका स्थान प्रजातन्त्र व्यवस्था द्वारा लिया गया। वेदोत्तर काल की इन प्रजातन्त्रात्मक शासन व्यवस्थाओं के लिए कई एक पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग प्रचलित था। अनेक प्रमाणों के आधार पर यह कहा जाता है कि 'गण' शब्द का प्रयोग प्रजातन्त्र के लिए किया जाता था। इसके अतिरिक्त 'संघ' शब्द भी प्रजातन्त्रात्मक शासन व्यवस्था के लिए प्रयुक्त होता था। गण और संघ दोनों ही शब्द पर्याप्त लोकप्रिय रहे हैं। दोनों के बीच एक भारी अन्तर यह है कि जहां 'गण' से शासन प्रणाली का बोध होता है वहां संघ शब्द स्वयं राज्य के लिए ही प्रयुक्त किया जा सकता है। गण का शाब्दिक अर्थ समूह है। अतः गण राज्य वह राज्य होता है जो कि समूह के द्वारा संचालित किया जाता है अथवा जिसमें बहुत से लोग भाग लेते हैं। पतंजलि के मतानुसार संघ शब्द का प्रयोग भी किसी एक संस्था अथवा समूह के लिए किया जाता है।

प्राचीन भारत में अनेक प्रकार की शासन प्रणालियों को विभिन्न समयों एवं स्थानों पर लागू किया गया है। शासन प्रणाली के इन विभिन्न रूपों का वर्णन प्रोफेसर जायसवाल द्वारा किया गया है।[1] उनके वर्णनानुसार भौज्य शासन प्रणाली वह होती है जिसमें भोजक या भोज शासन व्यवस्था का संचालन करते हैं। ये भोज वंश परम्परागत रूप से अपना पद ग्रहण नहीं

---

unless we can view them both in some perspective of continuity with what has gone before
— H N Sinha, The Development of Indian Polity Asia, Publishing House, 1963, P viii

1 प्रोफेसर जायसवाल, पूर्वोक्त पुस्तक, (हिन्दी संस्करण), पृष्ठ १२०-१३६

करते। इसके अतिरिक्त इस शासन व्यवस्था में नेतृत्व एक से अधिक व्यक्तियों के हाथ में रहता है। महाभारत में तथा अनेक शिला लेखों में भोज अथवा भोजक का नाम आया है। प्राचीन भारत के जिस भाग के लोगों में यह शासन व्यवस्था प्रचलित थी उनको बाद में भोज की संज्ञा प्रदान कर दी गई। प्रो. जायसवाल लिखते हैं कि "अपनी विशिष्ट शासन प्रणाली के कारण ही पश्चिमी भारत की एक जाति के लोग भोज कहलाते थे।"[1]

शासन प्रणाली का दूसरा रूप स्वराज्य शासन प्रणाली थी जो कि अधिकतर पश्चिमी भारत में प्रचलित थी। इस शासन प्रणाली में शासक को स्वराट् कहा जाता था जिसका शाब्दिक अर्थ होता है स्वयं शासन करने वाला। यह स्वराट् समान लोगों में से ही निर्वाचित होकर उनका नेतृत्व करता था।

शासन प्रणाली का तीसरा रूप वैराज्य शासन प्रणाली था जिसमें बिना राजा के ही शासन व्यवस्था को संचालित करने का प्रयास किया जाता था। इस प्रणाली में प्रदेश की सारी प्रजा को राजपद के लिए राजतिलक कर दिया जाता था। कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ अर्थशास्त्र में इस शासन प्रणाली का उल्लेख किया है, किन्तु वह इसे एक उपयुक्त शासन व्यवस्था न मान कर इसको अस्वीकार करता है।

चौथा रूप राष्ट्रिक शासन प्रणाली है। पश्चिमी भारत में बसे हुए राष्ट्रिक लोगों की अपनी शासन व्यवस्था थी। इस शासन व्यवस्था में राज पद न तो वंश परम्परागत होता था और न ही इस पर किसी एक व्यक्ति का आधिपत्य होता था। भोज्य शासन प्रणाली की तरह इस शासन प्रणाली के आधार पर भी सम्बंधित लोगों का नामकरण किया गया है।

शासन प्रणाली का पांचवां रूप द्वैराज्य शासन प्रणाली है। इस प्रणाली को भारतवर्ष के राजनैतिक जीवन की एक विशेष बात माना जाता है क्योंकि अन्य कहीं भी इसका उदाहरण प्राप्त नहीं होता। इस प्रणाली के आधीन एक राज्य का शासन संचालित करने के लिये एक साथ दो राजा या शासक नियुक्त किये जाते थे। यह व्यवस्था एक ओर तो एकतन्त्र से भिन्न है दूसरी ओर यह गणराज्यों से भी भिन्न है। कई एक शिला लेखों के द्वारा इस प्रकार की शासन प्रणाली के अस्तित्व का ज्ञान होता है। प्रो. जायसवाल के शब्दों में "साधारण रूप से इस प्रकार की शासन प्रणाली की न तो कल्पना ही हो सकती है और न समझ में आ सकता है कि इससे काम किस प्रकार चलाया ज ता होगा। भारत में इस प्रकार की शासन प्रणाली से काम लेना मानो शासन सम्बन्धी अनुभव और सफलता का एक अद्भुत और उत्कृष्ठ उदाहरण है–करामात है।"[2] संयुक्त परिवार के सिद्धान्तों को राजनैतिक क्षेत्र में लागू

---

1. "Owing to their special constitution a people in western India acquired the name Bhojas.
—Prof. K.P. Jayaswal, op. cit , P 80.
2. Prima facie such a constitution is unthinkable and unworkable. Its working in India constitutes a unique constitutional experiment and Success.
—Prof. Jayaswal, op. cit., P. 86.

करके इस शासन प्रणाली को सम्भव बनाया गया था। अर्थशास्त्र एवं अन्य ग्रन्थों में प्राय उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकार की शासन प्रणाली के उदाहरणों की वेदोत्तर भारत में कमी नहीं थी। नेपाल में प्राप्त शिलालेख वहां इस प्रणाली के अस्तित्व के प्रमाण हैं। वहां दो राजवंशों (लिच्छवी तथा ठाकुरी) के राजा एक ही समय में राज्य करते थे।

शासन प्रणाली का एक अन्य रूप अराजक राज्य है। इस अवस्था में बिना शासक के शासन प्रणाली को सचालित करने का प्रयास किया जाता था। इसमें किसी भी व्यक्ति विशेष को शासक मानने की अपेक्षा केवल धर्म शास्त्र या कानून को ही शासक मान लिया जाता था। नागरिक गण परस्पर निश्चय कर लेते थे तथा अपने आपको इस रूप में प्रशासित करते थे। कई एक धर्म शास्त्र इस प्रकार की शासन प्रणाली के अस्तित्व को प्रमाणित करते हैं जबकि महाभारत आदि कुछ ग्रन्थों में इस व्यवस्था का परिहास किया गया है।

इन समस्त शासन प्रणालियों में शासक का राजतिलक किया जाना परम आवश्यक समझा जाता था ताकि वह अपने पद के दायित्वों का धार्मिक रूप में एवं श्रेष्ठतापूर्वक निर्वाह कर सके। राज्य अथवा शासन के अस्तित्व को कानूनी आधार केवल तभी प्राप्त होता था जबकि उसका अभिषेक हो जाय। अभिषेक के द्वारा कई बार राज्य की सम्पूर्ण प्रजा को ही कानूनी रूप में शासक नियुक्त कर दिया जाता था। राजपद के लिए मुकुट धारण करना जरूरी था और मुकुट धारण करने के लिए राजतिलक किया जाना परम आवश्यक था। जो राजा बिना राजतिलक किये ही राज्य पद को सम्भाल लेता था उसे हमेशा घृणा या उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता था।

भारतीय राजनीति के विकास का एक व्यापक विवरण मि० एच० एन० सिन्हा द्वारा प्रस्तुत किया गया है।[1] वे इस विकास का श्रीगणेश भारत में आर्यों के आगमन से हुआ मानते हैं जिसका काल सोलह सौ से लेकर चौदह सौ वर्ष ईसा पूर्व तक है। इन आर्यों का समाज, जैसा कि ऋग्वेद में कहा गया है, पितृ प्रधान था और इसलिए राष्ट्र की सरकार राजतन्त्रात्मक थी। उस समय का राजतन्त्र निर्वाचित था किन्तु कुछ समय बाद यह वंश परम्परागत बन गया। मि० सिन्हा भी यह मानते हैं कि वैदिक काल में समिति और सभा लोकप्रिय निकाय थे। वरिष्ठ एवं शक्तिशाली व्यक्तियों की परिषद राजा का चुनाव करती थी तथा आवश्यकता उत्पन्न होने पर उसकी सहायता भी करती थी। राजा को निर्वाचित होने के कारण उसे हटाया भी जा सकता था। उस समय आर्यों तथा भारत के मूल निवासियों के बीच निरन्तर युद्ध रहने के कारण राजा की शक्तियां बढ़ती चली गई। राजाओं द्वारा युद्ध में सफलतापूर्वक नेतृत्व प्रदान किया जाता था। इससे स्वयं राजा एवं उसके सैनिकों का महत्व बढ़ जाता था। युद्ध करने वाले तथा शासन करने वालों का एक अलग ही वर्ग बन गया।

---

1. H N. Sinha, op. cit. PP. 3—14

प्रायः लड़ाई की स्थिति रहने के कारण धर्म का कर्मकाण्ड बढ़ा तथा बलिदान की परम्परा पर्याप्त व्यापक हो गई। देवताओं के सहयोग से युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए बलिदान द्वारा उनको खुश करने का प्रयास किया जाता था। पुरोहित वर्ग का महत्व भी इस दृष्टि से बढ़ने लगा। जो लोग बलिदान कराने के कार्य में कुशल थे उनका महत्व एवं सम्मान अधिक हो गया। भारतीय आर्यों के समाज का धीरे-धीरे संगठित वर्गों के रूप में विकास होने लगा। बाद में आर्यों की जनसंख्या बढ़ी, अतः वे गंगा यमुना के मैदान में फैल गये। इस प्रसार के परिणामस्वरूप राज्य का आकार बड़ा हो गया। अब उनके बीच युद्ध की सम्भावनायें एवं अवसर और भी अधिक बढ़ गये। राज्यों का आकार बढ़ जाने से तथा युद्धों के अवसर अधिक हो जाने से नये प्रकार के सामाजिक एवं राजनैतिक संगठन का जन्म हुआ। कार्यों के आधार पर समाज का वर्गीकरण होने लगा। लड़ाई की सम्भावनायें अधिक हो जाने के कारण यह जरूरी हो गया कि इस कार्य में एक वर्ग अपने आप को विशेषकृत कर ले। यह वर्ग आगे चलकर क्षत्रियों की श्रेणी में स्थित हुआ। ब्राह्मणों की जाति का सम्मान भी बढ़ा। युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए उनकी सहायता की जरूरत होती थी अतः अनेक जटिल संस्कारों तथा रीति रिवाजों की स्थापना की गई। ब्राह्मणों को देवताओं से भी अधिक महत्वपूर्ण माना गया क्योंकि उनकी प्रार्थनाओं एवं मंत्रों के सहारे देवताओं को भी प्रसन्न किया जा सकता था। बलिदान सम्पन्न करने की प्रक्रिया कई बार महीनों ले लेती थी और इसके लिए पुरोहितों की आवश्यकता समझी जाती थी। इसके लिए अधिक विशेषीकरण आवश्यक था और इसलिए पुरोहित वर्ग अब एक जाति के रूप में संगठित हो गया। गंगा और यमुना की उपजाऊ भूमि में व्यापक रूप से बसने के साथ-साथ कृषि, उद्योग एवं अन्य कलाओं को व्यापक तथा कुशल रूप से संचालित किये जाने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी ताकि बढ़ी हुई जनसंख्या की बढ़ती हुई आवश्यकताओं को पूरा किया जा सके। इन विभिन्न कलाओं में विशेषीकृत वर्गों की नई जातियां बनने लगीं। इसके अतिरिक्त गैर-आर्य लोगों में से जिनको विजित करके दास बना लिया गया था वे शूद्र वर्ग के रूप में संगठित हुए। इस प्रकार नवीन परिस्थितियों ने समाज को चार वर्गों में विभाजित किया।

हिन्दू राजनीति के विकास के दूसरे चरण में बड़े-बड़े राज्य कायम हो गये तथा वे धर्म के आश्रय में रहकर अपना कार्य संचालित करने लगे। सामाजिक विकास के साथ-साथ राज्य का विकास भी होने लगा। बड़े आकार के राज्यों के साथ-साथ राजा की सैनिक शक्ति एवं भौतिक साधन पर्याप्त व्यापक हो गये। राज पद निर्वाचित के स्थान पर धीरे-धीरे वंश परम्परागत हो गया। वंश परम्परागत राजा होने पर वैदिक काल की सभा तथा समितियां कम महत्वपूर्ण बन गईं। राजसभा तथा मन्त्री परिषद ने इनका स्थान ले लिया। मन्त्री परिषद में राजा के प्रमुख अधिकारी हुआ करते थे अतः यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण निकाय बन गई। राज्य के कार्यों में अनेक विभिन्नतायें आईं तथा राजा का सम्मान अधिक हो गया। अब राजा को कानून का संरक्षक

एवं सम्प्रभु माना जाने लगा। राजा की सत्ता को धार्मिक मान्यता प्रदान की गई। राज पद कोई ऐसा पद न था जिसका जन्म भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ हो अथवा जो धर्म निरपेक्ष कार्यों को ही सम्पन्न करता हो। ऐतरेय ब्राह्मण तथा शतपथ ब्राह्मण के अनुसार इसका जन्म यज्ञ विरोधी राक्षसों का वध करने के लिए हुआ था। इस प्रकार राज सत्ता का अस्तित्व केवल शासन के लिए नहीं था वरन् पवित्र कानून की रक्षा करने के लिए था जिसके अनुसार समाज के चारों वर्ण अपने अपने कर्त्तव्यों का पालन सुविधानुसार कर सकें। समय बीतने के साथ साथ आर्य लोग अपने पुराने रीति-रिवाजों, उत्सवों एवं परम्पराओं को भूलते गये। क्योंकि वे दूसरे लोगों के सम्पर्क में आये जिनका रहन-सहन, विचार, परम्परायें आदि अलग प्रकार के थे। ऐसी स्थिति में यह आवश्यकता महसूस की जाने लगी कि इन व्यवहारों, रीति रिवाजों एवं चलनों को भली प्रकार से परिभाषित कर दिया जाये ताकि इनका उल्लंघन न किया जा सके। भारतीय आर्यों की प्रत्येक बात को पवित्र माना गया। उस समय की धार्मिक परम्परायें सामाजिक संस्थायें, परम्परागत कानून, शाही अभिषेक आदि सभी ने अपने स्वरूप एवं मूल्यों को समय के अनुसार परिवर्तित किया। अपने आदर्श की रक्षा के लिए तथा प्राचीन रीति रिवाजों एवं परम्पराओं की रक्षा के लिए धर्म तथा उसके पालन को जनता का कानून बना दिया गया। इस प्रकार ब्राह्मणवाद का प्रभुत्व हो गया तथा राजा के कार्यों का निर्धारण इसी के द्वारा किया जाने लगा। राजा धर्म के साथ सम्बद्ध हो गया। धर्म की आज्ञा के बिना अथवा धर्म की आज्ञा के विरुद्ध राजा कुछ भी नहीं कर सकता था।

विकास के तीसरे चरण में राजपद धर्म के प्रभुत्व से बाहर आया। राजपद ने स्वयं के सम्मान एवं महत्व को बढ़ाया और धर्म से प्रभावित होने की अपेक्षा इसने स्वयं ही धर्म को प्रभावित करना प्रारम्भ किया। यह प्रक्रिया बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म के उदय के साथ प्रारम्भ हुई। इन धर्मों ने उस ब्राह्मणवाद के प्रति कोई श्रद्धा प्रदर्शित नहीं की जो कि जन्म, रीति रिवाज एवं पुरोहितवाद पर आधारित था। असल में ये धर्म ब्राह्मणवाद के दोषों की प्रतिक्रियास्वरूप सामने आये थे। बौद्ध तथा जैन धर्म के प्रतिपादकों एवं समर्थकों ने राजा से समर्थन की मांग की। राजा ने इन नये धर्मों का जनता में प्रचार करने के लिए हर सम्भव सहयोग प्रदान किया। फलतः ये धर्म अधिक से अधिक लोकप्रिय होते गये तथा ब्राह्मणवाद का प्रभाव कम होता चला गया। चार्वाकों के सिद्धान्तों के प्रसार ने तथा उपनिषद दर्शन के प्रभाव ने भी ब्राह्मणवाद के महत्त्व को कम किया। सारे देश का वातावरण कुछ ऐसा बन गया जिसमें कि प्राचीन परम्पराओं एवं रीति रिवाजों को चुनौती दी जाने लगी और उनके महत्त्व को सिद्ध करने के लिए कहा जाने लगा। जनता के उस विश्वास को अन्ध विश्वास माना जाने लगा जिसका महत्त्व एवं उपयोगिता सिद्ध न की जा सके। जब ब्राह्मणवाद विचारशील लोगों को सन्तुष्ट करने में असमर्थ रहा तथा उसकी पर्याप्तता के सम्बन्ध में संदेह किया जाने लगा तो एक नई व्यवस्था के पनपने के लिए आधारभूमि तैयार हो गई। इस

नवीन व्यवस्था में राजा अपने महत्व को बढ़ा सकता था और उसके माध्यम से राज्य की महत्ता बढ़ गई ।

राजपद का महत्व बढ़ने का एक अन्य कारण भी था । अब ब्राह्मणों ने यह अनुभव किया कि राजा के समर्थन का मूल्य है । नये धर्मों के उदय से ब्राह्मणवाद एवं कर्मकांड के महत्वहीन बनने का आभास उनको हो चुका था । अब समाज में ऐसे शादी सम्बन्ध होने लगे जो कि धार्मिक दृष्टि से अनुपयुक्त थे । इनके परिणाम स्वरूप अब ऐसे उदार नियम बनाने की आवश्यकता महसूस की जाने लगी जो कि इस बदली हुई स्थिति को समायोजित कर सकें । वर्जित विवाहों के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होने वाली संतान को किस वर्ग में रखा जाये यह समस्या सामने आयी । ब्राह्मणों ने राजा को यह कार्य सौंपा कि वह चारों वर्गों से उनके कर्त्तव्यों का पालन कराये । अब ब्राह्मण कर्मकांड के ग्रन्थों को तीन भागों में विभाजित किया गया—स्रोत, गृह तथा धर्म सूत्र । अब वैदिक धर्म की रक्षा के लिए कदम उठाये गये क्योंकि इसको कई दिशाओं से चुनौतियां प्रदान की गई थीं । धर्म सूत्रों द्वारा शासकों एवं प्रजा के निर्देशन के लिए नियम बनाये गये । धर्म सूत्रों को कानून की प्रथम संहितायें कहा जाता है । इनमें सार्वजनिक या परम्परागत कानून को रखा गया तथा इसका आधार धर्म को बनाया गया ।

कुल मिलाकर राजशाही शक्ति सम्पन्न बनती जा रही थी । जब एक ओर तो ब्राह्मणों ने राजा को पवित्र कानून को पालन कराने वाला तथा सामाजिक व्यवस्था का रक्षक माना और दूसरी ओर जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म ने अपने प्रचार एव प्रसार के लिए राजा की आवश्यकता का अनुभव किया तो स्वतः ही राजा का महत्व बढ़ गया । राजा की सरकार के संगठन ने उसकी सैनिक शक्ति के प्रसार ने तथा भौतिक साधनों की अभिवृद्धि ने भी उसके पद को अत्यन्त महत्वपूर्ण बना दिया । इसके अतिरिक्त उत्तरी भारत में अंग, मगध, अवन्ती, काशी, कौशल आदि अनेक शक्तिशाली राज्यों का उदय हुआ तथा वे सर्वोच्चता के लिए लड़ने लगे । पन्द्रहवीं ईसवी शताब्दी में मगध को इस संघर्ष में सफलता प्राप्त हुई तथा इसी राज्य ने बौद्ध धर्म को सहयोग प्रदान किया ।

विकास के चौथे चरण में बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित होने लगे । ईसा से चार सौ वर्ष पूर्व मौर्य साम्राज्य की नींव डाली गई जो कि भारत में प्रथम ऐतिहासिक साम्राज्य की स्थापना के रूप में प्रतिफलित हुई । उत्तरी भारत की राजधानियों के बीच सर्वोच्चता के लिए होने वाले संघर्ष का यह एक आवश्यक परिणाम था । सम्राट चन्द्रगुप्त का झुकाव जैन धर्म की ओर था जबकि सम्राट अशोक बुद्ध धर्म का कट्टर समर्थक था । अशोक ने एक आदर्श राजा के रूप में जीवन व्यतीत करने का प्रयास किया । सम्राट अशोक को सामाजिक व्यवस्था एवं पवित्र कानूनों को बनाये रखने की ब्राह्मणवादी परम्परा का ज्ञान था । उसने यह अनुभव किया कि देश के कानून अर्थात् धर्म सूत्र जातिवाद के सिद्धान्तों एवं ब्राह्मणों की सर्वोच्चता की मान्यता पर आधारित है अतः बौद्ध

धर्म तथा जैन धर्म के अनुयायियों के होते हुए इनके पालन कराने में कठिनाई आयेगी। समस्त देशवासियों की सामाजिक एवं धार्मिक आवश्यकताओं को मान्यता प्रदान करने के लिए धार्मिक सहिष्णुता का होना परम आवश्यक था। धार्मिक सहिष्णुता रहने पर ही जैन तथा बौद्ध धर्म के अनुयायी स्वतन्त्रतापूर्वक उनके धर्म का पालन कर सकते थे तथा अपनी इच्छानुसार जीवन व्यतीत कर सकते थे। अशोक ने पहले तो धार्मिक दृष्टि से उदासीन रहना चाहा किन्तु शीघ्र ही उसे यह महसूस हुआ कि यह नीति उचित नहीं थी क्योंकि प्रत्येक धर्म के अनुयायी अपने विरोधियों को बुरा भला कहते थे। ऐसी स्थिति में अशोक ने सामान्य कल्याण की दृष्टि से धार्मिक विषयों में हस्तक्षेप करने की नीति अपनाई। उसने समस्त जनता के व्यवहार को अपनी शक्ति से नियमित करने का प्रयास किया। उसने स्वयं की आज्ञायें निर्धारित कीं तथा उनका पालन कराने के लिए पर्याप्त प्रशासनिक प्रबन्ध किया। सभी वर्गों के परम्परागत कानूनों का आदर किया जाता था। देहातों क्षेत्रों के अधिकारी राजुकाज को अशोक ने यह आदेश प्रदान किया कि न्यायिक कार्यवाहियों में तथा सजा देने के कार्यों में निष्पक्षता होनी चाहिए। अशोक यह चाहता था कि प्रत्येक को अन्य लोगों के द्वारा वर्णित सिद्धान्तों को सुनना चाहिए तथा सुनने की इच्छा रखनी चाहिए। उसने इस इच्छा को कार्य रूप में परिणत कराने के लिए धर्म महामात्यों की नियुक्ति की। इस प्रकार उसने समाज के समस्त वर्गों के बीच एकता तथा सहयोग स्थापित करने का प्रयास किया। वह यह स्वीकार करता था कि उसका सर्वोच्च कर्त्तव्य सभी के कल्याण को प्रोत्साहन देना है। सामान्य कल्याण की अभिवृद्धि से अधिक उच्च कोई कर्त्तव्य नहीं है।

इस उद्देश्य को सामने रखकर सम्राट अशोक ने अपने राज्य को धार्मिक दृष्टि से सक्रिय बनाया तथा ऐसी व्यवस्था करने का प्रयास किया जिससे कि सभी वर्ग अपने अपने विश्वासों के अनुरूप जीवन व्यतीत कर सकें। इसके लिए यह आवश्यक था कि वह अपनी जनता के धार्मिक जीवन को नियन्त्रित करे तथा किसी भी वर्ग के सर्वोच्चता के दावे का विरोध करे। अशोक ने जनता के नैतिक आचरण को विनियमित करते हुए कुछ व्यवहारों को तो अच्छा बताया और कुछ व्यवहारों को गलत घोषित किया। इस प्रकार सम्राट अशोक के व्यक्तित्व के माध्यम से राजशाही पर्याप्त महत्वपूर्ण बन गई। अब राजा को केवल पवित्र कानूनों का रक्षक न मानकर शुभ का साधक माना गया। इस प्रकार राजा के दायित्वों का पर्याप्त विस्तार हो गया।

ऐतिहासिक उथल पुथल के परिणामस्वरूप शासन के रूप में महत्वपूर्ण परिवर्तन आये। इन परिवर्तनों को शीघ्र ही ब्राह्मणवाद के समर्थकों ने भी स्वीकार कर लिया। यह तथ्य कौटिल्य के अर्थशास्त्र में स्पष्ट रूप से प्रकट होता है। कौटिल्य का कहना था कि जनता के व्यवहार को सही रूप प्रदान करना राजा का कर्त्तव्य होता है। राजा को धर्म प्रवर्तक कहा गया तथा उचित कानूनों एवं कर्त्तव्यों को प्रोत्साहन देना उसका कर्त्तव्य माना गया। अर्थ शास्त्र में प्रथम बार कानून के प्रति उदार दृष्टिकोण प्राप्त होता है जहां कि उसे धर्म के दुराग्रह से अलग रखा गया है। कौटिल्य के मतानुसार धर्म,

व्यवहार (परम्परायें), चरित्रम् (अच्छे लोगों का आचरण) तथा राजशासन (राजा की आज्ञा) कानून के स्रोत है। कानून को पालन करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि जहां प्रथम तीन के बीच संघर्ष हो वहां धर्म को महत्व प्रदान किया जाना चाहिए, किन्तु जहां धर्म और न्याय के बीच संघर्ष हो वहां न्याय को महत्व प्रदान किया जाना चाहिए। राजा द्वारा ही यह तय किया जाता है कि सही कर्त्तव्य तथा कानून क्या है और क्या नहीं है। कौटिल्य के इस मत को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजा को समाज में कितना महत्वपूर्ण स्थान सौंपा गया था। असल में राजा पूर्ण सम्प्रभु बनने की दिशा में धीरे-धीरे बढ़ रहा था।

मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद भारत वर्ष की राजनैतिक व्यवस्था में परिवर्तन आये और इसके परिणामस्वरूप यहां की सामाजिक व्यवस्था भी बदली। देश में अनेक राजनैतिक विप्लव हुए। एक साम्राज्य के स्थान पर अब अनेक राजधानियां स्थापित हो गईं। शकों तथा कुशानों के आक्रमण होने लगे। इन आक्रमणकारियों ने भारत में प्रवेश कर अपने राज्य स्थापित किये। इन नवागन्तुकों तथा पूर्वस्थित भारतवासियों के बीच संघर्ष छिड़ गया। धार्मिक भेदभाव ने इस संघर्ष को और भी अधिक व्यापक बना दिया। आने वाली विदेशी जातियों को तत्कालीन ब्राह्मणों द्वारा म्लेच्छ कहकर बहिष्कृत किया गया। इनको जैन तथा बौद्धों की ओर से तुलनात्मक रूप में अधिक उदार व्यवहार प्राप्त हुआ। इन विदेशियों ने ब्राह्मणवादी समाज व्यवस्था को समाप्त करने में सहयोग प्रदान किया। जब राजा लोग विरोधी धर्मो का पक्ष लेते थे तथा उनको प्रश्रय प्रदान करते थे तो स्वाभाविक रूप से उनके बीच शत्रुतापूर्ण सम्बन्धों का विकास हो जाता था। पतनोन्मुख ब्राह्मणवाद का उद्धार शाही शक्ति की सहायता से ही सम्भव हो सकता था। अतः धार्मिक कट्टरता की शक्तियों ने शाही शक्ति को प्रभावशील बनाने का प्रयास किया। राजा को मानवीय रूप में देवता माना गया। उसकी आज्ञाओं को अनुलंघनीय बना दिया गया। इस प्रकार राजाओं के दैवीय अधिकारों का समर्थन किया जाने लगा। विदेशियों के उदाहरणों ने भी राजा की शक्ति को बढ़ाने में सहयोग प्रदान किया। अनेक शक एवं कुशान राजा अपने आपको देवपुत्र कहते थे। ब्राह्मणवाद ने भी इससे कुछ सीखा और उनमें भी शासक को दैवी व्यक्तित्व स्वीकार किया जाने लगा। रामायण, महाभारत तथा विभिन्न पुराणों के माध्यम से इस आदर्श का वर्णन किया गया। मनुस्मृति जैसी कानून की संहिताओं के द्वारा इसे स्वीकार किया गया और सत्ता के केन्द्रीयकरण में इससे सहायता प्रदान की गई। राजा के हाथ में शक्तियों का केन्द्रीकरण होने के कारण शाही सत्ता उत्तरोत्तर प्रभावशील होती चली गई।

विकास के अग्रिम चरणों में राज्य का धर्म पर प्रभुत्व हो गया। प्रारम्भ में राज्य धर्म निरपेक्ष था, बाद में वह धर्म के आधीन हो गया, उसके बाद वह धर्म को नियमित करने लगा और इस सब के बाद में उसने धर्म को मातहत बना लिया। धर्म का प्रचार एवं प्रसार राज्य सत्ता पर आश्रित हो गया। धर्म की रक्षा का काम राजा का मुख्य दायित्व माना जाने लगा। गुप्त

वंश तथा हर्ष के साम्राज्य के समय में शाही शक्ति का जो रूप सामने आया वह पहले कभी नहीं रहा। इन सम्राटों को यह ज्ञात था कि किसी भी एक धर्म को अपनाने के क्या बुरे परिणाम हो सकते हैं। धार्मिक सहिष्णुता के अभाव में साम्राज्य कल्याण की सिद्धि नहीं की जा सकती। दोनों के बीच सामञ्जस्यपूर्ण सम्बन्ध नहीं है। ऐसी स्थिति में इन शासकों ने धार्मिक सहिष्णुता की नीति को अपनाना उचित समझा। वे सार्वजनिक हित तथा प्रशासन से सम्बन्धित विषयों में किसी प्रकार के धार्मिक हस्तक्षेप को पसन्द नहीं करते थे। इससे धर्म के ऊपर राज्य की सर्वोच्चता प्रतिभासित होती है। वास्तविक प्रशासन में यह सर्वोच्चता उस समय सामने आई जबकि कानून ने अपने रूप में परिवर्तन कर लिया। पहले जो कानून अपनी विषय वस्तु एवं प्रकृति के कारण धार्मिक एवं नैतिक था उसने धीरे धीरे अपने इन तत्वों को त्यागा तथा वह धर्म निरपेक्ष बनता चला गया। सकारात्मक कानून अभी विकास की प्रक्रिया में ही था। नारद स्मृति जैसी संहिताओं ने कानून के क्षेत्र में नवीन प्रवृत्तियों को जन्म दिया। इसका कारण मुख्य रूप से दो तथ्यों को माना जाता है। प्रथम तो यह कि शाही आज्ञाओं एवं प्रशासकीय अधिनियमों से उत्पन्न होने वाले कानून का क्षेत्र व्यापक हो गया था। कौटिल्य ने कानून के इन स्रोतों को पर्याप्त महत्वपूर्ण माना है। दूसरे यह समझा जाने लगा था कि जब तक कानून और न्याय जातिवाद तथा जीवन की ब्राह्मणवादी योजना के अनुसार चलता रहेगा तब तक कानून एवं न्याय के प्रशासन में न्याय नहीं हो पायेगा क्योंकि भारत के करोड़ों लोगों द्वारा ब्राह्मणेतर धर्म का पालन किया जा रहा था। स्थानीय कानूनों को महत्व प्रदान किया गया। जहाँ कहीं दो वर्गों के इन स्थानीय कानूनों के बीच संघर्ष होता था वहाँ राजा के पंच फैसले द्वारा समस्या का समाधान किया जाता था।

प्राचीन भारत में प्राप्त साम्राज्यों का स्वरूप संघात्मक था अथवा नहीं था यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। अधिकांश विचारकों एवं लेखकों का मत है कि ये साम्राज्य एकात्मक नहीं थे और न ही सामन्तवादी थे। इनका स्वरूप संघात्मक था किन्तु यह संघ आज के संघ राज्यों से पर्याप्त भिन्न था। अनेक शिलालेखों, मोहरों एवं ग्रंथों से यह ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत में समय-समय पर उदित होने वाले साम्राज्यों में एकीकृत नियन्त्रण का सम्बन्ध विकसित किया गया। भारतीय साम्राज्य प्रायः छोटे राज्यों के पारस्परिक संघर्षों के परिणाम स्वरूप बने थे। साम्राज्य निर्माण के लिए दिग्विजय आदि साधनों को प्रयुक्त किया जाता था। साम, दाम, दण्ड और भेद आदि तरीकों से विरोधी को पराजित किया जाता था। उसके पराजित हो जाने के बाद भी उसी को उसके प्रदेश का तथ्यगत एवं कानूनी शासक बनाया जाता था। उसकी स्वतन्त्रता पर केवल एक ही सीमा लगाई जाती थी और वह यह थी कि उसे सम्राट की सर्वोच्चता के प्रति स्वामिभक्ति रखनी होती थी। इसके लिए चाहे तो वह भेंट पहुँचाये अथवा व्यक्तिगत रूप से सेवा प्रदान करे। इन साम्राज्यों में एकाकृत नियन्त्रण तो रह ही नहीं सकता था और न ही इनको केन्द्र द्वारा निर्देशित किया जाता था। विदेशी आक्रमणों के बाद इनका जन्म हुआ था। इनकी प्रकृति विशेष रूप से सैनिक थी। जो

साम्राज्य केवल सैनिक शक्ति पर आधारित था तथा जिसमें प्रदेशों को हारे हुए राजा को सौंप दिया जाता था वहां एकात्मक शासन व्यवस्था का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता।

इन राज्यों को सामन्तवादी संघात्मक राज्य भी नहीं कहा जा सकता था क्योंकि इनमें सामन्तवाद के सिद्धान्त का पूर्णरूप से अभाव था। सामन्तवादी संगठन की प्रकृति दो मुखी होती है—राजनैतिक और सामाजिक। सामन्तवाद का आधार भूमि का वितरण होता है तथा यह लोगों के राजनैतिक एवं सामाजिक स्तर को विनियमित करता है। किन्तु प्राचीन भारत में सामाजिक संगठन जाति व्यवस्था पर आधारित था अतः वहां सामन्तवाद के उपस्थित होने की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

प्राचीन भारत के साम्राज्यों को एक शक्तिशाली सम्राट का प्रभाव क्षेत्र माना जा सकता है। वह स्वयं इस चक्र या मण्डल पर अपना प्रभाव रखता था और इसलिए उसको चक्रवर्ती की संज्ञा प्रदान की जाती थी। आधीनस्थ राजा को सम्राट के प्रति या तो स्वेच्छा से अथवा बाध्य होकर स्वामिभक्ति रखनी होती थी। वैसे दोनों की सरकारें स्वतन्त्र इकाईयां होती थी। सम्राट कभी-कभी अपने अधीनस्थों को दूसरों पर नियन्त्रण रखने का कार्य भी सौंप देता था। इनको प्रान्तीय वायसराय जैसा कार्य एवं सम्मान प्राप्त होता था।

सम्राट अपने साम्राज्य में सर्वोच्च सत्ता एवं सम्प्रभु था। उसकी सर्वोच्चता भूमि और जल पर निर्विवाद थी। वह पवित्र कानून का संरक्षक था, धर्म प्रवर्तक था, युगनिर्माता था, मानवीय रूप में देवता था। इसके अतिरिक्त वह न्याय का उच्च अधिकारी था। सम्राट की सर्वोच्चता उसके साम्राज्य के अन्य भागों की अपेक्षा उसकी स्वयं की राजधानी में अधिक वास्तविक थी। सम्राट को चक्रवर्ती इसलिए कहा जाता था क्योंकि वह चक्र (राजाओं का घेरा) का स्वामी होता था। यह घेरा उसके प्रभाव का क्षेत्र था जिसे कौटिल्य ने मण्डल कहा है।

अध्ययन की प्रमुख विशेषतायें
[Main Characteristics of the Study]

प्राचीन भारत में जो राजनैतिक चिन्तन किया गया था उसकी कुछ अपनी विशेषतायें हैं जो कि उसे पाश्चात्य देशों के राजनैतिक चिन्तन से भिन्न बनाती हैं। ये विशेषतायें उस समय के भारत का सामाजिक परिस्थितियों, आर्थिक प्रगतियों, राजनैतिक उथल-पुथल एवं बौद्धिक विकास के स्तर से प्रभावित होती हैं। प्राचीन भारत में जो राजनैतिक विचार किया गया उसकी मुख्य-मुख्य विशेषतायें निम्न प्रकार हैं—

१ आध्यात्मिकता की ओर झुकाव

भारत को एक आध्यात्मिक देश कहा जाता है। यहां के लोगों ने आत्मा और परमात्मा जैसे आदि भौतिक तत्वों पर जिस गहराई के साथ विचार किया है उसका उदाहरण विश्व के किसी भी देश में प्राप्त नहीं होता।

यही कारण है कि भारत को संसार का आध्यात्मिक गुरु कहा जाता है। यहाँ जीवन के प्रत्येक पहलू पर जो विचार किया गया उसमें दृष्टिकोण सदैव ही आध्यात्मिक रहा है। इसका अर्थ यह नहीं होता कि भारत ने जीवन की अवहेलना की थी अथवा उसको तिरस्कार की दृष्टि से देखा था। यहाँ जीवन के प्रति भी पर्याप्त आकर्षण था। बहुरंगी सांस्कृतिक परम्पराओं के माध्यम से उसको सजाया गया था। किन्तु इतना कुछ करके ही प्राचीन भारत के निवासियों ने अपने कर्त्तव्य की इति श्री नहीं मानी। उनका मूल उद्देश्य आत्मा का विकास था। जीवन के लिए महत्वपूर्ण प्रत्येक वस्तु को और यहाँ तक कि स्वयं जीवन को भी इस उद्देश्य की पूर्ति का साधन बनाया गया। ऐसे वाता-वरण में राजा का उद्देश्य भी व्यक्ति को शारीरिक या ऐन्द्रिक सुख प्रदान करना मात्र नहीं था वरन् उसका लक्ष्य ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न करना था जिनमें कि व्यक्ति निर्बाध रूप से अपनी आत्मा के अभ्युत्थान के लिए प्रयास कर सके तथा उसके मार्ग में कोई भौतिक, प्राकृतिक, मानवीय या अन्य किसी प्रकार की बाधा न आए। वैदिक एवं परवर्ती साहित्य में यह उल्लेख आता है कि राक्षसों या असुरों का नाश करने के लिए राजा की स्थापना की गई। ये असुर धार्मिक अनुष्ठान एवं यज्ञ आदि क्रियाओं में विघ्न पहुँचाते थे। वे लोगों को संध्या वन्दना करने से तथा आत्मा सम्बन्धी चिन्तन करने से रोकते थे। अतः राजा को इसलिए स्थापित किया गया ताकि वह इन असुरों से तपस्वियों एवं साधुजनों की रक्षा कर सके। राज्य का स्वरूप, राजा के कार्य, व्यक्ति एवं राजा का सम्बन्ध, राजा की शक्तियां, राज्य का संगठन आदि सभी प्रश्नों पर विचार करते समय आध्यात्मिक दृष्टिकोण की प्रधानता रहती थी।

२. धर्म एवं राजनीति का समन्वय

धार्मिक गतिविधियों का राज्य के स्वरूप तथा संगठन पर एवं राजनैतिक विचारधाराओं के रूप पर पर्याप्त प्रभाव रहा है। किसी समय राजनैतिक विचारों को धर्म का वाहन बनना पड़ा और कभी धर्म राजनैतिक विचारों से गौण हो गया। इस प्रकार धर्म और राजनीति का पारस्परिक सम्बन्ध समय पर बदलता रहा है, किन्तु वह कभी भी टूटा नहीं है। राजनीति एवं धर्म के पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध का आभास इसी तथ्य से हो जाता है कि जिन ग्रन्थों को प्राचीन भारतीय राजनीति के मुख्य ग्रन्थ माना जाता है वे धार्मिक दृष्टि से पर्याप्त महत्वपूर्ण हैं। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद, स्मृतियां, महाभारत, रामायण, पुराण एवं अन्य साहित्यिक ग्रन्थों का प्राचीन भारत की राजनीति को समझने के लिए जितना महत्व है उससे भी अधिक महत्वपूर्ण इनको धार्मिक दृष्टि से माना जाता है। बौद्ध जातक एवं जैन धर्म के अनेक ग्रन्थ धार्मिक दृष्टि से उपयोगी तथा सार्थक होने के साथ-साथ उस समय की राजनैतिक संस्थाओं एवं विचारधाराओं का भी दिग्दर्शन कराते हैं।

राज्य को धर्म की दृष्टि से एक मुख्य संस्था माना गया था। राज्य धर्म विरोधियों को दण्ड देकर तथा धर्म में रुचि लेने वालों को सम्मान देकर

समाज में धर्म की प्रतिष्ठा करता था। प्राचीन भारत में राज्य की उपयोगिता का मापदण्ड वहां के लोगों की धार्मिक रुचि को माना जाता था। यदि किसी राज्य में धर्म का स्तर ऊँचा है तथा वहा के निवासी अपने जीवन के व्यवसायों में धार्मिक अनुष्ठानों को महत्व प्रदान करते हैं तो उस राज्य का शासक निश्चय ही प्रशसा का पात्र होता था। इसके विपरीत जिस शासक के राज्य में धर्म का लोप हो तथा उसके प्रति लोगों में तिरस्कार की भावना जागृत हो जाये वह शासक निकृष्ठ एवं अयोग्य समझा जाता था। धर्म की स्थापना इतना महत्वपूर्ण कार्य था कि उसे सम्पन्न करने के लिए स्वय भगवान भी समय-समय पृथ्वी पर अवतीर्ण होते थे।

हिन्दू राजनीति के ग्रन्थकारों ने राजा को धर्म प्रवर्तक माना है। उसे अपने राज्य के लोगों की धर्म में श्रद्धा बनाये रखने के लिए विभिन्न कार्य करने को कहा गया है। राजा और धर्म गुरु या पुरोहित दोनों ही साथ मिल कर कार्य करते थे। राजा द्वारा पुरोहितों का आदर किया जाता था। वह कोई भी महत्वपूर्ण निर्णय बिना पुरोहित की आज्ञा एवं परामर्श के नहीं लेता था। किसी भी बड़े कार्य में हाथ डालने से पहले वह पुरोहित की आज्ञा प्राप्त करना उपयोगी मानता था। पुरोहित का हस्तक्षेप न केवल राजनैतिक क्षेत्र में ही था वरन् वह राजा के व्यक्तिगत जीवन में भी महत्वपूर्ण हाथ रखता था। रामायण कालीन मुनि वशिष्ठ एवं विश्वामित्र तथा पुराणकालीन अनेक राज ऋषियों के नाम इस दृष्टि से उल्लेखनीय है जो कि राजा के जन्म, अध्यापन, शादी, यज्ञानुष्ठान आदि अवसरों पर परामर्श, निर्देशन एवं मार्गदर्शन प्रदान करते थे। राजा अपने दायित्वों को सम्भालने से पूर्व राजतिलक संस्कार को सम्पन्न करता था। यह राजतिलक की कार्यवाही पुरोहित या राजगुरु द्वारा की जाती थी। इस अर्थ में हम उसे राजाओं का निर्माता कह सकते हैं। यदि राजतिलक की कार्यवाही के बिना ही कोई राजपद पर आसीन हो जाता था तो उसे अनुचित माना जाता था। उसकी आज्ञायें अपवित्र आज्ञायें होती थीं और उनके पालन के प्रति प्रजा में अधिक राज्य भक्ति नहीं रह पाती थी। ऐसे राजा की हत्या कर देना, उसकी आज्ञा का उल्लंघन करना या उसे पद से उतार देना कोई जघन्य कार्य नहीं था। राजा के सामने जब कभी कोई विवादपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता था तो वह राजगुरु से उसके सम्बन्ध में राय मांगता था। राजगुरु की यह राय प्रभावशील होती थी क्योंकि यह समझा जाता था कि राजगुरु उस प्रश्न पर धर्म की दृष्टि से विचार करेंगे। धर्म की राय वही होगी जो कि इनके द्वारा उचित व्याख्या एवं विचार विमर्श के बाद प्रकट की जाये।

जिन प्रश्नों पर राजगुरु की राय मांगी जा सकती थी उनका सम्बन्ध उत्तराधिकारी की समस्या, किसी अपराधी के अपराध का निश्चय एवं यथोचित दण्ड की व्यवस्था, युद्ध तथा शांति की घोषणा, मैत्री सम्बन्धों का विकास, शत्रुता में कटुता की वृद्धि आदि से होता था। राजा को शादी कहां से करनी चाहिए और कहां से नहीं करनी चाहिए तथा किस पत्नी को पटरानी बनाना चाहिए और किसको नही आदि बातें राजगुरु की इच्छा के अनुसार ही

तय की जाती है। राजा के प्रति प्रजा की स्वामिभक्ति का आधार मुख्य रूप से धार्मिक था और क्योंकि धर्म की व्याख्या करने वाला पुरोहित होता था अत उसकी शक्तियां अपरिमित थी। राजदरबार म उसके आते ही राजा अपने सिंहासन से उठ खड़ा होता था तथा समस्त अधिकारियों द्वारा उसे अद्वितीय सम्मान प्रदान किया जाता था।

३ सामाजिक व्यवस्था का प्रभाव

प्रत्येक राजनतिक व्यवस्था वहा की सामाजिक व्यवस्था का एक भाग होता है। प्राचीन भारत मे तो सामाजिक व्यवस्था रही तथा उसमें समय समय पर जो परिवर्तन आये उसके अनुरूप ही वहा की राजनतिक व्यवस्था भी अपना स्वरूप बदलती रही। समाज का चार वर्णों म विभाजन हो जाने के कारण यह समझा जाता था कि राज्य का मुख्य काय इस व्यवस्था की रक्षा करना है तथा प्रत्येक व्यक्ति को उसके सम्बन्धित वर्ग में बनाये रखना है। राजनतिक शक्तियां क्षत्रियों के हाथों म केन्द्रित हो गई। समाज म जब नये नये धर्मों के उदय स अथवा विदेशी आक्रमणकारियों के आगमन स जब वर्ग भेद बढ़ गया तो राज्य शक्ति पर क्षत्रियों का एकाधिकार समाप्त हुआ और राज्य का मुख्य काय इन वर्गों के बीच समन्वय स्थापित करना बन गया। अनेक धार्मिक विचारों के उदित होने पर उनके पारस्परिक सघर्ष को दूर करने के लिए राज्य को धार्मिक कार्यों म सक्रिय रूप स हस्तक्षेप करना पड़ा और इस परिस्थिति न उसके महत्व एव गौरव को बढ़ा दिया।

४ राजा के कार्यों का विशद वर्णन

हिन्दू राजनीति से सम्बन्धित ग्रन्थों के अवलोकन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनके लेखकों ने राजा के पद को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना था। इन ग्रन्थों का अधिकांश भाग राजाओं की योग्यता महत्व एव कार्यों का वर्णन करने में ही लगा है। राजा को [illegible]
चाहिए तथा प्रजापालन के लिए
आदि बातों का विस्तार के साथ
पुस्तक यह स्पष्ट रूप से बताने का प्रयास करती है कि एक राजा का धर्म क्या है इस राजधर्म का अनुशीलन उसे किस प्रकार करना चाहिए राजा को दुष्टों को दमन करने के लिए क्या तरीके अपनाने चाहिए पड़ोसी राज्यों स उसे किस प्रकार के सम्बन्ध विकसित करने चाहिए, दण्डनीति का प्रयोग कब और किस प्रकार करना चाहिए, कूटनीतिक व्यवहार में अपनाने योग्य सावधानियां कौन-कौन सी है आदि आदि।

५ दण्डनीति का महत्व

दण्ड राज्य का आधार होता है। दण्ड के बिना राज्य अपने दायित्वों को पूरा नहीं कर सकता तथ कुछ समय में तो उसका अस्तित्व समाप्त हो जायगा। राजनीति म दण्ड के महत्व का अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि इसका नामकरण अनेक लेखकों ने दण्डनीति के रूप म किया है। दण्डनीति का प्रमुख विद्याओं में से एक गिना जाता था। कौटल्य का अथ

शास्त्र दण्डनीति को सर्वाधिक महत्व प्रदान करते हुए अन्य सभी विद्याओं को उसी के मातहत बनाता है। उसके अनुसार अन्वीक्षकी त्रयी तथा वार्ता का महत्व एवं प्रगति दण्ड व्यवस्था के प्रभावपूर्ण सञ्चालन पर आधारित है। राजनीति तो दण्डनीति के साथ प्रारम्भ होती है उसी के आधार पर कायम रहती है तथा वही उसकी सार्थकता का मापदण्ड होता है।

अप्राप्य वस्तुओं को प्राप्त कराने में, प्राप्त वस्तु की रक्षा करने में तथा रक्षित वस्तु की अभिवृद्धि कराने मे दण्ड व्यवस्था का योगदान उल्लेखनीय होता है। हिन्दू राजनीति के ग्रन्थों ने इस तथ्य को भली प्रकार जान लिया था। उनके वर्णनानुसार संसार की व्यवस्था मूल रूप से दण्डनीति के व्यवहार पर ही अवलम्बित है। दण्डनीति के द्वारा देश की सुख-समृद्धि एवं खुशहाली को उचित स्थानों एवं पात्रों में वितरित किया जाता है। महाभारत के मतानुसार यदि दण्ड नीति सक्रिय है तो प्रजा निर्भय होकर स्वच्छन्दता पूर्ण जीवन व्यतीत करती है। "दण्ड नीति का ठीक-ठीक प्रयोग होने पर ही समस्त प्राणियों के सभी कार्य अच्छी तरह सिद्ध होते है।"[1]

मनु के कथनानुसार दण्ड ही शासक है। दण्ड के अभाव में प्रजा कानून का अनुशीलन नहीं करती और इस प्रकार अव्यवस्था,अराजकता और अशान्ति फैल जाती है। वृहस्पति ने दण्डनीति को सर्वश्रेष्ठ विद्या माना है। शुक्र या उशनस् सम्प्रदाय के लोग तो केवल इसी को एकमात्र विद्या स्वीकार करते है। दण्ड नीति का अध्ययन राजा के लिए परम आवश्यक माना गया था। राजा का प्रभाव तथा महत्व दण्ड नीति के सफल संचालन पर ही निर्भर करता है।

दण्ड व्यवस्था का महत्व वर्णित करते हुए उसके लाभों तथा उसके अभाव में होने वाले दुष्परिणामों का विषद वर्णन किया गया है। दण्ड को धर्म कहा गया है क्योंकि यह प्रत्येक व्यक्ति को उसकी मर्यादा में बनाये रखता है। महाभारत के अर्जुन के मतानुसार "यदि दण्ड धर्म और कर्त्तव्य का पालन न कराये तो सेवक स्वामी की बात न माने, बालक भी कभी मां बाप की आज्ञा का पालन न करें और युवती स्त्री अपने सती धर्म में स्थिर न रहें।[2] दण्ड की तुलना उस काली देवी से की गई है जो कि पापियों और दुष्टों को मार कर सज्जनों को शान्ति प्रदान करती है। दण्ड के अभाव में राज्य एवं समाज दोनों का ही अस्तित्व समाप्त हो जाता है। जब दण्ड नीति का उचित रूप से व्यवहार किया जाता है तो जन कल्याण की सिद्धि होती है तथा समाज धनधान्य से पूर्ण होता है। कौटिल्य के मतानुसार दण्ड नीति का न्यायोचित रूप मे प्रयोग किया जाना अत्यन्त आवश्यक है यदि ऐसा नहीं किया गया तो राज्य में अव्यवस्था एवं अराजकता हो जायेगी। सतयुग की विशेपता यही है कि उसमें दण्ड नीति का प्रयोग उचित रूप से किया जाता है। समस्त प्राकृतिक शक्तियां भी दण्ड की शक्ति से ही अपने-अपने कार्यो को सही रूप में करती हैं।

---

1. महाभारत ४४५५ (२६)

2. महाभारत, ४४५६ (४२)

प्राचीन भारतीय राजनीति ने दण्डनीति को पर्याप्त महत्व प्रदान करते हुए उसे त्रिवर्ग विद्या (धर्म अर्थ और काम) की संज्ञा प्रदान की।

६ विचारों की अपेक्षा संस्थाओं पर विशेष ध्यान

हिन्दू राजनीति के ग्रन्थकारों ने अपने अध्ययन का केन्द्र बिन्दु राजनैतिक संस्थाओं को बनाया है। इन संस्थाओं का महत्व संगठन तथा कार्य आदि का विशद रूप से वर्णन किया गया है। इनमें राजनैतिक मान्यताओं तथा सिद्धान्तों का वर्णन केवल प्रासंगिक रूप में किया गया है। राज्य का सैद्धान्तिक आधार व्यक्ति और राज्य के पारस्परिक सम्बन्ध व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एवं राज्य अधिकार के बीच समन्वय व्यक्ति के अधिकार कर्तव्यों व्यक्तिगत दायित्व, विभिन्न राजनैतिक संगठनों का स्वरूप आदि बातों का पृथक से विस्तारपूर्वक वर्णन नहीं किया गया है। इनके विषयों के सम्बन्ध में प्रसंगवश ही ग्रन्थकारों द्वारा कुछ कहा गया है और यह कथन भी पूर्ण अथवा सन्तोषप्रद नहीं है। इसके विपरीत समस्त अध्ययन का केन्द्रबिन्दु मूल रूप से राजनैतिक संगठनों तथा उनके कार्यों को बनाया गया है।

अध्ययन की सीमायें
[Limitations of the Study]

हिन्दू राजनीति के अध्ययन का इतिहास अधिक पुराना नहीं है। कुछ समय पूर्व तक यह समझा जाता था कि भारतीयों का राजनैतिक विचारों के क्षेत्र में कोई योगदान नहीं है क्योंकि उन्होंने कभी राजनैतिक समस्याओं के सम्बन्ध में पृथक से विचार नहीं किया और राजनैतिक प्रश्नों को कभी राजनैतिक नहीं माना। इसके विपरीत वे समस्त जीवन पर धार्मिक दृष्टि से विचार करते थे तथा राज्य की समस्याओं को सुलझाने के लिए धर्मशास्त्रों से निर्देश प्राप्त करते थे। दूसरे शब्दों में यह विश्वास किया जाता था कि प्राचीन भारतीय ग्रन्थकारों ने राजनीति और धर्म को कभी अलग करके नहीं देखा। उस समय इस विश्वास पर सन्देह पैदा करने के लिए कोई तथ्य भी उपलब्ध नहीं थे। धीरे-धीरे जब इस प्रकार के तथ्य सामने आये तो हिन्दू राजनीति के अध्ययन की ओर अभिरुचि जागृत हुई और इसके परिणामस्वरूप पुराने विश्वासों एवं मान्यताओं की कड़ियां एक-एक करके टूटने लगीं। अब यह स्पष्ट हो गया कि भारतवासियों ने भी राजनैतिक समस्याओं के सम्बन्ध में विचार किया है तथा अनेक विचार यहां उसी समय प्रकट किये जा चुके थे जबकि पाश्चात्य विचारकों का जन्म भी नहीं हुआ था। इतने पर भी भारतीय विचारक राजनैतिक जगत पर नहीं छा सके यह एक ऐतिहासिक तथ्य है और इस तथ्य के लिए उत्तरदायी अनेक कारण हैं। जिन कारणों ने इन विद्वानों की अद्वितीय प्रतिभा की ज्योति में विश्व को प्रकाशित होने से रोक दिया था वे ही आज भी हमारे अध्ययन की सीमायें बने हुए हैं। अध्ययन की विभिन्न सीमाओं का उल्लेख निम्न शीर्षकों में किया जा सकता है —

१ अनुपलब्ध ग्रन्थों की समस्या

किसी वस्तु का पूर्ण अभाव प्रायः उतना नहीं अखरता जितना कि उसका अंश का अभाव अखरता है। यदि कोई तत्व पैदा ही नहीं हुआ तो उसके

अभाव में उत्पन्न होने वाला शोक उतना नहीं होता जितना कि उत्पन्न होकर समाप्त हो जाने वाली वस्तु के अभाव से होता है। मानव हृदय की इसी विडम्बना के कारण आज जब हमें यह तथ्य ज्ञात होता है कि भारतीय राजनीति के सम्बंध में पहले कभी ग्रन्थ लिखे गये थे और आज वे प्राप्त नहीं हैं तो प्रसन्नता कम और दुख अधिक होता है। आज जब इच्छुक जन भारतीय राजनीति के इतिहास की गहराइयों में जाने का प्रयास करते हैं तो पर्याप्त सामग्री के अभाव में उनके हाथ बंध जाते हैं। इस विषय पर जो ग्रन्थ प्राप्त होते हैं उनमें विषय को प्रत्यक्ष रूप से नहीं छुआ गया है। उपलब्ध ग्रन्थ अनेक प्रश्नों को अछूता छोड़ देते हैं। इनकी अधिकांश सामग्री ऐसे विषयों अथवा विचारों के विवेचन में संलग्न है जिनके आधारभूत ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होते। ऐसी स्थिति में हमारा ज्ञान केवल सहायक स्रोतों पर ही निर्भर बन जाता है और प्राथमिक स्रोतों से उनकी जानकारी के लिए कुछ भी नहीं किया जा सकता। अकेले कौटिल्य के अर्थशास्त्र में ही एक दर्जन से अधिक राजनीति के आचार्यों तथा उनके ग्रन्थों का उल्लेख है। इनके विचारों एवं विषय सामग्री के सम्बंध में हमें केवल कल्पना और अनुमान के माध्यम से प्राप्त जानकारी से ही संतोष कर लेना होता है।

राजनीति के इन अनुपलब्ध ग्रन्थों की सूचना हमें अनेक शिला लेखों, साहित्यिक रचनाओं, धार्मिक पुस्तकों, पौराणिक वृतान्तों आदि से प्राप्त होती है। अनेक बार इस सूचना में विरोधाभास भी दिखाई देता है। परस्पर विरोधी सूचनाओं में सत्य एवं तथ्य की जानकारी के लिए जिज्ञासु के पास कोई आधार नहीं रहता जिसके द्वारा कि वह अपने संशयों को दूर कर सके। ये ग्रन्थ इतिहास के गर्त में क्यों लुप्त हो गये इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। अनुमान है कि कौटिल्य के अर्थशात्र का प्रभाव एवं महत्व इतना बढ़ा कि उसने अन्य ग्रन्थों को पीछे ढकेल दिया और वे धीरे-धीरे अपना महत्व खोते चले गये तथा एक समय में उनकी रक्षा करना भी अनुपयोगी दिखाई देने लगा। यह भी हो सकता है कि इन ग्रन्थों को विदेशी आक्रान्ताओं ने नष्ट किया हो। कारण चाहे जो भी रहा हो किन्तु तथ्य यह है कि इन ग्रन्थों के अभाव से हिन्दू राजनीति का हमारा अध्ययन पर्याप्त मर्यादित हो जाता है।

२. लेखन के प्रति अभिरुचि का अभाव

प्रत्येक युग के अपने कुछ मूल्य होते हैं जिनके कारण उस युग को अन्य युगों से पृथक किया जाता है। आज सर्वमान्य रूप से यह समझा जाता है कि प्राचीन भारत में लेखन के प्रति अभिरुचि कम थी। यदि किसी ने कोई पुस्तक लिख दी तो उसे अधिक सम्मान का प्रतीक नहीं माना जाता था क्योंकि बड़े-बड़े सिद्धान्तों का प्रतिपादन केवल मौखिक रूप से ही कर दिया जाता था। लिखने की अपेक्षा एक विषय को याद रखना अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता था। आज की लोकप्रिय कहावत—"विद्या कंठ की और पैसा अंट (जेब) का" को उस समय पर्याप्त महत्व प्राप्त था। आश्रमों में विद्यार्थियों को जब विद्या अध्ययन कराया जाता था तो उनको वेद, शास्त्र, उपनिषद और समस्त

विद्यायें कण्ठस्थ कराई जाती थी। यही बात राजनीति से सम्बन्धित सिद्धान्तों के सम्बन्ध में थी। ये सिद्धान्त राजपुरोहितों एवं अन्य सम्बन्धित व्यक्तियों को याद रहते थे। राज्य के संगठन तथा कार्य प्रणाली से सम्बन्धित समस्याओं के समाधान के लिए स्मृति का सहारा लिया जाता था। प्राचीन आचार्यों का यह मत था कि विद्या जन सामान्य अथवा अयोग्यों के हाथ में आकर अपना महत्व खो देती है। अतः यह प्रयास किया जाता था कि केवल योग्य एवं उपयुक्त शिष्य को ही यह सौंपी जाय। लेकिन बाद में यह विद्या को अयोग्यों के हाथ में पड़ने से नहीं रोका जा सकता। इसलिए यह परम्परा अपनाई गई कि अधिकतर चीजों को कण्ठस्थ किया जाय और शिष्य परम्परा के माध्यम से उसको अक्षुण्ण बनाये रखा जाय। इस प्रक्रिया में अनेक जोखिम थे। डर था कि यदि शिष्य कोई न हो जा सकी तो यह विद्या सम्बन्धित पुरुष के साथ ही समाप्त हो जायेगी। ऐसी विद्या के सम्बन्ध में भ्रमों की गुंजाइश अधिक थी जिनका निवारण करने के लिए सम्बन्धित पुरुष के पास ही आया जाये।

उस समय के मूल्यों ने इन विद्याओं को लिखित रूप में रखने के लिए विद्वानों को प्रेरित न किया और यही कारण है कि प्रासंगिक रूप से किसी-किसी ग्रन्थ में इनका उल्लेख मात्र देखकर यह उत्कंठा होती है कि इनके संबंध में अधिक कुछ जाना जाये किन्तु वस्तु स्थिति को देखकर मन मसोसकर रह जाना पड़ता है। काश, प्राचीन भारतीय विचारकों में लेखन के प्रति अभिरुचि रही होती तो सम्भवतः भारत अपने प्राचीन पर अधिक सार्थकता पूर्ण रूप से गौरव कर पाता।

३ अविश्वसनीय स्रोत

हिन्दू राजनीति का अध्ययन जिन स्रोतों के आधार पर किया जाता है उनमें से अधिकांश की प्रकृति अनिश्चयात्मक है। उनको प्रामाणिक आधार मानते हुए संकोच होता है किन्तु कुछ किया भी नहीं जा सकता क्योंकि इनका कोई विकल्प नहीं है। इन स्रोतों में प्रयुक्त कई एक शब्द इस प्रकार के हैं जिनका जो अर्थ आज समझा जाता है, सम्भवतः उनका वही अर्थ उस समय नहीं समझा जाता होगा। इसके अतिरिक्त इनमें से अधिकांश स्रोतों के काल का भी निश्चय नहीं है जिसके कारण अनेक बातें अप्रकाशित रह जाती हैं।

४. धार्मिक विवरण

प्राचीन भारतीय राजनीति के सम्बन्ध में जो विचार किया गया था वह पृथक रूप से नहीं किया गया वरन् धर्म के साथ उसे समन्वित रखा गया। जहां कहीं भी राज्य का वृत्तान्त आता है वहां उसमें धर्म का पुट मिला हुआ रहता है। इसके फलस्वरूप वह वर्णन या तो अतिशयोक्तिपूर्ण होता है अथवा केवल विश्वासों पर आधारित होता है। उसे हम अधिक विश्वसनीय नहीं मान सकते। जो कुछ भी इस रूप में कहा जाता है वह उसी रूप में सत्य नहीं होता वरन् सत्य का पता लगाने के लिए विभिन्न अनुमानों के सहारे चलना पड़ता है। ये अनुमान कई बार भ्रामक भी सिद्ध हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में राज्य से सम्बन्धित अध्ययन वैज्ञानिक नहीं बन पाता।

५. साहित्यिक शैली

जिस शैली में प्राचीन भारतीय राजनीति के ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं उसके कारण भी हमारे अध्ययन पर कुछ सीमायें लग जाती है। इस शैली की एक अद्‌भुत विशेषता तो यह है कि ग्रन्थकार अपनी रचना के साथ स्वयं का नाम देना पसंद नही करता। अनेक ग्रन्थों के सम्बन्ध में यह प्रमाणित हो चुका है कि वे उसके द्वारा नहीं लिखे गये हैं जिसका नाम कि ग्रन्थकार के स्थान पर रखा गया है। ऐसी स्थिति में यह तय करना बडा कठिन बन जाता है कि कौनसा ग्रन्थ किसके द्वारा और किस काल में तैयार किया गया है। ये गुमनाम रचनायें हमारे अध्ययन में भ्रम पैदा करती हैं। कारण चाहे कुछ भी रहा हो किन्तु यह एक तथ्य है कि प्राचीन भारत में लोग अपने नाम को अधिक महत्व नहीं देते थे। उस समय ग्रन्थकार अपनी रचना के साथ किसी देवता का अथवा प्रसिद्ध ऋषि का नाम जोड़ देता था। कुछ का कहना है कि यह इसलिए किया जाता था ताकि रचनाकार में अहकार का भाव जागृत न हो सके। अन्य लोगों के मतानुसार रचाना को लोकप्रिय एव प्रभावशील बनाने के लिए ही इस प्रकार की तकनीकें अपनायी जाती थीं। इस व्यवहार का परिणाम यह हुआ कि एक ही नाम से ऐसी रचनायें प्राप्त होती है जो कि परस्पर विरोधी है अथवा जो कि एक व्यक्ति की सामर्थ्य के बाहर की बात है।

रचनाओं की साहित्यिक शैली ने भी अध्ययन की वैज्ञानिकता को कम कर दिया है। हमारे अध्ययन के महत्वपूर्ण स्रोतों में अनेक ऐसी रचनायें भी आती हैं जो कि मूल रूप से साहित्यिक अथवा काव्यात्मक महत्व रखती है, ऐतिहासिक तथा राजनैतिक दृष्टि से उनका थोड़ा ही महत्व है। फिर भी अन्य कोई मार्ग न होने के कारण उनको भी अध्ययन का आधार बनाना होता है।

२

धर्म और संप्रभुता
(RELIGION AND SOVEREIGNTY)

प्रत्येक देश का इतिहास बहुत कुछ उसके धार्मिक विचारों से प्रभावित होता है। यदि कोई राज्य जनता के नैतिक व्यवहार एवं धार्मिक शक्ति की पूर्ण रूप से अवहेलना करता है तो वह पूर्णतः भौतिकवादी बन जाता है। इतने पर भी उस देश के धार्मिक विश्वास एवं रीतिरिवाज वहाँ के सामाजिक एवं नैतिक कल्याण की धारणाओं में इतने अधिक एक रूप हो जाते हैं कि जनमत भी उसी के अनुरूप व्यवहार करने लगता है। अपने आपको धर्म निरपेक्ष कहने वाला राज्य भी इन धार्मिक परम्पराओं एवं रीतिरिवाजों को कानून के द्वारा नियमित करता है। उसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को विश्वास की स्वतन्त्रता प्रदान की जाती है तथा उसके धार्मिक जीवन में हस्तक्षेप नहीं किया जाता।[1]

प्राचीन भारत में धर्म और राजनीति के बीच गहरा सम्बन्ध था। प्रत्येक राजा को अपने राज्याभिषेक के समय यह प्रतीज्ञा करनी होती थी कि वह धर्म की स्थापना करेगा तथा रक्षा करेगा। राजा के व्यक्तिगत एवं राजनैतिक जीवन पर धर्म का पर्याप्त प्रभाव रहता था। कई एक धर्म शास्त्रों ने धर्म का उल्लंघन करने पर या इसके विरुद्ध कार्य करने पर राजा को दण्ड देने की व्यवस्था भी की है। राजा धर्म से ऊपर नहीं था वरन् वह धर्म के आधीन था। धर्म को राजा से अधिक सम्मान प्रदान किया गया है। एक प्रकार से वह सभी राजाओं का राजा माना गया है।[2] कौटिल्य के मतानुसार राजा को नया कानून या धर्म बनाने का अधिकार था किन्तु मनु उसे इस प्रकार का कोई अधिकार प्रदान नहीं करता। मनु ने तो धर्म का उल्लंघन करने वाले राजा को अधिक दण्ड अथवा जुरमाना करने की व्यवस्था की है। धर्मशास्त्र एवं अन्य ग्रन्थ जब राजा के कर्त्तव्यों तथा अधिकारों का वर्णन करते हैं तो वे उसको राजधर्म की संज्ञा प्रदान करते हैं।

इस प्रकार धर्म का प्रतिबन्ध किसी भी राजा को स्वेच्छाचारी होने से रोकता था। राजा चाहे कितना भी शक्तिशाली क्यों न हो, उसे मनमानी करने की छूट नहीं दी गई थी। कौटिल्य की भांति इन शास्त्रकारों का यह कहना था कि जो राजा स्वेच्छाचारी होता है उसका नाश हो जाता है।[3] राजा को चाहिए कि वह स्वयं धर्म का पालन करे और अपनी जनता से भी धर्म का पालन कराये। स्वयं के धर्म का पालन करने से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है

---

1 K. A. N. Sastri The Concept of a Secular State, P. 32
2 इस अर्थ में हम धर्म को सम्प्रभु कह सकते हैं।
3 Kautilya, Quoted by K. P. Jayaswal op cit (Hindi) P. 302

तथा स्वर्ग मिलता है। यदि स्वयं के धर्म का पालन न किया जाये तो इसके परिणामस्वरूप वर्ण एवं कर्म में संकरता आ जाती है तथा संसार का नाश हो जाता है। कौटिल्य के शब्दों में "राजा का कर्त्तव्य है कि वह प्रजा को धर्म और कर्म मार्ग से भ्रष्ट न होने दे। अपनी प्रजा को धर्म और कर्म में प्रवृत्त रखने वाला राजा लोक और परलोक में सुखी रहता है।"[1]

इस प्रकार धर्म का अंकुश लगाकर राजा को अत्याचारी होने से रोकने का प्रयास किया जाता था। राजा अत्याचारियों एवं धर्म के विरुद्ध कार्य करने वालों को दण्ड देता था। किन्तु दण्ड की यह व्यवस्था धर्म के अनुकूल होनी चाहिए थी। यदि राजा किसी को दण्ड न दे अथवा किसी को उसके अपराध से अधिक दण्ड दे दे तो उसका यह कृत्य उचित नहीं माना जाता था। किसी अपराध के लिए कितना दण्ड दिया जायेगा इस बात का निश्चय धर्मशास्त्रों के अनुरूप ही किया जाता था। एक ओर तो दण्ड व्यवस्था प्रत्येक व्यक्ति को उसके धर्म में बनाये रखने का एक साधन थी और दूसरी ओर उसकी सीमायें एवं प्रसार भी धर्म के आधार पर ही तय किये जाते थे।

प्राचीन भारतीय राजनीति में सम्प्रभुता की मान्यता भी धर्म से पर्याप्त प्रभावित रही है। धर्म का आचरण करने पर सम्प्रभु को मान्यता प्राप्त होती थी तथा तभी उसके अनुयायियों का वर्ग बढ़ता था। धर्म विरोधी या धर्म से उदासीन होने पर सम्प्रभुता जनविरोध का कारण बन जाती थी। जनता द्वारा उसे चुनौतियां प्रदान की जाती थी। राजा को इसी अर्थ में धर्मपालक कहा गया है। धर्म का आधार लेकर ही एक राजा अपनी प्रजा से आज्ञापालन कराने की आशा कर सकता था। धर्म को सर्वोच्च मानने के कारण धर्म विरोधी सभी तत्वों को नीची दृष्टि से देखा जाता था। राजा के पास सेना की शक्ति है तथा उसके पास राजकोष का स्वामित्व भी है किन्तु इतना सब कुछ होने के बाद भी उसे धर्म से ऊपर नहीं माना गया है।

धर्म सम्बंधी विचार
(The Concept of Religion)

भारतीय जीवन के विभिन्न पहलू धर्म से इतने अधिक प्रभावित एवं ओत-प्रोत थे कि उनको अलग करके देखना अत्यन्त असम्भव है। जिस प्रकार पानी में घुलने के बाद शक्कर को अलग से इंगित नहीं किया जा सकता तथा वह जल में पूरी तरह से व्याप्त हो जाती है उसी प्रकार से धर्म भी यहां के जन-जीवन में पूरी तरह व्याप्त हो चुका था। भारतीय विचारों के क्षेत्र में धर्म का जितना प्रभाव एवं महत्व है उतना शायद ही किसी विचार का रहा होगा। यहां राजनीति, समाज, अर्थव्यवस्था, व्यवहार आदि विषयों के सम्बन्ध में जो भी विचार किया गया वह विचार धर्म से बहुत कुछ प्रभावित है। 'धर्म'

---

1. तस्मात्स्व धर्मं भूतानां राजा न व्यभिचारयेत्।
   स्वधर्मं संदधानो हि प्रेत्य चेह च नन्दति॥
   —कौटिलीय-अर्थशास्त्रम् व्याख्याकार-वाचस्पति गैरोला चौखम्बा विद्या-भवन, वाराणसी

शब्द का प्रयोग यहां कई अर्थों में किया जा रहा है। इस शब्द की उत्पत्ति धृ धातु से हुई है जिसका अर्थ होता है धारण करना।[1] जो जीवन में कार्य एवं धारा का आधार है उसी को धर्म कहा जा सकता है। वि. रामचन्द्र दीक्षितार का कहना है कि धर्म एक रहस्य पूर्ण अभिव्यक्ति है जो कि अनेक बातों की ओर संकेत करता है, ये हैं—राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक। धर्म की कोई अधिक सन्तोषजनक परिभाषा नहीं की जा सकती, किन्तु धर्म शास्त्रों ने इस अनेक नियमों एवं उपनियमों की रचना की है जो कि उनकी समझ से धर्म शब्द की सही परिभाषा है।[2] जोन स्पेलमैन के कथनानुसार भी धर्म के विभिन्न अर्थ हैं। इसका अर्थ है—सद्गुण सही कार्य, प्रकृति का नियम, औचित्य के प्रति अनुरूपता सर्वभौम सत्य, परम्पराओं एवं रीतिरिवाजों का नियम संग्रह औचित्यपन, धर्मपरायणता, अपरिवर्तनीय व्यवस्था, कानून तथा इन सभी की विभिन्नतायें।[3]

धर्म शब्द हमारे सामाजिक सम्बन्धों के सम्बन्ध में भी प्रयुक्त किया जा सकता है। उदाहरण के लिए एक पुत्र का पिता के प्रति क्या धर्म है, एक पत्नि का पति के प्रति क्या धर्म है समाज के विभिन्न लोगों का एक दूसरे के प्रति क्या धर्म है। इसी प्रकार इसे हम व्यक्ति के धार्मिक कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में भी प्रयुक्त करते हैं। जब एक व्यक्ति ईश्वर में विश्वास करता है, पूजापाठ करता है तथा उसके रहन सहन बोलचाल, विश्वास एवं आचार व्यवहार में धार्मिकता झलकती है तो हम उसे एक धार्मिक व्यक्ति कहने लगते हैं। वैसे धर्म शब्द का प्रयोग चाहे जीवन के किसी भी व्यवहार के सम्बन्ध में किया जाय उसका सम्बन्ध मौलिक रूप से नैतिक मानदण्डों से रहता है। नैतिक मानदण्डों के आधार पर जांच करने के बाद ही इन क्षेत्रों में व्यक्ति के कार्यों को धार्मिक या अधार्मिक तय किया जाता है। वृहदारण्यक उपनिषद में धर्म की महत्ता का वर्णन करते हुए उसे क्षत्रों का क्षत्र कहा गया है। धर्म की सहायता से एक निर्बल व्यक्ति भी शक्तिशाली पर शासन करने में समर्थ होता है। यह उपनिषद धर्म को सत्य मानता है। इसके कथनानुसार यदि

---

1 धारयति इति धर्म।

2 Dharma is a mysterious expression denoting various things, political, economic social and religious Any definition of Dharma will not be very satisfactory but Dharm Sastras promulgate rules and regulations of what they understand to be the correct definition of the word Dharma

–V R Ramchandra Dikshitar The Gupta Polity, University of Madras 1952, PP 280–281

3 Dharma means virtue right action the law or nature, accordance with what is proper universal, truth, a code of customs or traditions righteousness the eternal, unchanging order, law and variations of all these.

–John, W Spellman, Political Theory of Ancient India. Clarendon Press, Oxford, 1964, P 98

कोई व्यक्ति सत्य की घोषणा कर रहा है तो वह धर्म घोषणा है और यदि वह धर्म की घोषणा कर रहा है तो यह सत्य की घोषणा है। इस प्रकार सत्य एवं धर्म दोनों ही समानार्थक शब्द है।[1]

धर्म सम्बंधी वैदिक विचार
[Vedic Ideas about Religion]

वैदिक काल में धर्म का स्वरूप रित (*Rta*) द्वारा व्यक्त किया जाता था। मूल रूप से धर्म को वेदों के परवर्ती काल की विशेषता माना जाता है। वेदों में तो प्राय: रित का ही उल्लेख है। रितो ने संसार के विनियमनकारी पहलू पर अधिक जोर दिया है तथा उन सर्वोच्च कानूनों का वर्णन किया है जिनके आधार पर संसार एवं देवता दोनों को प्रशासित किया जाता है। इसमें प्रकृति के बदलते हुए रूपों का वर्णन है। साथ ही नैतिक व्यवस्था एवं मान्यताओं का भी वर्णन किया जाता है—उदाहरण के लिए सत्य आदि। इसके विपरीत अनृत उसे कहा जाता है जो कि नैतिक व्यवस्था एवं मान्यताओं के विपरीत हो जैसे असत्य आदि। वेदों में धर्मन् शब्द का भी प्रयोग किया गया है जिसको कि प्राय: रित का समानार्थक माना गया है।

ब्राह्मण साहित्य में धर्म के विचार को अधिक महत्व प्रदान किया गया है। इस समय तक रित तथा धर्मन् के पुराने विचार अपना महत्व खो चुके थे। धर्म के द्वारा सामाजिक जीवन का एक रचनात्मक रूप प्रस्तुत किया गया। अब प्रत्येक व्यक्ति का धर्म निश्चित कर दिया गया था इस बात पर जोर दिया गया कि वह स्वधर्म का पालन करे। प्रत्येक व्यक्ति का जो कर्त्तव्य है वह उसे पूरा करे। यह कर्त्तव्य महान धर्म के अनुरूप होना चाहिए। राजा के धर्म के सम्बंध में भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया। राजा का यह मुख्य धर्म था कि वह वर्णाश्रम धर्म का पालन कराये।

वेदों के धार्मिक उपचार का वर्णन करने के लिए ये ब्राह्मण ग्रन्थ रचे गये थे।[2] प्रत्येक वेद के अलग-अलग रूप से कई एक ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना की गई। उपनिषदों में ब्रह्म तथा आत्मा सम्बंधी ज्ञान की चर्चा की गई है। इन उपनिषदों ने सत्य को पर्याप्त महत्वपूर्ण माना है और जो व्यक्ति सत्य बोलता है ये उसी को ब्राह्मण कहते हैं वैसे जाति, योनि, वर्ग या वर्ण आदि के भेद पर इनमें प्रकाश नहीं डाला गया है। ये उपनिषद व्यक्ति को आशावादी बनाते है तथा उसके जीवन को आनन्द का भण्डार मानते है। इनके मतानुसार आनन्द संसार के प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त है। समस्त प्राणी इसी से जन्म लेते हैं, इसी में जीवित रहते हैं तथा अन्त में इसी में ही लीन हो जाते हैं। व्यक्ति अनेक प्रकार के भौतिक, दैविक एवं शारीरिक कष्टों को सहकर भी जीवन को समाप्त नहीं करना चाहता क्योंकि जीवन अपने आप में आनन्दपूर्ण है। उपनिषदों में सर्वत्र यही आदेश है कि कमजोरी, सुस्ती, तथा हिम्मत का हारना

---

1. वृहदारण्यक उपनिषद, १, ४–१४
2. बुद्ध प्रकाश, भारतीय धर्म एवं संस्कृति मीनाक्षी प्रकाशन, बेगम ब्रिज मेरठ, १९६७, पेज ९

ही व्यक्ति के सबसे बड़े शत्रु है। संकीर्ण विचारों एवं दृष्टिकोण को समाप्त करके बड़े विचार तथा बड़े संकल्प रखने चाहिए। सुख हमेशा बड़े में ही होता है अल्प में नहीं होता।[1]

उपनिषदों में आत्मा की अमरता पर जोर दिया गया है। व्यक्ति जन्म और मरण के चक्र से केवल तभी छूटता है जबकि वह निश्चय एवं विश्वास के साथ ज्ञान तथा कर्म का समन्वय करके आचरण करे। ऐसा करने से वह ब्रह्म में एकाकार हो जाता है। संसार की कोई भी वस्तु नष्ट नहीं होती है उसका रूप परिवर्तित होता रहता है।

महाकाव्यों में धर्म सम्बधी विचार

(Religious ideas in Epics)

रामायण काल में आकर धर्म को अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई। सामान्य जनता पुराणों, लोकगीतो, वार्ताओं एवं कहानियो के माध्यम से अपने विश्वासों का विकास करने की ओर उन्मुख थी। वाल्मीकि के राम धर्म के साक्षात अवतार हैं।[2] राम एक चरित्रवान व्यक्ति है जिन्होंने सामाजिक व्यवहार की मर्यादायें स्थापित की। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि रामायण के धर्म सम्बधी विचार में अनेक बातें सम्मिलित हैं जैसे-दूसरों के प्रति अपने दायित्वों का निर्वाह करना, लोक जीवन की मर्यादाओं की रक्षा करना, समाज की व्यवस्था को बनाये रखने में योगदान करना, मन तथा इन्द्रियो को संयम में रखना आदि-आदि। रामायण काल में यह विश्वास किया जाता था कि धर्म के बंधन ही समाज को ठीक रास्ते पर लेजा रहे हैं। जहा धर्म बन्धन ढीला पड़ जाता है वहीं समाज में विशृंखलता आ जाती है तथा व्यक्तिगत स्वार्थों को अधिक महत्व दिया जाने लगता है। धर्म के प्रभाव से व्यक्ति स्वार्थ के अलावा परार्थ का भी पर्याप्त ध्यान रखता है जो कि सामाजिक जीवन की प्रथम शर्त है। विमाता के कहने पर राम ने जब राज पद त्याग दिया तो लोग उन पर भीरुता का आरोप लगाने लगे। इन लोगो से राम का कहना था कि वे इतनी शक्ति रखते हैं कि चाहें तो अयोध्या ही क्या सारी पृथ्वी को बाणों से घेर कर स्वयं का राजतिलक करा सकते हैं किन्तु यह अधर्म होगा। धर्म के बन्धन में रहने के कारण उन्होंने वनवास जाने का आदेश स्वीकार किया।[3] मर्यादा पुरुषोत्तम राम को भगवान का अवतार मानने के पीछे सत्य यही है कि उन्होंने स्वयं धर्म का पालन किया, सत्य के सेतु के सहारे संसार के हर संकट का मुकाबला किया तथा धर्म विरोधी तत्वों को समाप्त करके ऐसी परिस्थितियो की रचना की जिनमे कि प्रत्येक व्यक्ति धर्म का पालन कर सकें। रामायण का धर्म संयत व्यवहार, मर्यादा पूर्ण आचरण, व्यवस्थित समाज व्यवस्था आदि पर आधारित है।

---

1 छान्दोग्य उपनिषद, ७, २३,१

2 रामो विग्रहवान् धर्म —रामायण अरण्य काण्ड, ३८ १३

3. धर्म बन्धन बद्धो ऽस्मि—रामायण अयोध्याकाण्ड, १०६ ९.

महाभारत काल में धर्म का स्वरूप रामायण की भांति एकसूत्री न हो कर विविधता पूर्ण बन गया क्योंकि यहां ग्रन्थ का उद्देश्य केवल राम के चरित्र को ही उभारना नहीं था वरन् इसके सामने अनेक प्रकार के अनेक चरित्र थे और सभी को सापेक्षिक महत्व दिग्दर्शित कराना जरूरी समझा गया था। महाभारत एक समय विशेष तथा एक लेखक विशेष की रचना न होने के कारण धर्म के स्वरूप के सम्बंध में भी एकरूपता नही रख सकती थी। कुल मिला कर महाभारत को लोक धर्मों के विभिन्न रूपों का समन्वय कह सकते है। डा. बुद्धप्रकाश के शब्दों में "इसमें लोक धर्म के अनेक रूप और पक्ष दिखाई पड़ते हैं। कही वैदिक यज्ञों की अग्नि प्रज्वलित है तो कहीं कृष्ण की पूजा हो रही है, कही शिव की प्रार्थना जारी है तो कहीं देवी दुर्गा को प्रसन्न किया जा रहा है, कहीं दर्शन की बारीकियां ढूढी जा रही है, उदात्त धर्म का प्रवचन चल रहा है या नीति का आख्यान हो रहा है, तो कहीं नदी, पर्वत, वृक्ष, नाग, प्रेत, पिशाच आदि की मिन्नतें की जा रही हैं, उन्हें बलियां चढाई जा रही है और उनके उत्सवों समाजों और यात्राओं का आयोजन हो रहा है। इस प्रकार महाभारत ऊंची-नीची सभी मान्यताओं का रोचक चलचित्र उपस्थित करता है।"[1]

कर्त्तव्य के रूप में धर्म
(Religion in form of Duty)

महाभारत ने व्यक्ति के स्वधर्म को पर्याप्त महत्वपूर्ण माना है। महाभारत एवं मनु ने स्वधर्म के सम्बंध में जो विचार प्रकट किये हैं उनका वर्णन करते हुए मि० गांगुली ने बताया है कि इन विचारों का मूल निचोड़ कुछ एक सूत्रों में व्यवस्थित किया जा सकता है। प्रथम, एक व्यक्ति का अपना कर्त्तव्य, चाहे वह कितना ही कम महत्वपूर्ण क्यों न हो, यदि पूर्ण रूप से सम्पन्न किया जाता है तो वह दूसरे के कर्त्तव्य से ऊंचा है। यदि अपने कर्त्तव्य का पालन करने में मृत्यु का भी वरण करना पड़े तो ऐसा किया जाये। दूसरों के कर्त्तव्यों को सम्पन्न करना खतरनाक है। दूसरे, एक व्यक्ति का कार्य चाहे कितना ही गर्हित एवं घृणित क्यों न हो, उसे वह सम्पन्न करना चाहिए। दूसरों के कार्यो को स्वय हाथ में नहीं लेना चाहिए। अपने कर्त्तव्यों को सम्पन्न करने में समर्थ होता हुआ भी यदि कोई व्यक्ति दूसरों के कार्यों को सम्भालता है तो वह संकट को बुलावा देता है। तीसरे, ईश्वर उस समय सबसे अधिक प्रसन्न होता है जबकि एक व्यक्ति अपने कर्तव्यों का पालन करता है। चौथे, दूसरे के धर्म की उसी प्रकार अवहेलना करनी चाहिए जिस प्रकार कि दूसरे व्यक्ति की सर्वाधिक सुन्दर पत्नी की उपेक्षा की जाती है।[2]

अलग-अलग वर्ण एवं आश्रमों में स्थित व्यक्तियों के कर्तव्य एवं दायित्व भी अलग-अलग होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को यथा सम्भव अपना कार्य करना चाहिए तथा दूसरे के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। सभी कर्तव्य परस्पर सम्बंधित है। इसलिए जब एक व्यक्ति अपने कर्तव्यो को सम्पन्न

---

1. डा बुद्धप्रकाश पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ--७
2. J. Ganguly, Philosophy of Dharma II, I.H.O. vol. ii, No. 4, 1926, PP. 811—12.

करता है तो वह अपनी जाति के धर्म को बढ़ावा देता है और अन्तिम रूप में वह समाज के धर्म को बढ़ावा देता है।

कौटिल्य के कथनानुसार ऋग्वेद, सामवेद तथा यजुर्वेद (त्रयी) में वर्णित धर्म चारों वर्णों एवं चारों आश्रमों को अपने-अपने धर्म (कर्त्तव्यों) में स्थिर रखता है अतः यह संसार का परम उपकारक है।[1] अर्थशास्त्र में चारों वर्णों के धर्मों का निरूपण करते हुए कहा गया है कि ब्राह्मण का धर्म अध्ययन-अध्यापन, यज्ञ-याजन और दान देना तथा दान लेना है। क्षत्रिय का धर्म है पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना, शस्त्रबल से जीविकोपार्जन करना और प्राणियों की रक्षा करना। वैश्य का धर्म पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना कृषि कार्य एवं पशु पालन और व्यापार करना है। इसी प्रकार शूद्र का अपना धर्म है कि वह ब्राह्मण-क्षत्रिय वैश्य की सेवा करे, खेती, पशुपालन तथा व्यापार करे और शिल्प, गायन वादन एवं चारण भाट आदि का कार्य करे।

चारों आश्रमों के धर्मों का वर्णन करते हुए अर्थशास्त्र में लिखा है कि ब्रह्मचारी का धर्म है वह कि नियमित स्वाध्याय करे अग्नि होत्र रखे, नित्य स्नान करे भिक्षाटन करे, जीवन पर्यन्त गुरु के समीप रहे, गुरु की अनुपस्थिति में गुरु पुत्र अथवा अपने किसी समान शाखाध्यायी के निकट रहे। गृहस्थ अपनी परम्परा के अनुकूल कार्यों द्वारा जीविकोपार्जन करे, सगोत्र तथा असगोत्र समाज में विवाह करे, ऋतुगामी हो, देव, पितर, अतिथि एवं भृत्यजनों को देकर सब के अन्त में भोजन करे। वानप्रस्थी का धर्म है ब्रह्मचर्य पूर्वक रहना, भूमि पर शासन करना, जटा, मृग चर्म को धारण किये रहना, अग्नि होत्र तथा प्रतिदिन स्नान करना, देव, पितर एवं अभ्यागतों की सेवा-पूजा करना और वन के कन्दमूल फल पर निर्वाह करना। सन्यासी का धर्म है जितेन्द्रिय होना, वह किसी भी सांसारिक कार्य को न करें, निष्किंचन बना रहे, एकाकी रहे प्राण रक्षा मात्र के लिए स्वल्प आहार करे समाज में न रहे, जंगल में भी एक ही स्थान पर न रहता रहे मन, वचन, कर्म से अपना भीतर तथा बाहर पवित्र रखे।[2] समस्त वर्णों एवं आश्रमों में रहने वाले व्यक्तियों के लिए कुछ ऐसे धर्म भी बताये गये हैं जिनका पालन इनको सामान्य रूप से करना चाहिए। उदाहरण के लिए अहिंसा, सत्य, पवित्रता, ईर्ष्या का अभाव, दया एवं क्षमाशीलता।[3]

महाभारत एवं मनु का धर्म सम्बन्धी विचार एवं कौटिल्य द्वारा वर्णित व्यक्तिगत धर्म यह स्पष्ट करता है कि यहां धर्म का अर्थ कर्त्तव्य से लिया गया है। एक व्यक्ति को जो करना चाहिए वही उसका धर्म है। यदि वह व्यक्ति उस कार्य को सम्पन्न करता है तो धार्मिक है और यदि नहीं करता है तो अधार्मिक है। राजा का मुख्य धर्म अर्थात् कर्त्तव्य यह माना गया है कि वह सभी व्यक्तियों को अपने-अपने धर्म में बनाये रखे। जब समाज का कोई एक वर्ग अथवा कुछ व्यक्ति सम्पूर्ण समाज की आर्थिक एवं सामाजिक सुरक्षा को

1 कौटिल्यीय अर्थ शास्त्रम्, १. २. २., पेज १२
2. कौटिलीय-अर्थ शास्त्रम् १ २ ३, पेज १२-१३
3 वही पुस्तक, १ २ ४, पेज १४

खतरे में डाल कर अपनी जाति व्यवस्था की मर्यादाओं को लांघना चाहें तो राज सत्ता को उन्हें ऐसा करने से रोकना चाहिए। समाज मे व्यवस्था एवं सुरक्षा तभी रह सकती है। यदि प्रत्येक व्यक्ति को उसकी इच्छा के अनुसार कार्य करने दिया जाये तो समाज में अराजकता स्थापित हो जायेगी। जो व्यक्ति अपने धर्म का पालन नहीं कर रहे हैं राजा उनको दण्ड दे सकता था। कोई व्यक्ति राजा का चाहे कितना ही निकट का सम्बन्धी तथा घनिष्ट मित्र हो यदि वह धर्म का पालन नहीं कर रहा है तो उसे दण्ड दिया जायेगा।

धर्म के सम्बंध में छान्दोग्य उपनिषद ने एक अन्य दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। इसने धर्म को तीन भागों में प्रस्तुत किया है। प्रथम में बलिदान, अध्ययन और दान आता है, द्वितीय में तपस्या तथा तृतीय में गुरु के यहा ब्रह्मचारी का निवास आता है।

जैसा कि पहले भी उल्लेख किया जा चुका है, धर्म का अर्थ धारण करना है। जिस प्रकार धर्म संसार को धारणा करता है उसी प्रकार धर्म को राजा धारण करता है।[1] राजा के द्वारा धर्म के विचार की रक्षा उस समय तक नहीं की जा सकती जब तक कि वह स्वयं भी उसका पालन न करे। स्वयं एक व्यवहार का उल्लघन करते हुए अन्य से उसका पालन नहीं कराया जा सकता। यही कारण है कि समस्त ग्रन्थों में राजा को धर्मानुकूल शासन संचालित करने की बात कही गई है। तैतरीय ब्राह्मण के अनुसार राजा को वही कहना तथा करना चाहिए जो कि सत्य है। कही कही पर व्यवहार में इस कथन के अपवाद भी देखने को प्राप्त होते है किन्तु सामान्य रूप से भारत में धर्म के नियन्त्रण ने राजा की स्वेच्छाचारी शक्तियों पर अंकुश बनाये रखा।

धर्म को राजा के ऊपर माना गया। उसे समाज जनता एवं सब कुछ के ऊपर बताया गया। धर्म से सम्बन्धित मूल रूप से दो विचार थे। एक ओर तो इस अमूर्त प्रभावशील शक्ति के सम्बन्ध में दार्शनिक सिद्धान्त थे और दूसरी ओर इन सिद्धान्तों में अनुरूपता रखते हुए मूर्त कानून थे जो कि जीवन व्यवहार को सचालित करते थे। इस प्रकार जो धर्म एक स्वाभाविक सार्वभौमिक व्यवस्था है वही व्यक्तियों के बीच व्यवस्था कायम कर सकता है।

वृहदारण्यक उपनिषद की मान्यता के अनुसार धर्म को चारों वर्गों की स्थापना के बाद बनाया गया ताकि वह इनमें स्थायित्व कायम कर सके।[2] प्रारम्भिक युग में जब मानवीय जीवन लालच, चाह एवं भ्रम से ग्रस्त था तो धर्म की प्रतिष्ठा समाप्त हो गई। धर्म के अस्तित्व को चुनौती दी जाने लगी। ऐसी स्थिति में ब्रह्मा द्वारा एक लाख अध्यायों के एक ग्रन्थ की रचना की गई जिसमें कि जीवन के चार लक्ष्यों—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का वर्णन किया गया। बाद में मनुष्यों के व्यवहार के लिए इसको संक्षिप्त रूप प्रदान किया

1. शतपथ ब्राह्मण, V, ४. ४. ५.
2. वृहदारण्यक उपनिषद, १, ४. ११. १४.

गया। इस प्रकार दैवीय कानून को मानवीकृत बना दिया गया। सार्वभौमिक धर्म की स्थापना तभी हो सकती है जबकि उसके अनुरूप मानव व्यवहार को संचालित करने वाले कानून बना दिए जायें। कहा जाता है कि वैदिक काल में कानून वरुण द्वारा बनाये गये। वरुण देवता का सम्बन्ध मुख्य रूप से नैतिकता एवं राजा के साथ था। वरुण ने ही राजाओं को कानून का स्वामी बना दिया तथा उनको दण्ड से मुक्ति प्रदान की। क्योंकि दृष्टि में वह दण्ड से मुक्त होते हुए भी वरुण तथा धर्म के आधीन था। यह कहा गया कि जब राजा कोई गलती करे तो उसके दण्ड स्वरूप वह निर्धारित धन को पानी में डाल दे, अथवा नियमित रूप से ब्राह्मणों को देता रहे। राजा द्वारा किये जाने वाले अनेक बलिदानों को भी उसकी गलतियों का शोधक मान लिया गया था।

कानून के स्रोत के रूप में धर्म
[Religion as a Source of Law]

राज्य के कानूनों का स्रोत एवं आधार मुख्य रूप से धर्म को माना गया है। राजा द्वारा कोई भी ऐसा कानून नहीं बनाया जा सकता जो कि धर्म के विपरीत हो। इस प्रकार राजा को कानून के सम्बन्ध में अन्तिम अधिकार प्राप्त नहीं हैं वह तो केवल धर्मानुकूल कानूनों का चयन मात्र करता है। मनु द्वारा रचित धर्म शास्त्रों ने सर्वप्रथम मानवीय व्यवहार के संचालनार्थ नियम प्रस्तुत किये। बाद में नारद एवं याज्ञवल्क्य ने इस विषय का विस्तार किया। धर्म सूत्रों की रचना बाद में की गई। ये धर्म शास्त्रों से कुछ भिन्नता रखते हैं। धर्म सूत्रों मे 'धर्म' पद समस्त घरेलू कर्तव्यों, धर्म एवं नैतिकता को प्रदर्शित करता है। इसमे औपचारिक कानून की ओर थोड़ा ही ध्यान दिया गया है। दूसरी ओर धर्म शास्त्र मे कानून ही एकमात्र रूप से विचार का विषय है। सूत्रों की शैली गद्यात्मक होती थी जबकि कानून सम्बन्धी पुस्तकों का लेखन मन्त्रों के रूप में किया जाता था। समय गुजरने के साथ साथ यह अन्तर अधिक होता गया। कानून की पुस्तकों मे से अनावश्यक बातों को बाहर निकाला गया। समस्त धार्मिक एवं नैतिक घरेलू कर्तव्यों को अप्रासंगिक माना गया तथा उनको औपचारिक कानून मे पृथक किया गया। इस प्रकार धर्म शास्त्रों एवं धर्म सूत्रों के मध्य स्थित अन्तर मौलिक था। इनमे धर्म सूत्रों की प्रकृति जहां धार्मिक एवं नैतिक थी वहां धर्मशास्त्र आधुनिक धर्म निरपेक्षता के अर्थ मे कानूनी थे।

गुप्तकाल मे अनेक धर्मों के उदय के कारण तथा एक सामान्य धार्मिक असन्तोष के कारण राज्य की शक्तियों का केन्द्रीकरण हो गया। किन्तु इस नीति को संचालित करना जितना सरल दिखाई देता है असल में यह उतना सरल नहीं था। धार्मिक सहिष्णुता की महा आवश्यकता थी क्योंकि विभिन्न धर्मों के अनेक सिद्धान्तों के बीच पर्याप्त विरोधाभास सा दिखाई देता था। एक धर्म अहिंसा को परम धर्म मानकर उसके अनुसार व्यवहार करने की बात

कहता है तो दूसरे के मतानुसार यज्ञ में बलिदान करना अत्यन्त आवश्यक तथा महत्वपूर्ण है। सम्राट अशोक को ऐसी स्थिति मे अपनी धार्मिक सहिष्णुता को रोक कर आवश्यक नियमन करना पड़ा था। अशोक द्वारा कई एक ऐसे कानून बनाये गये जो निरर्थक परम्पराओं एवं रीति रिवाजों का विरोध करते हैं। कुछ एक अपवादों को छोड़ कर प्राचीन भारत में राज्य प्राय: धर्म से ही प्रभावित रहता था। इस सम्बन्ध में विष्णु का यह कथन उल्लेखनीय है कि जो पवित्र ज्ञान, देश या जाति को अस्वीकार करता है अथवा जो यह कहता है कि उसने अपने धार्मिक कर्त्तव्यों को पूरा नहीं किया है उस पर २०० पण का जुर्माना किया जाना चाहिए।[1] इस कानून का पालन करने पर जैन तथा बुद्ध धर्म के मानने वाले सकट के पड़ जाते थे। इन धर्मों ने पवित्र वेदों एव जाति व्यवस्था को अस्वीकार कर दिया था क्योंकि यह जन्म पर जोर देती है योग्यता पर नही। हिन्दू कानून शास्त्रों ने हिन्दू धर्म के अनुयायियों के अतिरिक्त लोगों के लिए कोई प्रावधान नहीं रखा।

हिन्दू कानून निर्माताओं ने यह स्पष्ट कर दिया था कि जब भी कभी श्रुति और स्मृति के बीच संघर्ष उत्पन्न हो जाये तो श्रुति को महत्वपूर्ण मानना चाहिए। गौतम के कथनानुसार देश, जाति एवं परिवारों के केवल वे ही कानून मान्य होंगे जो कि पवित्र ग्रन्थों के विपरीत नहीं है।[2] मनु ने कहा है कि जहां शूद्र अधिक होते हैं तथा धार्मिक व्यक्ति एव द्विज कम मात्रा में होते हैं वह स्थान शीघ्र ही समाप्त हो जाता है।[3] कानून के स्वरूप के सम्बन्ध में मनु का कहना था कि द्विज अथवा सद्गुण सम्पन्न व्यक्ति जो व्यवहार करते हैं उस व्यवहार को राजा द्वारा कानून के रूप में स्थापित कर दिया जाना चाहिए। किन्तु यह व्यवहार देश परिवार एवं जाति के रीति रिवाजों से विपरीत न हो।

गुप्त काल में जैन तथा बौद्ध धर्मों का प्रभाव बढा। ये दोनों ही धर्म हिन्दू धर्म शास्त्रों की मान्यताओं के प्रति सन्देह व्यक्त करते थे। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक बन गया कि राजा धार्मिक दृष्टि से सहिष्णुतापूर्ण व्यवहार अपनाये। इस आवश्यकता ने निश्चय ही कानून के रूप में परिवर्तन किये किन्तु फिर भी वह धर्म के प्रभाव से पूरी तरह मुक्त नहीं हो सका। पवित्र वेदों एवं धार्मिक परम्पराओं की प्राचीनता को कोई भी राजा पूर्ण रूप से भुलाने का साहस नहीं कर सकता था। अपनी पूरी शक्ति से मुक्त होने के बाद भी वे धर्म शास्त्रों के कथनों का पूर्ण रूप से विरोध करने में असमर्थ थे।

रीति रिवाजों के रूप में धर्म
(Religion as Customs and Usages)

डॉ० सिन्हा के कथनानुसार धर्म की व्याख्या रीतिरिवाजों एवं चलनों

---

1. Vishnu Smriti, translated by Jolly in S. B. E., Vol II, v. 26.
2. Gautama, XI, 20
3. मनु, viii, २२ तथा ४६

के रूप में की जाती है। दोनों ही समाज में पवित्र एवं धर्म निर्देश होते हैं।[1] ऋग्वेद में धर्म शब्द का प्रयोग परम्पराओं के अर्थ में हुआ है।[2] परम्परायें एवं चलन कालान्तर में जाकर सामाजिक जीवन के आवश्यक अंग बन जाते हैं। उनके बिना समाज को अपना जीवन व्यापार संचालित करने में कठिनाई का अनुभव होने लगता है। परम्परायें समाज के जीवन को धारण करती हैं। इस अर्थ में उनको धर्म मानना युक्ति संगत भी है। वैदिक मान्यता के अनुसार वरुण की भांति राजा अपने सिपाहियों की सहायता से इन परम्पराओं को लोगों में लागू कराता है। राजा इनका रक्षक होता है। उसके द्वारा समर्थित यह धर्म ही समाज में कानून का प्रारम्भिक रूप था जोकि परम्पराओं एवं चलनों के रूप में प्राप्त होता था।

धर्म का उल्लंघन द्रोह है
(Violation of Religion is Droha)

धर्म की स्थापना राजा के द्वारा की जाती थी और इसलिए जो भी कोई धर्म का उल्लंघन करता था उसको एक प्रकार राज्य के प्रति किया गया द्रोह करार दिया जाता था। उस समय यदि कोई व्यक्ति अग्नि बलिदान नहीं करता था तो सम्भवतः उसे एक प्रकार का द्रोह ही समझा जाता होगा। इसके अतिरिक्त समय समय पर समाज विरोधी कार्यवाहियां भी होती रहती थीं। इन कार्यवाहियों को भी द्रोह अथवा समाज विरोध की संज्ञा प्रदान की जाती थी। दूसरों के क्षेत्रों से भूमि तथा मवेशियों के जबर्दस्ती छीनने की कार्यवाहियां होती रहती थीं। सिंचाई के साधनों का प्रयोग करते हुए पानी का इस प्रकार दुरुपयोग किया जा सकता था कि पड़ोसी के खेत को नुकसान पहुँचे। जानबूझ कर पड़ोसियों की फसल को उखाड़ने के मामले भी राजा के सामने आते रहते थे। ऋग्वेद में कपड़ों की चोरी करने वालों तथा सड़क पर कार्य रत चोरों के वृत्तान्त आते हैं।

जुएबाजी के कारण कई लोग कर्जदार हो जाते थे। गरीबी और भूख का प्रभाव बढ़ने के कारण ही दान को महत्व पूर्ण माना जाता था। सामाजिक नैतिकता की स्थापना के लिए अनेक प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक था। उदाहरण के लिए यदि एक जुएबाज की पत्नी अन्य पुरुष के षड्यन्त्र में आ जाये और फलतः वह गुप्त रूप से बच्चे को जन्म देकर छोड़ दे तो इस प्रकार के व्यवहार को प्रोत्साहन नहीं दिया जाता था।[3] भाइयों के पारस्परिक झगड़े, पिता की आज्ञा का उल्लंघन आदि ऐसे जिन व्यवहारों को अवांछित ठहराया जाता था। इन सभी समाज विरोधी कार्यवाहियों को धर्म का उल्लंघन तथा द्रोह माना

---

1 Dharma may bear the interpretation of customs and usages, both sacred and secular in Society
—*Dr H M Sinha*, The Development of Indian Polity, Ashia Publishing House, 1963, P. 32

2 ऋग्वेद, III, 17, 1

3 ऋग्वेद, X, 34 4 तथा II, 29, 1.

जाता था। इन समस्त द्रोहों का अवरोध करने के लिए राजा के द्वारा व्यवस्था की जाती थी। यह व्यवस्था धर्म के अनुकूल ही होती थी। राजा यह देखता था कि समाज द्वारा भी यदि न्याय प्रदान किया जाये तो वह स्थापित धर्म के अनुकूल ही हो। कई एक ऐसे अपराध भी हो सकते थे जिनके सम्बंध में धर्म स्पष्ट रूप से कुछ भी आदेश न देता है। इस प्रकार के अपराधों पर स्वय राजा द्वारा ही निर्णय लिया जाता था।

गुप्त काल में धर्म सम्बंधी अनेक साहित्यिक रचनायें की गई थीं। अनेक पूर्व ग्रन्थों में संशोधन तथा परिवर्तन किये गये। पुराणों को समय के अनुसार बनाया गया। पुराणों में भारत में समय-समय पर राज्य करने वाले राजाओं के अलावा सामाजिक तथा धार्मिक जीवन के अनेक तत्वों का वर्णन किया गया। गुप्तकाल की राजनीति का धर्म से पर्याप्त सम्बंध था। न केवल नागरिकों के जीवन को वरन् राज्य के जीवन को भी धर्म के आधार पर ही संचालित किया जाता था। धर्म में प्रत्येक चीज के आश्रित रहने के कारण धर्म निरपेक्षता का प्रश्न ही नहीं उठता। गुप्तकालीन भारत में कानून निर्माण करने के लिए व्यवस्थापिका जैसी कोई सस्था नहीं थी। राजा को स्वयं कानून बनाने का या उसे सशोधित करने का अधिकार नहीं था। कानून की रचना प्राचीन ऋषियों एव संतों द्वारा की जा चुकी थी। राजा का काम केवल इनको प्रशासित करना मात्र था।

धर्म शास्त्रों को राजा तथा सामान्य जनता दोनों ने ही कानून की संहिताओं के रूप में स्वीकार कर लिया तथा इनका विरोध कानून का उल्लंघन माना जाता था तथा उसके लिए दण्ड की व्यवस्था की गई थी। इन धर्म शास्त्रों ने अपनी विषय वस्तु को दो मोटे-मोटे रूपों में विभाजित किया, ये हैं—राज धर्म और प्रजा धर्म। प्रजा धर्म के दो रूप किये गये—स्वधर्म तथा सनातन धर्म। इनमें से प्रथम का सम्बंध स्वयं के विशेष कर्त्तव्यों के पालन से था तथा दूसरे का सम्बंध उन कर्त्तव्यों से था जिनके पालन की आशा समाज के भौतिक तथा नैतिक कल्याण के लिए सभी व्यक्तियों से की जाती है।

प्राचीन भारत के मानव का यह विश्वास था कि धर्म एक आन्तरिक तत्व है तथा यह कभी भी समाप्त नही होता है। इसलिए कानून का स्रोत धर्म को ही बनाया गया। उस समय मानव निर्मित कानूनों में कम विश्वास किया जाता था। यह मान्यता थी कि यदि राजा समाज का कल्याण करना चाहता है अथवा उसकी सामान्य भलाई के लिए कार्य कर रहा है तो निश्चय ही उसे धर्म के अनुसार कार्य करना होगा'। धर्म का विरोध राजा द्वारा केवल तभी किया जा सकता है जबकि वह स्वेच्छाचारी होना चाहता है अथवा प्रजा के हित में शासन न करके व्यक्तिगत ऐश आराम के लिए ही उसे प्रयुक्त करना चाहता है। प्राचीन भारतीयों की धर्म सम्बंधी मान्यता को विभिन्न दृष्टियों से देखने के बाद यही कहा जा सकता है कि धर्म समाज एवं राज्य दोनों की रक्षा के लिए उत्तरदायी था।

धर्म ने प्रशासन के पहिये में एक प्रकार से कीली का काम किया। श्री रामचन्द्र दीक्षितार से कथनानुसार यदि प्रशासकीय यंत्र में कोई दोष पैदा

हो जाये तो केवल धर्म द्वारा ही राजा एवं प्रजा की सहायता की जा सकती थी।[1] इस प्रकार राजा द्वारा समाज की परम्पराओं का सम्मान किया जाता था। इस प्रकार धर्म के तन्तुओं को कुशलता के साथ बुन कर तथा चतुराई के साथ राजा की अन्यथा स्वेच्छाचारी शक्तियों पर प्रतिबन्ध और अंकुश लगा कर प्राचीन भारत के निवासियों ने उनके धर्म के विश्वासों एवं रीति रिवाजों को लाद दिया। इसके परिणामस्वरूप जो चीजें धर्म निरपेक्ष दिखाई देती थीं वे भी असल में धर्म के आवरण से ढकी हुई थी। यह इसलिए सम्भव हो सका क्योंकि राज्य में केवल एक ही समाज अथवा समुदाय था। यद्यपि यह विभिन्न वर्गों में विभाजित था किन्तु फिर भी उन वर्गों के बीच इतने अधिक अन्तर नहीं थे कि उनकी क्रियाओं में एकरूपता सम्भव न हो सके।

धर्म के स्रोत

(The Sources of Religion)

एक जनसंख्या के बहुमत की इच्छाओं की अवहेलना नहीं की जा सकती। अतः जो लोग धर्म में विश्वास करते थे उनको धर्म के विपरीत व्यवहार नहीं प्रदान किया जा सकता। धर्म के प्रति व्यापक विचार रखने के कारण भारत में लोकप्रिय कानून का लाभ प्राप्त किया जा सका। धर्म के स्रोतों का उल्लेख करके उसको दैवीय कानून के अनुरूप बनाया गया। गौतम के अनुसार धर्म वेद ही है। यह उन लोगों के शील तथा स्मृतियाँ है जो कि पर्याप्त वैदिक ज्ञान रखते हैं। वशिष्ठ के मतानुसार धर्म श्रुति एवं स्मृति से उत्पन्न हुआ है। जब कभी ये दोनों स्रोत असफल हो जायें अथवा कुछ भी कहने में असमर्थ हों तो सद्गुण सम्पन्न लोगों के व्यवहार को आधार माना जाये। आर्यों ने जिस कार्य को भी करने की अनुमति प्रदान की है वह उनके मतानुसार धर्म है और जिस कार्य का वे निषेध करते हैं वह धर्म नहीं है।

इस प्रकार धर्म का अर्थ ऐसे कार्य से लिया गया जो कि करने योग्य

[illegible]

सद्गुण सम्पन्न व्यवहार, पवित्र लोगों की परम्परायें, तथा अच्छे अभिमत आदि)। इस दृष्टि से देखने पर घोषाल का मत गलत प्रतीत होता है। घोषाल का कहना है कि सुसंस्कृत उच्च वर्ग का न कि प्रस्तावित अन्तरात्मा या दैवीय भावना, का निर्णय ही धर्म के लिए निर्णायक मापदण्ड माना जायेगा।[5] वैसे इस कथन में भी आंशिक सत्यता वर्तमान है। धर्म के विभिन्न

[illegible]

स्रोत मूलतः एक ही आधारभूत स्रोत से निकले हैं जिस प्रकार एक ही वृक्ष की अनेक शाखायें होती हैं।

प्राचीन काल में धर्म की परिभाषा का रूप धीरे-धीरे व्यापक होता चला गया। वैसे इनका ऐतिहासिक क्रम बताना अत्यन्त कठिन है कि किस समय धर्म में क्या अभिवृद्धि की गई किन्तु जब हम धर्म का स्रोत परम्पराओं को मानने लगते हैं तो यह बात स्पष्ट हो जाती है। गौतम ने न्याय के प्रशासन को जिनके द्वारा विनियमित माना है वे हैं—वेद, पवित्र धर्म की संस्थायें, अंग तथा पुराण आदि। उनके कथनानुसार देश, जाति एवं परिवार के वे नियम सत्ता पूर्ण है जो कि पवित्र अभिलेखों के विरुद्ध नहीं है। किसान, व्यापारी, चरवाहा, बोहरा तथा कलाकार वर्ग के लोग अपने-अपने वर्ग के लिए अलग से नियम निर्धारित कर सकते हैं।[1] मनु ने धर्म के नैतिक पक्ष पर अधिक जोर दिया है तथा राजा से अनुरोध किया है कि वह जातियों, देशों, श्रेणियों एवं परिवारों के धर्मो पर सावधानी के साथ विचार करे। ये तो राजा को बाध्य रूप में स्वीकार करने ही होते है। याज्ञवल्क द्वारा मनु का यह मत स्वीकार किया गया है। नारद के मतानुसार राजा को चाहिये कि वह वेद के मानने वालों, श्रेणियों, निगमों, सभाओं तथा अन्य संस्थाओं के बीच परम्परायें स्थापित करे। राजा उनको ऐसा व्यवहार करने से रोक सकता है जो कि राजा की इच्छाओं के विरुद्ध हो अथवा जो उनकी स्वयं की प्रकृति के विपरीत हों अथवा राजा के हितों के विपरीत हों। राजा इन संस्थाओं को संयुक्त षड्यंत्र, गैर कानूनी रूप से शस्त्र धारण, एवं पारस्परिक आक्रमण की अनुमति नहीं दे सकता।[2]

यहां प्रश्न यह उठता है कि राजा को किस सीमा तक परम्पराओं एवं रीति रिवाजों को मान्यता प्रदान करनी चाहिए। अधिकांश धार्मिक ग्रन्थों का कहना है कि अच्छी परम्पराओं को जारी रखना चाहिए। बृहस्पति का कहना है कि अनेक परम्परायें गलत होती हैं तथा परस्पर विरोधी होती हैं। उनके मतानुसार पूर्व में लोग मछलियां खाते हैं तथा स्त्रियां हर किसी के साथ संभोग कर लेती हैं। देश के मध्य में गाय भक्षण किया जाता है और उत्तर में स्त्रियां मादक द्रव्यों का पान करती हैं। इतना होने पर भी, बृहस्पति का कहना है कि समय से सम्मान प्राप्त प्रत्येक देश, जाति एवं परिवार की परम्पराओं की रक्षा की जानी चाहिए।[3] यदि ऐसा नहीं किया गया तो क्रान्ति हो जायेगी। प्रजा अपने शासक के प्रति भावहीन हो जायेगी तथा देश की सेना एवं कोष समाप्त हो जायेगा। आचार्य कौटिल्य भी इस बात से सहमत हैं कि राजा को क्षेत्र, जाति, गांव, तथा अन्य संगठनों के परम्परागत धर्म के अनुकूल ही कानून का निर्धारण करना चाहिये किन्तु फिर भी उसे उन परम्पराओं को मिटा देना चाहिये जो कि उसके हितों के

1. गौतम, X, १६–२२.
2. नारद, X, ४–५.
3. बृहस्पति II, २८

विरुद्ध है या औचित्य के विपरीत हैं। इन परम्पराओं के स्थान पर राजा को उचित नीतियां अपनाना चाहिए।[1]

इस प्रकार प्राचीन भारतीय ग्रन्थों ने इस बात पर जोर दिया कि राजा को धर्म के अनुसार शासन करना चाहिए। धर्म का एक स्रोत उसके राज्य की औचित्यपूर्ण परम्परायें एवं रीतिरिवाज हैं।

प्राचीन भारतीयों ने मनुष्य जीवन के लक्ष्य के रूप में त्रिवर्ग को मान्यता प्रदान की थी। धर्म अर्थ एवं काम तीनों का सन्तुलन ही जीवन में वांछनीय माना गया था। इन तीनों में भी धर्म का स्थान सर्वोच्च था। कौटिल्य के मतानुसार यदि कभी भी धर्मशास्त्र तथा सामान्य व्यवहारों के बीच अथवा धर्म एवं राज्य के बीच संघर्ष उत्पन्न हो जाय तो राजा को धर्म के आधार पर निर्णय लेना चाहिये। कानून के दो स्रोत माने गये धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र। इन दोनों के बीच भिन्नता उत्पन्न होने पर धर्म शास्त्र द्वारा समर्थित नियमों का उपयोग करना चाहिये। धर्म व्यवहार चरित्र एवं राज्यानुशासन को कानून का आधार अथवा स्रोत माना गया था। यदि कभी इनके बीच संघर्ष पैदा हो जाय तो धर्म के अनुरूप ही उस विषय पर निर्णय लिया जाता था।

धर्म एवं दण्डनीति का सम्बन्ध

(Relationship Between Religion and Dandniti)

धर्म का प्रभाव राज्य के प्रत्येक पहलू पर था और इस रूप में यह मानना युक्ति संगत है कि प्राचीन भारत में दण्ड व्यवस्था का आधार मुख्य रूप से धर्म ही था। राजा से यह आशा की जाती थी कि वह दण्ड का प्रयोग धर्म के आधीन रह कर करेगा। धर्म के विपरीत अथवा धर्म की उपेक्षा करके दण्ड देने वाला राजा स्वेच्छाचारी बन जाता था और इस रूप में वह अपनी लोकप्रियता खोने लगता था। जो राजा अपराधी के अपराध का निश्चय एवं उसके लिए यथोचित दण्ड की व्यवस्था के लिए धर्मादेशों से ही मार्ग दर्शन प्राप्त करता था उस राजा को धर्मविचार कहा जाता था। विष्णु पुराण के अनुसार जो राजा न्याय की स्थापना के लिए दण्ड का प्रयोग करता है उस राजा के यश का विस्तार होता है।[2]

प्राचीन ग्रन्थों ने प्राय राजा को दण्ड से ऊपर माना है। दण्ड राजा के द्वारा दिया जाता है किन्तु राजा को दण्ड नहीं दिया जा सकता। नारद की मान्यता के अनुसार राजा कभी भी कोई गलती नहीं कर सकता है और इसलिए वह शारीरिक या अन्य किसी भी प्रकार के दण्ड का भागीदार नहीं हो सकता। दण्ड का लक्ष्य राजा की आज्ञाओं का पालन कराना होता है। जो लोग राजा की आज्ञा का पालन नहीं करते हैं उनको दण्ड देकर ऐसा करने के लिए मजबूर किया जा सकता है। राजा की आज्ञायें प्राय धर्मानुकूल होती हैं तथा इनका उद्देश्य जनकल्याण होता है अतः दण्ड का उद्देश्य अप्रत्यक्ष रूप से धर्म

1　कौटिल्य अर्थशास्त्रम् III ७, XIII ५.

2　विष्णु पुराण ३।२२।११, १९० ६६

की रक्षा एवं स्थापना है। नारद ने राजा को शक्ति के स्थान पर न्याय का समर्थन करने का परामर्श दिया है। याज्ञवल्क्य आदि विद्वानों ने शास्त्र की आज्ञा को ही राजा की आज्ञा माना है। कामन्दक तथा शुक्र आदि आचार्यों ने राजा की आज्ञा तथा दण्ड दोनों को ही धर्म पर आश्रित माना है। ये विचारक जनता की भलाई एवं कल्याण को सर्वाधिक महत्व प्रदान करते हैं। ये दण्ड को राजा की शक्ति मानते हैं किन्तु इस शक्ति का उद्देश्य धर्म है।

धर्म एवं दण्ड के मध्य स्थित सम्बंध को एक अन्य प्रकार से भी समझा जा सकता है। धर्म को प्राचीन शास्त्र कर्त्तव्य के रूप में परिभाषित करते हैं। एक व्यक्ति का जो कर्त्तव्य है वही उसका परम धर्म है। कर्त्तव्य रूपी इस धर्म का पालन प्रत्येक व्यक्ति द्वारा केवल दण्ड के भय से किया जाता है। माता-पिता, वृद्ध, गुरुजन, अतिथि आदि के प्रति कोई भी कर्त्तव्य तभी सम्पन्न किया जाता है जबकि उसके पीछे किसी न किसी प्रकार का भय काम करता है। दण्ड के भय से ही व्यक्तियों के बीच व्यवस्था बनी रहती है तथा प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्त्तव्य के प्रति सजग रहता है। महाभारत के अर्जुन का कहना है कि "कितने ही पापी राजदण्ड के भय से पाप नहीं करते हैं। कुछ लोग यमदण्ड के भय से, कोई परलोक के भय से, और कितने ही पापी आपस में ही एक दूसरे के भय से पाप नहीं करते हैं। जगत की ऐसी ही स्वाभाविक स्थिति है अतः सब कुछ दण्ड में ही प्रतिष्ठित है।[1]" राज्य में कोई भी अपना कर्त्तव्य उस समय तक नहीं करता जब तक कि उसके सर पर दण्ड का आतंक न छाया रहे।

गीता में प्रतिपादित कर्म का सिद्धान्त प्रत्येक व्यक्ति को स्वधर्म करने का संदेश देता है। स्वयं का धर्म चाहे कितना ही गर्हित क्यों न हो उसे करना ही श्रेयस्कर है तथा दूसरे का धर्म चाहे कितना ही अच्छा प्रतीत होता हो उसका पालन करना अनुचित है। अपना कर्त्तव्य पहचान कर उसी को सम्पन्न करने का व्यक्ति का संकल्प न केवल व्यक्तिगत रूप से ही शुभ है वरन् यह समाज की व्यवस्था एवं राजा के कल्याण का भी प्रतीक है। यदि कोई अपने धर्म का पालन नहीं करता तो वह दण्ड का पात्र होगा। मनु के कथनानुसार "यदि पिता, माता, मित्र, गुरु, पुत्र, पत्नी, पुरोहित आदि में से कोई भी अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता है तो उसको बिना दण्ड दिये नहीं छोड़ा जा सकता।"[2] शुक्र ने भी इसी प्रकार का मत प्रकट करते हुए कहा है कि सम्प्रभुता के हथियार का घातक प्रयोग करते हुए लोगों को उनकी मर्यादा में ही बनाये रखा जाये।[3]

इस प्रकार समाज में कर्त्तव्यों को दण्ड के द्वारा लागू किया जाता है। दण्ड ही कानूनों को सहारा देता है। एक राज्य में निवास करने वाली प्रजा के लिए कर्त्तव्य रूपी धर्म कानून बनकर आता है। इस कानून का पालन करना

---

1. महाभारत, 55, 5-6, P. 4454
2. मनुस्मृति, VII, 335
3. शुक्रनीति—I, 120; IV, iii, 15

प्रत्येक व्यक्ति अपना कर्त्तव्य मानता है तथा इसका उल्लंघन करने पर राजा को प्रभुशक्ति इसका दण्ड देती है। महाभारत के अनुसार ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यासी ये सभी मनुष्य दण्ड के ही भय से अपने मार्ग पर स्थिर रहते हैं।[1] धर्म के माध्यम से ही एक राजा अपने नागरिकों को सुसंस्कृत बनाने का प्रयास करता है। व्यवस्थापन न्यायाधिकरण एवं कर्त्तव्यों को प्रभावी बनाकर राजा मनुष्य को अनीतियों के कानून से बाहर लाता है। राजा व्यक्ति के सर्वोच्च शुभ की वृद्धि का एक साधन है तथा वह दण्ड नीति का सहारा लेकर लोगों को नैतिकता का प्रशिक्षण प्रदान करता है।

धर्म को कानून के रूप में मानने पर भी यह राजा के ऐश्वर्य अथवा स्वामित्व का मूल आधार बन जाता है। धर्म को चाहे तो नैतिक अर्थ में लिया जाय अथवा स्थापित परम्परा के रूप में अथवा एक सत्ता द्वारा प्रसारित आदेश के रूप में, यह स्पष्ट है कि धर्म भी दण्ड की भाँति राज्य के जीवन का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। मि० विनय कुमार सरकार ने दण्ड और धर्म का पारस्परिक सम्बन्ध बड़े ही सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है। उनका कहना है कि दण्ड और धर्म दोनों ही राजनैतिक जीवन के दो पहलू हैं। कहने का अर्थ यह है कि एक के द्वारा असफलताओं की ओर देखा जाता है जबकि दूसरा विजय की ओर देखता है। इसी बात को दूसरी तरह से यों कहा जा सकता है कि दण्ड एक वृक्ष की जड़ है तथा वह धर्म के रूप में फलित होता है। राजा को सकारात्मक रूप में उसके धर्म से पहचाना जाता है जो कि प्रमाण स्वरूप रहता है जबकि दण्ड का महत्त्व पीछे में ज्ञात होता है।[2]

धर्म और दण्ड के समन्वय को प्राचीन भारतवासियों ने परम आवश्यक माना था। समन्वय न होने पर दोनों ही अपने-अपने उद्देश्यों को प्राप्त नहीं कर पाते। धर्म के अभाव में दण्ड आततायी तथा जनहित विरोधी बन जाती है, दूसरी ओर दण्ड के अभाव में धर्म प्रभावहीन हो जाता है। यदि हम दण्ड को संस्कृति के विकास की एक संस्था बनाना चाहते हैं अथवा धर्म को मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य बनाना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि दोनों का समन्वय कर दिया जाय।

भारतीय इतिहास का तथ्यगत अध्ययन करने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि अनेक राजाओं ने अपनी शक्ति का प्रयोग स्वच्छन्दपूर्ण रूप से किया था

---

1 महाभारत, 55/12/P 4454.

2 Danda and Dharma are indeed the two faces of the political Janus so to speak the one looking to the failures, the other to the triumphs, or to express the same thing in a different way, Danda is the root of a tree which flowers in Dharma. The state can be recognised positively by Dharma which is in evidence, while danda maintains its vitality from behind
—Benoy Kumar Sarkar, The Political Institutions and Theories of the Hindus, 1922, P. 210

तथा दण्ड का प्रयोग भी अपने स्वार्थ तथा मनमानी से प्रभावित होकर किया था;किन्तु इस सम्बंध में यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि यह सब उन्होंने स्वयं जोखिम उठा कर ही किया। प्राचीन ग्रन्थों के लेखक तो राजा को सदा ही औचित्यपूर्ण मार्ग अपनाने की सलाह देते रहे हैं। ऐसा न करने पर राजा को दण्ड प्रदान करने की भी व्यवस्था की गई थी। महाभारत में आये एक वृतान्त के अनुसार जब अत्याचारी राजा वेन के पुत्र को देवताओं एवं ऋषियों ने राजा बनाया तो उससे पहले यह कसम खाने को कहा गया कि वह जिस कार्य मे नियमपूर्वक धर्म की सिद्धि होती है उस कार्य को करे। प्रिय तथा अप्रिय का भेद छोड़ कर काम, क्रोध, लोभ और मान को दूर हटा कर समस्त प्राणियों के प्रति समभाव रखे। संसार में जो कोई भी व्यक्ति धर्म से विचलित हो उसे सनातन धर्म पर दृष्टि रखते हुए अपने बाहुबल से परास्त करके दण्ड दे।[1] इस वृतान्त से दण्ड एवं धर्म के बीच स्थित दो प्रकार का सम्बंध हमारे सम्मुख स्पष्ट होता है–

(१) दण्ड का प्रयोग केवल धर्म की स्थापना के लिये ही किया जाये; अर्थात जब एक व्यक्ति धर्म का उल्लंघन कर रहा है तो उसे दण्ड देकर सही पथ पर लाया जाये। इस प्रकार दण्ड का उद्देश्य धर्म की स्थापना है।

(२) धर्म विरोधी व्यक्ति को जो दण्ड दिया जायेगा वह भी धर्म के अनुकूल ही होगा। राजा अपनी स्वेच्छा का प्रयोग करते हुए मनमाना दण्ड नहीं दे सकता। वेन कुमार ने यह भी कसम ली थी कि वेद में दण्ड नीति से सम्बध रखने वाला जो नित्य धर्म बताया गया है उसका वह निःशङ्क होकर पालन करेगा तथा कभी स्वच्छन्द नहीं होगा।[2]

धर्म शास्त्रों एवं आचार्यो की मान्यता के अनुसार यदि न्याय की उचित व्यवस्था नहीं है तथा दण्ड एवं धर्म के बीच सहयोगपूर्ण सम्बंध नही है तो वह राजा एव उसकी राजधानी दोनों ही पाप के भागी माने जायेंगे। अन्याय-पूर्वक शासन करने वाले राजा के लिए स्वर्ग के दरवाजे बन्द हो जाते हैं। इस अन्याय के कार्य में जो भी सहयोगी बनता है वह भी राजा के साथ ही नरक में गिरता है। याज्ञवल्क्य के मतानुसार यदि राजा किसी को गैर कानूनी रूप से दण्ड देता है तो इससे वह स्वर्ग, अपनी प्रसिद्धि एवं प्रजा सभी कुछ से हाथ धो बैठता है।[3] दण्ड का लक्ष्य दुष्ट पुरुषों का दमन करना है और इस प्रकार धर्म-शीलता को बढ़ावा देना है। जो लोग अन्यायपूर्वक दूसरे लोगों को प्रभावित करके अपने भाग्य का उदय करना चाहते हैं उनको शीघ्र ही स्वयं के कार्यो का फल प्राप्त हो जाता है। महाभारत के कथनानुसार जो लोग राष्ट्र को हानि पहुँचा कर अपनी उन्नति के लिये प्रयत्न करते हैं, वे मुर्दों में पड़े हुए कीड़ों के समान उसी क्षण नष्ट हो जाते हैं।[4]

---

1. महाभारत, शान्तिपर्व, 89, 103–106
2. महाभारत, शान्तिपर्व, ५९. १०७
3. याज्ञवल्क्य,, १. ३५६
4. महाभारत, शान्तिपर्व, १३५. २१

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय राजनीति में धर्म के अनुसार ही न्याय तथा अन्याय का विचार करने के बाद दण्ड देने की व्यवस्था की गई थी। इस सम्बंध में मनमानी करने का निषेध किया गया था। दण्ड के रूप में जो भी धन लिया जाता था अथवा सम्बन्धित व्यक्ति को जो यातना दी जाती थी वह तो प्रासंगिक थी यह सब दण्ड का लक्ष्य नहीं होता था। इसका लक्ष्य था दुष्टों अर्थात् अधर्मियों का नाश करना। जुर्माने के रूप में प्राप्त धन से खजाने को भरने की लालसा नहीं रहती थी। दण्ड देते समय सदैव इस बात का ध्यान रखा जाता था कि अपराध कैसा तथा कितना है, उसी के अनुसार दण्ड की व्यवस्था की जाती थी। महाभारत में स्पष्ट उल्लेख है कि किसी छोटे से अपराध पर प्रजा का अंग भंग करना, उसे मार डालना, उसे तरह–तरह की यातनायें देना तथा उसको देश त्याग के लिए विवश करना अथवा देश से निकाल देना कदापि उचित नहीं है।[1] मनु महाराज का विचार है कि एक धर्म युक्त राजा चाहे वह कितना ही कमजोर हो शीघ्र ही संसार में प्रसिद्धि प्राप्त कर लेता है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि तेल की एक बूंद पानी में गिरने पर चारों ओर फैल जाती है।[2]

दण्ड को ईश्वर का रूप माना गया तथा यह विश्वास किया गया कि जिस प्रकार गलत कार्य करने पर ईश्वर हमको सजा देता है उसी प्रकार एक क्रूर शासक को भी भगवान के द्वारा दण्ड दिया जाता है। इस विश्वास ने स्वच्छाचारिता पर प्रतिबन्ध लगाने में अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया। जो राजा न्यायपूर्वक दण्ड का प्रयोग करेगा वह फलेगा और फूलेगा किन्तु यदि राजा ने पक्षपात पूर्वक तथा धोखेबाजी से पूर्ण व्यवहार किया तो वह स्वयं के ही दण्ड से समाप्त हो जायगा। इन्द्र अग्नि एवं अन्य देवता राजा को उसके गलत कार्यों के लिए दण्ड प्रदान करते हैं—ऐसा विश्वास किया जाता था। ईश्वर एवं धर्म के भय ने राजा को न्याय प्रिय एवं लोक हित कारी बनाने में महत्वपूर्ण योगदान किया।

दण्ड का अर्थ केवल सजा से ही नहीं था वरन् दण्ड के प्रशासन में पुरस्कार भी समाहित था। यह माना गया था कि जो क्षत्रिय दूसरी जातियों को स्वच्छ करना तथा धोबी की भांति उनके मैल को निकालना जानता है वही राजा बनने के काबिल है।

दण्ड नीति के प्रयोग के अनुसार ही युग का निर्माण होता है। भीष्म के कथनानुसार जिस समय राजा दण्ड नीति का पूरा पूरा एवं ठीक–ठीक प्रयोग करता है उस समय पृथ्वी पर पूर्ण रूप से सत्ययुग का प्रारम्भ हो जाता है इस युग में केवल धर्म ही धर्म रहता है और अधर्म का प्रभाव दूर हो जाता है। जब राजा दण्ड नीति के एक चौथाई अंश को छोड़ कर केवल तीन अंशों का अनुसरण करता है तब त्रेता युग प्रारम्भ होता है। इस युग में

---

1 महाभारत १२४ ४१

2 मनुस्मृति, VII, ३३–३४

अशुभ का चौथा अंश पुण्य के तीन अंशों के साथ लगा रहता है। जब राजा दण्ड के आधे भाग को त्याग कर आधे का अनुसरण करता है तब द्वापुर नाम का युग प्रारम्भ होता है। इस युग में पाप के दो भाग पुण्य के दो भागों का अनुसरण करते हैं। जब राजा समूची दण्ड नीति का परित्याग करके अयोग्य उपायों द्वारा प्रजा को कष्ट देने लगता है तो कलियुग प्रारम्भ हो जाता है। इस युग में अधर्म तो अधिक होता है किन्तु धर्म का पालन कहीं-कहीं पर ही देखा जाता है।[1] इस प्रकार धर्म की मात्रा दण्ड नीति के आचरण पर निर्भर करती है।

जब राजा दण्ड नीति में प्रतिष्ठित होकर प्रजा की भली भांति रक्षा नहीं करना चाहता है तो पृथ्वी के सारे रस नष्ट हो जाते हैं। जो राजा अच्छे लोगों की रक्षा करता है तथा बदमाशों को सजा देता है वह अगले जन्म में सर्वोच्च सुख की प्राप्ति करता है। राजा को न्याय देते समय किसी प्रकार का पक्षपात नहीं करना चाहिए। यदि अपराध करने वाला व्यक्ति राजा का सम्बंधी या प्रियजन है तो वह उसे क्षमा न करे। न्याय में दया को भी थोड़ा स्थान प्राप्त था किन्तु यह दया केवल सामाजिक एवं अपवाद स्वरूप ही दिखाई जाती थी सामान्य रूप से नहीं। धर्म विरोधी दया राजा की कायरता या भीरुता का भी प्रतीक बन सकती थी अतः उसको कम से कम ही अपनाने का परामर्श दिया गया था।

धर्म और दण्ड के पारस्परिक सम्बंध के बारे में एक महत्वपूर्ण बात यह है कि प्राचीन भारतीय विचारकों ने दण्ड के अभाव में राज्य के अस्तित्व को मानने से भी इन्कार कर दिया था। इनका कहना था कि राज्य केवल इसीलिए राज्य है क्योंकि वह लोगों को दबा सकता है, प्रतिबान्धित कर सकता है और उनको मजबूर कर सकता है। यदि समाज से दबावकारी तत्व को समाप्त कर दिया जाये तो राज्य भी अपने आप समाप्त हो जाता है। दण्ड नहीं है तो राज्य भी नहीं होगा। दण्ड विहीन राज्य शब्दों का विरोध है। दण्ड के अभाव में मत्स्य न्याय कायम रहता है। व्यक्ति उस प्राकृतिक अवस्था में पहुँच जाता है जिसका वर्णन हॉब्स द्वारा किया गया था। इस प्राकृतिक अवस्था में न तो सम्पत्ति रह सकती है और न ही धर्म रह सकता है। इन दोनों तत्वों की जड़ केवल राज्य में ही निहित रहती हैं। मनुष्य स्वाभाविक रूप से दुराचारी होता है उसे शिक्षा एवं अनुशासन की आवश्यकता होती है। विनय कुमार सरकार के अनुसार "प्राचीन शासक मनुष्य की स्वाभाविक दुराचारी प्रकृति को समझते थे अतः उन्होंने मानवीय प्रवृत्तियों तथा लालसाओं को अनुशासित करने तथा परिवर्तित करने के लिए नैतिक नियम, कानून एवं संस्थाओं की स्थापना की।[2]

---

1. महाभारत, शान्ति पर्व, ६६. ८०-६२
2. The ancient rulers understood the native viciousness of native man, and therefore created morals, laws and institutions in order that human instincts and impulses might be disciplined and transformed.

—B.K. Sarkar, op. cit., P. 198.

महाभारत के अनुसार सर्व प्रथम न राज्य था न प्रशासक थे न दण्ड था और न हो उसको काम में लाने वाला कोई था। लोग एक दूसरे की रक्षा अपनी आन्तरिक औचित्य की भावना से करते थे। किन्तु यह अधिक स्थायी नहीं होता है। मनुष्य की प्रबलतम भावना तो यह कि दूसरों का उखाड़ कर फेंक दिया जाय। यदि दुनिया को उसके स्वाभाविक रूप में ही छोड़ दिया जाय तो शीघ्र ही एक मत्स्यन्याय सी मच जायेगी। जो व्यक्ति सूर्य एवं चन्द्रमा के होने पर एक दूसरे को देख भी नहीं पाते वे अपने आपको सृष्टि का रचयिता मानने लगते हैं।

मनुष्य दूसरों के अधिकार का सम्मान इसलिए नहीं करता कि उसमें अधिकारों प्रति के सम्मान की भावना है वरन् इसलिए करता है कि उन अधिकारों के पीछे स्थित दण्ड का भय रहता है। कमजोर व्यक्तियों की पत्नि बच्चे तथा भोजन को शक्तिशाली व्यक्तियों द्वारा छीन लिया जाता है। मनुष्य केवल एक ही अधिकार को मान्यता देता है और वह है शक्ति का अधिकार। शक्ति के अभाव में कोई उचित अधिकार भी महत्व नहीं रखता और शक्ति के साथ होने पर अनुचित बात भी अधिकार बन जाती है। इस प्रकार औचित्य या धर्म या व्यक्ति का अधिकार उस समय तक कोई महत्व नहीं रखता जब तक कि उसके पीछे दण्ड की शक्ति न हो। दण्ड के माध्यम से ही राज्य मानवीय दोषों को सुधारना चाहता है तथा पूर्ण एवं उच्च जीवन की स्थापना के लिए मार्ग प्रशस्त करता है। यदि दण्ड उसके पास न हो तो वह इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकता।

राजनीति एवं नीति शास्त्र का सम्बन्ध

(The Relationship Between Politics & Ethics)

जिस प्रकार धर्म एवं राजनीति का पारस्परिक घनिष्ट सम्बन्ध है उसी प्रकार नीति शास्त्र का भी राजनीति से गहरा सम्बन्ध रहता है। नीति शास्त्र के अनुसार यह स्पष्ट किया जाता है कि क्या कार्य उचित है तथा क्या कार्य अनुचित है? व्यक्ति को क्या करना चाहिए तथा क्या नहीं करना चाहिए। कार्य का औचित्य प्राचीन भारतीय राजनीति में पर्याप्त महत्वपूर्ण था। अनुचित कार्य करने वाले को दण्ड देने की व्यवस्था की गई थी। उचित कार्य को राजा के द्वारा प्रोत्साहन प्रदान किया जाता था। अनैतिक कार्य को करने से न केवल व्यक्ति का स्वयं का पतन होता था वरन् समाज की व्यवस्था भी उसके प्रभाव स्वरूप गड़बड़ हो जाती थी, ऐसी स्थिति में यह उचित समझा गया कि राज्य अनैतिक कार्यवाहियों पर रोक लगाये। राज्य के कार्यों का उल्लेख करने वाले आचार्यों ने जहाँ व्यावहारिकता को महत्व दिया है वहाँ उन्होंने कार्य के औचित्य एवं नैतिक पक्ष पर भी पर्याप्त जोर डाला है। राजा के कार्यों का वर्णन करते समय इन आचार्यों ने प्रायः ऐसे ही कार्य गिनाये हैं जो कि राजा को करने चाहिये तथा जिनके करने से नैतिक स्तर कायम होता है।

वैसे एक समाज की नैतिक मान्यतायें उसके इतिहास, धर्म, परम्परा रीतिरिवाज, संस्कृति आदि अनेक तत्वों से प्रभावित रहती हैं। यही

कारण है कि प्रत्येक युग के नैतिक मूल्य विशेष होते है। इन बदले हुए नैतिक मूल्यो के अनुसार ही राज्य की नातियों को तय किया जाता है। प्राचीन भारत के राजनीतिक विचारको ने युगों के बदलते हुए नैतिक मूल्यों का पर्याप्त ध्यान रखा और उन्ही के अनुरूप राज्य के कर्त्तव्यों का निर्धारण किया। इस दृष्टि से महत्वपूर्ण एक बात यह है कि प्राचीन भारतीयों ने राजा को भी एक इंसान माना था। उनकी दृष्टि से राजा भी गलती कर सकता था। राजा का प्रत्येक कार्य उचित हो ऐसा वाछनीय होते हुए भी सदैव सम्भव नही हो पाता। ऐसी स्थिति से राजा का कोई भी कार्य केवल इसलिए उचित या सही नही ठहराया जा सकता कि वह राजा द्वारा किया गया है किन्तु ऐसा तभी किया जा सकता था जबकि वह कार्य समाज द्वारा स्थापित नैतिक मापदण्डों पर खरा उतरता हो। शुक्रनीति सार के अनुसार एक सद्गुण सम्पन्न एवं धर्मात्मा राजा देवताओं के समान है और यदि राजा ऐसा नही है तो वह शैतान है, धर्म का शत्रु है और प्रजा का दमनकर्ता है।

राजनीति एवं नैतिकता के मध्य स्थित सम्बन्ध के बारे में कोई भी एक निर्णय दे सकना न तो सम्भव हे और न उचित ही। एक प्रचलित कहावत के अनुसार राजनीति कोई नैतिकता न ी जानती। यह बात प्राचीन भारत में भी उतनी ही सही थी जितनी कि आज है। भारतीय राजनीतिज्ञों ने नैतिकता के व्यक्तिगत एव सामाजिक स्तरों मे भेद किया है, जो बात एक व्यक्ति के लिए नैतिक हो सकती है वह समाज के लिए अनैतिक सिद्ध हो सकती है। इसका उल्टा भी संभव है। राज्य अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने में ऐसे साधन अपनाने के लिए बाध्य हो सकता है जो कि व्यक्तिगत स्तर पर अनैतिक माने जाते हैं। राज्य के अन्तर्गत अनेक व्यक्तियों का जीवन आता है अतः वह इसकी सुरक्षा एवं प्रगति के लिए कई एक अनैतिक कहे जाने वाले साधनों को भी अपना सकता है।

प्राचीन भारतीय राजनीति में ऐसे कई एक साधनों को प्रयुक्त करने का समर्थन किया गया है जो कि अनैतिक दिखाई देते हैं। शुक्रनीति मे राजकुमारों के सम्बन्ध में कूटनीति का प्रयोग करने की बात कही गई है। उसके मतानुसार यदि कोई राजकुमार दुश्चरित्र है तो उसको व्याघ्र द्वारा, शत्रुओं द्वारा अथवा छल के द्वारा मरवा देना चाहिए ताकि राज्य की उन्नति की जा सके।[1] धन सग्रह के लिए इस बात का समर्थन किया गया है कि राजा किसी भी अधर्मशील राजा का धन हर ले। ऐसा करने के लिए वह छल, बल तथा दस्यु वृत्तियों को अपना सकता है।[2] शत्रु की सेना को किस प्रकार से अपने पक्ष मे मिलाया जाये इसके सम्बन्ध में यह कहा गया है कि शत्रु के सैनिकों के बीच झूठा सोना बांट दिया जाये और इस प्रकार उनके बीच में भेद डाल दिया ज ये। जब शत्रु की सेना में पूर्ण विश्वास पैदा हो जाये तो उसे सोते हुए समाप्त कर दिया जाये। इस प्रकार के उपायो का वर्णन करते हुए उद्देश्य

1. शुक्रनीति, ४/२८
2. शुक्रनीति, ४/२२

की ओर ध्यान रखा गया था। यह विश्वास किया जाता था कि यदि उद्देश्य अच्छा है तो उसको प्राप्त करने के साधन चाहे कैसे भी हों वे स्वतः ही ठीक बन जायेंगे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा महाभारत के शान्तिपर्व में इस प्रकार के अनेक साधनों का वर्णन किया गया है। कौटिल्य के कथनानुसार यदि राजा के एक ही पुत्र हो तथा वह अधार्मिक सिद्ध हो जाये तो उसको बन्दी बना लिया जाय। यदि राजा के अनेक पुत्र हैं और उनमें से कोई भी अधार्मिक या मूर्ख निकल जाता है तो उसको या तो देश निकाला दे दिया जाये अथवा उसको मरवा डाला जाय।[1]

राजकुमार को केकड़े के समान पिता का भक्षक बताया गया है। यदि राजकुमार विद्रोह कर दे तो उसको मारने, बन्धन में डालने, विभिन्न दुर्व्यसनों में फंसाने तथा अन्य लोगों द्वारा उनकी निगरानी रखने की बात कही गई है। इसी प्रकार जब एक राजकुमार से उसका पिता नाराज हो जाये तो राजकुमार को क्या करना चाहिए इसका वर्णन किया गया है। यह बताया गया है कि यदि राजपुत्र को प्राणों का डर न हो तो वह किसी सामन्त का आश्रय ले तथा वहाँ रहकर सेना तथा धन एकत्रित करे और विवाह, संधि एवं विग्रह आदि माध्यमों से अपने पक्ष को सबल करे। दुश्चरित्र लोगों के धन को हरने की भी बात कही गई है। निष्कासित राजकुमार अपनी शक्ति बढ़ाने के बाद भेष बदल कर राजा से मिले और उसको शस्त्र से तथा जहर देकर के मार डाले। दुष्ट राजकुमार को यदि राजा देश निकाला दे देता है तो इससे उसका एक शत्रु पैदा होने की सम्भावना बन जाती है। अतः इससे पहले कि वह निष्कासित राजकुमार अपनी शक्ति का संग्रह करे, उसे राजा द्वारा गुप्तचरों से विष देकर या शस्त्र के सहारे मरवा दिया जाये। यदि उस राजकुमार को निकाला नहीं गया है तो उसे उसी के साथियों द्वारा अथवा स्त्री, शराब एवं शिकार के बहाने पकड़ कर बन्द करा दिये जायें। राजा की रक्षा के लिए अनेक साधन बताये गये हैं। यह कहा गया है कि जब कभी राजा को अपने विरुद्ध षड्यन्त्र का खतरा हो तो उसे किसी अन्य व्यक्ति को राजा बनाकर लोगों के सामने करना चाहिए। यदि विद्रोह राजकुमार की ओर से किया जाये तो उसे किसी शत्रु देश पर चढ़ाई करने को भेज दिया जाये। यदि कोई सामन्त राजा का विरोध कर रहा है तो जंगली जातियों के किसी सरदार को उसके विरुद्ध उभाड़ कर विरोध करा दिया जाये। विद्रोही सामंतों को बुलाकर धोखे से मारने का भी समर्थन किया गया है।

इसी प्रकार के और भी अनेक उपाय बताये गये हैं जिनके द्वारा भ्रष्ट अधिकारियों को मारा जा सकता है तथा विरोधी नगरों, कुलों एवं गांवों को समाप्त किया जा सकता है। विरोधियों को समाप्त करने के लिए उनके बीच कलह स्थापित किया जाये, उनके ऊपर तरह तरह के दोष लगाये जायें, उनको धोखे से शस्त्र द्वारा, जहर द्वारा अथवा अन्य किसी साधन से मार दिया जाये। कौटिल्य ने अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों में विषकन्याओं के उपयोग पर भी पर्याप्त

1 कौटिलीय अर्थशास्त्रम् १३/१७

जोर डाला है। गणिकाओं को भी इन कार्यों के लिए साधन बनाया जा सकता है। शत्रु राज्य के अधिकारियों को तथा राज्य के विरोधियों को प्रमादित करके उनको मारने के लिए गणिकाओं को प्रयुक्त करने में कोई एतराज नहीं किया जाता था।[1] शराब पीने के स्थानों पर किस प्रकार छल और कपट की नीतियां व्यवहृत करनी चाहिए इसका भी विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। अपराधी की राजा द्वारा किस प्रकार खोज की जाये तथा उसका किस प्रकार प्रतिकार किया जाये इस सम्बन्ध मे भी विस्तार पूर्वक लिखा गया है। राजकोष को समृद्ध बनाने के लिए अनेक तरीकों का उल्लेख किया गया है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र के दुर्गलम्भोपाय नामक तेरहवे प्रकरण मे ऐसे अनेक उपायों का वर्णन किया है जिनको अपनाकर शत्रु पक्ष में निराशा उत्पन्न की जा सकती है। शत्रु पक्ष मे अपनी विजय का विश्वास फैला कर फूट डाली जा सकती है। विरोधी पक्ष के कुछ लोगों को अपने साथ मिलाया जा सकता है। दुश्मन को धोखे से मारने के लिए अनेक उपायों का वर्णन किया गया है जिनको अपनाना यद्यपि नैतिकता की दृष्टि से अनुचित है किन्तु उनको एक कुशल राजनीतिज्ञ की विशेषतायें माना गया।

कौटिल्य ने महामात्य को राजा के विरुद्ध करने के अनेक कपटपूर्ण उपायों का वर्णन किया है। दुर्गपालों तथा कर-संग्रह कर्ताओं एवं जनता के बीच फूट डालने के उपायों का उल्लेख है। राज्य मे अशान्ति एव विद्रोह की आग भड़काने के बाद "तीक्ष्ण गुप्तचर अन्तःपुर, पुरद्वार, द्रव्य परिग्रह और धान्य परिग्रह आदि को जला डालें तथा उन स्थानों के रक्षकों को मार डालें। इसके बाद स्वयं इस घटना के लिए दुःख प्रकट करें और इस कार्य को नगर या गांव वालों द्वारा किया हुआ बताये। सत्रु पक्ष के सेनापतियों को भी इसी प्रकार के उपायों द्वारा मारा जा सकता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र का अधिकाश भाग राजनीति की अखाड़ेबाजी के इन्हीं दांव पेचों से भरा हुआ पड़ा है। इनको हम नैतिकता के किसी भी मापदण्ड पर उपयुक्त नहीं ठहरा सकते।

---

1. संघ वृत्त नामक ग्यारहवें अधिकरण में चाणक्य ने संघों में फूट डालने के अनेक उपाय बताये हैं। कहा गया है कि "कुलटा स्त्रियों का पालन-पोषण करने वाले या प्लवक नट, नर्तक और सौभिक वेश में रहने वाले गुप्तचर अत्यन्त सुन्दरी यौवन-सम्पन्न स्त्रियों के द्वारा संघमुख्यों को प्रमादी बनाये। जब स्त्रियों में बहुत से संघमुख्यों की आसक्ति हो जाये तो उनमें से किसी एक को किसी सांकेतिक स्थान पर स्त्री से मिलने का वायदा कर, ठीक समय पर उस स्त्री को वहां से किसी दूसरे संघ मुख्य के द्वारा अन्यत्र भिजवा दें या उसके द्वारा अपहरण करा दें और बाद में इसी निमित्त उन संघमुख्यों का परस्पर झगड़ा करा दें। झगड़ा होने पर तीक्ष्ण गुप्तचर उनमें से किसी एक संघमुख्य को मार डालें और बाद में यह अफवाह उड़ादे कि एक कामी पुरुष ने दूसरे कामी पुरुष का वध कर डाला है।"
—कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, प्रकरण १६०-१६१, अध्याय एक, भेदक प्रयोग और उपांशु दंड, पेज ८२५

केवल अर्थशास्त्र ही नहीं वरन् दूसरे प्राचीन भारतीय राजनीति के ग्रन्थों ने भी व्यावहारिक राजनीति व छलकपटपूर्ण व्यवहारों का उल्लेख किया है। महाभारत का शान्ति पर्व संकटकाल में राजा को यह अधिकार देता है कि वह प्रजा को कष्ट प्रदान कर सके तथा ऐसा करने से रोकने वाले को जान से मार दे। कोष इकट्ठा करने के लिए दूसरों के धन को लूटना, छीन-झपट करना, अधिक कर लेना आदि तरीके अपनाने का सुझाव दिया गया है। यह कहा गया है कि आवश्यकता के समय राजा इस प्रकार से भी धन निकाल सकता है जिस प्रकार निर्जल स्थान में से भी व्यक्ति जल निकाल लेता है। शान्ति पर्व का अध्याय १४० भी कौटिल्य के अर्थशास्त्र की तरह से कूटनीतिक व्यवहार को छल, कपट एवं धूर्ततापूर्ण बनाता है। यह व्यवहार धर्मशास्त्रों में वर्णित आचार व साधारण नियमों से भी बहुत कुछ गया बीता है।

इस प्रकार जब हम प्राचीन भारतीय राजनीति के प्रसंग में नीति एवं राजनीति के सम्बन्ध का अध्ययन करें तो केवल एक ही पक्ष पर ध्यान न दें वरन् दूसरे पक्ष के प्रति भी परिचित रहें। यह ठीक है कि प्राचीन भारतीय ग्रन्थकारों एवं आचार्यों ने राजनीति को धर्म के आधीन रखकर तथा धर्म की स्थापना का एक साधन बनाकर उसे औचित्य के मार्ग पर अग्रसर होने का सन्देश दिया किन्तु साथ ही यह भी सच है कि उन्होंने अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों के सचालनार्थ तथा देश में व्यवस्था की स्थापनार्थ जिस कूटनीति का उल्लेख किया वह किसी भी हालत में नैतिक नहीं कही जा सकती। असल में भारतीय विचारकों ने इन कूटनीतिक तरीकों का वर्णन करते समय केवल उद्देश्य पर ही जोर दिया है साधनों के औचित्य पर नहीं। एक अच्छे लक्ष्य की सिद्धि के लिए वे कोई भी साधन अपनाने की बात कहते हैं।

डा० सुरेन्द्रनाथ मतील के कथनानुसार भारतीय ग्रन्थों द्वारा इन कूटनीतिक उपायों को अपनाने का समर्थन पाँच विषयों में किया गया है—

१ संकट काल के समय कोष एकत्रित करने के लिए,
२ राज्य के अधिकारियों की खोज करने तथा उनको पकड़ने के लिए,
३ राज्य के अपराधियों की खोज करने के लिए तथा उन्हें पकड़ने के लिए;
४. राजद्रोही चाहे वह राजकुमार हो, सामन्त हो कर्मचारी हो अथवा प्रजा हो को नष्ट करने के लिए, तथा
५ अधर्मी राजा एवं शत्रु के साथ प्रयुक्त की जाने वाली राजनीति के लिए।[1]

कूटनीति के ये समस्त रूप व उपर्युक्त स्थितियों में केवल तभी अपनाये जाने को कहा गया था जबकि नैतिक उपाय प्रभावहीन बन जायें। राष्ट्रीय एवं

1. डा० सुरेन्द्र नाथ मीतल, समाज और राज्य : भारतीय विचार हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, १९६७, P. ४६४

सामाजिक स्तर पर नैतिकता के नाते किये जाने वाले बलिदान की मात्रा सीमित होती है तथा जो भी बलिदान किया जाता है उसका परिणाम अच्छा निकलता हो यह भी आवश्यक नहीं है। व्यक्तिगत स्तर पर एक मनुष्य अपने नैतिक मूल्यों की साधना में अपना सर्वस्व यहां तक कि जीवन भी त्याग सकता है, किन्तु किसी भी नैतिक मान्यता के पीछे समाज के जीवन को बलिदान करने का हक किसी को नहीं है। समाज के हित के लिए अपनाये गये साधनों की नैतिकता का निश्चय ही इस आधार पर किया जाता है कि वे अपने लक्ष्य की प्राप्ति में कितने सफल रहे। यदि एक राजा नैतिक मूल्यों के पीछे समाज एवं राज्य की जनता के हितों की परवाह न करे तो निश्चय ही वह राज्य एव समाज दोनो ही पतनशील हो जायेंगे। बाद में जिस राज्य की स्थापना होगी वह उन नैतिक मूल्यों की धज्जियां बखेर कर रख देगा। जिनके पीछे कि पूर्ववर्ती राज्य ने नागरिकों के हितों का बलिदान कर दिया। इस प्रकार ये कूटनीतिक साधन अनैतिक लगते हुए भी वस्तु स्थिति की मजबूरी का परिणाम बन जाते है। इन कारणो के उत्पन्न होने पर भी नैतिकता की दुहाई देने से कुछ समय बाद नैतिकता स्वयं ही समाप्त हो जायेगी। यह विरोधाभास सा लगते हुए भी एक व्यावहारिक वास्तविकता है। यही कारण है कि भारतीय ग्रन्थकारों ने अन्तिम अवस्था में इन उपायों को प्रयोग करने की भी अनुमति दी जबकि और कोई उपाय कारगर सिद्ध न हो रहा हो।

आपत्ति काल के लिए बताई गई किसी भी व्यवस्था को हम नैतिकता के मापदण्डों पर नहीं कस सकते। नैतिक निर्णय प्रायः उन्ही कार्यो पर दिया जा सकता है जो कि कर्त्ता की स्वेच्छा के परिणाम है तथा जिन्हें सम्पन्न करते समय वह किसी भी बाहरी दबाव में नही था। यदि संकट काल में कोष एकत्रित करने के लिए राजा द्वारा कोई दबाव या जबर्दस्ती का तरीका अपना लिया जाता है तो हम उसको गलत नहीं मान सकते। परिस्थितिवश अपनाये गये इन तरीकों को स्थायी व्यवस्था नहीं माना गया था। कौटिल्य ने स्वयं ही यह बात स्पष्ट की है कि कोष खाली होने के कारण जब आपत्ति आये तभी यह करना चाहिए। ये उपाय बरतना इसलिए भी जरूरी हो जाता था क्योंकि कोई भी कर दुबारा न लेने की बात कही गई थी। यह भी कहा गया था कि कोई कर इतना अधिक न लिया जाये कि जनता को कष्ट हो। ऐसी स्थिति में कोष को पूरा करने के लिए अनैतिक साधनों को अपनाने के अतिरिक्त कुछ किया भी नही जा सकता था। इन साधनो के अपनाने पर प्रजा द्वारा यथा सम्भव कम बोझ का अनुभव किया जाता था तथा केवल अधार्मिक तथा दोष पूर्ण व्यक्तियो को ही इन कार्यो का शिकार बनाया जाता था। भागा हुआ राजकुमार भी जब धन का संग्रह करे तो उसे चरित्रहीन, वेदहीन ब्राह्मण, पाखण्डी समुदाय आदि से यह सब करना चाहिए।

यहां एक बात ध्यान मे रखने योग्य यह है कि शुक्र नीति एवं शान्ति-पर्व आदि द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया है कि यदि राजा आपत्ति काल मे धनिकों से अधिक धन ग्रहण करता है तो आपत्ति समाप्त हो जाने पर उसे वह

धन ब्याज मांगे उनको लौटा देना चाहिए।[1] अनैतिक उपाय अपनाने का दूसरा अवसर भी भर्त्सना का विषय नहीं बन सकता। राज्य के अपराधियों को पकड़ने में यदि छल कपट पूर्ण व्यवहार का प्रयोग किया जाता है तो उसे अधिक गलत नहीं मानना चाहिए। राजद्रोह करने वाले लोगों के सम्बंध में यह कहा गया है कि पहले तो उनको समझाने बुझाने का प्रयास किया जाये। यदि वह प्रयास सफल न हो तो उनको हर सम्भव उपाय से वश में किया जाये अथवा दण्ड दिया जाये। राजनीति में अनैतिक साधनों के प्रयोग को महत्वपूर्ण नहीं माना गया है परन्तु उनको तब अपनाने के लिए कहा गया है जबकि अन्य कोई रास्ता न हो। राजपुत्र जब विद्रोह करे तो पहले तो उसको समझाया बुझाया जाये और उसके बाद उसके दुर्गुणों को दूर सम्भव उपाय द्वारा दूर किया जाये। यदि इतने पर भी वह ठीक न हो तो उसको दण्ड दिया जाये।

राजपुत्र को यह परामर्श दिया गया है कि वह सदैव ही राजा की आज्ञा का पालन करता रहे। किन्तु यदि राजा दोषपूर्ण दुराचारी व अत्याचारी बन जाता है तथा प्रजा उससे असन्तुष्ट हो जाती है तो पहले उसको समझाया जाय और समझाने बुझाने का कोई परिणाम न हो तो उसे शासन सत्ता से उतारने का प्रयास किया जाय। राज्य के अन्य लोग भी जब असन्तुष्ट हों तो पहले उनको धन और इज्जत देकर ठीक किया जाये। यदि साम और दाम का कोई प्रभाव न हो तो उनको दण्ड और भेद की नीति से ठीक करने का प्रयत्न किया जाये। प्राचीन भारतीय राजनीति के विचारकों ने राज्य की सुरक्षा एवं स्थायित्व को पर्याप्त महत्व प्रदान किया था। उनके मतानुसार राज्य के स्थायित्व के बिना धर्म और नैतिकता के सभी मूल्य प्रभाव खो देते हैं, सारा राज्य दूषित बन जाता है, जनजीवन असुरक्षित बन जाता है, कोई भी वर्ग अपने कर्त्तव्यों के पालन में रुचि नहीं लेता, समस्त नागरिक पद दलित होकर भ्रष्टाचारी बन जाते हैं, यथा राजा तथा प्रजा की नीति के अनुसार सारा राज्य भोगलिप्सा, स्त्री व्यभिचार जुएबाजी, शराबबाजी, शिकारबाजी आदि के दुर्गुणों में फंस जाता है। ऐसा होने पर राज्य कहां पहुंच जायेगा इसकी कल्पना की जा सकती है। ऐसे राज्य में नैतिकता का स्तर शून्य की ओर अग्रसर हो जायेगा। इस स्थिति से बचने के लिए यह उचित समझा गया कि राज्य अनैतिक साधनों को अपनाकर दुष्टों का एवं विद्रोहियों का दमन करे तथा नैतिकता एवं धर्म को नष्ट होने से बचाय। राजा का अनैतिक होना सारे राज्य के अनैतिक हो जाने की अपेक्षा कम बुराई था और भारतीय आचार्यों ने इसे एक आवश्यक बुराई के रूप में ही स्वीकार किया।

धर्म की सर्वोच्चता पर धार्मिक राज्य नहीं
[Supremacy of Dharma but not a Theocracy]

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत की राजनैतिक व्यवस्था में धर्म का क्या स्थान था। धर्म को एक सर्वोच्च सत्ता माना

---

1. शुक्रनीति, ४/१२५-२६ एवं शान्ति पर्व, ८७/३०

जाता था। राजा का कार्य था धर्म की रक्षा करना, धर्म का पालन कराना, धर्म विरोधियों को दण्ड देना, स्वय धर्म के अनुसार शासन चलाना, धर्म विषयक कार्यों को प्रोत्साहन देना आदि। इसी प्रकार समस्त प्रजा का कर्तव्य था धर्म का पालन करना, धर्म को पवित्र मानना, धर्म के आधार पर जीवन के लक्ष्य बनाना, धर्मानुयायी राजा की आज्ञा का पालन करना, धर्म च्युत राजा को उसके पद से अलग कर देना आदि-आदि। जो भी कानून बनता था वह धर्म के अनुसार बनता था, उस कानून की व्याख्या धर्म ग्रन्थों के अनुकूल की जाती थी और उनका प्रशासन भी धर्म शास्त्रों द्वारा वर्णित रीति के अनुसार ही किया जाता था। दूसरे शब्दों में सरकार के तीनों अंगों अर्थात व्यवस्थापिका न्यायपालिका एवं कार्य पालिका पर धर्म का पूरी तरह से प्रभाव था। राजा न तो धर्म के विपरीत कुछ करता था, धर्म की आज्ञा के बिना कुछ भी नहीं करता था। धर्म को राज्य में सर्वोच्चता प्राप्त थी।

इतना होने पर भी प्राचीन भारतीय राज्यों को धार्मिक राज्य नहीं कहा जा सकता। यह सच है कि इन राजाओं का भी व्यक्तिगत धर्म होता था। ये वैष्णव, शाक्त, शैव, जैन, बौद्ध आदि किसी भी धर्म को अपना सकते थे तथा उसी के अनुसार अपने जीवन को ढालते थे। किन्तु धर्म के पालन में कट्टरता का अभाव था। धार्मिक विश्वास को बहुत कुछ व्यक्तिगत विषय माना गया और इस प्रकार प्रत्येक को यह स्वतंत्रता प्रदान की गई कि वह मन चाहे धर्म का प्रयोग करे तथा किसी के धर्म के विरुद्ध राज्य द्वारा कार्यवाही नहीं की जाती थी। राजा द्वारा मान्य धर्म के प्रोत्साहन के लिए कुछ अधिक कार्य किया जाना तो स्वाभाविक था किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं था कि अन्य धर्मों का विरोध किया जायेगा या उनको पनपने नहीं दिया जायेगा। किसी भी धर्म की समाज विरोधी कार्यवाहियों का बहिष्कार किया गया था किन्तु ऐसा करते समय किसी भी धर्म के साथ मतभेद नहीं किया गया।

असल में भारतीय विचारक एक धर्म राज्य की स्थापना करना चाहते थे। उनका कहना था कि राजा को धर्ममय होना चाहिए, उसे धर्म का पालन करना चाहिए।[1] दूसरे शब्दों में उनकी यह मान्यता थी कि राजकार्य को सामाजिक जीवन के हित संचालन को ध्येय मानकर सम्पन्न किया जाना चाहिए। कौटिल्य का मत था कि जब धर्म की उपेक्षा की जाती है और अधर्म के द्वारा उसको समाप्त कर दिया जाता है तो इसके परिणामस्वरूप शासन कर्त्ता भी समाप्त हो जाता है। अधर्मी शासक न केवल स्वयं के पतन का कारण बनता है वरन् वह समाज में भी अधार्मिक व्यवहार को प्रोत्साहन देता है तथा उसकी प्रजा धीरे-धीरे भ्रष्ट होने लगती है। शुक्र द्वारा यह सुझाया गया है कि अधर्मी राजा को धर्मवान् एवं बलवान राजा द्वारा उसी प्रकार दण्ड दिया जाये जिस प्रकार कि एक चोर को दण्ड दिया जाता है। प्रजा को भी कहा गया है कि वह अपने अधर्मी राजा को सुधारने या नष्ट करने के लिए धर्मशील एवं बलवान् शत्रु का आश्रय लें। धर्म को सर्वोपरि माना गया था।

---

1. पाराशर १/६७; हारीत २/५; शान्ति पर्व ५६/१३६; शुक्र ४/१२३८-४०; कामण्डक १/११; १३/४७

शास्त्रों में यह भी कहा गया है कि न्याय धर्म शास्त्रों के अनुकूल दिया जाना चाहिए। शुक्रनीति धर्म या कानून विभाग के मंत्री को पण्डित कहती है। पण्डित के कर्त्तव्यों का वर्णन करते हुए इसमें कहा गया है कि "पण्डित को इस बात पर विचार करना चाहिए कि संसार में किन प्राचीन तथा अर्वाचीन धर्मों का व्यवहार होता है, उनमें से कौन धर्म शास्त्रों में मान्य है तथा कौन से धर्म या कानून न्याय सिद्धान्त के विरुद्ध है और कौनसे धर्म, समाज तथा न्याय सिद्धान्त के विपरीत हैं। इस सब विचार के बाद पण्डित को राजा से ऐसे धर्मों या कानूनों की सिफारिश करनी चाहिए जो कि इस संसार में तथा परलोक में सुख प्रदान करने वाले हों।[1] वैदिक काल के न्यायाधीश धर्म या कानून के अनुसार अपनी सम्मति देने के लिए बाध्य होते थे। जो ज्यूरी या वृद्ध कुछ नहीं बोलता था, या धर्म के विरुद्ध सम्मति देता था, वह नीति भ्रष्ट समझा जाता था।[2] नारद के कथनानुसार वह कोई सभा नहीं है जहां कि वृद्ध नहीं होते हैं और वे वृद्ध नहीं हैं जो कि धर्म की बात नहीं कहते हैं।[3] नारद का मत था कि या तो न्याय सम्बंधी सभा में बिल्कुल जाना ही नहीं चाहिए और अगर जायें तो वहां जाकर धर्म से युक्त सम्मति प्रदान करें। जो व्यक्ति मौन रहता है या धर्म के विरुद्ध सम्मति देता है वह पाप करता है।[4] शुक्र ने राजा से कहा है कि वह न्याय करने से पूर्व स्मृतियों को देखे।[5]

२. राज्य समाज व्यवस्था को लागू करे

राज्य के धर्ममय होने का एक दूसरा लक्षण यह था कि समाज की दृष्टि से विचार करने वाले ऋषियों ने समाज व्यवस्था निश्चित की है तथा धर्म शास्त्रों द्वारा जिसका वर्णन किया गया है उसे राज्य द्वारा लागू किया जाये। राज्य इस बात का ध्यान रखे कि सामाजिक व्यवस्था (वर्णाश्रम-व्यवस्था) का पालन किया जा रहा है अथवा नहीं किया जा रहा है। कौटिल्य ने वर्णों और आश्रमों के धर्मों का वर्णन करने के बाद राजा से उनका पालन कराने का अनुरोध किया है। वामन पुराण एवं नारद पुराण में जहां कहीं भी अच्छे राज्य का वर्णन किया गया है वहां उसका एक मुख्य विशेषता यह बतायी गई है कि उसमें सभी लोग अपने-अपने वर्णों तथा आश्रमों के धर्मों में तत्पर रहते है। महाभारत के शान्ति पर्व में कैकयराज अपने राज्य का वर्णन करते हुए यह बताते हैं कि इस राज्य में सभी वर्णों एवं धर्मों के लोग उनके कर्त्तव्यों का पालन करते हैं। धर्ममय राज्य उसी राज्य को माना जाता था जो कि समाज के नियमों द्वारा निर्दिष्ट समाज व्यवस्था का पालन

---

1. शुक्रनीति २/९९-१००
2. डा. के. पी. जायसवाल, हिन्दू राज्य-तंत्र, दूसरा खण्ड, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सम्वत् २०२२, पेज २०५.
3. "न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम्।"
—नारद स्मृति, ३/१८
4. नारद स्मृति, ३ १०
5. शुक्रनीति सार, ४/५७

करायें। जिन स्थानों एवं जातियों की कुछ विशेष परम्परायें हों वहां के लिए विशेष नियम बनाये जा सकते हैं।

३. राज्य व्यवस्थित, शान्तिपूर्ण तथा सुखी हो

धर्म मय राज्य का एक प्रमुख लक्षण यह था कि वहां के निवासियों का जीवन सुव्यवस्थित हो, वहां के लोग सुखी रहें तथा वे शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करें। जिस समाज में किसी भी वर्ग पर अत्याचार होता है या उसका शोषण किया जाता है वह उस समय धर्म युक्त नहीं कहा जाता। शान्ति पर्व में राजा का यह प्रमुख कर्तव्य माना गया है कि वह समाज के जीवन को ठीक से संचालन करने के लिए प्रजा को धर्म पालन की ओर तत्पर करे तथा समाज में पाप की वृद्धि पर रोक लगाये। राजा का यह मुख्य कर्तव्य बताया गया था कि वह राज्य के अन्तर्गत सद्गुणों की वृद्धि करे। जो लोग इस कार्य में बाधा डालें उनको राजा के द्वारा दण्डित करना चाहिए। कौटिल्य ने एक अच्छे जनपद के गुणों का निर्देश करते हुए उस राज्य को परिचालित तथा भक्ति एवं पवित्रता पूर्ण व्यक्तियों से युक्त माना है। उनके मतानुसार राजा को दुष्टों का दमन करना चाहिए, सज्जनों का संरक्षण करना चाहिए, धर्म विरोधी व्यक्तियों का दमन करना चाहिए, धर्मशीलों को संरक्षण देना चाहिए तथा कमजोरों की रक्षा करनी चाहिए।

राज्य में जब तक शान्ति, व्यवस्था एवं न्याय नहीं होगा तब तक कोई भी भौतिक, धार्मिक या सांस्कृतिक प्रगति सम्भव नहीं हो सकती। लोगों का जीवन असुरक्षित हो जायेगा। धर्म से लोगों का विश्वास उठ जायेगा। अतः प्रजा का पालन तथा प्रजा का रक्षण राजा का एक मुख्य कार्य बताया गया है। यह कहा गया है कि राजा को न्याय पूर्वक प्रशासन चलाना चाहिए ताकि समाज में स्थित पारस्परिक संघर्षों का समाधान करके शान्ति तथा व्यवस्था स्थापित की जा सके।

४. शासन न्यायपूर्वक किया जाये

धर्ममय राज्य की एक निशानी यह थी कि शासन न्यायपूर्वक किया जाना अर्थात् शासन एवं न्याय के क्षेत्र में किसी प्रकार का पक्षपात नहीं होना चाहिए था। प्राचीन शास्त्रों की मान्यता है कि यदि राजा न्याय प्रवृत्त है तो वह अपने लिए तथा प्रजा के लिए धर्म, अर्थ तथा काम की प्राप्ति करता है। अन्यायी राजा इन तीनों की समाप्ति कर लेता है। न्याय पूर्ण राजा ही वर्षों तक धरती पर राज्य करता है; तथा अन्यायी का शीघ्र ही पतन हो जाता है।

५. राजा चरित्रवान हो

धर्मयुक्त राज्य की एक अन्य विशेषता यह है कि इसका शासक चरित्रवान व्यक्ति होता है जो कि अपने व्यवहार को मर्यादाओं में रह कर संचालित करता है। राजा के कर्मचारियों को भी मर्यादा में रहने के लिए कहा गया है। प्रत्येक अधिकारी को जो कार्य सौंपा गया है वह करने उसी का पालन करे तथा उसकी सीमाओं का अतिक्रमण करके जनता के अधिकारों को न छीने। शुक्रनीति चेतावनी देती है कि जो राजा नीति के मार्ग को छोड़ कर स्वच्छन्दतापूर्वक व्यवहार करता है वह दुःख पाता है। राजा को सदैव ही अपने

धर्म में लगे रहना चाहिए। उससे कम या उससे अधिक कुछ भी नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसा करने पर उसके तेज का नाश हो जाता है।

धर्मपूर्ण राज्य की उक्त विशेषताओं या लक्षणों को देखने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारतीय ग्रन्थकारों ने जिस प्रकार के राज्य की कल्पना की थी वह धर्म का पालन करने वाला, रक्षा करने वाला, उसकी व्याख्या करने वाला तथा उसे प्रोत्साहन देने वाला था, किन्तु वह किसी भी रूप में एक सम्प्रदाय विशेष का राज्य नहीं था। किसी भी प्रमुख ग्रन्थ में या किसी भी मुख्य आचार्य द्वारा यह बात नहीं कही गई है कि राज्य इस विशेष धर्म का पालन करे तथा अन्य धर्मों का अतिक्रमण करे और उनको दबाये या अपना धर्म परिवर्तन करने के लिए मजबूर करे। किसी धर्म अथवा सम्प्रदाय विशेष को विशेष अधिकार प्रदान करने की व्यवस्था नहीं की गई थी। असल में कर्मकाण्ड की अपेक्षा मानवीय धर्म पर अधिक जोर दिया गया था। ऐसे धर्म की स्थापना को लक्ष्य बनाया गया जिसका पालन सभी के द्वारा सामान्य रूप से किया जाना चाहिए। कौटिल्य के अनुसार "प्रत्येक वर्ण और प्रत्येक आश्रम का धर्म है कि वह किसी भी प्रकार की हिंसा न करे, सत्य बोले, पवित्र बना रहे किसी से ईर्ष्या न करे, दयावान और क्षमाशील बना रहे।" धर्म का यह स्वरूप कोई साम्प्रदायिकतत्व नहीं रखता। इसी अर्थ में यह कहा जाता है कि प्राचीन भारतीय राज्य धर्मयुक्त तो था किन्तु धार्मिक नहीं था।

समाज में ब्राह्मणों को विशेष स्थान दिया गया था तथा राजा द्वारा उनको सहायता एवं मान्यता प्रदान करने की व्यवस्था की गई थी। इस तथ्य के आधार पर कभी-कभी यह निष्कर्ष निकाल लिया जाता है कि प्राचीन भारतीय राजनीति पण्डितवादी राजनीति थी। यह निष्कर्ष भ्रामक एवं पूर्ण रूप से असत्य है। ब्राह्मणों के आदर का अर्थ यह कदापि नहीं था कि पंडे तथा पुजारियों का देश में शासन स्थापित किया जाये। यहां ब्राह्मण से अर्थ विद्वान पुरुष से है और विद्वान पुरुष का आदर प्रत्येक राज्य मे होना ही चाहिए। ऐसा किया जाना साम्प्रदायिकता की निशानी न होकर उस देश के कल्याण का प्रतीक है। ब्राह्मणों के गुणों के कारण उनके आदर की बात कही गई थी। जो ब्राह्मण केवल यज्ञ करते थे उनको पंक्ति दूषक कहा गया तथा इनको दान के लिए भी अपात्र ठहराया गया। ब्राह्मण वर्ग के रहन–सहन, उनकी अपरिग्रह की प्रवृत्ति तथा विद्वता आदि के कारण समाज मे उनकी प्रतिष्ठा थी। मनु आदि आचार्यो ने यह स्पष्ट रूप से कहा है कि केवल योग्य ब्राह्मण का ही सम्मान किया जाना चाहिए। यदि ब्राह्मण कुछ अनुचित कर्म करता है तो उसे भी साधारण व्यक्ति की भांति दण्ड दिया जाये। यदि ब्राह्मण अयोग्य है तो उसका कोई सम्मान नहीं किया जाये तथा उसको शूद्र के समान माना जाये। शुक्रनीति ने आततायी ब्राह्मण को शूद्रवत माना है और उसका वध करने में वह किसी प्रकार का दोष नहीं देखती। महाभारत के शान्तिपर्व में ब्राह्मणों का आदर करने के लिए तथा उनके आदेशानुसार चलने के लिए बार–बार आग्रह किया गया है किन्तु वहां भी यह उल्लेख है कि यदि वेद जानने वाला ब्राह्मण जीविका न होने के कारण चोरी करता है तो राजा को उसका पालन करना चाहिए परन्तु जीविका की पर्याप्त व्यवस्था होने के बाद

भी यदि कोई अपने कार्य में संलग्न न होकर चोरी करता है तो राजा द्वारा उसे देश निकाला दे दिया जाय। अपने कर्म को छोड़ने वाले ब्राह्मण को राजा द्वारा दण्ड देने का समर्थन किया गया है। इन निष्कर्षों पर यह कहा जा सकता है कि ब्राह्मणों के सम्मान का कारण यह नहीं था कि वे एक विशेष वर्ग के सदस्य हैं अथवा उनके द्वारा एक विशेष कार्य किया जाता है, वरन् यह था कि वे गुणवान् होते थे। गुणवान् व्यक्ति ब्राह्मण न होने पर भी आदर का पात्र था और गुणवान न होने पर ब्राह्मण भी दण्ड का भागीदार होता था।

समाज में ब्राह्मणों के सम्मान पर आधारित राज्य को हम साम्प्रदायिक इसलिए भी नहीं कह सकते क्योंकि यह सम्मान राजा के पक्षपात पर निर्भर न होकर समाज की श्रद्धा पर आश्रित रहता था। समाज की विशेष श्रद्धा के कारण ही ब्राह्मण वर्ग को राजा से भी ऊंचा उठा दिया गया। यह व्यवस्था की गई थी कि यदि राजा अत्याचारी हो जावे तथा समाज विरोधी कार्यवाही करे तो ब्राह्मण उस पर नियन्त्रण स्थापित करें। डा० सुरेन्द्रनाथ मीत्तल का यह मत उपयुक्त ही प्रतीत होता है कि ब्राह्मण का प्रभुत्व अथवा उसकी प्रतिष्ठा देने का और उसका पालन करने का आदेश साम्प्रदायिक वृत्ति का परिचायक न होकर समाज के गुणी व्यक्तियों को योग्य स्थान, महत्व, सम्मान एवं अधिकार देने का प्रबल आग्रह मात्र था।[1]

प्राचीन भारतीय धर्म शास्त्रों एवं अन्य ग्रन्थों में धर्म का आदर करने की बात कही गई है। वे धर्म विरोधी प्रवृत्तियों को दबाने का उपदेश करते हैं, किन्तु कहीं भी ऐसा उल्लेख प्राप्त नहीं होता जहां कि राजा को किसी धर्म विशेष ग्रन्थ विशेष सम्प्रदाय विशेष तथा ईश्वरोपासना की किसी पद्धति विशेष को आदर प्रदान करने की बात कही गई हो। सम्पूर्ण प्रजा का हित ही प्रशासन का उद्देश्य होता था। शुक्रनीति राजा को सम्पूर्ण जनता के साथ एकाकार करने का प्रयास करती है। उसका कहना है कि जिन उत्सवों को प्रजा मानती है, राज्य द्वारा भी उनका पालन किया जावे। राजा को प्रजा के आनन्द में ही सन्तुष्ट होना चाहिए तथा उसी के दुःख में दुःख मानना चाहिए।[2] इस कथन में राजा के धर्म निरपेक्ष राज्य की भावना निहित है। इसके अनुसार राजा प्रत्येक सम्प्रदाय के अनुयायियों द्वारा मनाये जाने वाले प्रत्येक उत्सव को मान्यता देगा तथा उनको वांछित सहायता प्रदान करेगा। ऐसी स्थिति में यह दोषारोपण गलत एवं अन्यायपूर्ण होगा कि प्राचीन भारतीय राज्य धार्मिक राज्य (*Theocracy*) था। भारतीय आचार्यों ने कहीं यह आग्रह नहीं किया कि राज्य द्वारा किसी सम्प्रदाय विशेष को अधिक प्रमुखता प्रदान की जाये तथा उसी को विशेष सहायता दी जावे। इनकी उदारता तो यहां तक है कि वे सभी पाखण्डी समुदायों अर्थात विरोधी सम्प्रदायों को भी मान्यता प्रदान करने के लिए राजा से आग्रह करते हैं।[3] राजा से वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करा

---

1. डा० सुरेन्द्रनाथ मीत्तल, वही पुस्तक, पेज २६१
2. शुक्रनीति ४/५२३
3. याज्ञवल्क्य स्मृति, २/१९५

की बात कही गई तो इसके पीछे भी कोई साम्प्रदायिक भावना नहीं थी वरन् इसका कारण केवल यही था कि यह व्यवस्था मनुष्य जीवन के लक्ष्य 'मोक्ष' की प्राप्ति के लिए उपयुक्त मानी गई थी तथा भारतीय समाज इसे स्वीकार करता था। यहां भी राजा को उदारता बरतने की बात कही गई थी। यह कहा गया था कि यदि किसी देश, कुल, जाति की परम्परायें इस व्यवस्था से भिन्न हों तो वहां इसको लागू न करके वहां की स्थानीय परम्पराओं एवं रीति-रिवाजों को ही लागू किया जाये। इस व्यवस्था में साम्प्रदायिकता की गंध तक भी नहीं आती। आचार्यों का कहना था कि राजा विजित देश की प्रथा को अवश्य मान्यता प्रदान करे। वहां वह अपने विश्वासों एवं रीति रिवाजों को जबर्दस्ती लागू न करे। समाज व्यवस्था को लागू कराने के पीछे जो आग्रह था वह केवल इसी कारण था कि लोग उसमें विश्वास करते थे। इसका कारण साम्प्रदायिक भावना कदापि नहीं थी। यदि ऐसा होता तो स्थायी प्रथाओं को सम्मान प्रदान करने की बात नहीं कही जाती।

सम्प्रभुता सम्बंधी विचार
(The Concept of Sovereignty)

सम्प्रभुता को जिस प्रकार आज राज्य का एक आवश्यक तत्व माना जाता है उसी प्रकार प्राचीन भारत में भी इसके महत्व एवं उपयोगिता को जान लिया गया था। सम्प्रभुता का निवास राजा में माना गया था। राजा की सम्प्रभुता शक्ति ही राज्य का प्रतीक मानी जाती थी। वैदिक साहित्य में सम्प्रभुता के लिए समानार्थक शब्द 'क्षत्र' अथवा 'क्षत्रसारी' है। अर्थ शास्त्र, कानून संहिता एवं अन्य शिला लेखों में इसके लिए स्वामित्व शब्द का प्रयोग किया गया है। कौटिल्य ने राज्य के सप्ताङ्गों का वर्णन किया है। 'स्वामी' को उसने राज्य का ही एक अंग माना है। कौटिल्य के अनुसार स्वामी को वे सारे अधिकार प्राप्त थे जो कि आधुनिक अर्थ में एक सम्प्रभु के पास होने चाहिए। 'स्वामी' राज्य का मालिक होता था। यह अपने मन्त्रियों, मित्रों, खजाने, सेना, कानून एवं किलेबन्दी आदि साधनों की सहायता से राज्य पर अधिकार रखता था। इन साधनों की स्थिति द्वारा उसकी स्वयं की स्थिति निर्धारित होती थी।

जो राजा राज्य का अध्यक्ष था उसे धीरे-धीरे नये अधिकार प्राप्त होते गये। उसे शासन करने का दैवी अधिकार प्रदान किया गया। इससे क्षत्रसारी या सम्प्रभुता का क्षेत्र व्यापक हो गया। गुप्त काल में राजा एक दूसरे के प्रति धर्मों के दृष्टिकोण को विनियमित करता था। राजा द्वारा यह निर्देश दिया जाता था कि लोगों के बीच किसी प्रकार की कटुता नहीं होनी चाहिए तथा सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता की भावना रखना चाहिए। इस कार्य में उसे कानून की बदली हुई प्रकृति ने भी पर्याप्त सहयोग दिया। कानून निरन्तर धर्म-निरपेक्ष होता जा रहा था। ऐसी स्थिति में राजा की सम्प्रभुता का क्षेत्र बढ़ गया तथा वह अधिक से अधिक प्रभावशाली बन गया। वैसे सम्प्रभुता के क्षेत्र को राज्य की प्रकृति के संदर्भ में ही समझा जा सकता है।

प्राचीन भारत के साम्राज्यों की प्रकृति आज के साम्राज्यों से भिन्न होती थी। उस समय की शब्दावली में इस चक्र या कौटिल्य की भाषा में इसे मण्डल कहा जाता था। मण्डल का अर्थ है एक राजा का प्रभाव का क्षेत्र। इसके शीर्ष पर एक चक्रवर्ती राजा राज्य करता था। ऐसे साम्राज्य में सम्प्रभुता का अर्थ केवल सर्वोच्चता न था। एक सार्वभौम राजा अपने क्षेत्र के प्रदेश एवं जन का सर्वोच्च स्वामी होता था। वह पवित्र कानून को लागू करने वाला, धर्म का संचालक, युग का निर्माता, मानवाकार रूप में एक देवता, न्याय का प्रवर्तक होता था। राजा की सर्वोच्चता उसकी स्वयं की राजधानी में अधिक वास्तविक होती थी जहाँ कि वह प्रत्यक्ष रूप से नियन्त्रण रख सकता था। प्राचीन भारत में सम्प्रभुता की प्रकृति कुछ इसी प्रकार की थी। इसमें चक्रवर्ती राजा की सर्वोच्च शक्ति का समन्वय माना जाता था। वह चक्रवर्ती इसलिए था क्योंकि वह चक्र या मण्डल का स्वामी था। यह चक्र उस राजा का प्रभाव क्षेत्र अथवा कौटिल्य के शब्दों में मण्डल था।

वैदिक काल में सम्प्रभुता
(The Sovereignty in Vedic Period)

वैदिक काल में राजा को जो कार्य सौंपे गये थे उनको देखने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि इस समय तक सम्प्रभुता का विचार विकसित हो चुका था। राजा युद्ध के समय नेतृत्व करता था। वह संकट के समय जनता की रक्षा करता था। शान्ति काल में वह मान सम्मान का प्रयोग करता हुआ लोगों से आज्ञाकारिता की अपेक्षा करता था। जो लोग स्वेच्छा से ही राजा को कर एवं अपनी सेवायें प्रदान नहीं करते थे उनको राजा द्वारा ऐसा करने के लिए मजबूर किया जा सकता था। वह एक न्यायाधीश के कार्यों को सम्पन्न करता था। वह राज्य में शान्ति एवं व्यवस्था की स्थापना के लिए गुप्तचरों की नियुक्ति करता था। अपराधों के बढ़ने से या राजा की सुरक्षा को खतरा पैदा होने के कारण इन गुप्तचरों को नियुक्त किया जाता था। इनका मुख्य लक्ष्य जनकल्याण की साधना होता था।

इस प्रकार वैदिक काल का राजा 'क्षत्र' या 'क्षत्रधारी' के रूप में सम्प्रभुता सम्पन्न हो चुका था। यह हमेशा एक क्षत्रिय अथवा शासक में निहित रहती थी क्योंकि वही कानून का रक्षक होता था। वह जनता का रक्षक था। शान्ति व्यवस्था एवं जन जीवन की रक्षा को यहाँ सम्प्रभुता के औचित्य का कारण बनाया गया। सम्प्रभुता का अर्थ था शक्ति—वह शक्ति जिसके आधार पर कि शासक कानून का पालन करा सकें। राजा को आर्य संस्कृति की रक्षा का काम सौंपा गया ताकि वह विरोधियों की संस्कृति को प्रभावी होने से रोक सकें।

राजा अपने शासन की रक्षा करता था। वह शत्रुओं के विरुद्ध जनता को सुरक्षा प्रदान करके राष्ट्र की रक्षा करता तथा उनके बीच शान्ति स्थापित करता था। इसलिए लोग उससे प्रेम करते थे। वैदिक काल के राजा को निरन्तर ही आर्य एवं अनार्य राजाओं से लड़ाई लड़नी पड़ती थी। ऐसी स्थिति

में राजा के पास शक्ति का होना परम आवश्यक था। राजा का आदर उसी सीमा तक किया जाता था जिस सीमा तक कि वह अपनी शक्ति को प्रभाव-शाली बना पाता है।

राजा के द्वारा जनता को आन्तरिक शान्ति प्रदान की जाती थी। ऐसा करने के लिए वह अज्ञान में किये गये अपराधों के लिए लोगों को दण्ड नहीं देता था। यदि किसी ने धर्म की अवहेलना अनजाने में ही की है तो वह राजा के दण्ड का भागी नहीं होता था। जिस प्रकार वरुण का काम देवताओं में धर्म बनाये रखना था उसी प्रकार राजा का कार्य जनता में धर्म की स्थापना करना था। धर्म का विरोध करने वालों को वह दण्ड दे सकता था।

सम्प्रभुता का जन्म

[The Origin of Sovereignty]

प्राचीन भारतीय विचारकों ने यह माना था कि राज्य का अस्तित्व ऐश्वर्य अथवा स्वामित्व (सम्प्रभुता) के वातावरण में ही रह सकता है। ऐसी स्थिति में विनय कुमार सरकार तो राज्य के सिद्धान्त को मूल रूप से सम्प्रभुता का दर्शन कहना पसन्द करते हैं।[1] राजनीति शास्त्र के अध्ययन की एक केन्द्रीय समस्या यह है कि उस शक्ति का विश्लेषण किया जाये जो कि राजनैतिक सम्बंधों के निर्धारण में मुख्य रूप से योगदान करती है। सम्प्रभुता का स्वरूप जानने का प्रयास प्रत्येक राजनीतिक विचारक द्वारा किया जाता है। प्राचीन भारत के स्मृति कारों एवं नीतिकारों ने भी यह प्रयास किया।

प्राचीन भारतीय आचार्यों ने राज्य के स्वरूप को समझने के लिए राज्य से पूर्व के समाज की कल्पना की है। इस प्रकार भारतीयों द्वारा तार्किक एवं ऐतिहासिक दोनों ही पद्धतियों को अपनाया गया। पहले तो उन्होंने इस बात की जांच का प्रयास किया कि राज्य किन अर्थों में अराज्य से भिन्न होता है तथा दूसरे उन्होंने यह बताने का प्रयास किया है कि अराज्य पूर्ण स्थिति किस प्रकार एक राज्यपूर्ण स्थिति बन गई। इन दोनों ही पहलुओं का संतोषजनक उत्तर उन आचार्यों को मत्स्यन्याय की धारणा में मिला। महाभारत के शान्तिपर्व में भीष्म तथा युधिष्ठिर के बीच जो संवाद हुआ उससे सम्प्रभुता की उत्पत्ति का प्राचीन भारतीय मत ज्ञात होता है। युधिष्ठिर ने यह पूछा था कि "राजा का पद किस प्रकार अस्तित्व में आया तथा एक व्यक्ति अधिक बुद्धिमान् एवं साहस सम्पन्न लोगों पर शासन क्यों करता है; यद्यपि वह व्यक्ति भी अन्य की भांति समान शारीरिक एवं मानसिक विशपताओं से पूर्ण है, वह जन्म व मरण के परिवर्तनों से प्रभावित होता है

---

1. The Theory of the State, therefore, is fundamentally the philosophy of sovereignty.

—B.K. Sarkar, op. cit., P. 193

तथा सभी दृष्टियों से वह दूसरों के समान है।" इन प्रश्नों का उत्तर यह बताता है कि राजपद की स्थापना का क्या आधार है तथा यह जनता पर कैसे शासन करता है।

भीष्म ने जवाब दिया कि पहले न तो सम्प्रभुता थी और न ही सम्प्रभु था, न कोई दण्ड था और न ही कोई दण्ड देने वाला था। उस समय लोग न्याय एवं औचित्य की भावना से ही अपने आपको प्रशासित करते थे।[1] यह एक प्रकार से स्वर्णयुग था जिसका वर्णन रूसो द्वारा किया गया है। इस युग में केवल धर्म था अधर्म नहीं था। मनुष्य अपने स्वभाव के कारण ही धर्म का पालन करते थे। किन्तु यह युग अधिक समय तक नहीं चला। मोह, काम, लोभ एवं राग आदि ने मानव स्वभाव को भ्रष्ट एवं पतित कर दिया। वह ईश्वर से विमुख हो गया अपने जैसे अन्य लोगों से घृणा करने लगा तथा हर प्रकार के भ्रम एवं अव्यवस्था से घिर गया। मनुष्य की आत्मा स्वभावतः शुद्ध होती है, उसमें कोई विकार नहीं रहता। जब बाह्य तत्वों का प्रभाव होने लगता है तो यह आत्मा भी विकारशील बन जाती है। दोष अदोष, शुद्धता-अशुद्धता, आदि का भेद प्रारम्भ हो जाता है।

इस विकृति की क्रिया में सबसे पहले लोगों पर मोह छा गया और वे पारस्परिक संरक्षण के कार्य में कठिनाई का अनुभव करने लगे। मोह के प्रभाव से लोगों को यह ज्ञान न रहा कि कर्तव्य क्या है तथा अकर्तव्य क्या है। फलतः धर्म का नाश हो गया। मोह के प्रभाव तथा कर्तव्य के अज्ञान ने मिलकर मनुष्यों को लोभ के आधीन कर दिया। इस प्रकार लोग उन वस्तुओं को पाने का प्रयत्न करने लगे जो कि उनको प्राप्त नहीं हैं। क्रमशः उन पर काम तथा राग का भी प्रभाव हो गया। इन सब दोषों के परिणामस्वरूप वे लोग गम्यागम्य, वाच्य-अवाच्य, भक्ष्य-अभक्ष्य तथा दोष-अदोष आदि के बीच भेद न करके सभी कुछ व्यवहार करने लगे।

धार्मिक पतन के फलस्वरूप वेदों के स्वाध्याय का लोप हो गया और इसके कारण यज्ञ आदि कर्मों का नाश हो गया। अब ठीक वैसी ही स्थिति पैदा हो गई जो कि सम्पत्ति के उदय एवं जनसंख्या की वृद्धि के कारण रूसो ने मानी है। यह एक प्रकार से हॉब्स द्वारा वर्णित प्राकृतिक अवस्था थी। इस अवस्था में प्रत्येक मनुष्य के विरुद्ध युद्ध की स्थिति पैदा हो गई। महाभारत की मान्यता के अनुसार जब धरती पर दण्ड की व्यवस्था करने वाला कोई प्रशासक नहीं रहा तो शक्तिशाली लोग कमजोरों को उसी प्रकार समाप्त करने लगे जिस प्रकार बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है। मनु के कथनानुसार यदि हम राज्य विहीन अवस्था में लौट जायें तो शक्तिशाली लोग मछलियों की तरह कमजोर लोगों को समाप्त कर देंगे। यदि राजा उन लोगों

---

1 न वै राज्यं न राजाऽऽसीन्न च दण्डो न दण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्॥
—महाभारत, शान्तिपर्व उनसठवां अध्याय, श्लोक—१४, पेज ४५३०

को दण्ड देने के लिए सजग नहीं है जिनको कि दण्ड दिया जाना है तो मत्स्य न्याय स्थापित हो जायेगा। रामायण तथा मत्स्य पुराण में भी राज्य विहीन अवस्था का कुछ ऐसा ही चित्रण प्राप्त होता है। यदि राजा अपराधियों को उचित समय पर दण्ड देने में सजग नहीं है तो बालक, वृद्ध, बीमार, साधु, सन्त, स्त्रियां तथा विधवाएं आदि को या तो मार दिया जायेगा या लूट लिया जायेगा। ये सभी असहाय एवं हीन वर्ग के लोग होते हैं। इनको शक्तिशाली लोगों द्वारा दबाया जायेगा, इनका शोषण किया जायेगा तथा इनका पतन हो जायेगा। स्त्री-पुरुष के सम्बधों पर लगाये गये सभी प्रतिबन्ध टूट जाते हैं। बोलने तथा खाने-पीने के क्षेत्र में पूरी छूट मिल जाती है और सामाजिक एवं राजनैतिक मूल्यों की अवहेलना की जाती है। इस प्रकार राज्य के अभाव की इस स्थिति में नैतिक आचरण तथा रहन-सहन के ढंग को ठुकरा दिया जाता है, कानून तथा न्याय का कोई सम्मान शेष नहीं रह जाता।

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में प्राकृतिक अवस्था का वर्णन किया है। मनुष्य की आत्मा की पवित्रता में विश्वास न करके कौटिल्य मनुष्य की दुराचारी भावना में विश्वास करते हैं तथा उसको दण्ड के माध्यम से सुधारने पर जोर देते हैं। राज्य अपने साधन दण्ड के माध्यम से व्यक्ति की इन दुराचारी प्रवृत्तियों पर प्रतिबन्ध लगाता है तथा सामान्य कल्याण के लक्ष्य की प्राप्ति का प्रयास करता है। कौटिल्य के अनुसार दण्ड के अभाव में जो मत्स्य न्याय कायम होता है वह संसार को पतन की ओर ले जाता है।

इस प्रकार जीवन सघर्ष के लिए तथा आत्म पूर्णता के लिए व्यक्तियों के बीच मछली जैसा सम्बध स्थित था। कौटिल्य के अतिरिक्त कामण्डक आदि भी इस मत को मान्यता प्रदान करते हैं। कामण्डक का कहना है कि दण्ड के न रहने पर लोगों के पारस्परिक सम्बंधों में उनकी स्वाभाविक विध्वंसात्मक प्रवृत्ति प्रभावशील बनती है तथा यह ससार को विनाश की ओर अग्रसर करती है। राज्य से पूर्व की स्थिति का यह सिद्धान्त केवल आचार्यों तक ही सीमित नहीं था वरन् यह व्यवहारिक राजनीतिज्ञों के बीच भी प्रचलित था। बंगालके सम्राट धर्म के घोषणापत्र में यह सूचना प्राप्त होती है कि उसके राजवंश का जन्म जनता द्वारा निर्वाचन के माध्यम से हुआ था। जनता को यह भय था कि यदि ऐसा नहीं किया गया तो वे मत्स्य न्याय के शिकार बन जायेंगे अर्थात् दूसरा राज्य उनको अपने आधीन कर लेगा अतः उन्होने राजा को सम्प्रभुता सौंपी।

राजा के अभाव की स्थिति अराजकता की स्थिति थी। इस स्थिति में डाकुओं की स्वेच्छाचारिता का प्रभाव था, न्याय नहीं था, लोग एक दूसरे को समाप्त करने में रत थे। महाभारत के भीष्म के कथनानुसार बिना राजा का राष्ट्र निर्बल होता है। उसे डाकू और लुटेरे लूटते और सताते हैं। राजा विहीन देश में धर्म की स्थिति नहीं होती, लोग एक दूसरे को हड़पने लगते हैं।[1] यह स्थिति अराजकता की स्थिति होती है। इस स्थिति में लोग अपने

---

1. महाभारत, शान्तिपर्व, ६७/२-३

शक्ति का व्यय करना पड़े। पृथ्वी के रहस्यों की कोई जानकारी नहीं हो सकेगी, समय का कोई उपयोग नहीं किया जायेगा कोई कला नहीं रहेगी तथा कोई भी विद्वान, समाज या मूल्य ही रहेंगे। जो कुछ भी रहेगा वह होगा निरन्तर भय, हिंसात्मक मृत्यु का खतरा और व्यक्ति का जीवनए काकी, निरीह, संकीर्ण, जंगली और अल्प होगा।[1] हॉब्स के ये सभी विचार भारतीय ग्रन्थों में वर्णित उन विचारों के साथ पूर्ण साम्य रखते हैं जो कि राज्य की स्थापना से पूर्व की स्थिति से सम्बंधित है।

मैकियावेली द्वारा भी कुछ-कुछ इसी प्रकार के विचार प्रकट किये गये हैं। उनका कहना है कि सर्व प्रथम व्यक्ति पाशविक जीवन व्यतीत करते थे। उसके बाद उन्होंने अपने में सर्वाधिक शक्तिशाली व्यक्ति को अपना प्रमुख चुन लिया ताकि वह उनकी ठीक प्रकार से सुरक्षा कर सके। यह मत महाभारत में भीष्म द्वारा कही गई इस बात से सिद्ध होता है कि जहा पर अराजकता का राज्य होता है वहां धर्म का अस्तित्व नहीं होता तथा मनुष्य एक दूसरे को खा जाते हैं। अराजकता हमेशा ही दुख का कारण होती है। अधर्म के साम्राज्य में जो कुछ भी होता है वह अमानवीय, असामाजिक तथा असभ्यतापूर्ण है। इसमें शक्तिशाली लोग कमजोर लोगों की पत्नियों को छीन लेंगे। कोई भी व्यक्ति अधिकार के साथ किसी चीज को अपनी नहीं बता सकेगा। नैतिकता के नियमों का पालन नहीं किया जायेगा। दुराचारी लोग शक्ति के द्वारा दूसरों के सामान, कपड़ों तथा आभूषणों को छीन लेंगे। लोग अपने मां-बाप की, वृद्ध पुरुषों की, अध्यापकों, गुरुओ तथा अतिथियों की हत्या करने लगेंगे। अच्छे लोगों को दबाया जायेगा तथा दुराचारी शक्ति सम्पन्न होते चले जायेंगे। धनवान व्यक्तियों को सदैव ही जीवन का खतरा रहेगा। लोग मित्रों को नहीं पहचानेंगे। न हल चलाया जायेगा, न खेती होगी और न व्यापार होगा।

भारतीय विचारक यह नहीं मानते कि समाजिक समझौते से पूर्व व्यक्ति किसी प्रकार की स्वतंत्रता का उपभोग करता था। वे रूसो द्वारा समर्थित व्यक्तिगत स्वतंत्रता के विचार को अस्वीकार करते हैं। इनका मत है कि जब तक सुरक्षा के हेतु कोई केन्द्रीय सत्ता नहीं होगी तब तक कोई व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नहीं रहेगी, केवल अराजकता की स्थिति रहेगी। जिसमें कि मत्स्य न्याय की नीति का प्रभाव रहेगा।

सम्प्रभुता की प्रकृति

(The Nature of Sovereignty)

हिन्दू विचारकों ने सम्प्रभुता को दमनकारी, शक्ति सम्पन्न एवं प्रभावशाली माना है। उनके मतानुसार राज्य का अस्तित्व ही इसलिए रहता है क्योंकि वह यह सब कर सकता है। एक राज्य जो कुछ भी हैं वह केवल इसी कारण है क्योंकि वह दबा सकता है, प्रतिबन्धित कर सकता है तथा

---

1. Thomas Hobbes, Leviathan, PP. 64—65.

मजबूर कर सकता है। यदि मनुष्य के ऊपर से दण्ड या नियन्त्रण को हटा दिया जाय तो राज्य समाप्त हो जायगा।¹ दण्ड को राज्य के सप्तांगों का एक प्रधान आधार तथा मूल तत्व माना जाता है। दण्ड ही सम्प्रभुता है अथवा दूसरे शब्दों में सम्प्रभु के पास दण्ड देने की शक्ति होती है इसीलिए वह राज्य का आधारभूत तत्व है। दण्ड के बिना राज्य कायम नहीं रह सकता। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि मानवीय प्रकृति पाप पूर्ण है और यदि उसे स्वविधि छोड़ दिया जाय तो वह सामाजिक व्यवस्था को समाप्त कर देगी। कामन्दक के मतानुसार मनुष्य प्रकृति से ही लालसा युक्त होते हैं। वे एक दूसरे के धन तथा पत्नियों की ओर लालच भरी निगाह से देखते हैं।² मनु ने भी माना है कि ऐसे लोग विरले ही होते हैं जो कि प्रकृति से भी पवित्र या पाप मुक्त हों।³ नीचे के लोग हमेशा ऊपर वालों का स्थान पाने के लिए उत्सुक रहते हैं। लोग प्रायः दूसरों के अधिकारों में हस्तक्षेप करते हैं तथा नैतिक आचरण के नियमों एवं व्यवहार के तरीकों का उल्लंघन करते रहते हैं। किन्तु दण्ड के माध्यम से मनुष्य के इन सभी व्यवहारों पर मर्यादा कायम की जाती है। जब सभी सो जाते हैं तो दण्ड जागता है तथा समस्त प्राणियों की रक्षा करता है। यह कानून के समकक्ष है। समस्त संसार दण्ड के आधीन रहता है यहाँ तक कि देवता एवं अन्य देवता भी इसके आधीन अनुशासित होते हैं।

मनु द्वारा जिस प्रकार दण्ड की व्याख्या की गई है उसे विनयकुमार सरकार द्वारा उसी अर्थ में सर्व शक्तिमान का प्रतीक माना गया है जिस अर्थ में बोदां अथवा ग्रोशियस द्वारा माना गया था। यह उस शक्ति का एक प्रमुख रूप है जिसका मूर्त रूप ऐश्वर्य, स्वामित्व अथवा सम्प्रभुता में प्राप्त होता है। फिगिस (*Figgis*) ने इसको राजा का दैवीय अधिकार माना है।

स्वामी अथवा दण्डधर के द्वारा इस सर्वोच्च सत्ता को मूर्त रूप प्रदान किया जाता है। मि० कृष्ण राव के मतानुसार समस्त लोगों पर अधिकार क्षेत्र से युक्त वह पूर्ण होता है, उस पर स्वनिर्धारित कानूनों के अलावा अन्य किसी का भी नियन्त्रण नहीं होता है।¹ यह समस्त प्राणियों की रक्षा करता है तथा प्रसन्नता की प्राप्ति के उद्देश्य से सभी के बीच सहयोग स्थापित करता

---

1 A state is what it is, because it can coerce restrain or compel, the State vanishes, if control or Danda is removed from social life.

—M V Krishna Rao, Studies in kautilya, Munsi Ram Manohar Lal Delhi, 1958, PP 127—28

2 कामन्दक २/४२

3 मनुस्मृति VII २२

1 He is abolute with jurisdiction over all, and uncontrolled by any except by self-imposing laws

—M V Krishna Rao, op cit, P 128

है। दण्ड का प्रशासन जब न्यायपूर्वक संचालित किया जाता है तो लोग धार्मिक प्रवृत्ति वाले बन जाते हैं। यह समस्त नागरिक जीवन की नींव है। इससे सद्गुणों को समर्थन प्राप्त होता है तथा मानव जाति औचित्य की ओर अग्रसर होती है। दण्ड एक प्रकार से प्रशासक के लिए भी खतरनाक है क्योंकि यदि इसका प्रयोग गलत रूप में किया गया तो यह उसे कुटुम्ब, सम्बंधी तथा राज्य समेत नष्ट कर देता है।

इस प्रकार व्यक्ति को स्वभाववश संगठन में रहना होता है। उसे राज्य तथा उसके साधन दबाव, जबर्दस्ती और दमन के आगे सर झुकाना होता है। धर्म और राज्य का जितना गहरा सम्बन्ध है उतना ही दण्ड एवं राज्य के बीच भी है। दण्डधर के द्वारा धर्म, कानून, न्याय, वर्णाश्रम धर्म व्यवस्था एवं स्वधर्म आदि की रक्षा की जाती है। अराजक राजा में धर्म नहीं होता। यह केवल वहीं हो सकता है जहां कि दण्ड के द्वारा आज्ञा के रूप में इसे प्रसारित किया जाये तथा बाध्यकारी बना दिया जाये। के. एम. पनिक्कर का यह कहना पूर्णतः उचित है कि राज्य के अभाव में स्वाभाविक संघर्ष के सिद्धान्त ने सम्प्रभु की पूर्ण आज्ञाकारिता के निष्कर्ष की ओर प्रशस्त किया जिसके विरुद्ध केवल क्रान्ति की जा सकती थी।[1] राजा की आज्ञा का पालन प्रत्येक परिस्थिति में किया जायेगा। यदि राजा सद्गुण, नैतिकता एवं शक्ति के विरुद्ध आचरण करे तो उसे जनता द्वारा राजा का विनाशकर्ता ठहराया जा सकता है। महाभारत के भीष्म भी कुछ इसी प्रकार का विचार प्रकट करते देखे जाते है। उनका कहना है कि जो राजा जनता से कर लेता है किन्तु उसकी रक्षा नहीं करता है उसे जनता को मिल कर उस राजा की उसी प्रकार से हत्या कर देनी चाहिए जिस प्रकार की एक पागल कुत्ते को मार दिया जाता है। सम्प्रभु शक्ति का जन्म समझौते के आधार पर हुआ है, यह विचार प्रायः सभी प्राचीन हिन्दू विचारकों द्वारा प्रकट किया गया है। इसी के आधार पर यह सिद्ध किया गया कि जनता के ऊपर रखी गई सत्ता की आज्ञाकारिता का आधार स्वेच्छा पूर्ण है। योरोप में प्लेटो से लेकर अनेक विचारकों द्वारा इस प्रकार के विचार अभिव्यक्त किये गये हैं। ग्रोसियस (*Grotius*), हाब्स (*Hobbes*) लॉक (*Locke*) तथा रूसो (*Rousseau*) आदि विचारकों ने इसे अपने विचार का एक सामान्य आधार बनाया है यद्यपि उनके अध्ययन के निष्कर्षों में पर्याप्त अन्तर है।

इस प्रकार भारतीय आचार्यों ने सम्प्रभुता की शक्ति को एक स्वाभाविक संस्था माना है जिसकी आज्ञा का पालन लोगों द्वारा अपनी

---

1. The theory of natural conflict in the absence of the state is pushed to its logical conclusion of absolute obedience to the sovereign, subject only to the right of revolt.
 —K.M. Pannikar, The Idas of Sovereignty and State in Indian Political Thought, Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay, 1963, P. 22.

इच्छानुसार किया जाता है। अपनी रक्षा की भांति लोग राजा की आज्ञाओं का पालन करते हैं। आज्ञापालन के पीछे शक्ति या जोर जबर्दस्ती अथवा दण्ड का भय नहीं रहता।

सम्प्रभु के रूप में राजा
(The King as a Sovereign)

हिन्दू विचारकों ने राजाओं को सम्प्रभुता सम्पन्न माना है। राजा की नियुक्ति जिन कार्यों को करने के लिए की गई थी उनको देखते हुए उसको सर्वोच्च शक्ति प्रदान किया जाना परम आवश्यक था। राजा के व्यक्तित्व में समस्त शक्तियों का समाहित किया गया। मनु का कहना है कि भगवान ने जब राजा को बनाया तो उसे इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा एवं कुबेर आदि के आन्तरिक गुणों से युक्त किया। इन समस्त गुणों का राजा द्वारा समय समय पर प्रयोग किया जाता है। अग्नि पुराण का कहना है कि राजा अपने तेज के कारण सूर्य के समान है, वह लोगों पर दया दिखाता है अतः वह चन्द्रमा के समान है, वह अपने अनुचरों के माध्यम से हर स्थान पर रहता है अतः वह वायु के समान है, वह गैर कानूनी कार्यों को रोकता है तथा न्यायपूर्वक दण्ड की व्यवस्था करता है अतः वह यम के समान है, वह बुराइयों को भस्म करता है अतः वह अग्नि के समान है, वह लोगों को जो सौगात देता है उसके कारण वह कुबेर के सदृश्य है। इन समस्त दैवी गुणों के वर्णन के माध्यम से यह स्पष्ट कर दिया गया है कि राजा की स्थिति क्या है, उसकी शक्तियां क्या हैं तथा उसे क्या क्या कार्य करने चाहिए।

शुक्र ने भी इसी प्रकार के विचार प्रकट करते हुए कहा है कि राजा को इन्द्र, वायु, यम, सूर्य अग्नि, चन्द्रमा एवं कुबेर के स्थायी तत्वों को लेकर बनाया गया है। वह चल तथा अचल सम्पत्ति का स्वामी है। कौटिल्य के कथनानुसार मत्स्य न्याय से परेशान होकर लोगों ने वैवस्वत मनु को अपना राजा चुना तथा उन्होंने उसे अपने अन्न उत्पादन का छठा भाग एवं व्यापार कार्य का दसवां भाग देना स्वीकार किया। जो लोग उसको यह भाग नहीं देते अथवा सुरक्षा के विरुद्ध कार्य करते हैं उनको राजा द्वारा पापियों की भांति दण्डित किया जाता है। संन्यासियों के आश्रम भी राजा के अधिकार क्षेत्र में आते थे। वह उनकी रक्षा करता था और आश्रमवासी उसे कर प्रदान करते थे। इन्द्र तथा यम के रूप में उसको रक्षा एवं दण्ड से सम्बन्धित सभी शक्तियां प्रदान की गईं। यह कहा गया कि जो राजा का विरोध करेगा उसे ईश्वर द्वारा भी निरस्कृत किया जायगा।

राज्य का प्रतिनिधित्व राजा के द्वारा किया जाता था। राजा के द्वारा अपनाई गई नीतियां किसी धर्म विशेष के अनुसार संचालित नहीं की जाती थीं वरन् ऐसा करते समय वह सभी धर्मों के हितों का यथा सम्भव ध्यान रखता था। धार्मिक सम्प्रदायों का सत्कार करते हुए राजा धर्म पर अपना प्रभुत्व रखता था। यह राज्य बहुत कुछ अंशों में सम्प्रभु राज्य की भांति माना जा सकता था। प्राचीन राज्य की सम्प्रभु शक्ति मुख्य रूप से कानून बनाने तथा

उनको लागू करने की शक्ति, समूहों को आज्ञा प्रदान करने की क्षमता, धर्म को नियंत्रित करने तथा सामाजिक जीवन की मुख्य दिशाओं को निर्देशित करने आदि में निहित है। ये सारे लक्षण प्राचीन भारतीय राजनीति में भी प्राप्त होते हैं। राज्य की सम्प्रभुता को क्रियान्वित करने वाले सभी तत्व उस समय वर्तमान थे।

राजा राज्य का प्रतीक एवं उसकी बाह्य अभिव्यक्ति था। राजा की स्थिति एवं शक्तियों को देखने के बाद यह माना जाता है कि प्राचीन भारत की सम्प्रभु शक्ति राजा की सम्प्रभुता थी। वह धर्मों के बीच संतुलन की स्थापना करता था और इस प्रकार कानून का स्रोत था। वह सरकार को निर्देशित करता था तथा कानून की रचना एवं क्रियान्विति करता था राजा की सम्प्रभुता राष्ट्र के माध्यम से ही प्रभावशील होती थी अतः राष्ट्र या सरकारी संगठन समाज का एक सर्वोच्च संगठन बन गया। मि० एच० एन० सिन्हा ने प्राचीन भारतीय राजनीति को राजा की सम्प्रभुता माना है। यह राजा चक्रवर्ती था, धर्म प्रवर्तक था, युग का निर्माता था, मानवीय रूप में एक देवता था, भूमि एवं जल का स्वामी था तथा कानून एवं न्याय का स्रोत था। इतने पर भी राजा समाज में स्वेच्छापूर्ण व्यवहार नहीं कर सकता।[1]

राजा के कर्त्तव्य ज्यों-त्यों स्पष्ट होते गये त्यों-त्यों सम्प्रभुता सम्बंधी विचार एवं मान्यतायें भी स्पष्ट होती चली गईं। वैसे सम्प्रभुता का अर्थ सदैव ही शक्ति रहा है। शक्ति सम्पन्न को ही सम्प्रभु कह दिया जाता था; किन्तु कौटिल्य से पूर्व इस बात का उल्लेख प्रायः प्राप्त नहीं होता कि यह शक्ति कितने प्रकार की होती है तथा इसका प्रयोग किसके द्वारा किया जाता है। प्राचीन भारत के राजनैतिक विचारों के इतिहास में कौटिल्य ने पहली बार सम्प्रभुता के सात अवयवों का उल्लेख किया। ये हैं:—स्वामी, आमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र।[2] सम्प्रभुता के इन सातों अंगों को क्रमशः सम्प्रभु, मंत्री, प्रदेश, किलेबन्दी, खजाना, सेना तथा मित्रपक्ष भी कहा जा सकता है। कौटिल्य ने इन सातों ही अवयवों अथवा प्रकृतियों के गुणों का वर्णन किया है। ये सभी सरकार के आवश्यक तत्व हैं। शाही सरकार अथवा राजत्व को बिना मंत्रियों के परामर्श के संचालित नहीं किया जा सकता। राजा को कोई कार्य करने से पूर्व इनसे विचार-विमर्श कर लेना

---

1. To conclude, sovereignty in ancient Indian polity was sovereignty of the king, who was the Chakravarti, the Dharmapravartaka, the maker of the age, a god in human form the lord of the land and water, and the source of law and justice. Even as such he could not dictate to society.

—H.N. Sinha, op. cit., P. 223

2. कौटिलीय-अर्थशास्त्रम्, ९६/१/१, पेज ५३७

चाहिए। वैसे राज्य की शक्तिमत्ता एवं प्रभावशालिता बहुत कुछ स्वयं राजा के व्यक्तित्व पर ही निर्भर करती है। राजा अपने व्यवहार पर स्वयं ही कुछ सीमायें लगा लेता है और ये सीमायें पर्याप्त महत्वपूर्ण होती है। सम्प्रभुता के इन समस्त अवयवों का प्रभाव एवं महत्व इस बात पर निर्भर करता है कि राजा द्वारा इनका प्रयोग किस प्रकार किया जा रहा है। यदि राजा आत्म सम्पन्न एवं गुणवान है तो वह इन गुणहीन प्रकृतियों को भी गुणी बना लेता है और यदि राजा आत्म सम्पन्न नहीं है वह गुण समृद्ध एवं अनुरक्त प्रकृतियों (सम्प्रभुता के अंगो) को भी नष्ट कर देता है।[1] राजा यदि आत्म सम्पन्न है और नीति का जानने वाला है तो वह थोड़ी भी भूमि का स्वामी होते हुए भी अपने गुणों के कारण सारी पृथ्वी पर आधिपत्य स्थापित कर लेता तथा वह कभी भी नष्ट नहीं होगा। इसके विपरीत एक दुष्ट प्रकृति का राजा सारी पृथ्वी का अधिपति होते हुए भी अपनी प्रकृतियों द्वारा ही नष्ट हो जाता है अथवा उस पर शत्रुओं का अधिकार हो जाता है। इस प्रकार सब कुछ राजा के व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। राजा द्वारा सम्पूर्ण व्यवस्था के लिए प्रेरणा शक्ति प्रदान की जाती है। इसीलिए राजा के प्रशिक्षण पर पर्याप्त जोर दिया गया। मंत्रियों अथवा अमात्यों का भी वास्तविक प्रशासन के संचालन पर पर्याप्त प्रभाव होता है अतः उनके चयन एवं नियुक्ति में विशेष ध्यान देने की आवश्यकता पर जोर दिया गया। सरकार के संचालन में अमात्यों का सहयोग एवं सहायता परम आवश्यक एवं महत्वपूर्ण थी। यह कहा गया कि इनकी नियुक्ति के समय योग्यता का ध्यान रखा जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त उनकी ईमानदारी तथा स्वामिभक्ति की भी पहले से ही जांच कर ली जानी चाहिए।

मंत्री दो प्रकार के बनाये गये हैं। प्रथम वे जो कि वास्तविक प्रशासन के लिए उत्तरदायी हैं और दूसरे वे जोकि राजा के केवल परामर्शदाता मात्र थे। प्रथम को हम कार्यपालिका अधिकारी तथा द्वितीय को एक प्रकार का मंत्रीमण्डल या मंत्रीपरिषद कह सकते हैं। मंत्रियों की संख्या का निश्चय राजधानी की आवश्यकता के आधार पर किया जाता था। एक प्रधानमंत्री होता था जो कि परिवार का पुरोहित एवं गुरु माना जाता था। सम्प्रभुता के इन समस्त अंगों का महत्व होते हुए भी इनमें राजा का महत्व एवं प्रभुता अधिक होती थी तथा उसी के नेतृत्व के आधार पर ही ये विभिन्न अंग भी प्रभावशाली बनते थे। राजा के हाथ में दण्ड की शक्ति रहती थी, वही मंत्रियों की नियुक्ति एवं पदविमुक्ति के लिए उत्तरदायी था, वह राज्य कोष की आय एवं व्यय का प्रबंध करता था, किले बन्दी एवं मित्रों की रचना का कार्य भी स्वयं उसी के द्वारा किया जाता था। अतः राजा को प्राचीन भारतीय विचारकों ने सम्प्रभु माना।

---

1 कौटिलीय-अर्थशास्त्रम्, ६६/१/१, पेज ५३६

राज्य की सम्प्रभुता पर सीमायें
(The Limitations over State Sovereignty)

प्राचीन भारतीय विचारकों ने राजा को जो अधिकार एवं सम्प्रभुता सौंपी थी वह किसी भी अर्थ में असीमित नहीं कही जा सकती। उस पर आन्तरिक एवं वाह्य रूप से अनेक प्रकार की सीमायें लगाई जाती थीं। यह सच है कि राजा के द्वारा राज्य को विनियमित करने तथा उसकी अध्यक्षता करने की बात कही गई थी किन्तु यह कार्य करने में वह स्वेच्छाचारी नहीं बन सकता था। राजा दण्डधर था अर्थात वह सम्प्रभुता के साधनों से युक्त था किन्तु उसे भी एक पूर्ण इंसान नहीं माना गया था। उसके द्वारा भी गलतियां की जा सकती थी तथा इन गलतियों के लिए उसको भी दण्ड का भागीदार बनना होता था। दूसरे शब्दों में राजा सम्प्रभुता या दण्ड के ऊपर नहीं था वह इसे केवल लागू करने वाला मात्र था। आवश्यकता पड़ने पर वह स्वयं भी इसका विषय बन सकता था। मि. बी. के. सरकार का यह कहना सही है कि दण्ड एक दो धार वाले यंत्र की भांति है जो कि दोनों ओर से काटता है।[1] एक ओर तो यह जनता में आतंक फैलाने वाला है तथा सामाजिक बुराइयों को दूर करने वाला है। यह लोगों को नैतिक बनाने वाला, उनकी शुद्धि करने वाला तथा उनको सभ्य बनाने वाला है। शुक्रनीति के अनुसार दण्ड के भय से ही लोग सद्गुण सम्पन्न बनते हैं तथा दूसरे पर आक्रमण करने या असत्य भाषण की नीति अपनाने से बचते हैं। दण्ड का भय जंगलियों को भी प्रभावित कर सकता है। यह चोरों को भयभीत करता है तथा शत्रुओं को हतोत्साह करके उनको निष्क्रिय बनाता है। यह नागरिक जीवन की आधार शिला है। इसमें मानवीय गुण आश्रय पाते हैं। इसके बिना कूटनीति के समस्त तरीके एवं साधन महत्वहीन बन जाते हैं।

दूसरी ओर 'दण्ड' स्वयं प्रशासक के लिए भी सम्भावित खतरे का साधन है। यदि वह इसका प्रयोग गलत रूप में करेगा तो स्वयं विनष्ट हो जायेगा। ताज पहनने वाला सर बोझल बन जाता है। कामण्डक का कहना था कि दण्ड का गलत रूप में प्रशासन प्रशासक के पतन का कारण बन जाता है। जब प्रशासक इसका प्रयोग पर्याप्ति बुद्धि एवं कुशलता के साथ करने लगता है तो इससे जनता के कल्याण का मार्ग प्रशस्त होता है। फिर भी इस बात का कोई भरोसा नहीं है कि इस हथियार के द्वारा इसे पकड़ने वाले को घायल नहीं किया जायेगा क्योंकि इसको विचारहीनता एवं स्वेच्छाचारिता के साथ भी प्रयुक्त किया जा सकता है। ऐसा होने पर परिणाम घातक होगा। अपने कर्त्तव्य से भ्रष्ट होने वाले तथा जीवन के अपने लक्ष्य से विमुख होने वाले राजा को भी दण्ड की शक्ति द्वारा क्षमा नहीं किया जाता। राजा को

---

1. In Hindu political thought, therefore, danda is a two-handed engine and cuts both ways.

—Beney Kumar Sarkar, op. cit. P. 201.

केवल व्यक्तिगत रूप से ही नहीं वरन् उसके सम्बन्धियों, उसकी सम्पत्ति भूमि प्राप्तियां आदि को भी समाप्त किया जा सकता है।।

प्राचीन भारतीय विचारकों ने सम्प्रभुता शब्द का अर्थ स्पष्ट रूप से दिया है। वे जैसा कि मि सिन्हा का कहना है, इस विचार से अपरिचित नहीं थे किन्तु तो भी उनके द्वारा वर्णित सम्प्रभुता की मान्यता की प्रकृति एवं विषय वस्तु इसके आधुनिक अर्थ से भिन्न थी।[1] इस भिन्नता को हम इस तथ्य के माध्यम से प्रदर्शित कर सकते हैं कि प्राचीन भारतीय आचार्यों ने सम्प्रभुता की मान्यता पर पर्याप्त सीमाएं लगाई थीं। इन सीमाओं में से कुछ का अध्ययन निम्न प्रकार किया जा सकता है—

सम्प्रभु को न्याय के अनुसार कार्य करना चाहिए
(The Sovereign must act according to Justice)

दण्ड धर का मुख्य कार्य धर्म कानून एवं न्याय की रक्षा करना था। वह अपनी स्वेच्छा का प्रयोग करते हुए कोई भी, ऐसा निर्णय नहीं ले सकता था जो कि उसको इन उद्देश्यों से अभिमुख कर दे। न्याय का अर्थ अच्छे और बुरे का भेद करना है। न्याय के आधार पर ही प्रशासक एवं प्रशासितों के सद्गुणों का अनुमान लगाया जा सकता था कि वह सामान्य कल्याण की वृद्धि में सहायक भी हो सकते हैं अथवा नहीं। अर्थशास्त्र के कथनानुसार सम्प्रभु अपनी आज्ञाओं को व्यापक रूप से प्रचारित करता है। ये आज्ञायें ही न्याय होती हैं तथा ये सत्य के समरूप होती हैं।

जब भारतीय ग्रन्थ सम्प्रभु को कानून एवं न्याय का रक्षक कहते हैं तो इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कानून तथा न्याय का स्तर सम्प्रभु से ऊपर रहेगा। सम्प्रभु को इनके दिशा या इनके विरुद्ध कोई भी कार्य करने का अधिकार नहीं होगा। राजा स्वयं न्याय का व्याख्याता या निर्धारक भी नहीं है क्योंकि भले और बुरे की भावना का निर्णय उन धर्म शास्त्रों एवं नीति शास्त्रों द्वारा किया जाता है जो कि राज्य या सम्प्रभु की परे होते हैं और जिनकी रचना में राजा का कोई योगदान नहीं होता। समाज में स्थापित न्याय की भावना को सम्प्रभु भी मान्यता प्रदान करता है। इस सम्बन्ध में कौटिल्य ने कुछ उदार नीति अपनाई है। वह राज्य में व्याप्त अनेकता के तत्वों को दबाने के लिए सम्प्रभु को कुछ अधिक शक्तियां सौंपता है। एम वी कृष्णाराव के कथनानुसार राज्यों में एकीकरण की स्थापना के लिए तथा आन्तरिक एवं बाह्य शत्रुओं के विरुद्ध उनको ठोस आधार प्रदान करने के लिए कौटिल्य सम्प्रभु को यह शक्ति देता है कि वह वर्तमान व्यवहार एवं आचार में

---

1. In an ancient India the concept of sovereignty was not unknown, but its content and character were very different to those of its modern counterpart

—H. N. Sinha

शाही व्यवस्थापन तथा अधिकार क्षेत्र द्वारा परिवर्तन ला सके।[1]

प्राचीनकालीन न्यायालयों का संगठन साधारण था। न्यायिक अधिकारी नागरिक प्रक्रिया संहिता की औपचारिकताओं के बिना ही निर्णय देते थे। इस कार्य में न्याय वेत्ताओं की सहायता प्राप्त नहीं की जाती थी। किन्तु जब राजनैतिक एवं सामाजिक दृष्टि से जटिलतापूर्ण साम्राज्य का जन्म हो गया तो कण्टक शोधन न्यायालयों का संगठन नये रूप में किये जाने की आवश्यकता महसूस की गई। चन्द्रगुप्त के साम्राज्य में कानून की एक पृथक व्यवस्था की आवश्यकता हुई जो कि सरकार की कार्यपालिका एवं प्रशासकीय शाखाओं के सम्बन्धों को प्रशासित कर सके। प्रशासन ने अपने आप को समाज के विभिन्न वर्गों से सुरक्षित रखने का दायित्व संभाला। इसके परिणामस्वरूप न्यायाधीशों एवं प्रशासकों के हाथों में पर्याप्त व्यापक स्वेच्छाचारी शक्तियां सौंपी गई।

(२) सामाजिक प्रथाओं तथा रीति रिवाजों का सम्मान [The Respect for Social Traditions]

सम्प्रभु को यह शक्ति प्रदान की गई थी कि वह धर्म के विरुद्ध कार्य करने वालों को दण्ड प्रदान करें।। इस शक्ति में सीमा स्वमेव ही अन्तर्निहित है। इसको निषेधात्मक रूप से इस तरह भी कहा जा सकता है कि वह किसी भी धर्ममय व्यक्ति को दण्ड नही दे। इसके अतिरिक्त एक बात यहां यह भी महत्वपूर्ण है कि सम्प्रभु द्वारा धर्म विषयक निर्णय लेने में किसी स्थान विशेष या वर्ग विशेष के विश्वासों, प्रथाओं तथा समाज व्यवस्था की अवहेलना करने का अधिकार नहीं था। यहां तक कि राजा को यह भी परामर्श दिया गया था कि र जा जीते हुए देश के लोगों की स्थानीय परम्पराओं को बनाये रखे क्योंकि यदि उनको बदला या दबाया गया तो राज्य का व्यापक विरोध होगा तथा सम्प्रभु शक्ति समाप्त हो जायगी। इस प्रकार सम्प्रभुता के अस्तित्व की दृष्टि से यह परामर्श देकर सम्प्रभुता के व्यवहार पर सीमा लगा दी गई।

(३) धार्मिक सीमाएं [The Religious Limitations]

सम्प्रभुता के व्यवहार पर धर्म की सीमाएं सबसे प्रमुख तथा प्रभावशील थीं। यद्यपि सम्प्रभु को यह शक्ति प्राप्त थी कि वह दण्ड दे सके। किन्तु वह केवल अपराधियों एव दुराचारियों को ही दण्ड दे सकता था। अर्थात् इस अधिकार का प्रयोग करते समय उसके धर्म के अनुसार कार्य करना होता था।

---

1. For the first time, in order to achieve the integration of states and their eventual solidarity against internal and external enemies, Kautilya pleads for the modification of existing-Vyavahara and Achara by royal legislation and jurisdiction.

—M. V. Krishna Rao, op. cit., P. 130

दण्ड के भारतीय सिद्धान्त ने जनता को भी राजा के विरुद्ध कुछ अधिकार प्रदान किये हैं। दण्ड का उपयोग भी तभी हो सकता था जब कि इसका प्रयोग पूरी सावधानी के साथ किया जाता। मनु आदि आचार्य अनुशासन विहीन व्यक्ति के हाथ में दण्ड की शक्ति सौंपना नहीं चाहते हैं। इसके अतिरिक्त वे इस कार्य में पर्याप्त बुद्धि की आवश्यकता पर जोर देते हैं जिसके लिए वे मन्त्रियों या अन्य लोगों का परामर्श प्राप्त करने की सलाह देते हैं। दण्ड के हथियार का प्रयोग करने से पूर्व ये दो बातें अवश्य हो जानी चाहिये। बी के. सरकार के कथनानुसार इस व्यवस्था द्वारा सम्प्रभुता के हिन्दू सिद्धान्त में दण्ड-धर की सम्भावित अनियन्त्रित शक्तियों पर तार्किक रूप से प्रतिबन्ध लग जाता है।[1]

(४) जाति व्यवस्था की सीमाएं
[The Limitations of Caste System]

भारत में समाज का संगठन वर्ण व्यवस्था अथवा जाति व्यवस्था के आधार पर हो चुका था। इस व्यवस्था में हस्तक्षेप करने का अधिकार किसी भी सम्प्रभु को नहीं दिया गया। इसके विपरीत उसका यह प्रमुख कर्त्तव्य बनाया गया कि वह इस व्यवस्था को कायम रखे तथा इसे तोड़ने वालों को दण्ड की व्यवस्था करे। चार वर्गों के रूप में विभाजन जाति समाज केवल एक वैचारिक कल्पना मात्र थी। फिर भी लोगों के मस्तिष्क पर वर्णाश्रम धर्म के नाम पर जो धार्मिक कार्यात्मक एवं सामाजिक समूह बन चुका था उसने एक प्रकार के दिमागी साम्राज्य की रचना की तथा इसको कमजोर करने अथवा इसकी अवहेलना करने के लिए किया गया कोई भी प्रयास न केवल क्रान्तिकारी समझा गया वरन् पूर्णतः एक क्षमा न किया जा सकने वाला पाप माना गया। जाति व्यवस्था ने कार्यों का एक सैद्धान्तिक आधार पर वितरण किया और इस प्रकार सम्प्रभुता की पूर्ण शक्ति पर बाधा लगाई। उदाहरण के लिए कोई भी सम्प्रभु यदि चाहता तो भी एक शूद्र को ब्राह्मण के स्तर पर नहीं पहुंचा सकता था।

(५) लोक हित की सीमा
[The Limitation of Public Interest]

प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में जनता के अधिकारों से सम्बन्धित सिद्धान्त प्रायः प्राप्त नहीं होते। फिर भी एक दृष्टि से देखने पर हम कह सकते हैं कि ये आचार्य मनुष्य के अधिकारों से अनभिज्ञ नहीं थे। उन्होंने बार-बार इस बात पर जोर दिया है कि प्रत्येक को स्वधर्म का पालन करना चाहिये केवल तभी सामाजिक व्यवस्था लागू की जा सकती है, स्वयं राजा को भी अपने

---

1. And here is available the logical check on the possible absolutism of the Danda-dhara in the Hindu Theory of Sovereignty.

—B K. Sarkar, op, cit , P. 203

कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिये। इस अर्थ में हम कह सकते हैं कि राजा के कर्त्तव्यों का वर्णन करते हुए जनता के अधिकारों पर अप्रत्यक्ष रूप से प्रकाश डाला गया। यहां स्वधर्म पालन में मृत्यु को दूसरे के श्रेष्ठतम धर्म को अपना कर जीवित रहने की अपेक्षा श्रेयस्कर माना गया है।

कौटिल्य आदि भारतीय आचार्य इस बात पर जोर देते हैं कि राजा या सम्प्रभु को चाहिये कि वह स्वयं को जनता का सेवक समझे। राजाशाही के साथ स्वेच्छाचारी शक्तियां संयुक्त नहीं की गई थीं। उसे जनहित में कार्य करने के लिए कहा गया। जनहित विरोधी राजा को धर्म विरोधी, भ्रष्ट एवं पतित माना जाता था और उसका दण्ड था राजा का विनाश।

(६) सम्प्रभुता सम्बन्धी मिश्रित विचार [The Composite Concept of Sovereignty]

भारतीय विचारधारा के अनुसार सम्प्रभु स्वेच्छाचारी बन ही नहीं सकता था क्योंकि वह राजनैतिक संरचना का एक भाग मात्र था। सम्प्रभुता के अनेक अवयव बताये गये हैं तथा इन सभी अवयवों का संयुक्त रूप कभी भी पूर्व प्रभुत्व सम्पन्न तानाशाह नहीं बन सकता था क्योंकि उसकी शक्तियां विभिन्न तत्वों के पारस्परिक प्रतिबन्धों के कारण स्वमेव ही संतुलित हो जाती थी। सम्प्रभु अकेला ही कार्य नहीं कर सकता था क्योंकि राजा रूपी रथ का संचालन इस एक मात्र पहिये की सामर्थ्य के बाहर की बात थी। सम्प्रभुता केवल सहयोग प्राप्त होने पर ही सार्थक बन सकती थी। इसके लिए मन्त्री नियुक्त करने होते थे तथा उनका मत सुनना एवं मानना होता था। के. एम. पनिक्कर महोदय का यह कथन सत्य प्रतीत होता है कि यह विचार कि राजा सम्प्रभुता के सात अवयवों में से ही एक है तथा एकमात्र नहीं है, जैसा कि पश्चिमी विचारक मानते है, ही राज्य की स्वेच्छाचारिता के मार्ग की प्रमुख बाधा थी। सर्वाधिक शक्तिशाली राजा भी अपने आपको सभी शक्तियों से युक्त नहीं बना सकता था क्योंकि ऐसा करना न केवल राजधर्म के विरुद्ध था वरन् राज्य की संगठनात्मक प्रकृति के भी विपरीत था।[1]

वृद्ध जनों एवं मंत्रियों का सहयोग सम्प्रभु के दायित्वों को सम्पन्न करने के लिए वाञ्छनीय था। राजा या सम्प्रभु राजा से सम्बन्धित विभिन्न प्रश्नों को वृद्ध एवं अनुभवी मंत्रियों की आंखों से देखता था तथा उनके द्वारा स्वीकृत

1, The idea of the king being only one of the limbs and not the embodiment of the whole as in western thought stood in the way of a theory of autocracy. The most powerful king could not make himself the combination of all the powers because such an idea was not only against Raj-dharma but against the organisational character of the State.

—K. M Panikkar, op cit, P. 68

व्यवहार का आचरण करता था। वृद्धों एवं मंत्रियों के परामर्श को प्रभावशील रूप से आचरण में उतारने की आवश्यकता कौटिल्य के काल में विशेष रूप से हुई जब कि भारत छोटे छोटे स्वतन्त्र राज्यों में बटा हुआ था जो कि एक दूसरे के साथ युद्ध की स्थिति में थे तथा आक्रमण का विरोध कर सकने में सक्षम नहीं थे।

प्राचीन भारत में धर्म से सम्बन्धित भावनाओं तथा दण्ड एवं धर्म के पारस्परिक सम्बन्ध का वर्णन करने के साथ-साथ हमने यह भी जानने का प्रयास किया है कि सम्प्रभुता के सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय ग्रन्थों एवं आचार्यों के क्या विचार थे। इन समस्याओं से सम्बन्धित विचार विमर्श के बाद कुछ एक बातें हमारे सामने स्पष्ट हो जाती हैं। इस बात में शक की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती कि प्राचीन भारतीय राजनीति पर धर्म का पूरी तरह से प्रभाव था। धर्म का अर्थ वे संकुचित रूप में नहीं लेते थे वरन इसे वे कर्त्तव्य, न्याय, मानवीय गुण, सदाचार, व्यवस्था आदि विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त करते थे। राजा का कार्य धर्म की रक्षा करना, धर्म के अनुसार शासन चलाना तथा धर्म विरोधियों को दण्ड देना बताया गया। दण्ड व्यवस्था का उद्देश्य एवं आधार मूल रूप में धर्म था। राजा इस शक्ति का उपयोग कभी भी धर्म के विरुद्ध नहीं करेगा वरन् धर्म विरोधी होने पर तो यह शक्ति स्वयं राजा के विरुद्ध भी प्रयुक्त की जा सकती थी। इस प्रकार राजा की सम्प्रभु शक्ति आस्टिन द्वारा वर्णित असीमित शक्ति नहीं थी। उस पर धर्म, रीति रिवाज, जनहित कानून, न्याय की भावना, मंत्रियों के परामर्श, जाति व्यवस्था आदि अनेक प्रतिबन्ध लगे हुए थे। इन समस्त प्रतिबन्धों एवं सीमाओं में रहते हुए राजा से यह आशा की जाती थी कि वह समाज की व्यवस्था को बनाये रखेगा तथा धर्म की रक्षा करेगा। ऐसा करने में वह दण्ड को धारण करेगा और धर्म विरोधियों के विरुद्ध उसे प्रयुक्त करते हुए जनकल्याण का प्रयास करेगा तथा मत्स्य न्याय की स्थिति से लोगों को बचाये रखेगा।

3

राज्य का स्वरूप

[THE NATURE OF STATE]

प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में राजा के स्वरूप के सम्बन्ध में पर्याप्त विवरण प्राप्त नहीं होता है। यहां राज्य के अतिरिक्त बातो पर इतना अधिक ध्यान दिया जाता था कि राजा को उसका उचित स्थान प्राप्त न हो सका। यहां के लोगों में राष्ट्रीयता की भावना जैसी कोई भावना विकसित नहीं हो सकी थी। प्रारम्भ से ही भारत के इतिहास पर हमको धर्म का जो प्रभाव दिखाई देता है उसके कारण धार्मिक संस्थाओं ने यहां के लोगों के चरित्र एवं विकास को पर्याप्त प्रभावित किया। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक था कि यहां के लोग राज्य के हित की ओर अधिक ध्यान नही देते। अनेक भारतीय विचारकों का कहना है कि प्राचीन भारतीय समाज पर धर्म के प्रभाव का यह अर्थ कदापि नहीं है कि यहां राज्य के सम्बन्ध में विचार किया ही नहीं गया था। इसके विपरीत राज्य के स्वरूप एवं प्रकृति के बारे में यहां पूरी तरह से विचार विमर्श किया गया है। कौटिल्य की रचना के प्रकाश मे आने के बाद यह स्पष्ट हुआ कि प्राचीन भारतीयों ने राज्य एवं उससे सम्बन्धित प्रत्येक समस्या पर कितनी गहराई से सोचा था। इसके अतिरिक्त कामण्डक के नीतिसार में भी पुराने आचार्यो के राज्य की प्रकृति से सम्बन्धित मतों को अभिव्यक्त किया गया है।

आज प्राचीन भारतीय राजनीति से सम्बन्धित जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं तथा इस दिशा में जितना अनुसंधान कार्य हुआ है उसको देखने के बाद यह मत पूर्णतः भ्रामक एवं पक्षपातपूर्ण प्रतीत होता है कि भारत का राजनीति शास्त्र के विकास के क्षेत्र में कोई योगदान नहीं है। योगदान तो दूर की बात है लोग तो यहां तक कहते हैं कि हिन्दुओं ने राजनीति विज्ञान जैसी किसी कृति को विकसित ही नहीं किया। वे इस विषय से पूर्णतः अनभिज्ञ थे। यह कथन उस समय हास्यास्पद प्रतीत होता है जबकि हम कौटिल्य आदि विचारकों द्वारा वर्णित राज्य के सात अवयवों का अध्ययन करते हैं। इन सातो ही अवयवों को राज्य की प्रकृतियां कहा गया है। इन सातों अंगों का अर्थ पर्याप्त

महत्त्व रखता है। यहाँ प्रकृति के कई अर्थ लिये जा सकते हैं—जैसे प्रकृतिमता, संविधान, मूल तत्त्व आदि आदि। यहाँ इन प्रकृतियों को राज्य के स्वभाविक अंग माना गया है। यहाँ राज्य का अर्थ किसी राजधानी से नहीं है क्योंकि राजधानी केवल एक राजा के प्रशासकीय क्षेत्र को इंगित करती है, जब कि राज्य से हमारा अर्थ जिन अवयवों से है उनमें से एक स्वयं राजा भी है। यदि हम राजा को उस राजधानी का स्वामी या उससे पृथक मानें तो उसे राज्य के सप्तांगों में कदापि सम्मिलित नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त प्रशासकीय क्षेत्र से हमारा अभिप्राय एक प्रदेश से होता है जबकि प्रदेश स्वयं राज्य का एक अवयव माना गया है।

यहाँ राज्य को सरकार के अर्थ में भी नहीं लिया जा सकता क्योंकि जैसा कि आधुनिक सिद्धान्त शास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित किया गया है, सरकार उन कुछ संगठनों का योग है जो कि राज्य की सम्प्रभु शक्तियों का प्रयोग करते हैं या कर सकते हैं। इस प्रकार की शक्तियों का प्रयोग करने वाला एक संगठन या तो कुछ व्यक्ति हो सकते हैं या व्यक्तियों का समूह। किन्तु जब हम राज्य के सप्तांगों में से कोष और दुर्ग को लेते हैं तो पाते हैं कि इनमें न कोई व्यक्ति होता है और न व्यक्तियों का समूह। ये शुद्ध रूप से राज्य के भौतिक तत्त्व होते हैं। इस प्रकार डा॰ भण्डारकर का यह कहना उपयुक्त ही है कि राज्य शब्द का अर्थ न तो प्रशासकीय क्षेत्र है और न ही एक सरकार, क्योंकि इनमें से एक का सदस्य तो स्वयं राजा हो सकता है तथा राज्य के अन्य निर्मायक अंग शुद्ध रूप से भौतिक हो सकते हैं।[1] वैसे हिन्दू धर्म शास्त्रों में राजा शब्द का प्रयोग सम्पूर्ण राज्य व्यवस्था को इंगित करने के लिये भी किया गया है फिर भी राजा केवल एक व्यक्ति नहीं है यह एक संस्था भी है, चाहे राजा शब्द के प्रयोग की लोकप्रियता के पीछे राजतन्त्र की प्रमुखता ही मुख्य कारण रही हो किन्तु यह सच है कि राजा का एक संस्था के रूप में वर्णित किया गया।

राज्य के सात अंग
[The Seven Limbs of State]

कौटिल्य एवं कामन्दक आदि भारतीय आचार्यों ने राज्य के सात अंग माने हैं और इन सातों अंगों का व्यापक तथा स्पष्ट रूप से वर्णन किया है। कौटिल्य ने इन सातों अंगों के व्यक्तिगत वांछनीय गुणों का भी व्यापक रूप से वर्णन किया है। मि॰ बी॰ के॰ सरकार के कथनानुसार सात श्रेणियाँ अर्थात् स्वामी या सम्प्रभु, अमात्य या मंत्री, पुरोहित या मित्र कोष या वित्त,

---

1. The word rajya must therefore be understood to mean not a Kingdom or a government', one of whose members may very well be the King himself and some of whose components may be purely physical
—Dr B R. Bhandarkar, op cit, P. 66

राष्ट्र या प्रदेश, दुर्ग या किले बंदी और बाला अथवा सेनाओं को हिन्दू दार्शनिकों के समस्त राजनैतिक विचारों का मूल आधार माना जा सकता है।[1] इन अंगों की मान्यता को सप्ताङ्ग का सिद्धान्त कहा जाता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से लेकर भोज के युक्ति कल्प-तरु तक के सभी नीति शास्त्रों का मूल विचार विशेष रूप से राज्य के इन सात अंगों का अलग से विश्लेषण और उनके पारस्परिक सम्बन्धों का वर्णन करना है।[2]

कौटिल्य ने जब इन सप्ताङ्गों का वर्णन किया तो उसका उद्देश्य मूल रूप से व्यावहारिक था। राज्य का प्रथम निर्मायक अंग स्वामी को माना गया। यह स्वामी एक व्यक्ति हो सकता है और कई व्यक्ति भी मिलकर हो सकते हैं। जब स्वामी केवल एक व्यक्ति होता है तो वह राजतंत्र कहा जाता है और कौटिल्य के अनुसार यह राज्य का सामान्य रूप है। कौटिल्य ने जब स्वामी के आवश्यक गुणों का उल्लेख किया है तो कहीं भी यह नहीं कहा कि स्वामी को राजा होना चाहिये। इससे यह प्रतीत होता है कि स्वामी राजा के अतिरिक्त भी हो सकता था। स्वामी के गुणों को उसने चार भागों में विभाजित किया है, ये हैं—अभिगामिक, प्रज्ञा उत्साह, एवं आत्मसम्पदा। कौटिल्य द्वारा वर्णित इन गुणों पर विचार करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि सम्प्रभु अमल में सर्वोच्च है और वह किसी के भी प्रति स्वामी भक्ति रखने के लिये मजबूर नहीं है। दूसरे शब्दों में वह सम्पूर्ण राजनैतिक संगठन का शासक होता है, उसके किसी एक भाग मात्र का नहीं।

हिन्दू राज्य का दूसरा अंग आमात्य है। अर्थ शास्त्र के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आमात्य का पद महत्व पूर्ण माना गया। एक आदर्श आमात्य में जो गुण होने चाहिये उनका वर्णन कौटिल्य ने विस्तार पूर्वक किया है। यह गुण हैं स्वदेश में उत्पन्न, कुलीन (अच्छे कुल वाला), अवगुण रहित, चतुर, ललित कलाओं का जानने वाला, बुद्धिमान, अर्थशास्त्र का जानने वाला, स्मरण शक्ति सम्पन्न, वाकपटु दबङ्ग, प्रतिवाद या प्रतिकार करने में समर्थ, उत्साही, प्रभावशाली, सहिष्णु, पवित्र, मित्रता के योग्य, दृढ़, स्वामी भक्त, सुशील, समर्थ्य, स्वस्थ, धर्यवान निरभिमानी, प्रिय दर्शी, स्थिर प्रकृति, द्वेष वृत्ति रहित आदि। इन गुणों से सम्पन्न व्यक्ति को ही आमात्य या प्रधानमंत्री बनाना चाहिये। जिस व्यक्ति में इनमें से आधी या एक चौथाई योग्यतायें हों उनको मध्यम या निकृष्ट मंत्री समझना चाहिये। इन गुणों में से स्वदेश का होना और स्वामी भक्त होना पर्याप्त महत्व रखते हैं। यहां एक बात यह उल्लेखनीय है कि यह आमात्य प्रशासक और कार्यपालिका अधिकारी भी होते थे।

राज्य का तीसरा अङ्ग जनपद कहा गया, जिसके लिए कोई उपर्युक्त समानार्थक शब्द प्राप्त नहीं होता। कौटिल्य ने जनपद के जिन विभिन्न

---

1. B. K. Sarkar, op. cit, P. 167
2. Ibid.

गुणों का वर्णन किया है उनसे यह स्पष्ट ज्ञान नहीं हो पाता कि उसका अर्थ प्रदेश से है अथवा जनसंख्या या जनता से। जहां कौटिल्य यह कहते हैं कि जनपद ऐसा हो जिसके बीच में तथा सीमान्तों में किले बने हों, जिसमें यथेष्ठ अन्न पैदा होता हो, विपत्ति के समय वन पर्वतों द्वारा आत्म रक्षा की जा सके, जो कंकड़ पत्थर तथा जंगली जानवरों से रहित हो, जो नदी, तालाबों से सज्जित हो, जो लकड़ियों तथा हाथियों से युक्त हो, जहां का जलवायु अच्छा हो, तो हमें लगता है कि जनपद से उनका अर्थ भूमि या प्रदेश से है। किन्तु जब हम उनके द्वारा वर्णित कुछ अन्य गुणों की ओर ध्यान देते हैं तो लगता है कि वे जनपद में जनता को भी समाहित करना चाहते थे। संस्कृति का यह शब्द असल में दोनों ही अर्थ रखता है। यही कारण है कि जब हम राज्य की प्रकृति के रूप में जनपद को लेते हैं तो यह जनसंख्या और प्रदेश दोनों को इंगित करता है।

राज्य का चौथा अवयव किला है। किलेबन्दी के सम्बन्ध में कौटिल्य ने अनेक उपयोगी सूचनायें प्रदान की हैं। उनके कथनानुसार राजा को अपनी राजधानी की सीमाओं पर चारों दिशाओं में किले बनवाने चाहिये ताकि उसके सहारे युद्ध किया जा सके। कौटिल्य ने दुर्ग चार प्रकार के माने हैं—औदक, पार्वत, धान्वन एवं वनदुर्ग। पहली श्रेणी में वे दुर्ग आते हैं जो कि चारों ओर पानी से घिरे हुए टापू के समान, गहरे तालाबों से आवृत स्थल प्रदेश पर होते हैं। दूसरी श्रेणी में बड़ी बड़ी चट्टानों तथा पर्वत की कन्दराओं के रूप में निर्मित दुर्ग आता है। तीसरी श्रेणी में आते हैं जिनको जल या घास रहित अथवा ऊसर भूमि में बनाया जाता है; और चौथी श्रेणी में चारों ओर दल दल से घिरे हुए एवं कांटेदार सघन झाड़ियों से आवृत किले आते हैं। इनमें से प्रथम दो किलों को आपत्ति काल में जनपद की रक्षा के लिए काम में लाया जाता है और अन्तिम दो को वनपालों की रक्षा के लिए। जहां कम परिश्रम और कम धन खर्च करने पर आसानी से किला बनाया जा सके वहीं बनाना चाहिये। इन किलबन्दियों के अतिरिक्त कौटिल्य ने राजा को यह भी परामर्श दिया है कि वह अपनी राजधानी के केन्द्रीय स्थान पर मुख्य नगर स्थापित करे जो कि धनोत्पादन के केन्द्र बन सके। इस उद्देश्य के लिए प्रदेश का चयन करते समय जिन बातों को ध्यान में रखना चाहिये उनका भी उन्होंने विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। किलेबन्दी से सम्बन्धित सूक्ष्म विस्तार का वर्णन करने के बाद कौटिल्य ने आन्तरिक भाग के नियोजन के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ कहा है। कौटिल्य इस दुर्ग को 'पुर' का नाम भी देते हैं। इसीलिए मनु ने राज्य के सात अवयवों में दुर्ग के स्थान पर 'पुर' का नामोल्लेख किया है। यह सच है कि एक राज्य के सभी स्थानों में राजधानी प्रदेश की किलेबन्दी सबसे अधिक की जानी चाहिये, किन्तु कभी कभी यह सम्भव नहीं हो पाता किन्तु फिर भी कौटिल्य का कहना है कि ऐसे महत्वपूर्ण केन्द्रों की सीमाओं पर किलेबन्दी पूर्ण स्थान होने चाहिये जहां से कि राज्य की सुरक्षा की जा [illegible] अथवा 'किला' राज्य का अधिक महत्वपूर्ण अङ्ग है।

राज्य का पांचवां अङ्ग 'कोष' है। कौटिल्य के कथनानुसार राजकोष ऐसा होना चाहिये जिसमें पूर्वजों की तथा स्वयं के धर्म की कमाई संचित हो। यह कोष धान्य, स्वर्ण, चांदी, तथा अनेक प्रकार के रत्नों से एवं हिरण्य से भरा-पूरा हो जो कि दुर्भिक्ष एव आपत्ति के समय सारी प्रजा की रक्षा कर सके। कोष का सम्पन्न होना उपयोगी एवं आवश्यक है किन्तु ऐसा करने के लिए गलत साधन नहीं अपनाये जाने चाहिये। यह कोष स्वयं राजा द्वारा या उसके पूर्वजों द्वारा न्यायोचित साधनों द्वारा ही भरा जाना चाहिये। सारे कार्यों को सम्पन्नता कोष की स्थिति पर ही निर्भर करती है अतः इसकी ओर राजा को पर्याप्त ध्यान देना चाहिये। कोष के अपव्यय के लिए उत्तरदायी अनेक कारणों का कौटिल्य ने वर्णन किया है। राजा के उद्योग-धन्धे, व्यापार, फसल आदि की अच्छी अवस्था कोष की समृद्धि का कारण बनती हैं। इन सभी मदों को 'वार्ता' के अन्तर्गत रखा गया है। कौटिल्य का कहना है कि वार्ता पूर्ण रूप से राज्य के कोष एवं सेना पर निर्भर करती है जिसके माध्यम से वह न केवल स्वयं के वरन् शत्रु के पक्ष को भी नियन्त्रित कर सकता ह। जब राज्यकोष बिलकुल खाली हो जाये तथा राज्य महान् आर्थिक सकट में पड़ जाये तो राजा को ऐसे साधनों से धन एकत्रित करने की अनुमति भी दी गई है जो कि वैसे न्यायपूर्ण नहीं माने जा सकते। सकट के समय राजा उपजाऊ एव अच्छी भूमि का अधिक लगान ले सकता है, धनी व्यापारियों पर भारी कर लगा सकता है, जनता की धार्मिक एवं अन्धविश्वासपूर्ण भावनाओं का लाभ उठा सकता है, दुराचारी एवं धूर्त लोगों की भूमि पर अधिकार कर सकता है तथा इसी प्रकार के अन्य तरीके भी अपना सकता है। इस तथ्य से यह प्रकट हो जाता है कि राज्य की आन्तरिक एव बाह्य स्वतन्त्रता की रक्षा मे राजकोष द्वारा कितना महत्वपूर्ण योगदान किया जाता था। जिस धर्म एव न्याय की रक्षा के लिए राज्य कायम था उसे भी संकटकाल में छोड़ने की सुविधा दी गई।

राज्य का छटवां अङ्ग दण्ड या सेना को माना गया है। सेना के माध्यम से राजा अपने देशवासियों तथा शत्रु के देशवासियों पर नियन्त्रण रख सकता है। कौटिल्य के कथनानुसार सेना में वंशानुगत लोगों को भर्ती किया जाये जो कि स्थायी रूप से रह सकें, जिनके स्त्री-पुत्र राजवृत्ति पाकर संतुष्ट हों, युद्ध के समय जिसको आवश्यक सामग्री से लैस किया जा सके जो कभी भी हार न खाता हो, दुःख को सह सके, युद्ध कौशलों से परिचित हो, हर प्रकार के युद्ध में निपुण हो, राजा के लाभ तथा हानि में हिस्सेदार बने। सेना में अधिकार क्षत्रियों को नियुक्त किया जाना चाहिये। इन सब गुणों से युक्त सेना को ही दण्ड सम्पन्न कहा गया है।

कौटिल्य ने सेना के छः प्रकार माने हैं—मौला (वंश परम्परागत सेनायें), भृतक (भाड़े की सेनायें), श्रेणी (लड़ाकू निगमों के सिपाही), मित्र देश की टुकड़ियां, शत्रु देश की टुकडियां, आटवीं अथवा जगली जातियों की सेनायें। कौटिल्य से पूर्व के आचार्यों ने चार वर्णों के आधार पर सेना का चार भागों में विभाजन किया है; किन्तु कौटिल्य को यह विभाजन मान्य

नहीं है। कौटिल्य का मत है कि ब्राह्मणों की सेनाओं को शत्रु द्वारा कभी भी दण्डवत् प्रणाम करके तथा उनकी प्रशंसा करके जीता जा सकता है। ये केवल सम्मान के भूखे होते हैं और वह प्राप्त हो जाने के बाद उनको कुछ भी नहीं चाहिए। क्षत्रियों को हथियार चलाने का पूरा अभ्यास होता है अतः उनकी सेना श्रेष्ठ है। वैश्य एवं शूद्र की सेना भी यदि संख्या में अधिक है तो अच्छी कही जा सकती है। समस्त में सैनिक वही अच्छा होता है जो कि वंश परम्परागत है तथा कई एक लड़ाईयां लड़ चुका है।

हिन्दू राजनीति के अनुसार राज्य का सातवां अवयव मित्र या सहयोगी है। कौटिल्य ने दो प्रकार के मित्रों का उल्लेख किया है। ये हैं—सहज एवं कृत्रिम। बनाया गया मित्र वह होता है जो कि जीवन एवं सम्पत्ति की रक्षा के लिए रखा जाता है। सहज मित्र की मित्रता पिता एवं पितामह के सम्बन्धों से प्राप्त होती है तथा जो पड़ोसी शत्रु के निकट ही स्थित होता है। सहज मित्र सदैव ही कृत्रिम से श्रेष्ठ होता है। कौटिल्य का कहना है कि मित्र ऐसा होना चाहिए जो वंश परम्परागत हो, स्थायी हो, अपने वश में रह सके, जिनसे विरोध की सम्भावना न हो, प्रभुमत्र, उत्साह आदि शक्तियों से युक्त जो समय आने पर सहायता कर सके। जो सहज मित्र व्यापक स्तर पर तुरन्त ही युद्ध करने के लिए तैयार हो जाता है वह एक आदर्श मित्र है।

पश्चिम के साथ तुलना
[The Campatison with West]

राज्य के सात निर्मायक अवयवों की यह एक संक्षिप्त व्याख्या है। इन अवयवों को राज्य की प्रकृति कहने के पीछे अर्थ यह है कि इनके बिना कोई राज्य नहीं रह सकता। इस प्रकार ये अङ्ग राज्य की प्रकृति के द्योतक हैं। इन अङ्गों के आधार पर वर्णित राज्य की प्रकृति से सम्बन्धित भारतीय आचार्यों के मत की तुलना करते हुए डा० भण्डारकर ने पर्याप्त विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया है। उन्होंने लीकॉक (Stephen Leacock), ब्लशली (J K Bluntschli) तथा गेटेल (Raymond Garfield Gettel) आदि के राज्य की प्रकृति से सम्बन्धित मतों का उल्लेख किया है। लीकॉक ने राज्य के चार मूल तत्वों पर अधिक जोर दिया है—प्रदेश, जनसंख्या, एकता एवं संगठन। ब्लशली भी इनको मूल तत्व स्वीकार करते हैं किन्तु इनके साथ ही वे दो पूर्व आवश्यकतायें भी अपनी ओर से मिला देते हैं। गेटेल ने राज्य के उक्त चार तत्वों को मान्यता दी है। इन चार तत्वों में से प्रथम दो तत्व अर्थात् प्रदेश एवं जनसंख्या तो भौतिक हैं। प्रदेश सर्व प्रथम आवश्यक तत्व है जिसके आधार पर कि एक राज्य बनाया जा सकता है। प्रदेश के आकार के सम्बन्ध में अलग-अलग मत हो सकते हैं किन्तु इस सम्बन्ध में दो राय नहीं है कि राज्य की स्थापना के लिए निश्चित भू भाग होना चाहिए। इस प्रदेश पर कुछ लोग रहेंगे तभी यह राज्य के रूप में संगठित हो सकेगा। राज्य पहाड़ों या चट्टानों या पेड़ पौधों से नहीं बन सकता। उसके लिए जनसंख्या का होना अनिवार्य है। जनता के बिना राज्य नहीं हो सकता।

राज्य के दो अन्य मूल तत्वों को सम्प्रभुता शीर्षक के आधीन रखा जा सकता है। इनको एकता एवं संगठन के रूप में विभाजित किया जा सकता है। एकता का अर्थ यह है कि राज्य का निर्मायक प्रदेश एवं जनसंख्या एक राजनैतिक इकाई होनी चाहिए। राज्य एक राजनैतिक इकाई हो, इसका भौगोलिक इकाई होना आवश्यक नहीं है। भौगोलिक इकाई न होते हुए भी पाकिस्तान एक राज्य है किन्तु भौगोलिक इकाई होते हुए भी जर्मनी या कोरिया या वियतनाम एक राज्य नहीं है। जब तक सम्पूर्ण समुदाय अपने आन्तरिक एवं बाह्य सम्बन्धों में राजनैतिक रूप से एक इकाई के रूप में गठित नहीं हो जाता तब तक कोई राज्य नहीं बन सकता। राज्य की चौथी आवश्यकता संगठन है। इस संगठन में शासक तथा शासित के बीच भेद किया जाता है। जब तक एक निश्चित प्रदेश और जनसंख्या में कुछ सत्ता की व्यवस्था न की जायगी उस समय तक राज्य के रूप में संगठित नहीं हो सकता। इस सत्ता की स्थापना या तो पारस्परिक स्वीकृति के माध्यम से हो सकती है अथवा दबाव के द्वारा किन्तु यह सत्य है कि जब तक नियंत्रण और आज्ञाकारिता के सम्बन्ध नहीं होगे उस समय तक राज्य नहीं होगा।

राज्य की आधुनिक विचारकों द्वारा दी गई इस परिभाषा को प्राचीन भारतीय आचार्यों द्वारा दी गई परिभाषा से मिलाना उपयुक्त रहेगा। यदि हम आधुनिक विचारकों द्वारा वर्णित राज्य की भौतिक विशेषताओं को लें तो पायेंगे कि वह प्राचीन भारतीयों द्वारा वर्णित राज्य की तीसरी प्रकृति अर्थात् जनपद में समाहित होते है। जनपद शब्द प्रदेश और जनसंख्या दोनों का द्योतक है, और आचार्यों द्वारा इसको दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त किया गया। जब यह कहा गया कि जनपद को पहाड़ों, जंगलों, शेरों एवं अन्य जंगली जानवरों से स्वतन्त्र तथा उपजाऊ भूमि से युक्त होना चाहिये तो यह स्पष्ट रूप से प्रदेश की ओर इंगित कर रहा था। जब जनपद को शत्रुओं के विरुद्ध श्रमशील किसानों से युक्त, पवित्र हृदय वाले एवं राजा के प्रति स्वामी भक्ति रखने वाले लोगों के लिये प्रयुक्त किया गया तो इसमें कोई संदेह नहीं था कि इस जनपद का अर्थ जनसंख्या से था। डा० भण्डारकर के शब्दों मे इस बात में कोई संदेह की आवश्यकता नहीं है कि जनपद शब्द प्रदेश और जनसंख्या दोनों के लिये प्रयुक्त किया जा सकता है जो कि आधुनिक राजनीति विज्ञान की दृष्टि से राज्य के भौतिक अवयव हैं।[1]

जहां तक राज्य के एक एकीकृत रूप का प्रश्न है, वह हमें प्राचीन आचार्यों द्वारा वर्णित प्रथम प्रकृति अर्थात स्वामी से प्रकट होता है। स्वामी

---

1. No reasonable doubt need therefore be entertained as to the third prakriti, namely, Janapada being co-extensive both with Territory and population which form the Physical constituents of the state from the stand point of modern Political Science.

—Dr. D. R. Bhandarkar op. cit. P. 78

का अर्थ सम्प्रभु या सर्वेसर्वा से था जो कि प्रदेश की जनसंख्या को राजनैतिक एकता प्रदान कर सके। जिस प्रदेश का वह स्वामी होता था, वह अपने आप में स्वाभाविक रूप से एक स्वतन्त्र इकाई होती थी, और किसी अन्य प्रकार राजनैतिक इकाई का भाग नहीं होती। जनपद एवं स्वामी दोनों को सवप-सामन्त अर्थात् इतना शक्तिशाली बताया गया है कि वह पड़ोसी राजाओं को दबा सके। ऐसा वे तब ही कर सकते हैं जबकि किसी स्वतन्त्र राजनैतिक संगठन के भाग हों। राज्य की अन्तिम 'प्रकृति' अर्थात् 'मित्र' के वर्णन से यह प्रकट होता है कि यह भी तब तक नहीं रह सकती जब तक कि राज्य एक स्वतन्त्र इकाई न हो। कौटिल्य ने विभिन्न प्रकार के मित्रों की सूक्ष्म रूप से व्याख्या की है जिसे पढ़ने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकार की मित्रता केवल उन्हीं स्वतंत्र राजाओं के बीच सम्भव है जो कि अपने क्षेत्रों में सर्वोच्च सत्ताधारी हैं। कहने का अर्थ यह है कि एकता का जो विचार आज हमें राजनीति विज्ञान में प्राप्त होता है वह हिन्दू राज्य की मान्यता में भी निश्चित रूप से निहित था।

राज्य का चौथा आवश्यक तत्व अर्थात् संगठन जो कि शासक और शासित के बीच स्थित सम्बन्ध का वर्णन करता है, भारतीय आचार्यों की निगाह से परे नहीं था। इसमें सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं है कि स्वामी या सम्प्रभु और उसके सामन्त्य तथा अन्य अधिकारी प्रशासक वर्ग के लोग थे और जनपद में वह जनसमूह आती थी जो कि आज्ञाकारिता के कर्त्तव्य का निर्वाह करती थी। भारतीय आचार्यों ने केवल सम्प्रभु और प्रजा के बीच अन्तर स्पष्ट करके ही संतोष नहीं कर लिया वरन् उन्होंने वह तरीका भी बताया जिसके माध्यम से राज्य अपनी इच्छा को लागू करता है। भारतीय आचार्यों द्वारा वर्णित राज्य की चौथी, पांचवीं और छठी प्रकृतियां अर्थात् दुर्ग, कोष, और दण्ड यह स्पष्ट करती हैं कि राजसत्ता को किन साधनों से प्रयुक्त किया जायगा। यदि सम्प्रभु शक्ति कभी ऐसी इच्छा प्रकट करे जिसे क्रियान्वित करने के लिये उसकी प्रजा इच्छुक नहीं है तो सम्प्रभु अपनी आज्ञाओं का पालन कराने के लिये दण्ड या सेना का सहारा ले सकता है। एक प्रभावशाली सेना का अस्तित्व कोष की सम्पन्न स्थिति पर निर्भर करता है। किले बन्दी के माध्यम से राजा एवं उसके सहयोगी गृह युद्ध अथवा अन्य किसी भी संकट के समय अपनी रक्षा कर सकते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि राज्य के इस चौथे मूल तत्व अर्थात् संगठन का वर्णन भी भारतीय आचार्यों द्वारा विशद् रूप से किया गया।

उक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारतीय आचार्यों ने प्रो० लीकॉक, गेटेल, तथा ब्लश्ली द्वारा वर्णित राज्य के चारों ही तत्वों का पूर्ण तथा स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है। ब्लश्ली ने राज्य की सावयवी प्रकृति का वर्णन किया है। उनके मतानुसार राज्य कोई जीवन रहित तत्व या बेजान यन्त्र नहीं है किन्तु एक जीता जागता सावयवी है। राज्य की आत्मा और शरीर होते हैं, इसके विभिन्न कार्य करने वाले सदस्य होते हैं, साथ ही राज्य विकसित होता है और बढ़ता है। कहते हैं कि जिस प्रकार एक

तस्वीर रंगों को केवल एक स्थान पर डालने के अतिरिक्त भी कुछ है उसी प्रकार राज्य भी अपने इन चार निर्मायक तत्वों से पृथक अपना अस्तित्व रखता है। प्राचीन भारतीय आचार्यों ने भी कुछ कुछ इसी प्रकार के विचार प्रकट किये है। इन्होंने राज्य को एक रथ की उपमा देकर यह बताने का प्रयास किया है कि जिन विभिन्न अङ्गों से यह बना हुआ है उसके पारस्परिक योगदान के बिना यह एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता। इस उपमा से हमें लगता है कि भारतीय-आचार्य राज्य को एक बेजान चीज मानने के लिये तैयार हैं। किन्तु यह विश्वास भ्रामक माना जाएगा क्योंकि कौटिल्य आदि विचारक यह मत प्रकट करते है कि राज्य को शेष प्रकृतियों का चरित्र एवं प्रभावशीलता स्वामी के चरित्र एवं योग्यताओं पर निर्भर करती है। कौटिल्य ने स्वामी को राज्य की आत्मा कहा है। कुछ कुछ ऐसे ही विचार कामण्डक् ने भी प्रकट किये हैं जिनके कथनानुसार एक राजा अन्तरात्मा के समान है जो कि राज्य की प्रकृतियों पर नियन्त्रण करके इस चल और अचल संसार को सार्थक बनाता है। इन विभिन्न मतों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय आचार्यों ने राज्य को एक जीता जागता आध्यात्मिक सावयवी माना था; जिसमें स्वामी एक आत्मा था और अन्य छः प्रकृतियां राज्य का पार्थिक शरीर। कौटिल्य तो यहां तक कहते हैं कि स्वामी राजनैतिक शरीर की आत्मा होता है इसलिए राज्य उसी के साथ घटता और बढ़ता रहता है। यह मत ब्लंश्ली के इस मत से सदृश्यता रखता है कि राज्य जीवित सावयवी के रूप में बढ़ता और उन्नति करता है। हिन्दू राजनीति मे राज्य की समस्त प्रकृतियां पृथक रूप से अपना अपना कार्य करती थी। वे अलग होते हुए भी एक इकाई का अङ्ग थीं।

भारतीय विचारकों एवं राजनीति शास्त्र के पाश्चात्य विचारकों के बीच राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध में जो मूल भूत अन्तर है वह राष्ट्रवाद की मान्यता से सम्बन्धित है। कौटिल्य अथवा अन्य विचारक जो भी बात कहते थे, वे एक ऐसे राज्य के बारे में कहते थे जो किसी भी जाति, राष्ट्रीयता और जनता वाला हो सकता था। आधुनिक राजनीति विज्ञान के मतानुसार राष्ट्रवाद का विकास एक महत्वपूर्ण तत्व है जो कि राज्य की प्रकृति पर एक नया प्रकाश डालता है जबकि कौटिल्य ने चन्द्रगुप्त का साम्राज्य देखा था। कौटिल्य तो राजा अथवा स्वामी को ही राज्य मानने में कोई एतराज नहीं करता। यह कथन लुई चौदहवें (Louis XIV) के प्रसिद्ध कथन "मैं ही राज्य हू" से मेल खाता है। वैसे कौटिल्य ने राजतन्त्र को राज्य का सर्व-श्रेष्ठ रूप माना है किन्तु फिर भी कई एक स्थानों पर उसने ये विचार भी प्रकट किये हैं कि कुल मिला कर राजा राज्य का सेवक है। यद्यपि एक व्यक्ति में असीमित शक्ति केन्द्रीकृत करने का प्रयास किया गया था किन्तु इस शक्ति के स्वेच्छाचारी प्रयोग की स्वीकृति प्रदान नहीं की गई। राजा को यह परा-मर्श दिया गया था कि वह अपने काम, क्रोध, लोभ आदि छः शत्रुओं पर विजय पायें। कौटिल्य आदि आचार्यो ने उन राजाओं को उद्धृत किया है जिन्होंने स्वेच्छाचारी बन कर अपने आप को नष्ट कर लिया। उनका परिवार और राज्य केवल इसलिए समाप्त हो गया क्योंकि वे इन दुर्गुणों में से किसी

एक के शिकार हो चुके थे। जब कौटिल्य स्वामी के विशेष गुणों का वर्णन करता है तो वह इस बात पर भी जोर देता है कि राजा वृद्ध एवं अनुभवी मन्त्रियों की बातों से देखे। राज्य की नीति का अनुगमन करने में तथा कोई निर्णय लेने में स्वेच्छाचारी प्रवृत्ति न अपनाई जाय।

राजा की योग्यता एवं विशेष गुणों पर विशेष जोर देने का उद्देश्य यह था कि उस समय की परिस्थितियों में छोटे छोटे राज्यों के बीच स्थित परस्पर कलह को समाप्त किया जा सके। ऐसा तब ही किया जा सकता था जबकि राजा अपने व्यक्तिगत गुणों एवं कूटनीति से प्रजा, सहयोगी, मित्र तथा शत्रु आदि को प्रभाव में रखे। विदेशी सम्बन्धों में कूटनीति और अन्तर्देशीय सम्बन्धों में न्याय एवं निस्वार्थता के परिणामस्वरूप सरकार को स्थिर एवं सार्थक बनाया जा सकता था। एक विशेष राजधानी के लोग अपने राजा के प्रति प्रेम रखते है या नहीं, इस बात के ऊपर पड़ोसी राजा द्वारा पर्याप्त ध्यान दिया जाता था। राजा के प्रति जनता में असंतोष अन्य राज्यों से उनके सम्बन्धों पर विरोधी प्रभाव डालता है। इससे पड़ोसी राज्य को अपने क्षेत्र का प्रसार करने के लिये प्रोत्साहन प्राप्त होता है। कौटिल्य ने दो राजाओं का चरित्र [illegible] कि शक्तिशाली है, [illegible] और किन्तु न्यायपूर्ण [illegible] से प्रथम राजा के [illegible] जनता उसकी सहायता नहीं करेगी, वरन् इसके विपरीत या तो उसे गद्दी से उतार देगी अथवा शत्रु-पक्ष में मिल जायेगी। कौटिल्य का कहना है कि जब जनता में गरीबी फैलती है तो वे लालची बन जाते हैं। जब लोग लालची बन जाते हैं तो अपने राजा से प्रेम नहीं करते। जब लोग अपने राजा से प्रेम नहीं करते तो वे स्वेच्छा से शत्रु पक्ष में मिल जाते हैं या अपने स्वामी को नष्ट कर देते हैं।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि राजा को स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश शक्तियों का प्रयोग करने से रोकने में जनमत एवं वास्तविक वातावरण एक प्रभावशील रोक का काम करता है। राजा चाहे कितना भी असीमित शक्ति वाला हो किन्तु उसे इन दोनों के आगे झुकना पड़ता है। कौटिल्य का यह निष्कर्ष केवल आदर्श नहीं है वरन् एक व्यावहारिक सत्य है कि प्रजा की प्रसन्नता में राजा की प्रसन्नता निहित है। जनता के कल्याण में ही उसका कल्याण है। राजा को जो प्रसन्नता दे उसे नहीं वरन् जो प्रजा को प्रसन्नता दे उसी को श्रेष्ठ माना जाना चाहिये। कौटिल्य से पूर्व भी जनता सामान्य रूप से विश्वास करती थी कि राजा को धर्म, औचित्य, न्याय एवं दृढ़ता के साथ शासन करना चाहिये। उस समय की परिस्थितियों में कोई भी बुद्धिमान राजा जनता को नाराज करके प्रसन्न नहीं रह सकता था, क्योंकि इससे उसके सामने अनेक विवाद पैदा होने की सम्भावना बढ़ जाती थी। प्रजा को संतुष्ट रखने के लिए राजा को अपनी शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक शक्तियां पूर्ण रूप से प्रयुक्त करनी होती थीं। राजा का यह कर्त्तव्य माना गया था कि वह कोष को भरा रखे, स्वामीभक्त एवं कार्य कुशल सेना रखे, अजेय दुर्गों का

निर्माण करे व न केवल शत्रु के आक्रमणों के प्रति सचेत हो वरन् एक कमजोर और अव्यवस्थित राज्य के विरुद्ध आक्रमण करने को भी तैयार रहे। यह सब वह तब ही कर सकता है जबकि वह अनेक व्यक्तिगत गुणों से सम्पन्न हो और शासन को न्यायपूर्वक संचालित करता हो। सम्भवतः यही कारण है कि एक राज्य द्वारा की जाने वाली विजयों को विभिन्न यज्ञों एवं धार्मिक अनुष्ठानों से सम्बद्ध कर दिया गया था, जैसे—राजसूय यज्ञ, वाजपेय यज्ञ, अश्वमेघ यज्ञ आदि।

इस सब विचार-विमर्श के बाद हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारतीय आचार्यों ने राज्य की क्या प्रकृति मानी थी और उसके किन विभिन्न अंगों को वे महत्व प्रदान करते थे। आज राजनीति विज्ञान के आचार्य राज्य की परिभाषा देते हैं किन्तु यह एक आश्चर्य पूर्ण तथ्य है कि इनके द्वारा दी गई परिभाषा राज्य के वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट नही कर पाती। कहा जाता है कि प्रदेश और जनसंख्या को राज्य के तत्व के रूप में देखा जा सकता है, किन्तु एकता (Unity) संगठन (Organisation) को तत्व नहीं माना जा सकता क्योंकि ये दोनों कोई मूर्त्त चीजें नहीं हैं। ये राज्य का विशेषतायें हैं इन्हें राज्य के तत्व नही कहा जा सकता। इन्हें राज्य की परिभाषा की दृष्टि से उपयोगी माना जा सकता है किन्तु इसके द्वारा राज्य की बनावट की व्याख्या नहीं की जा सकती। दूसरी ओर भारतीय राजनैतिक आचार्यों ने न केवल राज्य की प्रकृति की व्याख्या की है वरन् उसके संगठन के सम्बन्ध में भी व्यापक रूप से विचार किया है। आज के राजनैतिक विचारक राज्य पर केवल सांख्यिकीय दृष्टि से ही विचार करते हैं न कि गत्यात्मक रूप में। उनकी परिभाषायें राज्य के वाह्य रूप की अपेक्षा आंतरिक रूप की व्याख्या करती है। जब हम भारतीय आचार्यों द्वारा दी गई राज्य की परिभाषाओं को आधुनिक विचारकों से मिलाते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि बाद वालों की क्या-क्या कमियां हैं। भारतीय आचार्य राज्य की बनावट के सम्पूर्ण रूप पर दृष्टि रखते है। वे अपने आप में इसे कोई पूर्ण चीज नहीं मानते वरन् इसे केवल अनेकों में से एक राजनैतिक तत्व कहते हैं। इन आचार्यो ने राज्य के अंतिम तत्व अर्थात् मित्र पर अत्यन्त जोर दिया है। आज हम इस तत्व को केवल अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में ही महत्वपूर्ण मानते है क्योंकि मित्र अन्य राज्य का स्वामी होता है, किन्तु फिर भी एक राज्य के वर्णन में इसकी अवहेलना नहीं की जा सकती।

राज्य की उत्पत्ति
(Origin of the State)

प्राचीन भारतीय धर्म शास्त्रों एवं अनेक ग्रन्थों में राज्य की उत्पत्ति से सम्बन्धित विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। राज्य की उत्पत्ति के वर्णन में जो समस्यायें आज सामने आती हैं वे ही समस्यायें उस समय भी थी। कोई ऐतिहासिक प्रमाण न मिलने के कारण विचारकों को बहुत कुछ अनुमान और कल्पना के आधार पर चलना पड़ा। वर्तमान को देखकर उन्होंने भूतकाल की

कल्पनायें कीं। इन कल्पनाओं को करते समय उन पर तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा और धार्मिक तथा नैतिक विश्वासों ने उनके रूप को संवारा। प्राचीनता का अध्ययन करने के लिए आज मानव ने जिन सुविधाओं का आविष्कार कर लिया है, वे प्राचीनकाल में नहीं थीं।

प्राचीन भारत में राजतन्त्र का इतना प्रभाव था कि राजपद की उत्पत्ति को ही नागरिक समाज की उत्पत्ति माना गया। राजा को राज्य की आत्मा कहा गया है और इसलिए समाज के किसी भी सिद्धान्त का बौद्धिकरण करने के लिए राजपद की उत्पत्ति को प्रथम आवश्यकता माना गया। धार्मिक ग्रन्थों के मतानुसार राजा जनता के लिए ब्रह्मा की देन है, ताकि जनता उसकी सहायता से अपने दुखी जीवन से छुटकारा पा सके। असुरक्षा, हिंसात्मक संघर्ष, यज्ञों का अभाव, सामाजिक मूल्यों की हानि अत्याचारी या समाज विरोधी प्रवृत्तियों का बोलबाला आदि ने मिलकर राजा विहीन समाज का जीवन असह्य बना दिया। फलतः लोगों ने ब्रह्मा से प्रार्थना की जिसने मनु को शासक के रूप में नियुक्त किया। अपनी सुरक्षा के बदले लोगों ने अपने मवेशी और सोने का पांचवां भाग तथा अन्न का दसवां भाग राजा को देने का वायदा किया। इस तरह यह नागरिक समाज राज पद के साथ-साथ अस्तित्व में आया। राज पद का जन्म ईश्वर की इस इच्छा की अभिव्यक्ति है कि सम्पूर्ण सृष्टि की रक्षा की जाय। सामाजिक व्यवस्था एवं राजपद के बीच सम्बन्ध स्थापित किया गया। राजपद के जन्म लेते ही समाज में व्यवस्था की स्थापना हुई तथा राज-पद के जन्म ने सरकार को जन्म दिया। धार्मिक ग्रन्थों ने दण्ड को ईश्वर का पुत्र माना है जिसकी सहायता से राजा की सरकार कार्य करती है। दण्ड के सहारे राजा अपनी प्रजा एवं सामाजिक व्यवस्था की रक्षा करता है। उसकी आज्ञा की कोई अवहेलना नहीं कर सकता।

प्राचीन भारतीय आचार्यों ने राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में समय-समय जो विचार प्रकट किये हैं उनके बीच भिन्नता, असमानता, असामञ्जस्य एवं विरोधाभास दिखाई देता है। किन्तु फिर भी इन सब का निरीक्षण करने के बाद हम कुछ एक सामान्य निष्कर्षों पर पहुंच सकते हैं। जैसा कि हमने अभी देखा राज्य की उत्पत्ति का सम्बन्ध भारतीय आचार्यों ने राजा की उत्पत्ति से लिया है। कौटिल्य राजा को ही राज्य कहते हैं। उनके मतानुसार राजा ही राज्य का प्रतिनिधित्व करता है। गणराज्य व्यवस्था का विकास बहुत कहीं-कहीं हुआ था, और इसीलिए प्रायः सभी प्राचीन राजनैतिक विचारकों ने राजतन्त्र को अपने विचार का केन्द्र बिन्दु माना है। राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भारतीय शास्त्रों में कोई स्पष्ट, व्यवस्थित एवं सामञ्जस्य से पूर्ण विचारधारा नहीं मिलती है। स्वयं कौटिल्य ने भी राज्य के व्यावहारिक पक्ष पर अधिक जोर दिया है। उसने सैद्धान्तिक विवाद को केवल प्रसंग-वश या अत्यन्त संक्षेप में वर्णित किया है। ब्राह्मणों एवं बौद्ध साहित्य में भी यहां-वहां इस विषय पर प्रकाश डाला गया है। महाभारत में राज्य की उत्पत्ति का व्यापक लेख मिलता है। इस एक ही ग्रन्थ में राज्य की उत्पत्ति से सम्ब-

न्वित विभिन्न सिद्धांतों का उल्लेख कर दिया गया है। डा० डी० आर० भण्डारकर का मत है कि हमें इस विषय पर भारतीय ग्रन्थों द्वारा प्रसारित विभिन्न किरणों को एकत्रित कर लेना चाहिये। जब हम इन ग्रन्थों की बिखरी हुई सूचना को एक स्थान पर समन्वित कर लेते हैं तो कुछ निष्कर्ष हमारे सम्मुख आते हैं। इन निष्कर्षों के अनुसार राज्य की उत्पत्ति के भारतीय आचार्यों द्वारा मानवीय सिद्धान्तों का विवरण निम्न प्रकार किया जा सकता है—

(१) दैवीय सिद्धान्त
[The Devine Theory]

राज्य की उत्पत्ति के सम्बंध में दैवीय सिद्धांतों का भारतीय ग्रन्थों में पर्याप्त उल्लेख प्राप्त होता है। राज्य की उत्पत्ति के सम्बंध में जो भी प्रारंभिक उल्लेख प्राप्त होता है वह मानवीय स्तर की अपेक्षा दैवीय स्तर पर अस्तित्व रखता है। ऋग्वेद में कई स्थानों पर इसका संदर्भ आता है। ऋग्वेद के आचार्य इन्द्र को राजपद सौंपते हैं, जो कि सबसे अधिक शक्तिशाली है, संघर्ष के समय शत्रुओं का नाश करने वाला है, जो साहस और उत्साह से सम्पन्न है। इन्द्र की प्रशंसा में ऋग्वेद के अनेक सूक्तों को गाया गया है। इन्द्र प्रकाश का देवता है। वह सोमरस पीता है। उसके कानून शक्ति सम्पन्न होते हैं। ग्रन्थों के अनुसार इन्द्र को इसलिये राजा बनाया गया क्योंकि वह दैवीय एवं अतिमानवीय व्यक्तित्व रखता था। ऋग्वेद में राजा के राज तिलक उत्सव से सम्बंधित वृत्तांत आता है। इसमें यह बताया गया है कि राजा बनाये जाने वाले व्यक्ति को इन्द्र द्वारा नियुक्त किया गया है उसे अनेक बलिदानों के बाद सुरक्षा प्रदान की गई है।[1]

ऋग्वेद के आगे के छंदों में आगे कहा गया है कि सब लोगों को राजा की राजा के कल्याण के लिये शुभ कामनायें करनी चाहिये, ताकि उसका साम्राज्य कभी समाप्त न हो। ऋग्वेद के ऋषि इन्द्र को राजा का संस्थापक मानकर वरूण, बृहस्पति, और अग्नि आदि तक अपनी प्रार्थनायें भेजते थे कि वे राजा को सुरक्षित बनाये रखें। शतपथ ब्राह्मण ने बताया है कि सूर्य अच्छे या बुरे राजा के माध्यम से संसार पर शासन करता है।[2] ऐतरेय ब्राह्मण में इन्द्र के राज्याभिषेक के समय यह कहा गया है कि प्रजापति की अध्यक्षता में सभी देवताओं ने एक दूसरे से कहा कि यह इन्द्र हम देवताओं में सबसे अधिक साहस वाला, सबसे अधिक शक्तिशाली, अजेय एवं पूर्ण है। यह कार्यों को अच्छी तरह पूर्ण कर सकता है अतः इसे अपना राजा बना देना चाहिये। यह विचार कर उन्होंने इन्द्र का राज्याभिषेक कर दिया। इन्द्र की सम्प्रभुता की उत्पत्ति का यह अवसर बताया गया। इस प्रसंग के आधार पर हम राज्य को देवताओं की रचना कह सकते हैं क्योंकि इन्द्र देवताओं द्वारा नियुक्त किया

---

1. ऋग्वेद, X, 173
2. शतपथ ब्राह्मण, II, 6. 3. 8

गया। इसे हम सामाजिक समझौते के सिद्धांत का आधार भी कह सकते हैं क्योंकि देवताओं ने परस्पर राय मिलाकर इन्द्र को राजा के रूप में नियुक्त किया। इसको हम शक्ति सिद्धान्त का आधार भी बना सकते हैं, क्योंकि राजा के रूप में इन्द्र की नियुक्ति इसलिये की गई थी कि वह अन्य समस्त देवताओं से प्रमुख था, शक्तिशाली था, और शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर सकता था। ऐतरेय ब्राह्मण में ही अन्य स्थानों पर यह उल्लेख है कि वरुण ने अपने आपको वन में आसीन किया ताकि व्यवस्था की रक्षा कर सके, स्वामित्व स्थापित कर सके, सर्वोच्च शासन कायम कर सके आत्मप्रशासन स्थापित कर सकें, सम्प्रभु बन सकें, सर्वोच्च सत्ता अपने में निहित करे, राजपद प्राप्त करे, बुद्धिमान बने और राज्य की समस्त सत्ता को अपने हाथ में निहित कर ले।

तैत्तरीय ब्राह्मण में इन्द्र के राजपद की उत्पत्ति से सम्बन्धित प्रसंग आया है। उसमें कहा गया है कि इन्द्र को देवताओं में सबसे छोटा (उम्र में) होने के कारण प्रजापति द्वारा स्वर्ग लोक में यह कह कर भेजा गया कि 'तुम इन देवताओं के स्वामी बनो।' जब इन्द्र वहाँ पहुँचे तो उनसे पूछा गया तुम कौन हो?' अन्य देवताओं ने इन्द्र से अधिक उच्च होने का दावा किया। इस पर इन्द्र लौट गया और प्रजापति को देवताओं के कथन की सूचना दी; उस समय प्रजापति के पास तेज था। उसे देखकर इन्द्र ने कहा कि उसे वह तेज दे दिया जाय ताकि वह देवताओं का स्वामी बन सके। प्रजापति ने पूछा इसे देने के बाद उसका क्या होगा? तो इन्द्र ने प्रजापति के पास कुछ शक्ति छोड़ी। इस वृत्तान्त से यह प्रकट होता है कि इन्द्र की सम्प्रभुता पूर्ण रूप से प्रजापति की इच्छा से जन्म लेती है। इन्द्र का तेज भी प्रजापति से लिया गया है। इस कहानी से सम्प्रभुता के दैवीय सिद्धांत की सदृश्यता है।

वृहदारण्यक उपनिषद में यह उल्लेख है कि प्रारम्भ में यह संसार केवल ब्रह्म था। एक होने के कारण उसका विकास नहीं हुआ। ब्रह्म ने अपने सत्वन से एक सर्वोच्च की रचना की, इन्द्र वरुण, सोम, रुद्र, यम, मृत्यु, ईसान आदि प्रशासकों को बनाया, इन सब के ऊपर क्षत्र को रखा गया। यही कारण है कि राजसूय संस्कार के समय ब्राह्मण क्षत्रिय के नीचे बैठते हैं। केवल क्षत्र पर ही वह इस सम्मान को प्रदान कर सकते हैं। उपनिषद के इस भाग में यह बताया गया है कि क्षत्रीय की उत्पत्ति दैवीय है। यद्यपि राजा सर्वोच्च है किन्तु फिर भी वह अपने योनि के रूप में ब्राह्मण पर आश्रित है।

रामायण में यह वृत्तान्त आता है कि प्रारम्भ में जब सतयुग था तो कोई पार्थिव राजा नहीं था। यद्यपि केवल इन्द्र था किन्तु वह केवल देवताओं का शासक था। मनुष्यों ने मिलकर ब्रह्मा से प्रार्थना की कि इन्द्र तो देवताओं के राजा हैं उनका अपना भी कोई राजा होना चाहिये। अन्त में देवताओं ने अपनी शक्तियों का कुछ भाग प्रदान किया और ब्रह्मा ने एक शब्द करके राजा की नियुक्ति की। इस प्रकार मनुष्यों को भी अपना राजा मिला। महाभारत के कई एक प्रसंगों में हमको राजा की दैवीय उत्पत्ति के दर्शन होते हैं। यद्यपि महाभारत ने राज्य की उत्पत्ति के अन्य सिद्धान्तों का भी उल्लेख किया है किन्तु दैवीय नियुक्ति की मान्यता उसमें अधिक प्रभावशाली है। महाभारत

शान्ति पर्व में यह कहा गया है कि शेर और अन्य जंगली जानवरों की भांति स्वार्थ से प्रेरित व्यक्ति एवं सृष्टि के अन्य जीव परस्पर संघर्ष करते रहते थे इनको नियन्त्रित करने के लिये ब्रह्मा ने राजा को नियुक्त किया।

महाभारत में राजा की उत्पत्ति से सम्बन्धित कई एक कथायें हैं। इसके शांति पर्व में जब युधिष्ठर ने भीष्म से यह पूछा कि राजन शब्द की उत्पत्ति कैसे हुई है और किन कारणों से राजा अधिक बुद्धि एव बहादुरी वाले अनेक लोगों पर शासन करता है। भीष्म ने बताया कि प्रारम्भ में स्वर्णयुग था, तब कोई राजा नहीं होता था, बाद में समय बदला; लोग एक दूसरे की हत्या करने लगे। वेदों का समय समाप्त हो गया। चारों ओर अन्याय छा गया। देवताओं में आतंक फैला, उन्होंने ब्रह्मा से सहायता मांगी ताकि विध्वंस से बच सकें। ब्रह्मा ने एक ग्रन्थ तैयार किया, इसमें मानव जीवन के चार लक्ष्य—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का वर्णन किया गया। देवता विष्णु के पास गये और कहा कि वह एक उच्च मानव बनाये जो शेष पर शासन करे। विष्णु ने अपनी इच्छा से पुत्र उत्पन्न किया नाम था 'विरजा'। उसने सम्प्रभुता को स्वीकार करने से मना कर दिया और सन्यासी हो गया। बाद में विरजा के पुत्र 'कीर्तिमान' ने भी मोक्ष के मार्ग को अपनाया। उनके पुत्र करदम भी तपस्या में लग गये। इनका पुत्र अनंग बड़ा योग्य और निपुण था। किन्तु अनंग का पुत्र 'अतिबल' विशाल राज्य प्राप्त करने के बाद इन्द्रियों का दास बन गया। मृत्यु की पुत्री 'सुनीता' से शादी करने के बाद अतिबल ने 'वेन' को जन्म दिया। यह राजा परम अत्याचारी बना। ऋषियों ने मन्त्रों की शक्ति के माध्यम से उसे मार डाला। वेन की दांई भुजा का मन्थन करने पर उसमें से न्याय-प्रिय 'पृथु' का जन्म हुआ। ऋषियों और देवताओं ने उसे राजधर्म का उपदेश दिया, वेन कुमार को सारी दण्ड नीति का स्वयं ही ज्ञान हो गया था; उसके राज्य में न्याय, धर्म, और व्यवस्था रही। कहा जाता है कि पृथु के समय यह धरती बहुत ऊंची-नीची थी। उसने ही इसे समतल बनाया। उसके राज्य में किसी को बुढापा, दुर्भिक्ष तथा व्याधि आदि का कष्ट नही था। पृथु ने धर्म की स्थापना करके समस्त वर्गों का रजन किया अतः वे राजा कहलाये।[1]

इस प्रकार उनकी मान्यता के अनुसार राजा कहलाने योग्य वही शासक है जो कि प्रजा की प्रसन्नता का ख्याल कर सके। राजा को क्षत्रीय इसलिये कहा गया क्योंकि उसने ब्राह्मणों को क्षति से बचाया। महाभारत के कथनानुसार स्वयं सनातन भगवान विष्णु ने उनके लिये मर्यादा स्थापित की कि उनकी आज्ञा का कोई उल्लघंन न करे। पृथु ने तपस्या की। प्रसन्न होकर भगवान विष्णु ने स्वयं उनके भीतर प्रवेश किया। संसार ने पृथु को देवता माना और उसके सामने सिर झुकाया। भीष्म के मतानुसार राजा का दैवी गुण ही मुख्य कारण है जो कि उस एक व्यक्ति को सारे देश पर शासन करने की क्षमता प्रदान

1. "रंजिताश्च प्रजाः सर्वास्तेन राजेति शब्दते"।
—महाभारत, शांतिपर्व, ५९,१२५, पेज ४५७७

करता है। देवताओं द्वारा राजा के पद पर स्थापित हुआ मानकर कोई भी उसकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता। राजा के ऊपर संसार की आज्ञा नहीं चल सकती।

इस सब वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि महाभारत के प्रणेता राज्य को ईश्वर की कृति मानते हैं। यद्यपि पृथु ने शपथ ली थी, किन्तु उसे मानवों ने नहीं वरन् ऋषियों और देवताओं ने दिलाया था। ये दोनों मानवों के प्रतिनिधि होंगे ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता।

पुराणों में भी राजा की दैवी उत्पत्ति का उल्लेख प्राप्त होता है। अग्नि पुराण ने राजा की इस दैवी उत्पत्ति को मान्यता दी। उसके अनुसार पृथु का समस्त जीवों पर राजा नियुक्त करने के बाद 'हरि' और ब्रह्मा ने सम्प्रभुता दूसरों में भी वितरित की। भगवान 'हरि' ने ब्राह्मणों और पौधों की सम्प्रभुता चन्द्रमा पर, जल की वरुण पर, आश्रित की वैश्रवण, धनवानों, की राजा 'बने' और विष्णु सूर्य के स्वामी हुये। इसी प्रकार विभिन्न जानवरों, मक्खियों और खनिज पदार्थों के अलग अलग राजा नियुक्त हुये। महाभारत शान्ति पर्व का ६७वें अध्याय का १५वां श्लोक स्पष्ट रूप से यह घोषित करता है कि अराजकता की स्थिति से लोगों की रक्षा के लिए देवों ने राजा की नियुक्ति की।

मनु स्वयं राजा की दैवीय उत्पत्ति के विचार का समर्थन करते हैं। उनके मतानुसार जब संसार बिना राजा के था, तो चारों ओर भय व्याप्त था। इस सृष्टि की रक्षा के लिये भगवान ने एक राजा की रचना की। ऐसा करते समय भगवान ने इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा एवं कुबेर आदि के आन्तरिक गुणों को लिया। देवताओं के उन समस्त गुणों से युक्त राजा मानवों में सर्वोच्च एवं तेजस्वी बन गया।[1] नारदस्मृति राजा को ही इन्द्र मानती है और लोगों को उसकी आज्ञा पालन के लिये उपदेश देती है चाहे वे आज्ञायें कितनी ही अन्यायपूर्ण क्यों न हों।

पश्चिमी विचारकों ने भी राज्य की उत्पत्ति के दैवीय सिद्धान्त को मान्यता प्रदान की है किन्तु उनकी इस मान्यता एवं भारतीय आचार्यों द्वारा वर्णित मान्यता के बीच पर्याप्त अन्तर है। पश्चिम में दैवी होने का अर्थ हमेशा सर्वोच्च ईश्वर से लिया गया है जबकि हिन्दू आचार्यों द्वारा वर्णित इन्द्र, यम, और धर्म को ऐसा नहीं माना जा सकता। इन्द्र और यम तो दिक्-पाल हैं और धर्म का अर्थ सर्वोच्च कर्तव्यों से था। संस्कृत भाषा में देव शब्द का प्रयोग सर्वोच्च ईश्वर एवं छोटे मोटे देवता सभी के लिये किया गया है। अनेक लेखक राज्य की उत्पत्ति के भारतीय दैविक सिद्धान्त को उच्च मानवीय या अर्धदैविक कहना अधिक अच्छा समझते हैं, क्योंकि दैवीय शब्द का प्रयोग तो केवल सर्वोच्च ईश्वर के सम्बन्ध में ही किया जा सकता है। अधिकांश भारतीय ग्रन्थ राज्य की उच्च मानवीय (Super human) या अर्द्ध-दैवीय

1. मनुस्मृति VII, ३-५

(Quasi-Divine) उत्पत्ति के सिद्धान्त का ही समर्थन करते हैं।

भारतीय एवं पाश्चात्य सिद्धान्त के बीच एक अन्य अन्तर यह है कि पाश्चात्य विचारक राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि कहते हैं जबकि भारतीय ग्रंथ राजा को स्वयं ईश्वर ही मान लेते हैं। राजा केवल देवता का प्रिय मात्र ही नहीं है; वरन् वह स्वयं देव है जिसे बहुमुखी कार्य करने होते हैं। वह केवल एक नहीं वरन् पांच दिक्पालों के कर्तव्यों को एक साथ सम्पन्न करता है। राजा को सर्वोच्च ईश्वर से सम्बंधित नहीं किया गया है। 'बृहस्पति' के कथनानुसार राजा मानवीय रूप में एक महान दिक्पाल है। मनु इस मान्यता से कुछ आगे बढते हैं। उनके मतानुसार राजा केवल एक दिक्पाल ही नहीं है वरन् परमात्मा की रचना भी है। इस सम्बन्ध में डा० डी० आर० भण्डारकर ने सत्य ही लिखा है कि यहां हम प्रथम बार वास्तविक दैवीय सिद्धांत का उल्लेख पाते हैं जो कि पाश्चात्य विचारकों से मिलता हुआ है।[1]

मौर्य कालीन राजाओं को यद्यपि राजन् भी कहा जाता था किन्तु साथ ही उन्हें देवानाम प्रिय की उपाधि से भी सम्बोधित किया जाता था। अशोक के शिला लेखों से यह विदित होता है कि उसे यह उपाधि प्राप्त थी। अशोक के लडके के लड़के दशरथ ने भी यही उपाधि ग्रहण की। इस उपाधि का अर्थ है कि ग्रहण करने वाला देवताओं का प्रिय है। राजा ने देवताओं का प्रिय बनना क्यों पसन्द किया, ईश्वर का प्रिय बनना क्यों नहीं किया? यह प्रश्न महत्व पूर्ण है। मौर्य-काल के तुरन्त बाद ही राजा न केवल देवताओं का प्रिय रहा वरन् वह स्वयं देवता बन गया।

राजा को न केवल देवताओं की रचना माना गया वरन् उसे उनके प्रति उत्तरदायी भी बनाया गया। राजा ने पद सम्भालते समय वेदों की रक्षा, ब्राह्मणों का आदर, सामाजिक एवं नैतिक व्यवस्था की रक्षा, वर्णशंङ्करता की रोक आदि के लिये शपथ ग्रहण की। इस शपथ के अनुसार कार्य करने पर ही राजा को राजा माना जा सकता था। ज्योंही वह इस शपथ के विपथ के विपरीत कार्य करे, उसके साथ किया गया देवताओं और ऋषियों का समझौता भी टूट जाता है। इस प्रकार वह तब एक सर्वोच्च मानव नहीं रह जाता। मनु आदि आचार्यों ने इसी प्रकार का मत प्रकट किया है। यद्यपि मनु मानते हैं कि राजा केवल ईश्वर की रचना ही नहीं है वरन् स्वयं दिक्पाल भी है किन्तु फिर भी उसे ईश्वर द्वारा स्थापित दण्ड और धर्म का सही रूप में प्रयोग करना चाहिये। जो राजा ऐसा नहीं करता वह अपने राज्य, परिवार, कुटुम्ब सहित समाप्त हो जाता है। ज्योंही राजा धर्म या कानून से विमुख होगा उसकी रक्षा के लिये दैवीय उत्पत्ति या अति मानवीय स्वभाव कुछ नहीं कर सकते। मनु का यह मत पश्चिमी विचारकों के दैवीय सिद्धान्त से भिन्नता

---

1. For the first time therefore, we find a trace of the real divine origin of Kingship, similar to that propounded by the western thinkers.
—Dr. D.R Bhandarker, Op. cit. P. 147.

रखता है।

नारद-स्मृति ने राजा के व्यक्तित्व को वही स्तर प्रदान किया है जो कि दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त को मानने वाले पश्चिमी विचारक प्रदान करते हैं। शासक ने अपने पुण्य कार्यों द्वारा अपनी प्रजा को खरीद लिया है अतः राजा उनका स्वामी है। उसकी आज्ञाओं का पालन किया जाना चाहिये। प्रजा की जीविका तक भी राजा पर आधारित है, जिस प्रकार दुराचारी होने पर भी एक पति की पत्नियों द्वारा पूजा की जाती है उसी प्रकार बेकार होने पर भी प्रजा को अपने राजा की पूजा करनी चाहिये। नारद-स्मृति का यह मत राजा के व्यक्तिगत गुणों या उसके कार्यों के नैतिक औचित्य पर ध्यान दिये बिना ही प्रजा द्वारा उसकी आज्ञा पालन पर जोर देता है। नारद-स्मृति ने भी स्थान स्थान पर राजा को उसके कर्तव्यों के सम्बन्ध में चेतावनी दी है। इन चेतावनियों के अनुसार उसे अधार्मिक एवं अन्यायी न होने के लिया कहा गया है। डा० भण्डारकर के मतानुसार हिन्दू राजनीति या कानून की कोई भी शाखा, चाहे वह राजपद के दैवीय उत्पादन का समर्थन करती हो, दैवीय अधिकारों के अनुसार राजा के शासन को स्वीकार नहीं करती। वह उसके व्यक्तित्व को भी दैवीय नहीं मानती।[1]

२ ऋषियों द्वारा नियुक्ति
(The Appointment by Rsis)

राजा की देवताओं द्वारा नियुक्ति का सिद्धान्त एक दृष्टि से सामाजिक समझौते का सिद्धान्त माना जा सकता है क्योंकि राजा को शर्तों का पालन करने के लिये नियुक्त किया गया। असल में यह सिद्धान्त सामाजिक समझौते जैसा कहा जा सकता है किन्तु प्रत्यक्ष रूप से इसे सामाजिक समझौते का नहीं कहा जा सकता। प्राचीन भारतीय राजनीति के विकास का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इन दोनों के बीच कुछ मध्यवर्ती सिद्धान्त भी थे। ऐसा लगता है कि दैवीय उत्पत्ति के बाद का सिद्धान्त ऋषियों द्वारा अर्द्ध-दैविक नियुक्ति का सिद्धान्त था। राजा की दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त में कुछ कथनों का अध्ययन करते हुये हमने यह देखा था कि राजा की उत्पत्ति में ऋषियों द्वारा योग-दान किया गया। इस प्रकार का एक प्रारम्भिक विवरण अथर्व-वेद के एक भाग में प्राप्त हुआ है। उसमें कहा गया है कि श्रेष्ठता की इच्छा वाले और स्वर्ग की खोज करने वाले ऋषियों ने सबसे प्रारम्भ में मन्त्रों और सिद्धियों को प्राप्त किया और उसके बाद राजाशाही सत्ता और शक्ति का जन्म हुआ। 'देवताओं को भी इस व्यक्ति के सामने झुकना चाहिये।'

---

1 And, in fact, as far as we know no school of Hindu Polity or Law, though it may propound the divine origin of Kingship does either acknowledge the King's rule by divine right, or consider his person as divine
—Dr. D R. Bhandarkar, Op cit. PP. 161-62.

महाभारत में भी कई एक ऐसे संदर्भ आये हैं जिनकी प्रकृति से यह प्रतीत होता है कि राजपद या राजा ऋषियों द्वारा स्थापित किया गया। वन-पर्व में राजा की कुछ उपाधियों का उल्लेख करते हुये यह बताया गया है कि राजा को ऋषियों द्वारा सांसारिक शक्तियां सौंपी गई और राजा लोग श्रेष्ठ कार्य को सम्पन्न कर सकते हैं। जब इन्द्र ने ब्राह्मणों का विरोध करना प्रारम्भ किया तो ऋषियों ने बड़े देवताओं के साथ मिलकर नहुष को राजा बनाया। जब परशुराम ने पृथ्वी को क्षत्रियों से रिक्त कर दिया तो इसके परिणामस्वरूप एक बार फिर अराजकता छा गई। महाऋषि कश्यप ने पृथ्वी की प्रार्थना पर बलिदान किये और उसकी रक्षा के लिये अनेक राजाओं की नियुक्ति की। ब्रह्मा के साथ मिलकर ऋषियों ने एक महा-यज्ञ किया इसमें से संसार की रक्षा एवं न्याय के शत्रुओं के नाश के लिये एक तलवार निकली। जब देवताओं ने राक्षसों को परास्त कर दिया तो इन्द्र को देवताओं द्वारा तलवार सौंप दी गई। इन्द्र ने उसे 'मनु' को सौंप दिया; मनु से कहा गया कि वह समस्त प्राणियों की रक्षा करे। एक अन्य कहानी में यह बताया गया कि जब असुरों ने मनुष्य में से न्याय की भावना को समाप्त कर दिया तो वे शिव के द्वारा हराये गये। उसके बाद प्राचीन सप्तऋषि आये और उन्होंने इन्द्र को देवताओं का मुखिया और स्वर्ग का राजा बनाया। इस प्रकार अनेक वृत्तान्तों के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है कि राजा की नियुक्ति ऋषियों द्वारा की गई।

३. शक्ति का सिद्धान्त
(Power Theory)

प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में कुछ एक ऐसे उल्लेख आते हैं जिनके माध्यम से हम ऐसे निष्कर्षों पर आ सकें कि राज्य की उत्पत्ति का आधार-शक्ति है। ऋग्वेद के मन्त्र इन्द्र की स्तुति करने को कहते हैं, ताकि वह सोमरस पी सके और अपनी शक्ति से सहायता कर सके। एक अन्य वेद में यह कहा गया है कि एक वर्ग के प्रमुख लोगों ने इन्द्र को राजा बनाया क्योंकि इन्द्र ने हर संघर्ष में विजय प्राप्त की। वह शक्तिशाली था, दृढ़ था, दूसरों को नष्ट कर सकता था, वह प्रचण्ड एवं मजबूत था, वह साहस से परिपूर्ण था। एतरेय ब्राह्मण में कहानी को और भी स्पष्ट किया गया है और कहा गया है कि देवताओं और असुरों के बीच युद्ध हुआ है। असुर लगातार जीतते जा रहे थे। देवता भय-भीत हो गये। सोचा हमारी फूट से असुर हम पर आधिपत्य कर लेगें। उन सब ने विचार किया कि अग्नि और वसु, इन्द्र और रूद्र, वरुण और आदित्य, वृहस्पति और अन्य सभी देवता संयुक्त हो गये। ऐसा करने के बाद भी उन सब ने यह निर्णय लिया कि सभी को अपने प्रिय शरीर राजा वरुण के यहां रख देने चाहिये। ऐसा ही किया गया। वे शरीर दान करके भी एक हो गये। सत् पथ ब्राह्मण में इसी बात को दूसरी तरह से कहा गया है। उसमें कहा गया है कि देवताओं ने यह विचार किया कि "हम एक बुरे संघर्ष में है और असुर हमारे बीच में आ गये हैं। कुछ समय बाद हम अपने शत्रुओं द्वारा नष्ट हो जायेगे। इसलिये हमको समझौता करके किसी एक को

मुखिया बना देना चाहिये।" देवताओं ने इन्द्र की योग्यताओं पर विश्वास किया। इन्द्र को समस्त लोकों का दिक्‌पाल बनाया गया। वह देवताओं का मुखिया बनाया गया।

तैत्तरीय ब्राह्मण में यही कहानी फिर आई है कि एक बार देवता और राक्षसों में युद्ध हुआ। इस युद्ध के समय प्रजापति ने अपने सबसे बड़े इन्द्र को छिपा लिया। डर था कि असुर उसे मार देंगे। प्रहलाद ने भी अपने पुत्र 'विरोचन' के साथ भी ऐसा ही किया। उसे भी डर था कि देवता मार देंगे। ऐसी स्थिति में देवता प्रजापति के पास गये। देवताओं ने कहा राजा के बिना कोई युद्ध नहीं हो सकता। यज्ञों के बलिदानों से इन्द्र को प्रसन्न किया गया, वह देवताओं का राजा बना।

इसी प्रकार के अनेक वृत्तान्त इस बात के द्योतक हैं कि राजा की उत्पत्ति युद्ध की स्थिति में हुई और उस व्यक्ति को राजा बनाया गया जो कि शक्ति में प्रमुख था। प्रारम्भ में राजा मुख्य रूप से एक सैनिक नेता होता था। संकट के समय लोग उसे नेतृत्व दे देते थे। यही प्रक्रिया प्रारम्भिक वैदिक काल की जातियों में अपनाई जाती थी। आक्रमण कारियों को नये प्रदेशों में अपने अस्तित्व के लिये कठिन लड़ाई लड़नी होती थी। देवताओं के समान ही उनके सामने अनेक संघर्ष आते थे। जिन गुणों ने इन्द्र को देवताओं का राजा बनाया वही गुण मनुष्यों में भी राजा की नियुक्ति का कारण बने। उस समय के संघर्षमय जीवन में शक्ति का पर्याप्त महत्व था, लोगों को वह राजा स्वीकृत था जो उनकी रक्षा कर सके। उस समय राजा का चयन प्रायः कुलीन तन्त्रीय आधार पर होता था। इस मान्यता के लिये कोई ठोस आधार नहीं है कि प्रारम्भ में राजपद निर्वाचित था। इस युग में शक्ति एवं सैनिक नेतृत्व को मुख्यता प्रदान की गई। नेता व्यक्तियों में सम्मान प्राप्त करने के बाद स्वयं ही अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करता था।

४ सुरक्षा का सिद्धान्त
(Theory of Protection)

भारतीय ग्रन्थों में राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में देवताओं, ऋषियों, एवं युद्धों के अतिरिक्त एक अन्य तत्व पर भी महत्व दिया है और वह है सुरक्षा। असल में सुरक्षा का विचार राज्य की स्थापना का मूल कारण है। यह सुरक्षा चाहे देवताओं द्वारा प्रदान की गई हो, चाहे ऋषियों द्वारा अथवा शक्ति के आधार पर। मूल रूप से सभी विचारक लोग सुरक्षा की खोज में संलग्न थे। सुरक्षा सिद्धान्त पर जोर देने वाले लोग यह मानते हैं कि प्रारम्भ में मनुष्य समाज बिना राजा के रहता था। इस समाज में किसी भी व्यक्ति का दूसरे द्वारा इस तरह समाप्त कर दिया जाता था जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को समाप्त कर देती है। ऐसी स्थिति में ये सब लोग मिले और मिलकर कुछ समझौते किये ताकि सभी वर्गों में विश्वास पैदा किया जा सके और कुछ समय तक रहा जा सके। इस स्थिति को भी कुछ समय बाद असह्य पाया गया। वे एक होकर ब्रह्मा के पास गये। ब्रह्मा से कहा—'ओ दैवीय

स्वामी एक राजा के बिना हमारा नाश हो रहा है; किसी को हमारा राजा नियुक्त करो, हम सभी उसकी पूजा करेंगे और वह हमारी रक्षा करेगा।' इस प्रार्थना को सुनकर ब्रह्मा ने मनु को नियुक्त किया। मनु ने प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। उसका कहना था कि मुझे सभी पाप कर्मों से भय लगता है। एक राजधानी पर शासन करना बड़ा कठिन काम है। उसके निवासी हमेशा गलती करते हैं। उनके व्यवहार दूसरों को धोका देने वाले होते हैं। इस पर लोगों ने मनु को आश्वासन दिया—डरो मत, जो लोग पाप करेंगे वह पाप उन्हीं को लगेगा। हम तुम्हारे कोष की वृद्धि के लिये अपने मवेषी और बहुमूल्य धातु का पांचवां तथा अपने अन्न का दसवां भाग तुम्हें सौंपेंगे। तुम्हारी रक्षा में रह कर लोग जो पुण्य कमायेगें उसका चौथा भाग तुमको प्राप्त होगा। इन्द्र के समान मनु से रक्षा की प्रार्थना की गई। इस आश्वासन से मनु राजी हुये और उन्होंने सारी दुनियां का चक्कर लगाया। हर जगह पापों का निरीक्षण किया, लोगों को उनके कर्त्तव्यों में लगाया। इस प्रकार यह सिद्ध किया गया कि यदि धरती के लोग सम्पन्नता चाहते है तो उन्हें सबसे पहिले एक राजा चुनना चाहिये जो कि सबकी रक्षा कर सके।

इस सुरक्षा सिद्धान्त के विभिन्न पहलू हैं—इसका प्रथम पहलू यह है कि प्राकृतिक अवस्था ऐसी अवस्था थी जिसमे व्यक्ति एक दूसरे के विरुद्ध लड़ रहे थे। एक व्यक्ति दूसरे का वह सब कुछ ले लेता था जो कि वह ले सकता था। मनुष्यों ने इस अवस्था को एक समझौते द्वारा समाप्त किया। समाज में शान्ति और मैत्री स्थापित की। कुछ समय बाद उन्हें भ्रम पैदा हो गया। लोगों को पुनः अपनी स्वतन्त्रता एक सम्प्रभु के हाथ में सौंपने को मजबूर होना पड़ा। यह सरकारी समझौता था। यह सुरक्षात्मक सिद्धान्त अपने रूप में सामाजिक समझौते का सिद्धान्त के समरूप बन जाता है जिसे कि Hobbes ने प्रतिपादित किया था। डॉ० भण्डारकर के विचारानुसार सम्भवत: यह एकमात्र हिन्दू सिद्धान्त है जो कि पश्चिमी सिद्धान्त-कारों से व्यावहारिक एकरूपता रखता है।[1]

५. कर्म के आधार पर राजा की नियुक्ति
(The King Appointed on the basis of Karma)

भारतीय दर्शन में अनेक पहलुओं से कर्म के विचार को महत्व प्रदान किया गया है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि राजा के राजपद का औचित्य सिद्ध करने के लिये लोगों द्वारा इस दृष्टि से तर्क दिया जाता। यह कर्म सिद्धांत मानकर चलता है कि मैं आज जो कुछ भी हूं वह अपने पूर्व जन्म के फल से हूं। इसलिये जन्म में किये गये कार्य व्यक्ति के इस जन्म को निर्धारित करते हैं। इस सिद्धांत के अनुसार राजा का अस्तित्व देवता, ऋषि

---

1. This, therefore, perhaps is the only Hindu theory which practically harmonises with that of Western theorist.
—Dr. D R. Bhandarkar, Op. cit P. 136.

या मानव किसी की इच्छा पर आधारित नहीं था वरन् राजा इसलिये राजा था, क्योंकि उसने पूर्व जन्म में ऐसे कर्म किये थे। अतीत और वर्तमान के कर्मों के फलस्वरूप जो कुछ व्यक्ति को मिला वह उसे स्वीकार करना पड़ेगा। कर्म सिद्धान्त का एक निष्कर्ष यह भी निकलता है कि राजा की आज्ञा का पालन प्रत्येक व्यक्ति को सर झुका कर करना चाहिए क्योंकि यह तो नियति का विधान है और इसको बदलना किसी के भी हाथ का कार्य नहीं है। इस विधान में किसी प्रकार का भी हस्तक्षेप करना, करने वाले एवं प्रभावित होने वाले दोनों के ही पक्ष में न रहेगा। यह सिद्धांत राजा को अच्छे कार्य करने की भी प्रेरणा देता है क्योंकि राजा यदि गलत कार्य करेगा अथवा शासन का संचालन अन्याय तथा अधर्म के आधार पर करेगा तो इसके परिणाम स्वरूप उसे आगे के जन्म में दुख प्राप्त होगा। भारतीय धार्मिक ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर ऐसे वृतान्त आते हैं जहाँ कि अपने पुण्य कार्यों के परिणाम स्वरूप एक व्यक्ति दूसरे जन्म में धन-धान्य से भरपूर हुआ तथा दूसरा व्यक्ति अपने गलत कार्यों के कारण किस प्रकार आपदाओं में फंस गया। राजा एवं प्रजा दोनों को ही उनके धर्मों में आसीन रखने के लिए इस कर्म सिद्धांत ने पर्याप्त योगदान दिया। महाभारत, शांतिपर्व के अध्याय २३१ का १६ वां श्लोक यह वर्णन करता है कि देवता लोग याचकों को उनके शुभ कर्म के बदले राज्य और धन आदि दे रहे थे तथा अशुभ कर्म का योग उपस्थित होने पर पहले के दिये हुए राज्य आदि को छीन लेते थे।

जब महर्षि नारद ने यह बताया कि राजा ने अपने पुण्यों के कारण जनता को खरीद लिया है तो उन्होंने भी इस कर्म सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। नारद जनता को राजा की आज्ञा का उल्लंघन करने की कदापि अनुमति नहीं देते। अग्नि-पुराण में यह कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति इस जीवन में गायत्री मंत्र को एक करोड़ बार दोहरायें तो उसे सम्प्रभुता प्राप्त हो जाती है। यदि मनुष्य एक वर्ष तक पंचामृत में स्नान करे तथा स्नान के बाद में ब्राह्मणों को एक गाय का दान करे तो वह आने वाले जन्म में राजा बनाया जाता है। इसी प्रकार यदि व्यक्ति एक वर्ष तक इस व्रत का पालन करे कि खाना खाने से पूर्व अपनी कुल की दिवंगत आत्माओं को अर्पण कर दे तो वह भी राजा बनता है। इस मत के फलस्वरूप हम कई एक निष्कर्ष निकाल सकते हैं। प्रथम तो यह कि जो भी कोई इस समय राजपद पर आसीन है वह अपने पूर्व जन्म में पुण्य कार्यों को सम्पन्न करके ही ऐसा हुआ है। दूसरे, जो भी व्यक्ति राजपद प्राप्त करना चाहे वह अपने इस जन्म में पुण्य कार्य करे। तीसरे राजा की आज्ञा का पालन जरूरी है क्योंकि उसके पास संचित पुण्यों की शक्ति है। चौथे, राजा का धर्म एवं न्याय का पालन करना चाहिए नहीं तो वह राजपद पर नहीं रह सकेगा आदि आदि।

६ सामाजिक समझौते का सिद्धांत
[The Social Contract Theory]

प्राचीन भारतीय आचार्यों ने राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सामाजिक समझौते की विचारधारा को भी मान्यता प्रदान की है। जब हम ऐतरेय

ब्राह्मण में यह प्रसंग पाते हैं कि इन्द्र की सम्प्रभुता का स्रोत देवताओं एवं प्रजापति द्वारा किया गया निर्वाचन था तो यह स्पष्ट हो जाता है कि निर्वाचन करने वालों ने अपनी सहमति से ही इन्द्र को अपना मुखिया माना। इस उदाहरण में सरकारी समझौते का वर्णन न होने के कारण इसको एक पूर्ण सिद्धांत नहीं माना जाता है।

यह कहा जाता है कि वैसे तो प्रत्येक राज्य एवं प्रत्येक राजा किसी न किसी समझौते का परिणाम ही होता है। बिना समझौता किये हुए कोई भी संस्था अस्तित्व में नहीं आ सकती। इतने पर भी राज्य की उत्पत्ति से सम्बंधित सामाजिक समझौते के सिद्धान्त का एक विशेष अर्थ है। इस विशेष अर्थ में अनेक बातें समाहित होती हैं। प्रथम, इस सिद्धान्त की यह मान्यता है कि प्रारम्भ मे प्राकृतिक अवस्था थी। उस समय कोई राज्य नहीं था। इस अवस्था में सभी व्यक्ति बराबर होंगे। राज्य को समझौते का परिणाम मानने वाले सभी विचारक इस प्रकार की अवस्था के अस्तित्व में विश्वास करते हैं। उनको यह स्वीकार करना होता है कि समाज कभी बिना राज्य के भी रहता था, उसमें कोई सरकार जैसी संस्था नहीं थी। यदि उस समय सरकार भी रही होती तो राज्य को समझौते की उपज नहीं माना जा सकता। मनुष्य को इस समय में जो भी अधिकार प्राप्त थे वे या तो मनुष्य की प्रकृति में ही निहित थे अथवा वे उसको दैवीय रूप से प्राप्त हुए। यदि प्रकृति ने मनुष्य को अधिकार दिये होंगे तो सभी व्यक्तियों के पास ये समान रूप से रहे होंगे और यदि इनको दैवीय रूप से सौंपा गया होगा तो इसमें निश्चय ही असमानता रही होगी।

दूसरे, कोई भी समझौता केवल तभी सम्भव है जब कि दोनों ही पक्ष समझौता करने की योग्यता भी रखते हों। समझौता करने का अधिकार लोगों को कानून तथा सरकार के अभाव में किस प्रकार प्राप्त हुआ होगा यह एक प्रश्न है; या तो यह अधिकार प्राकृतिक माना जायेगा अथवा दैवीय।

तीसरे, प्रत्येक समझौते में प्रत्येक पक्ष के द्वारा कुछ शर्तें रखी जाती हैं और दूसरे पक्ष द्वारा उनको स्वीकार किया जाता है। समझौता करने वाले दोनों ही पक्ष इन शर्तों का पालन करने के लिए वचन बद्ध होते हैं।

चौथे, समझौते के माध्यम से दोनों पक्ष कुछ कार्य करने की स्वीकृति प्राप्त करते हैं। तथ्यगत शक्तियों को कानूनन मान्यता प्रदान की जाती है और इस प्रकार समझौते की प्रक्रिया पूरी हो जाती है।

सामाजिक समझौते के सिद्धान्त पर प्रभाव डालने वाले अनेक तत्वों में से कुछ प्रमुख तत्व इनको माना जा सकता है। यहां एक बात ध्यान मे रखने योग्य यह है कि राज्य की उत्पत्ति के इस सिद्धान्त के पीछे कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। जान स्पेलमेन (*John W. Spellman*) के कथनानुसार सामाजिक समझौते का विचार सरल रूप में सरकार अथवा राजपद के जन्म से सम्बन्धित विचारधारा है। इसे एक ऐतिहासिक वास्तविकता नहीं कहा जा सकता। अतः कोई भी उचित रूप से यह घोषणा नहीं कर सकता कि राज-

पद का वास्तविक जन्म सामाजिक समझौते के द्वारा हुआ है।[1]

पश्चिमी विचारकों द्वारा प्रतिपादित राज्य की उत्पत्ति का सामाजिक समझौते का सिद्धान्त तीन पहलुओं से युक्त है। प्रथम पहलू में प्राकृतिक अवस्था का वर्णन आता है जो कि राज्य से पूर्व स्थित थी। इस अवस्था में व्यक्ति कैसा जीवन व्यतीत करता था तथा उसकी समाज व्यवस्था किस प्रकार की थी आदि बातें बताई गई हैं। दूसरे पहलू में सामाजिक समझौता आता है जो कि राज्य की उत्पत्ति के लिए व्यक्तियों द्वारा सम्पन्न किया गया था। यह समझौता क्यों किया गया, किन पक्षों के बीच में किया गया, इसे करते समय दोनों पक्षों द्वारा क्या शर्तें लगाई गई आदि बातों का विवरण किया जाता है। तीसरे पहलू में समझौते के बाद की अवस्था का वर्णन है। जब राज्य स्थापित हो गया तो उसे क्या अधिकार एवं शक्तियां सौंपी गई, व्यक्ति के पास क्या अधिकार रहे, व्यक्ति राज्य का विरोध भी कर सकता था या नहीं, राज्य के क्या कार्य बताये गये आदि प्रश्नों पर यहां विचार किया गया है। इन तीनों पहलुओं का क्रमबद्ध रूप से वर्णन करने वाले पाश्चात्य विचारकों में हॉब्स, लॉक तथा रूसो का नाम लिया जा सकता है। इन विचारकों से समकक्षता रखने वाला कोई भी विचारक प्राचीन भारत में देखने को नहीं मिलता।[2]

भारतीय ग्रन्थों में इस विचारधारा का कहीं एक पहलू प्राप्त होता है तो कहीं दूसरा प्राप्त होता है। कहीं कहीं दो एक साथ भी प्राप्त हो जाते हैं। इनमें किसी स्थान पर पाठक को प्राकृतिक अवस्था का विवरण प्राप्त होता है तो कहीं यह पढ़ने को मिलता है कि राज्य स्थापित होने के बाद कैसी अवस्था हो गई। कुछ स्थानों पर राजा के कर्त्तव्य एवं व्यक्ति के अधिकारों का भी वर्णन किया गया है। महाभारत, पुराण या अर्थशास्त्र आदि किसी भी ग्रन्थ में कोई भी ऐसी विचारधारा प्राप्त नहीं होती जिसमें कि समस्त पहलुओं का वर्णन एक साथ ही किया गया हो। इसका कारण डा० भण्डारकर आदि विद्वानों द्वारा यह बताया गया है कि भारतीय मनीषियों ने अलग अलग वातावरण तथा दिशाओं में कार्य किया है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में यह कहा गया

---

1 The idea of Social contract is however simply a theory about the origin of government or kingship It can never be safely stated as a historical reality No one, therefore, can rightly declare that the actual origin of kingship was by Social contract

—John W Spellman Political Theory of Ancient India Clarendon Press Oxford 1964 P 19

2 It is necessary to remember in this connection that there will scarcely be found any theory propounded in Hindu books of Polity and Scriptures which will be exactly identical with the social contract theory of the Western theorists in all its three essential factors

—Dr D R Bhandarkar, Op cit., P 133

है कि "सभी लोगों को राजा की इच्छा करनी चाहिए।" डा० के० पी० जायसवाल ने इसका निष्कर्ष निकालते हुए इसे सामाजिक समझौते का प्रतीक माना है। स्पेलमेन (John W. Spellman) तथा केन (Kane) आदि विचारक इस निष्कर्ष को आवश्यक नहीं मानते। उसका कहना है कि राजा की इच्छा करने की बात राजा के जन्म के बाद भी कही जा सकती है और इस प्रकार यह कथन आवश्यक रूप से राजा के जन्म को इंगित नहीं करता है। जायसवाल की इस व्याख्या को पक्षपात पूर्ण माना गया है। वास्तविकता यह है कि ऋग्वेद में ऐसा कोई कथन नहीं आया है जिसे कि सामाजिक समझौते का प्रतीक माना जा सके।

ऋग्वेद के अतिरिक्त यदि हम अथर्ववेद का अध्ययन करें तो वहां यह कथन पाते हैं कि लोगों ने राजा को राजधानी पर शासन करने के लिये चुना। इसी में आगे यह बताया गया है कि राजा को सज्जनों द्वारा, राजा निर्माताओं द्वारा, सूतों एवं गांव के अध्यक्षों द्वारा, रथ निर्माताओ एवं धातु निर्माताओं द्वारा चुना गया। इन उद्धरणों के आधार पर यह तो माना जा सकता है कि राजपद का आधार लोगों की इच्छा रहा, किन्तु इससे यह कदापि स्पष्ट नहीं होता है कि इस इच्छा की अभिव्यक्ति समझौते के ही रूप में की गई थी अथवा अन्य किसी रूप में की गई थी।

सामाजिक समझौते के आधार बनने योग्य उद्धरण तो ऐतरेय ब्राह्मण में प्राप्त होता है। इसमें यह कहा गया है कि राजा को पुरोहित के सामने यह शपथ ग्रहण करनी होती थी कि 'अपने जन्म की रात से लेकर मृत्यु की रात तक के मध्यकाल में मेरा यज्ञ, मेरा दान, मेरा स्थान, मेरे अच्छे कार्य, मेरा जीवन आदि सब कुछ ले लिया जाये, यदि मैं इस राजपद का गलत रूप से प्रयोग करूं।' यहां राजा द्वारा ली गई शपथ में यह स्पष्ट कर दिया जाता था कि राजपद का अस्तित्व केवल कुछ निश्चित तरीकों से कार्य करने से है। यदि ऐसा न किया गया तो राजपद को भी वापिस लिया जा सकता था। मि. केन (P. V. Kane) का विचार है कि इस शपथ को सामाजिक समझौते का प्रतीक नहीं मान सकते क्योंकि इसके द्वारा राजा धर्म एवं जनकल्याण के लिए शासन करने का आश्वासन नहीं देता। वैसे यदि हम केवल शब्दों पर ध्यान दे तो केन महोदय द्वारा की गई आलोचना सत्य प्रतीत होगी किन्तु दूसरी ओर यदि इन शब्दों के भाव पर जाये तो यह मानना पड़ेगा कि इसमें समझौते की झलक देखना कोई गलत बात नहीं है। स्पेलमेन ने इस सम्बन्ध में संतुलित दृष्टिकोण अपनाते हुए यह स्वीकार किया है कि यह उद्धरण यद्यपि प्राचीन भारत में समझौते के सिद्धान्त के प्रचलन का संतोषजनक प्रमाण नहीं माना जा सकता किन्तु फिर भी इसके आधार पर यह तो माना जा सकता है कि भारत में समझौते की मान्यता अपने बदले हुए रूप में स्थित थी।[1]

---

1. We feel that although this reference cannot satisfy the total requirements for postulating a theory of social contact in ancient India, it nevertheless contains sufficient to enable us to say that in embryonic form, atleast, the

महाभारत शान्ति पर्व के ६७ वें अध्याय में राजा के जन्म की जिस कथा का वर्णन आया है उस सामाजिक समझौता सिद्धान्त की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण माना जा सकता है। यह अध्याय प्राकृतिक अवस्था का विस्तार-पूर्वक वर्णन करता है। प्राचीनकाल में मत्स्यन्याय एवं अराजकता व्याप्त थी। इसका अन्त करने के लिए कुछ लोग परस्पर मिले और यह कानूनी व्यवस्था की कि कटु भाषण, हिंसात्मक व्यवहार, दूसरों के धन का अपहरण, दूसरों की पत्नियों का अपहरण, डकैती आदि के आधार पर लोगों को समूह से निकाल दिया जाये। इस व्यवस्था के कारण उनकी स्थिति में थोड़ा परिवर्तन आया, किन्तु कुल मिलाकर उनकी स्थिति बदतर ही बनी रही। हार कर वे लोग ब्रह्मा के पास गये और प्रार्थना की कि उनको विध्वंस से बचाने के लिए कोई राजा नियुक्त करें। लोगों ने देवता द्वारा नियुक्त राजा की पूजा करने का आश्वासन दिया तथा उसे उनकी रक्षा करने का काम सौंपा। बाद में ब्रह्मा ने किस प्रकार मनु को राजा नियुक्त किया, मनु ने पहले मना करके पुनः धर्म से राजपद को स्वीकार किया आदि बातें हम पहले ही देख चुके हैं। यहां उनकी पुनरावृत्ति न करके यही कहना पर्याप्त होगा कि इस कहानी के प्रथम भाग का सम्बन्ध सामाजिक समझौते से नहीं है। अनेक लोगों में से केवल कुछ ही राजा की नियुक्ति की प्रार्थना करते हैं और इनके द्वारा भी कोई नेता नहीं चुना जाता है। इस कहानी द्वारा लोगों के एक ऐसे समुदाय का उल्लेख प्राप्त होता है जिसने अपने बीच अधिक अनुशासन की स्थापना के लिए व्यवहार के नियमों का उल्लंघन करने वालों के विरुद्ध दण्ड की व्यवस्था की। यह एक कानूनी व्यवस्था की स्थापना तो कही जा सकती है किन्तु इसे समझौता नहीं कह सकते।

कहानी में जिस अराजक स्थिति का वर्णन किया गया है वह ठीक वैसी ही है जिसका वर्णन पश्चिमी विचारक थामस हॉब्स ने अपनी लेवियाथन में किया है। इन लोगों को अपनी तत्कालीन स्थिति से सन्तोष नहीं था। वे समझौता करने की शक्ति एवं सामर्थ्य रखते थे। लोगों ने मनु के सामने प्रस्ताव रखा और जैसा कि मनु के व्यवहार से प्रकट होता है, उसने इसे स्वीकार कर लिया। यहां प्रश्न उठते हैं कि क्या मनु इस प्रस्ताव से स्वतन्त्र रहकर कार्य कर सकता है, क्या उसकी शक्ति का स्रोत जनता है, लोगों ने उसे क्या क्या शक्तियां प्रदान कीं, आदि आदि। सामान्य रूप से समझौते की धारणा में यह माना जाता है कि शासक न केवल अपने अधिकार वरन् अपनी शक्तियां भी जनता से ही प्राप्त करता है। यह बात मनु के सम्बन्ध में लागू नहीं होती। लोगों ने मनु को अपनी सम्पत्ति का कुछ भाग सौंपने का तथा उसकी पूजा करने का आश्वासन दिया। यहां प्रश्न यह है कि क्या लोगों को सम्पत्ति का प्राकृतिक अधिकार प्राप्त था जो कि उसे मनु को देने के लिए सौदेबाजी कर सकें। महाभारत की इस कहानी को भी सामाजिक समझौते के सिद्धान्त के

---

concept did exist and this is probably its earliest clearly identifiable reference.

—John W. Spellman, Op cit., P. 20.

विकास की दिशा में एक कदम माना जा सकता है। वैसे इसमें पश्चिमी सिद्धांत के सभी तत्व प्राप्त नहीं होते।

राज्य की उत्पत्ति के इस सिद्धान्त का अधिक स्पष्ट विवरण हमें बौद्ध ग्रन्थों में प्राप्त होता है। वैसे ये ग्रन्थ मुख्य रूप से सांसारिक विषयों से अपना सम्बन्ध नहीं रखते वरन् मनुष्य के आध्यात्मिक विकास के लिए आवश्यक बातों की ही व्यवस्था करते हैं। फिर भी दक्षिणी बौद्धों के दीर्घ निकाय में जब संसार की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है तो वहां राजतंत्र के जन्म का भी उल्लेख आता है। प्राकृतिक अवस्था एवं राजनीतिक समाज के प्रारम्भ का भौगोलिक विवरण दीर्घ-निकाय में दिया गया है। इसमें यह बताया गया है कि सम्प्रभुता का जन्म सामाजिक समझौते के परिणाम-स्वरूप हुआ। यह कहा गया है कि स्वर्ण युग में मनुष्य की रचना मन से हुई थी, उनका पालन-पोषण 'प्रसन्नता' से होता था तथा वे वायु-मार्ग से यात्रा करते थे। कुछ समय बाद पृथ्वी पानी से ऊपर आ गई। लोगों ने उस पर काम किया, भाजन पैदा किया और स्वादों की उत्पत्ति हुई। धीरे-धीरे व्यक्ति का आत्म-प्रकाश नष्ट हो गया, सूर्य एवं चन्द्रमा द्वारा प्रकाश दिया जाने लगा। मौसम, रात, दिन तथा समय के अन्य सूचकों का जन्म हुआ। अनैतिकता एव बुराइयां पैदा होने लगीं और धरती पर पौधों का विकास हुआ। पहले तो चावल बिना किसी आधार के ही उग आता था। खुले प्रदेशों में इसे यथेच्छ पाया जा सकता था। भोजन के लिए एक बार उखाड़ने के बाद यह स्वतः ही पुनः उग आता था।

बाद में जब अनैतिकता बढ़ी तो परिस्थितियां इतनी श्रेष्ठ न रह गईं। अब चावल केवल कुछ स्थानों पर और वह भी कम शुद्ध रूप में उगने लगा। इस पर लोगों ने चावल के खेतों का विभाजन कर लिया और सीमायें बना लीं। कुछ लालची लोग ऐसे भी होते थे जो कि स्वयं की धरती में उगाने के बाद भी दूसरों की धरती से चोरी कर लेते थे। ऐसे लोगों को पकड़ कर पीटा जाना लगा। इस प्रकार चोरी, झूठ, मारपीट, दबाव, दण्ड आदि व्यवहार विकसित हुए। लोगों में अव्यवस्था फैला गई और यह सोचा गया कि किसी ऐसे व्यक्ति को छांटा जाये जो कि इस सब की देखभाल करे और गलती करने वालों को दण्ड प्रदान करे। इस काम के बदले उसे चावलों का कुछ भाग देने का निर्णय किया गया। लोग मिले। लोग अपने में से ही एक सुन्दर और सामर्थ्यवान व्यक्ति के पास गये और उसके सम्मुख यह प्रस्ताव रखा। उसे सम्बोधित करते हुए लोगों ने कहा—"आओ श्रेष्ठ, उन लोगों को दण्ड दो, निन्दा करो और बाहर निकाल दो जो कि ऐसा किये जाने के योग्य हैं। हम तुम को अपने चावल का कुछ भाग सौंप देंगे।" उसने अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी तथा लोगों ने उसे चावल का भाग दिया। समस्त व्यक्तियों के लिए चुने गये इस व्यक्ति को 'महा सम्मत' कहा गया। यह व्यक्ति खेतों का स्वामी था और इसलिए उसको क्षत्रिय (खेतानाम् पतीनि) कहा गया। उसने लोगों को स्थापित कानून के पालन के लिए प्रेरित करके उनको प्रतिभावान बनाया; अतः वह राजन् (धम्मेन परे रनजोतिति) कहा गया।

बौद्ध ग्रन्थ की यह कथा राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौते के सिद्धान्त का स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादन करती है। स्पेलमैन के शब्दों में "यह बौद्ध उपाख्यान स्पष्टतः एक सामाजिक समझौते का सिद्धान्त है। राजा अपनी सत्ता उन लोगों से प्राप्त करता है जिन्होंने कि उसको चुना है। यह समझौते की शर्तों का पालन करने लिए वेतन प्राप्त करता है।"[1]

डा० भण्डारकर द्वारा इस कथा की व्याख्या करते हुए यह बताने का प्रयास किया गया है कि इसे हम सामाजिक समझौते का प्रतीक किस सीमा तक मान सकते हैं। उनका कहना है कि कथा के अनुसार निसंदेह रूप में सरकारी समझौता किया गया था। क्षत्रिय या राजा को जनता द्वारा निर्वाचित किया गया ताकि वह उपयुक्त लोगों को दबा सके व समाप्त कर सके। लोगों ने राजा को इसके बदले में कुछ देने का वादा भी किया। यह कोई एक पक्षीय समझौता नहीं था, क्योंकि जो प्रशासक इस प्रकार चुना गया था उसने अपने सौंपे गये कर्तव्य पर स्वीकृति प्रदान की तथा यथार्थ में लोगों से चावल का भाग प्राप्त किया। यह सरकारी समझौता था। कहानी के द्वारा यह नहीं बताया गया है कि राजा को निर्वाचित करने से पूर्व समाज की व्यवस्था कैसी थी। उन लोगों ने अपने समाज की रक्षा के लिए कानून की वास्तविक संहिता की रचना की थी या नहीं, यह भी स्पष्ट नहीं है। कथा केवल यह कहती है कि एक व्यक्ति के खेत को दूसरे व्यक्ति के खेत से पृथक कर दिया गया। इस सीमा निर्धारण के बाद भी एक व्यक्ति दूसरे के खेतों पर छीन-झपटी करने लगा। लोगों ने पहले तो उसकी निन्दा की, बाद में पकड़ने लगे और उसके बाद उसे दण्ड दिया जाने लगा। इससे ऐसा प्रतीत नहीं होता कि उन लोगों के पास कोई स्थापित कानूनों की संहिता रही होगी। डा० भण्डारकर ने इसे सामाजिक समझौते से सम्बन्धित लॉक की मान्यता के समान बताया है।

बौद्ध जातकों की कथाओं में ऐसे अनेक वृत्तान्त आते हैं जहां कि लोगों ने अपने राजा को स्वयं निर्वाचित किया। तित्तिरा जातक की एक कथा के अनुसार एक बरगद के वृक्ष के निकट एक तीतर, एक बन्दर तथा एक हाथी रहा करते थे। उनमें एक दूसरे के लिए आदर भाव नहीं था। अपने जीवन में एक व्यवस्था की स्थापना करने के लिए उन्होंने एक राजा चुनने का निर्णय किया। इस बात पर सहमति हो गई कि तीतर उम्र में सबसे बड़ा है अतः वे उसका आदर करेंगे तथा वह उनको परामर्श देता रहेगा। इसी प्रकार की एक मनोरंजक कहानी उलूक जातक में आती है। इसमें यह कहा गया है कि संसार के प्रथम क्रम में लोग एकत्रित हुए तथा एक पूर्ण व्यक्ति को राजा चुनने का काम किया। इसी प्रकार चौपायों ने शेर को तथा मछलियों ने

1. The Buddhist legend is clearly a theory of social contract. The king draws his authority from those who chose him and is paid for fulfiling the terms of the contract.
—John W. Spellman, Op cit , P. 22.

आनन्द को अपना राजा चुन लिया। पक्षियों ने अपना कोई भी राजा नियुक्त न किया और वे अराजकता की स्थिति में रह गये। उन्होंने बाद में यह निर्णय लिया कि उल्लू को राजा बना दिया जाये। पक्षियों ने माना कि उल्लू ही एक ऐसा पक्षी है जिसकी उनको चाह थी। एक पक्षी द्वारा सभी के सामने यह तीन बार घोषणा की गई कि इस विषय पर मत लिया जाये। दो बार होने के बाद जब यह घोषणा तीसरी बार होने जा रही थी तो एक कौआ उठा और बोला—"अब ठहरो! जब पवित्र राजपद प्रदान करने पर यह उल्लू ऐसा दिखाई दे रहा है तो जब यह नाराज होगा तो कैसा दिखाई देगा।" यह कहकर कौवा उड़ गया। उल्लू भी उसका पीछा करता हुआ उड़ गया। अन्त में पक्षियों ने सुनहरी कलहंस को अपना राजा चुन लिया। इस कहानी से एक बात यह स्पष्ट हो जाती है कि चुनाव के समय मतदान की प्रक्रिया का रिवाज था। यह रिवाज हिन्दू राजनीति में कितना प्रचलित था यह नहीं कहा जा सकता। तो भी अनेक उपाख्यानों के आधार पर स्पेलमेन (Spellman) की भांति हम यह कह सकते हैं कि प्राचीन भारत के बौद्ध समाजों में सामाजिक समझौते के राजनैतिक प्रभावों का थोड़ी—बहुत मात्रा में अनुभव किया गया था। बौद्ध धर्म के अनुगायी देवी-देवताओं में विश्वास नहीं करते अतः वे राज्य को ईश्वर निर्मित नहीं मान सकते थे। सम्भवतः इसी कारण उन्होंने राजपद के जन्म को मानवीय रूप प्रदान किया होगा।

शान्तिपर्व में भी कुछ इसी प्रकार की कथा एक डाकू के सम्बन्ध में कही गई है, जो कि क्षत्रीय पिता और निषाद माता का पुत्र था। वह न्याय पूर्ण व्यवहार करता था, और एक शिकारी तथा डाकू के रूप में उसकी योग्यताएं सबसे अधिक थीं। एक दिन हजारों डाकुओं ने उसे अपना नेता चुनने की इच्छा प्रकट की। डाकू ने कहा कि 'हम में से तुम एक ऐसे व्यक्ति हो जो कि समय और स्थान की आवश्यकताओं को समझते हो। तुम में बुद्धि और साहस है। तुम जिस किसी काम को लेते हो उसमें दृढ़ता दिखाते हो। तुम हमारे मुख्य नेता बन जाओ' हम सब तुम्हारा आदर करेंगे और तुम्हारे कहे अनुसार चलेंगे। तुम मात-पिता की तरह हमारी रक्षा करोगे।' यद्यपि यह कथा किसी सामाजिक समझौते का स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं करती किन्तु फिर भी इसे हम मानवीय चयन का एक उदाहरण मान सकते हैं। यह पर्याप्त समझ में आने वाली बात है कि एक गुण सम्पन्न व्यक्ति को ही लोग अपना नेता चुनेंगे। समाज शास्त्रीय दृष्टिकोण से यह कहा सकता है कि राजपद का जन्म इसी प्रकार हुआ होगा।

अर्थ शास्त्र में भी हम सामाजिक समझौते से सम्बन्धित विचारों की झलक पाते हैं। इन विचारों से मौर्य काल में प्रचलित विचारों की अभिव्यक्ति होती है। इसके अनुसार अराजकता से दुखी व्यक्तियों ने 'मनु' को अपना राजा बनाया। उन्होंने राजा को अन्नोत्पादन का छटा भाग और अपने व्यापार का दसवां भाग देने का वायदा किया इस वायदे के ऊपर पलने वाले राजा ने अपनी जनता की रक्षा का कार्य सम्पन्न किया। जो लोग राजा द्वारा की गई व्यवस्था को नहीं मानते उन्हें वह दण्ड दे सकता था। राजा को इन्द्र

और यम के समान माना गया। वह सजा और पुरस्कार का एक साकार रूप बन गया। जो कोई भी राजा की आज्ञा का अनादर करता था, उसे दैवीय रूप से दण्ड देने की अनुमति थी। राजा की आज्ञा को कभी ठुकराया नहीं जा सकता।

७ राजपद के प्रति पैतृक दृष्टिकोण (The Paternal View of Kingship)

कई एक विचारकों का कहना है कि जब तक राजपद से सम्बन्धित पैतृक दृष्टिकोण का अध्ययन नहीं किया जाय तब तक राज्य की उत्पत्ति से सम्बन्धित कोई भी विचारधारा अधूरी रहेगी। महाभारत के शांतिपर्व में राजा के कर्तव्यों की इस मान्यता को प्रदर्शित करने वाली कई एक वार्तायें आई हैं। इसके अध्याय ५७ के श्लोक ३३वें के अनुसार 'वह राजाओं में सर्वश्रेष्ठ है जिसके प्रशासन में व्यक्ति अपने पिता के घर की तरह निडर होकर घूमते हैं।' इसी प्रकार अध्याय १३९ में वार्तायें आती हैं। जब 'मनु' ने राजा के सात गुणों का उल्लेख किया तो उसने बताया कि वह माता है, पिता है, नियमों का संचालक है, रक्षा करने वाला है, अग्नि है, वैश्रवा है, और यम है। इसी प्रकार की बात कहते हुये आगे बताया गया है कि राजा जो कि अपनी प्रजा के प्रति भावपूर्ण होता है वह निश्चय ही लोगों के पिता के समान है। जो लोग राजा के प्रति झूठा व्यवहार करते हैं वे अगले जन्म में जानवर बनते हैं।

राजा के प्रति पैतृक भावना से पूर्ण विचार बौद्ध जातकों में भी देखने को मिलते हैं। इस दृष्टिकोण के अनुसार प्रजा के प्रति राजा का आदर्श सम्बन्ध केवल वह नहीं है जो कि एक माता पिता का अपनी सन्तान के प्रति होता है वरन् वह अपने आज्ञाकारियों के लिये नियमों की रचना भी करता है। इसी दृष्टिकोण को कौटिल्य द्वारा भी अपनाया गया है। कौटिल्य ने राजा को कई एक स्थानों पर 'पितेव ग्रहणीयात्' कहा है। प्रान्तीय समझौतों से सम्बन्धित अध्याय में कहा गया है कि राजा को कुछ संकटकालीन अवसरों पर कर माफ कर देना चाहिये। किन्तु जब यह माफी का समय समाप्त हो जाये तो उसे अपनी जनता के साथ पुत्रवत् व्यवहार करना चाहिये। इसी प्रकार की बात कण्टकशोधन नामक अध्याय में कही गई है जहां राजा को अपनी जनता के प्रति सदैव पुत्रवत् भाव बनाये रखने का परामर्श दिया गया है। इस प्रकार राजा के कर्तव्यों के प्रति पैतृक मान्यता का प्रारम्भ कौटिल्य के समय से माना जा सकता है। कौटिल्य की इन मान्यताओं की साकार अभिव्यक्ति हमें सम्राट अशोक के व्यवहार में प्राप्त होती है। सम्राट अशोक ने रज्जुका अधिकारों की नियुक्ति ठीक उसी प्रकार की थी, जिस प्रकार की नर्सों की नियुक्ति सन्तानोत्पत्ति के लिये की जाती है। दूसरे शब्दों में वह अपनी प्रजा को सन्तान की भांति देखते थे। कलिंग के आदेशों में यह कहा गया है कि 'सभी लोग मेरी सन्तान हैं, जिस प्रकार मैं अपनी सन्तान के लिये यह इच्छा करता हूं कि उनमें इस लोक और परलोक की समस्त कल्याण एवं

प्रसन्नता एकत्रित हो जाय उसी प्रकार मैं समस्त प्रजा के लिये ऐसा चाहता हूं।' इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अशोक राजा के रूप में अपनी जनता के प्रति पैतृक धारणा रखते थे।

राजा की इस पैतृक धारणा के सम्बन्ध में डा० भण्डारकर का कहना है कि इस पर निष्पक्ष रूप से विचार किया जाय तो हम इस अनुमान पर पहुंचते हैं कि प्राचीन भारत के राजनैतिक लेखों में वे तत्व मौजूद थे जो कि आज शक्ति सिद्धान्तों में प्राप्त होते हैं। शक्ति सिद्धान्त की मान्यता के अनुसार सरकार मानवीय आक्रमण की उपज है। इसमें सन्देह नहीं कि यह सिद्धान्त उस समय अस्तित्व में आया जबकि राजा की शक्तियां पूर्ण बन गईं, अर्थात मौर्य साम्राज्य की सर्वोच्चता शिखर पर पहुच गई। भण्डारकर के शब्दों में जिस प्रकार बच्चे अपने माता-पिता पर पूर्ण रूप से निर्भर होते है और जो उनके लिये कुछ भी करने के लिये अधिकार रखते हैं, उसी प्रकार जनता भी राजा की दया पर आश्रित रहती है जो कि उसके लिये अपनी इच्छानुसार कुछ भी करे।[1] राजा की शक्तियों से सम्बन्वित यह विचार अपने पूर्वस्थित विचारों से पर्याप्त विरोध रखता है, जिनके अनुसार राजा को जनता का केवल एक सेवक मात्र माना जाता था। वह कुछ निर्धारित कर संग्रह कर सकता था, ताकि प्रदान की गई सेवाओं के बदले में उसे कुछ प्राप्ति हो सके।

वैसे राजपद की पैतृक मान्यता को शक्ति-सिद्धान्त का आधार मानना अधिक उपयुक्त नहीं होता। शक्ति-सिद्धांत में आक्रमणकारी शोषण की प्रक्रिया पर अधिक जोर दिया गया है। किन्तु पैतृक मान्यता के अनुसार राजपद का आधार जनता को माना गया है। यहां शासन दमन के द्वारा नहीं किया जाता वरन् दया-भाव से संचालित किया जाता है। यहां सुरक्षा प्रदान करने का आधार आज्ञाकारिता है। राजा और प्रजा के बीच का सम्बन्ध ठीक वैसा ही है जो कि कानून निर्माता, और पालन कर्त्ता के बीच, माता-पिता और बालक के बीच, स्वामी और सेवक के बीच होता है। इस सिद्धांत ने ठीक इसी प्रकार के सम्बन्ध को राजा और प्रजा के बीच विकसित होने का समर्थन किया। इस विचारधारा का प्रारम्भ मौर्य साम्राज्य की स्थापना के कुछ समय पूर्व से ही माना जाता है जबकि गणराज्य व्यवस्था का स्थान शक्तिशाली राजतन्त्र लेता जा रहा था; और ये राजतन्त्र बड़ी तेजी के साथ साम्राज्यवाद की ओर अग्रसर हो रहा था।

राज्य की उत्पति से सम्बन्धित विभिन्न प्राचीन भारतीय सिद्धान्तों का उल्लेख करने के बाद हम कुछ निष्कर्षों पर पहुंचते हैं। हमारा पहला निष्कर्ष

---

1. Just as children are solely dependent upon parents, who can do to them. Just what they like, the subjects were at the mercy of the king who was thus no better than a despot.

—Dr. D.R. Bhandarkar Op. cit, P. 167.

यह है कि भारतीय आचार्यों ने राज्य की दैवीय उत्पत्ति की मान्यता पर पर्याप्त जोर दिया। अन्य सिद्धान्तों पर भी इस विचारधारा का उल्लेखनीय प्रभाव रहा। सम्पूर्ण भारतीय राजनीति में दृष्टिगोचर होता है कि अन्याय पूर्ण शासन के लिये कोई सांसारिक दण्ड नहीं दिया जा सकता वरन् यह एक दैवीय अपराध है और इसके लिये एक दैवीय दण्ड की ही व्यवस्था की जायगी। राजा का जिन कानूनों का पालन करना चाहिये वे व्यवस्थापिका द्वारा बनाए गये मानवीय कानून नहीं होते वरन् धर्म के दैवीय कानून होते हैं। प्राचीन भारत की परिस्थितियों में इस प्रकार के विचार स्वाभाविक ही थे, उस समय सम्पूर्ण मानवीय जीवन को धर्म मय माना गया था। न केवल भारत में वरन् भारत के अतिरिक्त अन्य देशों में भी मनुष्य के विचार एवं विश्वास वहां के धर्म से पर्याप्त प्रभावित थे। जिस प्रकार पश्चिमी देशों में राजा को ईश्वर का भेजा हुआ माना गया इस्लाम में खलीफा को ईश्वर का प्रतिनिधि माना गया इसी प्रकार प्राचीन भारतीयों ने भी राजा को देवताओं द्वारा नियुक्त स्वीकार किया। उस समय की परिस्थितियों में प्रजातन्त्रात्मक राज्यों का विकास असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य था। प्राचीन भारत में जाति-व्यवस्था का प्रभाव स्त्रियों की स्थिति, ग्रामीण विकेन्द्रीकरण और साक्षरता का अभाव आदि के कारण जनइच्छा पर आधारित शासन मुश्किल था। बौद्ध उपाख्यानों में तथा अन्य ग्रन्थों में जहां भी कहीं समझौते के सिद्धान्त की झलक मिलती है वहां हम यह पाते हैं कि इस प्रकार का समझौता या तो देवताओं के साथ किया गया अथवा उच्च मानवों के साथ। प्राचीन भारतीयों ने राजा की नियुक्ति को उच्चमानवीय अर्द्ध-दैविक रूप प्रदान किया है।

कुल मिलाकर प्राचीन भारत में शाही पूर्णतावाद का सिद्धान्त प्रचलित था। राजा का अपनी जनता के प्रति उत्तरदायित्व केवल मात्र यह था कि वह उनकी रक्षा करे। इस कार्य को सम्पन्न न करने वाले राजा के विरुद्ध युद्ध किया जा सकता था। जनता या मंत्रिपरिषद उसे पद से हटा सकते थे। इसके अतिरिक्त राजा को धर्म से ऊपर नहीं माना गया था। एक धर्म प्रवर्तक के साथ-साथ राजा के लिये धर्मानुयायी होना परमावश्यक था। धर्म विरोधी कार्य करने पर अथवा अन्याय पूर्ण निर्णय लेने पर दण्ड का प्रयोग राजा के विरुद्ध भी किया जा सकता था। भारतीय आचार्यों ने दण्ड की दोमुखी मान्यता में विश्वास किया। एक ओर तो यह धर्म विरोधी एवं अन्यायी प्रजाजनों के विरुद्ध प्रयुक्त किया जा सकता था, और दूसरी ओर इसे दुष्ट प्रकृति के राजा के विरुद्ध भी काम में लाया जा सकता था। कुछ विचारक राजा और प्रजा के मध्य स्थित भारतीय प्राचीन सम्बन्धों को स्वामी और सेवक के मध्य स्थित सम्बन्धों के समकक्ष मानते हैं। जिस प्रकार सेवक अपने स्वामी की आज्ञा का पालन करता है और स्वामी के लिये अपनी सेवायें प्रदान करता है उसी प्रकार राजा को भी प्रजा के प्रति अपनी सेवायें प्रदान करनी चाहिये। प्रत्येक सेवक के द्वारा स्वामी के प्रति विद्रोह किया जा सकता है यदि वह स्वामी अधिक कठोर व्यवहार करे या सेवक को गालियां दे। इसी प्रकार राजा द्वारा अधिकारों के दुरुपयोग पर जनता द्वारा क्रान्ति की

जा सकती थी। स्वामी का यह उत्तरदायित्व होता है कि वह अपने सेवक का भरण-पोषण करे और उसे वस्त्र पहिनाये। इस प्रकार स्वामी-सेवक के सम्बन्ध में भी कुछ समझौते के तत्व प्राप्त होते हैं; किन्तु इन तत्वों को सामाजिक समझौता कहना कहां तक उपयुक्त होगा यह स्पष्ट नहीं है। मि० स्पेलमैन (Spellman) का मत है कि जब हम दो चीजों को कुछ एक समानताओं के आधार पर प्रत्येक दृष्टि से समान मानने लगते हैं तो तार्किक दोष उत्पन्न हो जाता है। उनका मत है कि प्राचीन भारत में सामाजिक समझौते के सिद्धान्त के प्रभाव का मानना इसी प्रकार के दोष से प्रभावित है। प्राप्त प्रमाणों के आधार पर मि० स्पेलमैन (Spellman) यह निष्कर्ष निकालना उपयुक्त समझते हैं कि राजा को दैवीय रूप से नियुक्त किया जाता था और वह ईश्वर की मेहरबानी से शासन करता था।

राज्य का विकास
[The development of State]

राज्य की उत्पत्ति से सम्बन्धित भारतीय विचारों को जानने के बाद एक अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि जन्म के बाद से राज्य का विकास किन-किन स्थितियों में होकर गुजरा अथवा राज्य का विकास किस प्रकार हुआ। प्रारम्भ में राजपद का जन्म किस उद्देश्य से किया गया और बाद में इस उद्देश्य को कौन कौन से रंग प्रदान किये गये—यह जानना प्राचीन भारतीय राजनीति के विद्यार्थी के लिये परम उपयोगी रहेगा। यदि हम शुक्रनीति-सार के मत को मान लें तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि एक शासक को ब्रह्मा के द्वारा जनता के सेवक के रूप में बनाया गया। वह जनता से आय के रूप में राजस्व एकत्रित करता है और उसकी सम्प्रभुता केवल सुरक्षा के लिये है। मौलिक रूप से आर्य राजा केवल नेता माने जाते थे। उस समय गैर-आर्य लोगों ने एक स्थाई वंश-परम्परागत राजतंत्र की व्यवस्था विकसित कर ली थी। वैदिक काल में आर्यों में भी यह विचार विकसित होने लगा था कि चक्रवर्ती राजा वह होता है जिसके आधीन कई एक राजा होते हैं। इस प्रकार साम्राज्यवाद की भावना के अणु जन्म ले चुके थे। जब आर्य लोग भौगोलिक दृष्टि से व्यापक बन गये तो उन्होंने राजपद की मान्यता में वास्तविक परिवर्तन किये। जब आक्रमणकारी जातियां गंगा की घाटी के मैदानों में विस्तीर्ण हो गई तो चक्रवर्ती व्यवस्था के विचार तथ्य बनकर सामने आने लगे। इस स्थिति में मुख्य राजा द्वारा अन्य राजाओं को अपने प्रभाव में रखने की परम्परा पैदा हुई। साम्राज्यवादी शक्ति की मान्यता धीरे-धीरे हिन्दू राजनैतिक परम्पराओं का एक भाग बन गई। जब भारत के राजनैतिक संगठन ने पहिले आर्यावर्त को और बाद में समस्त हिन्दुस्तान को अपने क्षेत्र में समाहित कर लिया तो उस व्यक्ति को सम्राट माना जाने लगा जिसका प्रभाव विन्ध्य-प्रदेश के समस्त उत्तरी भागों में हो या हिमालय से लेकर रामेश्वरम् तक के समूचे भारत पर हो।

केवल सैनिक विजय के द्वारा एक व्यक्ति सम्राट नहीं बन जाता था। सैनिक विजय के आधार पर कोई भी एक बड़ा राजा बन सकता था; किन्तु

सम्राट नहीं। सम्राट बनने के लिये इस बड़े राजा को अश्वमेध या इसी प्रकार का अन्य कोई यज्ञ करना होता था। इस प्रकार सम्राट का पद वैदिक-काल में भी कोई वंश परम्परागत पद नहीं था वरन् एक व्यक्तिगत पद था। इसके द्वारा कोई अतिरिक्त शक्ति या उच्च-सत्ता प्रदान नहीं की जाती थी। कौटिल्य ने परम्परागत हिन्दू साम्राज्य की मान्यता के क्षेत्र को परिभाषित करते हुये बताया है कि इसका अर्थ उस भू-भाग से है जो कि हिमालय और समुद्र के बीच में पड़ता है। यह भू-भाग नौहजार योजन का है। जिस राजा का इस पर प्रभाव होगा केवल वही सम्राट माना जा सकता था।

महाभारत युद्ध के बाद से ही साम्राज्य के वंश परम्परागत उत्तराधिकार की परम्परायें प्रचलित हो गई। अनेक पौराणिक ग्रन्थों में जो वंश परम्परा की सूचियां प्राप्त होती हैं उनसे इस परम्परा का अस्तित्व साबित होता है और यह प्रतीत होता है कि उस समय साम्राज्यवादी सिद्धान्त का कठोरता के साथ पालन किया जाता था। मौर्य साम्राज्य के समय से ही कुछ सीमा तक इस सिद्धान्त को व्यवहार में लाया गया। तीन मौर्य भारत के सम्राट बने। सेनापति पुष्यमित्र ने यद्यपि सम्राट की उपाधि ग्रहण नहीं की किन्तु फिर भी जैसा कि कालीदास के मालविकाग्निमित्र से प्रतीत होता है, उसने अश्वमेध यज्ञ की परम्पराओं को जारी रखा। गुप्त साम्राज्य की भांति ही भारशिवास एवं वकतकास राजवंशों ने भी साम्राज्यवादी परम्परा को निभाया है। इन्होंने अनेक घोड़ों का बलिदान करके सम्पूर्ण उत्तरी भारत का एकीकरण किया। भारशिवास राजवंश के बाद वकतकास का नाम आता है। इन्होंने अपने पराक्रम से अनेक यज्ञों का आयोजन किया। स्वयं प्रवरसेन द्वारा ही चार अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न किये गये थे जिनके परिणाम स्वरूप इसने सम्राट की उपाधि धारण की। गुप्तवंश ने वकतकास से ही साम्राज्यवादी तत्वों को ग्रहण किया था। भारतीय इतिहास में गुप्त साम्राज्य की स्थिति सुविदित है। पहले यह माना जाता था कि गुप्तवंश का प्रभाव केवल एक वंश विशेष तक ही सीमित रहा और उसी के साथ समाप्त हो गया। यह मान्यता आधुनिक शोधों ने गलत साबित करदी है। जब समुद्रगुप्त के वंशजों का भाग्याद्रून स साम्राज्य समाप्त हो गया तो एक प्रकार से अराजकता छा गई और उसके बाद यह क्षेत्र उत्तर में शिलादित्य राजवंश तथा दक्षिण चालुक्यों के बीच विभाजित हो गया। पुनकेसिन प्रथम ने माटापी में अश्वमेध यज्ञ किया तथा पर्याप्त सम्मान की प्राप्ति की। उसने साम्राज्यवादी आदर्श को बनाये रखा।

प्राचीन भारतीय राज्य व्यवस्था के सम्बंध में एक बात ध्यान मे रखने योग्य यह है कि हिन्दू राज्य पूर्ण रूप से धर्म निरपेक्ष था। बी. के. सरकार आदि विचारकों का कहना है कि भारत मे राजनैतिक इतिहास एवं दर्शन कभी भी धर्म के आधिपत्य में नहीं रहा।[1] यहां राजनीति को धर्म शास्त्रों

---

1. In India, paradoxical as it may seem to preconceived notions, religion is never known to have dominated political history or philosophy

—B K. Sarkar, Op cit., PP. 13-14.

के अधिकार क्षेत्र से अलग रखा गया। कोई भी पुरोहित नागरिक प्रशासन के मामलों में सांसारिक अथवा आध्यात्मिक अधिकार की दृष्टि से हस्तक्षेप नहीं करता था। बी०के० सरकार का कहना है कि १७ वीं शताब्दी में स्थित अर्धधार्मिक सिख राजनैतिक सगठन के अपवाद को छोड़कर हिन्दुस्तान में सच्चे अर्थों में कोई धार्मिक राज्य स्थापित नहीं किया गया।[1] सम्राट अशोक, हर्षवर्धन एवं धर्मपाल आदि के शासन काल में भी राज्य की सर्वोच्च सत्ता के सांसारिक संगठन को शासकों के व्यक्तिगत धर्म के आगे बलिदान नहीं किया गया था। ऐसी स्थिति में यहां सम्राट एवं पुरोहितों के बीच उस प्रकार का संघर्ष उठने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता जो कि मध्यकाल में पवित्र रोमन साम्राज्य तथा पोपशाही के बीच छिड़ा था।

भारत के इतिहास में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है जहां कि हिन्दू राजा ने गैर हिन्दू अधिकारियों की सहायता से शासन चलाया अथवा गैर हिन्दू राजकुमार ने हिन्दू अधिकारियों एवं सेनापतियों की सहायता से राज-कार्य सम्पादित किया। पुरोहितों के कार्य को शाही परिवार एवं जनता के व्यक्तिगत धार्मिक जीवन तक ही सीमित कर दिया गया। राज्य की परिषद में उनको केवल राष्ट्रीय एव सामाजिक मेले तथा उत्सवों के आयोजन का हीं कार्य सौंपा गया था। राजा के कार्यों पर धार्मिक प्रतिबन्ध केवल उसी सीमा तक लगाया गया था जहां तक कि उसे स्वेच्छाचारी होने से रोका जा सके तथा राजा को जनहित के विरुद्ध कार्य न करने दिया जाये। भारतीय धर्म गुरुओं ने कभी भी धर्म को कानून के स्रोत के रूप में नहीं माना।

राज्य के विकास की दृष्टि से उपयोगी सूचना हमें वेदों, पुराणों, महाभारत, रामायण एवं अन्य धार्मिक ग्रन्थों में प्राप्त होती है किन्तु यह सूचना प्रत्यक्ष सूचना प्रदान नहीं करती। राज्य के विकास की तथा गत ऐतिहासिक सूचना हमें मौर्य साम्राज्य (ईसा पूर्व ३२३–१८५) से प्राप्त होती है। इस साम्राज्य की राजधानी पाटलीपुत्र थी। सम्राट अशोक के शासनकाल में इस साम्राज्य के साथ वर्तमान अफगानिस्तान तथा बलूचिस्तान, सम्पूर्ण उत्तरी भारत, दक्षिणी भारत (कुछ भागों को छोड़ कर) आदि भी शामिल हो गये। हिन्दुओं के इन सार्वभौम साम्राज्य की तुलना रोम साम्राज्य से की जाती है। केवल यही एक मात्र हिन्दु राज्य था जिसका अधिकार क्षेत्र सम्पूर्ण भारत पर व्याप्त था। जिस प्रकार योरोप में पूर्वी साम्राज्य का इतिहास पश्चिमी साम्राज्य से स्वतन्त्र हो कर गुजरता है उसी प्रकार उत्तरी भारत एवं दक्षिणी भारत का इतिहास भी अपनी-अपनी विशेषताओं से युक्त हो कर अलग-अलग बहता है। वैसे कभी-कभी एक पक्ष का दूसरे के क्षेत्र में हस्तक्षेप भी होता था किन्तु वह केवल सीमित एव सामयिक ही होता था।

---

1. In short, with the exception of the quasi religious stated organisation of Sikhs in the 17th century, Hindustan knows of no "theocracies" strictly so called.
—B.K. Sarkar, Op. cit., P. 14.

मौर्य साम्राज्य के प्रभावहीन होने के बाद भारत में तीन राज्यों का प्रभुत्व बढ़ गया। प्रथम शुङ्ग साम्राज्य था जो कि बहुत कुछ पूर्वी प्रान्तों में मौर्य साम्राज्य को जारी रखने के प्रयास से गठित किया गया। इसकी राजधानी अपरिवर्तित रूप से पाटलिपुत्र ही बनी रही। इस वंश के जन्मदाता पुष्य मित्र ने आक्रमणकारी मीनान्दर को करारी हार दी। दूसरा महत्वपूर्ण साम्राज्य आन्ध्रों का था। इसका प्रशासन दक्षिणी भारत में समुद्र से ले कर समुद्र तक फैला हुआ था। इनकी पूर्व तथा पश्चिम में दो राजधानियां थीं। इन दक्षिणी साम्राज्यों ने पश्चिमी एशिया, यूनान, रोम, मिस्र एवं चीन आदि देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध विकसित किये। इनके विरोधी उत्तर में भारतीय तातार या कुशान थे। इनकी राजधानी आधुनिक पेशावर में थी। इस उत्तरी एवं उत्तर पश्चिमी शक्ति के चीन के हान साम्राज्य तथा रोमन साम्राज्य के साथ व्यापारिक एवं कूटनीतिक सम्बन्ध थे। इस वंश के कनिष्क के समय में साम्राज्य का पर्याप्त विस्तार हो गया था। कुशान साम्राज्य के माध्यम से भारत के राजनैतिक एवं सांस्कृतिक प्रभाव का क्षेत्र केन्द्रीय एशिया तक व्याप्त हो गया। आधुनिक काल के अनुसंधानों से यह स्पष्ट होने लगा है कि भारत का महान रूप कैसा तथा कितना था। कुशान काल के बाद लगभग एक सौ वर्ष तक के उत्तरी भारत के इतिहास के सम्बन्ध में कुछ ज्ञात नहीं होता है। भारतीय इतिहास का दूसरा दृश्य गंगा की घाटी में विक्रमादित्य गुप्तों के साथ प्रारम्भ होता है। इनकी राजधानी पाटलीपुत्र थी। इनके काल में भारतीय संस्कृति का इतना विकास हुआ कि वह विश्व में अद्वितीय बन गई। महाकवि कालीदास के कथनानुसार विक्रमादित्य का राज्य समुद्र से समुद्र तक व्याप्त था जिस पर वह वायु के रथ द्वारा शासन चलाता था।

गुप्त साम्राज्य के बाद पुनः भारत का एकीकृत साम्राज्य दो भागों में विभाजित हो गया। वर्धनों का साम्राज्य उत्तरी भारत में था जिसकी राजधानी मध्यपूर्व में गंगा के किनारे कन्नौज में थी। हर्षवर्धन के कूटनीतिक सम्बन्ध निकटवर्ती देशों के साथ पर्याप्त मात्रा में थे। दक्षिण में चालुक्यों का साम्राज्य था। इनकी राजधानी वातपी तथा नासिक में स्थित थी।

१७वीं तथा १८वीं शताब्दियों में भारतवर्ष में स्वतन्त्र रूप से छोटे-छोटे राज्यों की स्थापना की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। इसके परिणामस्वरूप एक केन्द्रीय सत्ता का अस्तित्व कायम न रह सका। प्रत्येक राज्य अपना प्रभुत्व को स्थापित करने के प्रयास में दूसरे राज्य का विरोधी बन गया। जो मात्स्य-न्याय राज्य की स्थापना से पूर्व व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में व्याप्त था वही अब राजनैतिक स्तर पर कायम हो गया। छोटे-छोटे राज्य परस्पर लड़ने लगे। कोई भी शक्तिशाली राज्य किसी भी कमजोर राज्य पर आक्रमण करके उसके धन-सम्पत्ति को लूट कर वहां के लोगों को अपना अधीनस्थ बना लेता था। बंगाली, गुर्जर प्रतिहार, राष्ट्रकूट, चोला एवं काश्मीर आदि विभिन्न भाग भारत के राजनैतिक नक्शे पर उभर आये।

मि० बी० के० सरकार का कहना है कि मौर्य साम्राज्य के बाद से

लगभग १६०० वर्षों तक का भारत का इतिहास एक ऐसी तस्वीर प्रस्तुत करता है जिसमें राजनैतिक चेतना बढ़ रही है तथा सांस्कृतिक एवं वैज्ञानिक विकास हो रहे हैं।[1]

भारत में राज्य व्यवस्था के साथ अश्वमेघ एवं राजसूय यज्ञों का महत्व प्रारम्भ से ही जुड़ा हुआ है। मुसलमानों का आक्रमण होने के बाद भी भारत के मुर्धाभिषिक्त सम्राटों का न्यायोचित विचार समाप्त नहीं हुआ। विजयनगर के बादशाहों ने इन परम्परा को जीवित बनाए रखा। इन्होंने अपने आपको चालुक्यों की श्रेणी में ही रखा तथा यह बताया कि वे पौराणिक सम्राटों की ही परम्परा में हैं। मदुरा के मदनगोपाल स्वामी मन्दिर में विजयनगर के बादशाहों को सत्यासय के परिवार में सर्वप्रमुख तथा चालुक्यों में हीरा वर्णित किया गया है।

उत्तरी भारत में मुसलमानों की विजय के बाद भी दो साम्राज्यवादी सिद्धान्त स्थित थे। देहली में मुसलमान सुल्तान को भारतीय साम्राज्य का स्वामी माना गया जबकि विजयनगर में वहां के राजाओं ने अपने आपको भारत का सच्चा स्वामी कहा। वे अपनी राजधानी हम्पी हस्तिनावति मानते थे। अपना-अपना साम्राज्य सेतु से सुमेरु तक फैला हुआ कहते थे। तालिकोटा युद्ध के बाद कुछ दशाब्दियों तक साम्राज्य की परम्पराओं को विजयनगर के राजाओं द्वारा बनाये रखा गया। बाद में शिवाजी ने इन परम्पराओं को अपने हाथ में लिया। इस नये हिन्दू राज्य को भी भारत के ऐतिहासिक राजवंशों से मिलाने तथा इसे न्यायोचित सिद्ध करने का प्रयास किया गया। शिवाजी ने समस्त वैदिक परम्पराओं को अपनाया तथा अपने आपको परम्परागत हिन्दू वाद द्वारा मान्य उचित मूर्धाभिषिक्त राजा घोषित किया।

साम्राज्यवादी विचार के विकास के साथ-साथ एक अन्य प्रवृत्ति भी ध्यान में देने योग्य है। उत्तरकाल में यहां के राजाओं एवं बादशाहों द्वारा स्वेच्छाचारी शक्ति का दावा किया जाने लगा। इस प्रवृत्ति का परिचय राजाओं की बदलती हुई उपाधियों से प्राप्त होता है। 'सम्राट' एवं अधिपति आदि उपाधियों को व्याख्यात्मक रूप से धार्मिक साहित्य में वर्णित किया गया है। इन उपाधियों का प्रथम शताब्दी पूर्व के राजनैतिक एवं ऐतिहासिक साहित्य में कोई स्थान नहीं है। प्रारम्भकाल के राजा इन उपाधियों को कम प्रयुक्त करते थे ताकि उनमें आत्माभिमान एवं अहंकार की भावनाओं का उदय न हो सके। महाभारत में केवल राजा एवं महाराजा की उपाधियों का प्रयोग किया गया है। रामायण में भी ऐसा ही है। चन्द्रगुप्त तथा अशोक ने

---

1. The history of India for about Sixteen hundred years from the time of Mauryas exhibits to us the picture of a gradually growing and expanding political consciousness as well as scientific and cultural development
—B.K. Sarkar, Op. cit., P. 17.

भी राजा तथा महाराजा से अधिक ऊंची किसी उपाधि का दावा नहीं किया था। भारत की उत्तर-पूर्वी सीमाओं पर जब विदेशी आक्रमण हुए तो आत्म-प्रशंसा के नये विचारों की परम्परा का प्रारम्भ हुआ। कुशानों एवं शकों ने फारसी राजाओं तथा यूनानियों की बड़ी-बड़ी उपाधियां ग्रहण करना प्रारम्भ किया। कनिष्क ने अपने ताम्रपत्र में अपने आपको 'महाराजस्य राजाधि-राजस्य देवपुत्रस्य" लिखने में भी संकोच नहीं किया।

हिन्दू राजाओं द्वारा पहले जो सरल तथा सीधी उपाधियां रखी जाती थीं वे अब धीरे धीरे मिटती चली गईं। इनके स्थान पर जटिल, लम्बी तथा आत्मप्रशंसक उपाधियां ग्रहण की जाने लगीं। विदेशी शासकों ने शहंशाह तथा देवपुत्र जैसी उपाधियां ग्रहण कीं। इनके प्रभाव से गुप्त सम्राट भी अछूते न रहे। उन्होंने महाराजाधिराज एवं परमेश्वर आदि की उपाधियां ग्रहण कीं। इसके बाद उपाधियों पर इतना जोर दिया जाने लगा कि प्रत्येक छोटा सा शासक भी अपने दरबारियों की बुद्धि का प्रयोग अधिक उपाधियों की खोज कराने में लगाने लगा। बारहवीं शताब्दी में मिथिला बंगाल के सेन राजाओं की उपाधियों का विवरण निम्न प्रकार है—"महाराजाधिराज परमेश्वर परम महेश्वर परम महारका मुसराजाधिराज श्रीमद विजय सेन देव।"

कुछ लेखकों द्वारा यह तर्क दिया जाता है कि ये उपाधियां तो केवल सम्मान का प्रदर्शन मात्र थीं। इनके पीछे कोई आक्रमणकारी भावना समाविष्ट नहीं थी। यह मत सही नहीं है तथा वास्तविकता से भिन्न है। उपाधि के परिवर्तन से प्रभावित होने वाला मनोवैज्ञानिक परिवर्तन अपने आपमें पर्याप्त महत्व रखता है। जब गुप्त सम्राटों द्वारा महाराजाधिराज तथा महेश्वर एवं परमेश्वर आदि उपाधियां ग्रहण की गईं तो इनके माध्यम से सम्राट के रूप में तथा भूमि प्राप्ति कर्ताओं के रूप में उनकी सर्वोच्च शक्ति का बखान करने का प्रयास किया गया। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि जो भी राजवंश विदेशियों से भूमि वापिस लेने में सफल होता है वह अपने पूर्व वंशियों से अधिक शक्ति एवं सम्मान का दावा करता है। गुप्त साम्राज्य के शासक न केवल पुरातन धर्म का नेतृत्व कर रहे थे वरन् वे उदीयमान भारत के विजयी नेता भी थे। के एम पनिक्कर के कथनानुसार समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय एवं स्कंदगुप्त की राजा शाही राजतंत्र से सम्बन्धित हिन्दू विचारों से भिन्न थी और यह भिन्नता उनके द्वारा अपनायी गयी विशेष उपाधियों द्वारा प्रदर्शित की गई। इनके बाद थानेश्वर राजवंश द्वारा भी ऐसी ही उपाधियां ग्रहण की गईं। इन राजाओं ने हूणों पर विजय पाने का दावा किया था। पुलकेसिन द्वितीय ने भी ऐसी ही अनेक उपाधियां ग्रहण कीं। इन चालुक्य राजाओं के बाद विजयनगर के राजाओं ने उपाधि ग्रहण करने की परम्परा को अपना लिया।

प्राचीन भारत में राज्य का जिस प्रकार विकास हुआ उसके फलस्वरूप अनेक राजनैतिक विचारों को आधार भूमि प्राप्त हुई। प्राचीन भारत में स्थित पौर जनपद, श्रेणी तथा गण जैसे व्यावसायिक संगठन एवं जाति

व्यवस्था आदि को आधुनिक भारत के लोकमत, ट्रेड यूनियन एवं अन्य मजदूर संगठनों तथा साम्प्रदायिक अधिकारों की भावना की पृष्ठभूमि कहा जाता है। आज के जनमत का आधार लोगों की निर्णय लेने की शक्ति है न कि बुद्धिमानों का परामर्श देने का अधिकार। पौर एवं जनपदों को, हिन्दू विचारधारा के अनुसार, परामर्श देने का अधिकार था। वे जाति एवं समूहों के प्रवक्ता माने जाते थे। इस दृष्टि से उनके स्तर को प्रतिनिधित्व पूर्ण भी कहा जा सकता है।

भारतीय इतिहास में अनेक स्वायत्त एवं स्वशासी नगर-सम्प्रभुतायें तथा स्वतन्त्र राष्ट्रमण्डलों का अस्तित्व रहा है। इनका अस्तित्व प्रायः उन समस्त युगों में रहा है जिन्होंने कि वैदिक साहित्य, जातकों, प्रारम्भिक जैन एवं बौद्ध पुस्तकों तथा महाभारत आदि को जन्म दिया है। इन युगों में इस प्रकार के राज्य बनते तथा बिगड़ते रहे हैं। गुप्त साम्राज्य तक इनके अस्तित्व का उल्लेख प्राप्त होता है। भारत तथा सिकन्दर का उल्लेख करने वाले कुछ यूनानी एवं लेटिन साहित्य में इनमें से कुछ की व्याख्या प्राप्त होती है। ये राष्ट्रीयतायें प्रकार की दृष्टि से गणतन्त्रवादी थी। इनकी प्रकृति थोड़ी बहुत कुलीनतन्त्री होती थी। बी. के. सरकार ने इनकी तुलना प्राचीन यूनान अथवा रोम में प्राप्त राज्यों की सामान्य विशेषताओं से की है।

राज्यों के प्रकार
[Types of States]

प्राचीन भारत में राज्यों के रूपों के विषद् विवेचन पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया। वैसे इतना तो स्पष्ट है कि उस समय राजतन्त्र हिन्दू राज्य का प्रमुख आधार था। यह राजतन्त्र अपने कई रूपों में प्रचलित था। कुछ तो सर्वोच्च सम्प्रभु होते थे, जबकि इनमें से कुछ केवल नाम के लिये राजा होते थे। दोनों के बीच का अन्तर उनके नामों के साथ लगी हुई उपाधियों से जाना जा सकता है। गुप्त साम्राज्य के बाद ये भारतीय राजनैतिक जीवन की मान्य विशेषता बन गई। सर्वोच्च शासक का पद विभिन्न उपाधियों से इंगित किया जाता था —जैसे परम् भट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर। दूसरी ओर कम शक्ति वाले मुखियाओं को समादिगत्–पंचमहाशब्द, महासामन्ताधिपति कह कर पुकारा जाता था। इस काल के बाद एक अधिनस्त मुखिया और स्वामी के बीच का अन्तर अन्य कुछ उपाधियों से इंगित किया गया। इस प्रकार हम राजतन्त्र के दो मुख्य अन्तरों का स्पष्ट दर्शन कर सकते है। किन्तु प्रश्न यह है कि मौर्य काल से पूर्व भारतीय राजनीति का रूप क्या था ?

शुक्ल यजुर्वेद में पांच ऐसे मंत्र आते हैं जिनमें कि देवी-देवताओं को पांच विभिन्न रूपों में सम्बोधित किया गया है। इन पांच रूपों में उस समय राजाओं को सम्बोधित किया जाता था। इस सम्बोधन के तरीके के साथ-साथ पांच दिशायें और देवताओं के पांच विभिन्न वर्ग भी इंगित किये गये।

राजन को पूर्व दिशा एवं वसुओं से सम्बद्ध किया गया; विराट् दक्षिण दिशा एवं रुद्रों से सम्बद्ध किया गया; सम्राटों का सम्बन्ध पश्चिम तथा आदित्यों से लगाया गया और स्वराट् का सम्बन्ध उत्तर एवं मारुतो से लगाया गया। इन चारों के अतिरिक्त अधिपति को उच्च दिशा एवं विश्वदेव से सम्बद्ध किया गया। यहां उपाधियों के साथ विशेष देशों या जातियों का नाम नहीं लिया गया है अतः केवल दिशाओं का सम्बोधन अधिक मूल्य नहीं रखता।

ऐतरेय ब्राह्मण के सम्बन्ध मे यह बात नहीं कही जा सकती। इसमें विशेष रूप से राजाओं की उन विभिन्न उपाधियों का उल्लेख किया गया है जो कि विभिन्न देशों म प्रभावशील थे। ऐतरेय ब्राह्मण का यह भाग इन्द्र के राज्याभिषेक समारोह से सम्बन्धित है। वसुओं ने इन्द्र का पूर्व दिशा म साम्राज्य के लिए स्वागत किया। उसके बाद मे प्राच्य दिशा के राजाओं को साम्राज्य के लिये उद्घाटित किया जाने लगा। इन्हें सम्राज कहा जाने लगा। उसके बाद रुद्रों ने दक्षिण क्षेत्र में इन्द्र का अभिषेक किया। इसीलिए दक्षिण क्षेत्र में सत्वत के सभी राजाओं को भौज्य के रूप मे उद्घाटित किया गया, और उन्हें भोज कहा गया। इसी प्रकार से आदित्यों ने पश्चिम मे उसे स्वराज्य के रूप मे उद्घाटित किया। यही कारण है कि पश्चिम दिशा के नीच्य तथा अपाच्य के समस्त राजाओं को स्वराज्य के रूप में उद्घाटित किया गया तथा उन्हें स्वराज कहा गया। उसके बाद उत्तरी दिशा मे विश्व देवों ने उसे वैराज्य के रूप मे उद्घाटित किया, इसीलिये उत्तरी क्षेत्र मे रहने वाले जनपदों में वैराज्य व्यवस्था प्रचलित हुई और उन्हें वैराज्य कहा गया। उसके बाद साध्यास्य तथा आप्त्यास ने इन्द्र को मध्य क्षेत्र में राज्य के रूप में उद्घाटित किया। इसीलिये कुरु पांचाल के राजाओं को राज्य मान कर उन्हें राजन् के रूप म सम्बोधित किया जाता है। उसके बाद मारुतों एवं अंगीरसों ने इन्द्र का ऊपर के क्षेत्रों मे स्वागत किया तथा वह पारमेष्ठ्या, महाराज्या, आधिपत्या और स्वावास्या आदि के रूप में सम्बोधित किया गया। इसके साथ किसी देश या जनता का नाम नहीं लगाया गया है।

ऐतरेय ब्राह्मण मे आये हुए इस संदर्भ का ध्यान पूर्वक अध्ययन करने के बाद हमारे मस्तिष्क मे यह विचार आता है कि साम्राज्य, भोज, स्वराज, विराज एवं राजन आदि शब्दों को देश के विभिन्न भागों मे शासक की उपाधियों के रूप में प्रयुक्त किया जाता था किन्तु उनका अर्थ एक जैसा ही होता था। उनके बीच स्तरों की असमानता नहीं थी। अलग अलग शब्दों का प्रयोग कर के भारतीय आचार्यों ने केवल नृपतंत्र का ही वर्णन अधिक किया है। सामयिक रूप से या प्रसंगवश कहीं-कहीं संघों का उल्लेख मात्र भी कर दिया गया है। भारतवर्ष मे जनतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था का प्रचलन भी था। स्थान स्थान पर विश्वपति एवं जनपति शब्दों का प्रयोग किया है। प्राचीन वैदिक काल मे राज्य का रूप किसी स्थान विशेष अथवा वर्ग विशेष तक ही मर्यादित नहीं था वरन् इसके विपरीत पूरे देश का ही इसमे समाहित किया जाता था। राजसूय यज्ञ के बाद राजा को किसी प्रदेश अथवा राज्य का नहीं वरन् भारतों अथवा कुरुपांचालों का शासक घोषित किया जाता था। ऐतरेय

ब्राह्मण में देश के विभिन्न भागों में प्रचलित विभिन्न राज्यों का जो उल्लेख आया है उसके अनुसार यह माना जा सकता है कि प्राचीन भारत में राज्यों का केवल एक रूप ही नहीं था। राज्य के इन प्राचीन रूपों का संक्षेप में वर्णन निम्न प्रकार किया जा सकता है—

१. भोज्य शासन प्रणाली

ऐतरेय ब्राह्मण में भोज्य शासन प्रणाली के सम्बन्ध में उल्लेख आया है।[1] भोज शब्द का प्रयोग करने से यह सिद्ध होता है कि स्थान के अनुसार भी राज्यों की प्रणाली का नामकरण कर दिया जाता था। भोज शब्द का राज शब्द के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इस शासन प्रणाली का उल्लेख अनेक ऐसे स्थानों एवं ग्रन्थों में प्राप्त होता है जो कि अपूर्व कहे जा सकते हैं। अशोक के शिलालेखों से यह जान पड़ता है कि भोज और राष्ट्रिक दोनों ही एक समान थे। भोज्य राज्यों को पैत्तरिक शासन प्रणालियों के विपरीत माना गया है। इसका अर्थ यह हुआ कि इन राज्यों में नेतृत्व पैतृक अथवा वंश परम्परा के आधार पर नहीं होता था। इस व्यवस्था में नेतृत्व संयुक्त होता था। एक से अधिक नेता मिलकर शासन कार्यों का संचालन करते थे।

महाभारत के शान्ति पर्व में अनेक प्रकार के शासकों की सूची दी गई है। भोज्य शासन प्रणाली भी इन्हीं में से एक है। खारवेल के शिला लेखों में भी राष्ट्रिक तथा भोजक शासन प्रणालियों का वर्णन है। बाद के शिला लेखों में भोज तथा महाभोज का उल्लेख आता है। इस शासन प्रणाली में नेतृत्व साधारण वर्ग एवं उच्च वर्ग दोनों के ही हाथ में रहता था। ये नेता राज्य के समस्त अधिकारों को अपने हाथ में रखते थे। कुछ विचारकों का कहना है कि भोज नाम की जाति का शासन व्यवस्था पर प्रभाव रहने के कारण ही इस प्रणाली को भोज्य कहा गया। इसके विपरीत जायसवाल का मत है कि स्थिति की वास्तविकता इसके विपरीत है। उस जाति का नाम भोज इसीलिए पड़ा था क्योंकि इसके नेता एवं शासक इस प्रकार के थे। ऐतरेय ब्राह्मण के कथनानुसार सम्वत् लोगों में अर्थात् यदुवंशी लोगों में भोज्य शासन प्रणाली प्रचलित थी।

पाली त्रिपिटक में राज्य व्यवस्था के इस रूप का उल्लेख आया है। इससे यह प्रकट होता है कि इस प्रकार की शासन प्रणाली पूर्वी भारत में प्रचलित रही होगी। पश्चिमी भारत में भी भोज नाम की एक जाति प्राप्त होती है। सम्भवतः यह जाति भी अपनी विशिष्ट शासन प्रणाली के कारण ऐसी कही गई है। गुजरात में इस जाति के लोग पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं। यहां प्राचीन काल से ही इनकी बहुतायत है। कच्छ में इस नाम की एक देशी रियासत भी वर्तमान थी। ऐतरेय ब्राह्मण में सम्वत् लोगों का निवास स्थान दक्षिण बताया

---

1. दक्षिणास्यां दिशि ये के च सत्वतां राजानो भौज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते। भोजेत्येनानभिषिक्ता नाचक्षत······।"
—ऐतरेय ब्राह्मण. 8.14

गया है। हो सकता है कि लेखक ने गुजरात राज्य को भी इसी क्षेत्र का माना हो।

२. स्वराज्य शासन प्रणाली

स्वराज्य शासन प्रणाली पर्याप्त विलक्षण मानी गई है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार पश्चिमी भारत में इस प्रकार की शासन प्रणाली प्रचलित थी। इस प्रणाली में शासक को स्वराट कहा जाता था। स्वराट् का अर्थ ऐसे शासक से है जो कि स्वयं शासन करने वाला हो। वेदोत्तर काल में एक सम्राट के आधीन अनेक छोटे छोटे राज्य होते थे। हो सकता है कि इन्हीं को स्वराज्य के नाम से सम्बोधित किया जाता हो। स्वराट् के राज्य की सीमायें सम्राट की तुलना में बहुत सीमित होती थी। दोनों के बीच स्थित सीमा का वास्तविक अन्तर अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है। तैत्तरीय ब्राह्मण में वाजपेय यज्ञ की प्रशंसा करते हुए यह कहा गया है कि इसे सम्पन्न करने वाले व्यक्ति को स्वराज्य प्राप्त होता है। यहां स्वराज्य शब्द का अर्थ अपने जैसे लोगों पर शासन करना बताया गया है। इस अर्थ को देखकर यह अनुमान लगाया जाता है कि एक जैसे लोग चुनाव के माध्यम से अपना शासक चुनते होंगे। शासक चुने जाने के बाद उस व्यक्ति को स्वाभाविक रूप से ज्येष्टता प्राप्त हो जाती थी। जो व्यक्ति इस पद पर चुना जाय उसमें वे सभी योग्यतायें होना अनिवार्य था जो कि इन्द्र में पाई जाती हैं। यह परम्परा इस मान्यता पर आधारित थी कि सर्व प्रथम इन्द्र ने ही अपनी योग्यतायें प्रमाणित करके इस पद को प्राप्त किया था।

डा० जायसवाल का अनुमान है कि स्वराज्य अभिषेक का अर्थ सम्भवत गण या परिषद के सभापति के रूप में नियुक्त होने से रहता होगा। गण के सभी सदस्य बराबर माने जाते थे। इस बात का प्रमाण महाभारत में भी प्राप्त होता है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार यह शासन प्रणाली नीच्य एवं अपाच्य लोगों में प्रचलित थी। यजुर्वेद के समय में इसका प्रचलन उत्तरी भारत में था।

३ वैराज्य शासन प्रणाली

उत्तरी भारत की कुछ जातियों में इस प्रकार की शासन प्रणाली का प्रचलन था। ऐतरेय ब्राह्मण हिमालय के पार्श्व में इस प्रकार की शासन प्रणाली का प्रचलन मानते हैं। यह शासन प्रणाली भारत में किसी भाग विशेष का एकाधिकार या विशेषता नहीं थी वरन् देश के अनेक भागों में इसका प्रचलन था। यजुर्वेद के समय में यह दक्षिण भारत के कुछ एक भागों में प्रचलित थी। इस शासन प्रणाली का शब्दार्थ बिना राजा की अथवा राजा रहित शासन प्रणाली के रूप में किया जाता है। शासन की इस प्रणाली को प्रजातन्त्रात्मक भी कहा जा सकता है। इसमें किसी व्यक्ति विशेष को राजा न बनाकर सम्पूर्ण देश अथवा जाति को राजपद के लिए अभिषिक्त किया जाता था। उत्तर मद्रों में यह राज्य व्यवस्था अपनाई गई थी। पाणिनी के

समय से लेकर ईसा पूर्व चौथी शताब्दी तक वे लोग इसी प्रकार की शासन व्यवस्था के आधीन कार्य करते रहे। बाद के साहित्य में यह शासन प्रणाली केवल कथा कहानियों का ही विषय बनकर रह गई। इस प्रणाली को अपनाने वाले लोगों का जीवन पर्याप्त सुखपूर्ण एवं सम्पन्न चित्रित किया गया है।

कौटिल्य ने अपने अर्थ शास्त्र में वैराज्य को शासन प्रणाली का एक रूप माना है। उनका मत है कि इस प्रकार की शासन प्रणाली खराब या दूषित होती है अतः इसे तिरस्कृत या अस्वीकृत कर दिया जाना चाहिये। जिस प्रकार अरस्तु आदि यूनानी विचारक प्रजातंत्र को घृणा की दृष्टि से देखते थे उसी प्रकार कौटिल्य ने भी इसे गर्हित माना है। उनका मत है कि इस प्रकार की शासन प्रणाली में जनता के मन में शासक के प्रति निजत्व की भावना पैदा नहीं हो सकती। यहां राजनैतिक संगठन का उद्देश्य पूरा नहीं हो पाता। प्रत्येक व्यक्ति अपने देश को व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए दॉव पर लगा देता है। राज्य में की जाने वाली गलतियों एव दुर्व्यवस्थाओं के लिए कोई भी अपने आपको उत्तरदायी नहीं मानता। लोगो के मन में निराशा एवं असुरक्षा की भावना व्याप्त हो जाती है और लोग धीरे धीरे राज्य को छोड़ कर चले जाते है।

महाभारत में विराज शब्द को राजा की विभिन्न उपाधियों में से एक माना है। जैन आचारांग सूत्रों में वैराज्य का उल्लेख आया है। पाणिनी के व्याकरण में आये वर्णन के आधार पर डा० जायसवाल ने यह मत प्रकट किया है कि मद्रों की राजधानी का नाम शाकल था जो कि आधुनिक स्यालकोट है। बाद में विदेशी आक्रमणों से प्रभावित होकर ये लोग दक्षिण प्रदेश में चले गए होगे।

४. राष्ट्रिक शासन प्रणाली

इस शासन प्रणाली के अन्तर्गत कोई पैतृक अथवा वंशानुक्रमगत राजा नहीं होता था। इसका प्रचलन पश्चिम के राष्ट्रिक लोगों में था। इस बात का उल्लेख अशोक के शिला लेखों में प्राप्त होता है। अशोक के द्वारा इन लोगों के किसी राजा का उल्लेख नहीं किया गया है। खारवेल द्वारा भी उनका उल्लेख एक वचन में नहीं वरन् बहुवचन में किया गया है इससे यह प्रतीत होता है कि सम्भवतः इनका कोई एक राजा न होता हो। इन लोगों में प्रजातन्त्रात्मक शासन प्रणाली का प्रचलन था। भौज्य शासन प्रणाली की भांति ही पश्चिम में रहने वाले राष्ट्रिकों का नामकरण वहां की शासन प्रणाली के आधार पर ही हुआ होगा। कौटिल्य के कथनानुसार सुराष्ट्र के लोगों का कोई राजा उपाधिकारी शासक नही होता था। ये लोग प्रजातंत्री थे। कई एक राज्यों का राष्ट्रिक या सुराष्ट्र नाम भी सम्भवतः वहां की इसी शासन प्रणाली के कारण पड़ा होगा।

५. राजतन्त्र व्यवस्था

प्राचीन भारत में राजतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था का प्रचलन सामान्य

रूप से प्राप्त होता है। वैदिक काल मे राजाओं की उपाधियों के रूप मे उनके पद गौरव एवं शक्ति के अनुसार राजा, महाराजा तथा सम्राट आदि कहा दिया जाता था। स्वराज तथा भोज आदि राजतन्त्रों के कुछ रूप माने जा सकते हैं। इन दोनो रूपों के अतिरिक्त शक्तिशाली राजा के लिए सम्राज सामन्तपर्यायी आदि शब्दो का प्रयोग किया जाता था। बाद में इन शब्दों का स्थान अन्य पदों द्वारा ले लिया गया। सार्वभौम, चातुरन्त एवं चक्रवर्ती आदि विभिन्न पदों का प्रयोग किया जाने लगा।

जैन ग्रन्थ कल्प सूत्र मे यह कहा गया है कि जब भगवान महावीर गर्भ में थे तो त्रिशला को चौदह स्वप्न आये। जब जानकारों से इन स्वप्नों की व्याख्या कराई गई तो उन्होंने बताया कि यदि होने वाले लड़के ने राजपद ग्रहण किया तो वह चतुरता चक्रवर्ती बनेगा और यदि वह दुनियां-दारी के चक्कर से विरक्त हो गया तो वह जैन बन जायेगा। इसी प्रकार से महापरि निब्बाना सूक्त में बौद्ध लोगों ने तथागत् की तुलना एक चक्रवर्ती से की है। कौटिल्य ने भी सार्वभौमिक राजा को एक चतुरन्ता अथवा एक चक्रवर्ती बताया है। कौटिल्य के अनुसार चतुरन्ता वह है जो सम्पूर्ण पृथ्वी पर शासन करता है। चक्रवर्ती के प्रभाव क्षेत्र की सीमा बताते हुए कौटिल्य ने उसे हिमालय से लेकर समुद्र तक की धरती माना है जिसकी लम्बाई नौ हजार योजन है। यहां कौटिल्य के सामने पूरा भारतवर्ष था और इस प्रकार जो शासक पूरे भारत पर शासन करता है उसी को वे चक्रवर्ती कहने को तैयार थे। भारतवर्ष की सीमा एवं प्रसारों को परिभाषित करते समय कौटिल्य ने पुराणो को आधार बनाया। भारतवर्ष की सीमाओं को वायु पुराण एवं मत्स्य पुराण में वर्णित किया है। खारवेल ने अपने आप को कलिंग का चक्रवर्ती कहा है। चक्रवर्ती के समान ही ऐतरेय ब्राह्मण के सामन्त परियायी शब्द का प्रयोग किया जाता था। भारत में चन्द्रगुप्त से पूर्व भी सार्व-भौमिक राजा शासन करते थे।

राजतन्त्रात्मक शासन के विभिन्न रूपों का वर्णन विभिन्न साहित्यिक ग्रन्थों में भी हुआ है किन्तु उनके अर्थ के सम्बन्ध मे आवश्यक रूप से एक रूपता प्राप्त नहीं होती। उदाहरण के लिए अमरकोष मे विराज, स्वराज और समराज का उल्लेख भिन्न अर्थों मे किया गया है। विराज को क्षत्रीय का समानार्थक माना गया है, तथा स्वराज को इन्द्र का दूसरा नाम वर्णित किया गया है। समराज शब्द में तीन बातें अन्तर निहित बताई गई हैं—प्रथम, राजसूय यज्ञ का करने वाला, दूसरे, राजाओं का नियन्त्रक, और तीसरे, मण्डल का स्वामी। इन तीनों विशेषताओं को इंगित करने के लिए चक्रवर्ती अधिश्वर और मण्डलेश्वर आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता था।

राजतन्त्र का एक रूप द्वैराज्य शासन प्रणाली बताई जाती है। द्वैराज्य शासन प्रणाली का अर्थ सम्भवतः दो राजाओं का शासन है। कौटिल्य ने इस प्रकार की शासन प्रणाली का भी विवेचन किया है। उनके मतानुसार इस प्रकार की सरकार पारस्परिक घृणा, पक्षपात और संघर्ष के कारण अन्त में समाप्त हो जाती है। जैन साधुओं को इस प्रकार के राज्यों से दूर रहने

को कहा गया है। डा० डी० आर० भण्डारकर इस प्रकार के राज्य को दो राजाओं द्वारा प्रशासित (Sparta) के समतुल्य मानते हैं। द्वैराज्य की शासन व्यवस्था के भी विभिन्न रूप हो सकते थे—इसका एक रूप तो वह था जिसके कि युद्ध सम्बन्धी निर्णय दो विभिन्न कुलों वाले वंश परम्परागत राजाओं के द्वारा लिये जाते थे और वृद्ध जनों की परिषद् सर्वोच्च सत्ता के साथ पूरे राज्य पर शासन करती थी। कौटिल्य ने द्वैराज्य व्यवस्था के अन्य रूपों का भी वर्णन किया है जिसमें कि बाप-बेटे अथवा दो भाई मिलकर सम्मिलित रूप से शासन करते थे। इस दूसरे प्रकार में शासन प्रक्रिया एक ही कुल के दो राजाओं द्वारा संचालित की जाती थी प्राचीन भारत में इस प्रकार की शासन प्रणाली के अस्तित्व का प्रमाण विभिन्न साहित्यिक ग्रन्थों एवं इतिहास में प्राप्त होते हैं। डा० जायसवाल के कथनानुसार "यह द्वैराज्य न तो एक-राज शासन अथवा ऐसा शासन था जिसमें कोई एक ही वंशानुक्रमिक राजा शासन करता हो, और न ही ऐसा शासन था, जिसमें थोड़े से विशिष्ट व्यक्तियों के या बड़े बड़े लोगों के हाथों में शासनाधिकार होता था। यह एक ऐसी शासन प्रणाली थी जो केवल भारत के ही इतिहास में पाई जाती है।"[1] प्राचीन भारत के अनेक सिक्के ऐसे प्राप्त होते हैं जिन पर दो राजाओं के नाम लिखे हुये प्राप्त होते हैं।

राजतंत्र का एक तीसरा रूप, संघ रूप माना जा सकता है, जिसके अनुसार राज्य की सत्ता कभी कभी किसी शासक में व्यक्तिगत रूप से निहित न रह कर शाही परिवार में सामुहिक रूप से निहित रहती है। इस प्रकार के संघ के दो उदाहरण स्पष्ट रूप मे प्राप्त होते हैं। मौर्य वंश के आने से पूर्व मगध पर शिशुनाग और नन्दराज वंशों का संयुक्त रूप से शासन था। अन्तिम राजा से पूर्व का राजा यहां 'कालाशोक' हुआ है। उसके बाद यह कहा जाता है कि इस राज्य पर उसके दस पुत्रों ने संयुक्त रूप से राज्य किया। इसी प्रकार से नन्द वंश के सम्बन्ध में पुराणों में यह उल्लेख आता है कि इस वंश में एक पिता और आठ लड़के थे, जिन्होंने संयुक्त रूप से शासन किया। इस प्रकार के कुल-संघों में राज्य पर शाही परिवार के किसी एक सदस्य का नहीं वरन् पूरे परिवार का शासन होता था।

६. संघ राज्य व्यवस्था

प्राचीन भारत में सम्प्रभुता का रूप केवल राजतन्त्रात्मक ही नहीं था वरन् इसके और भी कई रूप प्राप्त थे। कात्यायन ने पाणिनी के सूत्र की व्याख्या करते हुए यह बताया है कि क्षत्रीय जाति एक राज्य और संघ राज्य दोनों प्रकार की हो सकती थी। यहां संघ से विशेष तात्पर्य क्या है, यह जानना अत्यन्त महत्वपूर्ण है। संघ का अर्थ यहां केवल कुछ लोगों का योगमात्र नहीं है वरन् यह एक ऐसा योग है जिसमें कि व्यक्ति कुछ निश्चित

---

1. डा० काशी प्रसाद जायसवाल, हिन्दू राजतन्त्र
(हिन्दी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी) 1961, P. 131

उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए एक साथ मिलते हैं। उद्देश्यों की विभिन्नता के आधार पर संघों को भी विभिन्न रूपों में विभाजित किया जा सकता है, जैसे धार्मिक संघ (बौद्ध संघ), व्यापारिक संघ (श्रेणी), शस्त्रोपजीवी (हथियारों पर जीवित रहने वाले) आदि आदि। इस प्रकार के संघों की कोई राजनैतिक प्रकृति नहीं होती। ऐसे अन्य संघ भी होते हैं जो कि एक प्रदेश विशेष की शासन व्यवस्था का संचालन करने के लिए मिले हुए लोगों का संयोग होते हैं। इसी प्रकार के राजनैतिक संघों को कात्यायन द्वारा एक राज्य शास्त्रीय कबीलों का विषय माना गया है। डा० भंडारकर आदि इस प्रकार के संघों को गणराज्य शासन व्यवस्था के अनुरूप मानते हैं। राजतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था की भांति इन संघ शासनों के भी विभिन्न रूप होते थे।

संघ शासन व्यवस्था का एक रूप वह था जिसमें कि शासन शक्ति का प्रयोग सम्पूर्ण कुल द्वारा किया जाता था। यहां कुल का अर्थ शाही परिवार के कुछ लोगों से नहीं वरन् वंश या जाति के समस्त लोगों से है। इसका उदाहरण हमें शाक्यों की शासन प्रणाली से मिलता है। शाक्य राज्य में मजदूरों और कामगरों, अनुचरों, गांव के मुखियाओं पारषदों तथा उप-राजाओं के बीच कार्य के सम्बन्ध में समझौता हो जाता था। जहां तक प्रशासक वर्ग का सम्बन्ध है वह विभिन्न परिवारों में विभाजित रहता था। इन परिवारों के अध्यक्षों को राजन् कहा जाता था और उनके पुत्रों को राजकुमार अथवा कुमार कहा जाता था। सम्पूर्ण राज्य की देखभाल करने के लिए एक मुखिया चुना जाता था किन्तु यह किस प्रकार और कितने समय के लिए चुना जाता था, यह ज्ञात नहीं है। यह कुल का वरिष्ठ व्यक्ति माना जाता था। इस बात में सन्देह की गुंजाइश नहीं है कि यह राजनैतिक शासन का एक प्रचलित प्रकार था। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि शाक्य वंश में उप-राजा पार्षद और गांव के मुखिया होते थे।

संघ शासन का दूसरा रूप पूग अथवा गण द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। कात्यायन के अनुसार एक गण विभिन्न परिवारों का योग था। प्राचीन काल के धार्मिक संघों का संगठन भी राजनैतिक संघों के अनुरूप ही होता था। जैन धर्म का प्रतिपादक लिच्छवी गण क्षत्रिय वैशाली नगर में पैदा हुआ था तथा स्वयं इस गण के अध्यक्ष से सम्बन्धित था। जो उसने धार्मिक संघ बनाया तो यह स्वाभाविक था कि वह अपने राजनैतिक गण का आदर्श बना कर ही उसको संगठित करता, क्योंकि इसका उसको पर्याप्त ज्ञान था। राजनैतिक संघ की भांति ही जैन संघ अनेक गणों में विभाजित था। ये गण अनेक कुलों में विभाजित थे। 'कुल' शाखाओं में और शाखायें सम्भोगों में विभाजित थीं। महाभारत में भी गण व्यवस्था का थोड़ा वृतान्त प्राप्त होता है। इसमें यह कहा गया है कि—गणों के सदस्य जन्म और परिवार की दृष्टि से एक दूसरे के समान होते हैं। महाभारत का सुझाव है कि यदि कुलों के बीच झगड़ा उत्पन्न हो जाय तो कुलों के वृद्ध जनों को उदासीन नहीं रहना चाहिये वरना गण समाप्त हो जायगा। यहां गण का अर्थ

परिवारों के संघ के शासन से लिया गया है चाहे वे परिवार एक कुल अथवा एक जाति के हों अथवा न हों। कौटिल्य का कहना है कि कुछ चुने हुए लोगों को गण के द्वारा अपने में से मुखिया नियुक्त कर दिया जाता था। यह एक प्रकार से इनका मन्त्रिमण्डल होता था। यह मन्त्रिमण्डल गुप्तचर विभाग अथवा अत्यन्त गोपनीय प्रकृति के समस्त कार्यों का सचालन करता था। इस प्रकार की शासन व्यवस्था में यद्यपि शासन की शक्तियां केवल कुछ लोगों के हाथों में रहती थी किंतु फिर भी गण का प्रत्येक सदस्य राजा कहलाता था। इस शासन व्यवस्था के सम्बन्ध में ललित विस्तार का यह कथन पर्याप्त महत्व रखता है कि इसमें हर कोई यह सोचता है कि मैं राजा हूं, मैं राजा हूं किन्तु कोई भी अकेला यह सही रूप में राजा नहीं होता।

गणराज्यों के अनेक उदाहरण भारतीय इतिहास में प्राप्त होते हैं। स्वयं कौटिल्य ने भी कम से कम सात ऐसे गणराज्यों का उल्लेख किया है। इनमें से लिच्छवी और वज्जियों गणराज्यों के सम्बन्ध में हमें उपयुक्त विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है। हम इन राज्यों के संविधान के बारे में निश्चित अर्थों में कुछ जान सकते हैं। जातकों की भूमिका में दो स्थानों पर यह कहा गया है कि राज्य प्रशासन संचालित करने के लिए वैशाली में सात हजार सात सौ सात लिच्छवि राजा स्थित हैं। जैनों के कल्पसूत्रों में इनकी संख्या केवल नौ बताई गई है। सम्भवतः उन्होंने केवल मन्त्रिमण्डल के सदस्यों की ही संख्या दी होगी जो कि कुलों या वंशों के मुखिया होते थे। समय के साथ-साथ यह संख्या बढ़ती चली गई। महावस्तु ने वैशाली में स्थित चौरासी हजार लिच्छवि राजाओं का उल्लेख किया है। लिच्छवी लोग अपनी राजा की उपाधि के प्रति गर्व करते थे तथा उसे पाने के लिए उत्सुक रहते थे। इसके लिए राज्याभिषेक संस्कार किया जाता था। वैशाली में स्थित पुश्करनी का जल राजा बनने वाले व्यक्ति के मस्तिष्क पर छिड़का जाता था। वैशाली की पुश्करनी का जल अत्यन्त पवित्र माना गया है। उसे लोहे की चादर से ढ़का जाता था ताकि उसमें कोई चिड़ियां भी प्रवेश न पा सके। उसके चारों ओर सख्त पैहरा रहता था ताकि कोई व्यक्ति उसका पानी न ले सके। कितने लिच्छवियों को कब एक साथ राजा बनाया जाता था यह स्पष्ट नहीं है। फिर भी सम्भवतया एक लिच्छवी के मरने के बाद उसका जो लड़का सम्पत्ति एवं पद का अधिकारी होता था, उसी को राजा बनाया जाता होगा। इन लिच्छवियों या वज्जियों के सम्बन्ध में पर्याप्त सूचनायें बौद्ध ग्रंथों एव तत्कालीन साहित्य में प्राप्त होती हैं।

ऐतिहासिक ग्रन्थों में जिन अनेक गणों का उल्लेख प्राप्त होता है, उनमें से कुछ मौलिक रूप से राजतंत्रात्मक शासन प्रणाली द्वारा प्रशासित होते थे। प्रारम्भिक पाली साहित्य के जातकों से यह विदित होता है कि उस समय संघ नहीं थे वरन् एक राज क्षत्रीय कबीले थे; अर्थात वे एक शासक द्वारा प्रशासित होते थे। बाद में चलकर इन राजतंत्रात्मक कबीलों ने गैर-राजतंत्रात्मक रूप ग्रहण कर लिया और कुछ परिवारों के हाथों में राजनैतिक शक्ति केन्द्रित हो गई। इसी प्रकार का एक दूसरा उदाहरण यहूदियों को

माना जाता है जिनका पूर्वी पंजाब पर अधिकार था। 'पाणिनी' ने इन यहूदियों को आयुधजीवी संघ कहा है।

इन राजनैतिक संघों का प्रारम्भ कब और किस रूप में हुआ होगा इसके सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। ऋग्वेद में एक मंत्र आता है उसमें यह कहा गया है कि 'जिस प्रकार राजा लोग समिति में मिलते हैं उसी प्रकार समस्त औषधियां वैद्य से मिल जाती हैं जो कि बिमारियों को दूर करता है और शैतानों को नष्ट करता है।' ऋग्वेद का यह सूत्र बताता है कि एक राजा के स्थान पर कुछ राजाओं का शासन भी प्रचलित था। अथर्ववेद में भी कुलीन तंत्र के सदस्यों को इंगित किया गया है। वैसे सरकार की गण व्यवस्था भी प्रकृति की दृष्टि से वर्गीय होती है। अतः यह मान्यता केवल कल्पना नहीं कही जा सकती कि ऋग्वेद के समय से गणव्यवस्था अथर्ववेद के काल में भी आ गई होगी। वैदिक काल की इस गण व्यवस्था के सम्बन्ध में अधिक सामग्री प्राप्त नहीं होती है। अतः इसके सम्बन्ध में कुछ भी कहना अनुपयुक्त ही रहेगा।

गण व्यवस्था या वर्गीय कुलीन तंत्र के साथ-साथ प्राचीन भारत में राजनैतिक संघों के अन्य रूप भी प्रचलित थे। इस सम्बन्ध में दो प्रकार के प्रजातन्त्रों का उल्लेख किया जा सकता है। इनमें से प्रथम को निगम कहेंगे जो कि कस्बों से सम्बन्धित थी। यह गण व्यवस्था नागरिकों का प्रजातंत्र थी। देहाती प्रदेशों में जो जनपद स्थापित हुये वे प्रकृति की दृष्टि से कौटुम्बिक थे।

कुछ विचारकों ने निगम शब्द का अर्थ श्रेणी से लगाया है, जबकि डा० भण्डारकर का कहना है कि इस शब्द का अर्थ हम व्यवसायी या व्यापारी से ले सकते हैं लेकिन एक श्रेणी से कभी नहीं ले सकते। इस शब्द का अर्थ हम नागरिकों के एक ऐसे निकाय से ले सकते हैं जिनके सम्बन्ध में हिन्दू कानून को कार्य करने की क्षमता थी। नारद-स्मृति में निगमों, श्रेणियों, गणों आदि संगठनों का उल्लेख किया गया है, उसमें निगमपद का अर्थ नागरिकों या पौऊर के रूप में अभिव्यक्त किया गया है। इसी प्रकार याज्ञवल्क्य भी श्रेणियों, पाखण्डियों, और गणों के साथ साथ निगमों के सम्बन्ध में वर्णन करते हैं। अनेक सिक्कों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि पुराने पंजाब के हिन्दुओं में नागरिक स्वायत्तता या निगम का अस्तित्व उसी प्रकार था, जिस प्रकार एशिया माईनर के पश्चिमी भाग पर यूनानियों में था। इन विभिन्न सिक्कों के अध्ययन के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रान्तीय स्वायत्तता या जनपद से प्राचीन भारत अनभिज्ञ नहीं था।

जनपद राज्यों के अस्तित्व का प्रारम्भ बहुत समय पूर्व हो चुका था। ऐतरेय ब्राह्मण में भी इसके सम्बन्ध में कुछ एक उल्लेख आते हैं। इसमें जनपद को राजन् का ठीक विपरीत माना गया है, और इस प्रकार हम इसे प्रजातन्त्रात्मक कह सकते हैं। प्रजातन्त्र मानने पर हम इनको राजनैतिक संगठन से पृथक करके देखना होगा। जनपदों को कहीं कहीं विराजा भी कहा गया है

जिसका अर्थ हुआ राजाहीन या बिना राजा का राज्य। किन्तु फिर भी राजन्य, सिवि, कुरू और मद्रास आदि विभिन्न कबीलों के नाम है। इसलिये जनपदों को कबीलों का प्रजातंत्र कहा जा सकता है।

इस सब विवेचन के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत में नागरिक एवं कबीलेगत अनेक प्रकार के गणराज्य स्थापित थे। इन गण राज्यों का शासन प्रबन्ध किस प्रकार किया जाता था इस सम्बन्ध में कुछ भी कहना बड़ा कठिन है क्योंकि राजनीति का कोई भी ग्रन्थ ऐसा आज हमें प्राप्त नहीं होता जिसमें कि हमें इन राजनैतिक निगमों को नियंत्रित करने वाले संविधान या वाद-विवाद के नियमों की जानकारी हो सके। विनय-पिटक् में बौद्ध संघों को विनियमित करने वाले कुछ नियम सुरक्षित हैं; सम्भवत: ये नियम सभी राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक संघों पर लागू होते थे।

७. अराजक राज्य

प्राचीन भारत अराजक राज्यों से भी अनजान नहीं था। अराजक राज्य का अर्थ यहां अशान्ति पूर्ण समाज व्यवस्था या आततायों के उपद्रवो से नहीं है। इनके लिये तो भारतीय ग्रन्थों में मत्स्य न्याय पद का प्रयोग किया गया है। इसका अर्थ एक ऐसी शासन प्रणाली से था जिसमें केवल कानून या धर्मशास्त्र को ही शासक माना जाता था न कि किसी व्यक्ति विशेष को। शासन का मुख्य आधार नागरिकों की स्वेच्छा थी न कि कोई सामाजिक बंधन। प्रजातंत्रात्मक व्यवस्था में व्यक्ति को स्वतंत्रता दी जाती है; अराजक राज्य में वह पूर्ण स्वतंत्रता का उपयोग करता है। इस रूप में अराजक राज्य प्रजातंत्र का उत्कृष्ट रूप है।

वैसे प्राचीन भारतीयों ने अराजक राज्य को अधिक प्रशंसा की दृष्टि से नहीं देखा था। उनमें से अधिकांश का यह मत है कि जब तक दण्ड देने के लिये कोई राजा नहीं होता तथा कोई व्यक्ति शासन कार्य को नहीं सम्भालता तब तक व्यवस्था की स्थापना धर्म शास्त्र या केवल कानून के द्वारा की जा सकती है। किन्तु यह तरीका पारस्परिक अविश्वास के कारण अधिक समय तक उपयोगी नहीं ठहरता। राज्य द्वारा व्यवस्था की स्थापना एक व्यावहारिक सत्य है। अराजक राज्य के निवासी धर्म और न्याय के अनुसार आचरण नहीं करते, वे राजद्रोह और उपद्रव में सक्रिय रहते हैं। ऐसा करने से उन्हें रोकने के लिये कोई संस्था नहीं होती। ऐसी स्थिति में समाज के विभिन्न वर्गों द्वारा पारस्परिक विश्वास पैदा करने के लिये राज्य की स्थापना की गई। यदि राजा-विहीन समाज व्यवस्था को अपनाया गया तो मानव अपनी संघर्षमयी स्थिति में पहुंच जायेगा। इस विश्वास के साथ विचारकों ने अराजक शासन प्रणाली की हंसी उड़ाई।

अराजक राज्य में जब लोग कानून का उल्लंघन करने लगते हैं तो कानून के निर्माताओं को अपनी भूल ज्ञात होती है। इस भूल का निराकरण करने के लिये राजा को अपनाना परमावश्यक बन गया। प्रारम्भ में विश्वास किया जाता था कि अराजक राज्य केवल कल्पना का विषय है तथा इसमें

कल्पना का कोई प्रमाण नहीं है, किन्तु यह धारणा जैन सूत्र के अध्ययन के बाद असत्य सिद्ध हो जाती है तथा यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत के अनेक भागों में इस प्रणाली को प्रयुक्त किया जाता था। जैन सूत्र के जिस वर्ग की अराजक शासन प्रणाली का उल्लेख है उसमें उल्लिखित अन्य समस्त शासन प्रणालियाँ भी ऐतिहासिक सत्य हैं। इसलिये उनको असत्य मानने के लिये कोई आधार प्राप्त नहीं होता। वैसे यह कल्पना की जाती है कि जिन प्रदेशों में अराजक राज्य होंगे उनका आकार अपेक्षाकृत छोटा रहा होगा। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि प्राचीन भारत में भी मेजिनी और टालस्टाय जैसे विचारक रहे हों जिन्होंने श्रेष्ठ किन्तु कठिन शासन प्रणालियों का आविष्कार करके उन्हें व्यावहारिक बनाने का प्रयास किया हो।

राज्य के उद्देश्य
(Aims of the State)

प्राचीन भारत में प्रत्येक संस्था को पर्याप्त विचार विमर्श के बाद रूप प्रदान किया गया था। राज्य की संस्था को अपनाते समय पर्याप्त सोच विचार कर निर्णय लिया गया। राज्य की स्थापना करने वाले इस सम्बन्ध में अस्पष्ट नहीं थे कि राज्य में उनको किन किन उद्देश्यों की साधना करनी है। राज्यों के उद्देश्यों के अनुरूप ही उसके कार्यों को मान्यता दी गई। राज्य का प्रमुख उद्देश्य मानव जीवन के मुख्य उद्देश्य के साथ एकाकार किया गया। प्राचीन भारतीयों ने मनुष्य के जीवन में त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ और काम का पर्याप्त महत्व बताया। इसके अतिरिक्त उन्होंने मोक्ष को जीवन के लक्ष्य के रूप में प्रतिपादित किया। मनुष्य के समस्त कार्य एवं उसके समस्त संगठनों को इस लक्ष्य की प्राप्ति की ओर सक्रिय बनाया गया। मोक्ष का चरम लक्ष्य केवल तब ही प्राप्त हो सकता था जबकि व्यक्ति को जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की अधिक चिन्ता न हो, और समाज में पूर्ण रूप से शान्ति एवं व्यवस्था हो। जब सब लोग त्रिवर्ग का उपभोग करने के लिये स्वतन्त्र रहते हैं और उन्हें इस कार्य में कोई बाधा नहीं पहुंचाता तो जीवन मोक्ष मार्ग की साधना कर सकता है। जीविकोपार्जन की चिन्ता में व्यस्त रहने वाले व्यक्ति अपने इस चरम लक्ष्य को सोच भी नहीं सकते। एक प्रचलित कहावत के अनुसार—भूखे व्यक्ति से भगवान का भजन नहीं हो पाता। इसलिये सांसारिक चिन्ताओं से मुक्ति मिलना आवश्यक है। व्यक्ति को अपने जीवन, व्यवसाय, सम्पत्ति तथा अन्य प्राप्तियों के सम्बन्ध में जब सुरक्षा रहती है, केवल तब ही उसका मस्तिष्क स्वतन्त्र रूप से किसी समस्या पर विचार कर पाता है। ऐसी स्थिति में राज्य का यह मुख्य कार्य बन जाता है कि वह समाज को एवं व्यक्ति को विभिन्न आपत्तियों एवं कष्टों से संरक्षण प्रदान करे, और दूसरे समाज के जीवन का इस प्रकार पोषण करे कि वह सुखपूर्ण एवं समृद्ध रूप से जीवन का निर्वाह कर सके।

भारतीय आचार्यों ने जिस समाज व्यवस्था का समर्थन किया है वह एक ऐसी समाज व्यवस्था थी जिसका उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति माना गया। यह

विश्वास किया जाता था कि इस व्यवस्था के अनुरूप चलकर ही व्यक्ति मोक्ष की ओर अग्रसर हो सकता है। अतः यह प्रयास किया गया कि यथा सम्भव इस व्यवस्था को बनाये रखा जाय तथा इसको चुनौती देने वालों अथवा इसको तोड़ने वाले को दण्ड दिया जाय। राज्य को यह उत्तरदायित्व सौंपा गया कि वह दण्ड की उपयुक्त व्यवस्था करे और सुधर्म का पालन न करने वाले लोगों को ऐसा न करने के लिये बाध्य करे। यह राज्य का मूल उद्देश्य माना गया।

कौटिल्य आदि आचार्यों ने भी यही मत प्रकट किया है। उनके अनुसार राजा को अपनी प्रजा में योग और क्षेम की स्थापना करनी चाहिये तथा उनके पापों को दूर करना चाहिये। योग–क्षेम का अर्थ विभिन्न विद्वानों द्वारा भी स्पष्ट किया गया है। याज्ञवल्क्य स्मृति में इस पद की व्याख्या की गई है। इसे स्पष्ट करते हुए मित्ताक्षर ने बताया है कि योग का अर्थ है उस सब को प्राप्त करना जो कि प्राप्त नहीं है, और क्षेम का अर्थ है उस सब की रक्षा करना जो कि प्राप्त कर लिया गया है। इस प्रकार इन दोनों शब्दों के बीच अन्तर स्पष्ट किया गया। वैसे इनका सम्बन्ध मूलरूप से प्राणियों की सुरक्षा और सम्पत्ति की रक्षा से रहा।

योग–क्षेम का यदि हम सही अर्थ समझना चाहें तो महाभारत, शांति-पर्व के ६७ वें और ६८ वें अध्याय का अध्ययन करें, जिनमें उस स्थिति का वर्णन किया गया है जो राज्य के न रहने पर पैदा हो जायगी। महाभारत के अनुसार यदि राजा नहीं होगा तो कोई व्यक्ति अपनी किसी भी वस्तु के सम्बन्ध में यह नहीं कह सकता कि यह मेरी है और बदमाश लोग, दूसरों के भोजन, वाहन, वस्त्र, आभूषण एवं बहुमूल्य धातुओं को छीन लेंगे। स्त्रियों का बलपूर्वक हरण किया जायगा। किन्तु जब राजा रक्षक के रूप में रहता है तो सब लोग अपने घरों के दरवाजे खोलकर आनन्द पूर्वक सो सकते हैं। इसी प्रकार स्त्रियां अपनी रक्षा के लिये किसी को भी साथ लिये बिना घूम सकती हैं। जब राजा नहीं होता तो जो दास नहीं है उसे भी दास बना लिया जाता है। कोई कृषि, व्यापार सड़क आदि नहीं होती। राज्य में अकाल पड़ते हैं। इन सब को केवल तब ही रोका जा सकता है, जबकि राजा रक्षा के लिये होता है। असल में राजा के न रहने पर समाज में से समस्त कानूनी एवं आर्थिक बन्धन उठ जाते हैं और योग–क्षेम की स्थापना नहीं हो पाती।

राजा के कार्यों का एक अन्य उद्देश्य यह भी है कि वह अपनी राज–धानी के लोगों में व्याप्त पापों को दूर करे। राजा के न रहने पर व्यक्ति अपने माता पिता, कानून प्रदान करने वाले, एवं अतिथियों को भी नुकसान पहुंचाने लगते हैं तथा शादी के सम्बन्ध में रखी गई समस्त बाधायें टूट जाती हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि राज्य की व्यवस्था न रहने पर समाज के समस्त नैतिक और पारिवारिक बंधन ढीले पड़ जाते हैं। ये समस्त पाप सम्भवतः उस समय नहीं होते जब कि राजा के द्वारा रक्षा का कार्य सम्पन्न किया जाता है। सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक बन्धनों के अतिरिक्त धार्मिक बन्धन भी धीरे-धीरे टूट जाते हैं। वेद समाप्त हो जाते हैं, यज्ञों का महत्व मिट

जाता है, ब्राह्मणों की हत्या की जाती है, वर्ण संकर सन्तानें पैदा होती हैं। भारत में राज्य का जो उद्देश्य बताया गया वह एक रूप से अन्य देशों में बताये गये राज्य के उद्देश्य से भिन्नता रखता है। इसका मुख्य कारण यह है कि भारत में धर्म को पर्याप्त महत्व प्रदान किया गया और ब्राह्मणवादी व्यवस्था को सामाजिक एवं व्यक्तिगत जीवन के लिये पर्याप्त महत्वपूर्ण माना गया।

कौटिल्य ने अपने समय की सामाजिक व्यवस्था का विस्तार के साथ वर्णन किया है। त्रिवर्ग की स्थापना से सम्बन्धित अध्याय में कौटिल्य ने इस सामाजिक व्यवस्था के कर्त्तव्यों का उल्लेख किया है। उनका कहना है कि तीन वेदों के द्वारा निश्चय ही समाज में चारों वर्णों एवं आश्रमों के धर्मों की व्यवस्था की गई है। अलग अलग वर्णों का अलग अलग कर्त्तव्य सौंपे गये हैं। इन वर्णों और आश्रमों के अतिरिक्त कुछ ऐसे सामान्य कार्य भी हैं जिनको व्यक्ति एक व्यक्ति के रूप में सम्पन्न करता है जैसे—किसी को कष्ट न पहुंचाना, सत्य बोलना, क्षमादान करना, दुराचारी न होना आदि। कौटिल्य ने अपने धर्म के पालन पर इतना जोर दिया कि इसके अनुसार कार्य करने वाले को उसने स्वर्ग का अधिकारी बताया। जब समाज में से धर्म की व्यवस्था टूट जाती है तो संघर्ष और भ्रम का साम्राज्य छा जाता है। कौटिल्य ने सामाजिक जीवन धर्म और सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के लिए विवाह के विभिन्न रूपों का वर्णन किया है और पुत्रों के विभिन्न प्रकारों को बताया है। विभिन्न प्रकार के पुत्रों में से किसको सम्पत्ति का कितना भाग मिलना चाहिये यह स्पष्ट किया गया है। कौटिल्य का कहना है कि राजा को ऐसे पुत्रों के जन्म पर रोक लगानी चाहिये जो कि असामाजिक हैं। इसी प्रकार समाज विरोधी शादी सम्बन्धों को रोकने की बात कही गई। राजा का मुख्य कार्य बताया गया कि वह इस बात की व्यवस्था करे कि उसके द्वारा प्रत्येक वर्ण एवं आश्रम को जो कर्त्तव्य सौंपे गये हैं उनको वे पूरा करें और समाज की आर्य प्रकृति को बनाये रखें। शादी सम्बन्धों के बारे में कौटिल्य और मनु के बीच विचारों की एक रूपता मिलती है। कौटिल्य ने तो यहां तक समर्थन किया है कि कुछ परिस्थितियों में तथा कुछ अपराधों के लिये ब्राह्मण की भी हत्या की जा सकती है किन्तु मनु ने किसी भी परिस्थिति में ब्राह्मण की हत्या करने का विधान नहीं किया है। कौटिल्य ने अपने सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक सिद्धांतों का आधार प्राचीन भारतीय व्यवस्था को बनाया है। इस सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता कि कौटिल्य द्वारा वर्णित हिन्दू राज्य धर्म की नींव पर आधारित था और उसने जिस समाज व्यवस्था का समर्थन किया वह सीधी वेदों से ली गई थी।

यद्यपि भारतीय आचार्य सांसारिक जीवन की उपेक्षा नहीं करते थे किन्तु फिर भी उसे वे सब कुछ नहीं मानते थे। जीवन के समस्त प्रसाधन उनकी दृष्टि से मोक्ष की प्राप्ति के साधन थे। इसीलिये राज्य का प्रमुख लक्ष्य भी मोक्ष की प्राप्ति में व्यक्ति को अग्रसर करना बताया गया। राज्य दण्ड के माध्यम से उन समस्त बाधाओं को दूर करता था जो कि मोक्ष के मार्ग में अवरोधक थीं। दूसरी ओर राज्य के द्वारा ऐसा प्रबन्ध किया जाता था जिससे

कि व्यक्ति के जीवन का विकास सरल और सम्भव बन सके। डा० भण्डारकर के शब्दों में—"दण्ड नीति का विज्ञान हिन्दू राज्य का एक उद्देश्य एक दार्शनिक के जीवन को प्रोत्साहित करके आगे बढ़ाना था, और इस प्रकार उच्च बौद्धिक क्षेत्रों में विचारों को जारी रखने का प्रयास करना था ताकि मानवता के विकास एवं समृद्धि के लिये परलोक का सही एवं सरल मार्ग ढूंढा जा सके।"

राज्य के कार्य
(The Functions of the State)

हिन्दू आचार्यों ने राज्य के विभिन्न उद्देश्यों पर विचार करने के साथ-साथ इस पर भी व्यापक रूप से विचार किया है कि इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए राज्य कौन-कौन से कार्य सम्पन्न करे। इन आचार्यों के द्वारा राज्य के कार्यों को दो मुख्य भागों में विभाजित किया गया—प्रथम भाग में उन समस्त आवश्यक कार्यों को रखा गया जो कि समाज के संगठन के लिए नितांत आवश्यक होते हैं। इस दृष्टि से बाहरी आक्रमण से देश की रक्षा, प्रजा के जान और माल की रक्षा, राज्य में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखना तथा न्याय का प्रबन्ध आदि कार्य राज्य के लिए आवश्यक सिद्ध किये गये। दूसरे भाग में उन एच्छिक कार्यों को रखा गया जो लोक-हित की दृष्टि से उपयोगी तथा वांछनीय तो थे, किन्तु उनको सम्पन्न करना राज्य की स्वेच्छा पर छोड़ दिया गया। इस श्रेणी में शिक्षा व्यवस्था, स्वास्थ्य, की रक्षा, व्यवसाय, दीन-हीनों की देख-रेख आदि कार्यों को समाहित किया गया। इन दोनों प्रकार के कार्यों में से प्राचीन भारतीयों ने राज्य को केवल आवश्यक कार्य सौंपना अधिक उपयुक्त समझा। वैदिक-काल के प्राप्त प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उस समय का राज्य मुख्य रूप से बाहरी शत्रु का प्रतिकार करने और आंतरिक व्यवस्था तथा सामाजिक परम्पराओं की रक्षा करने से ही सम्बन्धित था। उस समय राजा धर्म और न्याय की रक्षा करने वाला था, किन्तु उसका स्वामी नहीं था। धर्म और न्याय का रूप उसकी सीमाओं से बाहर था और वह स्वयं भी उनके बन्धनों से अछूता नहीं था। महाभारत और अर्थशास्त्र आदि ग्रन्थों में राज्य के जिस कार्य क्षेत्र का उल्लेख प्राप्त होता है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य का कार्यक्षेत्र क्रमशः बढ़ने लगा था।

प्राचीन भारत में राज्य को जो कार्य सौंपे गये, उनकी प्रकृति एक दूसरे पर अवलम्बित थी और इस दृष्टि से एक कार्य को सम्पन्न न करने पर दूसरे कार्यों की सम्पन्नता के मार्ग में बाधा आती थी। राज्य का सर्व प्रथम एवं महत्वपूर्ण कार्य यह माना गया कि वह समाज के सब लोगों को वर्णाश्रम धर्म के पालन की ओर प्रेरित करे। जब सब लोग स्वधर्म का पालन करेंगे तब ही स्वर्ग की प्राप्ति और मोक्ष की साधना सम्भव थी।

राज्य का दूसरा कार्य अधर्मियों को दण्ड देना और धर्मशील व्यक्तियों को संरक्षण प्रदान करना था।

राज्य का तीसरा कार्य यह बताया गया कि वह समाज व्यवस्था के

लिए बनाये गये विभिन्न नियमों का पालन कराये और जो लोग उनका पालन नहीं करते हैं उनको दण्ड प्रदान करे।

राज्य का चौथा कार्य स्थानिक नियमों की व्याख्या करना था। इस व्याख्या के द्वारा ही वह धर्म और अधर्म का भेद करने की चेष्टा करता था। अधार्मिक कृत्य करने पर एक व्यक्ति को क्या प्रायश्चित करना चाहिये इसका निर्णय भी राज्य के व्याख्याकारों द्वारा किया जाता था। यदि कोई व्यक्ति प्रायश्चित न करे तो उसको कितना दण्ड दिया जाना चाहिये यह निर्णय भी राज्य ही लेता था।

राज्य का पांचवा कार्य यह है कि वह व्यवहार के नियमों के अनुसार न्याय व्यवस्था की स्थापना करे। राजा का एक अन्य कार्य समाज के आध्यात्मिक जीवन में सहयोग देना बताया गया, जिसके अनुसार उसे मन्दिरों का निर्माण करना चाहिय, समाज के उत्सवों में सक्रिय रूप से भाग लेना चाहिये देवताओं की पूजा और धार्मिक उपयोग की वस्तुओं पर कर नहीं लेना चाहिये, आदि आदि।

राजा के जो भी विभिन्न कार्य प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में बतलाये गये हैं उनमें शब्दों और वर्णन का भेद अवश्य है किन्तु मौलिक रूप से वे सभी मूलतः एक जैसे उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हैं। कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र एवं महाभारत ने राज्य कार्यों को मनुष्य जीवन के धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक सभी पहलुओं पर व्याप्त माना है। उस समय राज्य को न तो एक आवश्यक बुराई माना जाता था, और न ही उसके कार्यों को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर आघात मान कर उन्हें कम करने का प्रयास किया जाता था। राज्य के कार्य-क्षेत्र मे मनुष्य के लोक और परलोक दोनों को ही समाहित किया जाता था। राजा का यह कार्य था कि वह सभी धर्म सम्प्रदायों को उनके मत पर चलने की पूरी स्वतन्त्रता प्रदान करे, समाज को सत्य धर्म के पथ पर चलाये, समाज की उन्नति के लिए प्रयत्न करे, विद्वानों एवं कलाकारों को सहायता दे, शिक्षण संस्थाओं को सहायता दे कर ज्ञान और विज्ञान की अभिवृद्धि करे। समाज के उपयोग के लिए धर्मशाला, चिकित्सालय, आदि स्थल बनाये। इन सब के अतिरिक्त अकाल भूकम्प, महामारी, बाढ आदि भौतिक और आदि-भौतिक संकटों से मनुष्यों की रक्षा करे। राजा का कार्य नई बस्तियां बसाना तथा देश के विभिन्न भागों में जनसंख्या का यथोचित नियोजन करना भी था। राज्य का यह कर्त्तव्य माना जाता था कि वह उद्योग एवं व्यवसाय को सहयोग प्रदान करे। समाज में अनैतिक व्यवहार को रोकने के लिए राजा द्वारा मदिरालयों, जुआघरों, और वैश्यागृहों की देख रेख के लिए विभिन्न अधिकारी नियुक्त किये जाते थे। राजा के इन विभिन्न कार्यों को हम मुख्य रूप से निम्न शीर्षकों में भी विभाजित करके देख सकते हैं—

१ देश की रक्षा व्यवस्था

राजा का प्रथम और प्रमुख कार्य अपने राज्य की रक्षा करना था।

इस कार्य का उल्लेख शान्तिपर्व, कौटिल्य, एवं कामण्डक आदि द्वारा किया गया है। महाभारत शांतिपर्व का कहना है कि "राजा को चाहिए कि वह शत्रुओं को यमराज की भांति दण्ड देने को उद्यत रहे. व डाकुओं और लुटेरों को सब ओर से पकड़ कर मार डाले, स्वार्थवश किसी दुष्ट के अपराध को क्षमा न करे।'[1] इस कार्य का विस्तृत विवरण कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में दिया है। नगर की रक्षा के लिए राजा को अनेक कार्य सम्पन्न करने को कहा गया है। उसे अपने गुप्तचरों के माध्यम से परदेशियों, दुष्टों एव शत्रुओं ज्ञान का रहना परमावश्यक माना गया है। राजा ऐसी व्यवस्था करे कि बाहर से आने वाले सभी व्यक्तियों की सूचना नगर के अधिकारियों के पास पहुंच जाये। यदि कोई व्यक्ति अत्यधिक खर्च करता है, या कोई गलत कार्य करता है अथवा कोई चिकित्सक गुप्त रूप से किसी का इलाज करता है तो इस को सूचना नगर के अधिकारी को मिलनी चाहिये। इसके साथ साथ राजा को नगर में अग्नि रक्षा, सफाई, चोरी तथा व्यभिचार की रोकथाम आदि का भी प्रबन्ध करना चाहिये। जो व्यक्ति अपराधियों की सूचना नहीं देता जो रक्षक रक्षा नही करते, उनको दण्ड देने की बात कही गई है।

कौटिल्य ने इस बात को विस्तृत रूप प्रदान किया है कि संक्रामक रोगों से, चूहे एवं हिंसक पशुओं से किस प्रकार रक्षा की जा सकती है। जनता को जहर देने वालों, चोरों, व्यभिचारियों लुटेरों तथा हत्यारों आदि से बचाने का प्रयास करना चाहिये। मनुस्मृति में भी इस प्रकार की रक्षा का वर्णन किया गया है।

जनता की रक्षा के एक महत्वपूर्ण पहलू उसकी सम्पत्ति की रक्षा से सम्बन्धित है। जब एक व्यक्ति को अपनी सम्पत्ति की सुरक्षा के सम्बन्ध में पर्याप्त आश्वासन नहीं रहता तो वह व्यवसाय एवं धनोत्पादन के कार्यो की ओर अग्रसर नहीं हो पाता। इस प्रकार समाज की भौतिक तथा आर्थिक उन्नति रुक जायेगी। अराजकता की अवस्था में मनुष्य की सबसे बड़ी समस्या यही थी, कि उसकी सम्पत्ति को कभी भी कोई भी छीन सकता था। राज्य की स्थापना इस व्यवस्था को समाप्त करने के लिए की गई। राज्य को चाहिये कि वह व्यक्ति की सम्पत्ति की रक्षा के लिये हर सम्भव प्रयास करे। यह नियम बनाने का सुझाव दिया गया कि यदि राज्य द्वारा चोरी का पता न लगाया जा सके, तो चोरी में गया हुआ सारा धन राज्य द्वारा वापिस दिया जाना चाहिये। राज्य के अधिकारियों को प्रजा के धन की रक्षा में अधिक सतर्क बनाने के खयाल से यह कहा गया कि राज्य वह धन सम्बन्धित अधिकारियों से ले। महाभारत के शांतिपर्व में यह कहा गया है कि "चोरों या लुटेरों ने यदि किसी के धन का अपहरण कर लिया हो और राजा पता लगा कर उस धन को लौटा न सके तो उस असमर्थ नरेश को चाहिये कि वह अपने आश्रय में रहने वाले उस व्यक्ति को उतना ही धन

1. महाभारत शान्तिपर्व 75, 5, P. 4618

राजकीय खजाने से दे।"[1] अर्थशास्त्र में भी यह कहा गया है कि यदि किसी टूटी-फूटी या अरक्षित नाव के कारण किसी व्यक्ति को नुकसान हो जाय तो नौकाध्यक्ष को स्वयं वह नुकसान चुकाना चाहिये। चोरी से समाज की रक्षा करने का कार्य, मनुस्मृति और शुक्र नीति आदि में भी विस्तार के साथ किया गया है।

लोगों की व्यक्तिगत सम्पत्ति की रक्षा के साथ साथ धनिकों तथा व्यापारियों की रक्षा करने पर भी पर्याप्त जोर दिया गया है। इस वर्ग के लोगों पर सारे समाज की समृद्धि निर्भर करती है अतः राजा को चाहिये कि इन्हें विशेष सुविधा प्रदान करे। व्यापारियों की रक्षा के लिए राजा को यह अधिकार दिया गया है कि वह वस्तु का मूल्य उसमें किया गया व्यय तथा उसके यातायात के कष्टों को देख कर उस पर कर लगाये। राजा द्वारा इतना कर नहीं लगाया जाना चाहिये कि उसके फलस्वरूप व्यापारी नष्ट हो जाए। देश के व्यापार को सुरक्षित ढंग से सचालित करने के लिये यह आवश्यक है कि आवागमन के मार्गों को निर्बाध एवं सुरक्षित बनाया जाये। विशेष रूप से जल-मार्ग की रक्षा पर अधिक जोर दिया गया है। रास्तों को रोकने और वहा खेती आदि कार्यों की व्यवस्था बिगाड़ने के दण्ड की व्यवस्था करे। आवश्यकता के अनुसार मुख्य मार्गों पर पुल बनाये जाने का परामर्श दिया गया है।

२. सामाजिक कण्टकों का निवारण

राज्य की आर्थिक सुरक्षा के अतिरिक्त राजा का एक प्रमुख कार्य यह बताया गया कि वह समाज के लोगों की विभिन्न कण्टकों से रक्षा करे। इन कण्टकों में मुख्य रूप से अप्रामाणिक कर्मचारी, चोर, लुटेरे, व्यभिचारी, हत्यारे, कारीगर और व्यापारी आदि को सम्मिलित किया गया है। इन सब से साधारण व्यापारियों की रक्षा करना राज्य का एक प्रमुख कर्त्तव्य है। अग्नि, बाढ़, व्याधि, दुर्भिक्ष आदि भी कण्टकों की सीमा में आते हैं। व्यापारियों से जनता को राहत दिलाने के लिये राज्य द्वारा तोल और माप के साधनों पर मोहर लगाने की बात कही गई है। व्यापारियों को कठोर रूप से इन मोहर लगे हुये बाट एवं मापकों का प्रयोग करना चाहिये। राज्य की ओर से ऐसी व्यवस्था की जाये कि व्यापारी वस्तुओं में किसी प्रकार की मिलावट न कर सकें। समस्त पहलुओं पर ध्यान देकर स्वयं राज्य को वस्तुओं के मूल्य निर्धारित करने चाहियें ताकि व्यापारीगण मनमानी कीमत वसूल न कर सकें। इन सब प्रतिबन्धों के रहते हुये भी व्यापारी मान-चाही कीमत वसूल करता है या तोल-नाप में सामान कम देता है अथवा घटिया माल को बढ़िया बता कर, तथा नकली को असली बता कर बेचता है और तोल में कमी करता है तो उसे दण्ड देने के लिए कहा गया है।

हाथ से कार्य करने वाले लोगों द्वारा की जाने वाली बेईमानी का

---

1. महाभारत शान्ति-पर्व ७५,१०, पज ४६१६

रोजगार नष्ट हो गये। ऐसी स्थिति में सत्य व्रत को बुलाकर पुनः राजा बनाया गया। इस कथा में राजा की आवश्यकता एवं औचित्य का पूर्ण रूप से वर्णन किया गया है। यही बात राजा 'वेन' के मरने पर हुई। पौराणिक कथाओं के अनुसार इससे उत्पन्न अराजकता व अव्यवस्था को रोकने के लिये 'पृथु' को राजा बनाया गया। भारतीय आचार्यों ने अराजकता की स्थिति में समाज की स्थिति का जो वर्णन किया है उससे, राज्य का महत्व आवश्यकता एवं औचित्य पूर्ण रूप से प्रकट होता है।

राज्य की रचना के सिद्धान्त

राज्य का संगठन एवं रचना के सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय आचार्यों ने कई एक सिद्धान्तों का वर्णन किया है। इस सम्बन्ध में एक सिद्धान्त दैविक सिद्धान्त माना जाता है जिसके अनुसार राज्य एक सावयवी की भांति अनेक भागों से मिलकर बनता है। इन समस्त भागों के बीच कुछ पृथकता रहते हुये भी वे पारस्परिक रूप से सम्बन्धित होते हैं। प्रत्येक भाग को एक विशेष कार्य करने का उत्तरदायित्व सौंपा जाता है। इन भागों में से किसी की उच्चता परिस्थितियों की गंभीरता पर निर्भर करती है। नियंत्रित करने वाला प्रमुख अंग सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है।

भारतीय समाज की विवेचना के सम्बन्ध में विचार प्रकट करते हुये आचार्यों ने इस बात का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि समाज में विभिन्न कार्यों को करने के लिये अलग-अलग समूहों की रचना की गई है। धर्म के समस्त ग्रन्थ इसी बात का कथात्मक रूप में वर्णन करते हैं। रचना का विकासवादी दृष्टिकोण जिसके अनुसार विकास की गति निम्न से उच्च की ओर चलती है, भारतीय राजनीति में कोई स्थान नहीं रखती।

राज्य का जैविक सिद्धांत जिसे भारतीय राजनीति के ग्रन्थों में वर्णित किया गया है वह मुख्य रूप से राज्य के सात तत्वों पर आधारित है। इन तत्वों के सम्बन्ध में विचारकों में कुछ थोड़ा बहुत मत वैभिन्न है। सामान्य रूप से इन सात तत्वों से स्वामी, आमात्य, राष्ट्र या जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र को सम्मिलित किया जाता है। राज्य के अंगों का वर्णन उनके महत्व की प्राथमिकता के अनुसार किया गया है।[1] व्यावहारिक रूप से समस्त विचारकों का यह विश्वास है कि राज्य के दैविक सिद्धांत में स्वामी सबसे अधिक महत्वपूर्ण अंग है।

अन्जारिया (Anjaria) ने प्राचीन भारत में राज्य के सावयवी सिद्धांत का समर्थन नहीं किया है। उनका कहना है कि राज्य को प्राचीन भारत में एक नैतिक संस्था नहीं माना जाता था। राज्य के द्वारा बहुत से लोगों की स्वतन्त्रता पर आघात किया जाता था। ऐसी स्थिति में यह

1. राज्य के इन सप्ताङ्गों का विषद विवेचन इसी अध्याय में हम कर चुके हैं।

मान्यता पूरी तरह से लागू नहीं की जा सकती। जहां विभिन्नों के बीच उच्चता एवं निम्नता का भेद होता है वहां सावयवी सिद्धांत का अस्तित्व नहीं माना जा सकता। इस मत का विरोध करते हुये मि० स्पेलमैन (Spellman) ने यह तर्क दिया है कि राज्य का दैविक सिद्धांत एवं कार्यकारी मान्यता है, यह मूलरूप में नैतिक नहीं है। इसके अतिरिक्त राजनैतिक संगठन और सामाजिक नैतिकता के बीच भेद किया जाना चाहिये। भारतीय ग्रंथ राज्य की तुलना एक रथ से करते हैं, और राज्य के संचालन के लिये प्रत्येक अंग को महत्वपूर्ण बताते हैं। इसमें सावयवी सिद्धांत की झलक मिलती है। मत्स्य पुराण में एक जगह कहा गया है कि राजा जड़ है और उसकी प्रजा पेड़ है। यहां निश्चय ही सावयवी सिद्धांत की ओर इशारा किया गया है। जिस प्रकार सावयवी सिद्धांत के मुख्य पश्चिमी विचारक हर्बर्ट स्पेन्सर ने राज्य के विभिन्न अंगों की तुलना जीवधारी के शरीर से की है उसी प्रकार तुलना करते हुए शुक्रनीति सार में, कहा गया है कि इस राज्य रूपी शरीर का "राजा सर है, मन्त्रिगण उसकी आंखें हैं, मित्रगण उसके कान हैं, कोष उसका मुंह है, किले उसके हाथ हैं, जनता उसके हाथ हैं, सेना राज्य की इच्छा शक्ति है।" अनेक प्रमाणों के आधार पर विभिन्न विचारकों की यह मान्यता है कि राज्य के सावयवी सिद्धांत से प्राचीन भारत अपरिचित नहीं था।

राज्य के सम्बन्ध में एक दूसरा सिद्धांत यज्ञ का सिद्धांत (The Sacrificial Theory) है। यह सिद्धांत भारत की अपनी विशेषता है जो कि अन्य देशों में प्राप्त नहीं होता। इस सिद्धांत के अनुसार राज्य का अस्तित्व एक यज्ञ के रूप में है। राज्य जनता के मोक्ष का एक साधन है। इस सिद्धांत के मानने वालों का कहना है कि प्राचीन भारत में धार्मिक दृष्टि से राजा की स्थिति केवल उच्च ही नहीं थी क्योंकि ऐसा तो प्रत्येक राजतन्त्र में होता है। प्राचीन भारत में राजा केवल उच्च ही नहीं था वरन् वह एक मूल आधार था जिस पर कि समस्त धार्मिक क्रियायें आश्रित थी।[1] राजा के माध्यम से ही स्वर्ग की प्राप्ति की जा सकती थी। राज्य में यज्ञ करने वालों में राजा सर्वोच्च था। जिस प्रकार पुरोहित के द्वारा यज्ञ के सम्बन्ध में विस्तृत कार्यों का उल्लेख किया जाता था उसी प्रकार राजा के द्वारा जनता के कर्तव्यों को विनियमित किया जाता था। कुल मिलाकर राज्य को एक यज्ञ माना गया, इस यज्ञ में प्रत्येक अंग का एक विशेष कर्तव्य था। यज्ञ का उद्देश्य था स्वर्णिम् भविष्य। इस यज्ञ ने प्राचीन भारत में बहुत महत्वपूर्ण योगदान किया। प्रत्येक भारतीय विशेषज्ञ इस बात से सहमत है।

यज्ञ की ईंटों को रखने के सम्बन्ध में सतपथ ब्राह्मण ने राज्य और समाज की तुलना यज्ञ से की है। यह यज्ञ की एक ईंट है। उसके द्वारा मुख्य कार्य सम्पन्न किया जाता है। यदि वह नहीं है तो यज्ञ अधूरा है। दूसरे स्थान पर यज्ञ की अग्नि प्रज्वलित करते समय सामाजिक अन्तर को मस्तिष्क में

---

1. He was the foundation upon which all religious activities rested

—John W Spellman, Op. cit. P. 9

रखने की बात कही गई है। राजनैतिक सर्वोच्चता एवं सामाजिक अन्तर को ध्यान में रख कर ही एक व्यक्ति को यज्ञ सम्पन्न करना चाहिये।

स्वयं राज्य को यज्ञ बताते समय विभिन्न वर्गों के कर्तव्यों को निर्धारित किया गया है। ऋग्वेद के अनुसार जब देवताओं और ऋषियों ने पुरुष का यज्ञ किया तो जाति प्रकट हुई। मनु के कथनानुसार ब्राह्मणों को अध्ययन और अध्यापन का कार्य सौंपा गया। उन्हें अपने और दूसरों के लाभ के लिये यज्ञ करने को कहा गया। क्षत्रियों का कार्य जनता की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ कराना, वेदों का अध्ययन करना आदि बताया गया। वैश्यों को पशु-पालन, दान देना, यज्ञ कराना, व्यापार करना, धन उधार देना, कृषि करना आदि से सम्पन्न बनाया गया। शूद्रों को केवल एक ही कार्य बताया गया और वह यह था कि अन्य वर्गों की सहायता की जाये।

वर्णों के कर्त्तव्य बताते समय यह बताया गया था कि इन सभी को कुछ कार्य सामान्य रूप से करने हैं। वेदों का अध्ययन, यज्ञ करना आदि कार्य सबके लिए बताये गये। राज्य का यह कार्य है कि वह दण्डनीति के माध्यम से चारों वर्णों को उनके कार्यों में ही बनाये रखें। सभी लोगों को उनके कर्त्तव्य में रत रखकर राज्य उन्हें अधर्म के मार्ग से रोकता है।

राजा द्वारा ब्राह्मणों को विशेष स्तर प्रदान किया जाता था। वह उनको कर से छूट देता था। उनकी आवश्यकता की सारी चीजें उपलब्ध कराता था। यह सब कुछ अकारण ही नहीं होता था। अग्निपुराण के कथनानुसार राजा के संरक्षण में रहकर ब्राह्मणों द्वारा जो धार्मिक कार्य सम्पन्न किये जाते थे वे उसके जीवन को दीर्घ बनाने में तथा प्रजा की हालत को सुधारने में महत्वपूर्ण कार्य करते थे। ये बातें परस्पर आश्रित थीं। राजा द्वारा रक्षा किये जाने पर ही यज्ञ कार्य एवं धार्मिक अनुष्ठान सम्भव होते थे और यज्ञ कार्य तथा धार्मिक अनुष्ठान करने पर ही राज्य को स्थिरता एवं सार्थकता प्राप्त होती थी। महाभारत में कहा गया है कि जिस राज्य के लोग धार्मिक क्रियाकलापों में रुचि लेते हैं तथा धर्म के अनुसार ही आचरण करते हैं वह राज्य धन धान्य से सम्पन्न होता है। राजा का कार्य भी अप्रत्यक्ष रूप से एक यज्ञ ही था। राजा द्वारा रक्षित रहकर सभी लोग प्रसन्नता पूर्वक ठीक उसी प्रकार जीवन व्यतीत करते हैं जिस प्रकार कि अपने माता-पिता के संरक्षण में रहकर बच्चे प्रसन्न होते हैं। राजा के कर्त्तव्य अन्य सभी कर्त्तव्यों में प्रमुख थे। मोक्ष की प्राप्ति के लिए अग्रसर करने वाले आध्यात्मिक कार्यों से भी अधिक उनका महत्व था। देवता, माता, पितृ, गन्धर्व एवं राक्षस आदि सभी यज्ञ से शक्ति प्राप्त करते हैं। यज्ञ राजाओं पर निर्भर करते हैं। ऐसी स्थिति में राजा का महत्व स्पष्ट था क्योंकि राजाओं के बिना कोई यज्ञ सम्भव नहीं था। ऐसी स्थिति में स्वयं राज्य को ही यज्ञ मानना कोई गलती अथवा अतिशयोक्ति नहीं थी।

जिन भारतीय ग्रन्थों में राजा के कर्त्तव्यों का वर्णन किया गया है, उनके अध्ययन के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञ का राजा के जीवन में

कितना महत्व समझा गया था। कौटिल्य ने इस बात पर पूरी तरह जोर दिया है कि राजा किसी को भी अपने कर्त्तव्यों का उल्लंघन न करने दे। सभी को उनके कर्त्तव्यों में लगाये रखें। आर्यों के रीति रिवाज, जाति के नियम एवं धार्मिक जीवन के विभाजनों को मानने से व्यक्ति का इहलोक एवं परलोक दोनों ही सुधर जाते हैं। राजा को स्वयं धर्म का पालन करना चाहिए। कौटिल्य के कथनानुसार "राजा के उन्नतिशील होने पर ही उसका सारा भृत्य वर्ग उन्नतिशील होता है। इसके विपरीत राजा के प्रमादी होने पर सारा भृत्य वर्ग प्रमाद करने लगता है।"[1] धर्म को मानना ही राजा का मुख्य कर्त्तव्य है, कार्यों का संतोषजनक रूप से सम्पन्न करना ही उसका यज्ञ है सभी के प्रति बराबर ध्यान रखना ही कर संग्रह एवं सम्पत्ति हस्तगत करने का बदला है।

राज्य से सम्बन्ध रखने वाला यज्ञ का सिद्धान्त राजा के विभिन्न कार्यों को यज्ञ के विभिन्न निर्णायक मार्गों से सम्बद्ध करता है। इस सिद्धान्त की मूल मान्यता यह है कि राजा अपने कर्त्तव्यों के पालन में लगा रहे। ऐसा करके वह मुख्य रूप से उन यज्ञों के सम्पादन में ही संलग्न माना जायेगा जो कि राज्य के अन्य लोगों के द्वारा सम्पन्न किये जा रहे हैं। यह एक महायज्ञ है। प्रत्येक को इस यज्ञ में अपना कुछ सहयोग देना होता है।

अध्याय की पुनरीक्षा
(A Review of the Chapter)

इस अध्याय में राज्य से सम्बन्धित विभिन्न समस्याओं के सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय विचारकों के मतों का अध्ययन किया गया। भारतीय आचार्यों ने राज्य को एक लोक हितकारी संस्था माना है। यह धर्म और न्याय की स्थापना करता है किन्तु उससे ऊपर नहीं है। यह स्वयं भी धर्म के अनुसार आचरण करता है। राज्य का जन्म कैसे तथा किसके द्वारा किया गया, प्रश्न पर विचार करते हुए यह माना गया कि राज्य को ईश्वर ने बनाया, राज्य देवताओं एवं ऋषियों द्वारा उत्पन्न किया गया, यह मनुष्यों के अथवा देवताओं के बीच हुए समझौते का परिणाम है अथवा संसार में जब युद्ध हो रहे थे तो देवताओं ने इन्द्र को राजा का पद सौंपा और इस प्रकार राज्य का आधार शक्ति है आदि आदि।

राज्य का जन्म या तो इन विभिन्न सिद्धान्तों में से किसी एक के अनुसार हुआ है अथवा उसकी उत्पत्ति में सम्भवतः इन सभी का महत्वपूर्ण योग रहा होगा। दोनों सम्भावनायें सत्य प्रतीत होती हैं क्योंकि अधिकांश ग्रन्थों में राज्य की उत्पत्ति से सम्बन्धित जो वृतान्त आते हैं उनके बीच समरूपता नहीं है। यहां तक कि एक ही ग्रन्थ में अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग प्रकार के विचार प्रकट किये गये हैं। उत्पन्न होने के बाद वास्तविक व्यवहार में राज्य का रूप क्या रहा तथा किन शासन प्रणालियों को यहां अपनाया गया, इसका उल्लेख भी इतिहास एवं धर्म के ग्रन्थों में प्राप्त होता है। प्राचीन भारत में

1. कौटिलीय अर्थशास्त्र, १, १८, १

राजतंत्रात्मक व्यवस्था का प्रारम्भ से ही पर्याप्त प्रचलन रहा है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं होता कि केवल राजतन्त्र ही यहां की राजनैतिक व्यवस्था पर एकाधिकार किये रहा था। प्राचीन भारत में गणराज्य, स्वराज्य, वैराज्य, द्विराज्य, अराज्य आदि विभिन्न रूपों का प्रचलन था। मौर्यकाल के आस-पास से साम्राज्यवाद भी पर्याप्त व्यापक एवं लोकप्रिय बन गया। वैसे इससे पूर्व भी साम्राज्यवादी धारणाओं का समर्थन किया गया है। पृथ्वी पर्यन्त राज्य होना तथा शत्रुओं का न रहना प्रशंसा का विषय था तथा इसके लिए राजा द्वारा अश्वमेघ, वाजपेय आदि विभिन्न यज्ञ किये जाते थे।

राज्य का उद्देश्य जनता की सुरक्षा बताया गया क्योंकि ऐसा होने पर ही धर्म, न्याय, व्यवसाय साहित्य एव संस्कृति का विकास हो सकता था। मनुष्य के त्रिवर्ग धर्म, अर्थ और काम बताये गये। इनकी रक्षा करना तथा इनकी प्राप्ति में व्यक्ति का सहयोग करना राज्य का एक प्रमुख लक्ष्य था। व्यक्ति का परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति माना गया था और इसलिए राज्य को भी इसे ही अपना लक्ष्य मानकर चलने को कहा गया। इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये राज्य को अनेक कार्य सौंपे गये जिनका सम्बन्ध व्यक्ति के जीवन के विभिन्न पहलुओं से था। व्यक्तिवादियों की भांति भारतीय आचार्य राज्य को केवल आन्तरिक एव वाह्य रक्षा तथा सुरक्षा का काम सौंपकर ही संतुष्ट न हुए वरन् उन्होने व्यक्ति के चहुंमुखी विकास में राज्य के योगदान को प्रशंसनीय बताया। इतने पर भी वे राज्य को साम्यवादियो की तरह सम्पूर्णतावादी नहीं बनाना चाहते थे। व्यक्ति की स्वतन्त्रता एवं पहल के लिये भी उन्होंने पर्याप्त गुंजाइश रख छोड़ी थी। असल में राज्य के कार्यो के सम्बन्ध में भारतीय आचार्यों के विचार न व्यक्तिवादी थे और न ही समाजवादी थे वरन् वे भारतीय थे। राज्य का औचित्य अराजक स्थिति की भयावहता का वर्णन करके सिद्ध किया गया। राजा न रहने पर मत्स्य न्याय स्थापित हो जायेगा और राज्य के होने पर धर्म, न्याय एवं व्यवस्था की स्थापना होगी तथा लोगों का जीवन शान्तिपूर्ण, सुखपूर्ण तथा आनन्दपूर्ण स्थितियों में से गुजरेगा अतः राज्य का होना आवश्यक है। जीवन एक महायज्ञ है। राज्य के विभिन्न अंग एक सावयवी के रूप में सम्बद्ध होकर इस महायज्ञ में आहूतियां देते हैं। इस यज्ञ की सम्पन्नता एवं सफलता में ही मानव का कल्याण एवं मोक्ष निहित है।

४

लोक कल्याणकारी राज्य

[THE WELFARE STATE]

प्राचीन भारतीय राज्य का लक्ष्य जनता की भलाई करना था। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर भी उस सीमा तक ही प्रतिबन्ध लगाये गये थे जहा तक कि वे सामाजिक हित के लिए आवश्यक हो। असल मे कल्याण का रूप उन्होंने व्यक्तिगत नहीं रखा था। वे सामाजिक दृष्टि से ही सोचते थे। महाभारत एव नीति शास्त्र से सम्बन्धित विभिन्न ग्रन्थो में राजा को पूर्ण अधिकार सौंपा गया था। राजा के सम्बन्ध मे जनता का कर्तव्य केवल आज्ञापालन का था। के. एम. पनिक्कर के शब्दों मे भारतीय सिद्धान्त द्वारा समाज से भिन्न व्यक्ति को कोई भी अधिकार नहीं सौंपा गया।[1]

लोक कल्याणकारी राज्य की धारणा राज्य को मानव मात्र की भलाई का एक अभिकरण मानती है। इस अर्थ मे यह व्यक्तिवादी विचारधारा के विपरीत है जो कि राज्य को एक बुराई मानती है तथा उसके कार्यों को कम से कम करने की पक्षपाती है। हर्बर्ट स्पेन्सर ने राज्य को एक दुष्ट तथा अनैतिक सस्था माना है जो कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता मे बाधा पहुचाती है। प्राचीन भारतीय विचारकों के अनुसार राज्य की यह प्रकृति न थी। उन्होंने यह माना कि राज्य का रहना आवश्यक है क्योंकि अराजकता की स्थिति में सारा समाज मत्स्य न्याय के आधीन हो जाता है व किसी की भी कोई व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं रहती। व्यक्ति का जीवन, धन आदि सब कुछ सकट में पड जाता है। राज्य का अस्तित्व केवल आवश्यक ही नहीं है परन् यह उपयोगी एव लाभकारी भी है। व्यक्ति राज्य को मजबूरी के कारण नहीं अपनाता

---

1. In fact Hindu theory confers no rights on the individual at [illegible]

वरन् वह उसके कल्याण का प्रतीक होता है इसलिए अपनाता है।

लोक कल्याणकारी राज्य का नामकरण चाहे कितना ही आधुनिक क्यों न हो किन्तु इसकी मूल मान्यता पर्याप्त प्राचीन है। महाभारत तथा अग्निपुराण में इससे सम्बन्धित विचार प्रकट किये गये हैं। अरस्तु ने भी इसका उल्लेख किया है। रॉब्सन की मान्यता है कि कल्याणकारी राज्य का सिद्धांत मानव जाति के जितना ही पुरातन है। यह निश्चय ही राज्य से तो अधिक पुरातन है।[1] इस सिद्धांत से सम्बन्धित पुरातन एवं नवीन सिद्धांतों के बीच एक मुख्य अन्तर यह है कि पहले इसमे व्यक्ति की नैतिक उन्नति पर जोर दिया जाता था किन्तु अब उसकी आर्थिक प्रगति पर अधिक जोर दिया जाता है। यह राज्य एक समाज सेवी राज्य है। केन्ट के कथनानुसार लोक कल्याणकारी राज्य एक ऐसा राज्य है जो कि व्यापक रूप से समाज सेवायें प्रदान करता है। इसका मुख्य उद्देश्य नागरिकों को सुरक्षा प्रदान करना है।[2]

लोक कल्याणकारी राज्य के कार्यों का क्षेत्र तो अत्यन्त व्यापक होता है किन्तु फिर भी हम इसे पूर्णतावादी राज्य नहीं कह सकते। पूर्णतावादी राज्य जनता के प्रत्येक कार्य को अपने नियन्त्रण के आधीन रखता है। व्यक्ति को उसकी इच्छा के अनुसार जीवन यापन करने की स्वततंत्रता नहीं दी जाती। उत्पादन के समस्त साधन राज्य के हाथ में रहते हैं। लोक कल्याणकारी राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता को इतना अधिक मर्यादित नहीं करता। एक प्रकार से उसे व्यक्तिवादी एवं सम्पूर्णवादी व्यवस्थाओं के मध्य का मार्ग माना जा सकता है। सत्यव्रत घोष ने लोक कल्याणकारी राज्य को एक समाजसेवी राज्य कहा है जो कि व्यक्तिवाद की दार्शनिक संरचना एवं नियोजित किन्तु व्यक्तिगत अर्थ व्यवस्था के संस्थागत संगठन में स्थित रहता है।[3] भारतीय आचार्यों द्वारा वर्णित राज्य के कार्यों का अध्ययन करते समय हम यह देख चुके हैं कि इन कार्यों की दृष्टि से हम उनको न तो व्यक्तिवादी कह सकते हैं और न ही समाजवादी। वैसे वे इन दोनों विचारधाराओं के लक्ष्यों को प्राप्त करना चाहते थे। वे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एवं सामाजिक कल्याण दोनों के हामी थे और इस प्रकार उन्होंने राज्य का जो स्वरूप हमारे सामने रखा वह बहुत कुछ वही है जिसे कि हम आज लोक कल्याणकारी कह कर पुकारते हैं।

---

1. The idea of welfare state must be as old as mankind and it is certainly much older than the state.

—Robson.

2. It is a state that provides for its citizens a wide range of social services. The primary purpose is to give the citizen security.

—T.W. Kent.

3. A welfare state is a social service state within the philosophical framework of individualism and institutional organisation of private economy, though planned.

—Satyabrat Ghose.

प्राचीन भारतीय ग्रन्थों के अनुसार जो राज्य जनता का कल्याण नहीं कर सकता उस राज्य को अस्तित्व का कोई अधिकार नहीं है। राज्य का जन्म चाहे वह देवताओं द्वारा किया गया हो अथवा मनुष्यों के समझौते के द्वारा अथवा शक्ति के आधार पर, उसका मुख्य कार्य समाज में शांति एवं व्यवस्था की स्थापना, अधर्म एवं अत्याचार के स्थान पर धर्म तथा न्याय की स्थापना करना था। इस राज्य को व्यक्ति के उन कार्यों पर प्रतिबन्ध लगाने का शक्ति प्रदान की गई थी जो कि समाज विरोधी थे। राज्य के कार्यों पर विशेष सीमा नहीं थी। वह व्यक्ति के जीवन के प्रत्येक पहलू में व्याप्त था। उसे सामान्य जनता के नैतिक, आर्थिक, बौद्धिक, सांस्कृतिक मानसिक एवं सामाजिक आदि सभी क्षेत्रों में हस्तक्षेप करने को कहा गया। केवल सामाजिक कल्याण ही उसके कार्यों की सीमा था।

व्यक्ति एवं राज्य
(Individual and the State)

भारतीय आचार्यों ने व्यक्ति एवं राज्य के सम्बन्धों पर प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से स्थान स्थान पर प्रकाश डाला है। राज्यों के कार्यों की घोषणा करके उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि व्यक्ति के साथ उनका सम्बन्ध किस प्रकार का रहना चाहिए। हिन्दू राज्य का मुख्य लक्ष्य व्यक्ति के व्यक्तित्व का बहुमुखी विकास करना था। इस दृष्टि से व्यक्ति को अपना आध्यात्मिक जीवन मनचाहे तरीके से व्यतीत करने की व्यवस्था की जाती थी। राज्य व्यक्ति के मार्ग में आने वाली बाधाओं का निराकरण करता था तथा सामाजिक कल्याण की दृष्टि से उनके व्यवहार पर कुछ प्रतिबंध भी लगाता था किन्तु इस सबके बाद भी व्यक्ति को पर्याप्त इच्छा स्वातन्त्र्य प्रदान किया जाता था। राज्य उसके पूजा करने की स्वतन्त्रता में कोई हस्तक्षेप नहीं करता था। व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार व्यवसाय चुनने तथा करने की स्वतन्त्रता प्रदान की गई थी। यह व्यवसाय समाज के हितों का विरोधी नहीं होना चाहिए। व्यवसाय चुनने व करने की स्वतन्त्रता में जो भी कोई बाधा उत्पन्न होती है, राज्य उसके निराकरण का प्रयास करता है।

व्यक्ति को यह अधिकार प्रदान किया गया था कि वह अपनी जाति तथा प्रदेश की परम्पराओं का अनुगमन करे और उनके अनुसार जीवन व्यतीत कर सके। व्यक्ति स्वयं ही यह तय करता था कि उसे किन सामाजिक नियमों के अनुसार जीवन व्यतीत करना है। एक बार चयन कर लेने के बाद वह उसका पालन करने के लिए बाध्य था। उन नियमों एवं परम्पराओं का उल्लंघन अथवा तिरस्कार करने की उसे अनुमति प्रदान नहीं की जाती थी।

व्यक्ति अपने विभिन्न उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए संगठनों की रचना कर सकता था। इन संगठनों की सदस्यता ऐच्छिक हुआ करती थी। प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में श्रेणी, पूग गण, संघ, व्रात एवं पाखण्डी समुदायों का उल्लेख आता है। पाणिनी ने इन सबका अर्थ स्पष्ट किया है। कौटिल्य का कहना है कि राज्य में केवल अच्छे उद्देश्य रखने वाले समुदायों को ही रहने देना चाहिए।

रोजगार नष्ट हो गये। ऐसी स्थिति में सत्य व्रत को बुलाकर पुन: राजा बनाया गया। इस कथा में राजा की आवश्यकता एवं औचित्य का पूर्ण रूप से वर्णन किया गया है। यही बात राजा 'वेन' के मरने पर हुई। पौराणिक कथाओं के अनुसार इससे उत्पन्न अराजकता व अव्यवस्था को रोकने के लिये 'पृथु' को राजा बनाया गया। भारतीय आचार्यों ने अराजकता की स्थिति में समाज की स्थिति का जो वर्णन किया है उससे, राज्य का महत्व आवश्यकता एवं औचित्य पूर्ण रूप से प्रकट होता है।

राज्य की रचना के सिद्धान्त

राज्य का संगठन एवं रचना के सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय आचार्यों ने कई एक सिद्धान्तों का वर्णन किया है। इस सम्बन्ध में एक सिद्धान्त दैविक सिद्धान्त माना जाता है जिसके अनुसार राज्य एक सावयवी की भांति अनेक भागों से मिलकर बनता है। इन समस्त भागों के बीच कुछ पृथकता रहते हुये भी वे पारस्परिक रूप से सम्बन्धित होते हैं। प्रत्येक भाग को एक विशेष कार्य करने का उत्तरदायित्व सौंपा जाता है। इन भागों में से किसी की उच्चता परिस्थितियों की गंभीरता पर निर्भर करती है। नियंत्रित करने वाला प्रमुख अंग सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है।

भारतीय समाज की विवेचना के सम्बन्ध में विचार प्रकट करते हुये आचार्यों ने इस बात का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि समाज में विभिन्न कार्यों को करने के लिये अलग-अलग समूहों की रचना की गई है। धर्म के समस्त ग्रन्थ इसी बात का कथात्मक रूप में वर्णन करते हैं। रचना का विकासवादी दृष्टिकोण जिसके अनुसार विकास की गति निम्न से उच्च की ओर चलती है, भारतीय राजनीति में कोई स्थान नहीं रखती।

राज्य का जैविक सिद्धांत जिसे भारतीय राजनीति के ग्रन्थों में वर्णित किया गया है वह मुख्य रूप से राज्य के सात तत्वों पर आधारित है। इन तत्वों के सम्बन्ध में विचारकों में कुछ थोड़ा बहुत मत वैभिन्न है। सामान्य रूप से इन सात तत्वों से स्वामी, आमात्य, राष्ट्र या जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र को सम्मिलित किया जाता है। राज्य के अंगों का वर्णन उनके महत्व की प्राथमिकता के अनुसार किया गया है।[1] व्यावहारिक रूप से समस्त विचारकों का यह विश्वास है कि राज्य के दैविक सिद्धांत में स्वामी सबसे अधिक महत्वपूर्ण अंग है।

अन्जारिया (Anjaria) ने प्राचान भारत में राज्य के सावयवी सिद्धांत का समर्थन नहीं किया है। उनका कहना है कि राज्य को प्राचीन भारत में एक नैतिक संस्था नहीं माना जाता था। राज्य के द्वारा बहुत से लोगों की स्वतन्त्रता पर आघात किया जाता था। ऐसी स्थिति में यह

---

1. राज्य के इन सप्ताङ्गों का विषद विवेचन इसी अध्याय में हम कर चुके हैं।

मान्यता पूरी तरह से लागू नहीं की जा सकती। यहां विभिन्नों के बीच उच्चता एवं निम्नता का भेद होता है वहां सावयवी सिद्धांत का अस्तित्व नहीं माना जा सकता। इस मत का विरोध करते हुये मि० स्पेलमेन (Spellman) ने यह तर्क दिया है कि राज्य का जैविक सिद्धान्त एक कार्यकारी मान्यता है, यह मूलरूप से नैतिक नहीं है। इसके अतिरिक्त राजनैतिक संगठन और सामाजिक नैतिकता के बीच भेद किया जाना चाहिये। भारतीय ग्रंथ राज्य की तुलना एक रथ से करते हैं, और राज्य के संचालन के लिये प्रत्येक अंग को महत्वपूर्ण बताते हैं। इसमें सावयवी सिद्धांत की झलक मिलती है। मत्स्य-पुराण में एक जगह कहा गया है कि राजा जड़ है और उसकी प्रजा पेड़ है। यहां निश्चय ही सावयवी सिद्धांत की ओर इशारा किया गया है। जिस प्रकार सावयवी सिद्धांत के मुख्य पश्चिमी विचारक हर्बर्ट स्पेन्सर ने राज्य के विभिन्न अंगों की तुलना जीवधारी के शरीर से की है उसी प्रकार तुलना करते हुए शुक्रनीति सार में, कहा गया है कि "इस राज्य रूपी शरीर का राजा सर है, मन्त्रिगण उसकी आंखें हैं, मित्रगण उसके कान हैं, कोष उसका मुंह है, किले उसके हाथ हैं, जनता उसके हाथ हैं, सेना राज्य की इच्छा शक्ति है।" अनेक प्रमाणों के आधार पर विभिन्न विचारकों की यह मान्यता है कि राज्य के सावयवी सिद्धांत से प्राचीन भारत अपरिचित नहीं था।

राज्य के सम्बन्ध में एक दूसरा सिद्धांत यज्ञ का सिद्धांत (The Sarcrificial Theory) है। यह सिद्धान्त भारत की अपनी विशेषता है जो कि अन्य देशों में प्राप्त नहीं होता। इस सिद्धांत के अनुसार राज्य का अस्तित्व एक यज्ञ के रूप में है। राज्य जनता के मोक्ष का एक साधन है। इस सिद्धांत के मानने वालों का कहना है कि प्राचीन भारत में धार्मिक दृष्टि से राजा की स्थिति केवल उच्च ही नहीं थी क्योंकि ऐसा तो प्रत्येक राजतन्त्र में होता है। प्राचीन भारत में राजा केवल उच्च ही नहीं था वरन् वह एक मूल आधार था जिस पर कि समस्त धार्मिक क्रियायें आश्रित थी।[1] राजा के माध्यम से ही स्वर्ग की प्राप्ति की जा सकती थी। राज्य में यज्ञ करने वालों में राजा सर्वोच्च था। जिस प्रकार पुरोहित के द्वारा यज्ञ के सम्बन्ध में विस्तृत वार्ताओं का उल्लेख किया जाता था उसी प्रकार राजा के द्वारा जनता के कर्तव्यों को विनियमित किया जाता था। कुल मिलाकर राज्य को एक यज्ञ माना गया, इस यज्ञ में प्रत्येक अंग का एक विशेष कर्तव्य था। यज्ञ का उद्देश्य था स्वर्णिम् भविष्य। इस यज्ञ ने प्राचीन भारत में बहुत महत्वपूर्ण योगदान किया। प्रत्येक भारतीय विशेषज्ञ इस बात से सहमत है।

यज्ञ की ईंटों को रखने के सम्बन्ध में सतपथ ब्राह्मण ने राज्य और समाज की तुलना यज्ञ से की है। यह यज्ञ की एक ईंट है। उसके द्वारा मुख्य कार्य सम्पन्न किया जाता है। यदि वह नहीं है तो यज्ञ अधूरा है। दूसरे स्थान पर यज्ञ की अग्नि प्रज्वलित करते समय सामाजिक अन्तर को मस्तिष्क में

---

1. He was the foundation upon which all religious activities rested.

—John W Spellman, Op. cit. P. 9.

रखने की बात कही गई है। राजनैतिक सर्वोच्चता एवं सामाजिक अन्तर को ध्यान में रख कर ही एक व्यक्ति को यज्ञ सम्पन्न करना चाहिये।

स्वयं राज्य को यज्ञ बताते समय विभिन्न वर्गों के कर्तव्यों को निर्धारित किया गया है। ऋग्वेद के अनुसार जब देवताओं और ऋषियों ने पुरुष का यज्ञ किया तो जाति प्रकट हुई। मनु के कथनानुसार ब्राह्मणों को अध्ययन और अध्यापन का कार्य सौंपा गया। उन्हें अपने और दूसरों के लाभ के लिये यज्ञ करने को कहा गया। क्षत्रियों का कार्य जनता की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ कराना, वेदों का अध्ययन करना आदि बताया गया। वैश्यों को पशु-पालन, दान देना, यज्ञ कराना, व्यापार करना, धन उधार देना, कृषि करना आदि से सम्पन्न बनाया गया। शूद्रों को केवल एक ही कार्य बताया गया और वह यह था कि अन्य वर्गों की सहायता की जाये।

वर्णों के कर्त्तव्य बताते समय यह बताया गया था कि इन सभी को कुछ कार्य सामान्य रूप से करने हैं। वेदों का अध्ययन, यज्ञ करना आदि कार्य सबके लिए बताये गये। राज्य का यह कार्य है कि वह दण्डनीति के माध्यम से चारों वर्णों को उनके कार्यों में ही बनाये रखें। सभी लोगों को उनके कर्त्तव्य में रत रखकर राज्य उन्हें अधर्म के मार्ग से रोकता है।

राजा द्वारा ब्राह्मणों को विशेष स्तर प्रदान किया जाता था। वह उनको कर से छूट देता था। उनकी आवश्यकता की सारी चीजें उपलब्ध कराता था। यह सब कुछ अकारण ही नहीं होता था। अग्निपुराण के कथनानुसार राजा के सरक्षण में रहकर ब्राह्मणों द्वारा जो धार्मिक कार्य सम्पन्न किये जाते थे वे उसके जीवन को दीर्घ बनाने में तथा प्रजा की हालत को सुधारने में महत्वपूर्ण कार्य करते थे। ये बातें परस्पर आश्रित थीं। राजा द्वारा रक्षा किये जाने पर ही यज्ञ कार्य एवं धार्मिक अनुष्ठान सम्भव होते थे और यज्ञ कार्य तथा धार्मिक अनुष्ठान करने पर ही राज्य को स्थिरता एवं सार्थकता प्राप्त होती थी। महाभारत में कहा गया है कि जिस राज्य के लोग धार्मिक क्रियाकलापों में रुचि लेते हैं तथा धर्म के अनुसार ही आचरण करते हैं वह राज्य धन धान्य से सम्पन्न होता है। राजा का कार्य भी अप्रत्यक्ष रूप से एक यज्ञ ही था। राजा द्वारा रक्षित रहकर सभी लोग प्रसन्नता पूर्वक ठीक उसी प्रकार जीवन व्यतीत करते हैं जिस प्रकार कि अपने माता-पिता के संरक्षण में रहकर बच्चे प्रसन्न होते हैं। राजा के कर्त्तव्य अन्य सभी कर्त्तव्यों में प्रमुख थे। मोक्ष की प्राप्ति के लिए अग्रसर करने वाले आध्यात्मिक कार्यों से भी अधिक उनका महत्व था। देवता, माता, पितृ, गन्धर्व एवं राक्षस आदि सभी यज्ञ से शक्ति प्राप्त करते हैं। यज्ञ राजाओं पर निर्भर करते हैं। ऐसी स्थिति में राजा का महत्व स्पष्ट था क्योंकि राजाओं के बिना कोई यज्ञ सम्भव नहीं था। ऐसी स्थिति में स्वयं राज्य को ही यज्ञ मानना कोई गलती अथवा अतिशयोक्ति नहीं थी।

जिन भारतीय ग्रन्थों में राजा के कर्त्तव्यों का वर्णन किया गया है, उनके अध्ययन के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञ का राजा के जीवन में

कितना महत्व समझा गया था। कौटिल्य ने इस बात पर पूरी तरह जोर दिया है कि राजा किसी को भी अपने कर्त्तव्यों का उल्लंघन न करने दे। सभी को उनके कर्त्तव्यों मे लगाये रखें। आर्यों के रीति रिवाज, जाति के नियम एवं धार्मिक जीवन के विभाजनो को मानने से व्यक्ति का इहलोक एवं परलोक दोनो ही सुधर जाते हैं। राजा को स्वय धर्म का पालन करना चाहिए। कौटिल्य के कथनानुसार "राजा के उन्नतिशील होने पर ही उसका सारा भृत्य वर्ग उन्नतिशील होता है। इसके विपरीत राजा के प्रमादी होने पर सारा भृत्य वर्ग प्रमाद करने लगता है।"[1] धर्म को मानना ही राजा का मुख्य कर्त्तव्य है, कार्यों का संतापजनक रूप से सम्पन्न करना ही उसका यज्ञ है सभी के प्रति बराबर ध्यान रखना ही कर संग्रह एवं सम्पत्ति हस्तगत करने का बदला है।

राज्य से सम्बन्ध रखने वाला यज्ञ का सिद्धान्त राजा के विभिन्न कार्यों को यज्ञ के विभिन्न निर्माणक भागो से सम्बद्ध करता है। इस सिद्धान्त की मूल मान्यता यह है कि राजा अपने कर्त्तव्यो के पालन मे लगा रहे। ऐसा करने वह मुख्य रूप से उन यज्ञों के सम्पादन मे ही संलग्न माना जायेगा जो कि राज्य के अन्य लागो के द्वारा सम्पन्न किये जा रहे हैं। यह एक महायज्ञ है। प्रत्येक को इस यज्ञ मे अपना कुछ सहयोग देना होता है।

अध्याय की पुनरीक्षा
(A Review of the Chapter)

इस अध्याय मे राज्य से सम्बन्धित विभिन्न समस्याओं के सम्बन्ध मे प्राचीन भारतीय विचारको के मतो का अध्ययन किया गया। भारतीय आचार्यों ने राज्य को एक लोक हितकारी संस्था माना है। यह धर्म और न्याय की स्थापना करता है किन्तु उससे ऊपर नही है। यह स्वय भी धर्म के अनुसार आचरण करता है। राज्य का जन्म कैसे तथा किसके द्वारा किया गया, प्रश्न पर विचार करते हुए यह माना गया कि राज्य को ईश्वर ने बनाया, राज्य देवताओ एवं ऋषियो द्वारा उत्पन्न किया गया, यह मनुष्यों के अथवा देवताओं के बीच हुए समझौते का परिणाम है अथवा ससार में जब युद्ध हो रहे थे तो देवताओं ने इन्द्र को राजा का पद सौंपा और इस प्रकार राज्य का आधार शक्ति है आदि आदि।

राज्य का जन्म या तो इन विभिन्न सिद्धान्तों मे से किसी एक के अनुसार हुआ है अथवा उसकी उत्पत्ति मे सम्भवत इन सभी का महत्वपूर्ण योग रहा होगा। दोनो सम्भावनायें सत्य प्रतीत होती हैं क्योंकि अधिकाश ग्रन्थो में राज्य की उत्पत्ति से सम्बन्धित जो वृतान्त आते हैं उनके बीच समरूपता नही है। यहां तक कि एक ही ग्रन्थ में अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग प्रकार के विचार प्रकट किये गये हैं। उत्पन्न होने के बाद वास्तविक व्यवहार मे राज्य का रूप क्या रहा तथा किन शासन प्रणालियों को यहां अपनाया गया, इसका उल्लेख भी इतिहास एवं धर्म के ग्रन्थों मे प्राप्त होता है। प्राचीन भारत में

---

1. कौटिलीय अर्थशास्त्र, १, १८, १.

राजतंत्रात्मक व्यवस्था का प्रारम्भ से ही पर्याप्त प्रचलन रहा है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं होता कि केवल राजतन्त्र ही यहां की राजनैतिक व्यवस्था पर एकाधिकार किये रहा था। प्राचीन भारत में गणराज्य, स्वराज्य, वैराज्य, द्विराज्य, अराज्य आदि विभिन्न रूपों का प्रचलन था। मौर्यकाल के आस-पास से साम्राज्यवाद भी पर्याप्त व्यापक एव लोकप्रिय बन गया। वैसे इससे पूर्व भी साम्राज्यवादी धारणाओं का समर्थन किया गया है। पृथ्वी पर्यन्त राज्य होना तथा शत्रुओं का न रहना प्रशसा का विषय था तथा इसके लिए राजा द्वारा अश्वमेध, वाजपेय आदि विभिन्न यज्ञ किये जाते थे।

राज्य का उद्देश्य जनता की सुरक्षा बताया गया क्योंकि ऐसा होने पर ही धर्म, न्याय, व्यवसाय साहित्य एव सस्कृति का विकास हो सकता था। मनुष्य के त्रिवर्ग धर्म, अर्थ और काम बताये गये। इनकी रक्षा करना तथा इनकी प्राप्ति में व्यक्ति का सहयोग करना राज्य का एक प्रमुख लक्ष्य था। व्यक्ति का परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति माना गया था और इसलिए राज्य को भी इसे ही अपना लक्ष्य मानकर चलने को कहा गया। इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये राज्य को अनेक कार्य सौंपे गये जिनका सम्बन्ध व्यक्ति के जीवन के विभिन्न पहलुओं से था। व्यक्तिवादियों की भांति भारतीय आचार्य राज्य को केवल आन्तरिक एव बाह्य रक्षा तथा सुरक्षा का काम सौंपकर ही संतुष्ट न हुए वरन् उन्होने व्यक्ति के चहुंमुखी विकास में राज्य के योगदान को प्रशंसनीय बताया। इतने पर भी वे राज्य को साम्यवादियों की तरह सम्पूर्णतावादी नहीं बनाना चाहते थे। व्यक्ति की स्वतन्त्रता एवं पहल के लिये भी उन्होंने पर्याप्त गुंजाइश रख छोड़ी थी। असल में राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में भारतीय आचार्यों के विचार न व्यक्तिवादी थे और न ही समाजवादी थे वरन् वे भारतीय थे। राज्य का औचित्य अराजक स्थिति की भयावहता का वर्णन करके सिद्ध किया गया। राजा न रहने पर मत्स्य न्याय स्थापित हो जायेगा और राज्य के होने पर धर्म, न्याय एवं व्यवस्था की स्थापना होगी तथा लोगों का जीवन शान्तिपूर्ण, सुखपूर्ण तथा आनन्दपूर्ण स्थितियों में से गुजरेगा अतः राज्य का होना आवश्यक है। जीवन एक महायज्ञ है। राज्य के विभिन्न अंग एक साव-यवी के रूप में सम्बद्ध होकर इस महायज्ञ में आहूतियां देते हैं। इस यज्ञ की सम्पन्नता एवं सफलता में ही मानव का कल्याण एवं मोक्ष निहित है।

४

लोक कल्याणकारी राज्य

[THE WELFARE STATE]

प्राचीन भारतीय राज्य का लक्ष्य जनता की भलाई करना था। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर भी उस सीमा तक ही प्रतिबन्ध लगाये गये थे जहा तक कि वे सामाजिक हित के लिए आवश्यक हो। असल मे कल्याण का रूप इन्होंने व्यक्तिगत नहीं रखा था। वे सामाजिक दृष्टि से ही सोचते थे। महाभारत एव नीति शास्त्र से सम्बन्धित विभिन्न ग्रन्थों में राजा को पूर्ण अधिकार सौंपा गया था। राजा के सम्बन्ध मे जनता का कर्तव्य केवल आज्ञापालन का था। के. एम. पनिक्कर के शब्दो मे भारतीय सिद्धान्त द्वारा समाज से भिन्न व्यक्ति को कोई भी अधिकार नहीं सौंपा गया।[1]

लोक कल्याणकारी राज्य की धारणा राज्य को मानव मात्र की भलाई का एक अभिकरण मानती है। इस अर्थ में यह व्यक्तिवादी विचारधारा के विपरीत है जो कि राज्य को एक बुराई मानती है तथा उसके कार्यों को कम से कम करने की पक्षपाती है। हर्बर्ट स्पेन्सर ने राज्य को एक दुष्ट तथा अनैतिक संस्था माना है जो कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता मे बाधा पहुचाती है। प्राचीन भारतीय विचारकों के अनुसार राज्य की यह प्रकृति न थी। उन्होंने यह माना कि राज्य का रहना आवश्यक है क्योंकि अराजकता की स्थिति मे सारा संसार मत्स्य न्याय के आधीन हो जाता है व किसी को भी कोई व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं रहती। व्यक्ति का जीवन, धन आदि सब कुछ संकट में पड जाता है। राज्य का अस्तित्व केवल आवश्यक ही नही है वरन् यह उपयोगी एव लाभकारी भी है। व्यक्ति राज्य को मजबूरी के कारण नही अपनाता

---

1. In fact Hindu theory confers no right on the individual

वरन् वह उसके कल्याण का प्रतीक होता है इसलिए अपनाता है।

लोक कल्याणकारी राज्य का नामकरण चाहे कितना ही आधुनिक क्यों न हो किन्तु इसकी मूल मान्यता पर्याप्त प्राचीन है। महाभारत तथा अग्निपुराण में इससे सम्बन्धित विचार प्रकट किये गये हैं। अरस्तु ने भी इसका उल्लेख किया है। रॉब्सन की मान्यता है कि कल्याणकारी राज्य का सिद्धांत मानव जाति के जितना ही पुरातन है। यह निश्चय ही राज्य से तो अधिक पुरातन है।[1] इस सिद्धांत से सम्बन्धित पुरातन एवं नवीन सिद्धांतों के बीच एक मुख्य अन्तर यह है कि पहले इसमे व्यक्ति की नैतिक उन्नति पर जोर दिया जाता था किन्तु अब उसकी आर्थिक प्रगति पर अधिक जोर दिया जाता है। यह राज्य एक समाज सेवी राज्य है। केन्ट के कथनानुसार लोक कल्याणकारी राज्य एक ऐसा राज्य है जो कि व्यापक रूप से समाज सेवायें प्रदान करता है। इसका मुख्य उद्देश्य नागरिकों को सुरक्षा प्रदान करना है।[2]

लोक कल्याणकारी राज्य के कार्यो का क्षेत्र तो अत्यन्त व्यापक होता है किन्तु फिर भी हम इसे पूर्णतावादी राज्य नहीं कह सकते। पूर्णतावादी राज्य जनता के प्रत्येक कार्य को अपने नियन्त्रण के आधीन रखता है। व्यक्ति को उसकी इच्छा के अनुसार जीवन यापन करने की स्वततंत्रता नही दी जाती। उत्पादन के समस्त साधन राज्य के हाथ में रहते हैं। लोक कल्याणकारी राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता को इतना अधिक मर्यादित नहीं करता। एक प्रकार से उसे व्यक्तिवादी एवं सम्पूर्णवादी व्यवस्थाओं के मध्य का मार्ग माना जा सकता है। सत्यव्रत घोप ने लोक कल्याणकारी राज्य को एक समाजसेवी राज्य कहा है जो कि व्यक्तिवाद की दार्शनिक संरचना एवं नियोजित किन्तु व्यक्तिगत अर्थ व्यवस्था के संस्थागत संगठन में स्थित रहता है।[3] भारतीय आचार्यो द्वारा वर्णित राज्य के कार्यो का अध्ययन करते समय हम यह देख चुके हैं कि इन कार्यो की दृष्टि से हम उनको न तो व्यक्तिवादी कह सकते हैं और न ही समाजवादी। वैसे वे इन दोनों विचारधाराओं के लक्ष्यों को प्राप्त करना चाहते थे। वे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एवं सामाजिक कल्याण दोनों के हामी थे और इस प्रकार उन्होंने राज्य का जो स्वरूप हमारे सामने रखा वह बहुत कुछ वही है जिसे कि हम आज लोक कल्याणकारी कह कर पुकारते है।

---

1. The idea of welfare state must be as old as mankind and it is certainly much older than the state.

—Robson.

2. It is a state that provides for its citizens a wide range of social services. The primary purpose is to give the citizen security.

—T.W. Kent.

3. A welfare state is a social service state within the philosophical framework of individualism and institutional organisation of private economy, though planned.

—Satyabrat Ghose.

प्राचीन भारतीय ग्रन्थों के अनुसार जो राज्य जनता का कल्याण नहीं कर सकता उस राज्य को अस्तित्व का कोई अधिकार नहीं है। राज्य का जन्म चाहे वह देवताओं द्वारा किया गया हो अथवा मनुष्यों के समझौते के द्वारा अथवा शक्ति के आधार पर, उसका मुख्य कार्य समाज में शांति एवं व्यवस्था की स्थापना, अधर्म एवं अत्याचार के स्थान पर धर्म तथा न्याय की स्थापना करना था। इस राज्य को व्यक्ति के उन कार्यों पर प्रतिबन्ध लगाने की शक्ति प्रदान की गई थी जो कि समाज विरोधी थे। राज्य के कार्यों पर विशेष सीमा नहीं थी। वह व्यक्ति के जीवन के प्रत्येक पहलू में व्याप्त था। उसे सामान्य जनता के नैतिक, आर्थिक, बौद्धिक, सांस्कृतिक मानसिक एवं सामाजिक आदि सभी क्षेत्रों में हस्तक्षेप करने को कहा गया। केवल सामाजिक कल्याण ही उसके कार्यों की सीमा था।

व्यक्ति एवं राज्य
(Individual and the State)

भारतीय आचार्यों ने व्यक्ति एवं राज्य के सम्बन्धों पर प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से स्थान स्थान पर प्रकाश डाला है। राज्यों के कार्यों की घोषणा करके उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि व्यक्ति के साथ उनका सम्बन्ध किस प्रकार का रहना चाहिए। हिन्दू राज्य का मुख्य लक्ष्य व्यक्ति के व्यक्तित्व का सुखी विकास करना था। इस दृष्टि से व्यक्ति को अपना आध्यात्मिक जीवन मनचाहे तरीके से व्यतीत करने की व्यवस्था की जाती थी। राज्य व्यक्ति के मार्ग में आने वाली बाधाओं का निराकरण करता था तथा सामाजिक कल्याण की दृष्टि से उसके व्यवहार पर कुछ प्रतिबंध भी लगाता था किन्तु इस सबके बाद भी व्यक्ति को पर्याप्त इच्छा-स्वातन्त्र्य प्रदान किया जाता था। राज्य उसके पूजा करने की स्वतन्त्रता में कोई हस्तक्षेप नहीं करता था। व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार व्यवसाय चुनने तथा करने की स्वतन्त्रता प्रदान की गई थी। यह व्यवसाय समाज के हितों का विरोधी नहीं होना चाहिए। व्यवसाय चुनने व करने की स्वतन्त्रता में जो भी कोई बाधा उत्पन्न होती है, राज्य उसके निराकरण का प्रयास करता है।

व्यक्ति को यह अधिकार प्रदान किया गया था कि वह अपनी जाति तथा प्रदेश की परम्पराओं का अनुगमन करे और उनके अनुसार जीवन व्यतीत कर सके। व्यक्ति स्वयं ही यह तय करता था कि उसे किन सामाजिक नियमों के अनुसार जीवन व्यतीत करना है। एक बार चयन कर लेने के बाद वह उसका पालन करने के लिए बाध्य था। इन नियमों एवं परम्पराओं का उल्लंघन अथवा तिरस्कार करने की उसे अनुमति प्रदान नहीं की जाती थी।

व्यक्ति अपने विभिन्न उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए संगठनों की रचना कर सकता था। इन संगठनों की सदस्यता ऐच्छिक हुआ करती थी। प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में श्रेणी, पूग गण, संघ, व्रात एवं पाषण्डी समुदायों का उल्लेख आता है। पाणिनी ने इन सबका अर्थ स्पष्ट किया है। कौटिल्य का कहना है कि राज्य में केवल अच्छे उद्देश्य रखने वाले समुदायों को ही रहने देना चाहिए।

जिन समुदायों का लक्ष्य समाज हित के विरुद्ध है उनको राज्य द्वारा समाप्त कर दिया जाये। दूषित कार्य न करने वाले समुदाय को बनने तथा कार्य करने की पूरी स्वतन्त्रता प्रदान करने का विधान किया गया है।

प्राचीन भारत में शिक्षा व्यवस्था राज्य द्वारा नियंत्रित नहीं थी। आज के साम्यवादी देशों की भांति यहां शिक्षा का पाठ्यक्रम, शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था आदि पर राज्य का नियमन नहीं था। विद्यार्थियों को क्या पढ़ाया जायेगा, कितने समय में पढ़ाया जायेगा, उसे अध्ययन काल में कहां रखा जायेगा तथा किस प्रकार का वातावरण उसे प्रदान किया जायेगा आदि बातें धार्मिक एवं नीति ग्रन्थों द्वारा तय की जाती थीं और आश्रमवासी आचार्यों द्वारा उनको क्रियान्वित किया जाता था। जहां कहीं वे इस कार्य में असुविधा का अनुभव करते थे वहीं राज्य की सहायता का हाथ उनकी ओर बढ़ जाता था। राज्य को इन आश्रमवासियों के जीवन में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार प्रदान नहीं किया गया था। स्वयं राजा इनका सम्मान करता था तथा उनकी इच्छा एवं आदेश का यथासाध्य पालन करने का प्रयास करता था। शिक्षा की स्वतन्त्रता का अर्थ यह हुआ कि नागरिकों को अपना विचार एवं मत व्यक्त करने की स्वतन्त्रता प्रदान की गई।

प्रत्येक व्यक्ति को सम्पत्ति के स्वामित्व का अधिकार प्रदान किया गया। राजा पर यह प्रतिबन्ध लगाया गया था कि वह अन्यायपूर्वक धन का संग्रह न करे। वह ऐसा कुछ भी न करे जिसके कारण उसकी प्रजा को कष्ट होता हो। शोषण के हर रूप का विरोध किया गया था। अन्यायपूर्ण धन संग्रह की अपेक्षा नष्ट हो जाने को श्रेयस्कर माना जाता था। मनु स्मृति कहती है कि क्षीण होने पर भी जो लेने योग्य नहीं है राजा उसे न ले। कर लेते समय राजा को संतुलित दृष्टिकोण अपनाने को कहा गया। करों की मात्रा निश्चित कर दी गई थी। राजा को उससे अधिक धन का संग्रह करने की मनाही की गई। केवल संकट काल में ही वह ऐसा कर सकता था। व्यक्तिगत सम्पत्ति पर केवल असामाजिक व्यवहार के लिए ही सीमा लगाई गई थी अन्यथा व्यक्तिगत सम्पत्ति को राजा के प्रत्येक अत्याचार से बचाया गया।

राज्य में रहने वाले व्यक्ति को प्राचीन भारतीय आचार्यों ने जो भी अधिकार सौंपे थे उनको देखने के बाद कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति को राज्य के नियंत्रण से पूर्ण रूप से अलग रखा गया था। उस पर समाज का नियंत्रण था। समाज द्वारा ही उसके व्यवहार का नियमन किया गया था।

एक ओर तो राज्य के कर्त्तव्यों का उल्लेख किया गया था जो एक प्रकार से व्यक्ति के अधिकारों का वर्णन था। दूसरी ओर नागरिकों के कर्त्तव्यों का भी वर्णन किया गया और इस प्रकार ये राज्य के अधिकारों का वर्णन करते हैं। व्यक्ति का एक मुख्य कर्त्तव्य यह माना गया कि वह राज्य की आज्ञा का पालन करे। यदि वह ऐसा न करे तो राज्य में सुव्यवस्था एवं शांति

नहीं रह सकती। मनु स्मृति का यह स्पष्ट उल्लेख है कि राजा यदि बालक हो तो भी मनुष्य को उसकी अवहेलना नहीं करनी चाहिए। राजा मनुष्य के रूप में एक देवता होता है। वह अग्नि से भी अधिक प्रचण्ड होता है। अग्नि तो अपने समीप आने वाले एक व्यक्ति को ही जलाती है राजा की क्रोधाग्नि से सारा धन एवं पशु सहित कुल नष्ट हो जाता है। राजा के अनेक रूप होते हैं और वह समय, स्थान तथा शक्ति के आधार पर अलग अलग रूप ग्रहण करता रहता है। राजा जब प्रसन्न होता है तो धन प्रदान कर सकता है, जब वह पराक्रम दिखलाता है तो शत्रु पर विजय प्राप्त होती है। राजा के क्रोध का परिणाम मृत्यु है। राजा में सबसे अधिक तेज होता है, वह सबसे अधिक शक्तिशाली है। राजा से द्वेष करने वाला शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। राजा दुष्टों के विनाश के लिए तथा सज्जनों के रक्षण के लिए कुछ नियम लागू करता है। इन नियमों का व्यक्ति को विरोध नहीं करना चाहिए। इनका उल्लंघन करने पर व्यक्ति को राजा के क्रोध का भाजन बनना पड़ेगा।

राज्य का लक्ष्य धर्म एवं न्याय की स्थापना करना होता है और यदि कोई व्यक्ति राज्य का विरोध कर रहा है तो इसका अर्थ यह होगा कि न्याय तथा धर्म की स्थापना के मार्ग में रोड़ा अटका रहा है। राजा के हाथ में दण्ड रहता है। वह दण्ड के माध्यम से दुष्टों का दमन करता है। राजा की यह शक्ति उसे देवता के स्तर पर ला देती है। कौटिल्य का यह स्पष्ट विचार है कि राजा द्वारा प्रजा के योग क्षेम की व्यवस्था की जाती है और इसलिए उसकी आज्ञा की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। राजा प्रजा की रक्षा करता है और इसलिए वह देवताओं के समान है।

राजनैतिक दायित्व का आधार
(The basis of Political Obligation)

भारतीय आचार्यों ने राज्य के प्रति नागरिकों के कर्त्तव्यों का व्यापक रूप से वर्णन किया। इन कर्त्तव्यों के पालन के लिये उनके द्वारा विभिन्न आधार बताये गये। आचार्यों की मान्यता थी कि राजा के द्वारा व्यक्ति को अराजकता की स्थिति से बचाये रखा जाता है। हॉब्स के अनुसार उनका कहना था कि यदि राज्य न रहा तो व्यक्ति उसी प्राकृतिक अवस्था में पहुंच जायेगा जहां पर कि वह पहले था। मत्स्य न्याय का चारों ओर प्रभाव बढ़ जायेगा। शक्ति ही अधिकार बन जायेगी। किसी भी व्यक्ति का अपना कहने के लिये कुछ भी न रहेगा। राज्य के दण्ड का भय न रहने पर सभी व्यक्ति अपने-अपने कर्त्तव्यों से विमुख हो सकेंगे। "अनेक पापी राजदण्ड के भय से पाप नहीं करते" महाभारत का यह कथन राज्य के अस्तित्व का महत्व प्रदर्शित करता है। दण्ड के माध्यम से मर्यादा की स्थापना एवं रक्षा की जाती है। महाभारत के अर्जुन के मतानुसार यदि दण्ड मर्यादा की रक्षा न करे तो ब्रह्मचारी वेदों के अध्ययन में न लगे, सीधी गौ भी दूध न दुहावे और कन्या विवाह न करे। जब दण्ड मर्यादा का पालन नहीं कराता तो चारों ओर से धर्म-कर्म का लोप होने लगता है। सारी मर्यादायें टूट जाती हैं।

लोगों को यह ज्ञान नहीं रहता कि कौनसी चीज उनकी है तथा कौनसी चीज पराई है। मनु का यहां तक कहना है कि स्वर्ग के देवता भी तभी अपने अपने कार्य में संलग्न रह पाते हैं जबकि उनको देवराज इन्द्र के दण्ड का भय रहता है।

इस प्रकार राजा की आज्ञा के पालन का एक आधार तो यह हुआ कि ऐसा करके हम अराजकता की भयानक स्थिति से मानवता को बचा सकते हैं। दूसरे, इससे धर्म और न्याय की स्थापना होती है। तीसरे, इससे समाज में मर्यादा बनी रहती है। चौथे, व्यक्ति को राजा की आज्ञा का पालन इसलिये भी करना चाहिये कि वह व्यक्ति के जीवन की रक्षा करता है, उसके धन-सम्पत्ति की रक्षा करता है तथा समाज में व्यवस्था बनाये रखता है। पांचवें, राजा के द्वारा समाज विरोधी तत्वों को दबाया जाता है। व्यक्ति को कष्ट देने वाले सभी तत्वों अथवा कष्टों का राज्य के द्वारा दमन किया जाता है। वे सभी उनकी मर्यादा में ही रखे जाते है। छठे, राजा के द्वारा प्रजा की आध्यात्मिक एवं भौतिक प्रगति में सहायता प्रदान की जाती है। सातवें, राज्य की आज्ञा का पालन करना इस कारण भी जरूरी था क्योंकि राजा के पास शक्ति है और इस शक्ति के द्वारा जहां वह व्यक्ति के कल्याण में सहयोग दे सकता है वहां वह उसके जीवन को कष्टप्रद भी बना सकता है। कहने का अर्थ यह है कि राजा के हाथों व्यक्ति का अहित न हो जाये इसलिये भी उसे राजा की आज्ञा का पालन करना चाहिये। आठवें, राजा की आज्ञा का पालन इसलिये भी आवश्यक था कि क्योंकि वह सामाजिक परम्पराओं एवं रीति रिवाजों का रक्षण करने वाली एक संस्था है और इस रूप में होने पर यदि इसका उल्लंघन किया गया तो समाज की सारी व्यवस्था ही विच्छृंखल हो जायेगी।

उक्त सभी कारणों से राजा की आज्ञा के पालन को आवश्यक एवं महत्वपूर्ण बताया गया ताकि सभी लोग अनुशासित जीवन व्यतीत कर सकें। इस सब के साथ ही एक बात यहां ध्यान में रखने योग्य यह है कि प्राचीन भारतीय विचारक न तो पुराने अनुपयोगी सिद्धान्तों से चिपके रहने की बात ही कहते थे और न ही राजा को निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी बनाने पर सहमत थे। समाज व्यवस्था को समय की आवश्यकता एवं परिस्थिति की मांगों के अनुसार परिवर्तित करते रहने की परम्परा थी। किन्तु इस परिवर्तन पर राजा का अधिकार नहीं था। ये समाज के प्रमुख लोगों द्वारा किये जाते थे। राजा का कार्य तो इसको केवल लागू करना मात्र होता था। इसके अतिरिक्त राजा को जनता की प्रत्येक इच्छा का पालन करने की बात नही कही गई। राजा यदि अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं करता है अथवा वह शासन को गलत रूप से संचालित कर रहा है तो जनता को उसका विरोध करने का अधिकार दिया गया था। जनता राजा को सिंहासन से उतार सकती थी। वह ऐसे राजा को यदि जान से भी मार दे तो कोई पाप नहीं माना जायगा।

जिन भारतीय ग्रन्थों ने राज्य की उत्पत्ति का आधार पारस्परिक समझौते को माना है वे राज्य की आज्ञाकारिता का एक अलग ही आधार

प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है कि प्रजा ने राजा से यह समझौता किया है कि वह उसकी रक्षा करे और इसके बाद में वे सभी उसको कर प्रदान करें तथा उसकी आज्ञा का पालन करें। इस समझौते को बनाये रखने की खातिर व्यक्ति को राजा की आज्ञा का पालन उस समय तक करते रहना चाहिये जब तक कि वह उनकी रक्षा की पर्याप्त व्यवस्था कर रहा है। समझौते की शर्त का पालन यदि राजा द्वारा न किया जा सके तो भारतीय आचार्य उसकी आज्ञा के उल्लंघन की ही अनुमति मात्र नहीं देते वरन् वे उसे एक पागल कुत्ते की तरह मार डालने की बात कहते हैं। राजा की आज्ञा-पालन का आधार बौद्धिक है। यह व्यक्ति की स्वार्थपूर्ण आत्मचेतना से उदित होता है। राजा के द्वारा जनता के लोक और परलोक दोनों की समृद्धि का प्रयास किया जाता है, अत जनता को भी चाहिये कि वह राजा की आज्ञा के पालन के अपने कर्त्तव्य का पालन करे और इस प्रकार राजा के कार्यों को आसान बनाये।

प्राचीन भारत में राज्य ने नागरिकों को क्या अधिकार सौंपे थे इस बात की जानकारी भी एक पर्याप्त मनोरंजक विषय है। यह विषय उस समय और भी आवश्यक बन जाता है जबकि हम इस तथ्य से अवगत होते हैं कि भारतीय ग्रन्थों ने इस सम्बन्ध मे पर्याप्त विरोधी विचार प्रकट किये हैं। यहा तक कि एक ही ग्रन्थ के विभिन्न भागों मे भी कई प्रकार के मतों का विवेचन प्राप्त होता है। इन विचारों के आधार पर कुछ लेखक तो यह निष्कर्ष निकालते हैं कि प्राचीन भारतीय ग्रन्थो ने राजा को पूर्ण शक्तियां सौंपी हैं तथा जनता को उसकी आज्ञा पालन का कर्त्तव्य सौंपा है। उनकी मान्यता मे स्वतन्त्रता का विचार अनुपस्थित था। सुरक्षा के सिद्धांत पर इतना जोर दिया गया था कि नागरिकों को कोई अधिकार या स्वतन्त्रता प्रदान करने की आवश्यकता ही नहीं समझी गई। नागरिकों को केवल क्राति का अधिकार सौंपा गया था। वह भी उस स्थिति में जबकि राजा अपने रक्षा के दायित्व को पूरा नहीं कर पाये। शुक्रनीतिसार के द्वितीय अध्याय मे यह कहा गया है कि यदि राजा अनैतिक हो जाये तथा सद् धर्म का विरोध करने लग जाये तो सामान्य जनता उसके विरुद्ध क्राति कर दे। महाभारत ने भी आततायी राजा के विरुद्ध क्राति करने तथा उसके स्थान पर न्यायपूर्ण राजा को नियुक्त करने की बात कही है। महाभारत के भीष्म के कथनानुसार यदि राजा द्वारा रक्षा नहीं की जाती है तो जनता को स्वयं शस्त्र धारण करने चाहिए और स्वयं राजा की हत्या कर देनी चाहिए। के. एम पनिक्कर ने भारतीय आचार्यों के इस विचारों की तुलना पश्चिमी विचारक हॉब्स से की है जिसने कि प्रजा के क्राति के अधिकारों के साथ तानाशाही शासन का समर्थन किया था।'[1]

राजा के व्यवहार पर जो प्रतिबन्ध लगाये गये थे उनकी प्रकृति नैतिक

1. The Hindu theory, so far at least as the relations between the ruler and his subjects are concerned, approximates to the ideas preached in the west by Hobbes of a despotism tempered by the right to rebel.

थी तथा वे धर्म पर आधारित थे। उनका आधार व्यक्ति के अधिकार अथवा स्वतन्त्रतायें नहीं थी। यह सच है कि राजा धर्म के नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता था; किन्तु यदि वह ऐसा करे भी तो व्यक्ति अपने अधिकार के रूप में राजा से कुछ भी मांग नहीं कर सकता था। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की मान्यता का उस समय पर्याप्त विकास नहीं हो पाया था। चर्च की भांति प्राचीन भारत में कोई ऐसी संगठित सस्था नहीं थी जो कि धर्म के आदेशों का बाध्यकारी रूप से पालन करा सके। धर्म में भी बहुत कुछ स्वतन्त्र व्यवहार पर जोर दिया गया था। ऐसी स्थिति में राजा के अधिकार और भी अधिक अमर्यादित बन जाते है। भारत में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की दिशा में ऐसा कोई आन्दोलन नहीं चला जैसा कि पाश्चमी देशों में चला था। यही कारण है कि यहां एक व्यक्ति को व्यक्ति के रूप में कोई अधिकार प्राप्त नहीं हो सके। यहां शासक से यह आशा की गई थी कि वह जनता के प्रति दयालु एवं सद्भावना पूर्ण बन जाये तथा वह उसके साथ ऐसा ही व्यवहार करे जैसा कि एक बालक के प्रति उसके माता-पिता करते हैं। अनेक प्रकार से राजा को ऐसा बनाने का प्रयास किया गया था कि वह जनता के अधिकाधिक प्रेम का पात्र बन सके। शुक्र के कथनानुसार सबसे अधिक अभागा राजा वह होता है जिसकी ओर लोग भय एवं आंतक से देखते है। इसी बात के सकारात्मक पक्ष का उल्लेख करते हुए महाभारत ने कहा है कि सर्वश्रेष्ठ राजा वह है जिसके प्रदेश में लोग उसी प्रकार निर्भय होकर विचरण करते हैं जिस प्रकार कि बालक अपने माँ-बाप के घर मे प्रवेश करते हैं, जहाँ लोग अपने धन को नहीं छिपाते, जहा शासक उचित और अनुचित का भेद करना जानता है।

व्याख्याकारों एवं आलोचकों का कहना है कि ये सारी बातें आदर्श रूप में उचित थी किन्तु इस आदर्श में वर्णित स्वतन्त्रता को लागू करने का साधन क्या था? साधारण स्थिति में भी यदि कोई राजा इन आदर्शों का उल्लंघन करता है तो उसे किस प्रकार रोका जायेगा? राजतरंगिणी आदि कई एक ग्रन्थों में ऐसे शासकों का वृतान्त आता है जिन्होंने अपनी जनता के प्रति भारी अत्याचार किये। सामान्य जन के पास इन अत्याचारों का विरोध करने के लिए कुछ भी नहीं था। जब राजा का अत्याचार अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाता था, केवल तभी जनता उसके विरुद्ध क्रांति के लिए संगठित हो सकती थी। स्वतन्त्रता का अर्थ केवल यही नहीं होता कि व्यापक अत्याचार के विरुद्ध व्यापक रूप से ही कार्यवाही की जा सके। इसका अर्थ तो यह है कि राजा द्वारा किसी भी गरीब या हीन वर्ग के विरुद्ध यदि कोई कार्य किया गया तो उसका भी विरोध किया जा सके।

राजा के कार्यों पर लगे हुए प्रतिबन्धों में धर्म के अतिरिक्त समाज के जातीय संगठन का नाम भी लिया जा सकता है। जातीय व्यवस्था के रूप मे संगठित समाज के कारण राजा के लिए यह सर्वथा असम्भव बात थी कि वह पूर्ण शक्तियों का प्रयोग स्वयं ही करता। भारतीय समाज अनेक जातियों में विभाजित था। ये जातियां अपने–आपको चारों वर्णों में से किसी के भी साथ सम्बद्ध करने के प्रयत्न में लगी हुई थीं। वर्ण व्यवस्था ने सामाजिक जीवन

की दृष्टि से राजा के दावों को ढीला कर दिया तथा शक्ति पर उसका एकाधिकार न रहने दिया।

हिंदू राजशास्त्रियों ने चाहे व्यक्ति के अधिकारों पर जोर न डाला हो किन्तु एक बात यह तो स्पष्ट है कि इन्होंने राजा को एक साध्य नहीं माना था वरन् उसे मानव कल्याण का एक साधन माना था। शुक्र के अनुसार सम्प्रभुता केवल वह रूप एवं सत्ता है जिसके माध्यम से राजा जनता की सेवा कर सके। यदि राजा जनता की सेवा करता है तो वह उचित है और यदि नहीं करता है तो वह अपने लक्ष्य से विमुख हो रहा है।

राजा की पूर्ण शक्ति शालिता के सम्बन्ध में एक बात यहां यह भी उल्लेखनीय है कि राजा अकेला ही शासन से सम्बन्धित समस्त कार्यों को व्यक्तिगत रूप से सम्पन्न नहीं कर सकता था। धर्म शास्त्रों एवं नीति ग्रन्थों में राज्य परिषद का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया गया है जहां कि सार्वजनिक विषयों पर विचार विमर्श तथा वाद-विवाद किया जा सकता था। राजा को अपने साथियों से परामर्श, विचार-विमर्श एवं सलाह करनी होती थी। शुक्र नीति का कहना है कि कोई छोटे से छोटा कार्य भी बिना कठिनाइयों के अकेला व्यक्ति सम्पन्न नहीं कर सकता तो राज्य के महान् कार्यों को बिना किसी की सहायता से वह कैसे सम्पन्न कर सकता है। राजा को चाहे शास्त्रों का विषद एवं अद्वितीय ज्ञान प्राप्त हो अथवा वह राजनीति का परम विशेषज्ञ हो किन्तु तो भी उसे बिना मन्त्रियों का परामर्श लिए राजनैतिक मसलों पर स्वयं ही निर्णय नहीं लेना चाहिए।

'मन्त्रीमण्डल' राज्य का एक अविभज्य भाग था। मनु द्वारा भी उस राजा को अनुपयुक्त माना गया है जो कि स्वयं ही शासन करने का प्रयास करता है। भारतीय आचार्यों का यह एक सामान्य दृष्टिकोण है कि राजा को मन्त्रीमण्डल की सलाह माननी ही चाहिए। यह बात केवल सिद्धान्त रूप में ही सच नहीं थी वरन् इसे व्यावहारिक रूप में भी अपनाया गया था। राज-तरंगिणी में ऐसे अनेक उदाहरण आते हैं जहां पर कि मन्त्रिपरिषद ने राजा की राय की अवहेलना की थी। मन्त्री एवं राजा के बीच सम्बन्धों का नियमन करने के लिए एक विस्तृत आचार संहिता बनायी गई थी। राजा के अधिकारों पर यह सीमा तथा विभिन्न मन्त्रियों की राय का महत्व इस बात का प्रतीक है कि प्राचीन भारत में जनता के अधिकारों को अप्रत्यक्ष रूप से आश्रय प्रदान किया गया था।

नागरिक अधिकार और समाज
(Civil Rights and the Community)

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो चुका है कि प्राचीन भारतीय आचार्यों ने नागरिकों को प्रत्यक्ष रूप से तथा स्पष्ट रूप से कोई अधिकार नहीं सौंपा था। इन्होंने जहां राजा के कर्त्तव्यों का उल्लेख किया है उसी से हम जनता के अधिकारों का थोड़ा अनुमान मात्र लगा सकते हैं। नागरिकों को

प्राचीन भारत में जो अधिकार प्रदान किये गये थे उनमें से प्रमुख निम्नलिखित थे—

१. धार्मिक स्वतन्त्रता;
२. व्यवसाय करने की स्वतन्त्रता;
३. संगठन बनाने की स्वतन्त्रता;
४. शिक्षा प्राप्त करने की स्वतन्त्रता;
५. व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार आदि।

इन सभी अधिकारों एवं स्वतन्त्रताओं का संक्षेप में उल्लेख हम पहले भी कर चुके हैं। यहां केवल यह देखना हमारा अभीष्ट है कि इन अधिकारों एवं स्वतन्त्रताओं के परिणामस्वरूप समाज व्यवस्था पर क्या प्रभाव हुआ एवं सामाजिक व्यवस्था ने इन पर क्या प्रभाव डाला। प्राचीन भारत के लोग व्यक्ति की अपेक्षा समाज को अधिक महत्व देते थे। समाज के लाभ के लिए बलिदान करने वाले व्यक्तियों को गौरव प्रदान किया जाता था तथा उनके सम्मान एवं प्रशंसा में अनेक गीत गाये जाते थे। दूसरी ओर व्यक्ति लाभ एवं स्वार्थ के पीछे समाज का अहित करने वालों की निन्दा की जाती थी। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक ही है कि व्यक्ति को अधिकार एवं स्वतन्त्रतायें प्रदान करते समय सामाजिक हित को प्रमुखता प्रदान की जाती।

व्यक्ति को जो अधिकार प्रदान किया गया था उस पर समाज हित की दृष्टि से सीमायें भी लगाई गई थीं। इन सीमाओं का उल्लघन करने पर व्यक्ति अधिकार का भागीदार नहीं रह जाता था। उदाहरण के लिए हम व्यक्ति की धार्मिक स्वतन्त्रता को ले सकते हैं। प्राचीन भारत में व्यक्ति को विश्वास की स्वतन्त्रता प्रदान की गई तथा उसे यह अधिकार दिया गया कि अपनी इच्छा के अनुकूल धर्म का अनुसरण कर सके। इस अधिकार का प्रयोग वह इस रूप में नहीं कर सकता था कि समाज के हितों को उससे ठेस पहुंचे। व्यक्ति ऐसे विश्वास नहीं अपना सकता था जो सामाजिक परम्पराओं एवं रीति–रिवाजों के विपरीत हों और इस प्रकार समाज व्यवस्था के लिए एक खतरा बन जायें।

यही बात व्यक्ति के संगठन बनाने के अधिकार पर भी लागू होती है। वैसे प्रत्येक व्यक्ति को यह स्वतन्त्रता प्रदान की गई थी कि वह अपने लक्ष्यों की प्रगति के लिए विभिन्न प्रकार के संगठन बना सके किन्तु इन संगठनों का रूप एवं लक्ष्य ऐसा नहीं होना चाहिए कि समाज के हितों पर चोट करने लगे। चोरों अथवा डकैतों के संगठन की अनुमति नहीं दी जा सकती थी। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति संगठित होकर समाज की किसी स्थापित परम्परा का अतिक्रमण करना चाहे अथवा राज्य, धर्म एवं किसी भी अन्य संस्था का विरोध करना चाहे तो उसे ऐसा करने की अनुमति प्रदान नहीं की जायेगी।

व्यक्ति के अन्य अधिकारों एवं स्वतन्त्रताओं पर भी इस प्रकार के प्रतिबन्ध लगे हुए थे। इन नागरिक अधिकारों को राज्य की मान्यता प्राप्त होती थी। वैसे यदि गहराई से अध्ययन किया जाय तो पायेंगे कि इनका

मूल स्रोत राज्य नहीं होता था वरन् समाज और उसकी परम्परायें होती थी। जिन अधिकारों को समाज ने अपने व्यवहार में काम लिया वह ही अधिकार व्यक्ति को प्राप्त हो जाते थे तथा राज्य भी उनकी रक्षा का दायित्व अपने ऊपर ले लेता था।

राज्य के अतिरिक्त प्राचीन भारत में व्यक्ति के अनेक समुदाय स्थित थे जो कि उसके विभिन्न प्रकार के लक्ष्यों को प्राप्त करने में सहायता प्रदान करते थे। ये समूह अपनी व्यवस्था के लिए स्वयं नियम बना सकते थे। इनको 'समय' अथवा 'संविद' का नाम दिया जाता था। राज्य को यह उत्तरदायित्व सौंपा गया कि समूहों ने अपना जो संविधान बनाया है उसका सदस्यगणों से पालन करायें तथा उल्लंघन करने वालों को दण्ड दे। इन संघों के ऊपर एक सीमा यह लगाई गई थी कि इनके संविधान में कुछ ऐसा न हो जो कि उनके सदस्यों के धर्म अथवा परम्पराओं के विरुद्ध हो। किसी भी लोभ के कारण यदि व्यक्ति अपने विभिन्न संघों के संविधान का उल्लंघन करे तो उसे राज्य से बाहर निकालने तक की बात कही गई है। ये संस्थायें एवं संघ अपनी कार्य समितियां भी नियुक्त करते थे जो कि धर्म के जानने वाले सच्चरित्र एवं लाभ विहीन व्यक्तियों से पूर्ण होती थी। ऐसी स्थिति में यह आशा की जाती थी कि ये संघ धर्म-विरोधी कार्य नहीं करेंगे और अच्छे साधनों का प्रयोग करते हुए धर्म की रक्षा का हर सम्भव प्रयास करेंगे। ये विभिन्न समूह अपने सदस्यों से धन एकत्रित करते थे। राज्य का कार्य था कि वह इस धन की रक्षा करे तथा उपयुक्त संस्थाओं के पास इसे रखने कि व्यवस्था करे। राज्य द्वारा इन सभी संघों के साथ समान व्यवहार करने को कहा गया। शिक्षा, संस्कृति, आर्थिक जीवन, धर्म दैनिक कार्य आदि के लिए बनाये गये संगठनों को मान्यता देना एक धार्मिक विचार था और राज्य द्वारा उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती थी।

राज्य द्वारा किसी भी संघ के आन्तरिक मामलों में उस समय तक हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता था जब तक कि वह समाज विरोधी कार्य न करे। समाज विरोधी कार्य करने पर राज्य उस संघ को समाप्त कर सकता था। राज्य द्वारा इन संघों को उनके पारस्परिक संघर्ष निपटाने की शक्ति भी प्रदान की जा सकती थी। विभिन्न संघों के लोगों की व्यक्तिगत समस्याओं को समझना प्रत्येक के बस की बात नहीं थी। अतः यही उपयुक्त माना गया कि राजा द्वारा इनके सम्बन्ध में निर्णय न किया जाय तथा स्वयं इन संघों को ही निर्णय लेने का अधिकार दे दिया जाय। यदि परिस्थिति वश राजा को निर्णय करना भी पड़े तो वह इन संघ के लोगों से उपयुक्त परामर्श करने के बाद में ऐसा करे।

नागरिक अधिकारों के सम्बन्ध में एक बात यह उल्लेखनीय है कि प्राचीन भारत में जहां कहीं भी संघ व्यवस्था स्थित थी वहां व्यक्ति को समान समझा जाता था। महाभारत में कहा गया है कि गण में कुल तथा जाति के विचार से समानता होती है। इसी समानता को आधार बना कर हिन्दू प्रजातन्त्रों में राज्य के कार्यों में भी समानता का व्यवहार किया गया।

राज्य और नागरिकता
[State and Citizenship]

प्राचीन भारतीयों ने राज्य और प्रजा के बीच कोई असमानता अथवा भिन्नता नहीं मानी थी। उन्होंने दोनों के बीच किसी प्रकार के विरोध का दर्शन नहीं किया और सम्भवतः यही कारण है कि उन्होंने इन दोनों के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों की स्पष्ट रूप से सीमा निर्धारित करना आवश्यक नहीं समझा। राज्य का मुख्य लक्ष्य वही माना गया था जो कि व्यक्ति के जीवन का प्रमुख लक्ष्य था। लोक तथा परलोक में सुख-सम्पन्नता की अवगति कराने के लिए राज्य द्वारा प्रयास किया जाता था। प्राचीन ग्रथों में यह कहा गया है कि यदि राज्य अपने कर्त्तव्यों का पालन न करे तो क्या हो जायगा और यदि जनता भी अपने कर्त्तव्यों का पालन न करे तो क्या हो जायगा। उनमें यह नहीं बताया गया है कि राजा एवं प्रजा दोनों ही अपने कर्त्तव्यों का पालन न करें तो क्या करना चाहिये। सम्भवतः इसका कारण यह हो सकता हैं कि उनको पूरा विश्वास था कि ये दोनों ही अपने अपने कर्त्तव्यों का पालन करेंगे।

प्राचीन भारतीय राज्यों में नागरिकता की मान्यता पर विचार करते समय एक मुख्य प्रश्न हमारे सामने यह उपस्थित होता है कि क्या उस समय नागरिक व अनागरिक का भेद किया गया था? पाश्चात्य राजनीति का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि यूनानी नगर राज्यों के युग में नागरिकता नगर में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को प्रदान नहीं की जाती थी। नागरिकता केवल ऐसे ही लोगों को प्राप्त थी जो कि शासन के कार्यों में सक्रिय रूप से योगदान करते थे तथा कानून बनाने की प्रक्रिया आदि में भाग लेते थे। ऐसे लोगों की संख्या नगर में अधिक नहीं होती थी। अधिकांश लोग तो ऐसे होते थे जिनको नागरिकता प्राप्त नही थी तथा वे राजनीतिक अधिकारों से वंचित थे। ऐसे लोगों का स्तर दासों के बराबर होता था। प्राचीन भारत में हमको इस प्रकार की व्यवस्था प्राप्त नहीं होती है जहां कि राज्य के कुछ निवासियों को विशेषाधिकार सौंप दिये गये हो तथा कुछ को सामान्य नागरिक माना गया हो अथवा उनको दासों का सा स्थान प्रदान किया गया हो।

वैदिक काल के राजनीतिक जीवन का दर्शन प्रत्यक्ष रूप से कहीं नहीं हो पाता। कुछ एक मन्त्रों के द्वारा हम अनुमान लगा सकते हैं कि उस समय क्या व्यवस्था रही होगी, किन्तु इस अनुमान की सत्यता का कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता। वेदों में कुछ इस प्रकार का उल्लेख आता है कि प्राचीनकाल में राजा के कार्यों पर समिति जैसी संस्थाओं द्वारा नियन्त्रण रखा जाता था। इन समितियों को चुनने का अधिकार कितने लोगों को प्राप्त था यह स्पष्ट नहीं है; तो भी अनुमान किया जा सकता है कि उस समय इस प्रकार के कुछ विशिष्ट लोगों का एक वर्ग बन गया होगा। प्राचीन काल के गणराज्यों में एक ऐसा वर्ग भी रहता था जिसे उच्च अधिकार प्रदान किये जाते थे। इस

वर्ग के सम्बन्ध में कुछ अधिक जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी है कि इसे क्या अधिकार प्राप्त थे तथा साधारण जनता से उसका क्या सम्बन्ध था।

उसके बाद शासन में से ये समितियां विलुप्त हो गई तथा राज्य में समिति-निर्वाचक नागरिक एवं अनागरिकों के बीच भेद करने की समस्या ही न रही। ईसा से पांचसौ वर्ष पूर्व के इस युग में भारत के राजनैतिक पटल पर ग्राम, जिला एवं नगर पंचायत आदि का पर्याप्त विकास हुआ। इन संस्थाओं की कार्यवाही में सामान्य जनता की बात मानी जाती थी। ये संस्थायें निर्वाचन के आधार पर संगठित नहीं की जाती थीं वरन् इनमें अनुभव तथा उम्र के आधार पर सदस्यों को ले लिया जाता था। स्थानीय प्रशासन के विभिन्न निकायों का संगठन जिस रूप में किया जाता था उससे प्रजा के किसी भी वर्ग को विशेष अधिकार देने की आवश्यकता नहीं होती थी। अतः समाज का भी दो भागों में विभाजन नहीं किया जाता था।

परदेशियों को भी नागरिकता

प्राचीन भारत में परदेशियों तथा देशवासियों के बीच भेद नहीं किया जाता था। विदेशियों को भी राज्य का नागरिक बना लिया जाता था। इसके लिए यह आवश्यक था कि वे लोग राज्य के प्रति भक्ति भाव रखें तथा उसके हानि-लाभ में ही अपना भी हानि लाभ देखें। एक व्यक्ति का जन्म चाहे कहीं भी क्यों न हुआ हो यदि वह व्यक्ति राज्य के प्रति भक्तिभाव रखता है तो उसे नागरिकता प्रदान कर दी जायेगी। विभिन्न तथ्यों को देने के बाद डा० के० पी० जायसवाल ने बताया है कि "प्रजातन्त्रों में विदेशियों या बाहर वालों को भी नागरिकता के अधिकार प्रदान किये जाते थे।"[1]

भारत के विभिन्न भागों में रहने वाले लोगों के बीच एक आधारभूत एकता वर्तमान थी। एक भाग में रहने वाला व्यक्ति दूसरे भाग के रहने वाले व्यक्तियों को परदेशी नहीं मानता था। अल्तेकर महोदय के कथनानुसार "प्रान्तीय विभिन्नताओं का विकास धीरे-धीरे हो रहा था, पर वे इतनी प्रबल न हो पाई थीं कि देश के विभिन्न भागों में स्थापित स्वतन्त्र राज्य पड़ोसी राज्य के निवासियों को परदेशी मानकर उन पर रोक-टोक लगाते।"[2]

भारत में रहने वाले विदेशियों पर भी प्रवेश आदि के सम्बन्ध में कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया। भारत के कुछ राज्यों में विदेशी तो शासक पद पर भी आसीन थे। पश्चिमी भारत के राष्ट्रकूट राजाओं ने मुसलमानों को अपने [illegible] ने के लिए [illegible] भारतीयों [illegible] वदेशियों के [illegible] के अतिरिक्त

1 डा. के. पी. जायसवाल, वही पुस्तक, पृष्ठ—163
2. अनन्त सदाशिव अल्तेकर, वही पुस्तक, पृष्ठ—50

उनमें उदारता की भावना का भी बाहुल्य था। वे समस्त विभिन्नताओं को अपने में समाविष्ट कर लेने की धुन में थे। यही कारण है कि यवन, शक कुषाण एवं हूण आदि जो लोग आक्रमणकारी के रूप में यहां आये वे सभी यहां के समाज में घुल-मिल गये। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक ही था कि हिन्दू कानून शास्त्र वेत्ता विदेशियों के लिए भी एक ही प्रकार की व्यवस्था करते।

नागरिकों की स्थिति

प्राचीन भारत में नागरिकों की स्थिति कुछ इस प्रकार की थी कि उनको न तो अधिकार सम्पन्न कहा जा सकता है और न अधिकार विहीन ही। प्राचीन भारत के लोगों के पास मत देने के अधिकार का तो प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि उस समय कानून की रचना जनता के प्रतिनिधियों द्वारा नहीं की जाती थी वरन् धर्म के द्वारा इनका निश्चय किया जाता था। आधुनिक समय में नागरिकों का एक अन्य अधिकार यह माना जाता है कि उनको उन्नति के समान अवसर प्रदान किये जायें। यह अधिकार भी प्राचीन काल में सम्भव नहीं था क्योंकि जाति प्रथा का प्रभाव होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति केवल वंश परम्परागत प्राप्त व्यवसाय को सम्पन्न करने का ही अवसर प्राप्त कर सकता था। जाति व्यवस्था के आधार पर प्राचीन भारतीय राज्य को दोष देने का कई विचारकों के द्वारा विरोध किया गया है। उनका कहना है कि जाति के आधार पर व्यवसाय का निर्धारण राज्य द्वारा नहीं किया जाता था वरन् समाज की परम्पराओं एवं व्यवहार के आधार पर किया जाता था। वैसे प्रारम्भ में जाति व्यवस्था के नियम इतने कठोर नहीं थे। प्रत्येक व्यक्ति अपना व्यवसाय चुनने के लिए स्वतन्त्र था। राज्य के द्वारा किसी व्यक्ति को एक व्यवसाय विशेष चुनने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता था। बाद में जाति के अनुसार ही वृत्ति का प्रश्न प्रमुख बन गया तथा स्मृति ग्रन्थों द्वारा इस बात पर जोर दिया जाने लगा कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी जाति के अनुसार ही व्यवसाय करे। इस प्रकार धर्म ग्रन्थों एवं समाज के नियामकों द्वारा समाज में वह व्यवस्था की गई जिसने समानता के अवसरों को कम कर दिया। प्रत्येक व्यक्ति को उसकी इच्छा एवं योग्यता के अनुसार व्यवसाय चुनने की स्वतन्त्रता को मर्यादित कर दिया। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि असमानता की स्थापना करने का दायित्व पूरी तरह से समाज पर ही था राज्य पर नहीं था। समाज की प्रथायें देवताओं एवं ऋषियों द्वारा बनायी जाती थीं न कि राज्य के द्वारा। राज्य से तो यह कहा जाता था कि वह इनका पालन कराये। राज्य द्वारा उसी व्यवस्था को लागू कराया जाता था जिसे समाज की स्वीकृति प्राप्त है।

कानून के सामने सभी नागरिकों को समान नहीं समझा जाता था। ब्राह्मणों का समाज में अधिक आदर था। उनको श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता था तथा यह मान्यता थी कि ब्राह्मण के कार्यों का निर्धारण ईश्वर द्वारा किया गया है। उनमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप करना उपयुक्त नहीं माना गया। जो लोग ऐसा करेंगे वे निश्चय ही नर्क को जायेंगे। कानून भी ब्राह्मणों को

शूद्र विशेष स्तर प्रदान करता था। एक ही अपराध के लिए अन्य जातियों की अपेक्षा ब्राह्मणों को कम दण्ड दिया जाता था। स्मृतियों में यह कहा गया है कि एक ही अपराध को यदि शूद्र और ब्राह्मण दोनों करते हैं तो ब्राह्मण को उसका पाप अधिक लगेगा और उसे परलोक में अधिक दण्ड भुगतना पड़ेगा। इतने पर भी उनके लिए इहलोक में अधिक दण्ड का विधान नहीं किया गया था यद्यपि भारतीय ग्रन्थों में ब्राह्मणों के गौरव को बढ़ा चढ़ा कर लिखा गया है। अमल में उनको इतने विशेष अधिकार प्राप्त नहीं थे। व्यवहार में उनको शारीरिक दण्ड से मुक्त नहीं किया गया था। अर्थशास्त्र में कहा गया है कि यदि ब्राह्मण राजद्रोह का अपराध करे तो उसका शिरच्छेद न किया जाये। इसके स्थान पर उसे डुबा कर मारा जाये। इस प्रकार दण्ड का तरीका अलग था किन्तु दण्ड का परिणाम एक जैसा ही था।

राज्य अपने नागरिकों से यह भी अपेक्षा करता था कि वे उसकी आज्ञाओं का पालन करें। जब तक वे ऐसा नहीं करते तब तक शासन की व्यवस्था संचालित नहीं की जा सकती। जब कभी राज्य पर संकट आता था तो जनता से लड़ने की तथा लड़ कर अपने प्राण तक देने की आशा की जाती थी। बाद में जाति व्यवस्था के कठोर बनने पर रक्षा का कार्य क्षत्रियों को सौंप दिया गया। जो क्षत्रिय युद्ध भूमि से लौट आता था वह निन्दनीय माना जाता था। अन्य जातियों को युद्ध के अतिरिक्त उद्योग, धंधे एवं व्यवसाय आदि करने के लिए कहा गया। अपने निवास स्थान के प्रति प्राचीन भारतीयों के मन में बड़ा प्रेम था। सभी लोग दुश्मन का मुकाबला करने के लिए शस्त्र सम्भाल लेते थे।

राष्ट्रवाद की भावना का उस समय तक विकास नहीं हो पाया था। प्राचीन ग्रन्थों ने राजा के लिए ही प्राण न्योछावर करने को कहा है। उस समय देश प्रेम अथवा राज्य प्रेम का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि विभिन्न छोटे छोटे राज्यों के बीच धर्म, संस्कृति, तथा भाषा आदि का अधिक अन्तर नहीं था। राज्यों के बीच जो अन्तर था वह मुख्य रूप से भौगोलिक या प्राकृतिक था अथवा उनके शासक अलग अलग थे। वैसे उनके बीच अन्य सभी आधारों पर एक रूपता वर्तमान थी। राज्यों के बीच जो संघर्ष हुआ करते थे उनका आधार राजाओं के पारस्परिक संघर्ष एवं प्रतिस्पर्धा हुआ करते थे, न कि व्यक्तियों के राष्ट्रीय भाव। दूसरे शब्दों में उस समय लोगों के दिल में संकुचित प्रान्तीयता की भावना नहीं थी। इस भावना के न होने पर ही उस समय हर प्रकार की प्रगति सम्भव हो सकी। यदि ऐसा न होता और भारत के विभिन्न राज्यों के लोग अपनी छोटी-छोटी रियासतों को ही सब कुछ मान बैठते तो देश भर में रक्तपूर्ण क्रान्ति का विकास हो जाता।

प्राचीन भारत के लोग पूरे भारत को ही अपना देश समझते थे। भारत की संस्कृति, धर्म एवं स्वतन्त्रता पर किसी भी प्रकार का संकट उत्पन्न होने पर प्रत्येक क्षेत्र के निवासी उसे अपना संकट मानते थे। विदेशी आक्रमणकारियों का विरोध करने के लिए भारतीयों में जो आधारभूत एकता समय-समय पर प्रकट हुई थी उसके उदाहरण इतिहास में प्राप्त होते हैं।

अध्याय की पुनरीक्षा
(A Review of the Chapter)

भारतीय राज्य सच्चे अर्थों में एक लोक कल्याणकारी राज्य था। यहां राज्य को समाज सेवा का एक साधन माना गया था। यह अपने आप में कोई साध्य नहीं था। राज्य का जन्म इसीलिए हुआ कि वह व्यक्ति के कल्याण का प्रयास कर सके। राज्य का औचित्य भी यही माना गया कि वह व्यक्ति की प्रगति के लिए निषेधात्मक एवं सकारात्मक दोनों ही प्रकार से प्रयास कर सके।

व्यक्ति एवं राज्य के बीच का सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए भारतीय आचार्यों ने दोनों के कर्त्तव्यों का विषद रूप में वर्णन किया, किन्तु उन्होंने राजा अथवा नागरिकों के अधिकारों का उल्लेख नहीं किया है। राजा के कर्त्तव्यों को देख कर ही यह अनुमान लगाया जाता है कि नागरिकों के क्या अधिकार रहे होंगे। इन अधिकारों को राजा केवल मान्यता प्रदान करता था तथा लागू कराता था किन्तु वह इनका स्रोत नहीं था। ये समाज की प्रथाओं एवं परम्पराओं पर आधारित थे।

प्राचीन भारत में नागरिकता की भी एक विशेष धारणा थी। यहां नागरिकता के आधार पर निवासियों के बीच भेद नहीं किया गया जैसा कि प्राचीन यूनान एवं रोमन साम्राज्य में किया जाता था। भारतीयों की उदार प्रकृति एवं सहिष्णु संस्कृति ने उनको विदेशी लोगों का सम्मान करने की भावना प्रदान की। यहां विदेशियों को भी नागरिकता प्रदान की जा सकती थी। राज्य, व्यक्ति एवं समाज के पारस्परिक सम्बन्धों का भारतीय रूप अपने आप में विशेष था जो कि समय की आवश्यकताओं एवं परिस्थितियों से प्रभावित था।

५

सम्पत्ति एवं दण्ड की संस्थायें

[INSTITUTIONS OF PROPERTY AND PUNISHMENT]

प्राचीन भारतीय राजनैतिक विचारो एव सस्थाओं के इतिहास में सम्पत्ति और दण्ड की सस्थाओं का एक महत्वपूर्ण स्थान है। सम्पत्ति का महत्व व्यक्तिगत एव सामाजिक जीवन के सचालन के लिए बहुत प्रारम्भ से ही स्वीकार कर लिया गया था। प्राचीन भारतीय विचारकों ने व्यक्तिगत सम्पत्ति को मान्यता प्रदान करते हुए उसकी सुरक्षा के लिए विभिन्न तरीकों का वर्णन किया। उनके अनुसार राज्य की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य व्यक्तिगत सम्पति की रक्षा करना था। अराजकता की स्थिति म किसी भी व्यक्ति की कोई सम्पत्ति सुरक्षित नहीं रह सकती थी और इसलिए व्यक्ति ने राज्य में रहना स्वीकार किया। राज्य के न होने पर किसी की सम्पत्ति को कोई भी छीन सकता था। महाभारत के शान्ति पर्व के अनुसार तो सम्पति की रक्षा की दृष्टि से बदमाश और गुण्डे लोग भी राज्य का समर्थन कर सकते हैं। इसका कारण यह है कि यदि दो गुण्डों ने मिलकर एक व्यक्ति विशेष की सम्पत्ति छीन ली तो कुछ समय बाद उनसे सबल गुण्डे मिल कर पहले वालों की सम्पत्ति छीन सकते थे।

सम्पत्ति की रक्षा का कार्य राज्य दण्ड के माध्यम से करता था। राज्य के दण्ड का भय समस्त जनता को उसकी मर्यादा मे बनाए रखने का काम करता था। दण्ड का महत्व प्राय सभी प्राचीन भारतीय ग्रन्थों मे वर्णित है। बि बी के सरकार ने इस सम्बन्ध में निष्कर्ष रूप मे एक सूत्र निकाला है जिसके अनुसार 'यदि दण्ड नहीं है तो राज्य भी नहीं है।'[1] दण्ड के न रहने पर समाज म उस मात्स्य न्याय की स्थापना हो जाती है जिसे कि हॉब्स ने प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) का नाम दिया है। जिस प्रकार दण्ड के न रहने पर व्यक्तिगत सम्पत्ति की सस्था नहीं रह पाती उसी प्रकार धर्म भी उस समाज मे कायम नहीं रहता। असल मे धर्म और सम्पत्ति का आधार दण्ड होता है।

---

1 B K Sarkar, Op cit, P 193

सम्पत्ति की संस्था
[The Institution of Property]

भारतीय ग्रन्थों ने राज्य का एक मुख्य कार्य सम्पत्ति की रक्षा एवं वृद्धि को माना है। उनके अनुसार सम्पत्ति का अर्थ भोग और ममत्व से था। ये दोनों ही तत्व राज्य के न रहने पर लोप हो जाते थे। महाभारत, मनुस्मृति एवं शुक्रनीति आदि ग्रन्थों ने यह माना है कि सरकार स्वभाव वश दमनकारी होती है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि स्वयं मनुष्य की प्रकृति पापपूर्ण है। कोई भी व्यक्ति उस समय तक अपने धर्म का पालन नहीं करता जब तक कि उसे ऐसा करने के लिए मजबूर न कर दिया जाए। राज्य के माध्यम से व्यक्ति को मजबूर किया जाता है कि वह दूसरों की सम्पत्ति की ओर बुरी नजर से न देखे और देखे भी तो कम से कम व्यवहार में वह मर्यादित बना रहे। सम्पत्ति के लिए हिन्दू ग्रन्थों से स्थान-स्थान पर ममत्व शब्द का प्रयोग किया गया है। मि. बी. के. सरकार ने ममत्व और धर्म को हिन्दू राजनैतिक विचारों की दो मौलिक श्रेणियां माना है। जब मनुष्य अपनी स्वेच्छा से कार्य करने लगते है और उन पर राज्य के दण्ड का कोई अंकुश नहीं रहता तो सम्पत्ति की संस्था भी अपना अस्तित्व खो देती है। सम्पति की संस्था का अर्थ केवल यह ही नहीं है कि लोगों के पास सम्पत्ति हो और वे उसका उपभोग करें वरन् इसका वास्तविक अर्थ यह है कि उनका उस पर स्वामित्व होना चाहिए। राज्य के न रहने पर भी लोगों के पास सम्पत्ति रह सकती है। वे उस का उपभोग भी कर सकते हैं किन्तु वे उसे अपना नहीं कह सकते क्योंकि किसी को निश्चित रूप से यह ज्ञात नही होता कि कोई भी वस्तु कितने समय तक उसके पास रहेगी। कोई सबल व्यक्ति कभी भी अन्य की प्रिय वस्तु को छीन सकता था। किसी भी वस्तु को अपना कहने की भावना राज्य के होने पर ही आ सकती है। राज्य के हाथ में जो दण्ड का अस्त्र सौंपा गया उसने व्यक्ति के मानस में सम्पति की चेतना जागृत की। इस धारणा के अनुसार यह माना जाने लगा कि सवारियां, हीरे, जवाहरात, आभूषण एवं उपभोग की अन्य वस्तुओं का उपयोग उन्हीं के द्वारा किया जाना चाहिये जो कि उनके स्वामी हैं। एक व्यक्ति की पत्नि, बच्चे और उसका भोजन दूसरों के द्वारा नहीं छीना जाना चाहिए। भय के माध्यम से हर व्यक्ति अपने व्यवहार पर इन सीमाओं को लगा कर चलता है।

पश्चात्य विचारक रूसो के अनुसार भी स्वामित्व एवं उपभोग के बीच पर्याप्त अन्तर होता है। सामाजिक समझौते के सिद्धान्त में उन्होने यह बताया कि प्राकृतिक अवस्था में किसी व्यक्ति के पास यदि कोई वस्तु होती थी तो उसके स्वामित्व का आधार केवल शक्ति था और उस पर अधिकार की बौद्धिकता केवल प्रथम स्वामित्व था अर्थात जिसने जिस चीज पर पहले अधिकार कर लिया वह उसी की मानी जाती थी और उसे अपना बनाए रखने के लिए वह शक्ति की सहायता से काम लेता था। सच्चा स्वामित्व तो केवल नागरिक समाज में ही सम्भव हो सका।

सम्पत्ति का लौकिक रूप

भारतीय आचार्यों ने राजनीति एवं जीवन के विभिन्न पहलुओं पर आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करते हुए भी सम्पत्ति को एक भौतिक अथवा लौकिक तत्व माना। गीता में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जो लोग ज्ञान मार्ग को अपनाना चाहते हैं उन्हें सम्पत्ति का अर्जन नहीं करना चाहिए। भारतीय ग्रन्थों में प्लाटो की भांति सम्पत्ति के साम्यवाद की बात नहीं की गई है। वर्ग या जाति के आधार पर सम्पत्ति के स्वामित्व में किसी प्रकार का अन्तर नहीं किया गया है। मनु ने यह स्पष्ट रूप से कहा है कि खेत का स्वामी उसको माना जायगा जिसने कि जंगल को साफ किया है। इसी प्रकार हिरन उसी का माना जायगा जिसके पहले तीर से वह घायल हुआ है।[1] इस विचार को प्राचीन काल के व्यक्तिवाद का एक रूप माना जा सकता है। सम्पत्ति के स्वामित्व को धार्मिक दृष्टि से सहारा दिया गया। धर्म ग्रन्थों ने चोरी, छीना झपटी या अन्य किसी प्रकार से किसी की सम्पत्ति के हरण को पाप की संज्ञा प्रदान की और इस प्रकार के पापों के लिए परलोक में प्राप्त होने वाले विभिन्न दण्डों की व्यवस्था की। व्यक्तिगत सम्पत्ति का विचार प्रारम्भ होते ही मनुष्य की भावनाएं भय से आकुल होने लगीं। दण्ड का सहारा लेकर राज्य ने इस भय को दूर करने का प्रयास किया। महाभारत में स्पष्ट उल्लेख है कि जहां दण्ड रक्षा करता है वहां लोग अपने दरवाजे खोल कर बिना किसी शंका के सो सकते हैं। इसी प्रकार स्त्रियां भी पूरे आभूषणों से सुसज्जित होकर बिना किसी पुरुष को साथ लिए निडर होकर घूम सकती हैं। व्यक्तिगत सम्पत्ति के सम्बन्ध में सुरक्षा की यह भावना सभ्य समाज की प्रथम आवश्यकता मानी गई है। जंगली जानवरों और पक्षियों के कानून के स्थान पर दण्ड के माध्यम से सभ्य जीवन का भी गणेश हुआ।

व्यक्तिगत सम्पत्ति और महिलाएं

प्राचीन भारत में सम्पत्ति के उत्तराधिकार और बटवारे की प्रथाएं प्रचलित थीं। महिलाओं को उनके पति की सम्पत्ति का स्वामी माना जाता था। उनके कानूनी स्तर के सम्बन्ध में जो मूतवाहन ने बताया है कि प्राचीन आचार्यों के अनुसार तो स्त्री धन अर्थात् महिलाओं की सम्पत्ति को स्पष्ट रूप से बताया नहीं जा सकता किन्तु फिर भी इतना स्पष्ट है कि एक स्त्री के द्वारा खरीद के द्वारा, बटवारे के द्वारा, उत्तराधिकार में या अन्य किसी प्रकार से यदि किसी सम्पत्ति पर स्वामित्व किया जाता है तो उस पर पति का कोई अधिकार नहीं माना गया था। गौतम के न्याय शास्त्र में सम्पत्ति की प्राप्ति के पांच तरीके बताए गए हैं जबकि मनु में इसके सात तरीकों का वर्णन किया गया है।

भारतीय समाज में प्रारम्भ से ही यह परम्परा रही है कि पति के मर जाने के बाद पुत्रविहीन विधवा का अपने पति की सम्पत्ति पर पूरा

---

1. मनुस्मृति, IX, 44

अधिकार हो जाता है। वह अपने जीवन भर उस सम्पत्ति का उपभोग करती है। पति की सम्पत्ति पर स्त्रियों को यह अधिकार कुछ विशेष परिस्थितियों में ही दिया गया। गुरुदास बनर्जी के मतानुसार महिलाओं के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों को भारत में जितनी जल्दी मान्यता दी गई उतनी जल्दी और कहीं नहीं दी गई। केवल कुछ प्राचीन कानूनी व्यवस्थाओं में ही इन अधिकारों को इतने विस्तार के साथ रखा गया। कुछ मामलों में तो महिलाओं को अपने स्त्री धन पर पूर्ण अधिकार होता था।

वितरण की पद्धति

सम्पत्ति के उत्पादन के तरीकों में समय के अनुसार परिवर्तन होते रहे हैं उसी प्रकार उसके वितरण की व्यवस्था भी समय-समय बदलती रही। वैदिक काल में और उसके परवर्तीय काल में स्थित वर्ण व्यवस्था धीरे-धीरे मिटती जा रही थी। जो श्रम विभाजन पहले वर्ण व्यवस्था के आधार पर किया गया था, बदलती हुई परिस्थितियों में वह कायम न रह सका। खाली स्थानों पर बस्तियां बसने लगी थीं और लोगों में अपना-अपना अधिकार जताने के लिए परस्पर युद्ध होने लगे थे। अधिकार लिप्सा की इस भावना ने लूट-मार और संघर्षों की संख्या में वृद्धि कर दी। कौटिल्य के समय में आकर कुछ ऐसी परम्परा बन गई थी कि युद्ध में जिन शत्रुओं को बन्दी बना लिया जाता था उनमें से कुछ को वीरता, सौन्दर्य या कलाओं के कारण गण में शामिल कर लिया जाता था। इस प्रकार वे पूरी तरह से गण के सम्बन्धी और उसके सदस्य बन जाते थे। अन्य जिन लोगों को उस समय की छोटी अर्थ व्यवस्था में क्रियाशील नहीं बनाया जा सकता था उनको मार दिया जाता था। कुछ समय बाद उन्हें जान से मारने की यह परम्परा बदली। उनके स्थान पर अग्नि में घी की आहुति डाली जाती थी और उनको छोड़ दिया जाता था, अथवा उन्हें दास बना दिया जाता था। अर्थ व्यवस्था में धीरे-धीरे जटिलताएं आने लगीं और समय के अनुसार श्रम का महत्व बढ़ा। ऐसी स्थिति में युद्ध में पराजित लोगों को मारने या भगाने की अपेक्षा उन्हें दास बनाकर रखा जाता था। मि० डांगे के कथनानुसार व्यक्तिगत सम्पत्ति और वर्ग समाज के उदय के साथ-साथ आर्यों ने समाज ने यह अनुभव किया कि आचार शास्त्र का जो नियम सामूहिकतावादी व्यवस्था में सभी के हितों को साधता हुआ, भुखमरी से सबकी रक्षा करने, और साम्य संघ के हर सदस्य के बीच एक समान वितरण की शर्त था; वह अपने विरोधी रूप में प्रकट हुआ। इस नियम ने उत्पीड़न, एकाधिपत्य तथा थोड़े से शोषकों के पास सम्पत्ति के संचय में सहायता प्रदान की और बहुसंख्यक मजदूरों, दुर्बलों, रोगियों, वृद्धों, दरिद्रों आदि के लिए भुखमरी का कारण बन गया।

सम्पत्तिविहीन वर्ग

प्रारम्भ में यज्ञ फल के द्वारा जो उत्पादन होता था उसका उपभोग सभी व्यक्ति समान रूप से करते थे। किन्तु बाद में उच्च वर्ग के लोगों ने ही उस पर एकाधिकार कर लिया। धीरे-धीरे समाज स्पष्ट रूप से दो भागों में

विभाजित हो गया एक ओर पूंजीपति और दूसरी ओर निर्धन या सर्वहारा वर्ग के लोग। दोनों के बीच की असमानता यहां तक बढ़ी कि लोग भूख से मरने लगे। ऋग्वेद में एक स्थान पर यह आता है कि 'क्या ईश्वर के हाथों में मनुष्य के लिए एक मात्र दण्ड भूख ही है ? अगर देवता की यह इच्छा है कि गरीब लोग भूख से मरें तो धनी लोग अमर क्यों नहीं हैं।"[1]

वैदिक काल में, जैसा कि ऋग्वेद के ही एक अन्य श्लोक से मालूम होता है, धन्धे और रोजगारों की स्थिति अधिक अच्छी न थी। एक स्थान पर कहा गया है "हमारे पास अनेक काम, अनेक इच्छाएं और अनेक संकल्प हैं।" बढ़ई की कामना आरे की आवाज सुनना है; वैद्य रोगी के कराहने की आवाज सुनने की अभिलाषा रखता है, ब्राह्मण को यजमान की अभिलाषा है। मैं एक गायक हूं, मेरा बाप वैद्य है, मेरी मां अन्न कूटती है। जिस तरह से चरवाहे गायों के पीछे दौड़ते हैं हम लोग उसी तरह से धन के पीछे दौड़ रहे हैं।"[2] इस प्रकार के उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक काल में भी धन, सम्पत्ति का सारा उत्तराधिकार केवल कुछ ही लोगों ने हड़प लिया था और बाकी का सारा समाज आजीविका के लिए तड़फ रहा था। जन सामान्य की इस व्यापक कठिनाई ने समाज में एक क्रांति को जन्म दिया। दास प्रथा के आधार पर जिस व्यक्तिगत सम्पत्ति की संस्था को व्यवस्थित किया गया था वह अब धीरे-धीरे समानता और स्वाधीनता के आधार पर निर्मित नई व्यवस्था के आगे ध्वस्त होने लगी।

प्राचीन भारत की अर्थ व्यवस्था ने उस समय की राजनीति पर पर्याप्त प्रभाव डाला। व्यक्तिगत सम्पत्ति के परिणाम स्वरूप ही साम्य संघ के परिवार और घर आदि छिन्न-भिन्न होते गए। पिता के अधिकारों की अधिकता के कारण परिवार में माता के अधिकार नगण्य होते गए। इसके परिणाम स्वरूप पति-पत्नि एवं माता तथा पुत्रों के बीच विरोध भाव पैदा हो गए। उस समय उत्पादन का अधिकांश कार्य निर्धन वैश्यों एवं शूद्रों द्वारा मिलकर किया जाता था। सम्पत्ति का केन्द्रीकरण ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों के हाथों में हो गया था। इन दोनों वर्गों ने मिलकर वैश्यों की दशा अत्यन्त दयनीय बना दी। गरीबी एवं अभाव की दशा में वे स्वयं को विजित दासों के साथ एकाकार करते जा रहे थे। मेहनत करके जीवन यापन करने वाले वर्ग का शोषण होने लगा और इसके परिणामस्वरूप धीरे-धीरे शहरों तथा गांवों के बीच अन्तर की खाई बढ़ने लगी। ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों को यह अंदेशा होने लगा कि कहीं श्रमिक वर्ग के लोग उनकी आर्थिक, राजनैतिक एवं सामाजिक शक्तियों को अपने हाथों में न ले लें। दो वर्गों के मध्यस्थित विरोध, वैमनस्य एवं क्रांति ने बाद में साम्राज्यों को जन्म दिया। महाभारत काल के बाद गणसंघ समाप्त होते चले गये।

---

1. ऋग्वेद, 10-117
2. ऋग्वेद, 9-112-1-3

उत्पादन व्यवस्था एवं राज्य

प्रारम्भिक भारतीय ग्रन्थों ने राज्य के कार्यों का वर्णन करते समय उत्पादन के साधनों पर राज्य के नियन्त्रण पर अधिक जोर नहीं दिया था। इस दृष्टि से व्यक्ति को बहुत कुछ स्वतन्त्रता प्रदान की गई थी ताकि वह अपनी बुद्धि एवं कुशलता के सहारे अच्छे से अच्छा और अधिक से अधिक उत्पादन कर सके। राज्य का काम केवल बाधाओं को दूर करना था। इस अर्थ में हम प्राचीन भारतीय राज्य को व्यक्तिवादी कह सकते हैं। यहां एक बात ध्यान में रखने योग्य यह है कि उत्पादन व्यवस्था में राज्य के सक्रिय हस्तक्षेप को यह मान कर नहीं रोका गया था कि राज्य एक आवश्यक बुराई है और इसके कार्यों को जितना कम से कम किया जा सके उतना ही अच्छा है। इसके विपरीत राज्य को एक अच्छाई एवं आवश्यकता के रूप में ग्रहण किया गया था। उत्पादन के क्षेत्र में राज्य के द्वारा व्यक्तिगत साहस कर्त्ता को अनेक प्रकार से प्रोत्साहन दिया जाता था।

ज्यों-ज्यों अर्थ व्यवस्था जटिल होती गई त्यों-त्यों उसके व्यक्तिगत स्वामित्व में कठिनाईयां पैदा होती चली गईं। जब ये उलझनें समाज की शांति एवं व्यवस्था के लिए खतरा पैदा करने लगीं तो राज्य ने इनका नियमन करना प्रारम्भ कर दिया। कौटिल्य के काल में आकर अर्थ व्यवस्था पर राज्य का नियन्त्रण एक महती आवश्यकता एवं वांच्छनीयता बन गया। कौटिल्य के वर्णन के अनुसार राज्य को मूल उद्योगो का संगठन एवं संचालन स्वयं करना चाहिये। मूल उद्योगों का अर्थ ऐसे उद्योगों से है जिन पर कि राज्य का अस्तित्व निर्भर है। इन उद्योगों में स्वयं राज्य को ही पूंजी लगानी चाहिए, उसी को इनका प्रबन्ध करना चाहिए तथा श्रम भी राज्य का होना चाहिए। मूल उद्योगों के अतिरिक्त जो उद्योग बच जायें उनको व्यक्तिगत स्वामित्व के लिए छोड़ दिया जाना चाहिए। ऐसे उद्योगों पर स्वयं जनता पूंजी लगाये तथा अपने ही प्रबन्ध एवं श्रम से इनका संचालन करे। इस प्रकार कौटिल्य ने एक मिश्रित अर्थ व्यवस्था को अपनाया जिसमें व्यक्तिगत स्वामित्व की व्यवस्था के साथ-साथ राज्य के स्वामित्व को भी स्थान दिया गया था। मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण को दूर करने की दृष्टि से भी उद्योगों पर राज्य के नियन्त्रण को आवश्यक माना गया था।

जिन उद्योगों, दस्तकारियों एवं व्यवसायों पर व्यक्तिगत स्वामित्व रहता था उन पर राज्य के नियन्त्रण एवं विनियमन की व्यवस्था कई एक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए की जाती थी। प्रथम यह है कि व्यापारी अपनी वस्तुओं को उचित कीमत पर बेचें, दूसरे उत्पादकों द्वारा अनुचित लाभ न लिया जाये और तीसरे मजदूरों को उनकी उपयुक्त मजदूरी प्राप्त हो जाये। यह व्यवस्था की गई कि व्यापारियों द्वारा स्थानीय रूप से उत्पादित वस्तुओं पर पांच प्रतिशत और बाहर से मंगायी गई वस्तुओं पर दस प्रतिशत से अधिक का लाभ न लिया जाये। सभी वस्तुओं को बाजार में लाकर बेचने का विधान था।

राज्य के नियन्त्रण में रखे जाने वाले उद्योगों में सबसे महत्वपूर्ण खनिज

उद्योग था। अर्थशास्त्र में खनिज पदार्थों की प्राप्ति के स्थानों के लक्षण बताये गये हैं जिनके आधार पर इनको खोजा जा सकता था। खानों से प्राप्त होने वाले पदार्थों के गुणों, लक्षणों एवं मूल्यों का अर्थशास्त्र में विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। कौटिल्य के कथनानुसार राज्य को सोने, चांदी सीसा, टिन, लोहा, मणि आदि के खानों पर स्वयं ही अधिकार रखना चाहिए। इन समस्त खानों का भली भांति संचालन करने के लिए एक आकराध्यक्ष की नियुक्ति की व्यवस्था की गई। यह अनेक अधीन सहायक राजकर्मचारियों की सहायता से अपने दायित्वों को पूरा करता था। प्रत्येक खान का अलग से एक आकराध्यक्ष होता था।

कौटिल्य का मत था कि कृषि उद्योग पर राज्य का नियन्त्रण रहना चाहिए जिस अधिकारी की अध्यक्षता में कृषि उद्योग का संचालन किया जाता था उसे सीताध्यक्ष का नाम दिया गया। यह अधिकारी राज्य की समस्त भूमि पर कृषि कराने के लिए उत्तरदायी था। कृषि की भांति सूत्र उद्योग का संचालन भी राज्य के नियन्त्रण में करने को कहा गया। कौटिल्य ने कृषि कार्य से सम्बन्धित विभिन्न समस्याओं के बारे में विस्तार से विचार किया है। बीज कैसा होना चाहिए किस बीज को किस प्रकार की भूमि में डालना चाहिए, किस समय बीज को बोया जाये, किस समय उसकी जुनाई की जाये, सिंचाई एवं खलिहानों की व्यवस्था किस प्रकार की हो, आदि-आदि विषयों पर विषद रूप से विचार प्रकट किये गये हैं। सूत्र उद्योग के संचालन के लिए एक सूत्रा-ध्यक्ष की नियुक्ति की व्यवस्था की गई।

उत्पादन व्यवस्था का प्रत्यक्ष रूप से प्रबन्ध एवं स्वामित्व करने के अतिरिक्त राज्य गैर सरकारी उद्योगों का नियमन एवं व्यवस्थापन भी करता था। विभिन्न औद्योगिक संघों एवं मजदूरियों का राज्य के द्वारा विनियमन किया जाता था। यदि कभी विभिन्न उद्योगों के स्वामियों एवं उनमें काम करने वालों के बीच किसी विषय पर विवाद पैदा हो जाये तो उसके निपटारे के लिये मध्यस्थ नियुक्त किये जाते थे। व्यापारियों तथा भूस्वामियों पर मजदूरों का शोषण न करने के लिए हर सम्भव प्रतिबन्ध लगाया गया था।

राज्यकृत भूमि अनुदान

यह एक सुविदित एवं मान्य तथ्य है कि राजा द्वारा विभिन्न व्यक्तियों एवं धार्मिक संगठनों को भूमि का दान किया जाता था। महाभारत युद्ध के दौरान जब कर्ण अर्जुन का संहार करना चाहता था तो उसने यह घोषणा की कि उसके शत्रु को जो भी पकड़ कर ला दे उसे वह सौ गांव इनाम में देगा। यदि अर्जुन को ढूंढकर लाने वाला व्यक्ति इतने से भी सन्तुष्ट न हो तो उसे वह इससे भी अधिक मूल्यवान चीज देगा। वह है ऐसे चौदह गांव जो कि सद्योग पूर्ण लोगों से भरपूर हैं, जो जंगल या नदी के नजदीक बसे हुए हैं जो सभी प्रकार के खतरों से दूर हैं, जिनकी सभी आवश्यकतायें पूरी हो जाती हैं। इसी प्रकार के और भी अनेक उदाहरण हमको इतिहास में प्राप्त हो जाते हैं जहाँ कि राजा प्रसन्न हो जाने के बाद अपने सेवकों, सैनिकों, सामान्य जनता के सदस्यों आदि को पुरस्कार स्वरूप भूमि प्रदान कर दिया करता था। दिया

हुआ गांव सम्बन्धित व्यक्ति की सम्पत्ति नहीं बन जाती थी वरन् उसे वहां से कर प्राप्त करने का अधिकार मात्र प्राप्त हो जाता था। बौद्ध जातकों की कई एक कहानियों में यह वृत्तान्त आता है कि राजा किसी गांव विशेष का कर स्वयं न लेकर उसका अधिकार अपने किसी परिचित अथवा धर्मगुरु को सौंप देता था। राजा स्वयं इस भूमि का स्वामी नहीं रह जाता था।

धरती में गड़ा धन तथा खोई हुई सम्पत्ति

धरती में गड़ा हुआ धन राजा का माना जाता था। इस सम्बन्ध मे कोई सन्देह नहीं किया जाता था कि धरती में प्राप्त खजाने का स्वामी राजा है। राजा को धरती का रक्षक माना जाता था, अतः धरती में प्राप्त धन एक प्रकार से उसकी मेहनत का बदला था। इस सम्बन्ध में कभी-कभी ब्राह्मणों एवं राजा की शक्ति के बीच गतिरोध पैदा हो जाता था। इसे दूर करने के लिए भारतीय आचार्यों ने कई उपाय बताये हैं। याज्ञवल्क्य के अनुसार गढ़ा हुआ धन प्राप्त होने पर राजा को उसका आधा ब्राह्मणों को देना चाहिये। एक विद्वान ब्राह्मण पूरे खजाने को भी स्वयं के पास रख सकता है क्योंकि वह सबका स्वामी है। वशिष्ठ के मतानुसार जिस किसी को भी धरती में गड़ा हुआ धन प्राप्त हो, उसे वह राजा को देना चाहिए। राजा उसका छठा भाग प्राप्त करने वाले को सौंप देगा। नारद ने इस सम्बन्ध में कुछ कठोर मत व्यक्त किया है। उनका कहना है कि जिस किसी को भी खजाना प्राप्त हो उसे राजा को सूचना देनी चाहिये, चाहे वह ब्राह्मण ही क्यों न हो। यदि राजा द्वारा वह धन सम्बन्धित व्यक्ति को सौंप दिया जाये तो वह उसका उपयोग कर सकता है। यदि राजा को सूचना नहीं दी गई तो प्राप्ति कर्त्ता व्यक्ति को एक चोर माना जायेगा।

खोई हुई अथवा चोरी की गई सम्पत्ति राजा की मानी जाती थी, किन्तु इसका कारण भिन्न था। कानून के अनुसार यह व्यवस्था थी कि यदि राजधानी के अन्दर किसी की सम्पत्ति चोरी चली जाये तो उसका मुआवजा राजा द्वारा दिया जाता था। जब राजा पहले से ही मुआवजा दे देता था तो यह स्वाभाविक है कि खोई अथवा चोरी गई सम्पति प्राप्त होने के बाद राजा को ही मिले। ऐसी सम्पति की सूचना देने वाले को कुछ पुरस्कार प्रदान करने की भी व्यवस्था थी। महाभारत के भीष्म के अनुसार राजा को किसी का गुप्त धन ग्रहण नहीं करना चाहिए क्योंकि वह उसे कर्त्तव्य से च्युत कर देता है, उसके न्याय धर्म का नाश कर देता है।[1] इसके अतिरिक्त राजा को ऐसा धन भी नहीं हड़पना चाहिये जिसके स्वामित्व के सम्बन्ध में मतभेद हे अथवा जो उसके यहां जमा कराया गया है। यदि उसने ऐसा किया तो राजा को जनता अन्यायी समझने लगेगी तथा उससे वैसे ही दूर भागेगी जिस प्रकार बाज पक्षी के भय से दूसरे पक्षी भागते हैं और ऐसे राजा की प्रजा धीरे-धीरे राज्य छोड़ कर उसी प्रकार अन्यत्र चली जायेगी जिस प्रकार कि टूटी हुई नाव समुद्र

1. महाभारत, शान्ति पर्व, 85, 13, *P.* 4645

में वहां भी कहा यह जाती है।[1]

राज्य द्वारा सम्पत्ति का अपहरण

प्राचीन भारतीय आचार्यों ने राजा को यह अधिकार भी सौंपा था कि वह भूमि एवं अन्य सम्पत्ति का कुछ विशेष अवस्थाओं में अपहरण कर ले। फौजदारी अपराधों में राजा को यह कानूनी शक्ति प्राप्त थी कि वह दण्ड के रूप में अपराधी की भूमि को जब्त कर ले। मनु के कथनानुसार "राजा को उन दुर्गुणी अधिकारियों की सम्पत्ति जब्त कर लेनी चाहिये जो रिश्वत के रूप में धन लेते हैं। ऐसे लोगों को समाप्त कर देना चाहिये।" नारद का कहना है कि "यदि ब्राह्मण अपराधी है तो राजा को उससे पूरा धन छीन लेना चाहिये अथवा उसके पास केवल एक चौथाई धन ही छोड़ना चाहिये। राजा को ब्राह्मण की केवल जान ही नहीं लेनी चाहिये क्योंकि ऐसा करना विधि के विधान के विपरीत है।" बृहस्पति ने काम सम्बन्धी अपराधों के लिए असाधारण दण्ड की व्यवस्था की है। उसका कहना है कि "जब एक पुरुष धोखे से किसी स्त्री के साथ रति सम्बन्ध करे तो दण्ड स्वरूप उसकी सारी सम्पत्ति का अपहरण कर लिया जाना चाहिये।"

कुल मिला कर यह एक सामान्य नियम माना जाता था कि केवल उन्हीं व्यक्तियों की सम्पत्ति का अपहरण किया जाय जो कि गलत हैं तथा भ्रष्टाचारी हैं। राजा द्वारा इस शक्ति का प्रयोग कम तथा जरूरत के समय ही किया जाता था। जो राजा अपनी प्रजा को शक्तिपूर्वक एवं स्वामिभक्तिमय रखना चाहता था वह इस प्रकार के साधनों का कभी प्रयोग नहीं करता था। राजा को प्रजाजनों की सम्पत्ति छीनने का अधिकार था किन्तु उसका कोई व्यावहारिक औचित्य न होकर केवल कानूनी दण्ड के रूप में ही औचित्य था।

राज्य की सम्पत्ति पर राजा के स्वामित्व का एक अन्य प्रतीक यह माना जाता है कि ब्राह्मणों को छोड़ कर अन्य मृत व्यक्तियों की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी राजा को ही माना गया था। यदि मृत व्यक्ति का कोई अन्य उत्तराधिकारी नहीं है तो राजा ही उसकी सम्पत्ति को पायेगा। इतिहास के कई एक उदाहरणों से ज्ञात होता है कि अन्त में राजा ही ऐसे व्यक्तियों की सम्पत्ति का स्वामी होता था। बृहस्पति का कहना है कि उत्तराधिकारी का हक राजा को न होकर मृतक के निकटवर्ती अन्य परिवार को होना चाहिये। कुछ का कहना है कि यदि किसी के रक्त सम्बन्धी नहीं है तो अध्यापकों, ब्राह्मणों, शिष्यों आदि को उसकी सम्पत्ति का स्वामी बनाया जा सकता था; यदि किसी ब्राह्मण की बिना उत्तराधिकारी के मृत्यु हो जाती है तो उसकी सम्पत्ति को ब्राह्मणों में ही बांट दिया जायेगा। ब्राह्मणों की सम्पत्ति लेने से राजा को मना किया गया था। अपनी गाय राजा को देने से मना करते

---

1. Ibid, 85, 14

समय वशिष्ट ने कहा था कि ब्राह्मण की सम्पत्ति एक घातक जहर होती है। यदि राजा इसे ग्रहण करेगा तो राजा स्वयं ही नष्ट हो जायेगा। इस माध्यम से राजा को पर्याप्त सम्पत्ति प्राप्त हो जाती थी। एक बौद्ध जातक में आई कथा के अनुसार उत्तराधिकारी विहीन मृत व्यक्तियों की सम्पत्ति को राजा के महल तक ले जाने से मैना को सात रात और दिन लगाने पड़े।

कुछ एक परिस्थितियों में राजा व्यापारियों की सम्पत्ति को भी हस्तगत कर सकता था। वृहस्पति के कथनानुसार यदि एक व्यापार का कोई भागीदार मर जाता है तो अन्य भागीदारों को उनकी सम्पत्ति राज्य को बतानी होगी तथा राजा द्वारा नियुक्त अधिकारी उस सम्पत्ति की देखभाल करेगा। यदि कोई व्यक्ति इस मृत के उत्तराधिकारी होने का दावा करता है तो उसे ऐसा करने के लिए अन्य व्यक्ति द्वारा प्रमाणित करना होगा तब उसे वह सम्पत्ति प्राप्त होगी। राजा शूद्र, वैश्य एवं क्षत्रीय की सम्पत्ति में से क्रमशः छठा, नवां और बारहवां भाग ले लेगा। यदि तीन वर्ष की अवधि तक कोई व्यक्ति उत्तराधिकार का दावा न करे तो उस सम्पत्ति पर राजा का स्वामित्व हो जाता था। यदि सम्पत्ति का मृत स्वामी ब्राह्मण है तो उसकी सम्पत्ति को राजा स्वयं न रख कर अन्य ब्राह्मणों में बांट देता है।

इस प्रकार प्राचीन भारतीय आचार्यों ने व्यक्तिगत सम्पत्ति एवं सामाजिक स्वामित्व के बीच एक सामंजस्य की स्थापना का प्रयास किया था। राजा को यह कानूनी अधिकार था कि वह एक गांव से प्राप्त होने वाले करों को स्वयं न लेकर किसी भी व्यक्ति या संस्था को सौंप दे। ऐसा करते समय राजा अन्य व्यक्तियों के न्यायोचित अधिकारों की अवहेलना नहीं कर सकता था। अपने पक्षपातियों के लाभ के लिए वह अन्य व्यक्तियों को उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति से वंचित नहीं कर सकता था। राजा धरती में पाई जाने वाली समस्त सम्पदा का स्वामी होता था। न्यायोचित स्वामी के न होने पर पाई हुई सम्पदा का स्वामी स्वयं राजा होता था। चोरी गई सम्पत्ति अथवा खोई हुई सम्पत्ति जब प्राप्त हो जाती थी और उसका स्वामी ज्ञात नहीं होता था तो वह राजा के अधिकार में आ जाती थी। राजा को भूमि के अपहरण के लिए व्यापक शक्तियां सौंपी गई थी। इन शक्तियों को मुख्यतः दण्ड के तरीके के रूप में ही न्यायोचित ठहराया गया। उत्तराधिकारी के अभाव में मृत व्यक्ति की सम्पत्ति का स्वामित्व भी राजा के हाथ में आ जाता था।

भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व

भूमि पर स्वामित्व का प्रश्न पर्याप्त जटिलतापूर्ण है। प्राचीन भारत मे किस सीमा तक भूमि का स्वामित्व व्यक्तिगत था यह भी एक जिज्ञासापूर्ण प्रश्न है। भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व का अर्थ यह है कि एक व्यक्ति को कानूनी रूप से एक निश्चित काल तक के लिए स्थायी तौर पर भूमि... जाये। इस भूमि को वह अपनी सम्पत्ति की अन्य इकाइयों...

उत्तराधिकारियों में बांट सके। इसे वह अन्य किसी प्रकार से भी बेच सकता है। इस प्रकार यह भूमि सार्वजनिक भूमि से भिन्न होती है।

किसी भी राज्य में भूमि पर से व्यक्ति के स्वामित्व को विभिन्न कारणों से छीना जा सकता है उदाहरण के लिए न्यायिक दण्ड के कारण, सम्पूर्ण जनता की भलाई के लिए, सैनिक उद्देश्य से तथा अन्य लक्ष्यों के लिए जिनको कि समाज के द्वारा मान्यता प्रदान की जाये।

मनु के कथनानुसार अतीत को जानने वाले महात्माओं द्वारा इस पृथ्वी को पृथु की पत्नी कहा जाता है। उनके मतानुसार खेत उसी का है जिसने कि जंगलों को साफ किया है। मनु का कहना है कि राजा को ब्राह्मणों की सम्पत्ति का अपहरण नहीं करना चाहिए। दूसरी जाति वालों की सम्पत्ति को उचित उत्तराधिकारी न होने पर राजा द्वारा अपने अधिकार में किया जा सकता है। उन्होंने सम्पत्ति के अर्जन के सात कानून सम्मत तरीकों का उल्लेख किया है। ये हैं—उत्तराधिकार द्वारा, प्राप्ति अथवा मैत्रीपूर्ण दान, खरीददारी, जीत, ब्याज पर उधार देने से, कार्य सम्पन्न करने से, गुणशील व्यक्ति से भेंट के रूप में प्राप्त करने से।

मनु के विचारों को पढ़ने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि एक गैर सरकारी व्यक्ति के लिए भूमि प्राप्त करना तथा उसे स्वयं की व्यक्तिगत सम्पत्ति मानना निश्चित रूप से सम्भव था। इस स्वामित्व के सम्बन्ध में अन्य ग्रन्थ और भी स्पष्ट रूप में उल्लेख करते हैं। अग्निपुराण में यह कहा गया है कि यदि एक व्यक्ति किसी भी भूमि पर जबरदस्ती कब्जा कर ले तो बीस वर्ष बाद वह उसका वास्तविक स्वामी बन जाता है। इस कथन से यह साफ जाहिर हो जाता है कि एक व्यक्ति दूसरे के नाम की भूमि का भी स्वामित्व कर सकता है यदि उसका वास्तविक स्वामी बीस वर्ष तक किसी प्रकार का विरोध न करे। बृहस्पति ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि यदि किसी व्यक्ति का तीस वर्ष तक एक भूमि पर निर्बाध अधिकार रहा है तो उसे उस सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जा सकता। इन समस्त कथनों से व्यक्तिगत सम्पत्ति की संस्था का अस्तित्व जाहिर होता है। तैत्तरीय संहिता में भी व्यक्तिगत सम्पत्ति के बारे में काफी कुछ कहा गया है।

अग्निपुराण में ही एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि जो व्यक्ति दूसरे के खेतों की सीमाओं का गलत रूप से उल्लंघन करते हैं या उनको तोड़ते हैं उनको दण्ड दिया जाना चाहिए। फिर भी सार्वजनिक पुलों के निर्माण के लिए, श्रेष्ठ जल की प्राप्ति के लिए तथा छोटे क्षेत्र को प्राप्त करने के लिए यदि व्यक्तिगत भूमि को ले लिया जाये तो गलत नहीं होगा। यदि किसी की भूमि पर उसको सूचना दिये बिना ही पुल बना दिया जाता है तो उसे उसके उपयोग का अधिकार होगा। ऐसा कोई स्वामी न होने पर यह अधिकार राज्य के पास चला जाता है। सम्पत्ति का व्यक्तिगत स्वामित्व कई एक ग्रन्थों में और भी आया है। राजा के स्वामित्व का प्रश्न तो तब उठता है जबकि उसका अन्य कोई स्वामी नहीं होता था।

व्यक्तिगत सम्पत्ति की संस्था के सम्बन्ध में अन्य ग्रन्थों में भी अन्य प्रकार से वर्णन आया है। जैमिनीय ब्राह्मण में विश्वजीत यज्ञ का वर्णन आया है जिसके अनुसार राजा अपना सब-कुछ दान कर देता था। यहां एक बात उल्लेखनीय है कि राजा सम्पूर्ण पृथ्वी का दान नहीं कर सकता था क्योंकि उस पर सभी का अधिकार होता है न कि केवल राजा का। कश्यप को पुरोहित बनाकर एक बार राजा विश्वकर्मा भौवन ने एक यज्ञ किया। इस यज्ञ में विश्वकर्मा ने कश्यप को पृथ्वी दान करने का प्रयास किया। इस पर स्वयं पृथ्वी ने कहा कि कोई भी मरणशील मनुष्य उसे दान में नहीं दे सकता। यदि ऐसा कोई प्रयास किया गया तो धरती जल में डूब जायेगी।

इस कथा को ग्रन्थों में पर्याप्त महत्व प्रदान किया गया। महाभारत में भी कुछ इस प्रकार की कहानियां आती हैं, किन्तु उनका अर्थ एवं महत्व पर्याप्त भिन्नता रखता है। एक कहानी तो ठीक इसके विपरीत आती है जिसमें यह बताया गया है कि अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न करने तथा पृथ्वी दान करने के बीच बहुत कम अन्तर है। विद्वानों को पृथ्वी दान करने के लाभों के सबंध में किसी प्रकार का संदेह नही है। महाभारत में यह भी उल्लेख है कि जयदाग्नि के पुत्र राम ने सारी पृथ्वी कश्यप को दे दी। महाभारत के अनुशासन पर्व में पृथ्वी स्वयं कहती है—मुझे दान में प्राप्त करो, मुझे दान में दो, मुझे देकर तुम पुनः मुझे प्राप्त कर लोगे। जो कुछ भी इस जन्म में दिया जाता है वह आगे के जन्म में प्राप्त हो जाता है।

एक अन्य विभाग में राजा अंग की कहानी आती है जो कि सारी पृथ्वी को यज्ञ दान के रूप में ब्राह्मणों को देना चाहता था। इससे पृथ्वी को कष्ट हुआ। उसने कहा कि वह ब्राह्मणों की पुत्री है तथा सारे संसार का आधार है। उसे आश्चर्य हुआ कि राजा उसे एक बार प्राप्त करने के बाद देना क्यों चाहता है? उपजाऊ भूमि के रूप में उसके चरित्र को नष्ट क्यों करना चाहता है? इतने पर कश्यप ने अपना शरीर त्याग दिया तथा धरती में प्रवेश कर लिया। वे तीस हजार वर्ष तक इसी रूप में रहे। इस काल में धरती पर्याप्त सम्पन्न रही तथा उसने सभी प्रकार के फल और वनस्पतियां उगाईं। अन्त में देवी लौटी, उसने कश्यप के सामने सर झुकाया तथा वह उनकी पुत्री बन गई। उसने स्वयं ने दैवी कार्य सम्भाल लिए।

इस कहानी का वास्तविक तात्पर्य समझ में नहीं आता। इसके संबंध में जो विभिन्न प्रश्न उठते है उनका स्पष्टीकरण अन्य किसी भी ग्रन्थ में नहीं होता। महाभारत के शान्तिपर्व में भी ऐसे वृतान्त आते हैं जिनमें कि पृथ्वी को दान करने की बात कही गई है। दान का महत्व वर्णित करते हुए शांतिपर्व इस बात का उल्लेख करता है कि विदेह के राजा निमि ने अपनी राजधानी दान में दे दी, जमदाग्नि के पुत्र राम ने सारी पृथ्वी दान कर दी तथा गया ने समस्त नगरों एवं कस्बों से युक्त पृथ्वी ब्राह्मणों को दान में दे दी।

प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में आई किसी भी गाथा में पृथ्वी को राजा की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं बताया गया है। प्रत्येक स्थान पर इसी बात पर

जोर दिया गया है कि राजा को कर इसीलिए प्रदान किया जाता है क्योंकि वह रक्षा करता है न कि इसलिए कि वह भूमि का स्वामी है। यदि राजा भूमि का स्वामी होता तो उसे करों के स्थान पर किराया दिया जाता। दीघ निकाय में आई कथा के अनुसार प्रारम्भ में लोगों ने अपनी इच्छा के अनुसार मनचाही भूमि प्राप्त कर ली किन्तु बाद में वे एक दूसरे की भूमि पर हस्तक्षेप करने लगे। ऐसी स्थिति में राजा की आवश्यकता का अनुभव किया गया। राजा की नियुक्ति समाज द्वारा जिस कार्य को रोकने के लिए की गई थी उसे सम्पन्न करने की अनुमति समाज उसे कदापि नहीं दे सकता था। इस सम्बन्ध में बृहस्पति ने और भी स्पष्ट कर दिया है। उनका कहना है कि जब राजा द्वारा भूमि एक व्यक्ति से लोभ के कारण या नाराजी के कारण ले ली जाती है और अपने पक्षपाती किसी अन्य व्यक्ति को दे दी जाती है तो इस प्रकार का दान न्यायोचित नहीं माना जाता।[1] वशिष्ठ का कहना है कि राजा को अपनी राजधानी में रहने वाले लोगों की सम्पत्ति स्वयं के उपयोग के लिए नहीं लेनी चाहिए।[2]

भूमि पर राजा का स्वामित्व

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि राजा को किस सीमा तक प्राचीन भारतीय आचार्यों ने भूमि का स्वामित्व सौंपा था तथा राजा के स्वामित्व एवं प्रजा के अधिकारों के बीच किस प्रकार सामंजस्य स्थापित किया गया था। भारतीय आचार्यों ने राजा को खानों का स्वामी माना था। उनके मतानुसार राजा समस्त जल भण्डारों का स्वामी था। यदि कोई व्यक्ति जलमार्गों को पार करता था तो उसे राजा को कर देना होता था। यदि कोई व्यक्ति अनुचित रूप से जल को तैर कर पार करता या मछलियों की चोरी करता था तो उसे राजा द्वारा दण्ड दिया जाता था। कौटिल्य के कथनानुसार राजा को तालाबों या झीलों में मछली मारने नौ संचालन करने तथा सब्जियों का व्यापार करने आदि पर स्वामित्व रखना चाहिए। जॉन स्पेलमेन का मत है कि यह कहना असम्भव है कि राजा को इन जल खानों का एकमात्र स्वामी समझा गया था किन्तु इस कथन से तो ऐसा ही लगता है।[3]

अन्य उद्देश्यों के लिए भी राजा को पर्याप्त भूमि प्रदान की गई थी। अर्थशास्त्र के अनुसार वह इस भूमि पर बीज बोने के लिए दासों, मजदूरों एवं बन्दियों को लगा सकता था। जिस भूमि पर खेती नहीं की जाती उस पर खेती करने के लिए ऐसे लोगों को लगाया जा सकता था जो कि उत्पादन का आधा भाग लेकर काम करने पर राजी हों अथवा जो बिना अधिक कठिनाई के राजा को कुछ दे सकें।

---

1 बृहस्पति, XIX, २२

2 वशिष्ठ XIX, १४

3 It is impossible to say whether the king was considered sole owner of these water supplies but this seems to be the case
—John W. Spellman, op cit, P 206

अर्थशास्त्र का द्वारा राजा को भूमि पर पर्याप्त सत्ता प्रदान की गई है। यहां कठिनाई तब उत्पन्न होती है जबकि हम शाही भूमि तथा गैरसरकारी भूमि के बीच स्पष्ट रूप से अन्तर नहीं जान पाते। ग्रन्थ की राय से वह समस्त भूमि राजा की थी। राज्य के सभी प्रमुख अधिकारियों जैसे—अधिक्षकों, लेखापालों, गोपों, स्थानिकों, पशुओं के चिकित्सकों, अश्व प्रशिक्षकों एवं सदेशवाहकों आदि के पास भी भूमि रहेगी। इस भूमि को बेचने अथवा गिरवी रखने का अधिकार उनको प्राप्त नहीं था। कर-दाताओं को कृषि योग्य भूमि जीवन पर्यन्त के लिए दी जाती थी। कृषि के अयोग्य भूमि को ऐसे लोगों से नहीं लिया जा सकता था जो कि उसे कृषि के योग्य बनाने में तत्पर हैं। दूसरी ओर जो लोग जमीन पर हल नही चलाते या दूसरों को दे देते थे उनसे राज्य द्वारा भूमि को लिया जा सकता था। इस प्रकार राजा अपनी कुछ भूमि को अपने सेवकों को सौंप देता था। वैसे यह जमीन स्थाई रूप से इनको नहीं दी जाती थी। इनका उद्देश्य राजा के राजस्व में अभिवृद्धि करना ही होता था। यदि सम्बन्धित व्यक्ति इस उद्देश्य की पूर्ति की दृष्टि से असमर्थ रहता है तो वह भूमि उससे लेकर दूसरे किसी को दी जा सकती थी।

कृषि भूमि के उत्पादन का एक निश्चित प्रतिशत कर के रूप में राजा को प्राप्त होता था। यदि एक व्यक्ति उचित रूप से कृषि कार्य नहीं कर रहा है तो वह एक प्रकार से राजा को धोका दे रहा है क्योंकि वह राज्यकोष को उतना नही दे सकेगा जितना कि उसको देना चाहिए। ऐसी स्थिति में यह उपयुक्त ही है कि राजा उस भूमि को किसी को भी दे दे।

ग्रन्थों में प्राप्त वर्णन के आधार पर यह बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है कि राजा को भारतीय आचार्यों ने भूमि का स्वामी माना था। मनु के कथनानुसार धरती में प्राप्त पुरानी जमा रकम एवं धातु का आधा भाग राजा का होता है क्योंकि राजा सुरक्षा प्रदान करता है तथा वह भूमि का अधिपति होता है। मनु का ही कहना है कि जिस प्रकार पृथ्वी सभी का समान रूप से पालन करती है उसी प्रकार राजा भी अपनी प्रजा का समान भाव से पालन करता है इसलिए वह पृथ्वी के कार्य को स्वयं सम्भाल लेता है।

यहां प्रश्न यह उठता है कि राजा के दावों को किस आधार पर न्यायोचित ठहराया जाये तथा उससे श्रेष्ठ ब्राह्मणों के दावों के होते हुए उसे किस प्रकार उच्चता प्रदान की जाए? इस सम्बन्ध में महाभारत की एक अन्य गाथा का उल्लेख किया जाता है। पुरुरवा ने वायु देवता से पूछा कि इस पृथ्वी पर असल में किसका अधिकार है। इसके जवाब में वायु ने कहा कि सृष्टि की प्रत्येक चीज पर जन्म के कारण तथा परम्पराओं के कारण ब्राह्मणों का अधिकार है। ब्राह्मण जो खाता है वह उसी का है, जहां रहता है वह सब उसी का है, जो वह किसी को देता है वह भी उसी का है। उसका जन्म सर्व प्रथम हुआ था अतः वह सर्वश्रेष्ठ है। जिस प्रकार एक स्त्री अपने पति के अभाव में उसके छोटे भाई को स्वीकार कर लेती है

उसी प्रकार जब ब्राह्मण अस्वीकार कर देते हैं तो पृथ्वी क्षत्रियों को अपना स्वामी मान लेती है। यह एक सामान्य नियम है। सकट काल में इस नियम का अपवाद भी हो सकता है। महाभारत के शान्तिपर्व एवं अनुशासन पर्व दोनों में इस विचार को स्पष्ट किया गया है।[1]

पति के अभाव में उसके छोटे भाई को स्वीकार करने की कथा के माध्यम से ब्राह्मणों के अहंकार को सतुष्ट करने का प्रयास किया गया तथा साथ ही क्षत्रियों की स्थिति का स्पष्टीकरण किया गया। ब्राह्मणों को यह सन्तोष था कि पृथ्वी के वास्तविक स्वामी तो वे स्वयं ही हैं। क्षत्रियों का उस पर अधिकार केवल इसी कारण हुआ है कि उन्होंने इस स्वामित्व को अपनाने से मना कर दिया था। यह कथा केवल उपमा मात्र नहीं थी। राजा को पृथ्वी का प्रतीकात्मक पति माना था। पृथ्वी उसकी पत्नी थी वह उसकी रक्षा करता था, उसे उपजाऊ बनाता था तथा अपने धर्म की शक्ति से उसकी अनुत्पादकता को कम करता था। सिद्धान्त रूप में यह माना गया था कि धरती के सभी कार्य राजा पर निर्भर करते हैं। सच्चे अर्थों में धरती राजा की पत्नी मानी गई।

भारतीय आचार्यों का यह विश्वास था कि राजा पृथ्वी की उसी प्रकार रक्षा करता है जिस प्रकार एक पति अपनी पत्नी की करता है। पृथ्वी के उपजाऊपन के लिए राजा को उत्तरदायी बनाया गया। वर्षा एवं सूखा, जो कि धरती पर प्रभाव डालते हैं, राजा के धर्म से प्रभावित हो कर ही पड़ते हैं। राजा से यह आशा की जाती थी कि वह अपनी प्रतिकात्मक पत्नी के लिए सारे कार्य सम्पन्न करेगा। यह सच है कि प्राचीन भारत में एक पति अपनी पत्नी के सम्बन्ध में व्यापक अधिकार रखता था किन्तु साथ ही यह भी सच है कि वह पत्नी के प्रति अपने दायित्वों से छुटकारा नहीं पा सकता था। ऐसी स्थिति में पृथ्वी को दान करने की बात अनुचित ठहरती है क्योंकि किसी पति से यह आशा नहीं की जाती कि वह अपनी पत्नी को दान में दे देगा। धरती पर राजा के स्वामित्व का रूप प्रतीकात्मक था न कि आर्थिक और इसलिए भूमि पर राजा का व्यक्तिगत स्वामित्व अर्थहीन बन जाता है।

प्राचीन भारतीय राजनीति में राजा को जो 'धरती का स्वामी' कहा गया था उसका केवल प्रतीकात्मक महत्त्व था। उसका कोई आर्थिक तात्पर्य नहीं था। यदि हम राजा का अर्थ राज्य या सरकार से लें तो यह मानना होगा कि राजा भूमि का प्रतीकात्मक स्वामी होने के साथ-साथ व्यावहारिक रूप से भी उसका अन्तिम स्वामी था। असल में प्राचीन भारत में राजनैतिक एवं आर्थिक व्यवस्था भौतिक तत्वों की अपेक्षा धार्मिक तत्वों पर आधारित थी और इसलिए यहां भौतिक पहलू पर अधिक जोर नहीं दिया गया।

---

1. महाभारत, शांतिपर्व,–७३,१०–१९; अनुशासनपर्व, ८ २२

दण्ड की संस्था
(The Institution of Punishment)

प्राचीन भारतीय आचार्यों ने दण्ड की संस्था को राजनैतिक जीवन में इतना अधिक महत्वपूर्ण माना है कि उनके द्वारा कई एक स्थानों पर राजनीतिशास्त्र के पर्याय के रूप में दण्ड-नीति शब्द का प्रयोग किया गया है। जॉन स्पेलमेन (John W. Spellman) के शब्दों में दण्ड-नीति की मान्यता प्राचीन भारत द्वारा उत्पन्न सर्वाधिक महत्वपूर्ण राजनीतिक विचारों में से एक था।[1] दण्ड का अर्थ समझने के लिए मि० स्पेलमेन ने मानव प्रकृति से सम्बन्धित भारतीय विचारों को समझना आवश्यक माना है। अराजकता की स्थिति में मनुष्य का व्यवहार किस प्रकार का होता है यह वर्णन प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में बड़े विषद रूप से किया गया है। राज्य से पूर्व के मानवीय जीवन को वह अत्यन्त भयावह मानते हैं। उस समय स्थित मत्स्य न्याय की स्थिति में सुरक्षा एवं स्वत्व नहीं था। समाज एक दूसरे को खाने वालों से पूर्ण था। मानव समाज की शक्तियां जिस रूप में विकसित हो रही थीं उनको नियन्त्रित करने के लिए शक्ति आवश्यक थी। शतपथ ब्राह्मण में दण्ड शब्द का प्रयोग सर्व प्रथम शक्ति के अर्थ में किया गया है। इस ग्रन्थ में दण्ड शब्द के द्वारा तीन समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। इसे पढ़ने के बाद हमें ज्ञात होता है कि दण्ड की उत्पत्ति अपराध निवृत्ति के लिए हुई थी। दूसरे, 'दण्ड' धर्म की रक्षा करता है अतः वह देवस्वरूप है। तीसरे, धर्म को क्रियान्वित करते समय राजा दण्ड का उपयोग करता है। बाद के ग्रन्थों में दण्ड के इन तीनों ही पहलुओं पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। डा० सुरेन्द्रनाथ मीतल का कहना है कि राज्य की स्थापना के बाद उसके संचालन के लिए शक्ति की आवश्यकता महसूस की गई। बाह्य आक्रमणों से एवं दुष्ट पुरुषों से समाज का संरक्षण केवल सदुद्देश्यों एवं सद्भावना से नहीं हो सकता था। इसीलिए ग्रन्थों में यह कहा गया है कि राजा की सहायता के लिए परमात्मा ने दण्ड की सृष्टि की तथा राजा दण्ड की सहायता से संसार को योग्य मार्ग पर बनाये रखता है। यदि दण्ड न हो तो संसार में कोई भी अपने धर्म पर स्थिर न रहे तथा सारा समाज नष्ट हो जाये।[2]

दण्ड की आवश्यकता, जन्म एवं प्रकृति
(The Necessity, Origin and Nature of Punishment)

दण्ड की आवश्यकता एवं मनुष्य की प्रकृति के बीच परस्पर कितना और कैसा सम्बन्ध है इस सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय ग्रन्थ अथवा उनके

---

1. The concept of danda was one of the most important political ideas produced by ancient India.
   —John W. Spellman, op. cit., P. 107
2. डा० सुरेन्द्रनाथ मीतल, समाज और राज्य—भारतीय विचार, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, १६६७, पेज २५१

व्याख्याता एक मत नहीं हैं। कुछ का कहना है कि मनुष्य स्वभाववश ही लालची, लोभी, झगड़ालू हिंसा प्रिय होता है और वह कोई भी अच्छा कार्य उस समय तक नहीं करता जब तक कि उसको ऐसा करने के लिए मजबूर न कर दिया जावे। महाभारत के अनुसार "सारा जगत् दण्ड से विजित हो कर ही रास्ते पर रहता है क्योंकि स्वभावतः सर्वथा शुद्ध मनुष्य मिलना कठिन है। दण्ड के भय से डरा हुआ मनुष्य ही मर्यादा-पालन में प्रवृत्त होता है।"[1] इसके विपरीत यह एक तथ्य है कि भारतीय आचार्यों द्वारा वर्णित युग क्रम में सर्वप्रथम सतयुग आता है। इसकी तुलना रूसो की प्रारम्भिक प्राकृतिक अवस्था से की जा सकती थी। ऋग्वेद में कहा गया है कि विराट के तप से ऋत और सत्य की उत्पत्ति हुई। इसी प्रकार सांख्य दर्शन ने सृष्टि का विकास सत्व रज और तम से माना है। ऋत अथवा सत्य के काल में किसी प्रकार का अपराध नहीं होता था और इसलिए राज्य अथवा दण्ड जैसी किसी संस्था की आवश्यकता नहीं होती थी। आदि युग में सत्व की प्रधानता होने के कारण इसे एक आदर्श युग माना गया, किन्तु रज और तम के प्रभाव बढ़ने पर लोगों में दुःख, मोह, ईर्ष्या, लोभ, घृणा एवं द्वेष आदि के भाव उभरने लगे। स्वार्थ के कारण उनके बीच संघर्ष होने लगा और इस प्रकार स्वर्ण युग के अपराध विहीन समाज के स्थान पर अब मत्स्य न्याय की स्थापना हो गई। ऐसी स्थिति में दण्ड की आवश्यकता हुई क्योंकि धर्म, सम्पत्ति एवं जीवन तीनों पर ही संकट आ गया था।

कई एक व्याख्याकारों का कहना है कि मनुष्य का स्वभाव मूल रूप से पवित्र होता है। वह अधर्म नहीं चाहता। लोक या परलोक में कहीं भी ऐसा समाज देखने में नहीं आता जहां व्यक्ति केवल ईर्ष्या, द्वेष एवं घृणा के साथ जीवन व्यतीत कर रहा हो। सामाजिक सम्बन्धों के बढ़ने के कारण पारस्परिक ईर्ष्या का जन्म हुआ और इससे शान्ति भंग हो गई। दण्ड की आवश्यकता समाज में शान्ति की स्थापना के लिए समझी जाने लगी।

दण्ड की आवश्यकता संसार को धर्ममय बनाये रखने के लिए हुई। दण्ड नीति के द्वारा चारों वर्णों को नियंत्रित किया जाता है ताकि वे अपने अपने कर्त्तव्यों का पालन कर सकें। जब शासक द्वारा दण्ड का सही रूप में पालन किया जाता है केवल तभी लोग अधर्म के मार्ग से दूर हटते हैं। धर्म एवं सम्पत्ति का भारतीय आचार्यों द्वारा जो महत्व वर्णित किया गया है। वह सब दण्ड के साथ रह कर ही सार्थक बनता है। दण्ड को सम्प्रभुता का केन्द्र बिन्दु माना गया है। राज्य का अस्तित्व दण्ड पर ही निर्भर है। राज्य केवल इसी कारण राज्य है क्योंकि वह मजबूर कर सकता है, दबा सकता है तथा प्रतिरोधित कर सकता है। यदि समाज से इस दमनकारी या नियंत्रणकारी तत्व को हटा लिया जावे तो राज्य का अस्तित्व नहीं रहेगा। दण्ड के अभाव का अर्थ अराजकता से है। इस अराजकता में धर्म और सम्पत्ति नहीं रह सकते। दण्ड की सहायता से न केवल सम्पत्ति की रक्षा की जाती है वरन् यह सम्पत्ति

1. महाभारत शान्तिपर्व, १५, ३४, पेज ४४२६

प्राप्त करने का साधन भी है। महाभारत के अर्जुन के शब्दों में "मछली मारने वाले मल्लाहों की तरह दूसरों के मर्म स्थानों का उच्छेद और दुष्कर कर्म किये बिना तथा बहुसंख्यक प्राणियों के मारे बिना कोई बड़ी भारी सम्पत्ति प्राप्त नहीं कर सकता।"[1] धर्म का आचरण भी शक्ति से युक्त होने पर ही प्रशसनीय माना जाता है। शक्तिहीन की दया उसकी कायरता होती है और शक्तिवान के साथ वही उसकी उदारता कहलाती है। दूसरों को दण्ड देने की सामर्थ्य रखने वाले देवता ही पूजे जाते हैं। दूसरों का वध करने वाले देवताओं के सामने संसार नतमस्तक होता है तथा उनको पूजता है। वृत्रासुर को मारने के कारण ही इन्द्र को महेन्द्र कहा गया।

दण्ड की आवश्यकता उसकी उपयोगिता में निहित है। दण्ड को अपनाना इसलिए जरूरी है क्योंकि उसके बिना धर्म, सम्पत्ति सम्मान, कीर्ति आदि कुछ भी नहीं रह जाता। यहां तक कि व्यक्ति का या समाज का अस्तित्व भी मूलतः दण्ड पर आधारित है। महाभारत के अर्जुन ने संसार में कोई ऐसा पुरुष नहीं देखा जो अहिंसा से जीविका चलाता हो। यहां प्रबल जीव निर्बल जीव द्वारा अपनी जीविका चलाते है।[2] दण्ड आवश्यक है। यह जीवन के लिए उपयोगी है और अच्छे जीवन के लिए एक पूर्व आवश्यकता है। दण्ड के न रहने पर राज्य के सारे लोग उसी प्रकार नष्ट हो जाते है जिस प्रकार जंगल के जानवर एक दूसरे को अपने आघातों से समाप्त कर देते है। समस्त जातियों एवं आश्रमों के लोगों को उनके कर्तव्य में लगाए रखने के लिए दण्ड परम आवश्यक है। वैसे अर्जुन ने दण्ड की जो परिभाषा दी है उससे इसकी आवश्यकता का स्पष्ट आभास होता है। अर्जुन के शब्दों में "मनुष्यों को प्रमाद से बचाने और उनकी रक्षा करने के लिए लोक में जो मर्यादा स्थापित की गई है उसी का नाम दण्ड है।"[3] स्पष्ट है कि यदि दण्ड न हो तो मनुष्य प्रमादी बन जाए तथा किसी की दण्ड से रक्षा न हो सके। सभी लोग अपने-अपने कर्त्तव्यों की मर्यादाओं का उल्लंघन करने लगें।

दण्ड व्यवस्था का जन्म बहुत पहले ही हो चुका था। वेदों में कई एक स्थानों पर दण्ड शब्द का प्रयोग किया गया है। वेदों में दण्ड को न्यायिक प्रशासन के लिए प्रयुक्त नही किया गया है। इस रूप में इस का सर्व प्रथम प्रयोग शत् पथ ब्राह्मण में किया था। सूत्रकारों के अनुसार दण्ड का उद्देश्य समाज की यथास्थिति की रक्षा करना था। निरुक्त मे कहा गया है कि दण्ड शब्द 'दड' धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है रखना। गौतम के अनुसार दण्ड शब्द 'दम' (दमयति) क्रिया से लिया गया है। इस अर्थ में वह निरोधक है। वह उनका निरोध करता है जो स्वयं अपने आपका निरोध नहीं कर सकते।[1] महाभारत, मत्स्य पुराण एवं अग्नि पुराण आदि ग्रन्थों में भी दण्ड

1. महाभारत, शान्ति पर्व, १५, १४, पृ. ४४५४
2. महाभारत, शान्ति पर्व, १५, २०, पृ. ४४५५
3. Ibid, 15,10, पृ. ४४५४.
4. गौतम, XI, २८

को ऐसा ही बनाया गया है क्योंकि यह अनिरोध करता है और सजा देता है। राजा के द्वारा प्रजा के नियन्त्रण का कार्य किया जाता है इसलिए कई बार उसे दण्ड कह दिया गया है। वैसे सूत्रकारों ने दण्ड एवं राजा दोनों को कानून के आधीन माना है। यदि राजा कानून का उल्लंघन करता है तो वह स्वयं दण्ड का भागी है। सूत्रकारों का कहना है कि शक्ति के बिना न्याय प्रभावहीन होता है। शक्ति का महत्त्व है किन्तु फिर भी उसे कानून का मातहत होना चाहिए नहीं तो वह अन्यायी बन जाएगी।

भारतीय ग्रन्थों ने दण्ड की उत्पत्ति को दैवी माना है। ऐसी स्थिति में वह स्वाभाविक रूप से दैवी शक्ति से सम्पन्न होगा। दण्ड के द्वारा व्यक्ति को पवित्र किया जाता है। वह केवल पाशविक शक्तियों का विरोध मात्र ही नहीं है वरन् स्वयं अपराधी के भी कल्याण का प्रतीक है। दण्ड का मूल्य यही नहीं कि वह भावी अपराधियों को चुनौती देता है अथवा उनको भयभीत रख कर मर्यादा में बनाए रखता है, इसका एक नैतिक मूल्य भी है। भय का प्रभाव केवल तभी हो सकता है जब कि कानून की सीमाओं का उल्लंघन छोटे रूप में किया गया हो। दण्ड का मुख्य अर्थ छड़ी या अंकुश से लिया जाता है। परम्परागत रूप में इसको सत्ता या आज्ञा का प्रतीक माना गया है। दण्ड का अर्थ सेना, युद्ध, जुर्माना, न्यायिक दबाव तथा अन्य ऐसी ही मान्यताओं से भी लिया जाता है। एक अन्य अर्थ में दण्ड केवल एक अमूर्त विचार है जो कि अपने आपको वैयक्तिक एवं मूर्त रूप प्रदान करने की चेष्टा करता है। महाभारत के आदिपर्व में आई हुई एक कथा के अनुसार इन्द्र ने राजा को एक बांस दिया ताकि ईमानदारों एवं शान्ति प्रिय व्यक्तियों की रक्षा की जा सके। एक वर्ष बाद राजा ने इन्द्र की पूजा के उद्देश्य से उसे धरती में गाड़ दिया। उस समय के बाद से ही सभी राजा इन्द्र की पूजा के लिए बांस आरोपित करते हैं।

भारतीय ग्रन्थों ने दण्ड की प्रकृति के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा है। महाभारत में भीष्म ने दण्ड का स्वरूप बताते हुए आलंकारिक भाषा में उसे अनेक उपमाएं प्रदान की हैं। उनके कथनानुसार 'दण्ड के शरीर की कान्ति नील कमल दल के समान श्याम है, इसके चार दाढ़ और चार भुजाएं हैं, आठ पैर और अनेक नेत्र हैं। इसके कान खूंटे के समान हैं और रोयें ऊपर की ओर उठे हुए हैं। इसके सर पर जटा है, मुख में दो जिह्वायें हैं मुख का रंग तांबे के समान है। शरीर को ढकने के लिए उसने व्याघ्र चर्म धारण कर रखा है। इस प्रकार दुर्धर्ष दण्ड सदा यह भयंकर रूप धारण किए रहता है।"[1] कुछ कुछ इसी प्रकार के विचार अर्जुन द्वारा प्रकट किए गए हैं। उनका कहना है कि "दण्डनीय पर ऐसा जोर की मार पड़ती है कि उसकी आंखों के सामने अंधेरा छा जाता है, इसलिए दण्ड को काल कहा गया है। दण्ड देने वाले की आंख क्रोध से लाल रहती हैं इसलिए उसे लोहिताक्ष कहते हैं।'[2]

---

1. महाभारत, शान्ति पर्व, १२१, १५–१६, पृ ४७१३
2. वही पुस्तक, १५ ११, पृ. ४४५४

महाभारत में दण्ड के सार्वभौम रूप का वर्णन किया गया है। दण्ड के द्वारा ही धर्म, अर्थ और काम की रक्षा की जाती है। अतः उसे प्रवर्ग कहा गया है। महाभारत काल में आकर मानवीय प्रकृति से सम्बन्धित विचार बदल चुके थे। अब मनुष्य को मूल रूप से पवित्र नहीं माना गया। इस काल के विश्वास के अनुसार मनुष्य पाप कर्म करने से इसलिए नहीं बचता क्योंकि वह अच्छा है वरन् इसलिए कि उसे दण्ड का भय रहता है। भीष्म के अनुसार दण्ड सर्वत्र व्यापक है इसलिए वह भगवान विष्णु है। वह मनुष्यों को आश्रय प्रदान करता है इसलिए नारायण है। दण्ड प्रभावशाली होता है इसलिए उसे प्रभु कहते हैं और वह सदा महत्त रूप धारण करता है इसलिए वह महान पुरुष है। महाभारत के युधिष्ठिर के पूछने पर भीष्म ने बताया कि राजधर्म या दण्ड सम्पूर्ण जीव जगत का आश्रय है। जिस प्रकार घोड़ों को काबू में रखने के लिए लगाम और हाथी को बस में करने के लिए अंकुश होता हैं उसी प्रकार यह समस्त संसार को मर्यादा मे रखता है। जिस प्रकार सूर्य देव के उदय होते ही घोर अन्धकार का नाश हो जाता है उसी प्रकार दण्ड के द्वारा मनुष्यों के अशुभ आचरणों का निवारण किया जाता है।

दण्ड के स्वरूप से सम्बन्धित प्रत्येक धारणा पर देश, जाति, कुल, एवं युग के विचारों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। महाभारत के विभिन्न प्रकरणों में दण्ड विषयक जो विचार प्रकट किए गए है उनसे उस युग के बदले हुए विचार सामने आते हैं तथा वैदिक परम्पराओं को बनाये रखने की कामना भी स्पष्ट जाहिर होती है। हरिहरनाथ त्रिपाठी के कथनानुसार महाभारत में मूल वैदिक परम्परा सुरक्षित रखने का प्रयास किया गया लेकिन युग की स्थिति अस्वीकार नहीं की जा सकी।[1] बदलते हुए सामाजिक परिवेश में दण्ड का स्वरूप भी बदलता गया। उसमें 'दम' पक्ष का विकास हुआ। भगवान कृष्ण ने दण्ड के 'दम' को अपना रूप बताया है। कौटिल्य के अनुसार दण्ड के द्वारा ही मत्स्य न्याय से मुक्ति प्राप्त हो सकती है। उसके बिना अराजकता फैल जाएगी। दण्ड के कारण ही सब लोग अपने नियत कर्मों में रत रहते हैं। कामन्दक ने न केवल इस लोक वरन् परलोक के लिए भी दण्ड को आवश्यक माना है। इन आचार्यों का विचार था कि संसार ईर्ष्या, काम, लोभ आदि भावों से परिपूर्ण हैं। केवल दण्ड के द्वारा ही उसे उचित मार्ग पर लाया जा सकता है।

दण्ड की प्रकृति धर्ममय है। दण्ड धर्म का आधार है और उसका रक्षक भी है। महाभारत के अनुसार दण्ड ही इस लोक को शीघ्र ही सत्य में स्थापित करता हैं। सत्य में ही धर्म की स्थिति है। किसी व्यक्ति को दिया जाने वाला दण्ड उसे धर्म की मर्यादा में रखने के उद्देश्य से संचालित होता है। भीष्म कहते हैं कि ब्रह्मा जी ने लोक रक्षा तथा स्वधर्म की रक्षा के लिए जिस धर्म

---

1. डा० हरिहरनाथ त्रिपाठी, प्राचीन भारत मे राज्य और न्यायपालिका, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६५, पृ० २२०–२१

का उपदेश किया था वह दण्ड ही है।[1] दण्ड के समाप्त होने पर प्रजा में वर्ण-संकरता फैलने लगती है। कर्त्तव्य अकर्त्तव्य तथा भक्ष्याभक्ष्य आदि का विचार मिट जाता है। लोग पेयापेय और गम्यागम्य का विचार नहीं करते तथा एक दूसरे की हिंसा करने लगते हैं। कुल मिलाकर समाज में धर्म नाम की कोई चीज नहीं रह जाती। ब्रह्माजी की प्रार्थना पर महादेव जी ने धर्म की रक्षार्थ अपने आपको दण्ड के रूप में प्रकट किया और दण्ड के सहारे धर्माचरण होते हुए देख कर नीति स्वरूपा देवी सरस्वती ने दण्ड नीति की रचना की।[2]

दण्ड के द्वारा सृष्टि के समस्त प्राणियों को प्रशासित किया जाता है। जब लोग सोते हैं तो दण्ड उनकी देखभाल करता है। बुद्धिमान लोगों का कहना है कि दण्ड ही धर्म है। यदि दण्ड का प्रयोग पर्याप्त विचार विमर्श के बाद किया जाए तो यह समस्त लोगों को प्रसन्न बनाता है किन्तु यदि इसे बिना विचार के प्रयुक्त किया गया तो यह हर चीज को नष्ट कर देगा। अनु-चित रूप से दिया गया दण्ड स्वयं राजा को भी नष्ट कर देता है। जब राजा दुष्टों एवं दुराचारियों को दण्ड देकर काबू में नहीं करता तो सारी प्रजा उससे ऐसे उद्विग्न हो उठती है जिस प्रकार घर में रहने वाले सर्प से लोग भयभीत रहते हैं। दण्ड न देने से समाज में जो अव्यवस्था एवं अधर्म पूर्ण जीवन व्याप्त होता है उसके कारण राज्य दुर्बल बन जाता है। वह प्रजा पर नियन्त्रण नहीं रख पाता।

दूसरी ओर अधिक दण्ड देने पर भी प्रजा रुष्ट हो उठती है। कौटिल्य के कथनानुसार यदि काम, क्रोध या अज्ञान वश दण्ड दिया गया तो वानप्रस्थ और सन्यासी भी कुपित हो जाते हैं फिर गृहस्थों का तो कहना ही क्या।?" दण्ड का अनुचित रूप से प्रयोग करने वाले राजा का साथ उसकी प्रजा नहीं देती। साधु और ब्राह्मण भी उसका अनुसरण नहीं करते तथा उसका जीवन खतरे में पड़ जाता है तथा अन्ततोगत्वा वह प्रजा के ही हाथ से मारा भी जाता है।"[3] ऐसी स्थिति में यह परामर्श दिया गया है कि राजा को दण्ड का प्रयोग पक्षपात हीन होकर धर्मपूर्ण रूप से करना चाहिए। अपराध करने वाले किसी भी व्यक्ति को क्षमादान नहीं देना चाहिए। नारद द्वारा राजा को यह चेतावनी दी गई है कि यदि अपराधी को दण्ड देने के कर्त्तव्य की वह अव-हेलना करता है तो इस संसार के समस्त जीवों का नाश हो जायेगा।[4] दण्ड देने के कर्त्तव्य का सम्पन्न करते समय राजा को अपने माता पिता, भाई, स्त्री तथा पुरोहित आदि में किसी प्रकार का भेद नहीं करना चाहिए। जो अपने धर्म में स्थिर नहीं रहता है उसे राजा अवश्य दण्ड प्रदान करे। राजा के लिए कोई भी अदण्डनीय नहीं है।

---

1. महाभारत, शान्ति पर्व, १२१, ४६, P ४७१५
2. महाभारत, शान्ति पर्व, १२२, २४—२५, पृ० ४७३८.
3. महाभारत, शान्ति पर्व, १२३, २८, पृ ४७४१.
4. नारद स्मृति, XVIII, १४

राजा द्वारा जब दण्ड का ठीक प्रकार से पालन नहीं किया जाता तो प्रजा कष्ट में रहती है एवं चारों ओर अधर्म तथा अन्याय का बोलबाला हो जाता है। महाभारत का कहना है कि राजा को धर्म के अनुसार न्याय अन्याय का विचार करके ही दण्ड का विधान करना चाहिए। उसे मनमानी नहीं करनी चाहिए। दण्ड का उद्देश्य सरकारी खजाने को भरना नहीं है; दण्ड के रूप में जो भी स्वर्ण लिया जाता है वह तो केवल बाहरी आवश्यकता मात्र है। असल में इसका मुख्य उद्देश्य दुष्टों का दमन करना है। "किसी छोटे से अपराध पर प्रजा का अंग भंग करना, उसे मार डालना, उसे तरह-तरह की यातनायें देना तथा उसको देह त्याग के लिए विवश करना अथवा देश से निकाल देना कदापि उचित नहीं है।"[1] धर्म की प्रतिष्ठा दण्ड के द्वारा ही सम्भव होती है। धर्म का निषेधात्मक स्वरूप ही दण्ड माना गया है। दण्ड का प्रयोग करने वाले को स्वयं भी कानून की प्रभुता स्वीकार करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त उसे अपने ऊपर नियन्त्रण भी रखना चाहिए। यदि राजा द्वारा समाज की यथास्थिति में हस्तक्षेप किया जाता है तो वह दण्ड का भागी होगा। दण्ड राज्य का आधार था। उसके स्वरूप के आधार पर यह निर्धारित होता था कि तत्कालीन युग को क्या संज्ञा दी जाये। प्राचीन भारतीय आचार्यों ने धर्म तथा दण्ड को इतना एक रूप माना है कि धर्म के संचालन में वे दण्ड की उपस्थिति देखते थे।

दण्ड का आधार एवं उद्देश्य

दण्ड का आधार शक्ति होता है। दमन के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग करके प्राचीन भारतीय आचार्यों ने स्पष्ट रूप से इसे नियन्त्रण, भय एवं उत्पीड़न से पूर्ण बना दिया। धीरे-धीरे बदलती हुई परिस्थितियों के प्रभाव से दण्ड के स्वरूप में भी परिवर्तन आया। भय पर आधारित रह कर भी दण्ड का लक्ष्य अब केवल दमन नहीं रह गया। उसके द्वारा मुख्यतः मनुष्य की मानसिक दुर्बलताओं जैसे लोभ, ईर्ष्या, महत्वाकांक्षा आदि का नियंत्रण किया जाने लगा। दण्ड के रूप में राज्य द्वारा जो शक्ति का प्रयोग सामाजिक हित के लिए किया जाता था; इस शक्ति के द्वारा न केवल अपराधी को दण्ड दिया जाता था वरन् ऐसी परिस्थितियां पैदा की जाती थीं जिनमें कोई अपराध ही न करे।

दण्ड का मूल लक्ष्य प्रजा में आतंक फैलाना नहीं था वरन् समस्त समाज की रक्षा करना था। यह अपराधियों एवं दुराचारियों को दूर करके समाज में अनुशासन की स्थापना करता था। मनु एवं कौटिल्य दोनों ने अनुशासन को राजा के कार्यों का मुख्य उद्देश्य माना है। राजा को कानून, धर्म एवं नैतिकता के आधीन बना कर उसे स्वेच्छाचारी होने से रोकने का प्रयास किया गया है। राजा दण्ड का प्रयोग स्वार्थवश, अन्यायपूर्वक एवं दुर्भावना के वशीभूत होकर नहीं कर सकता था। दण्ड की कठोरता एवं मृदुलता भी समय के अनुसार बदलती रही है।

---

1. महाभारत, शान्ति पर्व, १२२, ४०-४१, पृ० ४७३८

समाज में धर्म की स्थापना दण्ड का एक प्रमुख उद्देश्य था। यह सच है कि प्राचीन भारत में अनेक राजाओं ने अपनी शक्तियों का प्रयोग मनमाने ढंग से किया था। उनका यह व्यवहार सदैव ही एक जोखिम का कार्य था जिसके परिणामस्वरूप राज्य एवं राजा के विनाश तक की सम्भावनायें रहती थी। भारतीय आचार्यों ने सदैव ही राजा को न्यायपूर्ण व्यवहार करने के लिए कहा और ऐसा न करने पर उसके लिए विभिन्न दण्डों की व्यवस्था की। वनपुत्र के राजा बनने से पूर्व देवताओं एवं ऋषियों ने उसे सम्बोधित करते हुए कहा कि वह वचन दे कि हमेशा वैदिक धर्म की रक्षा करेगा तथा उसमें लिखित कर्त्तव्यों का दण्ड की सहायता से पालन करायेगा। राजा द्वारा दण्ड का प्रयोग धर्म के नियन्त्रण में किया जाता था इसी कारण राजा को धर्माधिकार की संज्ञा प्रदान की गई। अन्यायपूर्वक दण्ड की शक्ति का प्रयोग करने से राजा और उसकी राजधानी दोनों ही पाप के भागी बनते थे। अन्यायी राजा के लिए स्वर्ग के दरवाजे बन्द रहते थे। इस अन्यायपूर्ण व्यवहार में जिन अधिकारियों का हाथ रहता था वे भी राजा के साथ नर्क में पड़ते थे। नारद आदि आचार्यों की मान्यता है कि दण्ड का उद्देश्य जन कल्याण होता है। इस उद्देश्य को वह तभी प्राप्त कर सकता है जबकि न्यायपूर्वक व्यवहार करे। याज्ञवल्क्य के कथनानुसार शास्त्र की आज्ञा ही राजा की आज्ञा होनी चाहिए। कुल मिला कर यह कहा जा सकता है कि भारतीय आचार्यों ने दण्ड को राज्य की शक्ति माना है तो धर्म को राज्य का उद्देश्य। गांगुली महोदय के अनुसार दण्ड और धर्म का समन्वय होने पर ही 'दण्ड' संस्कृति के विकास की संस्था एवं धर्म' मानव के अन्तिम लक्ष्य का प्रतिपादक बनता था।[1]

दण्ड के रूप

उद्देश्य की दृष्टि से दण्ड के आज मुख्यतः चार रूप माने गये हैं। ये हैं—प्रतीकारात्मक (Retributive), भयरोधक (Deterrent), निरोधक (Preventive) एवं सुधारात्मक (Reformative)। प्राचीन भारत में दण्ड के ये चारों रूप परिलक्षित होते हैं। इसके अतिरिक्त उस समय के समाज में प्रायश्चित का भी प्रचलन था। यह प्रायश्चित पापों के लिए किया जाता था जबकि दण्ड अपराध के लिए दिया जाता है। इन दोनों को एक नहीं माना जा सकता। अनेक पाप या आचार सम्बन्धी अपराध ऐसे भी होते हैं जो कि दण्ड की सीमा में नहीं आते।

प्रतीकारात्मक दण्ड बदले पर आधारित होता है। इसका अर्थ है आंख के बदले आंख और दांत के बदले दांत। अपराधी को उतना ही दण्ड दिया जावे जितना कि उसका अपराध है। प्रारम्भिक समाज में दण्ड के इस रूप का अत्यधिक प्रयोग होता था। इसका कारण यह बताया जाता है कि उस समय व्यक्ति का स्वतंत्र रूप से कोई मौलिक अधिकार नहीं था। उसके

1. J N Ganguli, Philosophy of Dharma,
I H. Q. Vol. II, P. 15

अधिकार ग्राम या कुटुम्ब या समुदाय के प्रधान के द्वारा व्यक्त होते थे ।[1] वैदिक काल का समाज संघ बद्ध था । एक व्यक्ति का अपराध उसके कुटुम्ब अथवा संगठन का अपराध माना जाता था । यदि कोई व्यक्ति ऋण नहीं दे पाता था तो उसे आजीवन संघ का दास बन कर रहना पड़ता था । वैदिक काल के विश्वास के अनुसार ऋत अथवा ईश्वर इच्छा का उल्लंघन करने के फल स्वरूप कर्त्ता को दैवी प्रकोप अथवा मृत्यु का आलिंगन करना होता था । विनोग्रेडाफ (Vinogradoff) के मतानुसार यह व्यवस्था प्रायः सभी प्राचीन समाजों में पाई जाती है कि एक व्यक्ति के अपराध के लिए समूचे समाज को दण्ड दिया जाये[2] प्राचीन कालीन दण्ड का प्रतीकारात्मक 'रूप' 'दिव्य साक्षी' का था । इसके अनुसार देवताओं को विधि का संरक्षक माना गया था । देवताओं से कोई अपराध नहीं छिप सकता । वे ही दण्ड सम्बन्धी निर्णय लेते हैं ।

अवरोधात्मक दण्ड वह होता है जिसमें अपराधों को रोकने के लिए समाज के अन्य सदस्यों को चेतावनी दी जाती है । दण्ड के इस रूप द्वारा अपराधी को ऐसा बना दिया जाता है कि वह भविष्य में कभी अपराध न कर सके । इसके द्वारा भय एवं आंतक फैलाया जाता है ताकि समाज के अन्य लोग अपराध न करने की शिक्षा ग्रहण करें । मनु का कहना है कि चोर जिस अंग से चोरी करे उसका वही अंग कटवा दिया जाना चाहिए ताकि वह फिर कभी चोरी न कर सके । बृहस्पति ने अपराधों के लिए प्राण दण्ड तक का समर्थन किया है । शुक्र के अनुसार पापी को दण्ड देने का अर्थ है अपराधों को रोकना । प्राचीन काल में दण्ड प्रायः सार्वजनिक स्थानों पर दिये जाते थे, अपराधी को अंगहीन कर दिया जाता था जीवन भर के लिए उसके निशान लगा दिया जाता था, खुले स्थानों पर फांसी दी जाती थी । वैदिक एवं बौद्ध साहित्य में दण्ड के जिस क्रूर रूप का वर्णन किया गया है उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस काल में दण्ड का अवरोधात्मक रूप अधिक प्रचलित था । अंगहीन करने के तथा मृत्यु दण्ड देने के तरीके इतने भयंकर थे कि उन्हें देखकर कोई भी अपराध करने का साहस नहीं कर पाता था । इतने भयानक दण्ड प्रायः स्त्री, शूद्र, दास, अवैदिक जाति एवं सम्प्रदाय के लोगों को अधिक दिये जाते थे । दण्ड देते समय यह ध्यान रखा जाता था कि व्यक्ति ऐसा न बन जाये कि जीविकोपार्जन भी न कर सके । मनु ने जेल की व्यवस्था सार्वजनिक स्थानों पर की है ताकि अन्य लोग भी उसे देखकर सबक ग्रहण कर सकें । अपराधियों को आजीवन कारावास की व्यवस्था भी की गई थी ।

दण्ड का निरोधात्मक रूप अवरोधात्मक एवं सुधारात्मक के बीच समन्वय स्थापित करता है । अवरोधात्मक दण्ड का लक्ष्य नागरिकों को

---

1. हरिहर नाथ त्रिपाठी, पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ २२७
2. Vinogradoff, Common Sense in Law, P. 243

जीभ, दोनों कान, नाक, गर्दन, आधे पाव, अंगूठा, अंगुलियां, सिर, ओठ, कूल्हे आदि। इन स्थानों पर अपराधी को कष्ट देने के लिए अनेक तरीकों का वर्णन किया गया है। कौटिल्य ने अपराधी को दारुण दुःख देने के लिए विभिन्न तरीकों का वर्णन किया है।

अपराधी को दारुण दुःख देते समय उस पर कोड़ों से मार लगाई जाती थी, बेंत से पीटा जाता था, डण्डे से मारा जाता था, हाथ या पाव या दोनों ही काट दिए जाते थे। उसके नाक और कान काट लिए जाते थे। अपराधी के सिर पर गर्म लोहे का गोला रखा जाता था ताकि उसका दिमाग उबलने लगे। लोहे के औजार से अपराधी के मुंह को खोल कर उसमे तेल भरा जाता था तथा उस तेल में दिया जलाया जाता था। अपराधी के शरीर मे तेल मल दिया जाता था और उसमे आग लगा दी जाती थी। अपराधी को जमीन में जिन्दा आधा गाड़ दिया जाता था। इसी प्रकार अन्य दारुण दुःख भी अपराधियों को प्रदान करने की व्यवस्था की गई थी। इस प्रकार के दण्डों को हम शारीरिक दण्ड की श्रेणी में रख सकते हैं। कौटिल्य के कथनानुसार लोक व्यवहार में चार प्रकार के दण्ड प्रसिद्ध हैं छह डण्डे मारना, सात कोड़े मारना, हाथ पैर बांध कर उल्टा लटका देना और नाक मे नमक का पानी डालना।[1] इन चार दण्डों के अतिरिक्त चौदह अन्य दण्डों का भी वर्णन किया गया है जो पापाचारी पुरुष को प्रदान किये जाते थे। ये हैं—नौ हाथ लम्बी बेंत से बारह बेंत लगाना, दोनो पांवों को बांध कर करंज की छड़ी से मारना, बत्तीस थप्पड़ मारना, बायें हाथ को पीछे बायें पैर से और दायें हाथ को दायें पैर से बांधना, दोनों हाथ आपस मे बांध कर लटका देना, दोनों पैर आपस में बांध कर लटका देना, हाथ के नाखून में सूई चुभाना, लस्सी पिला कर पेशाब न करने देना, अंगुली की एक पोर जला देना, घी पिला कर पूरे दिन आग के पास या धूप में बैठाना, जाड़ों की रात में भीगी हुई खाट पर सुलाना आदि। इन समस्त प्रकार के दण्डों द्वारा अपराधी को शारीरिक कष्ट प्रदान करने का प्रयास किया जाता था। कौटिल्य ने कुछ अपराधियों को आर्थिक दण्ड के विकल्प के रूप में भी शारीरिक दण्ड प्रदान करने की बात कही है। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है कि गाय, भैंस आदि पशुओं या दास अथवा दासी को चुराने वाले अथवा मुर्दे के कपड़े बेचने वाले पुरुष के दोनों पैर काट लिये जाय अथवा उस पर सातसौ पण का दण्ड किया जाय।[2]

शारीरिक दण्ड देते समय असमर्थ एवं वृद्ध लोगों को कुछ विमुक्तियां प्रदान की गई थी। कौटिल्य का कहना है कि "छोटे अपराधी, बालक, बूढ़ा, बीमार, पागल उन्मादी, भूखा, प्यासा, थका, अतिभोजन किये, अजीर्ण, रोगी

---

1 कौटिलीय-अर्थशास्त्रम्, वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा, विद्या भवन, वाराणसी—1, 1962, P. 461

2. वही पुस्तक, पृष्ठ—472

और निर्बल आदि व्यक्तियों को कोड़े आदि मार कर दण्ड न दिया जाये।" इसी प्रकार उन्होंने गर्भिणी एवं एक महीने से कम प्रसूता स्त्री को दण्ड देने की पूर्णतः मनाही की है। अनेक दण्ड जो उन्होंने पुरुष अपराधियों को देने के लिये बताये हैं, स्त्रियों को उनमें से आधे अथवा पूरे दण्ड माफ करने की बात कही गई है। यदि दण्ड के रूप में किसी से कठोर शारीरिक परिश्रम कराया जाये तो उसे एक-एक दिन के अन्तर पर किया जाये।

आर्थिक दण्ड

शारीरिक दण्ड की भांति आर्थिक दण्ड के भी अनेक भेद हैं। कौटिल्य ने प्रथम साहस, मध्यम साहस और उत्तम साहस के रूप में इसके तीन भेद किये हैं। विभिन्न भारतीय ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में भिन्नता पाई जाती है कि एक अपराधी को दण्ड के रूप में कितने पण का जुर्माना किया जाये। इतने पर भी अर्थ दण्ड के उक्त तीन भेदों को प्रायः सभी आचार्य स्वीकार करते हैं। मुद्रा के रूप में जो भी धन प्राप्त होता था वह सीधा राज कोष में जमा किया जाता था। दण्ड के रूप में मुद्रा के स्थान पर पशु भी लिये जा सकते थे। महाभारत आदि ग्रन्थों ने यह स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि दण्ड के रूप में प्राप्त धन का उद्देश्य राज कोष की वृद्धि कदापि नहीं है। जुर्माने के रूप में जो धन लिया जाता था उसका एक अंश पीडित व्यक्ति को भी प्रदान करने की व्यवस्था थी। बड़े पापियों से दण्ड स्वरूप प्राप्त धन को राजा ग्रहण नहीं करता था। उसे देवताओं या ब्राह्मणों की सेवा में अर्पित कर दिया जाता था।

बन्धन में डालना

अपराधी को दण्ड स्वरूप कारावास में डाल दिया जाता था। आचार्यों ने विभिन्न प्रकार के अपराधों के लिए अलग प्रकार से कारावास की व्यवस्था नहीं की है। सम्भवतः इसका कारण भारतीय राजनीतिक विचारकों की यह धारणा थी कि छोटे-मोटे अपराध के लिये अपराधी को कारावास में नहीं डालना चाहिये। यह दण्ड तो केवल तभी प्रदान किया जाये जबकि एक व्यक्ति को बन्धन में रोके रखना परमावश्यक हो। छोटे अपराधों के लिये अर्थ दण्ड ही पर्याप्त था। जो गरीब धन न दे सके उससे बदले में काम कराया जाता था। बन्धन की आवश्यकता बड़े अपराधों में इसलिये समझी जाती थी क्योंकि सामाजिक हानि को रोकने के लिये व्यक्ति को समाज से दूर रखना आवश्यक था ताकि उसका सुधार भी हो जाये। यदि अपराधी भयानक हैं और उसमें सुधार के अवसर कम दिखाई देते हैं तो उसे आजीवन कारावास भी दिया जा सकता था। कारावास के सम्बन्ध में भारतीय विचारकों का विश्वास था कि यह समाज को अपराधों से केवल सामयिक मुक्ति प्रदान कर पाते हैं। इसके अतिरिक्त कारावास में रह कर अपराधी सुधरने की अपेक्षा अन्य अपराधियों के सम्पर्क में आकर और बिगड़ जाता है। जॉन स्पैलमैन (John Spellman) के कथनानुसार 'कारावास कम से कम मौर्य काल से

निश्चय ही भारतीय दण्ड की एक विशेषता रही है।[1]

भारती ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में बहुत कम कहा गया है कि इन अपराधों के लिए व्यक्ति को कारावास दण्ड दिया जाय और कितने समय तक के लिए दिया जाये। मनु ने कारावास को दण्ड का एक तरीका माना है। उनके मतानुसार कारावास को सार्वजनिक रास्तों पर बनवाया जाना चाहिये ताकि जन-साधारण पापियों को देख सकें। कौटिल्य का अर्थ-शास्त्र पढ़ने से एक सुसगठित कारावास व्यवस्था का ज्ञान होता है। कौटिल्य का ऐसा मत जान पड़ता है कि वह कारावास दण्ड के पक्ष मे कम था और ऐसा प्रयास करने का परामर्श देता था जिससे कि कारावास मे कम से कम व्यक्ति रहें। अर्थ शास्त्र मे कारावास के प्रशासन से सम्बन्धित विस्तृत नियम दिये गये हैं। उसमे स्त्री और पुरुषों के लिए अलग-अलग स्थानों की व्यवस्था है, साथ ही गुप्त कक्ष रखने की बात भी कही गई है। शुक्र का मत है कि मृत्यु दण्ड की भांति आजीवन कारावास का दण्ड कम से कम दिया जाना चाहिये। एक मास से ले कर एक वर्ष तक का कारावास दण्ड पर्याप्त है। बौद्ध जातकों में कारावास का विस्तृत वर्णन मिलता है। अपराधी का कारावास जीवन अत्यन्त कठोर होता था। प्राय वह जञ्जीरों मे बधा रहता था, उसकी बड़ी दुर्दशा की जाती थी। बन्दी बहुत कुछ राजा अथवा अपने जेलर की दया पर आश्रित रहते थे। कौटिल्य ने बन्दी जीवन की कठोरता को विनियमित करने के लिये गम्भीर प्रयास किये। उसके मतानुसार यदि किसी बन्दी का अपराध बताये बिना उसे जेल में डाला जाता है या अनुचित यातना दी जाती है या अन्य स्थान पर बदल दिया जाता है या भोजन पानी से वचित किया जाता है तो जेल के सचालक पर जुर्माना किया जाना चाहिये। जेल के बन्दियों को अनेक खुशियों एव आवश्यकताओं पर रिहा करने की परम्परा थी।

मृत्यु दण्ड

यह दण्ड का अन्तिम एव सबसे कठोर प्रकार है। इस दण्ड का प्रयोग [illegible]

अपराध माना जाने लगा। इसके लिए मृत्यु दण्ड की व्यवस्था की गई। मनु का कहना है कि यदि व्यक्ति अपने किये गये अपराध का प्रायश्चित नहीं करता है तो उसको यह दण्ड दिया जाना चाहिये। कौटिल्य के मतानुसार यदि अपराधी ने शस्त्र द्वारा किसी की हत्या की है तो उसको मृत्यु दण्ड दिया जाना चाहिये। मनु आदि स्मृतिकारों का कहना है कि यदि निम्न वर्ण के लोग उच्च वर्णों की स्त्री से सम्बन्ध करले तो उनको यह दण्ड देना चाहिए अथवा उनका मास कुत्तों को खिला देना चाहिए।

---

1. Imprisonment was certainly a feature of Indian punishment, at least as early as Mauryan times.
—John W. Spellman, op. cit., P. 117

महाभारत, शान्तिपर्व में मृत्यु दण्ड की समस्या के दोनों पहलुओं पर विचार किया गया है। उसका निष्कर्ष है कि यह दण्ड दिया जाना चाहिये। इस दण्ड के विरुद्ध कई एक तर्क दिये गये, जैसे—जिन लोगों का वध किया जाता है उन पर आश्रित लोग निराश्रित बन जाते हैं और वे भी नष्ट हो जाते हैं। दूसरे, दुष्ट पुरुष यदि जीवित रहें तो हो सकता है कि उनकी आने वाली संतान भली निकल जाये किन्तु उनकी हत्या करके तो यह सम्भावना ही समाप्त कर दी जाती है। तीसरे, व्यक्ति पर संगत का प्रभाव पड़ता है। यदि मृत्यु दण्ड के योग्य व्यक्तियों को अच्छी संगत में रखा गया तो वे सुधर जायेंगे। ऐसे लोगों को ब्राह्मणों के बीच रख दिया जाये तो वे भी कालान्तर में ब्राह्मण बन जायेंगे। इस दण्ड का पक्ष लेते हुए इसे समय की आवश्यकता बताया गया। कहा गया कि प्रारम्भ में केवल वाग्दण्ड से ही काम चल जाता था बाद में कटु वचन कहने की आवश्यकता हुई। बाद में अपराध की प्रवृत्ति इतनी बढ़ी कि अर्थ दण्ड देना प्रारम्भ हो गया। कुछ समय बाद अर्थ दण्ड भी लोगों को मर्यादा में रखने में असमर्थ हो गया। कुछ लोग इस प्रकार के अपराधी बन गये कि उनमें सुधार की कोई सम्भावना नहीं रह गई। जिन महापापियों के सुधार की सम्भावनायें समाप्त हो जाती हैं उनको मृत्यु दण्ड देना परम आवश्यक बन जाता है।

प्राचीन भारत में मृत्यु दण्ड के विभिन्न प्रकार थे। चोर के हाथ काटने के बाद उसे मार दिया जाता था। चोर की सहायता करने वाले को भी मृत्यु दण्ड दिया जाता था। अपराधी को जहर पिला कर उसे हाथी के पांवों के नीचे डाल कर कुचलवा दिया जाता था। स्त्रियां यदि व्यभिचारी बन जायें अथवा कोई गम्भीर अपराध करें तो उनका अंगच्छेद करके उन्हें जला दिया जाता था। यदि कोई व्यक्ति कृषि के साधनों को नष्ट करता था तो उसके गले में पत्थर बांध कर जल में डुबो दिया जाता था। याज्ञवल्क्य के अनुसार गर्भ गिराने वाली, बांध को तोड़ने वाली या पुरुष की हत्या करने वाली स्त्री को मृत्यु दण्ड दिया जाना चाहिये। जो व्यक्ति दूसरों को मारने के लिए जहर देता था या किसी गांव को जलाने के लिए अग्नि देता था उसे बैलों के आगे फेंक दिया जाता था ताकि वह उनके सींगों से ही नष्ट हो जाये। राजपत्नी के साथ गमन करने वाले को तथा घर, क्रीड़ावन या गांव आदि जलाने वाले को आग में जला कर मार दिया जाता था।

अन्य प्रकार के दण्ड

प्राचीन भारत में अपराधियों को शारीरिक, आर्थिक, कारावास आदि का दण्ड देने के अतिरिक्त अन्य प्रकार के दण्डों की भी व्यवस्था की गई थी। मुंह एवं कान में गर्म तेल डाल देना, मुंह में गर्म लोहे की शलाक डालना, जिह्वा का छेदन कर देना, नाक-कान काट लेना शरीर पर भिन्न-भिन्न प्रकार के निशान बना देना, व्यभिचारी स्त्री का सिर-मुण्डन करा देना, देश निकाला देना, शरीर पर कोड़े लगाना आदि-आदि। बौद्ध-जातकों में अनेक उग्र दण्डों का वर्णन किया गया है जिनके अध्ययन मात्र से ही रोमांच हो जाता है। एक स्थान पर स्वयं भगवान बुद्ध ने बारह प्रकार के ऐसे दण्डों

का वर्णन किया है। ये हैं—

१. शंख मुण्डिका—सिर की चमड़ी छील कर शंख के समान बना देना,
२. राहु मुख—कानों तक मुंह को फाड़ देना,
३ ज्योतिर्मालिका—शरीर में कपड़ा लपेट कर, उसे तेल में भिगो-कर आग लगा देना,
४ हस्त प्रज्योतिका—हाथों मे कपड़ा लपेट कर उनमें आग लगा देना,
५ एरक वर्तिका—गर्दन तक खाल उतार कर उसे घसीटना;
६ चैरिक वासिका—ऊपर से खाल खींच कर कमर तक पहुंचाना और नीचे से कमर तक खाल खींच देना,
७ ऐणेयक—कोहनी तथा घुटनों मे लोहे की कीलें ठोक देना और उन्हीं के सहारे जमीन पर टिका कर आग लगा देना;
८ वार्ड सम्भासिका—अपराधी को बशी के समान लोहे का अंकुश आदि निकलवा कर उसे बाहर खींचना ताकि भीतर से उसका गला फट जाये,
९. कार्षापणक—पैसे-पैसे भर मांस काट कर अलग करना,
१० क्षारापतञ्छिका—शरीर को चीर कर उसमें नमक या क्षार भरना,
११ परिघि परिवर्तिका—दोनों कानों में कील ठोक कर उस कील को जमीन में गाड़ना तथा शरीर को चारों ओर से घुमाना;
१२ लालपीठक—मुगरी मार कर शरीर की हड्डियों को भीतर ही भीतर चूर कर देना और शरीर को मांस पिण्ड बना देना।

ये समस्त दण्ड अपराधों की पुनरावृत्ति को रोकने के लिए दिये जाते थे ताकि समाज, राज्य एवं धर्म की रक्षा की जा सके। भारतीय ग्रन्थों में जहां भी दण्ड का विधान किया गया है उसे देखने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्यों ने अपराधियों की दो श्रेणियां मानी थीं—कुछ लोग परिस्थितियों-वश अपराधी बन जाते हैं और कुछ अपनी आन्तरिक दुष्प्रवृत्तियों के कारण अपराध करते हैं। दण्ड देते समय देश, काल एवं अपराध की प्रकृति पर पूर्ण रूप से विचार करने की बात कही थी। जो व्यक्ति परिस्थिति-वश कोई अपराध करता है उसे दण्ड देते समय सम्बन्धित परिस्थिति पर भी भली प्रकार विचार कर लिया जाना चाहिए। जो लोग दुष्ट प्रकृति के होते हैं उनको केवल दण्ड देकर ही ठीक किया जा सकता है क्योंकि बिना ऐसे लोगों को दण्ड दिये समाज में सुव्यवस्था कायम नहीं की जा सकती।

भारतीय आचार्यों ने दण्ड का विधान करते समय इस बात का ध्यान रखा था कि समाज व्यवस्था ऐसी हो जिसमें व्यक्ति को अपराध करने की

आवश्यकता महसूस न हो और न ही कोई व्यक्ति दुष्ट प्रकृति का बने। समाज को वांछनीय बनाने के साथ–साथ मनुष्य को इतना शुद्ध बनाने की बात कही गई कि वह स्वयं ही अपराध से घृणा करने लगे। इसके लिए स्वर्ग-नर्क, पाप-पुण्य, पुनर्जन्म, कर्मफल आदि की कल्पनायें की गई। व्यक्ति यदि जाने या अनजाने में किसी कारणवश अपराध कर भी बैठे तो उसके लिए प्रायश्चित का विधान भी किया गया। जो व्यक्ति अपराध करने के बाद भी उसका प्रायश्चित करने के लिए तैयार नहीं होता वह असल मे दुष्ट प्रकृति का रहा होगा। ऐसे व्यक्ति को दण्ड देकर ही ठीक किया जा सकता था। मनु तथा वशिष्ठ की मान्यता थी की अपराध करने वाले लोग राजा द्वारा दण्ड पाकर पवित्र हो जाते है तथा पुण्यात्माओं की भाति वे सीधे स्वर्ग को जाते हैं। भारतीय आचार्यों ने दण्ड को इसी रूप में सुधारात्मक माना था कि इससे अपराधी बुरे मार्ग से हट कर सही मार्ग पर आ जाते हैं। उन्होंने अपराधियों के सुधार के लिए किसी विद्यालय अथवा प्रशिक्षणालय की व्यवस्था का सुझाव नहीं दिया था वरन् दण्ड के माध्यम से ही उनको ठीक करने की बात कही थी। दमन, प्रतिरोध, निरोध एवं नियन्त्रण द्वारा समाज में से अपराधों को मिटाने का प्रयास किया गया था। वे दण्ड के द्वारा ही समाज में से दुष्प्रवृत्तियों को मिटाना चाहते थे। उनका विश्वास था कि दण्ड के भय से ही सब लोग अपनी मर्यादा में रहते हैं। यदि दण्ड न हो तो प्रत्येक व्यक्ति अपराध करेगा।

दण्ड सम्बन्धी विमुक्तियां

भारतीय आचार्यों ने अपराधियों के लिए दण्ड की व्यवस्था करते समय उनके अपराध, आयु, परिस्थिति, व्यक्तित्व आदि बातों पर ध्यान देने की बात कही है। इन पर विचार करने के बाद निर्णय लेने के कारण दण्डधर को कुछ स्वविवेक के अधिकार प्राप्त हो जाते थे। न्यायाधीश चाहे तो इन तत्वों के आधार पर मानवता के विचार को ध्यान में रखता हुआ कुछ अपराधियों को दण्ड से विमुक्ति भी प्रदान कर सकता था। कुछ प्रकार के अपराधियों को दण्ड से विमुक्ति देने के पीछे उनको सुधारने की धारणा ही कार्य करती थी। स्त्री, रोगी, १६ वर्ष से कम आयु का बालक तथा ८० वर्ष से अधिक आयु का वृद्ध आदि के दण्ड को आधा कर दिया जाता था। पांच वर्ष से अधिक तथा ११ वर्ष से कम की आयु वाले बालक को राजा की ओर से दण्ड नहीं दिया जाता था वह प्रायश्चित से ही अपने अपराध से उन्मुक्त हो जाता था। अपराध से मुक्ति की न्यूनतम आयु के सम्बन्ध में भारतीय आचार्यों में कुछ असमानता थी। शंख ने अपराधों से मुक्ति की न्यूनतम आयु पांच वर्ष मानी है जबकि माण्डव्य द्वारा इसे चौदह वर्ष माना गया है।

यह माना जाता था कि यदि किसी अल्पवयस्क अपराधी के साथ कोई वयस्क व्यक्ति संलग्न है तो उस अपराध का दायित्व पूर्ण रूप से वयस्क व्यक्ति पर पड़ता था। इस बात को उदाहरण सहित समझाते हुए कौटिल्य ने बताया है कि यदि रथ को एक अल्पवयस्क चला रहा है और उस रथ में एक वयस्क चालक भी बैठा है तो रथ चालन सम्बन्धी किसी भी अपराध के लिए उस

वयस्क चालक को ही उत्तरदायी ठहराया जायेगा।

अपराधों में पूर्ण विमुक्तियों के अतिरिक्त आंशिक विमुक्तियों का भी विधान किया गया था। उम्र, मानसिक अवस्था, आर्थिक स्थिति, शारीरिक स्वास्थ्य, लिंग भेद आदि के आधार पर दण्डों में कुछ विमुक्तियां प्रदान की जाती थीं। अज्ञानवश किये गये दण्ड पर भी इसी प्रकार की छूट दी जाती थी। पागल व्यक्ति द्वारा किये गये अपराध को सामान्य व्यक्ति द्वारा किये गये अपराध के समकक्ष नहीं माना जाता था। राजा मिलिन्द के संवाद में यह स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है कि एक पागल व्यक्ति द्वारा किये गये अपराध के अनुसार उसे दण्ड नहीं दिया जाता। उसका कार्य क्षमायोग्य होता है। जहां एक सामान्य व्यक्ति को मृत्यु दण्ड दिया जाता है वहां पागल को केवल पीटा जायेगा तथा उसे छोड़ दिया जायेगा। उसके लिए केवल यही दण्ड पर्याप्त है। हत्या, चोरी, डाका, गाली गलौज आदि अपराधों में दण्ड की व्यवस्था करते समय वर्ण के आधार पर भेद किया जाता था। शूद्रों एवं अन्य निम्न वर्ण के लोगों की अपेक्षा ब्राह्मणों को एक ही अपराध के लिए हल्का दण्ड दिया जाता था। उनके दण्डों के बीच मात्रा एवं प्रबलता का अन्तर होता था। समाज में ब्राह्मणों का उच्च स्थान था। अतः अन्य को जहां शारीरिक दण्ड दिया जाता था वहां उनका अपमान करना तथा सामाजिक स्तर को गिराना ही पर्याप्त माना जाता था। मृत्यु दण्ड भी दिया जा सकता था। मनु के विचारों को अभिव्यक्त करते हुए स्मृतिचन्द्रिका में कहा गया है कि ब्राह्मणों को शारीरिक दण्ड न देकर जेल की सजा दी जा सकती है।

ब्राह्मणों को जहां एक ओर दण्ड से कुछ विमुक्तियां प्रदान की गई थीं वहां कुछ स्थितियों में उनके लिए कठोर दण्ड का विधान भी किया गया था। शंख लिखित का कहना है कि राजा का पिता, परिवार, पुरोहित, अभ्यागत एवं अरण्यवासी साधु आदि अदण्ड्य होते हैं। इसका अर्थ यह कदापि नहीं होता कि वे कोई भी अपराध करें और उनको दण्ड ही न दिया जाये। इनको ऐसे दण्ड से छूट दी गई है जो कि उनकी क्षमता के बाहर है, उदाहरण के लिए अरण्यवासी साधु को धन दण्ड नहीं दिया जा सकता। यदि दिया भी गया तो स्वाभाविक है कि वह केवल चोरी करके ही उसे चुका पायेगा। इस प्रकार के अनुपयुक्त दण्ड समाज से अपराधों को दूर करने की अपेक्षा उनको बढ़ाते हैं। भारतीय आचार्यों ने इस बात को ध्यान में रखा था। वैसे गम्भीर अपराधों के लिए ब्राह्मण को भी मृत्यु दण्ड दिया जा सकता था। यदि ब्राह्मण गर्भपात, स्तेय राजा के अन्तःपुर में प्रवेश, ब्राह्मणी पर शस्त्र घात एवं राजद्रोह आदि का दोषी है तो उसका भी वध किया जा सकता था। कई एक संस्कृत नाटकों तथा बौद्धजातकों में ब्राह्मणों को मृत्यु दण्ड देने के उदाहरण प्राप्त होते हैं।

आततायी व्यक्ति चाहे वह ब्राह्मण हो अथवा गुरु—उसकी हत्या को दोष नहीं माना गया है। अन्याय का पक्ष लेने वाला यदि वेदविज्ञ भी रण में आ जाता है तो उसके मारने में पाप नहीं लगता। ब्राह्मण को जो सुविधाएं

प्रदान की गई थी वे केवल प्रथम अपराध पर ही लागू होती थी। यदि ब्राह्मण द्वारा अपराधों की पुनरावृत्ति की जाती है तो वह भी एक साधारण नागरिक की तरह से दण्डित होगा। यदि ब्राह्मण किसी व्यभिचार या बलात्कार का दोषी है तो उसे अपेक्षाकृत अधिक दण्ड दिया जाता था। भारतीय दण्ड विशेषज्ञों ने व्यक्ति की जन्मजात विशेषताओं का दण्ड विधान के साथ अद्भुत रूप में समन्वय किया था।

पुनरीक्षा

प्राचीन भारतीय राजनीति शास्त्र के प्रणेताओं ने सम्पत्ति एवं दण्ड की संस्थाओं पर व्यापक रूप से विचार किया। सम्पत्ति के सम्बन्ध में विचार करते समय उन्होंने उसके महत्व और उनके उपाय व्यक्तिगत स्वामित्व की सीमाएं, राज्य का नियन्त्रण, सम्पत्ति पर राज्य का स्वामित्व, आदि समस्याओं पर विस्तार के साथ विचार किया। सम्पत्ति की भांति दण्ड की संस्था के विभिन्न पहलुओं के सम्बन्ध में भी उनके विचार विस्तृत रूप से देखने को मिलते हैं। भारतीय अपराध शास्त्र ने अपराधों के नैतिक, धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं मनोवैज्ञानिक, आदि विभिन्न पहलुओं पर गहराई के साथ विचार किया। एक व्यक्ति अपराध क्यों करता है तथा उसे अपराध करने से किस प्रकार जा रोका सकता है? यह प्रश्न भी उनके विचार का विषय रहा। भारतीय आचार्यों की मान्यता थी कि व्यक्ति प्रायः परिस्थितियों के कारण अपराध करते हैं। इसलिए किसी प्रकार के दण्ड का विधान करने से पूर्व उन परिस्थितियों पर विचार कर लेना अत्यन्त आवश्यक माना गया जिन्होंने कि व्यक्ति को अपराध करने के लिए प्रेरित किया था। समान परिस्थितियों में रह कर भी एक व्यक्ति अपराध करता है और दूसरा व्यक्ति नहीं करता। इस तथ्य से भी ये विचारक अपरिचित नहीं थे। उनका विश्वास था कि कुछ व्यक्ति स्वभाव से ही दुष्ट प्रकृति के होते हैं। ऐसे लोगों को केवल दण्ड देकर ही ठीक किया जा सकता था। दण्ड का उद्देश्य समाज को अपराधहीन बनाना था। अपराधी का सुधार दण्ड का एक स्वाभाविक परिणाम था। अपराधी के सुधार के लिए उन्होंने कोई सकारात्मक कदम नहीं सुझाया क्योंकि उनका विश्वास था कि कोई व्यक्ति केवल दण्ड के भय से ही अपराध करने से रोका जा सकता है।

६

प्राचीन भारत में सरकार की प्रकृति एवं क्रियाएं

[THE NATURE AND ACTIVITIES OF THE GOVERNMENT IN ANCIENT INDIA]

सरकार राज्य का एक अंग होती है जो कि उसकी नीतियों को क्रियान्वित करने तथा देश में शान्ति व्यवस्था स्थापित करने के दायित्व को निर्वाह करती है। सरकार की प्रकृति, उद्देश्य, संगठन, रूप आदि का निर्धारण इस बात से होता है कि हम उससे क्या कार्य लेना चाहते हैं। राज्य के आकार एवं जनसंख्या के राजनैतिक स्तर पर भी सरकार के संगठन की जटिलता का स्तर निर्भर करता है। एक बड़े आकार के राज्य की समस्याएं अत्यन्त जटिल होती हैं। उनको सुलझाने के लिए सरकार का संगठन भी अत्यन्त जटिलतापूर्ण करना होता है। प्राचीन भारत में सरकार की प्रकृति एवं कार्य समय की परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं के कारण बदलते रहे हैं। इस सम्बन्ध में डा० बेनी प्रसाद का यह कहना उपयुक्त प्रतीत होता है कि 'हिन्दू राजनैतिक संस्थाओं की प्रकृति एवं कार्य यहां के भूगोल, जातीय विशेषतायें, सामाजिक संगठन एवं आर्थिक परिस्थितियों से बहुत कुछ प्रभावित थे।"[1] सरकार के स्वरूप एवं प्रकृति पर प्रभाव डालने वाले इन तत्वों के सम्बन्ध में दो शब्द कहना यहां अनुपयुक्त न होगा।

भौगोलिक तत्वों ने भारत के राजनैतिक इतिहास को पर्याप्त प्रभावित किया है। उत्तरी भारत में पहाड़ी, झील या महानदियों के प्रभाव के कारण कोई स्थायी राजनैतिक सीमा न रह सकी। प्रत्येक राज्य अपने पड़ोसी राज्य के भाग को मिलाने में रुचि लेता था। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक था कि उस समय का जनमत एवं राजनैतिक दर्शन बड़े राज्य, समुद्रपर्यन्त राज्य एवं सार्वभौमिक साम्राज्य को प्रशंसा की नजर से देखता। इस आदर्श को यथार्थ

---

1. The nature and working of Hindu political institutions were largely affected by geography, Racial Characteristics, Social Organisation and economic conditions
—Dr. Beni Prasad, The State in Ancient India, P. 3

बनाने के लिए अनेक प्रयास किये गये। फलतः इस प्रदेश के राज्य निरन्तर पारस्परिक युद्ध की स्थिति में रहते थे। इससे इनकी सरकार की बनावट एवं कार्यप्रणाली पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। सरकार के अन्य रूपों की अपेक्षा राजतंत्र को प्राथमिकता दी जाने लगी। सेना पर अधिक खर्चा होने के कारण जनता से अधिक कर लिया जाता था। समय-समय पर बड़े साम्राज्य अस्तित्व में आये किन्तु विघटनकारी शक्तियों के निरन्तर कार्य रत रहते हुए तथा उपयुक्त संचार साधनों के अभाव में वे अधिक समय तक न रह सके।

सरकार के स्वरूप एवं प्रकृति पर प्रभाव डालने वाला एक अन्य महत्वपूर्ण तत्व सम्बन्धित राज्य का आर्थिक जीवन है। प्राचीन काल से ही सम्पूर्ण भारत का मुख्य व्यवसाय कृषि रहा है। कृषि के तरीके प्रायः सम्पूर्ण देश में एक जैसे ही अपनाये जाते थे। कृषि जीवन में निहित रूढ़िवादिता पूरे देश की विशेषता थी। किसी गम्भीर आर्थिक परिवर्तन के अभाव में यहां का राजनैतिक एवं सामाजिक जीवन भी अपरिवर्तन प्रायः बना रहा। सरकार के रूप एवं कार्यों का निर्धारण करने में प्राचीन भारत के कृषि प्रधान जीवन ने पर्याप्त महत्वपूर्ण योगदान किया।

इस दृष्टि से महत्वपूर्ण एक अन्य तत्व जनसंख्या है। प्राचीन भारत की जनसंख्या यहां-तहां बसे गांवों में रहती थी। जनसंख्या कम होने के कारण आज की अपेक्षा कम घनी थी। अधिकतर लोग गांवों में रहते थे। वहां भी उनका जीवन एकीकृत की अपेक्षा बिखरा हुआ अधिक था। यह स्थिति यूनान की उस स्थिति से ठीक विपरीत थी जिसने वहां पर प्रजातंत्रात्मक संस्थाओं के जन्म एवं विकास को सम्भव बनाया था।

आदि काल में सरकार का रूप

प्राचीन भारत में सरकार के प्रजातंत्रात्मक रूप के लिए आवश्यक शर्तों का अस्तित्व नहीं था। जनसंख्या की बिखरी हुई बसावट इसकी एक बाधा थी। इसके अतिरिक्त प्रत्येक राज्य का आकार भी कुछ इस प्रकार का था कि प्रजातंत्रात्मक शासन व्यवस्था को क्रियान्वित होने में कठिनाई का अनुभव होता। संचार साधनों के अभाव से उत्पन्न स्थिति में प्रजातंत्र का प्रतिनिधित्वपूर्ण अथवा प्रत्यक्ष रूप सम्भव न था। इसके अतिरिक्त प्रजातंत्र का नैतिक स्तर जाति व्यवस्था के व्यवहार ने और भी खण्डित कर दिया था। वर्गीय, व्यावसायिक एवं सामाजिक समूहों के रूप में स्थित असमानता के व्यवहार ने प्रजातंत्रात्मक मूल्यों पर कुठाराघात किया। डा० बेनी प्रसाद के मतानुसार जाति व्यवस्था ने कुलीनतंत्र को भी सरकार के एक रूप का स्तर प्राप्त न करने दिया।[1] जाति व्यवस्था ने समाज की बौद्धिक, सैनिक, एवं आर्थिक शक्ति को विभिन्न संभागों में विभाजित कर दिया तथा इन

---

1. Caste, however, also struck against aristocracy as a form of government.
   —Dr. Beni Prasad, op. cit., Pp. 7-8.

शक्तियों को किसी भी एक ऐसे समूह में एकीकृत होने से रोक दिया जो कि शेष समाज पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर सके।

प्रजातन्त्र एवं कुलीनतन्त्र के विपरीत परिस्थितियों ने राजतन्त्र को उस समय की सरकारों का प्रभावपूर्ण रूप बना दिया। उस समय के भौगोलिक, आर्थिक एवं सामाजिक तत्त्वों ने जिस स्थिति का निर्माण किया उसका सामना सरकार के अन्य किसी रूप के द्वारा नहीं किया जा सकता था। केवल राजतन्त्रात्मक सरकार द्वारा ही बड़े प्रदेश को एकीकृत किया जा सकता था।

सामाजिक संगठन में स्थित जाति व्यवस्था ने स्वाभाविक रूप से प्रशासकीय निकाय की रचना एवं कार्यों पर प्रभाव डाला। शासन संचालन का कार्य क्षत्रियों को सौंपा गया। यद्यपि इतिहास में इसके अपवाद भी प्राप्त होते हैं किन्तु सामान्यतः इस नियम का पालन किया जाता था। इसके साथ ही ब्राह्मणों का सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टि से पर्याप्त सम्मान था। बौद्धिक दृष्टि से वे इतने शक्ति सम्पन्न थे कि राजनैतिक जीवन के व्यवहारों में उनकी अवहेलना नहीं की जा सकती। पुरोहित अथवा मन्त्री के रूप में ब्राह्मणों द्वारा राजा को पूरा सहयोग प्रदान किया जाता था। जब कभी राजा के सामने कोई कानूनी विवाद आता था तो उसे विचार-विमर्श के लिए ब्राह्मणों की परिषदों अथवा समितियों के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता था। ब्राह्मणों का समर्थन प्राप्त होने के बाद ही एक सरकार को नैतिक समर्थन प्राप्त हो पाता था।

प्राचीन भारत में सरकार का रूप, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, प्रत्येक समय एवं स्थान में एक जैसा ही नहीं रहा है वरन् उसमें परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तन आते रहे हैं। इसके अतिरिक्त आचार्यों द्वारा सरकार के यथार्थ एवं आदर्श स्वरूप के सम्बन्ध में जो विचार प्रकट किये गये हैं उनके बीच भी पर्याप्त अन्तर है। ऐसी स्थिति में यह उपयुक्त रहेगा कि इससे सम्बन्धित विचारों को सम्बन्धित आचार्यों, ग्रन्थों एवं कालक्रम के अनुसार अध्ययन का विषय बनाया जाये।

वैदिक काल में सरकार का स्वरूप

ऋगवेद काल में सामन्तवादी प्रवृत्तियां उभरने लगी थी। ऐसे कई एक अंश हैं जहां राजन् शब्द का प्रयोग कुलीन पुरुष के अर्थ में किया गया है। राजन्य शब्द द्वारा शाही परिवार एवं कुलीन परिवार दोनों को ही इंगित किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि राजा के चारों ओर कुलीन परिवार के लोग रहते थे जिनका सामाजिक स्तर प्रायः एक जैसा ही रहा होगा। ऋगवेद में कई एक स्थानों पर साम्राज्य शब्द भी आया है जिसके द्वारा एक विशेष अथवा महान् राजा का बोध कराया गया है जो कि साधारण राजा के स्तर से भिन्न होता था। बाद के ग्रन्थों में सम्राट शब्द का प्रचलन भी दिखाई देता है। शतपथ ब्राह्मण में विदेह के राजा जनक को सम्राट कहा गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में राजतन्त्र के सर्वोच्च स्वरूप का प्रसार समुद्र पर्यन्त

माना है। इसने ऐसे बारह राजाओं के नाम गिनाये हैं। चाहे कथन में अतिशयोक्ति हो किन्तु इससे इतना तो स्पष्ट है कि समय समय पर कुछ राजाओं ने अपनी शक्ति को इतना व्यापक बना लिया कि एक प्रकार का राज्य अस्तित्व में आ गया। उस समय एक राजा की विजय का अर्थ स्थित राजा का पतन नहीं होता था वरन् वह केवल आधीनस्थता स्वीकार कर लेता था। बड़े राज्यों का अभाव होते हुए भी इस बात से इनकार नही किया जा सकता कि उस समय भी सामन्तवादी प्रवृत्तियो का अस्तित्व था।

ऋगवेद के बाद के काल में राज्य का आकार सामान्य रूप से बढ़ गया। अब बड़ी राजधानियों अथवा प्रभाव क्षेत्रों को आदर्श माना जाने लगा। अथर्ववेद में एक राजा की महत्वकांक्षा यही रहती थी कि वह दूसरों पर विजय प्राप्त करे। युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए अनेक देवताओं की प्रार्थना की जाती थी। साम्राज्य, अधिराज एव आधिपत्य आदि शब्दों के प्रयोग से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय साम्राज्यवादी तत्व पनप रहे थे। इस समय में 'राजतन्त्र' सरकार का एक सामान्य रूप था तो भी कुछ सूत्रों के द्वारा कुलीनतन्त्र के अस्तित्व का भी आभास होता है। कुछ आधुनिक विद्वान उस समय के राजतन्त्र को निर्वाचित मानते हैं। तो भी निर्वाचन का कोई एक भी उदाहरण अभिलिखित नहीं किया गया है। डॉ० बेनी प्रसाद का मत है कि जनता औपचारिक रूप से राजा को स्वीकार कर लेती थी। हो सकता है कि शारीरिक या नैतिक रूप से अक्षम राजा का जनता द्वारा विरोध किया जाता हो। फिर भी राजाओं की योग्यताओं का कही भी उल्लेख नहीं मिलता और न ही ऐसा उदाहरण प्राप्त होता है जहां योग्यताओं के आधार पर राजा को चुना गया हो।

सूत्र ग्रन्थों में सरकार के स्वरूप एवं संगठन पर प्रकाश डाला गया है। उनके द्वारा स्पष्ट विचार तत्कालीन वस्तु स्थिति से लिए गये अनुमान हैं। ये विशेष रूप से एक छोटे राज्य पर ही लागू होते हैं। डॉ० बेनी प्रसाद के कथनानुसार जिस राज्य मे गौतम रहते थे वह या तो छोटा था अथवा बड़े राज्य की एक छोटी जागीर थी। गौतम चाहते थे कि राजा धनुप चलाना, रथ का प्रबन्ध करना तथा युद्ध में जमना सीखे। गौतम वर्णित राज्य में पुरोहित एवं ब्राह्मण वर्ग का एक विशेष स्थान था। कहा गया है कि राजा ब्राह्मणो को छोड़ कर सभी का स्वामी है, ब्राह्मणों के अतिरिक्त सभी को उसकी पूजा करनी चाहिये। 'ब्राह्मण' राजा के पार्षद के रूप में कार्य करते थे। विश्वास किया जाता था कि जिस राजा को ब्राह्मणों का सहयोग प्राप्त है वह सदा उन्नति करता है तथा कभी भी विपत्ति में नहीं पड़ता।

महाभारत एवं रामायण काल में राज्य का स्वरूप

महाभारत में प्रथम बार सारे देश को भारत अथवा भारतवर्ष के नाम से सम्बोधित किया गया है। इसमें सामान्य प्रभुत्व का आदर्श निहित है। महाभारत में वर्णित राज्य की बनावट में सामन्तवादी तत्व अधिक मात्रा में एवं अधिक स्पष्ट रूप से स्थित हैं। उस समय के राज्य आकार में अत्यन्त

छोटे थे, किन्तु प्रत्येक राजधानी कुछ छोटी जागीरों को मिलाकर बनायी जाती थी। कुछ राजा मिलकर अपना एक अध्यक्ष चुन लेते थे। महाभारत, सभापर्व के अनुसार राजाओं ने जरासंध को अपना मुखिया चुन लिया क्योंकि वह सबसे अधिक शक्तिशाली था। कुछ जागीरदार उसके अधिकारी बन गये। महाभारत काल की सामन्तवादी प्रवृत्तियों के परिचय का एक अन्य प्रतीक वह परम्परा है जिसके अनुसार कोई भी राजा अपने सम्बन्धी या सैनिक या अन्य प्रतिष्ठित व्यक्ति को पुरस्कार स्वरूप किसी छोटे राज्य का अधिपति बना देता था। यह अधिपति मुख्य राजा के आधीन कार्य करता था। सामन्तवादी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करने वाला तीसरा तत्व दिग्विजय की परम्परा को माना जा सकता है। दुर्योधन एवं युधिष्ठिर द्वारा की गई दिग्विजय अथवा दिशाओं की विजय के परिणामस्वरूप किसी भाग को राज्य में मिलाया नहीं गया था। इससे केवल उनका प्रभाव क्षेत्र बढ़ गया। जब पाण्डु द्वारा की गई दिग्विजय के समय पृथ्वी के राजागण हाथ जोड़ कर विभिन्न प्रकार के रत्नों एवं धन को, मोतियों एवं मूल्यवान रत्नों को, सोना चांदी एवं सुन्दर घोड़ों को लेकर खड़े थे। पाण्डु ने इन सारी चीजों को ग्रहण करने के बाद अपनी राजधानी की ओर प्रस्थान किया। जब युधिष्ठिर ने यज्ञ किया था तो अनेक राजा उनके स्नान के लिए बड़े बड़े बर्तन लाए थे। महाभारत के अश्वमेध पर्व में एक राजकुमार कुरु वंश के अपने समस्त वरिष्ठों को नमस्कार करता है।

महाभारत में प्रत्येक महाराजा और सामन्त के इर्द-गिर्द योद्धाओं का एक कुलीन वर्ग भी रहता था। ये कुलीन वर्ग के लोग हमेशा अपने उच्च अधिकारी के प्रति स्वामीभक्ति रखते थे और उसके लिए अपना जीवन तक देने के लिए तैयार रहते थे। कर्ण पर्व में लड़ते समय की मृत्यु को अत्यन्त सुखद माना गया है। उस समय के कुलीनतन्त्री एवं शाही परिवार के लोग सम्मान के साथ मरने को वास्तविक जीवन मानते थे। अन्धे एवं वृद्ध धृतराष्ट्र ने अपने मरे हुए सौ लड़कों के लिए यह कह कर दुःख नहीं मनाया कि वे सभी क्षत्रिय कर्त्तव्यों को पूरा करते हुए मारे गये।

वैसे तो सामन्तवाद से युक्त राजतन्त्र महाभारत काल की सरकारों का एक सामान्य रूप था किन्तु फिर भी इसमें गणों का कुलीन तन्त्रों के अस्तित्व का भी कहीं कहीं उल्लेख मिलता है। युधिष्ठिर ने भीष्म से यह पूछा कि गण किस प्रकार उन्नति करते हैं और सरकार के साथ रह कर वे रहस्यों को किस प्रकार रखने का प्रयास करते हैं। भीष्म का उत्तर था कि गणों को आन्तरिक एकता बनाये रखना चाहिये। यदि उनमें एकता न रही तो वे शीघ्र ही शत्रु के कदमों में आ गिरेंगे। एकता रहने पर ही वे उन्नति करते हैं और बाहर वाले उनकी मित्रता के इच्छुक रहते हैं। प्रत्येक गण में हर व्यक्ति को उसका कर्त्तव्य करना और विद्वानों का आदर करना सिखाया जाता था। प्रमुख व्यक्तियों से युक्त कार्यपालिका पर विश्वास किया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि ये कुलीनतन्त्रात्मक एवं प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्थायें कुछ समय तक कार्य करती रहीं और आन्तरिक मत भेदों के कारण

स्वतः ही समाप्त हो गई। शांति पर्व में यह स्पष्ट उल्लेख है कि गणों को न साहस से समाप्त किया जा सकता है न कूटनीति या शत्रु के सोने से। इनको सुन्दरियों के आकर्षक प्रलोभनों द्वारा भी समाप्त नहीं किया जा सकता; ये स्वयं के आन्तरिक मतभेदों से समाप्त हो जाते हैं। ऐसा होने पर इनकी कार्यपालिका अपनी आज्ञाओं को क्रियान्वित करने में असमर्थ बन जाती है।

महाभारत की भांति रामायण में भी सरकार की आवश्यकता को स्पष्ट रूप से महसूस किया गया है। कवि द्वारा अराजकता की भयानकता को बड़े रंगीन शब्दों म चित्रित किया गया है। कवि की मान्यता है कि राजा के बिना एक प्रदेश ऐसा ही है जैसे कि जल विहीन मही, घास विहीन जंगल और चरवाहे विहीन मवेशियों का समूह। देवता भी राजा विहीन क्षेत्रों पर कृपा नहीं करते। अराजकता की स्थिति में न तो बरसात होती है और न कृषि होती है। व्यापार समाप्त हो जाते हैं। अराजकता की स्थिति में कोई भी अपनी सम्पत्ति या अपने जीवन को सुरक्षित अनुभव नहीं करता। कानून का विचार तक भी हवा में उड़ जाता है। पारिवारिक जीवन एवं नैतिकता गर्त में चली जाती है। पिता और पुत्र एक दूसरे से लड़ते झगडते हैं और पत्नियां आजाद रहती हैं। धर्म नाम की कोई चीज नहीं रह जाती, ब्राह्मण अपने वचनों पर कायम नहीं रहते और कोई भी यज्ञों का अनुष्ठान नहीं करता। संक्षेप में राजा के बिना एक देश समाप्त हो जाता है। इस देश में कोई प्रसन्नता, कोई उत्साह या किसी प्रकार की उमंग नहीं रहती। इस महादुख में से जनता को केवल राजा द्वारा ही छुटकारा दिलाया जा सकता है। रामायण की मान्यता है कि राजा को स्वयं सरकारी यन्त्रों का संचालन करना चाहिए। वह मुख्य कार्यपालिका अधिकारी है, मुख्य न्यायाधीश है और मुख्य सैनिक अधिकारी है। राजा को जनता का पिता, माता एवं मित्र कहा गया है। वह सभी की आशा है, वह सही है और वही सत्य है।

मध्य युग में सरकार का स्वरूप

मौर्य काल से पूर्व के ग्रन्थों में भी सरकार के रूप एवं कार्य प्रणाली का वर्णन मिलता है। जैन एकरंग सूत्र में पुरातन परम्पराओं का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि कुछ क्षेत्र गणों द्वारा प्रशासित किये जाते थे, कुछ दो राजाओं द्वारा और कुछ क्षेत्रों में कोई शासक ही नहीं था। डा० बेनी-प्रसाद के मतानुसार इस उद्धरण के अर्थ के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी कहना अत्यन्त कठिन है। जैन या बौद्ध साहित्य के किसी भी ग्रन्थ में दोहरे राजतन्त्र का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। यदि ऐसे राज्यों में गणों का शासन था तो वह वंशों का शासन रहा होगा। प्रायः सभी कुलीन तन्त्रों का नामकरण वंशों के आधार पर किया गया है। वे वंश के विचार पर ही आधारित हैं। इन गणों की सभाओं को शाक्यों की सभा अथवा मल्लों की सभा आदि नामों से पुकारा गया है। इन राज्यों के सभी निवासी किसी एक वंश के नहीं हो सकते थे और इसलिये सभी शासन संचालन में भाग नहीं ले सकते थे। प्रतिनिधित्व प्रणाली का कहीं उल्लेख प्राप्त नहीं होता। ऐसी स्थिति में इस प्रकार की शासन व्यवस्था को गणराज्य की अपेक्षा कुलीनतन्त्र

करना ही अधिक उपयुक्त रहता है। ऐसी शासन व्यवस्था के अन्तर्गत क्षेत्र के अधिकांश लोग शासन कार्यों में भाग लेते थे। जातकों में ७००७ लिच्छवि राजाओं का उल्लेख आता है। ये सभी कुलीन परिवार के लोग होंगे।

इन कुलीन तन्त्रों में कार्यपालिकाओं की अध्यक्षता एक प्रमुख द्वारा की जाती थी जिसे राजा कहते थे। इस बात का कहीं उल्लेख नहीं मिलता कि क्या वह निर्वाचित होता था और यदि होता भी था तो किस प्रकार से। उसकी राजन् संज्ञा उनकी प्रकृति को राजतन्त्र के नजदीक ला देती थी। राजन की नियुक्ति वंश परम्परागत होने के उदाहरण भी मिलते हैं। राजा के अतिरिक्त इन गणराज्यों में एक उप राजा होता था तथा एक सेनापति। अन्य अधिकारी भी नियुक्त किए जा सकते थे। इस प्रकार के गणराज्यों की कार्य-पालिका कभी कभी अपनी इच्छाओं को क्रियान्वित करने में कठिनाई का अनुभव करती थी। इसका कारण यह है कि इसका प्रत्येक सदस्य अपने आपको राजा मानता था और कोई भी अनुयायी बनने के लिए तैयार नहीं होता था।

प्राचीन भारतीय राजनीति के प्रमुख विचारक कौटिल्य ने सरकार के स्वरूप, संगठन एवं कार्यों के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा है। अर्थ शास्त्र के समय तक भारत में राजनैतिक चेतना इतनी विकसित हो चुकी थी कि सामान्य जनता सरकार एवं राज्य का महत्व समझ सके। सरकार को अन्य सभी संस्थाओं से उच्च माना गया तथा सैद्धान्तिक दृष्टि से समस्त सामाजिक संगठनों को सरकारी यन्त्र पर आश्रित बताया गया। कौटिल्य के मतानुसार सरकार के विधान पर ही दुनिया की उन्नति निर्भर करती है। कौटिल्य ने राजा को धर्म प्रवर्तक कहा है। यह विचार अशोक जैसे सम्राटों के रूप में भली प्रकार क्रियान्वित भी हुआ है। राजा को सरकार का प्रमुख माना गया और उसे एक कठोर प्रशिक्षण प्रदान करने की बात कही गई। कौटिल्य के मतानुसार राजा को विद्वान, आत्म नियन्त्रित, सक्रिय, बहादुर एवं शाही मन्त्रियों द्वारा सुसेवित होना चाहिए। राजा के व्यक्तित्व पर बहुत कुछ निर्भर करता था। इस लिये उसके उचित प्रशिक्षण पर पर्याप्त ध्यान दिया गया। सरकार के संचालन के लिए जिन सहायकों की आवश्यकता होती थी उनके चयन एवं नियुक्ति को भी पर्याप्त महत्वपूर्ण माना गया। अर्थशास्त्र ने योग्यता को इन अधिकारियों की नियुक्ति का मुख्य आधार बताया है। कौटिल्य ने दो प्रकार के मन्त्रियों का उल्लेख किया है। प्रथम वे जो कि प्रशासन के वास्तविक संचालन के लिए उत्तरदायी थे और दूसरे वे जो कि राजा के केवल परामर्शदाता थे। एक प्रधान मन्त्री भी होता था जो कि राजा के गुरु एवं पारिवारिक पुरोहित का स्थान रखता था।

अर्थ शास्त्र में सरकार के संगठन का विशद रूप से वर्णन किया गया है। इसके अनुसार कार्यपालिका १८ विभागों के संयोग का परिणाम थी। ये विभाग कुछ अधीक्षकों के आधीन कार्य करते थे, जैसे समाहरता सन्निधाता, अक्ष पटल, कोषाध्यक्ष, खानों का अधिकारी, सार्वणिका, कोष्ठागाराध्यक्ष, पण्यगाराध्यक्ष, मानाध्यक्ष, शुल्काध्यक्ष, सीताध्यक्ष, सिलाई का संचालक,

सुराध्यक्ष, गनिकाध्यक्ष, सूनाध्यक्ष, नावाध्यक्ष, पनिग्रध्यक्ष, कुपियाध्यक्ष, गोऽग्रध्यक्ष, अस्वाध्यक्ष, हस्तियाध्यक्ष, आदि आदि। इन समस्त अध्यक्षों को कौटिल्य ने १८ श्रेणियों अथवा विभागों में वर्गीकृत किया है। इन अधिकारियों के द्वारा वे सभी कार्य सम्पन्न किए जाते थे जिनको आज का राज्य सम्पन्न करता है।

तीसरी और सातवीं शताब्दी के बीच के काल में भारत वर्ष के विभिन्न भागों में साम्राज्य स्थापित होने लगे थे। गुप्त साम्राज्य एवं हर्षवर्धन का साम्राज्य ऐसे उदाहरण हैं जिनमें कि अनेक राजधानियों द्वारा एक केन्द्रीय राज्य का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया जाता था। इस साम्राज्य के अधिपति को चक्रवर्ती सम्राट कहा जाता था क्योंकि उसके चारों ओर ऐसे राजा रहते थे जो कि उसके प्रभाव क्षेत्र में आते थे। साम्राज्य की स्थापना के बाद चक्रवर्ती राजा का मुख्य कार्य ऐसे प्रशासकीय यन्त्र की रचना करना होता था जो कि साम्राज्य को संचालित कर सके। इसके लिये साम्राज्यवादी अधिकारियों से युक्त सरकार की एक केन्द्रीयकृत व्यवस्था होती थी इन अधिकारियों महावलाधिकृत, महादण्डनायक, महा संधि विग्रहिक, महा प्रतिहार आदि प्रमुख थे। डा० मुखर्जी के कथनानुसार उस समय सरकार अत्यन्त विनम्र थी तथा लोग अपेक्षाकृत केन्द्रीय अधिकारियों के नियन्त्रण एवं हस्तक्षेप से स्वतन्त्र छोड दिये जाते थे। यह व्यवस्था एकात्मक राज्यों से भिन्न थी जहां पर कि स्थानीय स्वतन्त्रता एवं स्वायत्त शासन की कीमत पर अति सरकार की व्यवस्था रहती है।

केन्द्रीय सरकार ने जनता को यथा सम्भव आत्म प्रशासित होने के लिए छोड दिया था। इसलिए जनता पर हल्के कर लगाये गये।[1] यह चक्रवर्ती सर्वोच्च राजा अपने मन्त्रियों की सहायता से केन्द्रीय सत्ता के रूप में राज्य एवं शासन करता था।[2] डा० एच० एन० सिन्हा का मत इससे कुछ भिन्न है। उनका कहना है कि डा० मुखर्जी की मान्यतायें तथ्यों द्वारा न्यायोचित सिद्ध नहीं होती। वस्तु स्थिति यह है कि केन्द्रीय सरकार का अपने अधीनस्थ राज्यों पर पर्याप्त नियन्त्रण रहता था। गुप्त सम्राटों ने अनेक राजाओं को जीतकर अपने साम्राज्य में मिलाया। अनेक सीमावर्ती राजाओं ने स्वेच्छा से उन्हें अपनी सेवायें और सम्मान अर्पित किये। इस प्रकार इन साम्राज्यों के बारे में कुछ भी कहते समय स्थानीय विभिन्नताओं को ध्यान में रखना आवश्यक है क्योंकि इनके कुछ भाग तो ऐसे थे जो केन्द्रीय सरकार के पूर्ण नियन्त्रण में थे, कुछ भागों पर आंशिक नियन्त्रण था, जबकि कुछ भाग केवल नाममात्र की आधीनता स्वीकार करते थे। ऐसी स्थिति में उस समय सरकार का एक ऐसा रूप वांछनीय था जो कि स्थानीय विभिन्नताओं का आदर कर सके, राजनैतिक संगठनों की विभिन्न श्रेणियों को बनाये रखे और साथ ही सभी पर एक की सर्वोच्चता को बनाये रखने में समर्थ हो। इस प्रकार केन्द्रीय सरकार अनेक सीमाओं के अन्तर्गत रहकर कार्य करती थी।

---

1. Dr. Mukherjee, Harsa, P. 101.
2. Dr. Beni Prasad. op. cit. P. 292

साम्राज्य की जनता पर प्रत्यक्ष रूप से शासन करने में उनके ऊपर अनेक सीमायें लगी हुई थीं। वह साम्राज्य की निर्णायक इकाइयों पर कुल नियन्त्रण करके ही सतुष्ट हो जाती थी।

गुप्त साम्राज्य के अधीन केन्द्रीय सरकार की स्थिति पर लिखते हुए दामोदरपुर ताम्र पत्र में कहा गया है कि उस समय केन्द्रीय सरकार द्वारा ही प्रान्तीय सरकारें नियुक्त की जाती थीं। इनके शासक केन्द्रीय सरकार की अधीनता स्वीकार करते थे तथा उपरिका महाराजा नाम से जाने जाते थे। इनको विषयपतियों अर्थात् जिला अधिकारियों की नियुक्ति का अधिकार था। स्थानीय स्तर पर प्रशासन के लिए उत्तरदायी अन्य और भी अधिकारी होते थे। गुप्त साम्राज्य की सरकार के संगठन की एक विशेष बात यह है कि उस समय केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारों के रहते हुए भी समस्त प्रशासन केन्द्रीकृत था। प्रान्तीय सरकार में गवर्नर तथा सम्यानियुक्त जिला अधिकारी हुआ करते थे। राजा एवं गवर्नरों के बीच का सम्बन्ध यह था कि राजा गवर्नरों को नियुक्त करता था।

गुप्तकाल में राज्य के प्रशासन को कई एक क्षेत्रों में विभाजित किया गया था। इन क्षेत्रों का कार्य संचालन एक प्रशासकीय अधिकारी द्वारा किया जाता था, किन्तु इस अधिकारी के कार्य तथा केन्द्रीय सत्ता के साथ उनके सम्बन्धों के बारे में अधिक कुछ ज्ञात नहीं होता।

निष्कर्ष

प्राचीन भारत में प्रशासकीय व्यवस्था एवं सरकार के स्वरूप को अभी तक उपयुक्त महत्व प्रदान करके अध्ययन का विषय नहीं बनाया गया है। बहुत समय तक तो इसे बिल्कुल ही प्रदान नहीं किया गया था। अधिकांश पाश्चात्य विद्वानों ने भी भारतीय राजनीति को अवहेलना की दृष्टि से देखा है। प्रसिद्ध इतिहासकार टी एच ग्रीन के मतानुसार पूर्व के महान् साम्राज्य मुख्य रूप से कर संग्रह करने वाली संस्थायें थीं। इनके द्वारा जनता पर हिंसात्मक तरह की दबावकारी शक्ति का प्रयोग किया जाता था; फिर भी उनके द्वारा कुछ एक अवसरगत आज्ञाओं के अतिरिक्त कोई कानून लागू नहीं किया जाता था और न ही वे प्रचलित कानून को न्यायिक रूप से प्रशासित करते थे।[1]

भारतीय राजनीति से सम्बन्धित उक्त मत की प्रतिक्रिया स्वरूप कुछ भारतीय विचारकों ने विरोधी मत प्रकट किये हैं। मि० जायसवाल ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि प्राचीन भारतीय राजनैतिक व्यवस्था गणतन्त्रात्मक थी तथा इसमें पौर एवं जनपद की सभायें कार्य करती थीं। डा० जायसवाल एवं उनके समर्थकों की यह मान्यता है कि उस समय की गणतन्त्रात्मक संस्थायें वर्तमान स्विटजरलैण्ड या संयुक्त राज्य अमरीका की संस्थाओं से अधिक उन्नत थीं। डा० बेनी प्रसाद द्वारा इस मत के विरुद्ध कई

---

1. T H Green, Lectures on the Principles of the Political Obligation, ed Bosanquet, 1901, P 99

एक आपत्तियां की गई है। प्रथम, इस परिकल्पना का आधार अत्यन्त संकीर्ण है। दूसरे, प्रयुक्त उद्धरणों में से कुछ की सत्यता स्थापित नहीं हुई है। तीसरे, कुछ सूत्रों की जो व्याख्या प्रस्तुत की गई है वह संदेहजनक है। चौथे, अनेक निष्कर्षों को निकालते समय दूर-दूर के प्रमाणों को एक जगह एकत्रित कर दिया गया है। पांचवें, कुछ तर्कों के परस्पर सम्बद्ध करने वाली कड़ी या तो है ही नहीं और है भी तो अत्यन्त कमजोर है। इसके अतिरिक्त एक बात यहां ध्यान में रखने योग्य यह है कि वर्तमान लेखकों के कुछ निष्कर्ष प्राचीन भारत के उन बौद्धिक प्रभावों, सामाजिक सस्थाओं एवं आर्थिक परिस्थितियों से मेल नहीं खाते जिनके बारे में कि हम निश्चित हैं। डा० बेनीप्रसाद का कहना है कि "वास्तविक प्रजातंत्र जातिवाद की गहरी सामाजिक खाइयों में कभी नहीं पनप सकता था। गांवों की जनता की राष्ट्रीय सभा भी एक ऐसे क्षेत्र में नियमित रूप से कार्य नहीं कर सकती थी जो कि हजारों गांवों में बिखरा हुआ था तथा जिसमें संचार के आधुनिक साधनों का अभाव था।"[1]

प्राचीन भारतीय सरकार के स्वरूप के बारे में एक बात ध्यान में रखने योग्य यह है कि उत्तरी एवं दक्षिणी भारत की प्रशासन व्यवस्था एक जैसी न थी। यद्यपि उनमें कुछ मौलिक समानतायें थीं तो भी दोनों क्षेत्रों का विकास स्वतन्त्र एवं भिन्न रूपों में हुआ। कभी-कभी उत्तरी भारत के गुप्त या मौर्य साम्राज्य ने अथवा आन्ध्र और राष्ट्रकूट के दक्षिणी साम्राज्यों ने सम्पूर्ण भारत के राजनैतिक भाग्य को एक बनाने की चेष्टा की थी तो भी दोनों क्षेत्रों की प्रशासकीय विभिन्नतायें पूरी तरह से मिटाई न जा सकीं। स्थानीय प्रशासन के क्षेत्र में दोनों के बीच गहरा अन्तर था। मौर्य साम्राज्य की स्थापना ईसा से तीन सौ वर्ष पूर्व हुई थी। इसमें जन प्रिय सभायें नहीं थी किन्तु केन्द्रीय, प्रान्तीय एव जिला प्रशासन के लिए इसमें अपूर्व संस्थायें थीं। संघीय सामन्तवाद का व्यवहार अब रोक दिया गया। अब राज्य के उद्देश्य में भी कुछ नवीनतायें आ गईं। जो राज्य पहले जनता के भौतिक एवं जीवन के प्रत्येक पहलू से सम्बद्ध था वह अब भौतिक आराम का एक प्रमुख साधन बन गया। इसके अतिरिक्त राज्य को एक सुधारक का रूप भी दिया गया जिसका उद्देश्य चारों ओर नैतिकता एवं औचित्य को प्रोत्साहन देना था। यद्यपि सम्राट अशोक के बाद आने वाले सम्राटों ने अशोक की मान्यताओं का अनुगमन नहीं किया तो भी राज्य के लोक कल्याणकारी एवं नैतिक संस्था होने से सम्बन्धित विचार समाप्त नहीं हुए।

सरकार के सिद्धान्त

प्राचीन भारत में प्रचलित सरकार की व्यवस्था जिन सिद्धान्तों पर

---

1. Real democracy. for instance, could not be reared on the Social Charms of Caste, Nor could a 'national' assembly 'of country-folk' function regularly in a large area which was split up into thousands of villages and which lacked the modern means of communications.
—Dr. Beni Prasad, op. cit., P. 500

आधारित थी वे प्राचीन रोम या आधुनिक योरोप से भिन्न थे। मध्यकाल की यारोपीय राजनीति से ये आंशिक समानता रखते थे। प्राचीन भारत की सरकारों को सही अर्थों में एकात्मक नहीं कहा जा सकता। सुविधा के लिए उन्हें संघवाद एवं सामन्तवाद कह सकते हैं। इस संघवाद में हमको लिखित संविधान शक्ति व क्षेत्रों का स्पष्ट विभाजन, संघीय एवं राज्य सत्तायों के समुचित समन्वय का विचार, आदि तत्व नहीं मिलते जो कि आधुनिक संघवाद की मूल विशेषतायें मानी जाती हैं। प्राचीन भारत में स्थित संघवाद का अर्थ तो केवल यही था कि सामान्यतः एक राजधानी के आधीन कई एक सामन्त होते थे जो कि भिन्न-भिन्न मात्राओं में स्वायत्तता का उपभोग करते थे। इन सामन्तों के आधीन भी रियासतें तथा अन्य उप विभाग हो सकते थे। डा० बेनी प्रसाद के शब्दों में "एक बड़ा साम्राज्य अंशतः तो संधियों की शृंखला था और अंशतः प्रभुत्व तथा अधीनस्थता के सम्बन्धों की शृंखला था। इसमें कुछ प्रदेश पर प्रत्यक्ष रूप से प्रशासन भी होता था।"[1]

प्राचीन भारत में स्थित सरकार के सम्बन्ध में एक ध्यान में रखने योग्य बात यह भी है कि यद्यपि उस समय राज्य का आदर्श पर्याप्त उच्च था किन्तु तो भी वंश परम्परागत राजतन्त्र की तानाशाही प्रवृत्ति इसकी एक कमजोरी थी। कल्हण की 'राजतरंगिणी' में इस तानाशाही का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है। इस तानाशाही पूर्ण व्यवहार पर कुछ प्रतिबन्धों की व्यवस्था भी की गई थी जो कि इस व्यवस्था के अविभाज्य अंग थे। प्रथम प्रतिबन्ध तो स्थानीय व्यवहार का था जिसकी अवहेलना राज्य द्वारा कोई न कोई जोखिम उठा कर ही की जा सकती थी। दूसरा प्रतिबन्ध धर्म का था जो कि राजनीति पर निरन्तर प्रभाव डाले रहा। भारतीयों के दिल और दिमाग पर धर्म का पूरा पूरा प्रभाव था। वे प्रत्येक प्रश्न पर धार्मिक पहलू से भी विचार करते थे। भारतीय आचार्यों ने धर्म को समस्त सृष्टि का आधार माना था। उनके मतानुसार धर्म से उच्च कुछ भी नहीं है। यह विचार वेदों से ही प्रारम्भ होता है। धर्म के आधार पर ही नैतिक व्यवस्था एवं औचित्य का निर्धारण किया जाता था। वैदिक साहित्य के अतिरिक्त बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों में भी धर्म के महत्व तथा राजनीति पर उसके प्रभाव के सम्बन्ध में काफी कुछ कहा गया है। कुल मिलाकर धर्म को व्यवस्था का आधार माना गया था और कोई भी मानवीय सत्ता इस आधार की अवहेलना नहीं कर सकती थी। राज्य की स्वेच्छाचारिता पर एक तीसरा प्रतिबन्ध उसकी स्वयं की सुविधा अथवा सजग आत्महित था। प्रत्येक राजा को रक्षा एवं आक्रमण दोनों कार्यों के सफल संचालन के लिए अपनी प्रजा को सन्तुष्ट तथा प्रसन्न रखना होता था। विदेश नीति के सम्बन्ध में विचार करते समय कौटिल्य ने इस बात पर जोर दिया है कि जो राजा विजय चाहता है उसे अपनी प्रजा को भली प्रकार

1. A big empire was partly a series of alliances, partly a series of relationships of suzerainty and vassalage and partly an area of directly administered territory

—Dr Beni Prasad, op, cit, P 504

से प्रसन्न रखना चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया गया तो शत्रु द्वारा वे लोग जीत लिए जायेंगे।

राजा की स्वेच्छाचारिता पर एक तीसरा प्रतिबन्ध सामन्तवाद की व्यवस्था थी। प्रत्येक सामन्त इस बात के लिए प्रयत्नशील रहता था कि वह पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो जाये। यदि राजा से प्रजा प्रसन्न नहीं रहेगी अथवा उसकी नीतियों तथा व्यवहार के प्रति असंतुष्ट रहेगी तो निश्चित है कि ये सामन्त एक एक करके स्वतन्त्र हो जायेंगे तथा साम्राज्य की कड़ियां एक एक करके टूटने लगेंगी। इन सबके अतिरिक्त राजा की स्वेच्छाचारी शक्ति पर एक प्रतिबन्ध यह भी रहता था कि अत्यधिक दुराचारी होने की अवस्था में उसकी हत्या भी की जा सकती है।

प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था की सामान्य रूप से कुछ एक विशेषतायें थीं जो कि उसको आज की प्रशासनिक व्यवस्था की अपेक्षा कुछ विशेषत्व प्रदान करती हैं। इसकी प्रथम विशेषता यह थी कि उस समय कार्यों के विभाजन को उपयुक्त अथवा वांछनीय नहीं माना गया था। एक व्यक्ति एक ही समय में नागरिक एवं सैनिक पदों पर कार्य कर सकता था। न्यायाधीश भी कोई अलग व्यक्ति नहीं होता था। कार्यपालिका के उच्च अधिकारी ही न्यायाधीश का कार्य करने लगते थे। किसी भी समर्थ अधिकारी को एक राजदूत नियुक्त किया जा सकता था। सम्राट अशोक के समय में साधारण अधिकारियों को भी धर्म प्रचार का कार्य सौंपा जा सकता था।

इसकी दूसरी विशेषता यह थी कि सभी विभागों का संगठन अधीक्षकों के अधीन किया गया जिनकी सहायता के लिए नियमित सचिवालयी सेवायें होती थीं। इन सब को अलग अलग मंत्रियों के आधीन समूहीकृत कर दिया जाता था। अधीक्षक के नियन्त्रण में कार्य करते हुए विभागों द्वारा विकास के कार्य किये जाते थे। तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर यह कहा जाता है कि उत्तरी भारत में मन्त्रियों एवं विभागों की संख्या निरन्तर बढ़ती ही रही थी। मन्त्रियों का पद यद्यपि राजा की स्वेच्छा पर आश्रित था किन्तु फिर भी उनकी स्थिति पर्याप्त सम्मान एवं उत्तरदायित्व से पूर्ण थी। मन्त्रियों द्वारा कभी की राजा की राय का विरोध भी किया जाता था। सोमदेव सूरि के कथनानुसार मन्त्रीपद की मूलभूत विशेषता यह थी कि राजा मन्त्रियों से भयभीत रहता था।

तीसरे, मौर्य साम्राज्य के बाद से साम्राज्य के सम्पूर्ण प्रदेश को प्रान्तों जिलों एवं अन्य निम्न प्रशासकीय क्षेत्रों में बाट दिया जाता था। इनमें से कुछ प्रान्तों को राजकुमारों अथवा शाही परिवार से सम्बन्धित लोगों द्वारा प्रशासित किया जाता था। इन प्रशासकीय पदों पर कार्य करने वालों का कार्यकाल पर्याप्त होता था। कभी-कभी ये वंशपरम्परागत भी हो जाते थे। प्रायः सभी उच्च पदों पर एक सीमित वर्ग में से ही नियुक्तियां की जाती थीं।

चौथे, प्राचीन भारत में सरकार का रूप मूलतः बहुलवादी था क्योंकि अनेक जातियों, उप जातियों, तथा उनकी परम्पराओं एवं अभिसमयों के रहते

हुए एकीकृत रूप का तो प्रश्न ही नहीं उठता। प्राचीन भारत में सामाजिक एवं राजनैतिक संगठन की समस्त व्यवस्था जाति व्यवसाय एवं क्षेत्रीय विभिन्नताओं पर आधारित थी। ऐसी स्थिति में एकीकृत स्वामिभक्ति एवं आज्ञाकारिता का प्रश्न भी नहीं उठता। व्यक्ति की स्वामिभक्ति अनेक संघों एवं संस्थाओं के बीच विभाजित थी। इसमें राज्य का कर्तव्य यह था कि जीवन की ऐसी परिस्थितियां पैदा करे जिनमें प्रत्येक समूह अपने आपको सर्वश्रेष्ठ रूप में अभिव्यक्त कर सके तथा अन्य के मार्ग में प्रतिरोध पैदा न करे। इसके अतिरिक्त राज्य का एक कार्य यह भी था कि सामान्य कल्याण एवं प्रसन्नता की अभिवृद्धि के लिए सभी प्रत्यक्ष साधन अपनाये।

सरकार के कार्य
(Activities of the Government)

प्राचीन भारत में सरकार के स्वरूप तथा संगठन के सम्बन्ध में विचार कर लेने के बाद यह जानना उपयुक्त रहेगा कि आचार्य सरकार से किन कार्यों की अपेक्षा करते थे अथवा सरकार नागरिकों के लिए कौन-कौन सी सेवायें प्रदान करती थी। सामान्य रूप से यदि इस प्रश्न पर विचार किया जाये तो यह कहा जा सकता है कि सरकार का कार्य वही कुछ था जिसे सम्पन्न करने के लिए राज्य की स्थापना की गई थी अर्थात् प्रदेश में शान्ति तथा व्यवस्था बनाये रखना सभी को उनके कर्त्तव्यों के पालन में लगाये रखना *जनता में धर्म की स्थापना करना*, लोगों की सम्पत्ति एवं जीवन की रक्षा करना तथा व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास एवं सामान्य कल्याण के लिए हर सम्भव कार्य करना आदि। इन कार्यों पर प्रायः सभी आचार्यों ने जोर दिया है तो भी उनके विभाजीकरण में अन्तर पाया जा सकता है। प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में सरकार के कार्यों से सम्बन्धित जो भी विवरण प्राप्त होते हैं उनमें यद्यपि परस्पर विरोध नहीं है फिर भी कार्यों की प्राथमिकता का अन्तर दिखाई देता है।

वैदिक साहित्य के अध्ययन के बाद निकाले गये निष्कर्षों के अनुसार सरकार का पहला कार्य शान्ति एवं व्यवस्था बनाये रखने के लिए गुप्तचर नियुक्त करना था। अथर्ववेद के कथनानुसार वरुण के गुप्तचर आसमान से आते हैं तथा हजारों आंखों से धरती की देख-रेख करते हैं। इनके द्वारा अपराधियों को पकड़ा जाता था। कहते हैं कि इनके डर से ही यम ने अपनी बहिन से प्यार करने से मना कर दिया था। सरकार का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य न्याय प्रशासन से सम्बन्धित था। पारस्परिक विवादों में वह मध्यस्थ का कार्य भी करती थी। तैत्तरीय संहिता में विभिन्न प्रकार के अपराधों के लिए विभिन्न प्रकार के दण्डों का विधान है जो कि सरकार द्वारा वस्तुस्थिति का अध्ययन करने के बाद अपराधी को प्रदान किये जाते थे। सरकार का तीसरा कार्य था राजस्व एकत्रित करना। ऋग्वेद के दशम मण्डल में राजा को जनता से कर लेने वाला एकमात्र अधिकारी माना गया है। उस समय भूमि राजस्व का मुख्य स्रोत थी। राजस्व एकत्रित करने के लिए नियमित

अधिकारी नियुक्त किये जाते थे। प्राप्त अध्ययन सामग्री के आधार पर इस काल में सरकार के अन्य कार्यों का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। वेदों में सड़कों अथवा राजा पथों का उल्लेख आया है किन्तु ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता कि इन सड़कों को सरकार द्वारा बनवाया जाता हो। कुल मिला कर वेदों के प्रणेता 'राज्य से यह आशा करते थे कि वह सभी की सम्पन्नता एवं प्रसन्नता की रक्षा करे; जो राज्य इस कार्य को पूरा करता था उसकी प्रशंसा की जाती थी।

सूत्र ग्रन्थकारों में गौतम ने सरकार को न्यायोचित जीवन की रक्षा एवं अभिवृद्धि का काम सौंपा है। इसके अतिरिक्त राजा को चाहिए कि वह अनौपचारिक रूप से भी कुछ विशेष राहत कार्य सम्पन्न करे। गौतम के मतानुसार सरकार को आवश्यक मन्द विद्यार्थियों, ब्राह्मणों, श्रोत्रियों तथा उन सभी की सहायता करनी चाहिए जो कि कार्य न कर सकें। वे राजदरबार को दान का केन्द्र बनाना चाहते थे।

महाभारत काल में सरकार का कार्य क्षेत्र स्पष्टरूप से क्या था इस सम्बन्ध मे निश्चय के साथ कुछ नही कहा जा सकता। शान्तिपर्व के द्वारा सरकार के कार्यों को जीवनव्यापी बनाया गया है। इसके अनुसार सरकार को औचित्य का प्रसार करना चाहिए, जनता के नैतिक जीवन को निर्देशित एव नियंत्रित करना चाहिए तथा सारी पृथ्वी को लोगो के लिए आरामदायक बनाना चाहिये। सरकार से कहा गया है कि वह भूमि को कृषि योग्य बनाये, कुओं तथा तालावों को साफ कराये, कृषि को वर्षा की दया पर निर्भर रहने से बचाये, तथा आवश्यकता के समय किसानों को ऋण एवं बीज का प्रबन्ध करे। इसके अतिरिक्त उचित दूरी पर जलाशय तथा उपयुक्त सड़कों की रचना की बात कही गई। डाकुओं को पकड़ने की बात स्थान-स्थान पर कही गई है। राजसूय यज्ञ जैसे अवसरों पर स्वयं राजा को दान देने के लिए कहा गया, साथ ही असमानता जनक भिक्षा वृत्ति को रोकने की भी बात कही गई।

बौद्ध जातकों में राजा को सम्पूर्ण सरकार की एक प्रेरक शक्ति माना है। वह सरकार का अध्यक्ष एवं सर्वेसर्वा था। उसका एक प्रमुख कर्त्तव्य न्याय प्रशासन को संचालित करना था। वह कभी तो स्वयं ही निर्णय देता था, कभी दूसरों की राय मांगता था और कभी न्याय मंत्री या पुरोहित के विरोधी विचार भी सुनता था। ऐसे भी अनेक अवसर होते थे जब कि राजा के अधिकारी ही बिना उसको सूचित किये किसी मुकदमे पर निर्णय दे देते थे। राजा का दूसरा मुख्य कार्य था प्रदेश में नैतिकता की स्थापना करना। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए वह कभी-कभी कठोर साधन भी अपना लेता था। बनारस के राजा ब्रह्मदत्त के बाद जब बोधिसत्व राजा बने तो उन्होंने अपने मंत्रियों, ब्राह्मणों तथा अन्य कुलीन लोगों को बुला भेजा तथा उन सभी की स्वीकृति से ढोल पिटवा कर यह घोषणा करा दी कि वह अपने राजपद सम्बन्धी कर्त्तव्यों को पूरा करने के लिए १,२६० पापियों का बलिदान करेंगे। लोगों का विश्वास था कि सब कुछ राजा पर निर्भर करता है। फल आदि तभी मीठे और सरस होते हैं जब कि राजा न्याय एवं औचित्य के साथ

शासन करता है। अन्यायी राजा के शासन में तेल, शहद, दाल एवं फल आदि सभी अपना मिठास एवं स्वाद छोड़ देते हैं। सारा प्रदेश ही खराब एवं स्वाद रहित हो जाता है। राजा कभी कभी एक नैतिक गुरु का भी कार्य करता है। वह माह में दो बार अपनी प्रजा को इकट्ठा करके कहता है कि भिक्षादान करो, सद्धर्म का पालन करो, अपने व्यवसाय का उचित रूप से निर्वाह करो, युवावस्था में अपने आपको शिक्षित करो, गांव के कुत्तों या धोखेबाजों की तरह से व्यवहार न करो, कठोर या क्रूर न बनो, अपने माता-पिता के प्रति कर्त्तव्यों का निर्वाह करो तथा अपने परिवार के बड़े सदस्यों का सम्मान करो आदि-आदि। कुछ राजा सन्यासियों एवं यात्रियों को सुख-सुविधा पहुंचाने में विशेष रूप से प्रयत्नशील रहते थे। वर्षा के दिनों में सन्यासियों के विश्राम के लिए विशेष धर्मशालायें बनवाई गई थीं।

सम्राट अशोक के शासन काल में सरकार का स्वरूप पैतृक बन गया। अनेक स्थानों पर सरकार का यह पैतृक रूप प्रदर्शित किया गया है। एक स्तम्भ के लेख में यह कहा गया है कि जिस प्रकार एक व्यक्ति अपने बच्चे को बुद्धिमान नर्स को सौंप कर आश्वस्त हो जाता है कि वह बच्चे को भली प्रकार रखेगी उसी प्रकार सम्राट ने भी देश की जनता की प्रसन्नता एवं कल्याण के लिए लाजुका नियुक्त कर दिये थे। तोसाली अधिकारियों से उसने कहा कि उन्हें जनता में विश्वास जागृत करना चाहिए। उन्हें यह जानना चाहिए कि देवानाम् प्रिय उनके लिए पिता के समान है तथा वह उन सभी को अपने बच्चों की तरह मानता है। इस दृष्टिकोण के फलस्वरूप अशोक ने अपने आपको ब्राह्मणवाद में सकुचित न किया वरन् सभी के कल्याण के लिए कार्य किया। निकटवर्ती एवं दूरवर्ती सभी वर्गों के लोगों तथा पशु-पक्षी तक के कल्याण के लिए वे प्रयत्नशील रहे।

सरकार का दूसरा कार्य जनता के कल्याण के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहना था। सम्पूर्ण संसार का कल्याण करने के लिए कार्यरत रहना सरकार के लिए उपयुक्त माना गया। इस प्रकार राज्य के कार्यों की कोई सीमा नहीं मानी गई। सभी सम्भव साधनों से जनता का हर प्रकार से कल्याण करना राज्य का लक्ष्य माना जाता था। अशोक ने व्यक्ति के नैतिक विकास को महत्व देते हुए भी भौतिक प्रगति की अवहेलना नहीं की। सड़कों के सहारे बड़ के पेड़ लगाये गये जोकि पशुओं व यात्रियों को छाया प्रदान कर सकें। स्थान-स्थान पर पीने के पानी का प्रबन्ध किया गया। मनुष्य एवं पशुओं की चिकित्सा व्यवस्था की गई। सम्राट एवं उसके सम्बन्धी संकट के समय प्रजा को पर्याप्त मात्रा में दान देते थे।

सरकार का तीसरा कार्य धर्म का प्रसार करना था। भौतिक प्रगति के लिए जो भी प्रयत्न किये जाते थे उनका मूल लक्ष्य व्यक्ति का नैतिक विकास ही था। अशोक द्वारा समर्थित धर्म नैतिक मूल्यों का संग्रह मात्र ही नहीं था वरन् वह जीवन का एक तरीका था जिसमें सामाजिक मूल्य भी समन्वित थे। सम्राट के मतानुसार धर्म का प्रसार ही सच्चा विजय थी। यह विजय शस्त्रों द्वारा की गई विजय से अधिक अच्छी थी।

धर्म प्रसार के एक भाग के रूप में सरकार द्वारा व्यक्ति के चरित्र विकास का कार्य किया जाता था। प्रत्येक को सत्य बोलनी चाहिए, बोलने में संयम बरतना चाहिए, कम से कम संग्रह करना चाहिए तथा कम खर्च करना चाहिए, हमेशा शुद्ध तथा अच्छा रहना चाहिए। अशोक ने समय-समय पर धर्मोपदेश दिये जाने की व्यवस्था की। चरित्र निर्माण एव नैतिक शिक्षा की खातिर कभी-कभी प्रदर्शन भी किये जाते थे। ऐसे प्रदर्शनों में प्रशासन के सम्पूर्ण यंत्र को प्रयुक्त किया जाता था।

अशोक के शासन काल मे सरकार ने कुछ सुधार किये जो कि उसकी दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण थे। उस समय यज्ञों में पशुओं का जो बलिदान किया जाता था उसे रोक दिया गया। ऐसे मेलों या उत्सवों पर भी रोक लगा दी गई जहां कि पशुओं को लड़ाया जाता था। इसके अतिरिक्त अनेक बेकार के तथा अमानवीय उत्सवों को रोक दिया गया। शादी, बीमारी या यात्रा के समय जो गन्दी रस्में अदा की जाती थीं उनको रोक कर धर्माचरण पर ही जोर दिया गया।

मनु के अनुसार भी सरकार को जनता के लिए एक पिता का कार्य करना चाहिए तथा उसे सभी की प्रसन्नता का ध्यान रखना चाहिए। मनु ने राजा को समाज के आर्थिक जीवन को विनियमित करने के लिए कहा है। राजा को चाहिए कि वह व्यापारियों की देखभाल करता रहे तथा उन पर नियंत्रण रखे। वे एक प्रकार से खुले धोखेबाज होते हैं। उनकी धोकेबाजी को हर प्रकार से विनियमित करना चाहिए। सरकार को चाहिए कि वह बाजार में लाकर बेची जाने वाली प्रत्येक वस्तु की कीमत निश्चित कर दे। वह माप और तोल का रूप निश्चित करे तथा प्रत्येक छटे मास उसकी जांच करता रहे। विभिन्न व्यवसायों के कर्त्ता, हाथ से काम करने वाले, यंत्र-विज्ञान के विशेषज्ञ आदि पर राज्य का पर्यवेक्षण रहना चाहिए। पशुओं का अथवा मनुष्यों का चिकित्सक यदि कोई गलती करता है तो राज्य द्वारा उसको दण्डित किया जाना चाहिए। मनु का कहना है कि एक विद्वान ब्राह्मण को राज पुरोहित तथा सात या आठ को मंत्री नियुक्त किया जाना चाहिए। सन्धि, युद्ध भेंट, वित्त, एवं सामान्य प्रशासन आदि महत्वपूर्ण विषयों पर इनके साथ मिल कर विचार-विमर्श करना चाहिए। राजा को पहले तो इन सबसे व्यक्तिगत रूप से परामर्श करना चाहिए, उसके बाद सामूहिक रूप से तथा तब निर्णय स्वयं लेना चाहिये। सरकार का अन्य महत्वपूर्ण अधिकारी राजदूत होता है जिसे एक तरह से विदेश सचिव माना जा सकता है। यह अधिकारी अन्य राज्यों के साथ संधि एवं विग्रह का कार्य करता था। इसके अतिरिक्त सरकार मे दूसरे अनेक प्रकार के अधिकारी होते थे जो कि खानों, गोदामों, राजस्व एवं अन्य महत्वपूर्ण कार्यों के लिए उत्तरदायी होते थे।

कौटिल्य द्वारा वर्णित सरकार के कार्य-क्षेत्र में सब कुछ समाहित किया जा सकता है। उनके मतानुसार सरकार को धर्म की अभिवृद्धि करनी चाहिये; किन्तु ऐसा करते समय उसे युग की परिस्थितियों को विनियमित करना चाहिए। कौटिल्य सरकार द्वारा जिन कार्यों को सम्पन्न कराना चाहते

हैं उनमें प्रथम का सम्बन्ध सामाजिक व्यवस्थापन से है। सरकार को यह देखना चाहिए कि परिवार में पति पत्नी पिता पुत्र चाचा भतीजे गुरु-शिष्य आदि एक दूसरे के प्रति वफादार रहें तथा कोई किसी के प्रति धोखा न करे। राज्य के द्वारा गरीबों गर्भवती स्त्रियों नवजात शिशुओं अनाथों वृद्धों बीमारों तथा असहायों की सहायता करना चाहिए। कौटिल्य ने ऐसे अनेक तरीकों का वर्णन किया है जिनके द्वारा एक व्यक्ति अपनी पत्नी या प्रेमिका का प्यार पा सकता है। उन्होंने तलाक पृथक्करण दूसरी या वैकल्पिक शादी आदि के लिए परिस्थितियां निर्धारित की है। स्त्री के सम्मान रक्षा अपरिपक्व कन्याओं की सुरक्षा एवं प्रेमियों के सम्बन्धियों के बारे में अनेक प्रावधान रखे हैं। उनका व्यभिचार सम्बन्धी कानून जाति व्यवस्था के अनुसार चलता है। उन्होंने वेश्याओं का वर्गीकरण किया है उनका शुल्क निर्धारित किया है, उनकी अनियमित प्रवृत्तियों को रोकने का प्रयास किया है उनके व्यय को सीमित किया है ग्राहकों के प्रति उनके आचरण का उल्लेख किया है। राज्य द्वारा इन गणिकाओं की सुरक्षा का पूरा प्रबन्ध किया जायेगा तथा इनकी आय का पन्द्रहवां भाग राज्य को जाएगा।

कौटिल्य के अनुसार सरकार का दूसरा कार्य है जनता का मनोरंजन। इस सभी लोगों को प्रसन्नता एवं मनोरंजन के लिए सुविधा देनी चाहिये, उसे विनियमित एवं नियन्त्रित करना चाहिए। राज्य को ऐसी अकादमियों की स्थापना करनी चाहिये जहां पर कि अभिनेता एवं अभिनेत्री लिखना पढ़ना, गाना नाचना, चित्रकारी आदि कलाओं को सीख सकें। इन सभी कलाकारों के कार्य राज्य के द्वारा विनियमित किये जाते थे और इनकी आय का पन्द्रहवां भाग राज्य को प्राप्त होता था।

जुआघरों के नियन्त्रण के लिए राज्य द्वारा एक अधीक्षक नियुक्त किया जाता था। यह अधीक्षक इसके लिए स्थान निश्चित करता था वहां जल की व्यवस्था करता था अन्य सुविधायें जुटाता था तथा उनसे कर लेता था। जीते हुए लोगों की रकम का पांच प्रतिशत वह राज्य के लिए लेता था। अन्य स्थानों पर जुआ खेलने वालों से बारह पण का दण्ड लिया जाता था। इसी प्रकार के नियम अन्य कार्यों पर भी लागू होते थे। जब ये जुआ खेल रहे होते थे तो अधीक्षक को चोरों एवं भेदियों को रोकने के लिए पूरी मनोवैज्ञानिक कुशलता का उपयोग करना चाहिए।

मादक पेयों के सम्बन्ध में भी राज्य को तीन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने को कहा गया है अर्थात जीवन को विनियमित करने के लिए अपराधियों को रोकने के लिए तथा राज्य के लिए कुछ राजस्व एकत्रित करने के लिए। राज्य की मांग और पूर्ति के नियम के अनुसार या तो कुछ-कुछ दूरी पर स्वयं ही शराब की दुकान खोलनी चाहिए अथवा ऐसा करने के लिए ईमानदार व्यक्तियों को अनुमति देनी चाहिये। कौटिल्य पीने वालों के लिये

अर्थ-शास्त्र की मान्यता है कि सभी व्यवसाय एवं कार्यों को राज्य द्वारा विनियमित किया जाना चाहिये। उदाहरण के लिए डाक्टर को चाहिये कि वह गम्भीर बीमारी के सभी मामलों की सूचना सरकार को दे। यदि बिना सूचना दिये ही राज्य में कोई मरीज मर जाता है तो उसके लिए डाक्टर को दण्ड दिया जाता था।

कौटिल्य के अनुसार राज्य का पाचवां कार्य एक व्यापारिक संस्थान के रूप में है। उन्होंने राज्य को एक सबसे बड़ा व्यापापिक संस्थान माना है। राज्य स्वयं व्यापारिक निगमों का कार्य करता था और इस प्रकार यह उसकी आय का एक प्रमुख साधन बन जाता था। राजकीय भूमि से जो उत्पादन प्राप्त होता था उसे राज्य के गोदामों में रखा जाता था। भूमि अथवा समुद्र की खानों द्वारा एक बड़ी मात्रा में नमक, मोती, मूल्यवान पत्थर एवं धातु आदि निकाला जाता था। जंगलों से तथा पशुओं से भी ऐसी सामग्री प्राप्त की जाती थी जो कि राज्य के राजस्व को बढ़ा सके। कुछ एक धंधों पर राज्य का एकाधिकार था। इनके अतिरिक्त तेलों की फैक्ट्रियां थीं; इनमें अनेक स्त्री-पुरुषों को काम पर लगाया जाता था। स्टोर एवं फैक्ट्रियां कोषगृह के आधीन होती थीं। राज्य के कच्चे माल अथवा उत्पादित वस्तुओं का प्रबन्ध एक अधीक्षक के द्वारा किया जाता था। जहाजों एवं नौकाओं पर राज्य का स्वामित्व रहता था और वही उनको निश्चित दरों पर भाड़े पर चलाता था।

छटे, राज्य को समाज के सारे आर्थिक जीवन का विनियमन करना चाहिये। उसे सभी सम्भव साधनों से राज्य की सम्पन्नता का प्रयास करना चाहिए। कृषि कार्य करने वाली जनसंख्या का वितरण भी ठीक प्रकार करना चाहिये। राज्य को चाहिये कि वह अधिक जनसंख्या वाले स्थानों से लोगों को हटा कर कम जनसंख्या वाले स्थानों पर बसाये। राज्य द्वारा जिन जंगलों को कृषि के लिये साफ किया जाये उनको जीवन भर के लिये कृषकों को दे देना चाहिये। राज्यों की भूमि को दासों, बन्दियों अथवा भाड़े के मजदूरों द्वारा जोता जाना चाहिये। इनको तथा इनके पर्यवेक्षकों को काम के अनुसार पारिश्रमिक दिया जाना चाहिये। जो स्वयं भूमि पर कार्य नहीं करते वे उसे या तो भाड़े पर उठा सकते हैं अथवा बेच सकते हैं। यदि किसान सरकार के करों को समय पर चुका देते हैं तो राज्य को चाहिये कि वह उनको अच्छे बीज, पशु एवं धन का उचित शर्तों पर प्रबन्ध करे। जिस भूमि पर खेती नहीं की जाती थी उसे चारागाह भूमि के रूप में प्रयुक्त किया जाता था। कौटिल्य ने कृषि लाभ के लिये मौसम का अध्ययन करने वाले विभाग की स्थापना का समर्थन किया है। राज्य के द्वारा सिचाई के विभिन्न साधनों—तालावों, कुओं, नदियों एवं नहरों—की व्यवस्था की जाती थी। सिचाई के साधन के अनुसार ही सिंचित उत्पादन का तिहाई, चौथाई या पांचवा भाग राज्य को प्रदान किया जाता था। अकाल में राहत प्रदान करने के लिये राज्य के अन्न-भण्डार खोल दिये जाते थे। धनवान व्यक्तियों पर अधिक कर लगा दिया जाता था। संकट के समय पड़ौसी राज्यों से भी सहायता मांगी जाती थी तथा देवी और देवताओं की पूजा की जाती थी।

कृषि के अतिरिक्त वाणिज्य को नियन्त्रण में रखना राज्य का सातवाँ कार्य था। धान्य विक्री के लिए अन्न एकत्रित करने वाले व्यापारियों पर राज्य द्वारा लाइसेंस लगाया जाता था। जो व्यापारी बिना लाइसेंस के ही विक्रय करते थे उनकी सम्पत्ति को जब्त किया जा सकता था। थोक बिक्री पर राज्य में उत्पादित वस्तु पर पाँच प्रतिशत एवं बाहर बनी वस्तु पर दस प्रतिशत का लाभ लेने की अनुमति प्रदान की गई थी। यदि व्यापारीगण अपने माल को खपत न कर पायें अथवा यातायात की असुविधा के कारण उनको हानि हो तो अधिक लाभ की अनुमति भी दी जा सकती थी। इस सम्बन्ध में किये जाने वाले घोखेबाजों को दण्ड दिया जाता था। राज्य द्वारा यह निर्धारित कर दिया गया था कि बाजार में जो भी वस्तु बेची जाय उसकी कीमत की घोषणा कर दी जाय। कालाबाजारी एवं व्यभिचार आदि के विरुद्ध कठोर दण्डों की व्यवस्था की जाती थी। राज्य द्वारा राजमार्गों की व्यवस्था की जाती थी। यही पशुओं, बाजारों, गाड़ियों, पैदलों, दुकानों, श्मशानों आदि के लिए मार्गों की व्यवस्था करता था। आधी-आधी कोस की दूरी पर मार्ग-चिन्ह लगाये जाते थे।

सातवीं शताब्दी में सम्राट् हर्षवर्धन के शासनकाल में सरकार के कार्यों की प्रवृत्ति के सम्बन्ध में चीनी यात्री युवान च्वाङ् (Yuan Chwang) ने बहुत कुछ लिखा है। उसका कहना है कि इस काल में हिन्दू सरकार प्रायः विनम्र थी किन्तु शासक कभी कभी असहिष्णु एवं दमनकारी हो जाते थे। बंगाल के राजा शशांक ने बौद्धों का पर्याप्त दमन किया। यहाँ तक कि कुमार जैसा औचित्यपूर्ण शासक भी कभी-कभी दमनकारी बन जाता था। जहाँ तक हर्ष वर्धन की सरकार का सम्बन्ध है वह सम्पूर्ण समाज की भौतिक प्रगति एवं आराम में तथा सर्वोच्च जीवन में सक्रिय रूप से रुचि लेती थी। बाणभट्ट के हर्ष चरित द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि सरकारी तौर पर अनेक दान-गृह, आराम गृह एवं प्याऊ बनवाई जाती थीं। अपने शासन काल में उसने जीवित प्राणियों की हत्या को निषिद्ध कर दिया तथा मांस भक्षण के लिए मौत की सजा रखी जिसे माफ नहीं किया जा सकता था। गंगा के किनारे उसने कई हजार स्तूप बनाये। कस्बों तथा गाँवों में से निकलने वाली सभी मुख्य सड़कों पर अस्पताल बनवाये तथा उनमें डाक्टर नियुक्त किये, दवाओं के वितरण का प्रबन्ध किया, गरीबों एवं यात्रियों के लिए मुफ्त भोजन का प्रबन्ध किया। उसने विद्वानों की सभाओं में विचार-विमर्श का प्रबन्ध किया, किन्तु निर्णय वह स्वयं ही लेता था। उसने चरित्रवान एवं विद्वान व्यक्तियों का सदैव आदर किया तथा अच्छे व्यक्तियों को पुरस्कार दिया और बुद्धिमानों को पदोन्नति। यदि शहर के लोगों में कहीं कोई अनियमितता दिखाई देती थी तो वह स्वयं जा कर देखता था। इस काल में राज्य के कार्यों की वित्तीय व्यवस्था बड़ी उदारता के साथ की जाती थी। राजा द्वारा विद्वानों को भूमि दी जाती थी। शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करने वाला विद्वान पर्याप्त प्रसिद्धि पा लेता था।

निष्कर्ष

प्राचीन भारत में सरकार की क्रियाओं पर पर्याप्त विचार कर लेने के

बाद यह कहा जा सकता है कि परिस्थितियों के जोर एवं राजनैतिक तथा सामाजिक संगठनों के सिद्धान्तों द्वारा लगाई गई सीमाओं में रहकर हिन्दू राज्य के कार्यों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। वैसे तो अनेक कार्य गैर-सरकारी संगठनों एवं व्यक्तियों द्वारा सम्पन्न किये जाते थे तो भी राज्य द्वारा किये जाने वाले कार्यों का क्षेत्र भी कम न था। समय-समय पर यह धर्म प्रचार का काम करता था, नैतिकता को लागू करता था, सामाजिक व्यवस्था को बनाता एवं सुधारता था, ज्ञान-शिक्षा एवं कलाओं को प्रोत्साहन देता था, विभिन्न अकादमियों को सहायता प्रदान करता था, उद्योगों एवं व्यापार को विनियमित करता था, कृषि को प्रोत्साहन देता था, अकाल तथा दुर्भाग्य के सताये लोगों की सहायता करता था, अस्पताल तथा विश्रामगृह आदि बनवाता था। इन समस्त कार्यों को राज्य द्वारा अपने प्राथमिक कार्यों—सुरक्षा, व्यवस्था एवं न्याय के अतिरिक्त किया जाता था। हिन्दू राजनीति के आचार्यों एवं ग्रन्थों ने बार-बार इस बात पर जोर दिया है कि राजा जनता के पिता के समान था। अशोक के शिलालेखों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि राजा एक व्यापक अर्थ में प्रजा का पिता था। व्यक्तिवाद अथवा 'अकेला छोड़ दो' की नीति को प्राचीन भारत में कभी महत्व नहीं मिला। अपने सर्वोच्च रूप में हिन्दू राज्य केवल एक नैतिक राज्य ही नहीं था वरन् यह पूर्ण रूप से एक आध्यात्मिक संस्था थी। आश्चर्य की बात यह है कि एक धर्म प्रचारक का कार्य हाथ में लेकर भी यह सभी धर्मों एव विश्वासों के प्रति सहनशील बना रहा। डा० बेनी प्रसाद लिखते हैं कि "पुष्यमित्र एवं शशांक जैसे कुछ धार्मिक दृष्टि से कट्टर शासकों ने निश्चय ही प्राचीन भारत के मंच पर विरोधी चरित्र प्रस्तुत किया है। इनके अतिरिक्त सामान्यतः हिन्दू राजाओं ने अशोक की तरह सभी धर्माचरणों को सहन किया यहां तक कि अपने से भिन्न अन्य वर्ग वालों के साथ भी पितृवत व्यवहार किया।"[1]

प्राचीन भारतीय राज्य ने जिस कार्य को करने का उत्तरदायित्व संभाला था उसे सम्पन्न करने में वह कहां तक सफल रहा, इस संबंध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं बताया जा सकता क्योंकि पर्याप्त आंकड़े प्राप्त नहीं होते। इस सम्बन्ध में कोई एक निर्णय देना अनुपयुक्त एवं खतरनाक रहेगा। भारतीय इतिहास की पृष्ठभूमि में प्रत्येक क्षेत्र एवं प्रत्येक काल पर अलग से विचार करना होता है। किन्तु ऐसा करने के लिए भी पर्याप्त सामग्री का अभाव है। असल में प्राचीन भारतीय राज्य के कार्यों का मूल्यांकन किया जाये तो उसके दोनों ही रूप हमारे सामने आते हैं। एक ओर तो उसकी तानाशाही प्रवृत्तियों के कारण वह दमनकारी बन जाता है और दूसरी ओर

---

1. A few bitter religious persecutors like Pusyamitra and Saranka certain flit across the stage of ancient India but, as a rule, Hindu monarchs, even burning enthusiasts like Asoka, tolerated all creeds, preached toleration and even went to the extent of patronising sects other than their own."

—Dr. Beni Prasad, op. cit., Pp. 505-6

कल्याणकारी कार्यों के करने से उसका पैतृक रूप सामने आता है। राजतरंगिणी एवं मिलिन्दपन्ह ने राजा की स्वेच्छाचारिता एवं तानाशाही को सामने रखा है। राजाओं का व्यक्तिगत व्यय, उनके महल का खर्च, दरबार की दिखावट एवं सजावट का खर्चा तथा समय-समय होने वाले युद्धों के कारण करदाताओं पर भारी व्यय भार पड़ता था। हिन्दू राज्य ने बाध्यकारी श्रम तथा कर पर्याप्त लगा रखे थे। यह जातिवाद के प्रभाव में इतना आ गया कि नीची जाति एवं वर्ग के लोगों को शेष जनता के साथ लाने में तथा उनके जीवन स्तर को ऊंचा उठाने में सर्वथा असमर्थ रहा। इसने पुरोहितवाद एवं पुराण पादियों का समर्थन किया तथा व्यक्ति और व्यक्ति के बीच अन्तर बढ़ाने में सहायता की। इस सबके अलावा हिन्दू राज्य का दृष्टिकोण अत्यन्त संकीर्ण था तथा इसने शेष संसार से अपने आपको अलग रखा। समय के अनुसार यह अपने को न बदल सका तथा विदेशी आक्रमणकारियों का विरोध करने के लिए संगठित न हो सका। एक के बाद एक विदेशी आक्रमण हुआ और अन्त में १२वीं शताब्दी में तूफानों के बीच इसका जहाज टूट गया जिसे बचाने की शक्ति इसमें न थी।

हिन्दू राज्य का एक दूसरा रूप भी है। इसके द्वारा जनता के कुछ मुख्य-मुख्य हितों की साधना की गई। इसने कृषि का विकास किया तथा सिंचाई के साधन उपलब्ध कराये। इसने उपभोक्ता को उत्पादक के शोषण से बचाया तथा सभी वर्गों के कारीगरों को एक होने का अवसर दिया। संचार साधनों के प्रसार में प्रयत्नशील रहकर सारे देश में एक ही प्रकार की संस्कृति के प्रसार का प्रयास किया। शासकों द्वारा गरीबों, यात्रियों, साधुओं एवं आपदा ग्रस्तों के आराम सहायता एवं सहयोग के लिए बहुत कुछ किया जाता था। राज दरबारों में कवियों एवं विद्वानों को आदर दिया जाता था। राजा द्वारा विभिन्न धर्मानुयायियों को सहायता तथा प्रोत्साहन दिया जाता था। डा० बेनी प्रसाद के शब्दों में 'हिन्दू राज्य दर्शन की उन व्यवस्थाओं जिनका आज तक आदर किया जाता है, उन धर्मों जिनके कुछ पहलू शिखर की ऊंचाई को छूते हैं तथा उस साहित्य जिस संसार के महान साहित्यों[1] में गिना जाता है, के उदय के अनुकूल परिस्थितियां बनाने में सफल हुआ।'' इस काल के राज्य ने कई बार तो धार्मिक एवं नैतिक सुधार के लिए स्वयं प्रयास किया। कनिष्क एवं अशोक आदि के नेतृत्व में इसने भारतीय जीवन को सर्वोच्च शिखर पर पहुंचा दिया।

---

1. The Hindu State succeeded in maintaining conditions favourable to the rise of systems of philosophy which still command respect, religions which, in certain aspects, touch the sublimest heights and a literature which ranks among the great literatures of the world

—Dr. Beni Prasad, op cit P. 513

७

प्राचीन भारत में व्यवस्थापिका

[THE LEGISLATURE IN ANCIENT INDIA]
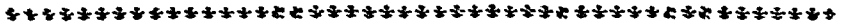
प्राचीन भारत के राजनैतिक जीवन में कानून का पर्याप्त महत्व था। कानून के आधार पर समाज में शान्ति एवं व्यवस्था की स्थापना की जाती थी। कानून के निर्माण के लिए समय-समय पर जिन संस्थाओं का संगठन होता रहा वे भारत के राजनैतिक इतिहास में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। प्राचीन भारत के गणराज्यों में आधुनिक संसद से मिलती हुई व्यवस्थापिका वर्तमान थी। इसका शासन के कार्यों पर पर्याप्त प्रभाव रहता था। गणतन्त्रों के अतिरिक्त राजतन्त्रात्मक शासन पद्धति में भी इन व्यवस्थापिका संस्थाओं का पर्याप्त महत्व था। वैदिक साहित्य के अध्ययन के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय के प्रायः सभी राज्यों में व्यवस्थापिकाएं राजाओं के नियन्त्रण में कार्य कर रही थीं। वैदिक काल के राज्य आकार में अधिक बड़े न थे। इनकी राजधानी का आकार भी गांवों से अधिक बड़ा नहीं होता था। प्रत्येक राज्य में अन्तर्निहित ग्राम में जनता की सभा कार्य करती थी और राजधानी में समूचे राज्य की एक केन्द्रीय व्यवस्थापिका होती थी जिसे समिति कहा जाता था।

सभा और समिति दोनों का वैदिक साहित्य में पर्याप्त उल्लेखनीय स्थान रहा है। अथर्ववेद के एक सूक्त में इन दोनों को प्रजापति की जुड़वां लड़कियां कहा गया है। इसके यह स्पष्ट हो जाता है कि इन दोनों संस्थाओं को उस समय ईश्वर निर्मित माना जाता था। उस समय लोगों का विश्वास था कि ये दोनों संस्थाएं यदि आदि काल से नहीं तो कम से कम राजनैतिक जीवन के साथ-साथ अस्तित्व में आयी थीं। वैदिक काल में ही संस्थाएं भारत के प्रत्येक गांव में थीं। उस समय का प्रत्येक राजनीतिज्ञ एवं विद्वान यह महत्वाकांक्षा लेकर चलता था कि समिति द्वारा उसकी योग्यताओं को स्वीकार किया जाए। प्राचीन भारतीय राजनीति के प्रायः सभी विद्वान यह मानते हैं कि यहां की राजनैतिक प्रणाली में सभा, समिति, विदथ, परिषद, संग्राम आदि का विशेष प्रचलन था। वैदिक काल में शासन प्रणाली का रूप राजतन्त्रात्मक

होते हुए भी उस समय सभा एवं समिति जैसी लोकप्रिय संस्थाओं का पर्याप्त महत्व था। कुछ विद्वानों की राय है कि वैदिक काल में राजा का पद निर्वाचित होता था तथा उसका निर्वाचन जनता के प्रतिनिधियों द्वारा किया जाता था। मि. एन. जे. शिन्दे के मतानुसार राजा का राज्य में प्रमुख के रूप में निर्वाचन सभा या समिति के द्वारा किया जाता था।[1] अथर्ववेद में अनेक ऐसे जादू टोनों का वर्णन किया गया है जिनके द्वारा सभा को वाद विवाद में जीता जा सके।

सभा
[The Sabha]

प्राचीन भारत की परिषदों एवं व्यवस्थापिकाओं में सभाओं की ओर विद्वानों का अधिकाधिक ध्यान गया है। वास्तविकता यह है कि अभी तक समस्त प्रकार की इन सभाओं के सम्बन्ध में पूर्णत सही जानकारी हासिल नहीं की जा सकी है। वैदिक काल की इन सभाओं में भिन्न भिन्न प्रकार के अनेक विचार प्रकट किए गए हैं। मि. शाम शास्त्री के कथनानुसार वैदिक कालीन इन सभाओं को जनता एवं परिषद के नाम से भी पुकारा जाता था।

सभा (स+भा) का शाब्दिक अर्थ चमकना है। इस अर्थ में सभा वह है जो कि चमकती है अर्थात् इस संस्था के सदस्य प्रतिष्ठित व्यक्ति होते थे। मि. दीक्षितार (V. R. R. Dikshitar) का कहना है कि सभा के सदस्य मौलिक रूप से कुलीन ब्राह्मण एवं मघवन हुआ करते थे। असल में 'सभा' वृद्ध लोगों की एक परिषद होती थी जिसके सदस्य प्रायः अच्छे वंश वाले हुआ करते थे। सभा के इन वृद्ध सदस्यों का चरित्र एवं विद्वता का स्तर इतना ऊंचा होता था कि सभी समुदाय उनका आदर करते थे। सभा के सदस्यों की योग्यता के सम्बन्ध में महाभारत की द्रौपदी का यह कथन महत्वपूर्ण है कि वह सभा नहीं जहां वृद्ध न हों, वे वृद्ध नहीं जो धर्म के वचन न बोलें, वह धर्म नहीं जो कि सत्य पर आधारित न हो और वह सत्य नहीं जिसके साथ धोखे का मिश्रण हो।[2] सभा एक राष्ट्रीय न्यायपालिका के रूप में कार्य करती थी इसलिये उसके सदस्यों का योग्य, अनुभवी तथा ईमानदार होना अत्यन्त आवश्यक था। बौद्ध जातकों में यह कहा गया है कि सभा के सदस्य सज्जन पुरुष एवं अच्छे व्यक्ति होने चाहिए। अथर्ववेद में कुछ इस प्रकार का

---

1. The bodies which elected the king were called Sabha and Samiti ... Sabha and Samiti are the two daughters of Prajapati

—N. J. Shinde, The Religion and Philosophy of Atharv Ved, Pp. 75-76

2. न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम्।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति न तत्सत्यं यच्छलेनानुविद्धम्॥
—महाभारत।

उल्लेख है कि ज्यों ज्यों सभा की शक्तियां बढ़ती गईं, त्यों-त्यों इसके सदस्यों के बीच अन्तर भी बढ़ते गए। इतने पर भी सभा की सदस्यता को निश्चित करने के लिए किसी चुनाव पद्धति को नहीं अपनाया गया। मि० यू० एन० घोषाल ने सभा के दो प्रकार के सदस्यों का उल्लेख किया है। सभा सद् या सभाचर सभा की उच्च श्रेणी के सदस्य हुआ करते थे जो कि शाही परिषद या न्यायालय के सदस्य भी बन जाते थे। जब कि सभा या केवल महासभा के सदस्य ही रहते थे। प्रोफेसर अलतेकर के मतानुसार वैदिक साहित्य में तीन प्रकार की सभाओं का उल्लेख है—वेदथ, सभा और समिति। इन तीनों संस्थाओं के निश्चित अर्थ के सम्बन्ध में कुछ भी कहना कठिन है। भिन्न भिन्न विचारकों ने इस सम्बन्ध में अलग-अलग मत प्रकट किए है। लुडविग का कहना है कि सभा में पुरोहित तथा धनिक जैसे उच्च वर्ग के लोग हुआ करते थे जब कि समिति में केवल साधारण लोग ही रहते थे। हिले ब्रान्ड का विचार है कि सभा एवं समिति एक जैसी थी। सभा का अर्थ उस स्थान से है जहां लोग एकत्रित होते थे और समिति उस एकत्रित जन समुदाय को कहा जाता था। मि० अलतेकर का मत इसके विपरीत है। उनका कहना है कि 'सभा' समिति के अधिवेशन का स्थान नहीं थी वरन् अलग संस्था थी। यदि हिले ब्राण्ड का मत सही है तो वे वेदों में सभा तथा समिति को प्रजापति की दो कन्यायें न कहकर एक ही कहा गया होता। वैदिक साहित्य में सभा शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया गया है। किसी भवन, जुआघर अथवा शाही दरबार को इङ्गित करने के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जाता था। डा० जायसवाल का कहना है कि सभा का जन्म समिति की भांति ऋग्वेद के अंतिम काल में हुआ है तथा इसका जीवन भी समिति के साथ-साथ चल रहा था।

आचार्य बृहस्पति ने चार प्रकार की सभाओं का उल्लेख किया है—अचल सभा, जो कि किसी गांव या कस्बे में हुआ करती थी; चल सभा, जिसके सदस्य विद्वान हुआ करते थे और जो स्थान स्थान पर घूमती रहती थी; अधिकार पत्र युक्त समिति, जो कि एक अधीक्षक की प्रधानता में कार्य करती थी; और आज्ञानुकूल सभा, जिसका प्रधान राजा हुआ करता था।

सभा शब्द का प्रयोग वेदों एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में उस मण्डली के लिए भी किया गया है जिसमें मिलकर जुआ खेलने वाले लोग अपनी स्त्री तक को भी दांव पर लगा देते थे। इस प्रकार सभा का सामाजिक स्वरूप सामने आता है। इसमें कभी-कभी गांव से सम्बन्ध रखने वाले विषयों पर भी विचार कर लिया जाता था। सम्भावना है कि इस संस्था का सम्बन्ध वैदिक काल में भी कहीं-कहीं राजा से रहा होगा तथा इस प्रकार इसने सामाजिक के स्थान पर राजनैतिक रूप धारण कर लिया होगा। अलतेकर के शब्दों में "अधिकतर प्रमाणों से यही निष्कर्ष निकलता है कि 'सभा' प्रायः ग्राम संस्था थी और उसमें सामाजिक तथा राजनैतिक दोनों विषयों पर विचार किया जाता था।"[1] समाज में जातीय आधार पर भी सभायें हुआ करती थीं।

1. प्रोफेसर अलतेकर, वही पुस्तक, पृष्ठ—102

वैदिक काल में विभिन्न वर्गों की ये कम महत्वपूर्ण सभायें सामाजिक एवं धार्मिक मामलों को तय किया करती थीं। चरक संहिता में यह स्वीकार किया गया है कि उस समय दो प्रकार की सभायें वर्तमान थीं—प्रथम विद्वान पुरुषों की सभा और द्वितीय साधारण व्यक्तियों की सभा।

प्रमाणों के आधार पर यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि कम से कम वैदिक काल में सभा का रूप सार्वजनिक था जिसमें विद्वान पुरुष, पुरुवाज तथा ऐसे ही दूसरे लोग जाया करते थे। यह सभा राजनैतिक कार्य करती थी अथवा नहीं करती थी और करती भी थी तो क्या करती थी यह स्पष्ट नहीं है। जॉन स्वेलमेन को लगता है कि यह कोई भवन रहा होगा जो कि विभिन्न उद्देश्यों को पूरा करता होगा। प्रारम्भ में लोग इस भवन का उपयोग सामाजिक एवं धार्मिक उत्सव मनाने के लिए ही करते होंगे। लोकमत को बनाने तथा मोड़ सकने की सामर्थ्य रखने के कारण ये राजनैतिक दृष्टि से भी पर्याप्त महत्वपूर्ण थे। फिर भी उस समय के राजनैतिक प्रशासन में सभा का एक व्यवस्थापिका के रूप में कितना और क्या स्तर था यह नहीं कहा जा सकता।

सभा के कार्यों के सम्बन्ध में भी निश्चय के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता। कुछ ग्रन्थों में आये उद्धरणों के सहारे केवल कुछ अनुमान लगाये जा सकते हैं। महाभारत में सभा को एक न्यायिक निकाय माना गया है। युधिष्ठिर ने दुर्योधन के साथ चौपड़ खेलते हुए अपने आप तक को हरा दिया। उसके बाद वह द्रौपदी को भी दाव पर लगाने लगा। यह मामला सभा के सम्मुख विचार के लिए प्रस्तुत किया गया जिसकी अध्यक्षता धृतराष्ट्र द्वारा की गई। प्रश्न यह था कि क्या युधिष्ठिर द्वारा द्रौपदी को दाव पर लगाया जा सकता था जबकि वह स्वयं अपने को हार कर दास बन चुका था। इस प्रश्न की कानूनी आपत्तियों पर पूरी तरह से विचार किया गया तथा सभा के सदस्यों ने स्वतन्त्रता एवं निर्भीकता के साथ अपने विचार प्रकट किये। परम्परा यह थी कि जब भी कभी सभा के सदस्यों की राय मांगी जाय, उनको सत्यवादन करना चाहिए। कानूनी प्रश्नों पर पर्याप्त वाद-विवाद करने के बाद धृतराष्ट्र ने पाण्डवों को दासता से मुक्त करने पर सहमति दे दी। सभा की न्यायिक शक्तियां एवं दायित्व पर्याप्त बढ़ते जा रहे थे। सभा में महिलायें भी हो सकती थीं।

सभा के दूसरे कार्य को कार्यपालिका सम्बन्धी कहा जा सकता है। इस रूप में वह राजा का एक परामर्शदाता निकाय थी। राजा 'सभा' के सदस्यों का परामर्श लिए बिना कोई कार्य नहीं करता था। सभा के परामर्श के बाद निर्णय लेने का अधिकार स्वयं राजा का था। कोई भी राजा सभा के परामर्श की स्वेच्छाचारी रूप से अवहेलना नहीं कर सकता था।

सभा का तीसरा कार्य विश्रामगृह के रूप में सेवायें प्रदान करना था। नल-दमयन्ती ने सभा में विश्राम लिया था, इसका उल्लेख महाभारत में आता है। आपस्तम्ब धर्म सूत्र में यह कहा गया है कि राजा को कुछ दूर दक्षिण

की ओर एक सभा का निर्माण करना चाहिये जिसके दरवाजे उत्तर एवं दक्षिण की ओर हों ताकि उसमें से आने जाने वालों को देखा जा सके। सभी स्थानों पर अग्नि जलाई जानी चाहिये तथा रोजाना उसको आहूति दी जानी चाहिये। मुख्य हॉल में मेहमानों को रक्खा जाये, विशेषतः उनको जो कि वेदों के ज्ञाता हैं। इसके प्रदेश में कोई भी ब्राह्मण भूखा न रहे, बीमार न रहे, सर्दी या गर्मी का कष्ट महसूस न करे। सभा भवन के मध्य में एक क्रीड़ास्थल होना चाहिये। शूद्रों के अतिरिक्त वर्ण के लोगों को, जो कि सच्चे और पवित्र है, यहाँ खेलने की सुविधा दी जानी चाहिये। अस्त्रों का अभ्यास, नृत्य, गायन, संगीत आदि का आयोजन राज कर्मचारियों के घरों पर होना चाहिये।

सभा के इस रूप का दर्शन कुछ एक अन्य बौद्ध ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है। एक कथा के अनुसार बोद्धिसत्व को एक बार यह चिन्ता हुई कि लड़के पशुओं के बीच एवं हर तरह के वातावरण में खुले मैदानों में खेलते हैं। अतः उन्होंने एक हॉल बनवाने का निर्णय लिया। उस महान् आत्मा ने इस निर्णय को क्रियान्वित किया। इस हॉल के एक भाग में साधारण अजनवियों के लिए जगह थी; दूसरे भाग में बे-घरों के लिए ठहरने का स्थान था, अन्य भाग में त्रस्त महिलाओं के लिए जगह थी, दूसरे भाग में बौद्ध साधुओं एवं ब्राह्मणों के निवास का प्रबन्ध था। इस हॉल में एक अन्य स्थान भी था जहां पर कि विदेशी व्यापारी अपना माल दिखा सकते थे। इन सभी विभागों के दरवाजे बाहर की ओर को खुलते थे। उस महानात्मा ने न्याय के लिए न्यायालय तथा खेल के लिए भी मैदानों की स्थापना की। यह कहानी कुछ तो अनुमानों पर आधारित है और कुछ तथ्यों का स्पष्टीकरण है। इस प्रकार वैदिक काल की सभा का यह विचार बौद्ध काल में भी बना रहा किन्तु बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार इसका रूप बदल गया।

समिति
[The Samiti]

समिति एक अन्य संस्था थी जिसने प्राचीन भारत में व्यवस्थापिका के दायित्वों का निर्वाह किया। समिति से सम्बन्धित हमारा ज्ञान अपेक्षाकृत और भी कम है।[1] अलतेकर का कहना है कि समिति के संगठन के विषय में भी हम कुछ नहीं जानते।[2] समिति को सभा का परवर्ती माना गया है। अथर्ववेद के एक उद्धरण को आधार बना कर यह मत स्वीकार किया गया है। इस उद्धरण में पहले सभा का और बाद में समिति का उल्लेख किया गया है। यह क्रम उपयुक्त भी प्रतीत होता है क्योंकि प्रारम्भ में प्रत्येक गांव को स्वतन्त्र रूप से अपना प्रबन्ध करना होता था। इसके लिए जो प्रबन्धकारिणी संस्था होती थी वह 'सभा' कही जाती थी। बाद में जब

---

1. About the Samiti, we know even less than about the Sabha.
--John W. Spellman, *op. cit.*, P. 95
2. अलतेकर, वही पुस्तक, पृष्ठ 103.

राज्यों का संगठन हुआ तो एक राजा को कई एक गांवों के प्रशासन का प्रबन्ध करना पड़ा। इस कार्य के लिए एक केन्द्रीय संस्था बनाई गई। इसे समिति कहा गया।

ऋग्वेद के अन्तिम मन्त्र में समिति का जो उल्लेख किया गया है उसमे तथा सभा के स्वरूप में पर्याप्त साम्य है। समिति को भी विद्वानों का एक संघ माना गया है तथा उसके सामाजिक स्वरूप पर जोर दिया गया है। इतने पर भी मूल रूप में यह एक राजनैतिक संस्था थी तथा इसे केन्द्रीय व्यवस्थापिका माना गया है। ऋग्वेद में कहा गया है कि एक आदर्श राजा को समिति में अवश्य जाना चाहिये। समिति का समर्थन एवं सहयोग राजा के लिए वैदिक काल में कितना उपयोगी एवं महत्वपूर्ण था इसका पता कुछ कथनों से लगता है। राजसत्ता हस्तगत करने के लिए समिति को पहले वश में करना जरूरी होता था। समिति का सहयोग प्राप्त न होने पर राजा का अस्तित्व तक संकट में पड़ जाता था। एक बार राजा को खोने के बाद जब वह उसे पुन प्राप्त करता था तो तब तक आश्वस्त नहीं होता था जब तक कि समिति का समर्थन प्राप्त न कर ले। राज्य के केन्द्रीय प्रशासन पर तथा सेना पर समिति का प्रभावशाली नियन्त्रण था ऐसा प्रतीत होता है, किन्तु इस नियन्त्रण को किस प्रकार व्यवहृत किया जाता था यह स्पष्ट नहीं है।

समिति के सदस्य सभी व्यक्ति होते थे। सम्पूर्ण जनता को इसका सदस्य मानने का आधार यह है कि राजा के निर्वाचन अथवा पुनर्निर्वाचन कर्त्ता के रूप में जनता एवं समिति शब्दों का वैकल्पिक रूप में प्रयोग किया गया है। इस सम्बन्ध में अथर्ववेद का यह उद्धरण भी महत्वपूर्ण है जिसमे पुरोहित द्वारा अभिषेक के बाद कहा गया है कि राजा अपने सिंहासन पर आसीन हो तथा समिति उसके प्रति वफादार रहे। समस्त नागरिकों को समिति का सदस्य मानने के मार्ग में एक बाधा है और वह यह है कि इन सभी की उपस्थिति में समिति गम्भीर विषयों पर कैसे विचार करती होगी। दार्शनिक अथवा अन्य गम्भीर प्रश्नों पर विचार करते समय निश्चय ही कुछ चुने हुए सदस्य पहुंचते होंगे। यह चुनाव किस के द्वारा, किस आधार पर, तथा कितने समय के लिये किया जाता था इस सम्बन्ध में हम कुछ भी नहीं कह सकते। अनुमान है कि युग के मूल्यों के अनुसार इसमें योद्धाओं, विद्वानों, पुरोहितों, धनी व्यक्तियों आदि को स्थान दिया जाता रहा होगा। अलतेकर महोदय का कहना है कि "समिति के सदस्य समाज के प्रतिष्ठित और धनी व्यक्ति होते थे और शासन पर उनका बड़ा प्रभाव रहता था, 'सभा' के सदस्यों की भांति वे भी पूरे ठाठ से समिति के अधिवेशन में उपस्थित होते आते रहे होंगे।[1] मि दीक्षितार का मत है कि यह निश्चय ही एक साम्प्रदायिक संस्था थी। इसमे जनता राजा का चुनाव करती थी।[2] घोष का कहना है कि समिति का राजनीति से कुछ लेना-देना नहीं था वह पूर्णतः

---

1. प्रोफेसर अलतेकर, पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ 103
2. V. R. Dikshitar, Hindu Administrative Institutions, P. 155

एक अराजनैतिक संस्था थी। यह राजनैतिक उद्देश्यों के लिए कार्य नहीं करती थी। डा० जायसवाल ने इसे गांव पर आधारित एक प्रतिनिधि सभा माना है। यहां हम हिलेब्रान्ट (Hillebrant) के मत को दोहराते हुए कह सकते हैं कि सभा और समिति में कोई अन्तर नहीं था वरन् ये एक ही संस्था के दो नाम हैं।[1]

समिति शब्द का प्रयोग ऋगवेद तथा अथर्ववेद में कई स्थानों पर हुआ है। इनको देखने पर यह लगता है कि समिति में समाज के समस्त नागरिक होते थे। यह राष्ट्रीय सभा होती थी। राजा एवं समिति के बीच निकट का सम्बन्ध था। राज्याभिषेक, युद्ध अथवा राष्ट्रीय संकट जैसे महत्व-पूर्ण अवसरों पर इसका अधिवेशन अवश्य बुलाया जाता था। राजा समिति के अधिवेशनों में उपस्थित रहता था। उसकी उपस्थिति अनिवार्य मानी जाती थी। डा० जायसवाल के मतानुसार समिति में राजा के उपस्थित होने की परम्परा उस समय तक कायम रही जब तक कि स्वयं इस संस्था का अस्तित्व रहा। यह कहना गलत होगा कि समिति एक अराजनैतिक संस्था थी। यह सच है कि समिति में अनेक महत्वपूर्ण अराजनैतिक विषयों पर भी विचार किया जाता था किन्तु मूल रूप से यह एक राजनैतिक संस्था थी।

समिति का कार्य विभिन्न महत्वपूर्ण विषयों पर विचार करना तथा राजा के सामने अपनी राय प्रस्तुत करना था। मि० वन्घोपाध्याय का कहना है कि यह एक मननात्मक निकाय था। इसमें उपस्थित होने वाले विभिन्न व्यक्ति विचाराधीन विषय पर अपना मत व्यक्त करते थे। समिति के सदस्यों द्वारा अभिव्यक्त मत का समाज पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता था। मि० अलतेकर का कहना है कि "समिति में गहरा वाद-विवाद होता था, राजनीति में नाम करने के इच्छुक नये सदस्य अपनी भाषण कला से समिति को प्रभावित करने के लिए उत्सुक रहते थे। समिति में सफलता उसी को मिलती थी जो अपनी वाक्चातुरी और तर्क बल से सदस्यों को अपनी ओर कर ले। कभी-कभी दलबन्दी की तीव्रता होने पर गरमागरम बहस हो जाती थी और हाथा-पाई की नौबत आ जाती रही होगी। इसी से ऋगवेद में यह प्रार्थना की गई है कि समिति की कार्यवाही सौहार्द्रपूर्ण हो, सदस्यों में मेलजोल रहे और उसके निर्णय एक मत से हों।"[1]

समिति के लिए 'संगति' तथा 'संग्राम' शब्दों का भी प्रयोग किया जाता था। समिति शब्द के अनेक बाद संग्राम के साथ प्रयुक्त होने के कुछ विचारकों ने यह मत व्यक्त किया है कि इस संस्था का युद्ध से पर्याप्त सम्बन्ध रहा होगा। समिति का मूल अर्थ युद्ध के लिए जन के सदस्यों का सैनिक रचना में एकत्र होना था। समिति का एक अन्य मुख्य कार्य राजा का निर्वा-चन करना तथा अपदस्थ राजा का पुनः निर्वाचन करना था। इस प्रकार समिति के सदस्य प्रदेश के राजनैतिक जीवन में पर्याप्त महत्व रखते थे।

---

1. F. F. A. Hillebrant, Vedische Mythologic, II, 123–5
2. प्रोफेसर अलतेकर, पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ–104

वैदिक काल में समिति एक प्रभावशाली एवं महत्वपूर्ण संस्था थी किन्तु संहिता एवं ब्राह्मणों के युग में सम्भवतः यह विलुप्त हो गई क्योंकि इस काल के ग्रन्थों में इसका कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता।[1] उपनिषदों में समिति का उल्लेख प्राप्त होता है। छान्दोग्य उपनिषद में आये वृत्तान्त के अनुसार अपनी शिक्षा समाप्त करके श्वेतकेतु पाचालों की समिति में पहुंचे। इस अवसर पर राजा द्वारा श्वेतकेतु से उसके ज्ञान की परीक्षार्थ कुछ प्रश्न पूछे गये। इस प्रकार उपनिषद काल में यद्यपि समिति का अस्तित्व तो रहा किन्तु उसने राजनैतिक प्रकृति को छोड़ कर विद्वानों की संस्था का रूप धारण कर लिया। इस उपनिषद के बाद समिति का कहीं कोई साहित्यिक अभिलेख प्राप्त नहीं होता। अलतेकर के कथनानुसार 'यह तो निश्चित है कि धर्म सूत्रों के समय से पहले ही (ई० पू० ५०० वर्ष) समिति और सभा राजनैतिक संस्था का रूप खो चुकी थी क्योंकि सूत्रों में राजा या शासन के कार्यों के वर्णन के प्रसंग में इन संस्थाओं का कभी नाम भी नहीं लिया गया' है। समिति के नाम से भी वे परिचित न थे।'[2] समिति के पतन के कारण के सम्बन्ध में यह अनुमान लगाया जाता है कि प्राचीन भारत में प्रतिनिधित्व प्रणाली का प्रचलन न होने के कारण समिति व्यवस्था केवल छोटे छोटे राज्यों में ही कार्य कर सकती थी जहां की जनता और राजधानी के बीच अधिक दूरी न थी। बड़े राज्यों की जनता का एक स्थान पर एकत्रित होना असम्भव प्राय था। स्वयं राजा भी इसमें रुचि नहीं लेता था क्योंकि वह सारी सत्ता को अपने हाथ में करने का अवसर ढूंढ़ता रहता था।

विदथ
(Vidatha)

वैदिक साहित्य में अन्य सभा का भी उल्लेख किया गया है जिसे 'विदथ' कहा जाता था। विदथ का शाब्दिक अर्थ विद्वानों की सभा है। डा० जायसवाल का मत है कि केवल सभा और समिति ही वैदिक काल की लोकप्रिय संस्थायें न थीं, इनके अतिरिक्त विदथ का भी पर्याप्त महत्व था जो कि धार्मिक जीवन को संगठित करने का काम करती थी। इसका सम्बन्ध धार्मिक कार्यों के अतिरिक्त नागरिक एवं सैनिक कार्यों से भी था और सम्भावना है कि सभा तथा समिति की यह जनक संस्था थी। कुछ विचारकों का मत इसके विपरीत है। मि० जिम्मर का विचार है कि सम्भवतः 'विदथ' समिति का ही एक छोटा निकाय रहा होगा। डा० जायसवाल इस मत को स्वीकार नहीं करते। मि० आर एस. शर्मा ने अनेक कारणों से विदथ को सभा और समिति का पूर्वगामी माना है। विदथ में महिलायें सक्रिय रूप से भाग लेती थी अतः अनुमान है कि ये वैदिक संस्थाओं से प्राचीन रही होंगी। विदथ के सम्बन्ध में निश्चित तथा स्पष्ट रूप से वर्गभेद का वर्णन नहीं किया गया है अतः यह वैदिक

---

1. *John W Spellman, op cit, P. 96 and* प्रोफेसर अलतेकर, पृष्ठ–104
2. Ibid.

काल से पूर्व की ही संस्था रही होगी क्योंकि वैदिक काल में तो जाति व्यवस्था पर्याप्त निश्चित एवं स्पष्ट रूप धारण कर चुकी थी। विदथ की रचना तथा उसके कार्यों की प्रकृति पर विचार करने के बाद इस अनुमान को पर्याप्त सहारा मिलता है कि यह संस्था वैदिककाल से पूर्व की है और सम्भवतः यह आर्यों की प्राचीनतम सामूहिक संस्था रही होगी।

मि० शर्मा ने विदथ को एक महत्वपूर्ण वैदिक संस्था माना है। ऋगवेद तथा अथर्ववेद में सभा तथा समिति शब्दों का जितना प्रयोग हुआ है उससे कई गुना अधिक प्रयोग विदथ शब्द का हुआ है।

विदथ के स्वरूप के सम्बन्ध में विचारकों के बीच मतैक्य नहीं है। यहां तक कि वे इस शब्द के भी अलग-अलग अर्थ बताते हैं। मि. रॉथ ने इस शब्द के तीन अर्थों का वर्णन किया है। ये हैं–आदेश, आदेश जारी करने वाला निकाय एवं वह सभा जो लौकिक या धार्मिक या युद्ध के उद्देश्यों के लिए बनी हो। प्रो लुडविक ने विदथ का सम्बन्ध माघवनों या ब्राह्मणों की सभा से माना है। डा. यू. एन. घोषाल का यह मत कुछ सार्थक प्रतीत होता है कि वैदिक विदथ के लक्षणों को निश्चित रूप से नहीं दिया जा सकता। वैसे अधिकतर लेखक इसे विद्वानों की सभा मानते हैं। विदथ को एक जनतंत्रात्मक सभा माना गया है जो कि समानता के सिद्धान्त के आधार पर बनती तथा कार्य करती थी। इसमें प्रदेश के सभी वयस्क स्त्री-पुरुष समान रूप से भाग लेते थे।

विदथ द्वारा अनेक प्रकार के कार्य किये जाते थे। ओल्डेनवर्ग तो 'विदथ' का अर्थ ही यह बताते हैं कि 'किसी भी प्रकार का कार्य करना।' इसमें अनेक विषयों पर विचार किया जाता था। एक महत्वपूर्ण विषय युद्ध था। जॉन स्पैलमेन लिखते हैं कि "ऋगवेद में आये कुछ उद्धरणों के अनुसार यह सोचना बुद्धिपूर्ण है कि विदथ का कुछ सम्बन्ध युद्ध से रहा होगा।"[1] वीरपुरुषों के वीरतापूर्ण कार्यों पर इसमें विचार किया जाता था। इसकी बैठकों में प्रभावशील ढंग से बोलने को श्रेष्ठ समझा जाता था। युद्ध सम्बन्धी विषयों के अतिरिक्त यह धार्मिक कार्य करती थी। सायणाचार्य ने विदथ का अर्थ यज्ञ बताया है। वे इसके धार्मिक स्वरूप को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। इस संस्था में सभी लोग देवताओं की पूजा करते थे। विदथ में गाने-बजाने, मदिरा पान करने तथा खेल आदि का आयोजन करने का भी प्रबन्ध था। स्पैलमेन का कहना है कि ग्रन्थों के अध्ययन से जो भी ज्ञात होता है वह यह है कि बहादुर व्यक्ति अथवा नेतागण 'विदथ' के सदस्य होते थे—ठीक उसी प्रकार जैसे कि वे अन्य दूसरी सभा के होते थे। इस प्रकार उनके कार्य भी ऐसी ही प्रकृति के होते थे। अलतेकर महोदय ने विदथ का उल्लेख भी नहीं

---

t is also reasonable to suggest on the basis of certain references in the Rig Veda that the Vidatha had some relationship to war.

—John W. Spellman, op. cit., P. 96

किया है। सम्भवतः उनका मत है कि प्राचीन भारत के राजनैतिक जीवन में विदथ का कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं था।

मंत्री-परिषद

[The Mantri Parishad]

व्यवस्थापन की दृष्टि से महत्वपूर्ण एक अन्य संस्था का भी वैदिक साहित्य में उल्लेख मिलता है—यह है मन्त्री परिषद अथवा परिषद। जॉन स्पैलमेन ने मन्त्रीपरिषद एवं परिषद शब्दों को भिन्नार्थक माना है। उनके कथनानुसार प्रथम के द्वारा विद्वान पुरुषों की सभा की ओर इंगित किया जाता था जो कि धर्म के प्रश्न, धार्मिक कानूनों की व्याख्या तथा अन्य न्यायिक विषयों पर विचार करती थी। दूसरे शब्दों में यह एक न्यायिक संस्था थी। वी आर दीक्षितार का कहना है कि परम्परागत चलन के अनुसार परिषद का अर्थ ऐसे विद्वानों की सभा से था जो कि देश की प्रथाओं तथा अन्य कानूनी विषयों पर निर्णय देते थे। पाणिनी ने परिषद शब्द के तीन प्रयोगों का उल्लेख किया है—प्रथम, विद्वानों एवं विशेषज्ञों की परिषद; दूसरे, सामाजिक एवं सांस्कृतिक सभा और तीसरे, राजा की परिषद। अन्तिम अर्थ में परिषद का राजनैतिक महत्व था। राजा की सहायता एवं परामर्श के लिए एक मन्त्री परिषद हुआ करती थी। कौटिल्य ने परिषद शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। स्मृतियों एवं बाद के संस्कृत साहित्य में परिषद शब्द का प्रयोग न्यायिक सभा के लिए किया गया है।

परिषद का स्वरूप जनात्मक था या नहीं था इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। शतपथ ब्राह्मण तथा कुछ अन्य ग्रन्थ पाचालों की परिषद का वर्णन करते हैं। यह परिषद 'जन' की कुल सभा होती थी जिसका अध्यक्ष स्वयं राजा होता था।

परिषद का स्वरूप एवं संगठन समय-समय पर बदलता रहा है। प्राचीन काल में इसका आकार बहुत बड़ा होता था। अर्थ-शास्त्र एवं रामायण में एक हजार सदस्यों वाली परिषद का उल्लेख मिलता है। परिषद का स्वरूप प्रारम्भ में सैनिक था। उसके बाद यह अंशतः विद्वानों की ओर अंशतः राजा की सभा बन गई। परिषद के सदस्यों का राजा पर पर्याप्त प्रभाव रहता था। जॉन स्पैलमेन का कहना है कि "मन्त्री परिषद मन्त्रियों या उच्च शाही अधिकारियों का परामर्शदाता निकाय थी। राजा सरकारी प्रशासन पर इनके साथ विचार विमर्श करता था।" कौटिल्य ने इसके कार्यों पर प्रकाश डालते हुए बताया है कि मन्त्रियों से उन सब पर राय ली जाती थी जिसका सम्बन्ध राजा तथा उसके शत्रुओं से होता था। मन्त्रीगण नये कार्य को प्रारम्भ करते थे, शुरू किये गये कार्य को समाप्त करते थे, पूर्ण किये गये कार्य को सुधारते थे तथा आज्ञाओं का कठोरतापूर्वक पालन कराते थे। संकट काल में राजा अपने मन्त्रियों तथा मन्त्रियों की सभा को बुलाता था और उनके सम्मुख विषय को विचारार्थ प्रस्तुत करता था। मन्त्रिपरिषद के सदस्यों का बहुमत जो कहता था वही राजा करता था। मन्त्री-परिषद की सारी कार्य-वाही

गुप्त होती थी। शत्रुपक्ष का कोई भी उनकी बात को नहीं जान पाता था यद्यपि वे स्वयं शत्रुपक्ष की जानकारी का प्रयास करते थे। यह परिषद राज्य के प्रशासन एवं व्यवस्थापन में पर्याप्त महत्वपूर्ण स्थान रखती थी।

धर्म सूत्रों से ज्ञात होता है कि परिषद के सदस्य पुरोहित होते थे जो कि शिक्षण कार्य एवं बौद्धिक वाद-विवाद में लगे रहते थे। ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित परिषद कानूनी विशेषज्ञों का एक निकाय थी। ब्राह्मण काल एवं धर्म सूत्रों के काल की यह परिषद पर्याप्त सांवैधानिक एवं राजनैतिक महत्व रखती थी।

पौर तथा जानपद
[Paur and Janpada]

पौर तथा जानपद शब्दों का प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में पर्याप्त प्रयोग हुआ है। इन जनपदों की तुलना यूनान के नगर राज्यों से की जाती है। प्राचीन भारत में ऐसे अनेक जनपदों का उल्लेख मिलता है। ये जनपद राजतन्त्रात्मक एवं प्रजातन्त्रात्मक दोनों ही प्रकार की शासन प्रणालियों से प्रशासित हो सकते थे। प्रारम्भिक जनपदों में इस बात पर जोर दिया जाता था कि उनके सभी निवासी एक जाति के हों किन्तु बाद में यह बात विशेष महत्वपूर्ण नहीं रही। डा०के०पी० जायसवाल का मत है कि साधारण रूप से पौर और जनपद का अर्थ किसी राज्य के ग्राम तथा नगर की जनता से है। 'पौर' शब्द का प्रयोग गांव की जनता के लिए और 'जानपद' शब्द का प्रयोग नगर के निवासियों के लिए किया जाता था। तो भी इस शब्द का प्रयोग जब नपुंसक एक वचन में पौर-जानपद के रूप में हो तो इसका अर्थ होता है राजधानी और देश के नागरिकों की प्रतिनिधि संस्था।

पौर-जनपद के अध्ययन को हम दो भागों में विभाजित करें तो उपयुक्त रहेगा। इसके प्रथम भाग में पौर-जनपद का अर्थ एवं प्रकृति आती है, जबकि दूसरे भाग में इसके कर्त्तव्य तथा महत्व को लिया जा सकता है। विषय के दोनों पहलुओं के सम्बन्ध में डा० जायसवाल एवं प्रोफेसर अलतेकर द्वारा विरोधी विचार प्रकट किये गये हैं। इन दोनों विचारों में सत्यता का कुछ अंश अवश्य है। अपने पक्ष के समर्थन में दोनों के द्वारा ठोस तर्क प्रदान किये गये हैं। अतः उपयुक्त रहेगा कि एक सन्तुलित अध्ययन की दृष्टि से दोनों विद्वानों के विचारों की जानकारी प्राप्त कर ली जाय।

पौर-जानपद का अर्थ एवं प्रकृति

डा० जायसवाल का मत—इस शब्द के अर्थ के संबन्ध में डा० जायसवाल का मत है कि "आरंभिक काल में जनपद शब्द का शब्दार्थ और आशय भी जन या जाति का निवास स्थान ही था और आगे चलकर इस शब्द से समस्त जाति का भी बोध होने लगा परन्तु अब इस शब्द का पुराना अर्थ नहीं रह गया था और उसका वही अर्थ हो गया था जिसे आजकल हम लोग देश कहते हैं; और उसके अर्थ में उस देश के बसने वाली जातियों आदि की

ओर कोई संकेत आदि नहीं होता था।" डा० जायसवाल का यह स्पष्ट मत है कि वैदिक काल में जो सभा और समितियाँ सक्रिय थीं वे परवर्ती काल में पूरी रूप से समाप्त नहीं हुई वरन् उनके स्थान पर दूसरी संस्थाओं का जन्म हो गया। यह पौर जानपद सभा थी। ईसा पूर्व सन् ६०० से सन् ६०० ई० तक के काल में राज्य के दो भाग हुआ करते थे—प्रथम राजधानी और दूसरा देश। राजधानी को पुर या नगर कहा जाता था। कभी कभी इसके लिए दुर्ग शब्द भी प्रयुक्त किया जाता था। दूसरी ओर देश को जनपद कहते थे। राजधानी के अतिरिक्त जो भी प्रदेश बचता था वह सब देश था। पुर से पौर और जनपद से जानपद शब्द की व्युत्पत्ति हुई है। डा० जायसवाल के मतानुसार जानपद शब्द का अर्थ 'जनपद के निवासी' अथवा प्रान्त या भू-भाग' के रूप में लेना अनुपयुक्त है। अपने पक्ष के समर्थन में उन्होंने रामायण के अयोध्या काण्ड के चौदहवें अध्याय का ५४ वाँ श्लोक उद्धृत किया है। इसमें महाराज दशरथ के सम्मुख यह निवेदन करने के लिये कहा जाता है कि पौर, जानपद, और नैगम अञ्जलीबद्ध होकर राम को राज्य अभिषेक की प्रतीक्षा कर रहे हैं। इस वाक्य में जानपद शब्द को बहुवचन कर्ता, कारक एवं बहुवचन करण कारक के रूप में रखा गया है। इस प्रयोग से दोनों ही अर्थों की सिद्धि हो सकती है अर्थात् जानपद संस्था के सदस्य और दूसरे जनपद के लोग या निवासी। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि इस प्रकार की कोई संस्था प्राचीन भारत में कोई वर्तमान थी। इस पद का प्रयोग एकवचन में भी इस प्रकार किया गया है कि उसके किसी एक व्यक्ति का भाव सूचित न होकर सामूहिक अर्थ सूचित होता है। अतः यह स्पष्ट है कि जानपद नाम की कोई संस्था अवश्य थी। रामायण में यह कहा गया है कि जानपदों ने पौरों तथा अन्य दूसरे लोगों के साथ मिलकर एवं परामर्श करके युवराज राम के राज्याभिषेक के सम्बन्ध में सर्वसम्मति से निर्णय लिया। प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व में खारवेल के राज्य में ये संस्थाएं कार्य कर रही थीं। महाराज खारवेल ने जानपद के साथ कुछ रियायतें की और कुछ विशेष अधिकार प्रदान किये।

अपने मत का प्रतिपादन करते समय डा० जायसवाल ने भारतीय प्राचीन ग्रन्थों से अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने यह बताने का प्रयास किया है कि यह निश्चय ही एक संस्था थी और इस संस्था का सम्मान इतना अधिक था कि इसके विरुद्ध आचरण करने वाले व्यक्ति को सरकार द्वारा किसी भी प्रकार की सुविधा देने को मना किया गया था। डा० जायसवाल का मत है कि कुछ ग्रन्थों में जानपद नामक संस्था के लिए पर्याय के रूप में राष्ट्र शब्द का भी प्रयोग किया गया है। दश-कुमार चरित के अध्याय तीन में जानपद के सभापति को जानपद महत्तर का नाम दिया गया है और कुछ समय बाद इसी अधिकारी को राष्ट्र मुख्य कहा गया है।

जानपद की भांति पौर शब्द का अर्थ भी एक ओर तो राजधानी प्रदेश में रहने वाले लोगों से लगाया जाता है और दूसरी ओर पौर नाम की संस्था से। पौर नाम की संस्था जानपद संस्था की अग्रज बहन कही गयी है। यह कहीं तो इन दोनों का प्रयोग साथ-साथ किया गया है और कहीं एक

ही शब्द से दोनों का अर्थ लिया है। डा० जायसवाल के मतानुसार भारतीय और योरोपीय दोनों ही लेखकों ने पौर का अनुवाद करते हुए यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि यह संस्था राज्य के समस्त नगरों से सम्बन्ध रखती थी। किन्तु यह मत सही नहीं है। सच तो यह है कि प्राचीन भारतीय लेखकों ने पुर अथवा नगर शब्द का प्रयोग केवल राजधानी या राजनगर के लिए ही किया है। अनेक शिलालेखों में जानपद की तरह 'पौर' शब्द का प्रयोग भी एक संस्था के रूप में किया गया है। शास्त्रकार वृहस्पति भृगु एवं कोषकार अमर तथा कात्य आदि ने पौर का अर्थ इस नाम की एक संस्था से लगाया है। 'पौर' शब्द से केवल नगर के निवासियों का अर्थ निकालना डा० जायसवाल के मतानुसार न केवल गलत है अपितु भ्रमपूर्ण भी है। पौर वास्तव में नगर निवासियों की एक संस्था थी, जिसे राजनगर की आन्तरिक व्यवस्था आदि का उसी प्रकार अधिकार प्राप्त होता था जिस प्रकार आजकल की नगरपालिकाओं को होता है। इस कार्य के अतिरिक्त यह संस्था राष्ट्र के संगठन एव व्यवस्था के सम्बन्ध में भी बड़े बड़े अधिकार रखती थी।

रामायण में इस बात का उल्लेख है कि पौर के दो अंग थे, अन्तरिम तथा वहिरंग। इसके अन्तरंग अंग में नगर के वृद्ध लोग हुआ करते थे। पौर में सभी वर्गों एवं वर्णों का प्रतिनिधित्व था। इसका प्रधान या सभापति किसी प्रमुख नगर निवासी को बनाया जाता था जो कि साधारण रूप से कोई व्यापारी या महाजन हुआ करता था। गुप्त संवत् १६६ का एक ताम्र पत्र प्राप्त हुआ है जिसके अनुसार उस समय की पौर संस्था में जो सदस्य होते थे वे ये है—आयुक्त व नागरिक, नगर श्रेष्ठ, प्रथम कुलिक, प्रथम सार्थवाह, वार-बरदार, प्रथम कायस्थ आदि। रामायण कालीन पौर सभा के अभियान्तर या अन्तरग अंग में वृद्धों की कार्यकारिणी सभा होती थी जिसकी प्रकृति स्थाई थी। ग्रन्थों में हमें पौर वृद्धों एवं नगर वृद्धों का उल्लेख प्राप्त होता है। इस संस्था का इतना सम्मान था कि यदि कोई शूद्र कभी इसका सदस्य रहा हो तो उसका एक ब्राह्मण की भांति आदर करने की बात कही गई है। इससे डा० जायसवाल यह अर्थ निकालते हैं कि पौर वास्तव में एक सार्वजनिक संस्था थी तथा छोटी से छोटी जाति के लोग भी उसमें प्रतिनिधि के रूप में रहते थे। अध्यक्ष या सभापति के अतिरिक्त पौर में एक लेखक या रजिस्ट्रार होता था। इसके लेख को सर्वोच्च प्रमाण माना जाता था। संभवतः यह संस्था राजा द्वारा नियुक्ति नहीं होती थी। इसके लेख राजकीय लेखों से उच्च थे।

पौर संस्था को अनेक अराजनैतिक कार्य करने होते थे जिनका उल्लेख धर्म शास्त्रों एवं स्मृतियों में प्राप्त होता है। डा० जायसवाल ने इसके अराजनैतिक कार्यों को कई भागों में बांटा है। प्रथम; जायदादों की व्यवस्था करना, द्वितीय नागरिकों की आर्थिक उन्नति, तृतीय नगर की शान्ति रक्षा एवं पुलिस की व्यवस्था का कार्य; चौथी क्षेत्र की न्याय व्यवस्था करना; पांचवी धर्म स्थान एवं अन्य सार्वजनिक स्थानों की देख-रेख तथा मरम्मत आदि। डा० जायसवाल कहते हैं कि मैगस्थनीज द्वारा पाटलिपुत्र की जिस

नगरपालिका सरकार का वर्णन किया गया है वह हिन्दू भारत की यही पौर संस्था थी। इनमे कार्य करने वाले अधिकारी राजा द्वारा नियुक्त नहीं होते थे। स्ट्रैबो द्वारा पाटलिपुत्र की शासन व्यवस्था का वर्णन करते हुए नगर मजिस्ट्रेट शब्द का प्रयोग किया गया है। डा० जायसवाल के मतानुसार यह पौर मुख्य अथवा पौर वृद्ध हैं। अर्थशास्त्र का उल्लेख करते हुए डा० जायसवाल ने बताया है कि पौर संस्था अपने सिक्के राजकीय टकसाल में ढलवाया करती थी। उनके द्वारा यह देखा जाता था कि कहीं राज्य के टकसाल में खराब सिक्के न ढल जाय। राजधानी प्रदेशों में रहने वाले व्यापारियों की एक सभा भी हुआ करती थी, जिसे नैगम कहते थे। डा० जायसवाल को ऐसा जान पड़ा कि राज नगर की यह नैगम संस्था ही वास्तव में पौर संस्था की जननी थी। अनेक टीकाकारों ने नैगम तथा पौर को समानार्थक बताया है इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि पौर का व्यापारिक और आर्थिक स्वरूप भी पर्याप्त महत्त्वपूर्ण था।

प्रो० अलतेकर का मत:—पौर जानपद के अर्थ एवं स्वरूप के सम्बन्ध में डा० जायसवाल द्वारा प्रस्तुत मत एवं तर्कों का खण्डन करते हुए प्रोफेसर अलतेकर ने यह मत प्रकट किया है कि पौर जानपद को कोई सभा या संस्था कहना पूर्णतः अनुपयुक्त है। इन शब्दों में केवल राजधानी में रहने वाले और राजधानी के अतिरिक्त प्रदेश में रहने वाले लोगों का ही बोध होता है। प्रो० अलतेकर ने डा० जायसवाल के मत प्रतिपादन को अत्यन्त विद्वतापूर्ण एवं चतुरतापूर्ण माना है। उनके कथनानुसार "डा० जायसवाल ने जो प्रमाण दिये हैं तथा इस विषय में जो अन्य सामग्री उपलब्ध है उन सबकी निष्पक्ष दृष्टि से समीक्षा करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि ६०० ई० पू० से ६०० ई० तक के काल में पौर जानपद नामक कोई लोकसभा प्राचीन भारत में न थी" डा० जायसवाल का हर तर्क प्रो० अलतेकर को कुतर्क दिखाई देता है जिससे कि जबरदस्ती ऐसे निष्कर्ष निकाले गये हैं कि जिन्हें ग्रन्थकार पहले से ही सोच कर चलता है। डा० जायसवाल ने पौर जनपद को नागरिकों की एक संस्था मानने के पक्ष में जो व्याकरण सम्बन्धी प्रमाण प्रस्तुत किये हैं उन्हें प्रो० अलतेकर पुष्ट एवं मान्य नहीं समझते। रामायण में जहां इस शब्द का प्रयोग हुआ है वहां इसका अर्थ किसी लोकसभा से नहीं है वरन् जनसाधारण से है। यह शब्द प्रायः प्रमुख व्यक्तियों की ओर संकेत करता है। अयोध्या काण्ड में भरत ने जिस पौर जनपद को सम्बोधित किया है वह कोई परिषद नहीं थी वरन् वे हजारों लोग थे जो कि राम को लौटाने के लिए भरत के साथ गये थे। प्रोफेसर अलतेकर का तो यहां तक कहना है कि यदि रामायण काल में स्थित पौर जनपद का अर्थ जनता की लोकसभा से लगाया जाय तो भी यह स्पष्ट है कि उसको कुछ विशेष अधिकार प्राप्त नहीं थे। यदि वह उस समय की कोई महत्त्वपूर्ण संस्था रही होती तो रामचन्द्र जी को वन भेजने के दशरथ के आदेश को अस्वीकार कर सकती थी अथवा राम को अयोध्या लौटने के लिए राजी कर सकती थी। भरत ने जब राम को लौटने का आग्रह किया तो बताया कि ऐसी उनकी स्वयं की और व्यापारियों की प्रार्थना है। भरत ने यहां पौर जनपद अथवा लोकसभा का नाम नहीं लिया है। इस

प्रकार कई स्थानों पर पौर जनपद की गंभीर रूप से उपेक्षा की गई है जो न केवल इसके महत्व को ही गिरा देती है वरन् इसके अस्तित्व को भी सन्देह में डाल देती है।

रामायण की भांति खारीवल के राज्य में भी पौर जानपद जैसी किसी केन्द्रीय लोकसभा के अस्तित्व को मानना, प्रमाणों को तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत करना है। खारीवल की हाथी गुफा में इस प्रकार के परिषद के अस्तित्व का कोई उल्लेख नहीं मिलता। उसमे केवल यही कहा गया है कि पौर जानपद पर खारीवल द्वारा लाखों अनुग्रह किये गये। डा० जायसवाल इसका अर्थ यह बताते हैं कि राजा ने पौर जनपद नामक सभा को वैधानिक अधिकार दिये होगे। किन्तु यह एक सामान्य ज्ञान की बात है कि कोई भी शासक किसी संस्था को लाखों की संख्या में वैवानिक अधिकार नहीं दे सकता और कोई भी शिलालेख इतनी अतिशयोक्ति नहीं कर सकता। प्रो० अलतेकर ने बताया कि प्रस्तुत शिलालेख में पौर जनपद का अर्थ राज्य के नागरिकों से है और राजा द्वारा इन पर किये गये लाखों अनुग्रह इनको दी गयी विभिन्न सुविधाएं थी जिनका मूल्य लाखों रुपये तक था। इस गुफा के शिलालेख में कहीं भी इस बात का उल्लेख नही है कि राजा के कार्यों पर पौर जनपद नाम की किसी संस्था का हस्तक्षेप अथवा नियंत्रण रहा हो। महाराज खारवेल ने भारत के विभिन्न भागों पर अभियान किये और विजय प्राप्त की। किन्तु आश्चर्य की बात है कि कभी उन्होंने पौर जनपद से परामर्श अथवा सहमति प्राप्त करने की चेष्टा नहीं की।

स्मृतियों एवं अन्य धर्म शास्त्रों में प्राप्त सामग्री के आधार पर भी यह नहीं माना जा सकता कि प्राचीन भारत में पौर जनपद जैसी कोई महत्वपूर्ण परिषद का अस्तित्व था। मनुस्मृति में जिस जनपद धर्म का उल्लेख किया गया है उसका अर्थ किसी परिषद अथवा लोकसभा बनाये गये कानूनों से नहीं है वरन् देश की प्रथाओं एवं परम्पराओं से है। कात्यायन ने माना है कि "देश धर्म किसी भी देश में प्रचलित वह सार्वलौकिक आचार्य है जो कि श्रुति व स्मृतियों के प्रतिकूल नहीं होता। आचार्य कौटल्य में भी विभिन्न प्रदेशों के आचार्य को देश धर्म माना है। इन भारतीय विद्वानों ने राजा को यह परामर्श दिया है कि वह न्याय देते समय उस देश के जनपद धर्म का ध्यान रखे।

डा० जायसवाल ने अपने मत के समर्थन में मनु के इस कथन को उद्धृत किया है जिसके अनुसार ग्राम और देश के 'समयों' का उल्लंघन करने वाले व्यक्तियों के लिए दंड का निर्देश किया गया है। वे समयों का अर्थ कानूनों से लगाते हैं और उन कानूनों के अस्तित्व से वे केन्द्रीय व्यवस्थापिका का अस्तित्व सिद्ध करना चाहते है। प्रो० अलतेकर के अनुसार मनु द्वारा वर्णित ये समय राज्य के कानून नहीं थे वरन् ग्राम और देश के अधिकारियों से किये गये समझौते थे। यदि कोई लोभवश इनका उल्लंघन करता था तो उस पर जुर्माना किया जाता था। कौटिल्य द्वारा स्पष्ट रूप से समय और इकरार के बीच एकरूपता सिद्ध की गई है। प्रो० अलतेकर को डा० जायसवाल की यह बात भी नहीं जची कि देशाध्यक्ष अथवा देशाधिक देश की

व्यवस्थापिका का अध्यक्ष होता था। उन्होंने विष्णु स्मृति तथा शुक्रनीति के उद्धरणों का उल्लेख करते हुए यह बताया है कि जिले का प्रधानाधिकारी ही देशाध्यक्ष या देशाधिक कहलाता था। प्रो० अलतेकर ने डा० जायसवाल के एक अन्य तर्क को भी आलोचना का विषय बनाया है, उनका कहना है कि पौर सभा के किसी भूतपूर्व सदस्य को ब्राह्मण के समान सम्माननीय मानना किसी भी ग्रन्थ मे सिद्ध नहीं होता। उनके कथनानुसार ऐसा करके अर्थ का अनर्थ करने की चेष्टा की गई है।

पौर जानपद के अधिकार एवं कर्तव्य

डा० जायसवाल का मत—डा० जायसवाल ने पौर जानपद के जिन कुछ अराजनैतिक कार्यों का वर्णन किया है, उनका वर्णन हम पहले भी कर चुके है। इनके अतिरिक्त इस नाम की संस्था यदि यह थी, अन्य महत्वपूर्ण कार्य भी करती थी।

जानपद के द्वारा आर्थिक क्षेत्र में सिक्कों का ढलाई का कार्य किया जाता था और जानपद ही इस बात का निर्णय लेती थी कि देश के अन्तर्गत विनिमय के लिये कितने सिक्कों की आवश्यकता होगी। सम्भव है कि सिक्कों की तौल और शुद्धता के सम्बन्ध में भी देखरेख होती थी ताकि जनता सिक्कों मे मिलावट की शिकायत न कर सके। इस संस्था के द्वारा किये गये अन्य कार्यों का उल्लेख करते समय पौर शब्द का भी उल्लेख किया गया है। इससे यह प्रगट होता है कि जानपद और पौर दोनों संस्थायें अधिकांश कार्य संयुक्त रूप से करती थी। महत्वपूर्ण कार्यों के सम्पादन के लिये इनके संयुक्त अधिवेशनों की भी सम्भावना है। ग्रन्थों मे पौर जानपद शब्द का प्रयोग प्राय एक वचन में किया गया है। डा० जायसवाल के मतानुसार ऐसा इसलिये हुआ है क्योंकि पौर की भांति जानपद के अधिवेशन का स्थान एवं कार्यालय भी राजधानी मे ही होता था और जानपद द्वारा किये जाने वाले कार्यों का वर्णन डा० जायसवाल ने जिस प्रकार किया है उसे निम्न शीर्षकों में वर्णित करके देखा जा सकता है।

१. कुमारों का राज्याभिषेक—डा० जायसवाल के मतानुसार ऐसे अनेक प्रमाण मिलते है जिनसे सिद्ध होता है कि युवराज की नियुक्ति के सम्बन्ध में निर्णय करने के लिये पौर और जानपद दोनों आकर ब्राह्मण और नेताओं के साथ मिलते थे। परस्पर विचार विमर्श करने के पश्चात् वे राजा से इस बात का निवेदन करते थे कि जिन्हें हम चाहते हैं उस राजकुमार का राज्याभिषेक किया जाय। कई बार स्वयं राजा की राय इस प्रार्थना के विपरीत भी हो जाया करती थी, ऐसी स्थिति मे पौर जानपद के सदस्य और राजा दोनो पक्षों के द्वारा स्वयं के समर्थन में तर्क दिये जाते थे। यदि राजा पौर जानपद के तर्कों से सतुष्ट हो जाता था तो उसकी राय को मानने का आश्वासन देते थे। इस प्रकार राज्य पद पर बैठने वाले व्यक्ति के निर्णय मे पौर जानपद का महत्वपूर्ण हाथ रहता था।

राज्याभिषेक के समय पौर जानपद सामूहिक रूप से सम्मिलित होते थे। राज्याभिषेक का संस्कार हो जाने के बाद राजा उठकर श्रेणियों तथा मुख्यों की पत्नियों को अभिवादन करता था। ऐसे कार्यों में पौर के प्रायः प्रतिष्ठित एवं वृद्ध लोग ही सम्मिलित होते थे।

पौर जानपद के द्वारा एक उत्तराधिकारी के मार्ग में बाधा पहुंचाई जा सकती थी। कई बार उत्तराधिकारी कुछ ऐसी प्रकृति का राजकुमार होता था जो कि पौर जानपद को पसन्द नहीं होता था, ऐसी स्थिति मे वे उसके राजा बनने के प्रयास में बाधा बनते थे।

पौर जानपद को न केवल राजा बनाने या राजा बनने से रोकने के क्षेत्र में ही अधिकार थे वरन् स्थित राजा को अपदस्थ करने एवं अपदस्थ राजा को पुनः राज्य सिंहासन पर बैठाने के क्षेत्र में भी अधिकार प्राप्त थे। यदि कोई राजा अत्याचारी बन जाता था और शासन का सचालन ठीक प्रकार से नहीं कर पाता था तो उसे हटाकर पौर जानपद द्वारा राजा के भाई अथवा अन्य किसी सम्बन्धी को उसके स्थान पर बैठा दिया जाता था। धर्म विरुद्ध राजा को राजपद से हटाकर राज्य से बाहर निकालने के भी वृतान्त मिलते हैं। यदि अपदस्थ राजा अपनी गलती मान ले और उसे दुबारा न करने का आश्वासन देकर पौर जानपद का विश्वास प्राप्त कर ले तो उसके पुनः राजा बनने के अवसर बढ़ जाते थे। कुल मिलाकर ग्रन्थों में प्राप्त प्रमाण इस निष्कर्ष की ओर ले जाते हैं कि राजा बनने के लिए और राज्य पद पर रहने के लिये जानपद का विश्वास प्राप्त करना परम आवश्यक था।

२. मन्त्रियों की नियुक्ति—पौर जानपद का एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य उस मन्त्री परिषद के सदस्यों की नियुक्ति के सम्बन्ध में परामर्श देना था जो कि राजा के सलाहकार एवं दाहिना अंग होते थे। महाभारत का शान्ति पर्व राजा को उसी मन्त्री को मन्त्री या राज्य की नीति और शासन या दण्ड का अधिकार देने का परामर्श देता है जिसने धर्म के अनुसार पौर जानपद का विश्वास प्राप्त कर लिया हो। दूसरे शब्दों में पौर जानपद का विश्वास प्राप्त किये बिना किसी व्यक्ति को प्रधानमन्त्री या मन्त्री पद पर नियुक्त नहीं किया जा सकता था। मन्त्री-परिषद के साथ मिलकर राजा द्वारा जो निर्णय लिये जाते थे उनको जानपद के सम्मुख सम्मति के लिये प्रस्तुत किये जाते थे।

एक मन्त्री अपने पद पर उसी समय तक रह सकता था जब तक कि उसे पौर जानपद की कृपा एवं विश्वास प्राप्त है। पौर जानपद को सब प्रकार से प्रसन्न करने वाला मन्त्री सुविधापूर्वक अपने दायित्वों का निर्वाह कर सकता था। मन्त्रियों के दुर्व्यवहार के परिणामस्वरूप समस्त जनता विरुद्ध हो जाया करती थी, ऐसे प्रदेश में उस समय तक शान्ति स्थापित करना असंभव था जबकि वहां के पौर जानपद को सन्तुष्ट करके विश्वास में न लिया जाय।

डा० जायसवाल का मत है कि बड़े-बड़े साम्राज्यों में प्रान्तीय राजधानियां होती थीं और ऐसी प्रत्येक राजधानी में एक स्वतन्त्र पौर संस्था होती

थी। जानपद संस्था केवल प्रधान राजधानियों में ही होती थी और वह सारे देश का प्रतिनिधित्व करती थी। कहा जाता है कि अशोक के शासनकाल में तक्षशिला के पौर शासन का विरोध करने लगे थे। फलत अशोक ने अपने पुत्र कुणाल को वहां शान्ति स्थापनार्थ भेजा। उसके पहुंचने पर पौरों ने उसका स्वागत एवं अभिनन्दन करते हुए बताया कि वे न तो सम्राट के विरुद्ध हैं और न ही सम्राट के प्रतिनिधि के। वरन् उनका विरोध उन मंत्रियों के प्रति है जो पौरों की अवहेलना करते हैं और उनके प्रति अत्याचार करते हैं। पौर संस्था को सन्तुष्ट रखने के लिए और उत्तेजित होने से रोकने के लिए अशोक ने यह नियम बनाया था कि तक्षशिला के मन्त्री प्रति तीसरे वर्ष अपना पद छोड़ दें। अन्य प्रान्तों के मन्त्रियों का कार्यकाल ५ वर्ष होता था।

३ कर सम्बन्धी कार्य—पौर जानपद को कर या राजस्व के सम्बन्ध में पर्याप्त कार्य करने होते थे। साधारण रूप से करों की मात्रा नियम या कानून के अनुसार तय की जाती थी। तो भी कई एक बार ऐसे अवसर आते थे जबकि राजा को प्रजा से विशेष कर देने का आग्रह करना होता था। इन विशेष करों को प्रेमोपहार के रूप में अथवा जबरदस्ती वसूल किया जाता था। अतिरिक्त कर सम्बन्धी प्रस्ताव को सर्वप्रथम पौर जानपद के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता था। इन प्रस्तावों पर विचार करते समय पौर जानपद के सदस्य उन कष्टों का विस्तार के साथ विवेचन करते थे जो कि अतिरिक्त करों के भार से जनता पर पड़ेंगे। ग्रन्थों में कई जगह ऐसे प्रमाण मिलते हैं जहां कि युद्ध के लिए अतिरिक्त कर के उगाहने की धमकी देने वाले शासक के विरुद्ध जनता में असन्तोष फैल जाता था। अर्थशास्त्र में इस बात का उल्लेख है कि जब कोई शत्रु राजा अपनी सेना लेकर अपने युद्ध क्षेत्र में चला जाता था उस समय कौटिल्य के दूत किसी प्रान्तीय मुख्यपाल के नौकर बनकर पौर-जनपदों से गुप्त रूप से मित्रता स्थापित कर लेते थे और उनसे कहते थे कि ज्योंही राजा लौट कर आये त्योंही प्रजा से कर वसूल कर लिए जाएं। कर वसूली से सम्बन्धित विषय पर विचार करने के लिए पौरों की सार्वजनिक सभा बुलाई जाती थी। ऐसे में रात के समय गुप्त रूप से इन नेताओं का काम तमाम किया जाता था और दूतों द्वारा यह खबर फैला दी जाती थी कि ये हत्याएं इसलिए हुईं कि लोग मुख्यपाल के प्रस्ताव का विरोध करते थे। निश्चित है कि इस प्रकार के प्रचार से शत्रु देश में मतभेद उत्पन्न होते थे और वे दुर्बल बन जाते थे।

न केवल युद्ध के लिए वरन् सार्वजनिक हित के अन्य कार्यों के लिए भी अतिरिक्त कर लगाये जा सकते थे, ऐसा करते समय भी पौर जानपद की स्वीकृति प्राप्त करना जरूरी था। जब राजा द्वारा नये करों का प्रस्ताव पौर जानपद के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता था तो वह एक वक्तव्य देता था। इस वक्तव्य में वह उन समस्त कारणों का उल्लेख करता था जिन्होंने मिलकर उसे नये कर उगाहने के लिए प्रेरित किया। साथ ही वह उन लाभों का भी उल्लेख करता था जो करों से प्राप्त धन को व्यय करने पर मिलते थे। किसी प्रस्ताव पर पौर जानपद की स्वीकृति आवश्यक थी। राजा अनेक उपायों से

बहुमत को अपने पक्ष में करने का प्रयत्न करता था। अपने भाषण के द्वारा राजा पौर जानपद को राज्य पर आने वाली आपत्ति से अवगत कराता था। राजा के इस वक्तव्य में मधुर और सद्‌भावपूर्ण बातों से सज्जनता दिखलाते हुए धन की मांग की जाती थी। इस वक्तव्य में ऐसी कोई बात नहीं होती थी जो कि पौर-जानपद के किसी सदस्य को नाराज करे।

४. **रियायतों की मांग**—पौर जानपद का एक अन्य मुख्य कार्य यह था कि वह राजा से समय-समय पर रियायतों की मांग करते थे। अनुग्रह की मांग करते समय पौर जानपद के द्वारा चुनौतीपूर्ण भाषा का प्रयोग किया जा सकता था। राजा को यह धमकी दी जा सकती थी कि यदि प्रस्तावित अनुग्रह प्रदान नहीं किया गया तो वे यह राज्य छोड़कर शत्रु के राज्य में बस जायेंगे। कौटिल्य की कूटनीति में यह कहा गया है कि शत्रु देश के पौर जानपद को ऐसे अत्यधिक अनुग्रह मांगने के लिए प्रेरित किया जाय जिनको राजा प्रदान करने में असमर्थ हो। फलतः जनता असन्तुष्ट होगी, विद्रोह फैलेगा और राज्य की एकता नष्ट हो जायेगी। यह अनुग्रह एक प्रकार से आवश्यकता, संकट और जन उपयोग के लिए राज्य द्वारा की गई सहायता थी। अशोक के शिलालेखों में शासक मन्त्रियों को जानपद संस्था के लिए अनुग्रह प्रदान करने को कहा गया है। इस अनुग्रह द्वारा जनता को अकाल, बीमारी, महामारी से लड़ने में, तथा सिंचाई आदि के साधन उपलब्ध करने में सहयोग प्राप्त होता था।

५. **बड़े यज्ञों के लिए स्वीकृति देना**—जब कभी राजा बहुत बड़ा यज्ञ करने का विचार करता था तो उसे अपना यह विचार स्वीकृति एवं विचार विमर्श के लिए पौर जानपद के सम्मुख प्रस्तुत करना होता था। बड़े यज्ञ में अतिरिक्त धन की आवश्यकता होती है जिसके लिए अतिरिक्त कर लगाना जरूरी था और अतिरिक्त कर की स्वीकृति केवल पौर जानपद दे सकती थी। यज्ञ के प्रस्ताव पर स्वीकृति प्राप्त करते समय राजा द्वारा जो वक्तव्य दिया जाता था वह अत्यन्त नम्रतापूर्ण और सज्जनतापूर्ण होता था। पौर जनपद की स्वीकृति प्राप्त होने पर ही राजा इस यज्ञ को सम्पादित करता था।

६. **राजा से क्षतिपूर्ति की याचना करना**—एक दुष्ट प्रकृति के राजा को हटाने के लिए पौर जानपद कई एक हथकण्डे अपना सकती थी। राजा के शासन से असन्तुष्ट होकर वे समय-समय पर ऐसे प्रस्ताव करते थे कि राजा परेशान हो जाय और उसे शासन संचालन में कठिनता का अनुभव हो। पौर जानपद के सदस्य ऐसे समय राजा से मांग कर सकते थे कि वह चोरियों, डकैतियों तथा अन्य ऐसे ही उपद्रवों से हुई क्षति के लिए मुआवजा दे। इस प्रस्ताव को स्वीकार करने का स्पष्ट परिणाम था राज्य कोष का कम होना, साथ ही राजा की शक्ति का कम होना। प्राचीन हिन्दू ग्रन्थों ने कर को राजा के वेतन या पारिश्रमिक के रूप में माना था और इसे पाने का अधिकारी वह केवल तभी था जबकि प्रजा की रक्षा के अपने दायित्व को वह पूरा करे। याज्ञवल्क्य ने माना है कि राजा को चोरी में गयी सम्पत्ति की ति

चाहिए। क्षतिपूर्ति की याचना का उद्देश्य दुष्ट राजा को हटाना भी हो सकता था और दुष्टों द्वारा एक अच्छे राजा का वध करना भी।

७ कानून बनाना—पौर जानपद का एक अन्य कार्य ऐसे नियम या धर्म निश्चित करना था, जिनको समाज मान्यता दे। ऐसे धर्म या कानून इन संस्थाओं द्वारा स्वीकृत निश्चय हुआ करते थे। डा० जायसवाल के मतानुसार इन नियमों या निश्चयों को भंग करने वालों के विरुद्ध कार्यवाही की जा सकती थी और इनका बलपूर्वक पालन कराया जा सकता था। सामूहिक रूप से निश्चित किये गये इन नियमों को 'समय' "सम् + अय" कहा गया। डा० जायसवाल का कहना है कि मनु और याज्ञवल्क्य ने इन समयों को धर्म या कानून कहा है। वे समय और कानून के बीच सादृश्यता प्रदर्शित करते हैं। इन 'समयों' को एक विशिष्ट पत्र पर लिखा जाता था। पौर जनपद के ये निश्चय उतने ही प्रभावशील होते थे जितना आज का कानून होता है। इनको शासन कार्यों के लिए बनाया जाता था। इनका स्वरूप आर्थिक और राजनैतिक होता था।

८ राजा पर नियन्त्रण—पौर जन पद के द्वारा पग-पग पर प्रतिबन्ध और नियमन के द्वारा राजा की स्वेच्छाचारिता पर नियन्त्रण लगाया जाता था। जब हम यह देखते हैं कि राजा अपनी मर्जी से राज-पद का उत्तराधिकारी नहीं हो सकता उसे पा नहीं सकता और इच्छानुसार समय तक उस पर रह नहीं सकता तो पाते हैं कि वह कितना कमजोर था। वह स्वयं अपनी मर्जी से यज्ञ नहीं कर सकता था, जनता पर कर नहीं लगा सकता था, किसी धर्म का प्रचार नहीं कर सकता था, अपने मन्त्रियों एवं सहयोगियों की नियुक्ति नहीं कर सकता था। इस सब के अतिरिक्त समय-समय अनुग्रहों की मांग करके तथा क्षति पूर्ति के आग्रह करके उसके कार्यों में रोड़े अटकाए जा सकते थे। इन परिस्थितियों मे राजा स्वप्न में भी अपने अधिकारों की सीमा का उल्लंघन नहीं कर सकता था। पौर-जनपद उस पर एक अंकुश का कार्य करती थी। पौर-जनपदों की उपस्थिति राजा को अपने दायित्वों के प्रति सचेत रख कर और यदि वह न भी रहे तो उसे सचेत बना दिया जाता था।

प्रो० अलतेकर का मत—ऊपर हमने पौर-जनपद के जिन विभिन्न कार्यों एवं दायित्वों का अध्ययन किया है उनका समर्थन डा० जायसवाल ने अनेक प्रमाण प्रस्तुत करके किया है। प्रो० अलतेकर का मत ठीक इनका विरोधी है। उनके कथनानुसार "जायसवाल जी ने जितने प्रमाण दिये वे ऐतिहासिक स्वरूप के नहीं हैं। वे सब साहित्यक ग्रन्थों के उल्लेख मात्र ही हैं और उनसे पौर जानपद जैसी किसी भी युक्त संस्था का अस्तित्व नहीं सिद्ध होता, जिसे राजा को गद्दी से उतारने, युवराज नियुक्त करने, नये कर स्वीकार करने या अस्वीकार करने अथवा देश के लिए औद्योगिक, व्यापारिक एवं आर्थिक सुविधायें प्राप्त करने का अधिकार रहा हो।" इस प्रकार प्रो० अलतेकर पौर जानपद के अस्तित्व को ही अस्वीकार करते हैं। उनके मतानुसार यह शब्द राजधानी और राजधानी से भिन्न प्रदेश मे रहने वाले लोगों के लिए ही प्रयुक्त किया गया है न कि किसी संस्था विशेष के लिए। जिस

संस्था का अस्तित्व ही नहीं है उनके कार्यों का तो प्रश्न ही नहीं उठता। डा० जायसवाल द्वारा पौर जनपद के कार्यों का वर्णन करते हुए जो तर्क और प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं उनका इन्होंने एक-एक करके खण्डन किया है। इनका कहना है कि जायसवाल जी का यह मत बिल्कुल निराधार है कि पौर जनपद युवराज चुनती थी। रामायण में स्पष्ट कहा गया है कि राजा दशरथ ने केवल अपने सचिवों की राय से ही श्री राम को युवराज बनाने का निश्चय किया। श्री राम के भविष्य का निर्णय भी किसी पौर-जानपद के निर्णय से नहीं वरन् कैकयी-मंथरा के अन्त:पुर के षडयन्त्र से हुआ। पौर-जनपद के कर लगाने के सम्बन्ध में जो प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं वहां ये शब्द किसी संस्था के लिए नहीं वरन् सम्पूर्ण प्रजा के लिए प्रयुक्त किये गये हैं। जहां तक अनुग्रह प्राप्त करने का प्रश्न है इस सम्बन्ध मे प्रो० अलतेकर को कोई संदेह नहीं है कि याज्ञवल्क्य और मनु आदि ने चोरों द्वारा चुराया गया धन राजा से प्राप्त करने का अधिकार सभी वर्गों एवं वर्णों के लोगों को दिया है। ऐसी स्थिति में यदि मनुस्मृति यह कहती है कि चोरी के धन की क्षति-पूर्ति 'जानपद' को की जाय तो यहां जानपद का अर्थ कोई संस्था विशेष नहीं; वरन् राज्य के समस्त नागरिक हैं।

प्रो० अलतेकर का यह निष्कर्ष है कि डा० जायसवाल के तर्क और प्रमाण एकांगी है, पक्षपातपूर्ण हैं और सत्यता से दूर हैं। ऐसी किसी संस्था का अस्तित्व व किसी ठोस प्रमाण के आधार पर सिद्ध नहीं किया गया है। प्रो० अलतेकर के शब्दों में "यदि इस प्रकार की संस्था ६०० ई० पू० से ६०० ई० तक काम कर रही होती तो तत्कालीन किसी भी उत्कीर्ण लेख में इसका उल्लेख क्यों नहीं मिलता। मेगास्थनीज के विवरणों और अशोक के लेखों में मौर्य शासन का सविस्तार वर्णन है पर यह दोनों ही पौर जनपद सभा का कोई उल्लेख नहीं करते। न कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में ऐसी किसी सभा का जिक्र है। गुप्तों के उत्कीर्ण लेखों में अनेक शासन अधिकारियों का उल्लेख है पर पौर जनपद सभा का नाम भी नहीं लिया गया है।"[1]

निष्कर्ष

प्राचीन भारत के राजनैतिक जीवन में सभा, समिति, विदथ, परिषद,पौर एवं जानपद जैसी अनेक संस्थायें थी जो कि राजा की विभिन्न प्रकार से सहायता करती थी। सभा एवं समितियों का जन्म उस समय हुआ जब कि जन जीवन पर्याप्त विकसित हो चुका था। लोगो की संस्कृति का स्तर काफी ऊंचा हो चला था। इन संस्थाओं के सदस्य पर्याप्त वाद-विवाद करते थे। प्रत्येक सदस्य यह चाहता था कि वह प्रभाव पूर्ण रूप से अपने तर्क प्रस्तुत करे ताकि उसका सम्मान बढ़ सके। सभा के अनेक रूप थे। वैदिक काल की इन संस्थाओं के सदस्य प्रायः विद्वान लोग हुआ करते थे। राज्य के नागरिकों के जीवन से प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से इन संस्थाओं का गहरा सम्बन्ध था। यद्यपि इन संस्थाओं के अस्तित्व के प्रमाण भारतीय ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं किन्तु इनके

---

१. प्रो० अलतेकर, वही पुस्तक, पृष्ठ—१११-११२

संगठन तथा प्रकृति से सम्बन्धित सामग्री पर्याप्त एवं संतोषजनक मात्रा में प्राप्त नहीं होती। इन संस्थाओं का प्रभाव क्षेत्र क्या था, इनके सदस्यों की योग्यतायें क्या होती थी, इनको किसके द्वारा एवं किस प्रकार नियुक्त किया जाता था, ये कितने समय तक कार्य करती थी, इनकी कार्य प्रणाली क्या होती थी आदि विभिन्न प्रश्नों का कोई संतोषजनक जवाब ग्रन्थ नहीं दे पाते। फिर भी जो प्राप्त है उसी के आधार पर अनुमान लगा कर काफी कुछ अनुसंधान किया जा सकता है।

८

प्राचीन भारत में न्यायपालिका और कानून

[JUDICIARY AND LAW IN ANCIENT INDIA]

प्राचीन भारत की राज्य व्यवस्था अपने न्यायपूर्ण प्रशासन के लिए बहुत प्रसिद्ध है। उस समय का न्याय अन्य प्रारम्भिक समाजों की भांति सुव्यवस्थित क्रम एवं सदाचारों के पालन से युक्त नहीं था। यह एक प्रकार से व्यक्तिगत विषय था जिसमें समुदाय सहायता देता था। यदि कोई व्यक्ति समूह के सदाचार का उल्लघन करता था तो उसे अपराधी समझा जाता था। यह एक प्रकार से कानून का उल्लंघन था। सामाजिक परम्पराओं का उल्लंघन करने वालों से पर्याप्त कठोरता बरती जाती थी। सारा समुदाय मिलकर ऐसे व्यक्ति को निष्कासन या मृत्यु दण्ड देता था। सामाजिक न्याय, प्रधानों के द्वारा प्रदान किया जाता था। कहीं कहीं इस कार्य का सम्पादन वृद्ध लोग किया करते थे। इन वृद्धों की सभा द्वारा पीड़ित व्यक्ति को प्रतिशोध दिलाने की पूरी व्यवस्था कर दी गई थी। अनेक प्रारम्भिक समाजों की न्याय प्रणालियां अलग-अलग प्रकार से थी। किन्तु सामान्य रूप से गम्भीर अपराधों पर पीड़ित व्यक्ति स्वयं ही प्रतिशोध लेता था। इस तरह से प्रारम्भिक काल में प्रधान और वृद्ध सब न्यायिक प्रशासन को चलाती रही। साथ-साथ व्यक्तिगत प्रतिशोध की परम्परायें भी चली। धीरे-धीरे इन प्रधानों की शक्ति का विकास हुआ। प्रारंभिक प्रधानों को हम न्यायाधीशों की अपेक्षा मध्यस्थ कहें तो अधिक उपयुक्त रहेगा। कोई निर्णय देते समय प्रधान अपने समाज की परम्पराओं को ध्यान में रखता था। प्रधान के द्वारा दोनों पक्षों की बात सुनने के बाद निर्णय दिया जाता था। प्रमाणस्वरूप शपथ दिलाने की परम्परायें थीं। प्रारम्भिक न्याय की यह व्यवस्था आगे चलकर राज्य शक्ति के रूप में बदल गई। वृद्ध सभा को राज्य सभा बना दिया गया और उसके प्रधान को राज्य शक्तियां सब दी गयी। इस प्रकार राजा न्यायिक प्रशासन का प्रधान बन गया।

'प्रधान' ने राजा का रूप किस प्रकार धारण किया यह स्पष्ट नहीं है। प्राचीन ग्रन्थों से यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में पीड़ित व्यक्ति को बल प्रयोग द्वारा या अन्य किसी साधन से क्षतिपूर्ति करने का अधिकार था। धर्म शास्त्रों में किसी व्यक्ति का खून कर देने पर मृत व्यक्ति की जाति के अनुसार दण्ड देने की व्यवस्था की गई है। वैदिक साहित्य में न्यायालय और न्यायाधीश आदि का विवरण प्राप्त नहीं होता है। उसमें खून, चोरी, व्यभिचार आदि अनेक अपराधों का विवरण प्राप्त होता है किन्तु इन अपराधों के लिए दण्ड देने वाले न्यायालय का वर्णन नहीं मिलता है। उत्तर वैदिक काल के साहित्य में मध्यम सो शब्द आता है, जिससे किसी मध्यस्थता अथवा समझौता कराने वाले व्यक्ति के अस्तित्व की प्रतीति होती है। धर्म सूत्र एवं अर्थशास्त्र के कार्य में एक विकसित न्याय प्रणाली का आभास मिलता है।

न्यायिक प्रशासन का लक्ष्य

[The Object of Judicial Administration]

प्राचीन भारत में न्याय प्रशासन का उद्देश्य केवल जनता की सदिच्छा प्राप्त करना नहीं था वरन् कानून की क्रियान्विति पर अधिक जोर दिया जाता था। यह मान्यता थी कि सामाजिक जीवन को कानून के अनुसार चलाना चाहिए। कानून का उल्लंघन करने पर सामाजिक जीवन में अव्यवस्था बढ़ने का अंदेशा रहता है। समाज में स्थित पारस्परिक संघर्षों को दूर करना राज्य का एक मुख्य कर्त्तव्य था। इसी कर्त्तव्य के निर्वाह के लिए राज्य की उत्पत्ति हुई ताकि समाज में से मत्स्य न्याय की व्यवस्था को समाप्त किया जा सके। जो व्यक्ति अव्यवस्था के कारण हुआ करते थे उनको दण्ड देकर राज्य अपने अस्तित्व को सार्थक बनाता था। प्राय: सभी प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में इस बात पर जोर दिया गया है कि राजा दुर्बलों की रक्षा करे, प्रजापालन एवं धर्म की स्थापना करे। ऐसा करने पर ही राजा के पाप नष्ट होते हैं। उस समय दण्ड का उद्देश्य अपराधों की निवृति माना जाता था ताकि सामाजिक जीवन स्वस्थ एवं धर्मपूर्ण बन सके। मनु तथा नारद आदि ने राजा की तुलना एक शल्य चिकित्सक से की है जो कि आवश्यकता पड़ने पर अंग भंग भी करता था। राजा को यह निर्देश दिया गया था कि वह दण्ड का प्रयोग धर्मपूर्वक करे। महाभारत में राजा को सत्य से न हटने के लिए आग्रह किया गया है। न्याय का कार्य राजा के लिए इतना महत्त्वपूर्ण माना जाता था कि उसका फल राजा को एक यज्ञ के बराबर प्राप्त होता था। यह मान्यता थी कि यदि राजा अपने व्यक्तिगत सुख के पीछे जनता के न्याय की अवहेलना करता है तो वह नष्ट हो जायेगा।[1] महाभारत के अनुशासन पर्व में राजा नृग का वृतान्त आता है। दो ब्राह्मण अपने विवाद को तय कराने के लिए और न्याय मांगने के लिए राजा नृग के पास गये किन्तु उनसे भेंट न कर पाये फलत: राजा को ब्राह्मणों के शाप से गिरगिट बनना पड़ा। कौटिल्य ने इसका एक व्यावहारिक औचित्य प्रदान किया है। उनके मतानुसार राजा

1. शुक्र नीति, ४—५११-१२

अपने स्थान पर विवाद के लिए उपस्थित व्यक्तियों को अधिक समय तक न रोके क्योंकि ऐसा करने से राजा के निकटवर्ती लोग अन्याय के मार्ग ढूंढ लेंगे और जनता नाराज होकर शत्रु के पक्ष में चली जायेगी।

न्यायालय की निष्पक्षता पर पर्याप्त जोर दिया गया था। न्यायाधीशों को नियुक्त करते समय उनके बौद्धिक सामर्थ्य के अतिरिक्त नैतिक योग्यता को भी आवश्यक माना जाता। था मान्यता थी कि एक व्यक्ति चाहे वह कितना भी विद्वान क्यों न हो, न्याय सम्बन्धी निर्णय लेने में असमर्थ होता है। गौतम द्वारा एकाकी निर्णय का विरोध किया गया है। कोई भी न्यायिक निर्णय एक उपयुक्त न्यायिक प्रक्रिया के बाद ही लिया जाना चाहिये। प्राचीन भारत में न्याय का एक प्रमुख उद्देश्य सत्य की खोज करना था। इस उद्देश्य की प्राप्ति करने के लिए ही कई व्यक्तियों के विचार-विमर्श के बाद निर्णय देने को कहा गया। इसके अतिरिक्त नैतिकता, निष्पक्षता उच्च बौद्धिक स्तर एवं प्रमाणों की पर्याप्तता आदि को इसलिए महत्वपूर्ण माना गया।

राजा और न्यायिक प्रशासन
[The King and Judical Administration]

राजा की शक्ति का विकास एव उसका महत्व धीरे-धीरे बढ़ा। अनार्य जातियों से सैनिक संघर्ष होने के कारण उसकी शक्तियां और बढ़ गयी। वह समाज का संरक्षक बन गया। इस पर भी सामाजिक कानून प्रभुत्व पूर्ण रहा। उसकी अवहेलना करने पर किसी भी राजा को तुरन्त हटाया जा सकता था। राजा का सम्बन्ध दण्ड विधि से अधिक था। इसकी रचना एव परिवर्तन वह स्वयं ही कर सकता था। ब्राह्मण काल में आकर राजा अदण्डनीय बन गया। इस काल में भी न्याय का सम्बन्ध राजा की अपेक्षा जनता से अधिक था। ऐसा प्रतीत होता है कि अपराध करने वाला दण्ड की व्यवस्था स्वयं कर लेता था। इस काल तक राजा एक मध्यस्थ बन चुका था। किन्तु अभी तक न्यायिक प्रशासन का प्रधान नहीं हुआ था।

स्मृति काल में आकर न्याय के क्षेत्र में राजा का प्रभाव बढ़ा। नारद और बृहस्पति ने इसका पर्याप्त उल्लेख किया है राजा की सभा को सर्वोच्च न्यायालय का रूप दे दिया गया। राजा न्याय सभा में उपस्थित होता था; इसके साथ ब्राह्मण और मन्त्री भी होते थे। राजा होने के नाते उसे न्याय की व्यवस्था भी करनी होती थी। सभी को न्याय प्रदान करने के बाद ही वह जनता की रक्षा के अपने कर्त्तव्य को पूरा करते थे। भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के कष्टों के निवारण के लिए धर्म की स्थापना राजा का प्रमुख धर्म था। अपने इस धर्म के संचालन के लिए वह उचित न्याय व्यवस्था करने के लिए बाध्य था। वह कानून बनाता नहीं था केवल न्यायिक प्रशासन का नेतृत्व करता था। कानून बनाने और उनकी व्याख्या करने का काम सामाजिक प्रतिनिधियों के नियन्त्रण में रहता था। उनकी नियुक्ति राजा द्वारा स्वेच्छा से नहीं वरन् कानून के आधार पर की जाती थी। न्याय प्रदान करने वालों पर केवल कानून का नियंत्रण था।

प्राचीन भारत मे कार्यपालिका और न्यायपालिका का अधिकार क्षेत्र अलग होते हुए भी उनका प्रधान एक ही था। कार्यपालिका न्यायिक प्रशासन मे न तो हस्तक्षेप करती थी और न ही किसी विवाद को स्वयं ही प्रारम्भ कर सकती थी। सामाजिक परम्पराओ तथा आचारो द्वारा न्याय का स्वरूप निर्धारित किया जाता था। प्रशासन इसे ज्यो का त्यों स्वीकार कर लेता था, यदि समाज मे दासों और शूद्रों को समान अधिकार नहीं दिया गया है तो प्रशासन भी उसे ऐसा ही मान लेगा। स्मृति काल का न्यायिक प्रशासन कोई व्यक्तिगत विषय न रह कर विधि द्वारा नियन्त्रित बन गया। समाज और विधि की सीमाओं में रहकर वह सामाजिक कल्याण का प्रयास करता है।

न्यायिक प्रशासन में इस बात का पूरा ध्यान रखा जाता था कि जिनको दण्ड मिलना चाहिए वे बिना दण्ड के न रह जाए और जिन्हें दण्ड नहीं मिलना चाहिए वे दण्ड के भागी न हो जाए। न्यायिक प्रशासन मे अव्यवस्था का दायित्व राजा का होता था। इसके अतिरिक्त जो अधिकारी उसके लिए उत्तरदायी होते थे उनको भी दण्ड स्वरूप प्रायश्चित करना होता था। यदि न्यायालय में राजा स्वयं उपस्थित न हो अथवा कार्यवाही के सचालन में किसी प्रकार की असावधानी बरती तो वह अपराधी माना जाता था। राजा की असावधानी अन्य कर्मचारियों मे प्रमाद का कारण बन जाती थी अतः उसका दायित्व भी राजा पर डाला जाता था। मनु याज्ञवल्क्य आदि ने निरपराध व्यक्तियों को दण्ड देने पर राजा के नरक जाने की बात कही है। इसके अतिरिक्त कौटिल्य और शुक्र जनता को भी राजा के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार देते हैं। अनेक जातक कथाओ मे निरपराधी को दण्ड देने के परिणामो का वर्णन किया गया है। न्यायिक प्रशासन को इतना निष्पक्ष स्वरूप दिया गया है कि राजा को अपने पारिवारिक जनो का भी ध्यान रखने की मनाही की गयी। एक अपराध के लिए सामान्य नागरिक को जो दण्ड दिया जाता था उसी अपराध के लिए राजा को कई गुना अधिक दण्ड भोगना होता था। न्यायिक नियमो का पालन न होने पर यदि राज्य मे क्रान्ति हो गई तो इसका दायित्व राजा पर होगा।

राजा को यद्यपि उन कानूनों एवं परम्पराओं को बनाने का अधिकार प्राप्त नहीं था जिनके आधार पर न्याय प्रदान किया जाता था किन्तु तो भी एक सीमा मे रहकर निर्णय लेने और उस निर्णय को क्रियान्वित करने की शक्ति उसके हाथ मे थी। राजा की शक्तियों का दुरुपयोग न होने पाये इसके लिए अनेक व्यवस्थायें की गयी थी। राजा अथवा उसके कर्मचारी स्वयं किसी विवाद को नहीं उठा सकते थे। वे प्रस्तुत विवाद की उपेक्षा नहीं कर सकते थे। राजा न्यायाधीशो पर आर्थिक एवं अन्य प्रकार का प्रभाव नहीं डाल सकता था।

स्मृति में यद्यपि राजा न्यायिक शक्ति का अन्तिम अधिकारी था किन्तु फिर भी न्यायपालिका का सचालन वह अपनी अपनी इच्छा से नहीं कर सकता था। मनु तथा याज्ञवल्क्य ने निष्पक्ष ब्राह्मण, मन्त्री और पुरोहित का न्याय . . . ा में होना आवश्यक माना है। कहीं भी सन्देह होने पर राजा इनसे विचार

विमर्श करता था। कानून के व्याख्याकार साथ रखने का अर्थ यह नहीं था कि राजा को कानून का ज्ञान नहीं होता था। इसका अर्थ केवल यही था कि वह कोई निर्णय एकान्त में अथवा गुप्त रूप से न करे क्योंकि ऐसा करने से मानवीय दुर्बलतायें, न्यायिक निर्णयों में दोष उत्पन्न कर सकती थी। किसी अधिकारी, कर्मचारी या राजा को विवेक से काम लेने की बात नहीं कही गयी है। उन्हें धर्म शास्त्रों के आधार पर काम करने को कहा गया है। कई बार एक विषय का विवाद धर्म शास्त्रों की सीमा से बाहर निकल जाता था और ऐसी स्थिति में देशकुल जाति तथा कुटुम्ब की परम्पराओं, रीति-रिवाजों एव मान्यताओं से मार्ग दर्शन प्राप्त किया जाता था।

जब कभी एक विवाद धर्म शास्त्रों की सीमा से बाहर हो जाता था उस पर राजा को स्वविवेक की कुछ सीमित शक्तियां प्रदान की गयी थी। स्वविवेक को काम में लाते समय राजा धर्म शास्त्र के मूल उद्देश्य से, व्याख्याकारों की राय, दिशा एव समय आदि का ध्यान रखता था। इस प्रकार उसकी निजी मन की शक्तियों को इतना प्रतिबन्धित कर दिया कि वह न्याय को अपने स्वार्थ का साधन न बना सके। यदि किसी विवाद में कहीं की परम्पराओं एवं आचारों से मार्ग दर्शन नहीं मिलता तो वहां राजा को ही अन्तिम प्रमाण माना गया। स्वविवेक का प्रयोग करते हुए राजा कभी भी ऐसे निर्णय नहीं ले सकता था जो कि शास्त्रों के विपरीत हों।

अन्य न्यायिक अधिकारी
[Other Judicial Officers]

प्राचीन भारतीय न्याय व्यवस्थाओं में राजा का केन्द्रीकृत स्थान था किन्तु फिर भी उसकी सहायता के लिए अनेक अधिकारी होते थे। इनमें प्रथम उल्लेखनीय अधिकारी प्रधान न्यायाधीश है जिसे प्राड्विवाक अथवा धर्माध्यक्ष कहा गया है। मनु स्मृति ने इस अधिकारी के लिए धर्मवक्ता और मानासोल्लास पदों का प्रयोग किया है किन्तु प्राड्विवाक शब्द अधिक प्राचीन है। इस अधिकारी को प्राड्विवाक इसलिए कहा गया क्योंकि वह वादी और प्रतिवादी से प्रश्न पूछता है और सभ्यों के साथ विभिन्न विषयों पर विचार करता है। प्राड्विवाक की नियुक्ति राजा द्वारा इसलिए की जाती थी क्योंकि वह कार्य अधिक होने से न्यायिक प्रशासन पर अधिक ध्यान नहीं दे पाता था। बृहस्पति ने प्रधान न्यायाधीश को वक्ता कहा है।

प्राड्विवाक की नियुक्ति के अतिरिक्त राजा एक विद्वान ब्राह्मण और तीन सभ्य नियुक्त करता था। न्यायाधीश की सामान्य योग्यताओं में उदारता, कुलीनता, स्थिर प्रकृति क्रोध रहित, धर्मवान आदि गुणों को सम्मिलित किया गया। प्रायः सभी शास्त्रकार इस बात पर जोर देते हैं कि न्यायाधीश को कुलीन, वृद्ध, विद्वान एवं धर्म के प्रति जागरूक होना चाहिए। कात्यायन के अनुसार उसे एक कुलीन, निष्पक्ष, मधुरभाषी, परम धार्मिक और मानवीय विकारों से दूर व्यक्ति होना चाहिए। प्रधान न्यायाधीश के पद पर विद्वान ब्राह्मण को प्राथमिकता दी जाती थी। यदि ब्राह्मण न मिले तो योग्य क्षत्री

अथवा वैश्य भी न्यायाधीश हो सकता था। किन्तु शूद्र को कभी इस पद के योग्य नहीं माना गया। मनु के मतानुसार चाहे मूर्ख ब्राह्मण को न्यायाधीश पद पर नियुक्त करना पड़े तो भी विद्वान शूद्र को न्यायाधीश नहीं बनाया जायेगा। जहां ऐसा किया जाता है वहां निश्चय ही धर्म का लोप हो जाता है। ब्राह्मणों को न्यायाधीश पद सौंपने के पीछे एक व्यावहारिक औचित्य यह था कि उनमें कानून के गूढ़तम ज्ञान की सम्भावना थी अधिक थी। न्यायाधीश की नियुक्ति तो राजा द्वारा की जाती थी किन्तु उसे हटाया कैसे जाता था यह स्पष्ट नहीं किया गया है। न्यायाधीश राजा के प्रति उत्तरदायी नहीं होता था वरन् वह शास्त्र के प्रति उत्तरदायी था। राजा अपनी इच्छानुसार हटा नहीं सकता था। प्रधान न्यायाधीश तथा अन्य न्यायाधीशों का सामाजिक स्तर राजा से भी ऊंचा था। सामाजिक जीवन में अत्यधिक हस्तक्षेप रखने के कारण न्यायाधीश कानून के क्षेत्र में अधिक प्रभावशील होते थे। वैदोत्तर काल में राजा के दैवी स्वरूप होने पर न्यायाधीशों की शक्ति और भी विकसित हो गयी। न्यायाधीश कानून के आधार पर निर्णय देने के अतिरिक्त उसकी व्याख्या भी करते थे। व्याख्याकार के रूप में न्यायाधीश के पद के दायित्व का एक ब्राह्मण ही अच्छी तरह से निर्वाह कर सकता था। ब्राह्मणों को न्यायाधीश बनाने के पीछे एक औचित्य यह भी था कि विधि के साथ साथ समय सदाचार और विभिन्न जातियों के आचार भी न्यायशालिका के आधार थे। न्यायाधीश को इन सबका परम्परागत एवं संहिताबद्ध विधि के साथ समन्वय करना होता था। उस समय का न्यायाधीश समाज राज्य और कानून के बीच एक अनिवार्य कड़ी का कार्य करता था और इस रूप में उसका महत्व तथा गौरव पर्याप्त बढ़ गया। प्राचीन भारत में न्यायाधीशों ने अपनी व्याख्याओं के द्वारा सामाजिक परिवर्तनों की शक्तियों एवं संहिताबद्ध विधि के बीच जो समन्वय स्थापित किया उससे कानून की सम्प्रभुता स्थिर रह सकी। न्यायाधीश न केवल न्याय सम्बन्धी निर्णय लेते थे वरन् वे समाज का कानूनी नेतृत्व भी करते थे। सन्यास ग्रहण करने से पूर्व गृहस्थ को उनकी स्वीकृति प्राप्त करनी होती थी।

न्यायाधीश के अतिरिक्त अन्य न्यायिक अधिकारियों के रूप में सभ्यों का नामोल्लेख किया जा सकता है। प्रधान न्यायाधीश के साथ सहायक के रूप में तीन सभ्य नियुक्त किये जाते थे। सभ्य की नियुक्ति करते समय भी ब्राह्मण को प्राथमिकता दी जाती थी। यह पद भी शूद्र के लिए निषेध था। मनु के अनुसार नास्तिक शूद्र एवं द्विजों से अतिरिक्त व्यक्ति को सभ्य न बनाया जाय। कौटिल्य ने सभ्यों की संख्या तीन मानी है। बृहस्पति के अनुसार उनकी संख्या सात, पांच या तीन होनी चाहिए। जिस सभा में राज्य द्वारा अधिकृत ब्राह्मण इस संख्या में व्यवहार का निर्णय करे वह यज्ञ के समान मानी गयी। सभ्यों की योग्यता पर पर्याप्त ध्यान दिया गया। याज्ञवल्क्य के अनुसार ये धर्मज्ञ सत्यवादी, शत्रु और मित्र में समान भाव रखने वाले तथा वेदों के अध्ययन से सम्पन्न होने चाहिए। धर्म शास्त्र एवं अर्थशास्त्र में इनके कुशल ज्ञानवान तथा स्थिर होने पर जोर दिया गया है। वे लोभी न हो साथ ही निर्धन भी न हों ऐसी स्थिति में सभ्य बनने के लिए

केवल ब्राह्मण होना ही पर्याप्त नहीं था बल्कि धनवान होना भी जरूरी था। इस पद के लिए शास्त्रकारों ने वंशानुगत गुणों पर अधिक जोर दिया है। देश की परम्परा, आचार, धर्म शास्त्र आदि के अज्ञान, नास्तिकता, लोभ, क्रोध आदि विकारों को सभ्य वर्ग के लिए अयोग्यता माना गया। सभ्यों की नियुक्ति राजा के द्वारा की जाती थी।

राजा सभा भवन में प्रविष्ठ होते समय प्राड्विवाक, आमात्य, ब्राह्मण, पुरोहित और सभ्यों के साथ होता था। सभा के सदस्य राजा द्वारा नियुक्त किये जाते थे किन्तु ब्राह्मण अनियुक्त होते थे। निर्णय लेते समय न्यायाधीशों को ब्राह्मणों की राय लेनी होती थी। अनियुक्त होने के कारण सभा में ब्राह्मणों का स्थान जनता के प्रतिनिधियों के रूप में होता था। सभ्यों को सभा में जा कर सत्य बोलने पर पर्याप्त जोर दिया गया। मनु ने सत्य बोलने में असमर्थ व्यक्ति को सभा में न जाने का अनुरोध किया है। इस प्रकार सभा के नियुक्त और अनियुक्त दो प्रकार के सदस्य होते थे। अनुचित न्याय का दायित्व केवल नियुक्त सदस्यों पर पड़ता था। नियुक्त सदस्य राजा को अनुचित कार्य करने से रोक सकते थे। अन्यायपूर्ण निर्णय का समर्थन करने वाले सभ्यो के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था की गयी। 'अनियुक्त' केवल शास्त्रों के प्रति उत्तरदायी है जबकि 'नियुक्त' शास्त्र एवं राज्य सभा दोनों के प्रति उत्तरदायी थे। सभ्य यद्यपि राजा द्वारा नियुक्त होते थे फिर भी उनका उत्तरदायित्व धर्म-शास्त्रों के प्रति था। राजा के अन्याय का समर्थन करने पर वे भी राजा के समान दोषी माने जाते थे। राजा को न्याय के मार्ग पर लाना उनका कर्त्तव्य था। अन्याय का विरोध न करने वाला प्रत्येक सदस्य दण्ड का भागी था चाहे वह नियुक्त हो या अनियुक्त। दोनों प्रकार के सदस्यों के अधिकारों के बीच असमानता थी इसलिए राजा को उचित मार्ग पर लाने के साधन भी अलग-अलग थे।

न्याय के प्रशासन में अन्य महत्वपूर्ण अधिकारी, पुरोहित ग्रामणी थे,. पुरोहित को राज्य का आधा अंश एवं राष्ट्र का रक्षक माना गया है। पुरोहित की योग्यताओं में उसके ब्राह्मणत्व, विधि की जानकारी और सदाचार के पालन को महत्वपूर्ण माना गया है। न्यायिक दृष्टि से उसका सम्बन्ध विशेषतः प्रायश्चित से था। जब कभी राजा कोई अनुचित निर्णय लेता था या गलत कार्य करता था तो उसके लिए दण्ड स्वरूप प्रायश्चित का विधान पुरोहित द्वारा किया जाता था। न्याय सम्बन्धी विषयों पर सभी से परामर्श करने के बाद राजा पुरोहित से भी परामर्श लेता था। सभा की व्यवस्था के अतिरिक्त पुरोहित राजा के गृह-प्रबन्ध में भी महत्वपूर्ण स्थान रखता था। वह राजा के न्याय सम्बन्धी व्यवहार एवं न्यायिक निर्णयों का निरीक्षण करता था। कौटिल्य ने न्यायिक प्रशासन में पुरोहित के सीधे हस्तक्षेप पर बल नहीं दिया है। उनके अनुसार पुरोहित को न्यायाधीशों एवं अन्य कर्मचारियों के कार्यों का निरीक्षण मात्र करना चाहिए। ज्यों-ज्यों राजा की शक्तियां बढ़ती गईं त्यों-त्यों पुरोहित की शक्तियां कम होती चली गईं। ग्रामणी न्यायिक प्रशासन की स्थानीय इकाई का प्रधान होता था। यह एक चुना हुआ पदाधिकारी

होता था। बाद में इसे राजा के द्वारा नियुक्त किया जाने लगा। प्रशासन व्यवस्था के केन्द्रीकरण होने पर वह एक राज्य कर्मचारी बन गया। ग्रामणी का ब्राह्मण होना जरूरी नहीं था। बाद के कौटिल्य ने इस बात का समर्थन किया कि गांव के वृद्धों को न्याय सम्बन्धी अधिकार सौंप दिये जायें। जब गांव के प्रधान की नियुक्ति होने लगी तो ग्रामणी का महत्व घट गया। सभा के सदस्यों, सभ्यों पुरोहितों तथा ग्रामणी आदि के द्वारा जो कार्य सम्पन्न किये जाते थे उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय की न्याय व्यवस्था का लक्ष्य मानव लोक कल्याण एवं जनता के अधिकारों की रक्षा करना था। अनियुक्त अधिकारियों के द्वारा न्याय प्रशासन में जो सहायता प्रदान की जाती थी वह महत्व इसलिए होती थी कि न्याय व्यवस्था को सुविधाजनक बनाया जा सके। सभ्यों के रूप में समाज के विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व किया जाता था। न्यायालय द्वारा अपनी कार्यवाही के लिए केवल संहिताबद्ध कानून को ही आधार नहीं बनाया जा सकता था वरन् इसके अतिरिक्त रीति रिवाजों एवं परम्पराओं को भी पर्याप्त महत्व प्राप्त था

हिन्दू न्याय व्यवस्था की विशेषताएं
[The characteristics of Hindu Judicial System]

प्राचीन भारत में जिस न्याय प्रणाली को अपनाया गया उसमें यद्यपि समय समय पर परिस्थिति की आवश्यकतानुसार परिवर्तन होते रहे किन्तु इतने पर भी इसकी कुछ सामान्य विशेषताएं थीं, जिनका उस सम्पूर्ण व्यवस्था से आभास प्राप्त किया जा सकता है। इन सामान्य विशेषताओं को क्रमश: निम्न प्रकार से देखा जा सकता है—

१. राजा के नाम पर न्याय

राजा न्याय व्यवस्था का सर्वोच्च अधिकारी था। वह न्यायालय के संगठन एवं कार्य प्रणाली में एक केन्द्र धुरी का कार्य करता था। यद्यपि ग्रन्थों में बार बार इस बात पर जोर दिया गया है, कि राजा न्याय देते समय स्वेच्छाचारी न बने और अकेला अपनी मर्जी से ही निर्णय न दे। अग्निपुराण के अनुसार राजा को मुकदमा तय करते समय ज्ञानी ब्राह्मणों की आंखों से देखना चाहिए। इतने पर भी वैधानिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से न्याय व्यवस्था की बागडोर राजा के हाथ में थी। वह चाहे उपस्थित रहे अथवा न रहे परन्तु सिद्धान्त रूप से यही माना जाता था कि राजा हमेशा न्यायालय में उपस्थित रहता है। न्यायालय की मुद्रा लगा हुआ कोई भी निर्णय-पत्र राजा द्वारा ही दिया हुआ माना जाता था। यदि न्यायालय किसी व्यक्ति को बुलाता है तो इसका अर्थ था कि उसे राजा के द्वारा बुलाया गया है। धर्म शास्त्रों में इस बात पर जोर दिया है कि समस्त कानूनी कार्यवाहियां राजा द्वारा की जानी हैं। टीकाकारों के मतानुसार यहां राजा का तात्पर्य राज्य के कर्मचारियों से लिया गया है।

२. शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त पर आधारित

प्राचीन भारत में समाज व्यवस्था को राज्यसत्ता एवं अर्थ सत्ता से पूर्णतः पृथक किया गया था और जिनके पास इनमें से कोई भी एक सत्ता थी, उन्हें अन्य सत्ता पर नियन्त्रण का अधिकार नहीं दिया गया था। इसी प्रकार भारत की राज्य व्यवस्था में सरकार के तीनों अंगों—कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्यायपालिका को अलग अलग रखा गया है ताकि राज्य के अधिकारी समाज पर मनमाना अत्याचार न कर सकें। कानूनो का निर्धारण धर्म और सामाजिक परम्पराओं के आधार पर किया जाता था। राज्य के पास कानून निर्माण की शक्ति न के बराबर थी। कार्यपालिका एवं न्यायपालिका को भी अलग अलग रखा गया है। यद्यपि राज्य का प्रतीक होने के कारण समस्त कार्यवाही राजा के नाम पर होती थी और नहीं राज्य के इन दोनों अंगों पर अधिकार रखता था। इतने पर भी तथ्य यह है कि राजा जो न्याय करता था उसे वह न्यायाधीश तथा अन्य ब्राह्मणों की सहमति से करता था। ये सब धर्म के ज्ञाता होते थे और अपना कार्य करने की इन्हें पूरी स्वतन्त्रता थी। राजा केवल राज्य के प्रतीक के रूप में ही न्याय एवं प्रशासन का सर्वोच्च अधिकारी था, वास्तविक व्यवहार में न्याय का कार्य उसके अधिकार में न था। डा० जायसवाल के कथनानुसार "हिन्दू एकत्व शासन प्रणाली में न्याय विभाग सदा शासन विभाग से पृथक रहता था।"

न्याय व्यवस्था बहुत कुछ ब्राह्मणों के हाथ में आ गयी थी। राजनीतिक क्षेत्र में रहकर जीवनयापन करने वाले ब्राह्मणों का एक अलग वर्ग बन गया था। शतपथ ब्राह्मण ने इन दोनों विभागों की पृथकता को स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है। कौटिल्य ने इस पृथक्करण को स्पष्ट रूप से अंकित किया है। सरकार के इन तीनों दायित्वों का निर्वाह अलग अलग संस्थाओं द्वारा किया जाता था। कार्यपालिका का कार्य मन्त्रि परिषद् द्वारा, व्यवस्थापिका के कार्य परिषद द्वारा और न्यायपालिका के कार्य सभा के द्वारा किये जाते थे। राजा इन तीनों अंगों के बीच सम्बन्ध स्थापित करने वाली एक कड़ी का कार्य करता था। प्रारम्भ में साधारण कानून और धर्म संबंधी कानून के बीच भेद किया गया था और साधारण कानून के बीच में राजा को कुछ न्यायिक अधिकार प्राप्त थे, बाद में जब ये दोनों एक हो गए तो ब्राह्मण न्यायाधीश पर राजा का कोई दबाव या प्रभाव नहीं रहा।

३. पक्षपातहीन न्याय

प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में इस बात पर बहुत जोर दिया है कि न्यायदान करने वाला अधिकारी निष्पक्ष रहे! भूल से अथवा जानबूझ कर किसी प्रकार का अन्याय न होने का समुचित प्रबन्ध किया गया था। यदि कभी ऐसा हो भी जाए तो इसके लिए समुचित प्रायश्चित की व्यवस्था की गई थी। इस सम्बन्ध में वशिष्ठ ने एक नियम बनाया कि यदि कोई दण्डनीय व्यक्ति बिना दण्ड पाए रह जाए तो राजा को एक दिन का और पुरोहित को तीन दिन का उपवास करना चाहिए। यदि किसी निर्दोष व्यक्ति को दण्ड दे दिया जाए तो

राजा को तीन दिन का और पुरोहित को कृच्छ्र का व्रत करना चाहिए। इस प्रकार भारतीय विचारकों ने पापी को छोड़ना पाप माना था किन्तु निर्दोष व्यक्ति को दण्ड देना उससे भी अधिक भयंकर पाप था। न्याय की शक्ति का प्रयोग करने के संबंध में अधिकारियों की जो योग्यताएं लिखाई गई थीं, उन्हें देखने से स्पष्ट हो जाता है कि न्याय की निष्पक्षता को पर्याप्त महत्त्व दिया गया था। यह आग्रह किया गया था कि राजा अथवा अन्य अधिकारी न्याय प्रदान करते समय काम, लोभ मोह आदि विकारों से अलग रहकर विवादों की सुनवाई करें। शुक्र ने अन्यायी न्यायाधीश को मन्त्रों का भूषण माना है। अग्नि पुराण ने गलत निर्णय देने वाले को ब्रह्म हत्या का पापी माना है। कात्यायन के कथनानुसार जो साधारण पक्षपात करता है उसे मृत्युदण्ड हो जाता है। पक्षपात रोकने के लिए वैयक्तिक योग्यताओं पर जोर देने के अतिरिक्त अनेक नियम भी बनाए गए यह कहा गया कि विवादों को गुप्त रूप से नहीं सुनना चाहिए, दोनों पक्षों को सुनने के बाद निर्णय देना चाहिए, सभासदों एवं राजा का एक दूसरे के अनुचित कार्यों पर रोक लगानी चाहिए आदि आदि। कौटिल्य ने न्यायाधीशों के विभिन्न अपराधों का उल्लेख किया है और इनके लिए दण्ड की व्यवस्था की है। वादी को धमकाना, फटकारना, निकाल देना, रिश्वत लेना, न पूछने योग्य बात पूछना, पूछने योग्य बात को न पूछना, पूछी गयी बात की उपेक्षा करना आदि न्यायाधीशों के अपराध थे। यह कहा गया कि यदि कोई न्यायाधीश गलत रूप से स्वर्ण दण्ड देता है तो उससे उसका दुगना दण्ड वसूल करना चाहिए। यदि वह गलत शारीरिक दण्ड देता है तो उस पर भी शारीरिक दण्ड होना चाहिए। न्याय की निष्पक्षता के लिए ही इस बात पर जोर दिया गया कि राजा सभासद, वादी और साक्षी सत्य बोलें। असत्य बोलने वाले को दण्ड दिया जायगा।

४. धर्म से प्रभावित न्याय

प्राचीन भारत की न्याय व्यवस्था धर्म से पर्याप्त प्रभावित थी। न्यायालयों के सदस्यों की योग्यता में उनकी धर्म सम्बन्धी जानकारी को पर्याप्त महत्त्व दिया गया। इसके अतिरिक्त किसी विवाद का जो निर्णय दिया जाए उसके धर्म सम्मत होने के लिए कई एक व्यवस्थाएं की गईं। डा० जायसवाल के कथनानुसार "सभा के सदस्य धर्म या कानून के अनुसार अपनी सम्मति देने के लिए बाध्य होते थे, जो ज्यूरी या कुछ कुछ नहीं बोलता था या धर्म के विरुद्ध सम्मति देता था वह नीति भ्रष्ट समझा जाता था" शुक्र नीति ने धर्म तथा कानून विभाग के मन्त्री को पंडित कहा है और उसके कर्त्तव्य का वर्णन करते हुए उल्लेख किया है कि 'पंडित को इस बात का विचार करना चाहिए कि लोक में किन प्राचीन तथा अर्वाचीन धर्मों का व्यवहार होता है उनमें से कौन धर्म शास्त्रों में मान्य है और कौन धर्म या कानून न्याय सिद्धान्त के विरुद्ध है तथा कौन से धर्म, समाज तथा न्याय सिद्धान्त के विरुद्ध है। ऐसा करने के बाद उसे राजा से ऐसे धर्मों या कानूनों की सिफारिश करनी चाहिए जो इस लोक में और परलोक में सुखकर हों। न्याय प्रशासन का दायित्व ब्राह्मणों के हाथ में रहने से धर्म की व्यवस्था का महत्त्व बना रहता था, वे

शारीरिक या आर्थिक बल को धर्म से आगे नहीं बढ़ने देते थे। डा० जायसवाल का यह कहना सही है कि "हिन्दू राज्य में सबसे बड़ी और महत्वपूर्ण बात यह है कि समस्त इतिहास मे धर्म को सर्व प्रधान स्थान दिया गया है।"

५. ब्राह्मण वर्ग का महत्व

न्याय व्यवस्था के स्रोत एवं प्रेरक के रूप में धर्म का पर्याप्त महत्व होने के कारण ब्राह्मणों को पर्याप्त गौरव प्राप्त हुआ। स्मृति ग्रन्थों का कहना है कि सभासद ब्राह्मण जाति के ही होने चाहिए। प्रत्येक सभासद के लिए श्रुति और स्मृति आदि ग्रन्थों में वर्णित धर्म शास्त्रीय नियमों का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए, पर यह ज्ञान ब्राह्मणों में होना ही सम्भव था। न्यायपालिका के कई एक प्रमुख पदों को केवल ब्राह्मण ही ग्रहण कर सकते थे अथवा ब्राह्मणों को प्राथमिकता दी जाती थी।

६. फौजदारी और दीवानी विवादों में भेद

भारतीय न्याय व्यवस्था मे फौजदारी (Criminal) एवं दीवानी (Civil) विवादों के बीच पर्याप्त भेद किया गया। मनु एव शुक्र ने इस बात पर जोर दिया है कि राजा को अथवा राजा के कर्मचारियों को केवल छल एवं अपराध सम्बन्धी विवाद तथा राज्य विरोधी अपराधों पर ही विचार करना चाहिए। उन्हें अन्य विवाद स्वयं प्रारम्भ नही करने चाहिए। याज्ञवल्क्य ने भी दीवानी विभागों को फौजदारी विभागों से पृथक किया है। फौजदारी विवादों का स्पष्ट रूप से उल्लेख करते हुए मनु स्मृति में कहा गया है कि जिस राजा के पुर में चोर, पर स्त्रीगामी, दुष्ट वचन बोलने वाला अथवा कठोर वचन बोलने वाला नही है वह इन्द्रलोक को जाता है। कौटिल्य ने तीसरे प्रकरण में विभिन्न प्रकार के साहसों का वर्णन किया है। उन्होने ऐसे विवादों का भी उल्लेख किया है जिनके विषय में व्यक्ति स्वयं आवेदन करके न्याय पा सकता है। उन्होने राज्य द्वारा उठाये जाने वाले विवादों और व्यक्तियों के पारस्परिक विवादों के बीच स्पष्ट अन्तर किया है। इससे फौजदारी एव दीवानी विवादों का अन्तर भी कुछ कुछ स्पष्ट हो जाता है; क्योंकि राज्य के द्वारा केवल फौजदारी विवादों को ही उठाया जा सकता है। इन दोनों प्रकारों के बीच भेद करते हुए बताया गया है कि फौजदारी विवाद जिस समय उपस्थित हों उन्हें उसी समय सुनना चाहिए और तुरन्त ही उनका निर्णय करना चाहिए किन्तु अन्य विवादों मे इतनी शीघ्रता से निर्णय करना आवश्यक नहीं था। दोनों प्रकार के विवादों के बीच एक अन्य भेद यह था कि फौजदारी विवादो में वादी को कोई शुल्क नही देना पड़ता था और न अन्य किसी प्रकार का खर्चा देना होता था; केवल हारे हुए व्यक्ति को दण्ड दिया जाता था दूसरी ओर दीवानी विवादों में यदि वादी जीत भी जाए तो भी उसे अपने जीते हुए धन का कुछ अंश राज्य को देना होता था।

न्यायपालिका का संगठन
(The Organisation of Judiciary)

प्राचीन भारत में न्यायपालिका का संगठन केन्द्रयकृत था। उस समय राजा द्वारा ही कानून और न्याय दोनों का प्रशासन किया जाता था। धीरे-

धीरे जब सामाजिक व्यवस्था में स्थिरता आ गई तो न्यायपालिका के कार्य इतने अधिक विस्तृत हो गये कि अकेले राजा के लिए उनको सम्पन्न करना मुश्किल बन गया। राजा की सहायता के लिए एक परिषद् काम करने लगी। प्राचीन भारत में नियमित एवं स्थायी न्यायालयों के उदाहरण नहीं मिलते हैं। वैदिक साहित्य में इनका कहीं उल्लेख नहीं है। बाद में अर्थशास्त्र एवं धर्मशास्त्र में न्याय प्रशासन की स्थाई संस्थाओं का उल्लेख हुआ है।

वैदिक काल में हम स्पष्ट न्यायालयों के अस्तित्व का आभास मिलता है। इसके अतिरिक्त श्रेणी कुल एवं निगम में रूप में भी न्यायालय कार्य करते थे। मौर्य काल में आकर न्यायालय प्रशासन के सभी महत्वपूर्ण केन्द्रों में स्थित हो गये। धर्म शास्त्र में जिन सभासदों का उल्लेख किया गया है, उनका स्थान पर बाद में प्राड्विवाक द्वारा ले लिया गया। राजा को अपील सुनने का अधिकार रहा।

वैदिक काल में न्यायपालिका का संगठन

प्राचीन भारत में न्यायपालिका के संगठन की दृष्टि से महत्वपूर्ण संस्थायें परिषद् एवं सभा थीं। वैदिक काल व बाद में भी इन संस्थाओं का महत्व रहा। मि० बी० के० सरकार का कहना है कि हिन्दू न्यायपालिका मूल रूप में सभाओं एवं परिषदों की व्यवस्था थी जिसमें बहुत से अथवा थोड़े से लोग मिलकर न्याय करने के लिए बैठते थे।[1] वैदिक साहित्य में परिषदों के प्रचलन के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं।

परिषद

धर्म सूत्र एवं बाद के अन्य ग्रन्थों में परिषद के वैधानिक रूप का स्पष्ट वर्णन किया गया है। ऋग्वेद से लेकर अर्थशास्त्र का अध्ययन करने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि न्यायिक प्रशासन के क्षेत्र में परिषद का महत्वपूर्ण स्थान था। परिषद के सदस्यों की योग्यता में यह जरूरी समझा गया था कि उन्हें कानून का ज्ञान होना चाहिए। बाद में इस संस्था में ब्राह्मणों का बहुमत होने लगा। उपनिषद काल में यह दार्शनिकों की एक संस्था थी, किन्तु सूत्र काल में आकर यह कानूनों की व्याख्या करने वाली एकमात्र संस्था हो गई। गौतम ने परिषद में १० सदस्यों की उपस्थिति को आवश्यक माना है। परिषद में संगठन इस प्रकार का होना चाहिए कि वह आसानी से कानून की व्याख्या कर सके। वशिष्ठ एवं बौधायन ने परिषद में दस सदस्यों की उपस्थिति मानी है। मनु ने परिषद के सदस्यों की संख्या अधिक से अधिक १० और कम से कम ३ मानी है। इनको वे क्रमशः दशावरा व त्र्यवरा कहते हैं। परिषद में चार वेदज्ञ, एक अंग का ज्ञाता, एक मीमांसक, एक धर्म पाठक

---

1 The Hindu Judiciary was essentially a system of Assembly or Councils The 'many' or the few' sitting in judgment
—B K. Sarkar, op cit, Page 107

और वेद की तीन शाखाओं के तीन ब्राह्मण, सदस्य रूप में स्वीकार किये गये। धर्म सूत्रों के काल तक कानून के संग्रह का कार्य परिषद करने लगी थी। परिषद के माध्यम से स्थापित परम्पराओं को संहिताबद्ध रूप में धर्म शास्त्रों में संग्रहित किया गया। परिषद के नाम पर विद्वान विचारकों द्वारा की जाने वाली व्याख्याओं को भी विधान समझा जाने लगा। परिषद का न्यायिक के अतिरिक्त राजनैतिक एव धार्मिक स्वरूप भी था। वैदिक काल में पाप और अपराध को अलग-अलग नहीं किया गया था। पाप के प्रायश्चित का निर्णय एवं प्रशासन परिषद के द्वारा किया जाता था। इस सम्बन्ध में परिषद के अपने नियम थे। इसके प्रशासन में राज्य हस्तक्षेप नहीं कर सकता था। परिषद को अपने निर्णय क्रियान्वित कराने के लिए राज्य शक्ति की सहायता लेनी होती थी। आपस्तम्भ धर्मसूत्र में कहा गया है कि आचार्य द्वारा जिस प्रायश्चित का विधान किया गया है यदि उसे अपराधी पूर्ण नहीं करता तो आचार्य उसे राजा के पास भेज देगा। राजा उसे पुरोहित के सामन उपस्थित करके उसके दण्ड के परिमाण का पता लगाता है और उसके बाद राजदण्ड के माध्यम से उस अपराधी से प्रायश्चित करवाता है। धर्म के सम्बन्ध में किये गये अपराधों में परिषद ही अन्तिम प्रमाण थी, राजा परिषद के निर्णय को क्रियान्वित करते समय परिषद एव पुरोहित से निर्देश प्राप्त करता था। बाद में पाप और अपराध की सीमायें बदल गयीं और इसलिए परिषद के अधिकार क्षेत्र में भी परिवर्तन हुये। परिषद की न्याय शक्तियां धीरे-धीरे समाप्त हो गई। वह मूल रूप से एक धार्मिक संस्था बन गई, फलत: राजदण्ड के द्वारा पाप से शुद्धिकरण कराया जाने लगा। बाद में परिषद को केवल वैदिक शाखाओं के पापों को शुद्ध करने वाली संस्था बना लिया गया। श्रेणी, पूग एवं कुल आदि सभायें परिषद से अलग थीं और इसलिये उनका न्यायिक महत्व बना रहा।

सभा

उत्तर काल में सभा का प्रयोग न्यायालय के रूप में किया जाने लगा। प्रारम्भ में सभा के द्वारा विवादों के निर्धारण के अतिरिक्त नीति निर्धारण, राजा की नियुक्ति एवं पदच्युति आदि पर भी कार्य किये जाते थे। सभा और समिति को वैदिक साहित्य में एक ही स्तर का माना है और दोनों को प्रजापति की कन्या कहा है। डा० एन० सी० बन्द्योपाध्याय का कहना है कि सभा प्रारम्भ में कबीले की संस्था थी। बाद में गोत्र और रक्त से सम्बन्ध जनों का संगठन बन गई और उसके बाद अभिजात वर्गीय केन्द्रीय संगठन हो गई, जिसमें राजा भाग लेता था। अन्त में यह राजा की परामर्शदात्री और न्यायिक सभा हो गई।[1]

सभा और समिति प्रारम्भ में समान एवं सम्प्रभु संस्थायें थीं। समिति में मुख्य रूप से सैनिक आदि विषयों पर विचार-विमर्श किया जाता था।

---

1. Bandyopadhyaya, Development of Hindu Quality And Political Theories, Pp. 110-118.

सभा कुछ चुने हुए व्यक्तियों की संस्था बन गई और उसने समिति के निर्देशन में न्यायपालिका की एक शुद्ध संस्था का रूप धारण कर लिया। जब राजा की न्यायिक शक्तियों का विकास हुआ तो सभा को इस क्षेत्र में पर्याप्त अधिकार मिले। जब वह शुद्ध रूप से एक न्यायिक संस्था बन गई तो भी उसे नीति-निर्देशन में परामर्श देने का अधिकार बना रहा।

मौर्यकाल में न्यायपालिका का संगठन

मौर्यकाल में आकर न्यायपालिका का स्वरूप स्पष्टतः उभर आया, उसमें सवैतनिक न्यायाधीश होते थे जिनको कम महत्व के न्यायाधिकरणों पर स्पष्ट रूप से परिभाषित अधिकार क्षेत्र प्राप्त था। मौर्यकाल के न्यायपालिका संगठन में हमें ऐतिहासिक रूप से पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है। इस काल में सबसे नीचे के स्तर के न्यायालय ग्राम पंचायतें थीं। ये ग्राम के वृद्धों की परिषदें होती थीं। इनकी अध्यक्षता गोप या सर्वोच्च व्यक्ति द्वारा की जाती थी। उनको यह शक्ति प्राप्त थी चोर और व्यभिचारी व्यक्ति को गांव से बाहर कर दें। गोप की नियुक्ति एक वित्तीय एवं पुलिस अधिकारी के रूप में सम्राट द्वारा की जाती था। ग्राम्य न्यायाधीश के रूप में उसे पर्याप्त न्यायिक अधिकार प्राप्त थे। मौर्यकाल में उच्च न्यायालयों की अध्यक्षता ऐसे व्यक्तियों द्वारा की जाती थी जो कि कार्यपालिका से स्वतन्त्र होते थे। मि० बी० के० सरकार के मतानुसार ऐसे उच्च स्तरीय न्यायालय ६ प्रकार के थे—

१. कस्बे का न्यायालय जो कि एक प्रकार से गांव का मुख्य कार्यालय होता था,
२. कस्बे के वे न्यायालय जो कि ४०० गांवों के मुख्यालय होते थे,
३. प्रत्येक कस्बे का वह न्यायालय जो कि ८०० गांवों का मुख्यालय होता था,
४. वे न्यायालय साम्राज्य के दो प्रान्तों के बीच में स्थित थे,
५. राजधानी प्रदेश पाटलिपुत्र में स्थित न्यायाधिकरण, तथा
६. सर्वोच्च न्यायालय जिसमें न्यायाधीशों की सभा की अध्यक्षता सम्राट द्वारा की जाती थी।

स्थानीय क्षेत्रों में राजा द्वारा प्राथमिक न्यायालय स्थापित किये जाते थे और राजधानी में स्थित मुख्य न्यायालय का अध्यक्ष प्राड्विवाक होता था। राजा के द्वारा एक सर्वोच्च न्यायाधीश के रूप में अपीलें सुनी जाती थीं। ये तीनों प्रकार के न्यायालय राजा द्वारा स्थापित न्यायालय (Royal or Imperial Judiciary) थे, इनके अतिरिक्त तीन प्रकार के न्यायालय जन न्यायालय होते थे। किसी स्थान के उच्च न्यायालय को पूग कहा जाता था। इसके अतिरिक्त श्रेणी के न्यायालय और कुल न्यायालय हुआ करते थे। निम्न न्यायालय से उच्च न्यायालय में अपील करने की परम्परायें थीं। इन समस्त न्यायालयों का रूप सभात्मक था। कहने का अर्थ यह है कि विवादों की सुनवाई अथवा निर्णय किसी एक व्यक्ति द्वारा नहीं वरन् सभा द्वारा

सामूहिक रूप से किया जाता था। न्यायिक प्रशासन में न्यायाधीशों को एक विशेष समुदाय की सहायता प्राप्त थी जिसे सभा कहा जाता है। इसके ३, ५ या ७ सदस्यों को आधुनिक भाषा में न्यायालय की जूरी भी कहा जा सकता है।

अर्थ शास्त्र में न्यायालय का संगठन

कौटिल्य ने अर्थ शास्त्र मे दो प्रकार के न्यायालयों का उल्लेख किया है। ये हैं धर्मस्थीय एवं कंटक शोधन। इन्हें आज की भाषा में दीवानी और फौजदारी न्यायालय कहा जासकता है। धर्मस्थीय मे विवाह, स्त्री, धन, दाय भाग, ऋण, दारुकल्प, साहस, स्त्री संग्रहण, वाक्पारुष आदि को गिना जा सकता है। साधारणतः प्रत्येक न्यायालय में तीन धर्मस्थ और तीन न्यायाधीश विवाद का निर्णय करने बैठते थे। अर्थ शास्त्र में उल्लेख है कि जनपद सन्धि संग्रहण, द्रोण मुख और स्थानीय न्यायालयों में तीन-तीन धर्मस्थ मिलकर व्यवहार सम्वन्धी मुकदमों का निर्णय करें। जनपद सन्धि न्यायालयों में दो राज्यों एवं जनपदो की सीमा से सम्वन्धी विवाद रखे जाते थे। संग्रहण, दस गावों का, द्रोण मुख ४०० गावों का, स्थानीय ८०० ग्रामों का न्यायालय था। न्यायाधीश निर्णय देते समय देश, काल, एवं वर्गों के आचार को प्राथमिकता देते थे।

इन न्यायालयों के अतिरिक्त ग्राम सभा के द्वारा भी निर्णय दिये जाते थे। इन ग्राम सभाओं में राज्य की ओर से न्यायाधीशों की नियुक्ति नही होती थी। गांवों के किसान, गो पालक तथा वृद्ध तथा बाहर के अन्य वृद्ध लोग मिलकर निर्णय लेते थे। ग्राम सभायें, घर, बाग, खेत सीमा विवाद, तालाव आदि से सम्बन्धित अपराध पर विचार करती थी। यदि ग्राम सभायें निर्णय लेने में असमर्थ रहे तो राज्य हस्तक्षेप करके सम्पत्ति को अपने हाथ में ले लेता था। स्थानीय न्यायालयों एवं केन्द्रीय न्यायालयों के बीच वैधानिक सम्वन्ध था।

दूसरे प्रकार के न्यायालय कंटक शोधन न्यायालय थे। सामाजिक तथा राष्ट्रीय हित की अवहेलना करके अपने स्वार्थ की पूर्ति करने वाले को कण्टक कहा गया है। इनसे समाज और राष्ट्र की रक्षा करना कण्टक शोधन न्यायालयो का कर्तव्य था। डा० हरिहरनाथ त्रिपाठी के शब्दों में "भारतीय न्यायपतिका में कौटिल्य का यह प्रथम सफल प्रयोग था जिससे उन्होंने अपने युग की समस्या का व्यावहारिक समाधान किया। परिणाम यह हुआ कि मैगस्थनीज ने देखा कि भारत में अपराध होते ही नही।" कण्टक शोधन न्यायालयो के न्यायाधीश राज्य कर्मचारी होते थे। इनके द्वारा डाके डालना, चोरी करना, फौजदारी करना, बलात्कार, वाकपौरुष्य, दण्ड पौरुष्य, जहर देना, अतिचार आदि के विवादों पर विचार किया जाता था। इस प्रकार के विभिन्न अपराधो के लिये कौटिल्य द्वारा अलग-अलग प्रकार के दण्डों की व्यवस्था की गई है। न्यायाधीशों पर इतना नियंत्रण था कि वे न्यायालयों में आये हुए वादी प्रति-वादी को धमकाने, गाली देने या अपमानजनक व्यवहार करने जैसा कोई कार्य नहीं कर सकते थे। उनके द्वारा कोई अनावश्यक प्रश्न नही पूछा जा सकता था। कण्टक शोधन न्यायालय को फौजदारी कानून का प्रथम न्यायालय कहा

गया है। मिस्टर त्रिपाठी ने कण्टक शोधन न्यायालय को फौजदारी न्यायालय कहने की अपेक्षा पुलिस न्यायालय कहना उपयुक्त समझा है।[1] के. वी. रंगस्वामी आयंगर ने भी कण्टक शोधन का अनुवाद पुलिस न्यायालय के रूप में किया है। राधाकुमुद मुकर्जी भी इस मत को मान्यता देते हैं। कण्टक शोधन न्यायालय के उद्देश्य को देखते हुये यह मत उपयुक्त प्रकट होता है। कौटिल्य ने ऐसे न्यायालयों के सगठन, देश में अशान्ति उत्पन्न करने वाली शक्तियों को समाप्त करने के लिए कहा है।

महाकाव्यों में न्यायालयों का सगठन

रामायण काल में आकर परिषद और सभा का रूप राज्य सभा में परिवर्तित हो चुका था। अयोध्या की राज्य सभा सर्वोच्च न्याय की संस्था थी। राजा इस सभा का अध्यक्ष होता था। इसके अतिरिक्त पुरोहित, शास्त्रों के जानकार ब्राह्मण, व्यवहार के विशेषज्ञ मन्त्री, तथा नीति विशारद मन्त्री आदि भी भाग लेते थे। सभा में प्रार्थी और श्रोता दोनों ही निशुल्क प्रवेश पा सकते थे। विवाद को पूर्णत: सुनवाई किये बिना किसी को दण्ड नहीं दिया जा सकता था। राजा का प्रथम कर्तव्य न्याय देना और उसके लिये उपयुक्त वातावरण बनाना था। धन बल और सम्मान के आधार पर किसी प्रकार का पक्षपात न करने की व्यवस्था थी। न्यायाधीश धर्मपालक होते थे। उनकी योग्यताओं में सदाचरण और कानून की जानकारी को महत्व दिया जाता था। दण्ड की व्यवस्था अपराध को देखकर की जाती थी। मृत्यु दण्ड प्राय प्रात काल दिया जाता था। सभा में मन्त्री, पुरोहित एवं नैगम के प्रतिनिधि होते थे। हर महत्वपूर्ण प्रश्न की सूचना राजा सभा को देता था। सीता हरण के प्रश्न पर कुम्भकरण ने रावण की आलोचना की थी, क्योंकि उसने उस कार्य की पूर्ण सूचना सभा को नहीं दी थी। अपनी नीति को अनुमोदित कराते समय राजा सभा की सर्वसम्मति प्राप्त करता था। रावण की नीति का विभीषण को छोड़कर सभी ने समर्थन किया, अत रावण ने विभीषण पर राजद्रोह का अभियोग लगाकर उसकी सदस्यता समाप्त कर दी थी।

महाभारत में भी सभा का उल्लेख उसके एक भाग का नाम ही सभा-पर्व है। महाभारत कालीन सभा न्याय के अतिरिक्त अन्य कार्य भी करती थी। महाकाव्यों की सभा न्याय के साथ-साथ नीति-निर्धारण का कार्य भी करती थी। इनमें राजा और सभा के बीच अनिवार्य सम्बन्ध प्रदर्शित किया गया है। इन्होने धर्म सूत्रों से विकसित होने वाली धर्म शास्त्रों की परम्पराओं को बनाये रखा है। सभा के द्वारा ही न्याय प्रदान किया जाता था और सभा ही राजा की परामर्शदाता सभा बन जाती थी।

धर्म सूत्रों एवं स्मृतियों में न्यायपालिका का सगठन

कालान्तर में राजा की प्रशासनिक शक्ति के विकसित होने से न्यायिक

---

1. डा० हरिहरनाथ त्रिपाठी, प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली—१९६५ पृष्ठ १७१

कार्य अलग हो गया। न्याय सभा का पृथक से संगठन हुआ। धर्म शास्त्रों के काल तक न्याय सभा के समय, भवन एवं स्थिति आदि का नियमन हो गया। धर्म शास्त्रों में सभा भवन की स्थिति, उसकी सजावट, कार्य का दिन, छुट्टी का दिन आदि का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है।

बृहस्पति ने सभा के संगठन का वर्णन करते हुए उसके दस अंगो का वर्णन किया है। ये हैं—प्राग्विवाक, सभ्य, स्मृति, स्वर्ण और अग्नि, जल, गणक, लेखक एवं पुरुष या साध्यपाल। इन विभिन्न अंगों की शरीर के विभिन्न अंगों से तुलना की गई है।

बृहस्पति द्वारा राज्य सभा के केन्द्रीय न्यायालय के अतिरिक्त न्यायालय को चार भागों में बांटा गया है। प्रथम का नाम प्रतिष्ठा था, जो कि ग्राम एवं पुर का न्यायालय होता था। दूसरा अप्रतिष्ठता न्यायालय होता था ज' कि चलता फिरता रहता था। तीसरा मुद्रिता न्यायालय कहलाता था जिसमें अध्यक्ष एवं राज्य मुद्रा होती थी। चौथा शासता न्यायालय होता था जो कि राजा से युक्त होता था। बृहस्पति ने कुल, श्रेणी, गण एवं पूग की सभाओ का उल्लेख किया है।

बृहस्पति, नारद एवं याज्ञवल्क्य आदि ने स्थानीय न्यायालयों को पर्याप्त महत्व दिया। यह न्यायालय वाग्दण्ड, धिग्दण्ड और परित्याग का दण्ड दे सकते थे। ये राजद्रोह आदि विषयों पर भी विचार कर सकते थे। अधिकांश विद्वानों का मत है कि स्थानीय न्यायालय में राजाओं का हस्तक्षेप स्थानीय संगठन के अनुसार होता रहा। यदि कोई स्थानीय व्यक्ति कानून का ज्ञाता होता था तो वह स्वयं निर्णय दे सकता था। बाद में जब ग्रामणी की नियुक्ति राजा द्वारा होने लगी तो स्थानीय न्याय व्यवस्था पर भी राजा का पर्याप्त अधिकार हो गया।

गैर सरकारी न्यायालय

प्रो० अलतेकर ने अनेक गैर-सरकारी न्यायालयों का भी उल्लेख किया है जो कि प्राचीन भारत की अपनी विशेषता थी। वैदिक काल से कौटिल्य के समय तक गैर सरकारी न्यायालयों का पर्याप्त महत्व रहा। यद्यपि कौटिल्य की शासन पद्धति में केन्द्रीयकरण था तो भी उसमें कुछ मामले गैर सरकारी न्यायालयों को सौंपने की बात कही गई है। धर्म सूत्र एवं मनु स्मृति आदि मे गैर सरकारी न्यायालयों का उल्लेख नहीं है। हो सकता है कि यह उस समय वर्तमान ही न हो अथवा गैर सरकारी होने के कारण इनकी अवेहलना की गई हो। ऐसे न्यायालयों का सर्वप्रथम उल्लेख याज्ञवल्क्य द्वारा किया गया है। उन्होंने तीन प्रकार के गैर-सरकारी न्यायालय बताये हैं—कुल, श्रेणी एवं पूग। बृहस्पति भी इन तीनों का उल्लेख करते हैं। बृहस्पति स्मृति के अनुसार कुल न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध श्रेणी न्यायालय में अपील होती थी और श्रेणी न्यायालय के विरुद्ध पूग न्यायालय में अपील की जाती थी। विजयनगर शासन पद्धति में इन न्यायालयों को 'अमुख्य' कहा गया है। संभवतः ऐसा कहने के पीछे यह तथ्य रहा होगा कि ये सरकारी न्यायालयों की अपेक्षा कम महत्व के थे।

इन गैर-सरकारी न्यायालयों में कुल न्यायालय निकटवर्ती या दूरवर्ती रिश्तेदार, वादी और प्रतिवादी के बीच समझौता कराने का प्रयास करते थे। इस प्रकार के न्यायालय कुटुम्ब की संयुक्त प्रणाली के बाद का आविष्कार है। एक बड़े परिवार या कुटुम्ब के दो व्यक्तियों के बीच जब झगड़ा होता था तो पहले कुल के वृद्ध व्यक्ति उसे सुलझाने का प्रयास करते थे। इस प्रकार यह बड़े संयुक्त कुटुम्ब का न्यायालय था जिसमें कुल वृद्ध निर्णय देने का कार्य करते थे। टीकाकारों ने कुलानि शब्द का अर्थ सम्बन्धियों का सम्बन्ध, मध्यस्थ पुरुष, पितृ परम्परा या कौटुम्बिक सम्बन्ध से बंधे व्यक्तियों के रूप में किया है। धर्म शास्त्र के अनुसार १० से लेकर ४० कुटुम्बों तक के ऊपर एक गोप होता था। सम्भवतः इन कुटुम्बों के झगड़ों को या विवादों को तय करने वाले न्यायालयों को कुल न्यायालय कहते होंगे। प्रो० अल्तेकर को यह सम्भावना अधिक सार्थक नहीं लगती।

जो विवाद कुल न्यायालय द्वारा तय नहीं हो पाते थे उनको श्रेणी न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता था। ५०० वर्ष ईसा पूर्व के पश्चात् व्यापारिक क्षेत्रों में श्रेणी व्यवस्था (Guild System) सर्वत्र प्रचलित हो गया था। इन श्रेणियों के अपने न्यायालय होते थे। महाभारत एवं बौद्ध साहित्य में इस प्रकार की श्रेणियों और उनके मुख्य अधिकारियों का वर्णन है। श्रेणी शब्द का अर्थ समान पेशा या कार्य करने वालों का संघ है चाहे वे लोग विभिन्न जातियों के सदस्य हों। व्यवहार मयूख में कलाकारों एवं व्यापारियों के संघ को श्रेणी कहा गया है। यद्यपि याज्ञवल्क्य ने सर्वप्रथम श्रेणी न्यायालयों का उल्लेख किया है परन्तु फिर भी धर्म सूत्रों में इनके उल्लेख को पाकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ३०० ई० पूर्व भी ऐसे न्यायालयों का अस्तित्व रहा होगा।

पूग का अर्थ एक स्थान की विभिन्न जातियों एवं पेशों के लोगों का संगठन है। व्यवहार प्रकाश आदि कुछ ग्रन्थों ने पूग और गण को समानार्थक माना है। इस प्रकार पूग न्यायालय और गण न्यायालय एक ही सिद्ध होते हैं। याज्ञवल्क्य के अनुसार पूग न्यायालय में विभिन्न जातियों व धन्धों के एक ही स्थान में रहने वाले लोग स्वयं अपनी न्याय-व्यवस्था करते थे। प्रो० अल्तेकर का कहना है कि यदि वैदिक काल की सभा न्याय के क्षेत्र में कुछ कार्य करती थी तो उसे हम पूग न्यायालय अथवा गण न्यायालय का एक उदाहरण मान सकते हैं। तैत्तरीय संहिता के अनुसार ग्राम्यवादी इस न्यायालय का न्यायाधीश होता था। अर्थशास्त्र के अनुसार गाँव के वृद्ध भी पूग न्यायालय में सभासद का कार्य करते थे। स्थान के अनुसार ही इन प्रकार के न्यायालयों को नाम भी अलग-अलग प्रकार के दिये जाते थे। इन न्यायालयों द्वारा लिये जाने वाले निर्णयों को राजा के द्वारा दण्ड के माध्यम से क्रियान्वित किया जाता था।

मि० त्रिपाठी द्वारा इन तीनों ही गैर-सरकारी न्यायालयों को वर्गीय न्यायालय कहा गया है। इन न्यायालयों के निर्णय से संतुष्ट न होने पर केन्द्रीय न्यायालय अथवा राज्य सभा में अपील की जा सकती थी क्योंकि यही

अन्तिम न्यायालय था। वर्गीय न्यायालयों की स्वतन्त्रता की रक्षा करते हुए केन्द्रीय न्यायालयों से उनका सम्बन्ध स्थापित किया गया।

गैर-सरकारी न्यायालयों की सफलता के सम्बन्ध में आधुनिक विचारक विश्वस्त नहीं हैं; तो भी यह एक तथ्य है कि इस प्रकार के न्यायालय ब्रिटिश राज्य की स्थापना तक कार्य करते रहे थे और वाद में धीरे-धीरे विलुप्त हो गये। सरकारी न्यायालयों के अत्यधिक प्रचलन के वाद इनका महत्व एवं प्रभाव समाप्त हो गया। इसके अतिरिक्त सरकार ने भी इन न्यायालयों को वह समर्थन एवं प्रोत्साहन देना समाप्त कर दिया जो कि यह पहले दिया करती थी। प्राचीन भारत में इन गैर-सरकारी न्यायालयों को जिन कारणों से प्रोत्साहन दिया जाता था उनका उल्लेख प्रो० अलतेकर ने किया है। उनका कहना है कि इन न्यायालयों के माध्यम से वे स्थानीय शासन को सुचारु रूप से संचालित कर सकते थे। गैर-सरकारी न्यायालयों से यह आशा की जाती थी कि वे सत्य के निर्धारण में अधिक सफलता प्राप्त कर सकेंगे। तीसरे यह सम्भावना थी कि ग्राम के निवासी ही यदि निर्णय ले रहे है तो वे वादी तथा प्रतिवादी के तर्कों को अच्छी प्रकार से समझ सकेंगे। चौथे, गांव के निवासियों के सामने असत्य गवाही देने के अवसर कम थे। यदि कोई ऐसा करने का प्रयास भी करता तो उसकी चारों ओर से वदनामी की जाती थी। प्रत्येक प्रकार का दीवानी मुकदमा इन न्यायालयों के अधिकार क्षेत्र में रखा गया था किन्तु फौजदारी मुकदमा हर प्रकार का इनमें प्रस्तुत नहीं किया जा सकता था। इस क्षेत्र में इनको केवल कुछ सीमित अधिकार सौंपे गये थे।

प्राचीन भारत में न्यायिक प्रक्रिया
[Judicial Procedure in Ancient India]

प्राचीन भारत में न्यायिक प्रक्रिया का संचालन कुछ मान्य नियमों के आधार पर किया जाता था। जव कोई व्यक्ति किसी की शिकायत के रूप में न्यायालय में प्रार्थना-पत्र देता था तो उसमें वह विस्तार के साथ अपने अधिकारों का वर्णन करता था तथा यह उल्लेख करता था कि इन अधिकारों का उल्लंघन किस प्रकार से हुआ है। प्रार्थना पत्र पर उपयुक्त विचार किया जाता था और वादी अथवा प्रतिवादी को उसके विचार जानने के लिए आमन्त्रित किया जाता था। न्याय सम्बन्धी निर्णय देने से पूर्व दोनों पक्षों की पर्याप्त सुनवाई की जाती थी तथा पक्षपात वरते जाने के प्रत्येक अवसर को रोका जाता था। किसी भी मामले पर विचार गोपनीय रूप से नहीं किया जाता था और न ही एकान्त में विचार करके कोई निर्णय लिया जाता था। प्राय: सभी लोगों के सामने और सार्वजनिक स्थानों पर ही यह विचार-विमर्श किया जाता था। विवाद की प्रकृति के अनुसार ही उस पर विचार किया जाता था। यदि विवाद अत्यन्त महत्वपूर्ण है तो उसे अन्य विवादों से पूर्व भी लिया जा सकता था। जिन मामलों मे शीघ्र ही कार्यवाही किया जाना जरूरी होता था उनमें अभियुक्त को बुलाने के लिए वारंट भी जारी किया जा सकता था। थोड़ी बहुत कार्यवाही के बाद इस प्रकार के अपराधी को बन्दी बना

लिया जाता था अथवा उस पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाता था। न्याय सम्बन्धी निर्णय में देरी को सदैव ही एक बुराई समझा जाता था। न्याय सम्बन्धी अधिकारियों के कार्यों में राज्यकर्मचारियों को हस्तक्षेप करने की सुविधा नहीं दी जाती थी। विचाराधीन मामले के वादी तथा प्रतिवादियों के यहां न्यायाधीश भोजन नहीं कर सकते थे। यह व्यवस्था पक्षपात पूर्ण व्यवहार को रोकने के लिए की गई थी। दुराचार एवं पक्षपात पूर्ण व्यवहार के लिए न्यायाधीशों को दण्ड देने की भी बात कही गई थी। न्यायालय का लेखक यदि ठीक प्रकार से लेख न लिखे तो उसे कड़ा दण्ड दिया जाता था।

मुकदमों की समस्त कार्यवाहियां लिखकर रखी जाती थीं। इन लिखित कार्यवाहियों का उल्लेख बौद्ध जातकों में पर्याप्त प्राप्त होता है। धर्म शास्त्रों में भी इसका प्रमाण प्राप्त होता है।

अपराधियों के लिए दण्ड की व्यवस्था करते समय उनके अपराध का स्वरूप, अपराध का कारण, अपराधी का सामाजिक स्तर, जाति, उम्र आदि ध्यान में रखा जाता था। नाबालिगों या आत्मरक्षा के लिए बल प्रयोग करने वालों अथवा दूसरे के दबाव में आकर अपराध करने वालों को उन्मुक्तियां प्रदान की गई थीं। यदि अपराधी के उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में सन्देह होता था तो उसे छोड़ दिया जाता था। प्रो॰ अलतेकर के कथनानुसार प्राचीन भारत में मुख्यतः पांच प्रकार के दण्ड अर्थात् जुर्माना, कारावास, देश निष्कासन, अंग-विच्छेद व प्राणदण्ड दिये जाते थे। जाति के कारण भी अपराधी के दण्ड में विषमता पैदा हो जाती थी। कई एक विचारक इसे भारतीय न्याय-पद्धति का दोष मानते हैं।

न्यायिक निर्णय देने से पूर्व न्यायाधिकारी द्वारा वादी एवं प्रतिवादी को उनके पक्ष में प्रमाण प्रस्तुत करने को कहा जाता था। प्रमाण के रूप में वे गवाही, लेख तथा युक्ति प्रस्तुत कर सकते थे। किसी प्रकार का प्रमाण प्राप्त न होने की दशा में दिव्य के आधार पर ही निर्णय किया जाता था। निर्णय होने के बाद उसकी एक-एक प्रति वादी तथा प्रतिवादी को सौंप दी जाती थी। इस निर्णय के विरुद्ध उच्चतर न्यायालय में अपील की जा सकती थी।

प्राचीन भारत की न्यायिक प्रक्रिया में वकीलों का उल्लेख प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट रूप से प्रायः नहीं मिलता।[1] शुक्र ने नियोगी का नाम लिया है। नियोगी का यह कार्य होता था कि वह अपने मुवक्किल के दावे का पूरी तरह से समर्थन करे। जब वादी अथवा प्रतिवादी धर्म नियम न जानने अथवा अन्य कार्यों में व्यस्त रहने के कारण अपना मुकदमा स्वयं नहीं चला पाता था तो वह अपना एक प्रतिनिधि नियुक्त करता था। यही प्रतिनिधि नियोगी कहलाता था। एक

---

1 A. L. Basham, The wonder that was India, P. 117, R. N. Mehta, Crime and punishment in the Jataks, I. H. Q., Vol. xii, No. 3, P. 438.

नियोगी यदि किसी प्रकार से विरोधी पक्ष की सहायता करता तो वह दण्ड का भागी होता था। वकीलों का कार्य धर्म शास्त्री करते थे किन्तु उनका अलग से कोई वर्ग नहीं था। उनकी संख्या कुछ अधिक नहीं थी और न ही अधिक प्रतिष्ठित एवं धनी होते थे।

न्यायालय की समस्त कार्यवाही राजा के नाम से की जाती थी चाहे वह न्यायालय में उपस्थित रहे अथवा न रहे। न्यायालय द्वारा जब किसी व्यक्ति को आहूत किया जाता था तो इसके लिए राजा की मुद्रा से अंकित आज्ञापत्र भेजना होता था। कानूनों की क्रियान्विति का दायित्व धर्म शास्त्रों द्वारा राजा पर डाला गया है। राजा केन्द्रीय न्यायालय का प्रधान होता था तो भी वह न्यायिक प्रशासन का विधि के नियन्त्रण में रहकर ही करता था। निर्णय लेने में वह स्वेच्छाचारी नहीं बन सकता था और न ही अकेला वह निर्णय लेता था। स्थानीय या गैर सरकारी या वर्गीय न्यायालयों को निर्देश देते समय भी वह स्वेच्छा पूर्ण व्यवहार न करके कानून के अनुसार ही कार्यवाही करता था। विभिन्न न्यायिक पदाधिकारियों की वह नियुक्ति करता था किन्तु उनकी योग्यताओं के निर्धारण में उसका हाथ नहीं था। न्यायालय के नियमों का वह उल्लंघन नहीं कर सकता था।

कौटिल्य द्वारा न्यायिक प्रक्रिया के सम्बन्ध में कई एक बातों का विस्तार के साथ उल्लेख किया गया है। यह कहा गया है कि यदि बयान देते समय कोई व्यक्ति प्रसंग को छोड़ कर अप्रासंगिक बयान देने लगता है अथवा दूसरे के अमान्य कथन पर अत्यधिक जोर देता है, ऋण लेने के स्थान आदि को शपथ लेने के बाद पूछने पर भी नहीं बताता, स्थान ठीक बताते हुए भी ऋण लेने की बात को अस्वीकार करता है तो ऐसा व्यक्ति हार जायेगा। कौटिल्य के अनुसार अभियोक्ता को किसी प्रश्न का जवाब मांगे जाने पर तुरन्त ही जवाब देना चाहिए। यदि वह ऐसा नहीं करता तो हारा हुआ माना जायेगा क्योंकि यह आशा की जाती है कि पूरी तरह से तैयार होने के बाद ही उसने दावा किया होगा।

न्यायिक प्रशासन में निष्पक्षता की स्थापना के लिए कुछ अन्य नियम भी बनाये गये थे। न्यायपालिका के सदस्यों द्वारा वादी अथवा प्रतिवादी से उनके व्यक्तिगत जीवन के बारे में कुछ भी नहीं पूछा जा सकता था। उनसे एकान्त में कोई वार्तालाप नहीं किया जा सकता था। कौटिल्य के अनुसार यदि वे ऐसा करते हैं तो इसके लिए उनको अर्थदण्ड एवं शारीरिक दण्ड दिया जा सकता था। सभ्यों के द्वारा यदि कानून के विरुद्ध या मित्रता, लोभ आदि के वशीभूत होकर निर्णय किया जाता तो उनको दण्ड देने की बात कही गई। कौटिल्य ने प्रचेष्ठा तथा धर्मस्थों पर दृष्टि रखने के लिए गुप्तचरों की विशेष व्यवस्था की है। अपराध ज्ञात होने पर उनको देश निकाले का भी विधान किया गया है।

निर्णय प्रायः न्यायाधीशों के बहुमत से लिए जाते थे। सभा की कार्यवाही को देखने वालों की योग्यताएं भी निर्धारित थीं। कुल, श्रेणी एवं

पूग के प्रतिनिधि, वणिक तथा अन्य व्यावसायिक संगठन के प्रतिनिधि, धनी, कुलीन एवं शीलवान आदि को न्याय सुनने तथा देखने का अधिकार था।

निष्कर्ष

प्राचीन भारत में न्याय व्यवस्था का संगठन केन्द्रीय एवं स्थानीय स्तरों पर किया गया था। केन्द्रीय स्तर पर राज सभा होती थी। इससे पूर्व न्यायिक कार्य परिषद द्वारा सम्पन्न किया जाता था। स्थानीय स्तरों पर न्यायिक कार्य सम्पन्न करने के लिए कुल, श्रेणी एवं पूग न्यायालयों की व्यवस्था की गई थी। न्यायालयों के संगठन, प्रक्रिया एवं अन्य समस्त नियमों को इस प्रकार रखा गया था कि निर्णय की निष्पक्षता बनी रहे और अपराधी की खोज की जा सके।[1] अपराधी को उसके अपराध के अनुसार ही दण्ड दिया जाता था। ऐसा करते समय अपराधी की जाति, उम्र, परिस्थिति आदि का भी पर्याप्त ध्यान रखा जाता था।

प्राचीन भारतीय न्यायालयों में न्याय व्यवस्था का संचालन जिन धर्म अथवा विनियमों के द्वारा किया जाता था, वे प्राय. परम्परा पर आधारित होते थे। वास्तविक व्यवहार द्वारा उनकी रक्षा की जाती थी। इनमें से कुछ का सम्बन्ध पारिवारिक जीवन से था, अन्यथा सामाजिक जीवन से। इन नियमों को आरम्भ मे आसानी से बदला जा सकता था, किन्तु धर्मशास्त्रों का भाग बनने के बाद से इन नियमों में परिवर्तन करना कठिन हो गया। भारत मे अन्य देशों की भांति धर्म का वही रूप था जो कि शास्त्रों द्वारा स्थापित किया गया। यह धर्म किसी वर्ण विशेष का ही साधन नहीं था वरन् इसके नियम प्रत्यक्ष आचार पर आधारित थे। प्रो० अलतेकर का कहना है कि "प्राचीन भारत के न्यायालयों द्वारा कार्यान्वित किये जाने वाले विधि नियम किसी विधान सभा या पार्लियामेंट द्वारा स्वीकृत कानून नहीं थे। वे प्राय. सदाचार एवं रूढ़ि पर प्रतिष्ठित थे। वे सदा के लिए निश्चित किये हुए य धर्म शास्त्र में लिखे गये नियम थे।" इन नियमों में परिवर्तन न तो राजा की इच्छा से हो सकता था और न संसद के अनुसार धर्म परम्पराओं के माध्यम से उनमें धीरे धीरे परिवर्तन किये जाते थे। कुछ कानून तो स्पष्ट रूप से धर्म के उद्देश्य की साधना करते थे। उदाहरण के लिए जो व्यक्ति किसी निरपराध व्यक्ति पर चोरी का अपराध लगाता था या जो चोर को छुपाता था, उसे भी चोरी का दण्ड देने के लिए कहा गया है। अधिकांश फौजदारी मुकदमें चोरी से संबंधित होते थे।

यद्यपि प्राचीन भारतीय राजतन्त्र में संसद या कांग्रेस या अन्य कोई सवैधानिक तत्व नहीं था, तो भी ऐसा प्रतीत नहीं होता है कि उस समय का कानून स्वेच्छापूर्ण, अन्यायपूर्ण एवं अव्यवस्थापूर्ण था। कानून निर्माताओं एवं

---

1 All our authorities insist that the trial should be conducted impartially, skillfully and using every method to ensure that dharma and the fullest justice is reached

—John W. Spellman, op. cit,, P. 128

राजा से यह आशा की जाती थी कि वह सभी के कल्याण के लिए प्रयास करे। जॉन स्पैलमैन (John Spellman) का कहना है कि "राजा धर्म का संरक्षक था और दण्ड की सहायता से शासन करता था। सिद्धान्त रूप से न्यायिक व्यवस्था जनता की प्रसन्नता एवं कल्याण को प्रोत्साहित करने के लिए की गई थी।" [1]

प्राचीन भारत में कानून
[The Law in Ancient India]

प्राचीन भारत में कानून राज्य व्यवस्था का आधार था। प्रारम्भिक वैदिक काल में ही ऋतु के रूप में विधि एक सर्वोच्च शक्ति थी जिसके आधार पर समाज का संगठन किया गया। उस समय का कानून समाज का आदेश था और कल्याण का साधन भी। राज्य की उत्पत्ति कानून का पालन कराने के लिए थी। राज्य को कभी भी सामाजिक शक्तियों से ऊपर नहीं माना गया। वह कानून के द्वारा नियंत्रित होता था जो कि एक प्रकार से सामाजिक आचार के व्यावहारिक नियम थे।

पाश्चात्य विचारक विधि या कानून को मानव कृत मानते हैं। उनके मतानुसार यह सम्प्रभु की इच्छा है। इस आधार पर मूल्यांकन करते हुए नेल्सन आदि विचारकों ने माना है कि भारत मे विधि का कोई अस्तित्व ही नहीं था। यह मत अतिश्योक्तिपूर्ण है तथा गलत विचारों पर आधारित है। सचतो यह है कि जिस कानून के माध्यम से शासक शासन करता है वह कभी भी शासन का परिणाम नहीं हो सकती। सम्प्रभु के रूप मे राजा कानून से उसी प्रकार नियन्त्रित होता था जिस प्रकार कि जन साधारण। वेदों में विधि के लिए 'ऋत' शब्द आया है किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों में इसका स्थान 'धर्म' शब्द ने ले लिया। राजा को धर्म का संरक्षक माना गया। वेदों के अनुसार विधि एवं न्याय के प्रशासक मित्रावरून है। दीर्घतमा ने विधि को दैवीय शक्ति से भी ऊपर माना है। ये एक प्रकार से दैवी शक्तियां हैं जिनका उद्देश्य मानव कल्याण है। विधि के द्वारा मानव की ध्वंसात्मक शक्तियों का सन्तुलन कर के उन्हें मानव हित की ओर प्रसारित किया जाता है। इस प्रकार वैदिक काल की विधि का स्वरूप सत्य, कल्याण और धर्म से पूर्ण है। वह सर्वोच्च शक्ति द्वारा निर्मित नहीं है वरन् स्वयं सर्वोच्च शक्ति है। विधि के परे कोई व्यक्ति नहीं हो सकता, परे होने पर वह नष्ट हो जायेगा। विधि की दूसरी विशेषता यह है कि वह अपरिवर्तित एवं दृढ़ है। वैदिक काल के ऋषि विधि के परिवर्तित स्वरूप को स्वीकार नहीं करते। उस काल की विधि नैतिकता एवं धर्म के बीच तादात्म्य था।

---

1. The king was the Guardian of Dharma, and ruled by the aid of Danda. In theory, at any rate, the judicial system was organised to promote the happiness and welfare of the people.

—John W. Spellman, P. 131

वैदिक काल में विधि के दो आधार माने गये—इसका प्रकाशन दैवी रूप से होता है और इसका उद्देश्य कल्याण की स्थापना करना है। भारतीय विधि दैवी इच्छा पर नहीं वरन् दैवी विवेक पर आधारित थी। विधि का दैवी आधार मानने का तात्पर्य केवल यह था कि वह मानवीय दुर्गुणों एवं क्षुद्र स्वार्थों से परे रहे। विधि का आधार समानता की अपेक्षा उपयोगिता एवं कल्याण माना गया है। ग्रन्थों से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि भारतीय कानून का आधार मूल रूप से कल्याण है किन्तु उपयोगिता को उससे दूर नहीं किया गया है। दूसरे शब्दों में वह लौकिक एवं पारलौकिक दोनों तत्वों का एक सन्तुलित रूप बन गई है।

प्राचीन भारतीय न्याय व्यवस्था में विधि को सर्वोच्च माना गया है। धर्म सूत्रों में भी यह परम्परा बनी रही। राज्य के कानून के मुख्य रूप से दो स्रोत माने गये—वेद तथा उस पर आधारित धर्म शास्त्र और विभिन्न स्थानीय सामाजिक तथा आर्थिक संगठनों की व्यवस्था परम्परा एवं व्यवस्था। यद्यपि विधि का प्रशासन राजा के द्वारा किया जाता था किन्तु यह केवल राजा की ही वैधानिक सीमा में नहीं था, उसके साथ तर्क, हेतु, आगम और दृष्टांत के व्याख्याकार ब्राह्मण भी होते थे।

कानून की प्रकृति
[The Nature of Law]

प्राचीन भारतीय कानून का स्वरूप धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक परम्पराओं और आचारों से पर्याप्त प्रभावित था। प्राचीन भारतीय आचार्यों ने कानून के सम्बन्ध में समाज शास्त्रीय दृष्टिकोण को अपनाया और इसलिए परिस्थितियों के प्रभाव को स्वीकार किया। समाज कभी भी पूर्ण नहीं होता। वह परिवर्तन एवं विकास की एक अविरल धारा है। कानून के व्याख्याकारों ने समय-समय पर कानूनों की आवश्यकता, स्थायित्व, परिवर्तन एवं मांग के साथ सन्तुलन स्थापित किया। इसका अर्थ यह नहीं कि प्राचीन भारत का कानून केवल समझौता मात्र था और सामाजिक शक्तियों के परिवर्तन के साथ अपने आप को भी बदल देता था, इसके विपरीत वह सामाजिक शक्तियों का नियामक भी था। परिवर्तन के साथ साथ मूल रूप की सुरक्षा भारतीय कानून की एक मुख्य विशेषता है। देशकाल की परिस्थितियों के अनुसार यद्यपि देश के कानूनों में समय-समय पर परिवर्तन होते रहे किन्तु फिर भी उसने अपने मूल रूप को नहीं छोड़ा। कुल मिलाकर वैदिक काल की विधि को सत्य का समग्र रूप कहा जा सकता है। इसमें मानवीय कल्याण, उपयोगिता दृढ़ता एवं लक्ष्य आदि को समाविष्ट किया गया। यह किसी सर्वोच्च शक्ति द्वारा निर्मित नहीं मानी गई है वरन् यह माना गया है कि सभी अपने व्यवहार पर निर्धारण इसके आधार पर करते हैं।

कानून के स्रोत
[The Sources of Law]

कानून अथवा विधि का स्वभाव क्रमबद्ध, स्थिर तथा निश्चयात्मक था

जबकि सामाजिक शक्तियां गतिमान-विकासशील एवं अस्थिर होती हैं। दोनों के मध्य स्थित इस विरोधाभास को दूर करना ही भारतीय विधि का मूल कारण था। दोनों के बीच की असंगति को दूर करने के लिए सामाजिक विधि को नैसर्गिक विधि पर आधारित किया गया और नैसर्गिक विधि का सामाजीकरण कर दिया गया। इस प्रकार निर्मित विधि को वेदों के रूप में संहिताबद्ध कर दिया गया। वेदों को कानूनों का प्रथम स्रोत माना जाता है। बाद में चलकर विधि के स्रोत केवल वेद न रहकर स्मृति और देश, कुल, जाति आदि के आचार भी बन गये। चाणक्य सूत्र में व्यवहार को धर्म से भी अधिक महत्वपूर्ण माना गया है। अधिकांश भारतीय आचार्य केवल वेद को ही विधि का स्रोत नहीं मानते। कुछ ने तो व्यवहार एवं आचार को वेदों से भी अधिक महत्व प्रदान किया है। मनु के अनुसार श्रुति, स्मृति और सदाचार के साथ साथ आत्म प्रेरणा या आत्मतुष्टि भी कानून का स्रोत है। वशिष्ट ने वेद के समान ही स्मृति को भी सम्मान दिया है। याज्ञवल्क ने मनु द्वारा समर्थित समस्त स्रोतों को स्वीकार किया है। उनके समय तक के ग्रन्थों में श्रुति को विधि का मूल स्रोत माना गया है, उसके बाद स्मृति, शिष्टाचार, परिषद, इतिहास, पुराण, न्याय मीमांसा आदि का स्थान है।

विधि के समस्त स्रोतों का विश्लेषण करने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि इनका विकास दो रूपों में हुआ—प्रथम श्रुति तथा उस पर आधारित धर्म ग्रन्थ और द्वितीय विभिन्न समाजों के आचार एवं परम्परायें।

१. वेद

कानून के स्रोतों में वेद का नाम सर्वप्रथम लिया जा सकता है। वेद अर्थ ज्ञान है। मीमांसाकारों ने उसे स्वयं उत्पन्न अपौरुष से एवं स्वतः प्रमाण सिद्ध करने का प्रयास किया है। मीमांसक वेद को पांच भागों में बांटते हैं—विधि, मंत्र, नामधेय, निषेध और अर्थवाद। वैदिक साहित्य में उसकी चारो संहिताओं के अतिरिक्त ब्राह्मणों, आरण्यकों एवं उपनिषदों को लिया जाता है। वेद के ये विभिन्न अंग भी कानून का स्रोत हैं। वेद के अनेक अंश अप्राप्य हैं। इसलिए जिस कानून का स्रोत वेदों में प्राप्त नहीं होता उसको लुप्त शाखाओं पर आधारित माना जाता है। मि० हरिहरनाथ त्रिपाठी के शब्दों मे—"यह सत्य है कि भारतीय समाज में उपलब्ध मूलभूत विधियों का आधार वेदों में उपलब्ध होता है। प्रारम्भ में विधि के लिए वेद ही एकमात्र प्रमाण थे और अन्य प्रमाण उसके पूरक थे। लेकिन आगे चलकर स्मृतियां, सभ्याचार, वेदज्ञ और परिषद भी विधि के स्रोत में समान स्तरीय महत्व प्राप्त करने लगे।"

वेद यद्यपि कानून के प्रथम स्रोत हैं किन्तु बाद में चलकर वे स्रोत न होकर केवल आधार मात्र बन गये। स्मृतियों में अनेक अंश ऐसे हैं जिनका आधार हम वेदों को मान सकते हैं किन्तु उनका स्रोत वेद नहीं है।

२. स्मृतियां

स्मृतियां कानून का दूसरा महत्वपूर्ण स्रोत है। स्मृति का अर्थ वेद के जानने वालों का स्मरण है। धर्मशास्त्रकारों द्वारा कानून के स्रोत के रूप में

वेदज्ञों के व्यवहार व स्मृति को महत्व दिया गया है। स्मृतियां वेदों पर आधारित हैं, व वेदज्ञ पुरुषों को याद रहती थी तथा साथ ही इनसे प्रकट होता है कि समाज के आधार परम्परा के माध्यम से वेदों के साथ समन्वित होते थे। दूसरे शब्दों में स्मृतियां वेद और उसकी परम्परा का समाज के आचार के साथ समन्वय करने वाली कड़ी हैं। स्मृतियां किसी एक समय की रचना नहीं हैं व समय समय पर तैयार की गई। उनकी संख्या तक भी निश्चित नहीं है। स्मृतियां गद्य तथा पद्य दोनों रूप में प्राप्त हैं। स्मृतियों का आधार वेद है। स्मृतिकार के रूप में मनु का महत्व इसलिए माना जाता है कि वे वैदिक परम्परा के अत्यन्त निकट थे। कुमारिल स्वामी का कहना है कि स्मृतियां स्मृतिकारों की भाषा में बिखरी हुई शाखाओं का संकलन है। स्मृतियों के अध्ययन करने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि स्मृतिकारों ने समाचार आदि को वैदिक अनुशासन में रखने का प्रयास किया।

कहीं कहीं वेद और स्मृति में भेद भी परिलक्षित होता है। यह भेद अथवा विरोध स्वाभाविक है, क्योंकि स्मृतियां वेद की अपेक्षा सदाचार पर भी आधारित हैं। इस विरोध को दूर करने के लिए परम्परावादी आचार्यों ने पर्याप्त विचार किया। कुमारिल स्वामी ने स्मृति को पांच भागों में विभाजित किया है। ये हैं—दृष्ट, अदृष्ट, दृष्टादृष्ट, न्याय और शिष्टाचार मूलक। इस विभाजन से स्मृति का क्षेत्र पर्याप्त व्यापक हो जाता है। स्मृतियों ने समाज की परम्पराएं, रीति रिवाज, व्यवहार, आचार एवं सदाचार को संहिताबद्ध करने में स्मृतियों की परम्परा का समन्वय करने का प्रयास किया है। स्मृतियों ने अवैदिक या वेद विरोधी आचारों को कानून का स्रोत नहीं बनने दिया। टीकाकारों ने भी इस बात का ध्यान रखा है कि वैदिक परम्पराओं को व्यवहार में लाते समय देश और काल के प्रभाव को ध्यान में रखा जाए।

३ सदाचार

सदाचार कानून का एक अन्य महत्वपूर्ण स्रोत है। यह आचार परंपरा और अभिसमयों के माध्यम से कानून का आधार बन जाता है। सदाचार का प्रभाव, वेदों, स्मृतियों तथा राज्य की विधियों पर समय-समय पर पड़ता रहा है। कात्यायन के मतानुसार सदाचार वह है जो कि किसी क्षेत्र विशेष में व्यवहृत हो, उसकी एक लम्बी परम्परा हो और वेद एवं स्मृति से उसका विरोध न हो। सदाचार का आधार शिष्ट जनों का आचार माना गया है। भारतीय न्यायपालिका ने देश, काल एवं समाज के आचार को सदाचार माना है तथा उसे वैदिक परम्परा पर स्थिर रखने का प्रयास किया है।

भारत में अवैदिक जातियां थी, उनका अपना आचार था। इसका प्रभाव भारतीय न्यायपालिका और विधि के स्रोतों पर भी पड़ा। स्थान विशेष के अनुसार तथा वैयक्तिक, धार्मिक, कौटुम्बिक आदि तत्वों के आधार पर इन आचारों का रूप बदलता रहा। इस प्रकार के आचार सर्वव्यापक नहीं हो सकते थे। इनका वेद तथा स्मृति पर आधारित होना भी आवश्यक नहीं था ताकि यह उनके विरुद्ध न हो।

राजा का यह कर्तव्य माना जाता था कि जाति कुल श्रेणी आदि के आचारों के अनुसार विभिन्न मुकदमों का निर्णय करें। स्थानीय आधार पर आचारों के बीच विरोध भी पैदा हो जाता था, जब कभी देश, जाति, संघ या निगम के आचारों में परिवर्तन होता तो राज्य उन्हें ऐसी ही मान्यता देता था जैसी कि शिष्टों के आचार को। श्रुति एवं स्मृति के विपरीत किसी आचार को मान्यता न देने की बात कहने वाले याज्ञवलक ने भी स्थानीय आचारों को राज्य के कानूनों द्वारा क्रियान्वित करने की अनुमति प्रदान की है। शास्त्रकारों की मान्यता थी कि कोई भी आचार सार्वभौमिक नहीं हो सकता इसलिए विभिन्न प्रकार के आचारों को राज्य द्वारा मान्यता प्रदान की गई। कई एक आचार ऐसे थे जो कि सार्वभौम नैतिकता के विपरीत होते हुए भी परम्परागत थे। राज्य को उनके व्यवहार की स्वतन्त्रता देने के लिए कहा गया। यह कहा गया कि राज्य को एक सार्वभौम नैतिकता का प्रचार करना चाहिए ताकि अनैतिक आचारों को नैतिक मानने वाली जातियां, अपने व्यवहार में स्वयं ही संशोधन करलें। कौटिल्य ने यह मत प्रकट नहीं किया है। उनका विचार है कि राज्य कहीं भी सार्वभौम नैतिकता को स्वीकार न करें। बृहस्पति का मत है कि अनैतिक जाति या आचारों के विपरीत राज्य शक्ति का प्रयोग करने से क्रान्ति का भय रहता है इसीलिए उन्हें व्यवहार का अवसर दिया जाय। असल में राज्य को सदाचार के नियन्त्रण का अधिकार नहीं था वह केवल उनके पालन के लिए वातावरण प्रस्तुत कर सकता था, ऐसा करते समय वह जनता की स्वतन्त्रता व राष्ट्रीय नैतिकता का ख्याल रखता था।

४ आत्मतुष्टि

मनु के काल तक श्रुति स्मृति और सदाचार के साथ आत्मतुष्टि को भी कानून का स्रोत माना जाने लगा। आत्म तुष्टि का अर्थ उस कार्य से है जिसके सम्बन्ध में एक व्यक्ति की आत्मा की सहमति है। श्रुति, स्मृति एवं सदाचार के बीच कभी कभी इतना विरोधाभास एव असंगति दिखाई देती थी कि जिसे दूर करना कठिन बन जाता था। ऐसी स्थिति में यह कहा गया कि निर्णय आत्मतुष्टि से करना चाहिए। निर्णय का यह आधार अन्तिम हथियार के रूप में था, जिसका प्रयोग तभी करने को कहा गया जबकि श्रुति, स्मृति तथा सदाचार निर्णय लेने में असमर्थ हों। विचारकों का कहना है कि आत्म तुष्टि को विधि का स्रोत मानने की अपेक्षा सन्देह निवारण का साधन मानना अधिक उपयुक्त रहेगा।

५. अन्य स्रोत

विधि के उपर्युक्त स्रोतों के अतिरिक्त कुछ अन्य स्रोत भी हैं जिन्हें हम स्रोत के स्थान पर साधन कहें तो अधिक उपयुक्त रहेगा। शिक्षा, कल्पसूत्र, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष और मीमांसा आदि के द्वारा विधि की व्याख्या का काम किया जाता है और इस प्रकार वे विधि के क्षेत्र को बढ़ाने में महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। इनके अतिरिक्त इतिहास और पुराण ने भी कानून के क्षेत्र को बढ़ाने में योगदान किया है। इनमें दी गई कुछ कहानियां वेदों पर

आधारित है और कुछ में अपने देश और काल की स्थिति का चित्रण किया गया है। इतिहास में महाभारत और रामायण विशेषतः उल्लेखनीय हैं। निबन्धों तथा टीका ग्रन्थों को भी सहायक स्रोत के रूप में माना जाता है। अवैधिक सम्प्रदायों के अतिरिक्त पाशुपत, शैव और योगियों जैसे अनेक सम्प्रदाय थे जिनके आचार अवैधिक थे किन्तु वे उन्हें वैधिक मानते थे।

भारतीय आचार्यों ने देश काल एवं परिस्थितियों के अनुसार ही विधि के स्वरूप को माना है। विज्ञानेश्वर का स्पष्ट कथन है कि समाज द्वारा स्वीकार की जाने वाली विधियां ही मान्य होनी चाहिए। वैधिक होने पर भी यदि कोई विधि समाज द्वारा स्वीकृत है तो उसे प्रमाणिक नहीं माना जा सकता। कानून की व्याख्या करने तथा उसे परिस्थितियों के अनुकूल ढालने में परिषद का महत्वपूर्ण हाथ रहा है। गौतम का मत है कि जहां पर कोई विधि ज्ञात न हो उसमें दस के दस ब्राह्मणों की परिषद प्रमाण मानी जायेगी। परिषद के द्वारा धर्म शास्त्रों के नियमों का अर्थ स्पष्ट किया जाता था। परिषद के सम्बन्ध में मनु स्मृति का कहना है कि स्मृतियों में बताये गये धर्म के विषय में यदि कभी शंका हो तो जिसे शिष्ट ब्राह्मण कहें उसी को शंका रहित होकर धर्म समझना चाहिये। परिषद के सदस्य ब्राह्मण वेदों के जानने वाले तथा न्याय, तर्कशास्त्र निरुक्त आदि में निपुण होने चाहिये। व्रतों का पालन न करने वाले वेदों से अनभिज्ञ और केवल जन्म से ब्राह्मण कहे जाने हजार व्यक्ति भी यदि एकत्रित हो जाए तो भी उन्हें परिषद नहीं कहा जा सकता। परिषद को एक प्रकार से व्यवस्थापिका सभा कहा जा सकता है क्योंकि धर्म शास्त्रों के नियमों को तत्कालीन परिस्थितियों में लागू करने का अधिकार इसी को था। यह संस्था धर्म शास्त्रों के नियमों में परिवर्तन नहीं कर सकती थी। यह केवल इतना ही कर सकती थी कि नयी परिस्थिति के अनुसार इन नियमों को लागू करने का मार्ग बतायें। सीमित विधायनी अधिकारों से युक्त यह संस्था न तो राज्य का अंग थी और न ही राज्य व्यवस्था के आधीन थी।

कानून और स्वतन्त्रता
(Law and Liberty)

भारतीय आचार्यों ने कानून के जिस रूप का प्रतिपादन किया उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने स्वतन्त्रता के सकारात्मक रूप को अपनाया। उन्होंने स्वतन्त्रता के नकारात्मक और सकारात्मक रूप के बीच उपयुक्त समन्वय स्थापित किया। केवल नकारात्मक स्वतन्त्रता से सामाजिक कल्याण की सिद्धि नहीं की जा सकती थी। भारतीय विचारक व्यक्ति को व्यवहार की पर्याप्त स्वतन्त्रता देना चाहते थे परन्तु साथ ही वे उन पर कानून का प्रतिबंध लगाने के पक्ष में भी थे। उन्होंने व्यक्ति के विकास और सामाजिक कल्याण के बीच विचित्र समन्वय किया। वे मनुष्य के दुर्गुणों से अपरिचित नहीं थे और न ही उन्होंने असामाजिक तथा समाज विरोधी तत्वों की अवहेलना की किन्तु फिर भी उन्होंने उनको मान्यता प्रदान नहीं की। वातावरण और शिक्षण के माध्यम से व्यक्ति के गुणों के प्रसार का प्रयास किया गया। भारतीय आचार्यों ने

मनुष्य की पाशविक और दैवी कृतियों के अस्तित्व को स्वीकार करके स्वतन्त्रता के रूप का निर्धारण किया। उनका मत था कि व्यक्ति उचित वातावरण और प्रशिक्षण के माध्यम से अपनी कृतियों में परिवर्तन कर सकता है। उन्होंने अधिकार को अपेक्षा कर्त्तव्य पर अधिक बल दिया। ये कर्त्तव्य व्यक्ति पर निरंकुशता से नहीं लादे गये, वरन् इनके पीछे सामाजिक विचार, सदाचार, नैतिकता, आदि की भावनाएं वर्तमान थीं। मनुष्य के कर्त्तव्यों का निर्धारण इस रूप में नहीं किया गया कि उसके सारे अधिकार ही लुप्त हो जाए। भारतीयों ने पुण्य का समर्थन किया है, इसलिए उन्होंने मनुष्य स्वभाव को मूलतः पवित्र तथा सामान्य माना है। उनका मत था कि सभ्य एवं उचित व्यवहार से युक्त कर्त्तव्य में ही स्वयं के तथा अन्य व्यक्तियों के अधिकार निहित रहते हैं।

उपनिषदों में स्वतन्त्रता से सम्बन्धी आध्यात्मिक विचार प्रस्तुत किये गये है। उन्होंने स्वतन्त्रता को समस्त भौतिक एवं इन्द्रीय सुख साधनों से ऊपर उठा हुआ माना है। इसका अर्थ यह नहीं था कि वे व्यक्ति की अर्थ और काम की प्रवृतियों को अस्वीकार करते थे। असल में उन्होंने इनका वैध उपभोग ही स्वीकार किया है। उनकी यह मान्यता थी कि प्रत्येक व्यक्ति विवेक, तर्क, बुद्धि एवं चिन्तन के द्वारा अच्छे और बुरे के बीच भेद कर सकता है। यदि जानते हुए या अनजाने में ही कोई व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता का स्वयं के विकास एवं समाज के कल्याण के विपरीत प्रयोग करे तो उसे कानून के द्वारा ऐसा करने से रोका जाता था। इस प्रकार कानून व्यक्ति की महत्वाकांक्षा का अन्य के साथ समन्वय स्थापित करता था। उसे हम मर्यादा स्थापक कहते हैं। कठोपनिषद ने श्रेय तथा प्रेय के बीच भेद माना है। स्वतन्त्रता की प्राप्ति इसी में है कि श्रेय को प्राप्त किया जाये और प्रेय को नियन्त्रित किया जाये।

कानून और समानता
[Law and Equality]

कानून से सम्बन्धित प्राचीन भारतीय विचारों में समानता का जो स्वरूप प्रदर्शित किया गया है वह अत्यन्त ही विवाद का विषय है। आचार्यों की धारणा थी कि असमानता व्यक्ति के स्वभाव में ही निहित है। व्यक्ति दूसरों के व्यवहार को प्रभावित करना चाहता है। वह कभी परमार्थ, कभी स्वार्थ और कभी शुद्ध बुद्धि से कार्य करता है। कभी-कभी वह केवल अपनी शक्ति को अधिक बढ़ाने के लिए ही व्यवहार करता है। अनेक ऐसे कारण हैं जो कि व्यक्तियों के बीच असमानता का उदय करते हैं। मनुष्यों की प्रतिभा, गुण, क्षमता एवं सम्पत्ति की मात्रा तथा स्तर एक जैसा नहीं होता वरन् इनके बीच पर्याप्त असमानता होती है। मनुष्यों में कोई स्त्री है कोई पुरुष है, कोई युवक है कोई वृद्ध है, कोई प्रतिभावान है कोई दुर्बल है, किसी के पास अनुभव है कोई गैर-अनुभवी है, कोई गुणवान है कोई दुराचारी है, कोई सम्पत्तिवान है कोई गरीब है, इस प्रकार अनेक आधारों पर व्यक्ति और व्यक्ति के बीच अन्तर रहता है। इन अन्तरों के दुष्प्रभाव को रोक या कम किया जा सकता है किन्तु इनको मिटाया नहीं जा सकता।

कानून द्वारा समानता की स्थापना का अर्थ यह नहीं था कि उसके द्वारा इन अन्तरों को मिटाया जाये जो कि मिटाये ही नहीं जा सकते। इसका अर्थ यह था कि जो यथास्थिति है उसे कानून के द्वारा बनाए रखा जाये तथा किसी को भी तोड़ने न दिया जाये। समान वर्ग एवं वर्ण के लोगों को विधि के सामने समान समझा गया। दूसरे वर्ण के लोगों का उनके साथ जो असमानता पूर्ण सम्बन्ध था उसी को सुरक्षित रखकर वह समानता की स्थापना करता था। उस समय गुणों एवं विशेषताओं को वंशानुगत माना जाता था। व्यक्ति का व्यक्तित्व उसके सामाजिक स्तर के आधार पर देखा जाता था। कानून भी इसकी अवहेलना नहीं कर सकता था।

कानून की सर्वोच्चता
[The Supremacy of Law]

प्राचीन भारत में सम्प्रभुता अथवा सर्वोच्चता राजा के पास नहीं थी क्योंकि उसका राजपद, कर संग्रह का अधिकार, देवत्व, सम्पत्ति का स्वामित्व आदि उसने स्वयं संघर्ष करके प्राप्त नहीं किया था वरन् यह सब उसको समाज द्वारा प्रदान किया गया था। सम्प्रभुता राज्य के पास न होकर समाज और कानून के पास रही।

कई एक सामाजिक वर्ग, समुदाय, कानून, परम्परायें, विवाद एवं संगठन ऐसे थे जिन पर राज्य का कोई अधिकार नहीं था। शक्ति का स्रोत समाज था और राज्य उसका साधन था। बहुत से संगठनों को राज्य की केवल यह आवश्यकता थी कि वह उनकी रक्षा करे। कानून तथा सदाचार को लिपिबद्ध करने में राज्य की इच्छा का कोई हाथ नहीं था। कानून बनाना उसके अधिकार की बात न थी वह उनको केवल क्रियान्वित ही कर सकता था। राज्य के विभिन्न अङ्ग थे और वे सभी कानून के दास थे। व्यक्तिगत रूप से किसी भी अङ्ग को प्रमुखता प्राप्त न थी।

प्राचीन भारत के राजनैतिक जीवन का रूप बहुलवादी था। व्यक्ति के व्यक्तित्व की रचना उसके संस्कार, वर्ण, वर्ग परम्परा एवं सामाजिक व धार्मिक संगठनों से होती थी। फलतः वह इन समस्त शक्तियों के प्रति उत्तरदायी था। राज्य उसके विकास में उपयोगी एक संस्था मात्र था, उसे सर्वोच्च नहीं माना गया।

कानून की सर्वोच्चता का आधार व्यक्ति की भौतिक, बौद्धिक एवं नैतिक आवश्यकतायें होती हैं। इसके द्वारा जन कल्याण की स्थापना एवं व्यवस्था की जाती है। राज्य-शक्ति के माध्यम से भी जन कल्याण करने का प्रयास किया गया। भारतीय आचार्यों ने जन कल्याण से विरत राजा की पदच्युति, निष्कासन, अवज्ञा एवं वध तक की व्यवस्था की है। दूसरी ओर चारों वर्णों के लोगों को विशेषाधिकार सौंपे गये। ऐसी स्थिति में हम प्राचीन भारतीय राज्य को उस अर्थ में सम्प्रभु नहीं कह सकते जिस अर्थ में कि बोदां, हॉब्स आदि पाश्चात्य विचारक कहते हैं। वह तो केवल जन कल्याण का एक साधन था और इसी उद्देश्य से शक्ति का प्रयोग कर सकता था। जनसेवा ही उसकी सम्प्रभुता थी।

वस्तुस्थिति का अध्ययन करने के बाद यह कहा जा सकता है कि राजा प्रशासनिक क्षेत्र में प्रधान होता था। किन्तु यह प्रधानता कोई सर्वोच्च नहीं होती। व्यक्ति के अधिकार, अन्तर्राष्ट्रीय कानून, जन सेवा, सामाजिक संगठनों का महत्त्व आदि ने राज्य की सम्प्रभुता को समाप्त कर दिया। न्यायपालिका के स्वरूप का अध्ययन करने पर भी यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारतीय राज्य सम्प्रभु नहीं था। सम्प्रभुता कानून के हाथ में थी और बृहदारण्यक उपनिषद में विधि की जो परिभाषा दी गई है उससे उसकी सर्वोच्चता स्पष्ट हो जाती है। उसमें कहा गया है[1] कि विधि क्षत्र का भी क्षत्र है। विधि से ऊपर कुछ भी नहीं है। विधि के द्वारा ही 'निर्बल' सबल पर शासन करता है। राजा अपनी शक्ति विधि से ही प्राप्त करता है। विधि तथा सत्य दोनों एक हैं तथा दोनों का मूल मानव समाज है। विद्वानों की राय है कि संसार में किसी भी विधिशास्त्री द्वारा इससे बढ़कर कोई परिभाषा नहीं दी गई।

1. बृहदारण्यक उपनिषद्, 1/4/11–14

९

लोक प्रशासन एवं स्थानीय सरकार
(PUBLIC ADMINISTRATION AND LOCAL GOVERNMENT)

लोक प्रशासन
(Public Administration)

प्राचीन भारत में राज्य के प्रशासन की शक्तियां बहुत कुछ राजा के हाथ में केन्द्रित रहती थीं किन्तु मानवीय सीमाओं से युक्त वह एक व्यक्ति अपने समस्त दायित्वों को स्वयं ही पूरा नहीं कर पाता था। प्रो० अलतेकर का कहना है कि "जिस प्रकार ज्ञान केन्द्र को मस्तिष्क के आदेशों को पूरा करने के लिए शरीर के विविध अंगों और इन्द्रियों की आवश्यकता होती है उसी प्रकार सपरिषद राजा के लिए भी केन्द्रीय शासन कार्यालय तथा अनेक कार्याध्यक्षों की आवश्यकता होती है।"[1] प्राचीन भारत में शासन पद्धति का क्रमश विकास हुआ है। वैदिक काल से प्रारम्भ होकर मौर्य काल में इसने अपने विकास की चरम सीमा को छू लिया। वैदिक काल में राजा की सहायता के लिए अनेक अधिकारी हुआ करते थे। मुखिया, सेनापति एवं रथकार आदि का स्थान स्थान पर उल्लेख आता है। तैत्तरीय संहिता एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में ऐसे अनेक अधिकारियों का उल्लेख किया गया है। डा० बेनी प्रसाद के कथनानुसार राजा के चारों ओर उसके सम्बन्धियों, मित्रों एवं मुख्य अधिकारियों का वृत्त रहता था। इनमें से कुछ को राजा रत्निन कहा जाता था। तैत्तरीय संहिता एवं तैत्तरीय ब्राह्मण में इन रत्नों या रत्नियों की पूरी सूची दी गई है। इसमें ब्राह्मण, राजन्य, महिषी, सेनानी, सूत, ग्रामिणी, क्षत्र, संगृहीता, भाग दुघ तथा अक्षवाप आदि को सम्मिलित किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में इनका क्रम कुछ बदल दिया गया है। उसमें पालागल और गो विकर्तन नाम के दो अधिकारियों का उल्लेख है। गो विकर्तन का शाब्दिक अर्थ गौ की हत्या करने वाले से है। सम्भवत यह अधिकारी बूचडखानों का अधीक्षक रहा होगा। पालागल एक प्रकार से सन्देशवाहक अधिकारी था, उसके पद एवं कार्यों के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। बाद में राजकुल के लिए और प्रशासन के लिए अनेक अधिकारियों की

---
1. प्रो० अल्तेकर, पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ १३८

नियुक्ति की जाने लगी। मैत्रेयाणी संहिता में बढ़ई, रथकार एवं शिकारी का नाम लिया गया है। ऋगवेद काल के प्रशासनिक एवं राजमहल के अधिकारियों के बीच कोई स्पष्ट अन्तर निर्धारित नहीं किया गया था। सम्भवतः एक ही व्यक्ति दोहरे उत्तरदायित्वों का निर्वाह करता था।

रामायण और महाभारत में अनेक प्रशासनिक अधिकारियों एवं उनके सम्बन्धित विभागों का उल्लेख मिलता है। युधिष्टर एवं जरासंघ के शासन काल में कोई केन्द्रीय शासन कार्यालय अवश्य रहा होगा, क्योंकि उसके बिना राज्य के व्याप्त उत्तरदायित्वों का निर्वाह नहीं किया जा सकता था। राज्य के कार्यालय का सर्व प्रथम उल्लेख हमको कौटिल्य के अर्थशास्त्र में प्राप्त होता है। इस समय तक प्रशासन पद्धति पर्याप्त विकसित हो चुकी थी। सम्राट् चन्द्रगुप्त और अशोक के शासन काल में प्राचीन भारतीय प्रशासनिक पद्धतियों का विकास अपने चरम स्तर तक पहुंच चुका था। डा० वेनी प्रसाद का कहना ह कि इस समय तक राज्य का औसत आकार बढ़ गया था और इसलिए प्रशासनिक कार्यों का क्षेत्र भी व्यापक बन गया था। राज्य व्यक्ति के जीवन के भौतिक एवं नैतिक समस्त पहलुओं से सम्बन्ध रखता था व उनको अधिक से अधिक आराम देना चाहता था। इन सब कार्यों के निर्वाह के लिये अनेक कार्यालय बन गये और स्थानीय शासन का क्षेत्र विभाजित हो गया। सम्राट और उसके चारों ओर के राजाओं के बीच अनेक प्रकार के सम्बन्धों का विकास हुआ। गुप्तकाल में जाकर इन मौर्यकालीन संस्थाओं का और विकास हुआ किन्तु यह विकास केवल विभागों की संख्या में कमी तथा बढ़ोतरी से सम्बन्धित था। इसमें प्रशासन के आंगिक विकास की गति आगे नहीं बढ़ी। वैदिक काल में राजा द्वारा प्रशासनिक अधिकारियों को जो आज्ञाएं प्रदान की जाती थीं उनका कोई अभिलेख प्राप्त नहीं होता, सम्भवतः उस समय तक या तो लेखन कला का विकास न हुआ होगा और हो भी गया होगा तो वह अधिक लोकप्रिय न बन पायी होगी। राजा अथवा समिति के द्वारा अधीनस्थ अधिकारियों को मौखिक आज्ञाएं प्रसारित की जाती थीं, राज्यों के छोटे आकार के कारण इस व्यवस्था में कोई असुविधा भी नहीं होती थी। वैदिक काल के बाद प्रशासन का विकास किस प्रकार का हुआ इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता।

प्रशासनिक वर्गीकरण
(Administrative Classification)

राज्यों के प्रशासनिक वर्गीकरण उनके आकार के आधार पर किये गये। बड़े-बड़े साम्राज्य, प्रान्तों, जिलों, नगरों एवं ग्रामीण क्षेत्रों में विभाजित थे, जिनके नाम, स्थान एवं समय के अनुसार बदलते रहते थे। छोटे रा्यों को भी कई एक क्षेत्रों में विभाजित किया गया। यह राज्य का क्षेत्रीय विभाजन था। प्रशासनिक दृष्टि से भी राज्य को कई भागों में वर्गीकृत किया गया। वैदिक काल में प्रशासन के विभाग अधिक न थे और जो भी थे, उनके बीच का अन्तर स्पष्ट न था। धीरे-धीरे विभागों की संख्या बढ़ी और उनका अधिकार-क्षेत्र निर्धारित होता गया। प्रशासन के एक ही विभाग में

अनेक अधिकारी एवं कर्मचारी होते थे, इनके पद की योग्यताएं, भरती की व्यवस्था, वेतन, छुट्टियां एवं सेवा की अन्य शर्तें अलग अलग प्रकार से निर्धारित की गई थीं। प्रशासन के एक महत्वपूर्ण अंग के रूप में एक सचिवालय होता था।

प्रशासन के सिद्धान्त
[The Principles of Administration]

प्राचीन भारतीय आचार्यों एवं उनके ग्रन्थों ने प्रशासन के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार के विचार प्रकट किये हैं। उस समय पद-सोपान के सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप दे दिया गया। प्रशासन के विभिन्न विभागों एवं उप विभागों के बीच समन्वय स्थापित किया गया था। अधिकारियों की विभिन्न श्रेणियां थीं किन्तु वे एक पद सोपान में रहकर समन्वित रूप से कार्य संचालन करते थे। सालेटोर ने प्राचीन भारत की प्रशासनीय व्यवस्था को समन्वित कहा है जिसके अन्तर्गत राज्य के विभिन्न क्षेत्रों में अलग अलग अधिकारी नियुक्त किये जाते थे, जिनके बीच सूचना एवं आदेश का प्रसारण आवश्यकता के अनुसार होता रहता था। देहाती एवं शहरी क्षेत्रों में राजा द्वारा विभिन्न अधिकारी नियुक्त किये जाते थे। इन सभी के कार्यों का निरीक्षण करने के लिए एक मन्त्री होता था। इस प्रकार केन्द्रीय कृत प्रशासनिक व्यवस्था में समन्वय की स्थापना का प्रयास किया गया। चन्द्रगुप्त मौर्य और अशोक के शासन काल में इस प्रकार की व्यवस्था का अस्तित्व था।

भारतीय आचार्यों का यह विश्वास था कि प्रशासनिक कुशलता के लिए एक ही पद पर तीन अधिकारी नियुक्त नहीं किये जाने चाहिये, ऐसा करने से उनके बीच विरोधाभास एवं असंगतियां उत्पन्न होने का भय रहता है। कहने का अर्थ यह है कि उन्होंने प्रशासन के कार्य का संचालन करने के लिए मण्डल की सिफारिश नहीं की। मण्डल को केवल एक परामर्शदाता निकाय के रूप में काम में लिया गया है। अशोक के शासन काल में सम्राट एवं प्रान्तीय गवर्नरों को परामर्श देने के लिए मण्डल एवं परिषद होती थी। इस परिषद में उच्च प्रशासनिक अधिकारी सम्मिलित होते थे। प्रशासनिक निर्णय लेने में मण्डल के प्रयोग की सिफारिश की गई, किन्तु क्रियान्विति में उसे अनुपयुक्त माना गया है।

प्रशासन में पर्यवेक्षण एवं नियन्त्रण के सिद्धान्त को पर्याप्त महत्व प्रदान किया गया। आचार्यों ने सरकारी सेवकों एवं कर्मचारियों के कार्यों का निरीक्षण करने पर जोर दिया है। कई एक ग्रन्थकारों ने इस बात पर जोर दिया है कि राजा और अन्य अधिकारी अपने अधीनस्थों का निरीक्षण करने के लिए दौरे करते रहें। मनु का कहना है कि राज्य के कर्मचारी स्वभाव से ही अत्याचारी एवं घूसखोर होते हैं, इसलिए राजा को चाहिए कि वह राज्य में भ्रमण करके प्रजा के दुख दर्द की जानकारी करता रहे। महाभारत के शान्तिपर्व, अग्निपुराण, शुक्र नीति एवं कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी यह माना गया है कि मनुष्य का मन हमेशा एक जैसा नहीं रहता और वह

अनेक प्रकार के गलत तरीके अपनाने में संकोच नहीं करता, इसलिए कर्मचारियों की निरन्तर परीक्षा होती रहनी चाहिए। कौटिल्य ने इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए गुप्तचरों की व्यवस्था की है, जिनके माध्यम से कर्मचारियों के गुणों एवं दोषों का पता लगाया जा सकता है। महिला गुप्तचरों के द्वारा उनके घरों की जांच की जाती है तथा अनेक प्रकार से उनके गुप्त धन का पता लगाया जाता है। गुप्तचर नौ प्रकार के बताये गये हैं जिनका वेश तथा कार्य अलग-अलग होता है। कौटिल्य की सलाह है कि राजा अपने मंत्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, द्वारपाल, समाहर्ता एवं नायक आदि के पास अपने गुप्तचर भेजे तथा उनकी देशभक्ति, ईमानदारी एवं जन-कल्याण की भावना का पता लगाए। राजा के द्वारा उच्च माध्यम और निम्न प्रकार के अन्य गुप्तचरों, प्रतिवेदक तथा निरीक्षक नियुक्त किये जाते थे। ये सभी राजा को जनता से सम्बन्धित विभिन्न विषयों की जानकारी प्रदान करते थे। शुक्र का कहना है कि प्रजा के दुखों तथा राजा के प्रति उनकी भक्ति का पता लगाने के लिए स्वयं राजा अथवा किसी अन्य उच्च अधिकारी को वार्षिक दौरे का कार्य बनाना चाहिए। राजा द्वारा इस सभा का व्यवहार में पालन किया जाता था। प्रान्तों की स्थिति का पता लगाने के लिए वहां केन्द्रीय सरकार के अपने वृत्त लेखक रहते थे, इन पर स्थानीय अधिकारियों का नियन्त्रण होता था। इनके माध्यम से जिस प्रान्तीय अधिकारी के विरुद्ध सूचना प्राप्त होती थी, उससे राजधानी में बुलाकर पूछताछ की जाती थी। यदि अधिकारियों से सम्बन्धित सूचना गलत होती थी तो गुप्तचरों को दण्ड दिया जाता था। गुप्तचर एक दूसरे से अपरिचित रहते थे। एक गुप्तचर द्वारा दी गई सूचना जब दूसरे गुप्तचर द्वारा दी गई सूचना से पुष्ट हो जाती थी, तब उस पर सरकार द्वारा कार्यवाही की जाती थी। प्रो० अलतेकर के कथनानुसार अनेक राज्यों में विशेष निरीक्षक भी नियुक्त किये जाते थे। कर्नाटक राज्य में इस प्रकार के पांच अधिकारी नियुक्त किये जाते थे, जिनको करणम् कहा जाता था। यह केन्द्रीय शासन की पांच ज्ञानेन्द्रियां थी। इनका कार्य यह देखना था कि सार्वजनिक धन का दुरुपयोग न हो, न्याय की व्यवस्था ठीक प्रकार से हो, राज्य-द्रोहियों को एवं उपद्रवकारियों को तुरन्त दण्ड दिया जाए।

अर्थशास्त्र में कर्मचारियों के संभावित दोषों का विषद रूप से वर्णन किया गया है। वे लोग संगठित होकर राजा और प्रजा दोनों का भक्षण करते हैं, वे आपस में संघर्ष करके राज्य के कार्यों को हानि पहुंचाते हैं, बिना उचित आज्ञा के कार्य करते हैं, प्रमाद करते हैं और गबन या रिश्वत के माध्यम से जनता के धन को लूटते हैं, इस प्रकार जनता को कष्ट पहुंचाते हैं। रिश्वत लेना सर्वाधिक महत्वपूर्ण दोष माना गया है। मनु, याज्ञवल्क्य, शुक्र एवं कौटिल्य आदि सभी ने इस दोष से प्रजा की रक्षा का आग्रह किया है। विभिन्न प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में जहां तहां कर्मचारियों के अन्य दोषों का जो वर्णन किया गया है उनमें अनुचित न्याय करना, गलत कार्य करना, राजा की आज्ञा गलत लिखना, गोपनीय बात को खोल देना, शुत्रु को सहायता देना आदि मुख्य हैं। दुष्ट कर्मचारी जितनी हानि कर सकते है, उतनी सम्भवत: शस्त्रधारी दल भी नहीं कर सकते। महाभारत के शान्ति पर्व में इस बात

का उल्लेख है कि दुष्ट कर्मचारी किस प्रकार राज्य का नाश करते हैं, जो इन्हें ऐसा करने से रोके, उसका नाश करते हैं और राजा को बहकाकर भ्रम में डालते हैं। ऐसी स्थिति में यह अत्यधिक महत्वपूर्ण हो जाता है कि राज्य को दुष्ट कर्मचारियों से मुक्त कर दिया जाय।

प्रशासनिक विभाग
[The Administrative Departments]

प्रारम्भ में प्रशासनिक विभागों की संख्या थोड़ी थी। बाद में छोटे राज्यों में भी यह अधिक न थी। विष्णु स्मृति केवल चार विभागों का उल्लेख करती है—खान, चुंगी, नौका और हाथी। कश्मीर में पहले सात विभाग थे। सम्राट अशोक के पुत्र जलौक ने इनकी संख्या अठारह कर दी और नवीं शताब्दी के बाद यह संख्या तेईस हो गई। रामायण तथा महाभारत के कई स्थानों पर १८ विभागों या तीर्थों का उल्लेख किया है, किन्तु इनके नाम नहीं दिये गये हैं। यद्यपि टीकाकार इन नामों का उल्लेख करते हैं, किन्तु सैकड़ों वर्ष बाद लिखे गये यह ग्रन्थ अधिक विश्वसनीय नहीं हैं। अर्थशास्त्र में विभागों की इस परम्परागत संख्या के साथ कुछ नये विभाग भी जोड़ दिये गये हैं। शुक्र ने इन विभागों की संख्या २० मानी है। महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ ने १८ तीर्थों या विभागों में मन्त्री, पुरोहित, सेनापति, द्वारपाल, अन्तःपुर का अधिकारी, कारागार अधिकारी, द्रव्यसंचय कृत्त, योग्य अयोग्य कार्यों का विनियोग करने वाला, प्रदेशना, नगराध्यक्ष, कार्य निर्माण कृत, धर्माध्यक्ष, दण्डपाल, दुर्गपाल राष्ट्रान्तपाल और वन विभाग के अध्यक्ष को सम्मिलित किया गया है। कौटिल्य ने इन तीर्थों अथवा विभागों को महामात्य कहा है। उसके अनुसार महामात्य ये हैं—मन्त्री, पुरोहित, सेनापति, द्वारपाल, अन्तर्वेशिक, छावनी के रक्षक, समाहर्ता, कोषाध्यक्ष प्रदेशता, नायक, दण्डपाल, दुर्गपाल, अन्तपाल, कार्मान्तिक, नगर कोतवाल, बाजार अधिकारी, कार्तान्तिक, मन्त्री परिषद का सभापति तथा वनों का अधीक्षक। इन विभिन्न अधिकारियों को तीर्थ कहने के पीछे एक अर्थ है। उनको तीर्थ इसलिए कहा जाता था क्योंकि ये विभागों के कार्य को धारण करते थे। डा० जायसवाल का कहना है कि तीर्थ शब्द नदी के उस उथले भाग के लिए प्रयुक्त किया जाता है जिसमें होकर नदी को पार किया जा सके। विभागों के अध्यक्षों को यह संज्ञा इसलिए प्रदान की गई, क्योंकि उनके माध्यम से विभागों को आदेश जारी किये जाते थे। यूनानी लेखकों ने भी उस समय स्थित विभिन्न विभागों का उल्लेख किया है। कौटिल्य द्वारा उपर्युक्त १८ महामात्यों के अतिरिक्त अनेक अधीक्षकों का नाम लिया गया है और उनके कार्यों का विस्तृत विवेचन किया गया है। ये अधीक्षक हैं—अन्तपाल, सन्निधाता, समाहर्ता खदानों का अध्यक्ष, स्वर्णाध्यक्ष, कोष्ठागाराध्यक्ष, पण्याध्यक्ष, कुप्याध्यक्ष, आयुधागाराध्यक्ष, शुल्काध्यक्ष, सूत्राध्यक्ष, सीताध्यक्ष, सुराध्यक्ष, सूनाध्यक्ष, गणिकाध्यक्ष, नावाध्यक्ष, गोध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष, हस्त्याध्यक्ष, पत्त्याध्यक्ष, मुद्राध्यक्ष आदि।

प्रो० अलतेकर ने बताया है कि प्राचीन भारत में विभागाध्यक्ष एवं विभाग मन्त्री आवश्यक रूप से अलग अलग नहीं हुआ करते थे। उस समय अवसर मन्त्री द्वारा सेनापति के पद पर भी काम किया जाता था। साधारण रूप से न्याय मन्त्री और प्रधान न्यायाधीश तथा युद्ध मन्त्री और प्रधान सेनापति एक ही व्यक्ति हुआ करता था। इन्होंने प्राचीन भारत में स्थित विभिन्न विभागों तथा उनके कार्यों का उल्लेख निम्न प्रकार किया है—

१. राजमहल विभाग—प्राचीन भारत में मुख्य रूप से राजतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था थी। उस समय महल तथा उसका अहाता एक विश्वसनीय अधिकारी के अधीन रहता था। इस अधिकारी को बंगाल में आवसथिक कहते थे। शुक्र नीति में इसके लिए अलग शब्द का प्रयोग किया गया है। राजमहल में आने जाने वाले लोगों पर द्वारपाल द्वारा सावधानी से नियंत्रण किया जाता था। प्रवेश से पूर्व किसी व्यक्ति को मुद्राधिप से आज्ञापत्र प्राप्त करना होता था। आगन्तुक दूतों को तथा अन्य मिलने वालों को प्रतिहार एवं महाप्रतिहार द्वारा राजा के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता था। राजा का एक अंग रक्षक दल भी था। महल का सारा आन्तरिक प्रबन्ध समारप नाम के अधिकारी के पास रहता था। राजा का खजाना, रसोईघर, संग्रहालय, चिड़ियाघर आदि के अधिकारी इसी के आधीन कार्य करते थे। रसोईघर के कार्यों का प्रबन्ध पाकाधिप द्वारा बड़ी सतर्कता के साथ किया जाता था।

राजा का एक व्यक्तिगत राज वैद्य होता था। शुक्र नीति ने इसे आरामाधिप का नाम दिया है। बाद में जब ज्योतिष का प्रचार बढ़ा तो राज्य ज्योतिष रहने लगे। कोई भी युद्ध आरम्भ करने से पूर्व इन से परामर्श लिया जाता था। सभा में बहुत प्राचीन काल से ही राज्य कवि का स्थान था। संस्कृत के अधिकतर मुख्य-मुख्य कवि किसी न किसी राज दरबार से सम्बन्धित थे।

२. सेना विभाग—प्राचीन काल में यह विभाग अत्यन्त महत्वपूर्ण था, शुक्र नीति के अनुसार राज्य की आय का ५० प्रतिशत इस पर व्यय किया जाता था। इस विभाग के अध्यक्ष को सेनापति, महासेनापति, महाबलाधिकृत या महाप्रचण्ड दण्डनायक आदि नामों से जाना जाता था। सेना को ४ शाखाओं में विभाजित किया गया था—रथ दल, गजदल, अश्वदल और पदातिदल। इनके अध्यक्षों को रथाधिपति, हस्त्याध्यक्ष, अश्वपति एवं प्रत्याध्यक्ष कहते थे। प्राचीन काल में राष्ट्रीय रक्षा की दृष्टि से किलेबन्दी का पर्याप्त महत्व था। प्रत्येक किला या दुर्ग एक अधिकारी के जिम्मे रहता था जिसे दुर्गाध्यक्ष या कोटपाल कहते थे। राज्य की ओर से दुर्गों की व्यवस्था का निरीक्षण करने वाला अधिकारी रहता था।

सेना की विभिन्न शाखाओं को युद्ध सम्बन्धी शिक्षा देने के लिए विशेष विभाग होता था। वंश परम्परागत सेना को प्रशिक्षण देने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं होती थी। इनको वेतन के नाम पर कोई गांव या जागीर दे दी जाती थी। सेना के विशेष गुप्तचर हुआ करते थे जो घोड़े पर सवार

होकर शत्रु के देश में जाते और वहां उसकी सेना से सम्बन्धित जो भी जानकारी प्राप्त हो सके उसे अपने सेनापति को प्रदान करते थे। सेना में घायलों को उठाने वाला अलग से एक दल होता था। उसके चिकित्सक एवं सेवक अलग होते थे जिनके पास दवाइयां एवं मरहम पट्टी आदि का सामान रहता था। इनके अतिरिक्त सेना के लिए शिविर, सड़क, पुल और कुओं का निर्माण एवं मरम्मत करने वाले विभिन्न कर्मचारी भी होते थे। भारत के अधिकतर राज्य समुद्र से दूर थे; उनको केवल स्थलगामी शत्रु से ही मुकाबला करना होता था। यही कारण है कि नौ सेना का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में कम मिलता है। मौर्य साम्राज्य में नौ सेना थी जिसका प्रबन्ध एक अलग समिति द्वारा किया जाता था। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ एक राज्यों में भी नौ सेना के अस्तित्व का आभास मिलता है किन्तु उसके संगठन एवं कार्यों से सम्बन्धित अधिक जानकारी प्राप्त नहीं होती।

३ परराष्ट्र विभाग—दूसरे राष्ट्रों के साथ रखे जाने वाले सम्बन्धों का प्रबन्ध करने के लिए परराष्ट्र विभाग हुआ करता था। इसके मन्त्री को स्मृतियों में दूत कहा गया है। साधारण रूप से इस अधिकारी को अनेक सामन्तों तथा स्वतन्त्र राज्यों से सम्बन्ध रखना होता था, इसलिए इसके अधीन अनेक अधिकारी कार्य करते थे। इस विभाग में भी सेना विभाग की भांति गुप्तचरों का एक दल रहता था जो कि अलग-अलग वेश बनाकर भेदों का पता लगाया करता था। इस विभाग के अन्तर्गत राज्य में प्रवेश के लिए विदेशियों को अनुमति देने वाला एक अधिकारी भी होता था जिसे महामुद्राध्यक्ष कहते थे। इस अधिकारी के द्वारा प्रमुख नगरों में रहने वाले विदेशियों की नीति पर कड़ी नजर रखी जाती थी।

४ माल विभाग—यह विभाग भी एक मन्त्री के अधीन था। इसकी व्यवस्था के लिए अनेक अधीनस्थ अधिकारी हुआ करते थे। सीताध्यक्ष सरकार के खेतों की व्यवस्था किया करता था। अरण्याध्यक्ष के द्वारा राज्य के जंगलों की देखभाल की जाती थी। गोध्यक्ष के द्वारा राज्य की गाय-भैंस एवं हाथियों का प्रबन्ध किया जाता था। यह अधिकारी अश्वाध्यक्ष के सहयोग से अपने दायित्वों को सम्पन्न करता था। विवीताध्यक्ष के द्वारा परती या ऊसर भूमि का प्रबन्ध किया जाता था। महाक्षपटलिक द्वारा भूमि सम्बन्धी कागज-पत्रों को रखने का कार्य किया जाता था। यह राज्य कर विभाग के अधीन कार्य करते हुए खेतों एवं उनकी सीमाओं का सही-सही विवरण तैयार करता था।

५ कोष विभाग—इस विभाग का कार्य अत्यन्त उलझा हुआ एवं झंझटपूर्ण था। इस विभाग के प्रधान को कोषाध्यक्ष कहते थे जिसके अधीन अनेक अधिकारी कार्य करते थे। यह विभाग केवल हिसाब-किताब या सोने चांदी का ही कार्य नहीं करता था, वरन् राज्य को कर के रूप में प्राप्त अन्न, ईंधन, तेल आदि सामग्री का उचित रूप से प्रबन्ध करता था। प्राचीन भारतीय राज्य अपनी आय का एक बड़ा भाग स्थाई कोष अथवा सुरक्षित मद में डाल दिया करते थे। फलतः उनका कोष सदैव भरा पूरा रहता था। स्मृतियों में आय व्यय के अधिकारियों का उल्लेख बहुत कम मिलता है। ऐसा लगता है

कि इस विभाग के कार्य राजा, प्रधानमन्त्री, सेनाधिपति मिलकर करते होंगे।

६. उद्योग विभाग—प्राचीन भारत के राज्य उद्योगों की व्यवस्था के लिए पर्याप्त सक्रिय रहते थे। इनसे सम्बन्धित विभागों में अनेक कर्मचारी कार्य करते थे। राज्य के आधीन कपड़े बनाने का कारखाना होता था। इसके माध्यम से वह गरीबों की मदद करने तथा राज्य की आय बढ़ाने का कार्य करता था। अर्थशास्त्र में इस विभाग के अधिकारी को सूत्राध्यक्ष तथा शुक्र नीति में इसे वस्त्राध्यक्ष कहा गया है। सरकार के आधीन शराब बनाने के कारखाने भी होते थे। इनकी व्यवस्था सुराध्यक्ष द्वारा की जाती थी। इस विभाग के अधिकारियों द्वारा शराब पीने व बेचने का समय एवं स्थान निर्धारित किया जाता था। गणिकाध्यक्ष के माध्यम से सरकार द्वारा वेश्यावृति पर नियन्त्रण रखा जाता था। वहां आने जाने वालों की एक सूची तैयार की जाती थी जिसकी सहायता से पुलिस को अपराधियों को पकड़ने में सुविधा रहती थी। वैश्यायें गुप्तचर का कार्य करने के लिए देश एवं देश के बाहर फैल जाती थीं। बड़े शहरों में राज्य की ओर से कसाई-खाने होते थे, जहां शुल्क देकर जानवरों को कटवाया जाता था। इनका प्रबन्ध सून्याध्यक्ष करता था।

७. खान विभाग—राज्य की सीमा के अन्तर्गत समस्त खान राज्य के अधिकार में रहती थीं। इनका प्रबन्ध करने के लिए भू-स्तर शास्त्रज रखे जाते थे। ये अधिकारी खानों का पता लगाते थे। खानों को या तो सरकार स्वयं खुदवाती थी अथवा यह कार्य वह व्यक्तिगत व्यवसायियों को सौंप कर खान से निकलने वाले पदार्थ का एक निश्चित अंश स्वयं ग्रहण करती थी। कौटिल्य के मतानुसार मूर्ति, जेवर आदि जिन वस्तुओं के व्यापार से विशेष धन-लाभ होता है उन्हें सरकार के नियन्त्रण में रखा जाना चाहिए। गैर-सरकारी उद्योग धन्धों पर भी राज्य का पूरा नियन्त्रण रहता था ताकि जनता को उचित क़ीमत और सही समय पर पर्याप्त सामान मिल सके। सोने चांदी का सामान स्वर्णकारों द्वारा बनाया जाता था। इन्हें कभी-कभी राज्य की पूर्व अनुमति प्राप्त करनी होती थी। उनका प्रबन्ध स्वर्णाध्यक्ष के द्वारा किया जाता था।

८. वाणिज्य विभाग—इस विभाग के पास पर्याप्त महत्वपूर्ण कार्य थे, जिनको अनेक कर्मचारियों की सहायता से सम्पन्न किया जाता था। बाजारों का निरीक्षण कन्याध्यक्ष करता था। ये अधिकारी राज्य द्वारा निर्मित सामग्री को लाभ पर बेचने की व्यवस्था करते थे। स्थानीय जनता के उपभोग की वस्तुओं का बाहर से आयात करते थे। राज्य में उत्पादित वस्तुओं का लाभ के साथ निर्यात करते थे। इन अधिकारियों के द्वारा वस्तुओं का मूल्य निर्धारित किया जाता था और मुनाफाख़ोरी तथा अनुचित संचित पर रोक लगाई जाती थी।

इस विभाग में चुंगी वसूल करने के लिए शुल्काध्यक्ष नियुक्त किये जाते थे। इन अधिकारियों का कार्यालय प्रायः नगर के द्वार पर होता था जो व्यापारी चालाकी से चुंगी न देने का प्रयास करते थे उनको इन अधिकारियों

के द्वारा दण्ड दिया जा सकता था। माप तथा तोल के निरीक्षण के लिए अलग अधिकारी हुआ करते थे। छोटे छोटे नगरों में यह समस्त कार्य सम्भवतः एक ही व्यक्ति करता होगा।

६ न्याय विभाग—राजा न्याय विभाग का सर्वोच्च अधिकारी होता था। राज्य की समस्त जनता को न्याय प्रदान करना उसका महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व था। इस कार्य में उसकी सहायता करने के लिए प्राड्विवाक या प्रधान न्यायाधीश हुआ करते थे। प्राचीन भारत में न्याय व्यवस्था विकेन्द्रीकृत थी। अनेक गैर सरकारी न्यायालय भी थे जो कि सरकारी न्यायालयों को पर्याप्त हलका कर दिया करते थे। न्यायाधीश को धर्माध्यक्ष या न्यायकरणिक कहा जाता था।

१०. पुलिस विभाग—राज्य में एक पुलिस विभाग होता था जिसके कर्मचारियों को चौरोद्धरणिक तथा दण्डपाशिक आदि नामों से पुकारा जाता था। प्रो० अलतेकर का कहना है कि उस समय चोरियां बहुत कम हुआ करती थी। केवल साहसिक व्यक्ति ही डकैती अथवा पशु और सम्पत्ति को चुराने का साहस करते थे। इनको सेना की सहायता से नियन्त्रित किया जा सकता था। ग्राम्य स्तर पर गांव का मुख्य प्रधान पुलिस अधिकारी होता था और गांव का स्वयं सेवक दल उसी के आधीन कार्य करता था। यदि चोर न पकड़ा जाय तो भी चोरी में गये माल की हानि सरकार को भरनी पड़ती थी। सरकार का प्रायः यह प्रयास रहता था कि वह क्षतिपूर्ति का उत्तरदायित्व किसी अन्य पर डाल दे।

११ धर्म विभाग—धार्मिक विषयों का सम्पादन करने वाला अलग से एक विभाग होता था, जिसका प्रबंध पुरोहितों तथा पंडितों के द्वारा किया जाता था। प्राचीन भारतीय राज्य ने अपने आपको धर्म और नीति का संरक्षक माना। इस सम्बन्ध में उसके द्वारा समस्त निर्णय पुरोहित एवं पंडितों के निर्देश के अनुसार लिए जाते थे। पुरानी एवं असामयिक रिवाज के परिपालन पर जोर नहीं दिया जाता था। समय एवं परिस्थिति के अनुसार सुधार करके नवीन स्मृतियां, भाष्य एवं प्रबन्ध तैयार कराये जाते थे तथा इस प्रकार नयी रीतियों को जन्म दिया जाता था। इस विभाग के अध्यक्ष का नाम समय और स्थान के अनुसार बदलता रहा है। इसे कभी धर्म-महामात्र, श्रवण-महामात्र, विनय स्थिर स्थापक एवं धर्मांकुश आदि नामों से पुकारा जाता रहा है। प्राचीन भारतीय राज्य मूल रूप से एक धर्म निरपेक्ष राज्य था जो कि धार्मिक सहायता अथवा नियमन करते समय विभिन्न धर्मों के बीच किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करता था।

उक्त सभी विभाग प्रायः बड़े राज्यों में प्राप्त होते थे। कुछ राज्यों में इनके अतिरिक्त विभाग भी देखने को मिल सकते हैं, तथा छोटे राज्यों में इनमें से अधिकांश विभाग अनुपस्थित भी रह सकते हैं। प्रो० अलतेकर के अनुसार "प्राप्त प्रमाणों से प्रकट होता है कि औसत दर्जे के राज्यों में उपयुक्त अधिकांश विभाग थे।"

नागरिक सेवक
[The Civil Servant]

प्राचीन भारत में यद्यपि राज्य को पर्याप्त महत्व प्रदान किया जाता था परन्तु फिर भी राज्य की सेवा करना भारतीय विचारकों की दृष्टि से अत्यन्त निकृष्ट कार्य था। उनका मत था कि राजा अथवा राज्य की सेवा करना कोई सम्मान या प्रतिष्ठा की बात नहीं है वरन् यह एक निम्न श्रेणी का कार्य है। मनु ने राजा को ऐसी श्रेणी में रखा है जिसको अन्न नहीं खाना चाहिए तथा जिसके अन्न खाने से तेज घटता है। उनका मत है कि राजा की सेवा करने से अच्छे कुल वाले भी अकुलीन बन जाते हैं। अत्रि स्मृति में यहां तक कहा गया है कि यदि चारों वेदों को पढ़कर सभी शास्त्रों को जानने वाला व्यक्ति राजा के भवन में भोजन करता है वह अगले जन्म में विष के कीड़े का रूप लेता है। राज्य सेवा का विरोध प्रथम तो इसलिए किया गया, क्योंकि आचार्यों का विश्वास था कि राज्य सेवा करने वाला कोई भी व्यक्ति सचरित्र रहता होगा। साधारण रूप से व्यक्ति अधिकार के मद में आकर चरित्रहीन, अत्याचारी, भ्रष्ट और लोभी बन जाता है। इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति राजा की सेवा करता है उसकी निर्भीकता, सत्यवादिता एवं उचित बात कहने का साहस नष्ट हो जाता है। महाभारत के शान्ति पर्व में दूसरे के आश्रय में रहना गलत बतलाया गया है। राजा के आश्रय में रहने वाला राजा के क्रोध के भय से अनेक दोषों से पूर्ण हो जाता है; दूसरी ओर बनवासी लोग निर्भयता के साथ जीवन व्यतीत करते हैं।

राज्य की सेवा के प्रति इस प्रकार के विचार होते हुए भी राज्य कर्मचारियों का प्राचीन भारत में अस्तित्व समय की आवश्यकता एवं परिस्थितियों का परिणाम है। कई कार्य हानिप्रद होते हुए भी अनिवार्य होते हैं। राज्य की सेवा ऐसे ही कार्यों में से एक माना जा सकता है।

कर्मचारियों का स्तर

प्राचीन भारत में प्रशासनिक अधिकारियों एवं कर्मचारियों की विभिन्न श्रेणियां हुआ करती थी। इन श्रेणियों का कार्य एवम् सेवा की शर्तों के आधार पर स्पष्ट रूप से विभाजन नहीं किया जाता था। किन्तु फिर भी ग्रन्थों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि स्तरीयकरण उस समय मौजूद था। मौर्य कालीन प्रशासन में इन अधिकारियों की तीन श्रेणियां थीं—नगर अधिकारी, ग्रामीण अधिकारी और सैनिक अधिकारी। प्रशासनिक अधिकारियों में शीर्ष पर मन्त्री अथवा पदामर्शदाता होते थे। उनके नीचे अमात्य तथा विभिन्न विभागों के अधीक्षक कार्य करते थे। प्रान्त, जिला, नगर एवं ग्राम के अधिकारी केन्द्रीय अधिकारियों के आधीन कार्य करते थे। कुछ विद्वानों का कहना है कि प्राचीन भारत के प्रशासनिक अधिकारियों में किसी प्रकार की श्रेणियां अथवा स्तर नहीं थे। प्रो० अलतेकर के शब्दों में "यह नहीं कहा जा सकता कि आजकल के अखिल भारतीय, प्रान्तीय और मातहत भेदों की भांति उस समय के सरकारी कर्मचारियों में भी ऊंची नीची

श्रेणियां होती थी या नहीं। सम्भव है कि आज के I A S की भान्ति मौर्य काल के 'महामात्र' और गुप्तकाल के 'कुमारामात्य' रहे हों; इस श्रेणी के कर्मचारी ही उस समय जिले या प्रादेशिक अधिकारी होते थे और कभी-कभी केन्द्रीय शासनालय में उच्च पदों पर या कभी मन्त्री पद पर भी पहुंच जाते थे।"[1]

राजतन्त्रात्मक व्यवस्था में राजा के नीचे मन्त्री, अमात्य या उसके परामर्शदाता होते थे किन्तु गणतन्त्रात्मक व्यवस्था में जनप्रिय प्रतिनिधि ही प्रशासन के सर्वोच्च अधिकारी होते थे। कौटिल्य अर्थशास्त्र में सरकारी कर्मचारियों एवं अधिकारियों की जिस संख्या का उल्लेख किया गया है उससे यह प्रतीत होता है कि उस समय का प्रशासनिक संगठन कितना विस्तृत एवं जटिल रहा होगा।

कर्मचारियों की भर्ती

सरकारी कर्मचारियों में उन समस्त योग्यताओं का होना उपयुक्त समझा जाता था जो कि उस पद के सम्पन्न करने के लिए आवश्यक थी। प्राचीन भारत में मूल रूप से योग्यता को ही सार्वजनिक पदों पर नियुक्ति का आधार बनाया गया। व्यक्ति की योग्यता एवं सदाचरण ही सरकारी पद पर उसे प्रतिष्ठित करने का एक मात्र साधन था। डा० बेनीप्रसाद का कहना है कि महाभारत काल में अनेक अधिकारी राजा के सम्बन्धी होते थे। शान्तिपर्व में इस बात पर जोर दिया गया है कि राजा को अनेक कार्यालय अपने विश्वसनीय सम्बन्धियों को सौंपने चाहिये। एक अन्य स्थान पर भर्ती करते समय जन्म को महत्व देने की बात कही गई है। जाति व्यवस्था को भर्ती का आधार बनाया गया। महाभारत काल के व्यवहार के अनुसार मुख्य अधिकारी उच्च कुल से लिए जाते थे। यह भी सम्भव है कि कुछ अधिकारी वंश परम्परागत रहते होंगे। स्मृतियों में इस बात पर पूर्ण जोर दिया गया है कि उपयुक्त योग्यता वाले व्यक्ति ही पूरी जांच के बाद सार्वजनिक पदों पर नियुक्त किये जाएं।[2] शुक्र का मत था कि होनहार नवयुवकों को सार्वजनिक पदों के लिए उपयुक्त विशेष शिक्षा प्रदान की जाए। इस बात पर जोर दिया जाता था कि उच्च पद पर आसीन सभी अधिकारी अमात्य गुणों से युक्त हों। कौटिल्य का कहना है कि किसी भी प्रकार के कर्मचारी को अमात्य पद पर नियुक्त करते समय राजा उसकी विद्याबुद्धि, साहस, गुण एवं देश काल तथा पात्र का विवेचन करे। अमात्यों की परीक्षा के लिए धर्म, अर्थ, काम और भय आदि के उपायों का उल्लेख किया गया। प्रो० अल्तेकर की यह आशंका है कि प्राचीन भारत में भी साधारण पदों के लिए ऊंचे कुल और प्रभावशाली रिश्तेदारी की पूछ रहती होगी, किन्तु बाद में पदोन्नति कर्मचारी की योग्यता और परिश्रम के आधार पर ही हो सकती थी।

---

1. प्रो० अलतेकर, पूर्वोद्ध पुस्तक, पृष्ठ १५४
2. यो यदस्तु विजानाति स तत्र विनियोजयेत। कामन्दक ५, ७६।

याज्ञवल्क्य और मनु आदि आचार्य इस बात पर जोर देते है कि अधिकारियो की नियुक्ति विभिन्न पदों के लिए आवश्यक योग्यताओं के आधार पर ही की जानी चाहिये। डा० राधाकुमुद मुकर्जी मौर्यकालीन प्रशासन के सबन्ध में लिखते हैं 'कि मन्त्री परिषद के सदस्यो को छोड़कर अन्य सभी पदाधिकारियों की नियुक्ति राजा अपने मन्त्रियों की सहायता से करता था। राजा, पुरोहित और प्रधान मन्त्री की अन्तरंग परिषद उस समय लोक सेवा आयोग का कार्य करती थी। प्रशासन के उच्च पदो तथा विभागाध्यक्षों की नियुक्ति इस परिषद के द्वारा की जाती थी।"

कर्मचारियों का वेतन

प्राचीन भारत के ग्रन्थों में इस बात पर पर्याप्त जोर दिया गया है कि कर्मचारियों को पर्याप्त वेतन देकर सन्तुष्ट रखा जाए। उपयुक्त वेतन व्यक्ति के कार्य करने का मूल प्रेरक है। कामन्दक के कथनानुसार 'जो राजा आजीविका नहीं देता, उसे लोग इस प्रकार त्याग देते हैं जैसे सूखे वृक्ष को पक्षी। लोग धन देने वाले दुश्चरित्र और अकुलीन राजा की भी सेवा करते है किन्तु दुग्धहीन गाय को उसका बछड़ा भी छोड़ देता है। मनु, शुक्र, कौटिल्य आदि ने राजा से यह आग्रह किया है कि वह प्रत्येक व्यक्ति को उसके पद और कार्य के अनुसार आजीविका दे और इसमें कभी भी कमी न करे। कौटिल्य का कहना है कि कर्मचारी को वेतन इतना देना चाहिए कि वह कार्य करने मे सशक्त रहे और उसे कोई शारीरिक हानि न हो। सरकारी आय का चौथाई भाग कर्मचारियों के भरण-पोषण में खर्च करने के लिए कहा गया है। वेतन तीन प्रकार का होता है। कार्यमान—जिसमें कुछ निश्चित कार्य बताकर उस कार्य का वेतन दिया जाता है, कालमान—जिसमे वर्ष, मास या दिन के अनुसार वेतन दिया जाता है एवं कार्य कालमान—जिसमें यह कहा जाता है कि इतने काल में इतना कार्य करना आवश्यक होगा और इसका इतना वेतन दिया जायेगा। कर्मचारी पर आश्रित सभी लोगों का पालन पोषण ठीक प्रकार से हो जाए ऐसा वेतन निष्ठ वेतन कहलाता है। केवल अनिवार्य लोगों को पोषण करने वाला वेतन मध्यम श्रेणी का होता है और केवल एक ही व्यक्ति का भरण-पोषण करने वाला वेतन हीन वेतन कहा जाता है। राजा को मध्यम वेतन प्रदान करने की सिफारिश की गई है ताकि श्रेणी वेतन देने से राजकोष पर पड़ने वाला भार न पड़े और हीन वेतन देने से जो कर्मचारी शत्रु बन सकते हैं वे न बन सकें।

हीन वेतन पाने वाले लोग स्वयं निर्मित शत्रु बन जाते हैं। इनके द्वारा राजकोष एवं प्रजा के धन का गबन और रिश्वत के रूप में हरण किया जाता है और ये शत्रुओं के कार्य की साधना करते है। कर्मचारी की योग्यता देखकर ही उसका वेतन निश्चित किया जाय। अर्थशास्त्र में विभिन्न अधिकारियों एवं कर्मचारियों के उपयुक्त वेतन का उल्लेख किया गया है। इसमें उच्च श्रेणी के अधिकारियों के लिए प्रतिवर्ष ४८ हजार पण वेतन देने की बात कही गई है जबकि नीचे की श्रेणी के कर्मचारियों के लिए १०००, ५००, २५०, १२०

तथा ६० पण तक वेतन देने को कहा गया है। राज्य की आय के अनुसार कर्मचारियों का वेतन भी ऊपर नीचे होता रहता था।

जहां तक प्रान्तीय अधिकारियों की भर्ती का प्रश्न है उन पदों पर अन्य बातों के साथ साथ इस बात पर भी ध्यान दिया जाता था कि उम्मीदवार उसी प्रदेश का रहने वाला हो। ऐसा होने से यह स्थानीय समस्या को भली प्रकार समझ सकता था और प्रशासन कामों में भी उसकी विशेष रुचि रहने की सम्भावना थी। यातायात के साधन पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध न होने के कारण कर्मचारियों का स्थानान्तर प्रायः नहीं किया जाता था। प्रान्तों के कर्मचारियों को वेतन नकद रुपयों की अपेक्षा सरकारी जमीन के रूप में दिया जाता था अथवा उन्हें स्थानीय चुंगी की आय का एक निश्चित प्रतिशत सौंप दिया जाता था। इनका पद प्रायः वंशानुगत बन जाता था। मि० बी० के० सरकार का कहना है कि हिन्दूकालीन नागरिक सेवाओं को नकद वेतन शायद ही प्रदान किया गया होगा। विभिन्न उच्च अधिकारी वंशानुगत होते थे। अतः उनको वेतन देने की अपेक्षा निश्चित भूभाग ही प्रदान कर दिया जाता था। डा० राधाकुमुद मुखर्जी का मत इसके विपरीत है। उनका कहना है कि मौर्य काल में वेतन या तो नकद दिया जाता था अथवा सामग्री के रूप में। धन की कमी होने पर राज्य के अधिकारियों को वन की पैदावार सौंप दी जाती थी अथवा पशु एवं कृषियोग्य भूमि प्रदान कर दी जाती थी। वेतन चाहे किसी भी रूप में दिया जाता हो किन्तु इस बात का ध्यान रखा जाता था कि सरकारी कर्मचारियों में असन्तोष पैदा न हो जावे।

सेवा की अन्य शर्तें
[The Other Conditions of Service]

भर्ती की व्यवस्था एवं वेतन की मात्रा तथा रूप के अतिरिक्त प्राचीन भारत में सरकारी कर्मचारियों की सेवा के सम्बन्ध में कुछ अन्य शर्तें भी रखी जाती थीं जिनका सम्बन्ध उनकी स्वयं की सुविधाओं एवं राज्य सम्मान से रहता था। कर्मचारियों को छुट्टी प्रदान करने की समस्या पर शुक्र ने विस्तार के साथ विचार किया है। कौटिल्य ने भी इस पर अपने विचार प्रकट किये हैं। यह कहा गया है राजा उत्सवों के दिनों में कर्मचारियों से कोई कार्य न कराये जब तक कि ऐसा किया जाना आवश्यक न बन जाए। श्राद्ध के दिनों में तो बिल्कुल ही काम नहीं कराना चाहिए। यदि कर्मचारी बीमार हो जाता है तो उसको तीन चौथाई वेतन दिया जाना चाहिए। यदि रोगी कर्मचारी का सेवा काल पांच वर्ष हो चुका है तो उसको तीन माह का अथवा आवश्यकतानुसार कम या अधिक वेतन दिया जा सकता था। सदा रोगी रहने वाले कर्मचारी के स्थान पर उसका कोई प्रतिनिधि रख लिया जाये। कर्मचारियों को वर्ष में पन्द्रह दिन का अवकाश देने की सिफारिश की गई है।

पेंशन का भी नियम था। चालीस वर्ष की सेवा हो जाने के बाद कर्मचारी को पूरी तरह अवकाश दे दिया जाता था और उसको लगातार

आधा वेतन प्रदान किया जाता था। यदि राज्य पद के दायित्वों का निर्वाह करते हुए कर्मचारी परलोक सिधार जाता है तो उसका वेतन उसके पुत्र को उस समय तक प्रदान किया जायेगा जब तक कि वह बालक है। वयस्क हो जाने के बाद उसके गुणों पर विचार किया जायेगा और तब कहीं कोई निर्णय लिया जायेगा। महाभारत के सभापर्व एवं कौटिल्य के अर्थशास्त्र में यह कहा गया है कि राज्य सेवा में मृत व्यक्ति की पत्नी का पालन राज्य द्वारा किया जाना चाहिए। बोनस तथा भाग्य निधि का भी किसी न किसी रूप में उल्लेख प्राप्त होता है। यह कहा गया था कि कर्मचारी के वेतन का छठा या चौथा भाग रख लिया जाये; उसे बाद में दिया जाये। इसके अतिरिक्त दो-तीन वर्ष में उसे एक मास का आधा या पूर्ण वेतन देने की भी बात कही गई। राज्य के द्वारा कर्मचारियों को कुछ भूमि भी प्रदान की जा सकती थी जिसे वे न बेच सकते थे और न ही गिरवी रख सकते थे। शुक्र का कहना है कि कर्मचारी को भूमि उसी समय तक के लिए दी जाये जब तक कि वह जीवित रहता है।

राज्य कर्मचारियों के प्रति सद्व्यवहार बरतने पर पर्याप्त जोर दिया गया है। विश्वास किया जाता था कि कर्मचारी के साथ किया गया दुर्व्यवहार उसे राज्य का शत्रु बना देता है। कोमल वचनों से तथा प्रेम पूर्ण व्यवहार से काम लेने पर कोई भी कर्मचारी अपने स्वामी को नहीं त्यागता। शुक्र नीति ने सुझाया है कि राजा किसी कर्मचारी को साग, किसी को फल, किसी को हंस कर तथा किसी को कोमल वाणी से प्रसन्न रखे। परिश्रम एवं ईमानदारी के साथ कार्य करने वाले कर्मचारी की पदोन्नति करने की व्यवस्था की गई। पदोन्नति का आकर्षण कर्मचारी को अपनी योग्यता का अधिकाधिक प्रयोग करने की प्रेरणा देता था।

उपर्युक्त शर्तें वे थीं जो कि राज्य कर्मचारी को सुविधा एवं विशेषाधिकार के रूप में राज्य की ओर से प्राप्त होती थीं। दूसरी ओर कुछ शर्तें ऐसी भी थीं जिनमें कर्मचारी के व्यवहार को अनुशासित, मर्यादित एव कुशल बना कर यह आशा की जाती थी कि वह अपने दायित्वों का पूर्ण रूप मे पालन करता हुआ राज्य की अधिक से अधिक सेवा कर सकेगा। कौटिल्य ने राजा के प्रति राज-कर्मचारियों के व्यवहार का स्पष्ट चित्र खींचा है। उनका मत है कि कर्मचारी को उस पद पर ही कार्य करते रहना चाहिए जिस पर कि वह राजा द्वारा नियुक्त किया गया है; उसे राजा के सामने कभी उच्चासन पर नहीं बैठना चाहिए; उसे असभ्यतापूर्वक अविश्वस्त झूठी बात कभी नहीं कहनी चाहिए। अनेक व्यवहार कर्मचारियों के लिए निषिद्ध थे, जैसे—कहकहा मार कर हसना, दूसरों के बीच में बोलना, परस्पर वार्तालाप करना, दरबार में तड़क-भड़क की पोशाक पहन कर आना, शक्तिशाली से शत्रुता करना, स्त्रियों से मिलना-जुलना, गुटबन्दी कर लेना आदि।

यदि कोई बात राजा के हित में है तो उसकी सूचना उसे शीघ्र ही अपने मित्रों को देनी चाहिए। हानि पहुंचाने वाली बात नहीं कही जाए। ऐसे अवसरों पर चुप रहना अभीष्ट है। राजा के साथ रहना एक प्रकार से

तलवार की धार पर चलना है अतः व्यक्ति को सम्भाल कर पग रखना चाहिए। प्रत्येक पल अपनी रक्षा के लिए सतर्क रहना चाहिए।

राज कर्मचारियों का पारस्परिक सम्बन्ध न तो घनिष्टता का होना चाहिए और न ही वैमनस्यता का। यदि यह सम्बन्ध घनिष्टता का होगा तो वे रक्षक के स्थान पर भक्षक बन जायेंगे। उनके द्वारा राज्य के हित की अपेक्षा राज्य के अहित और विनाश के कार्य किये जायेंगे। इस प्रकार प्राचीन भारत में कर्मचारियों को संघ या संगठन बनाने का अधिकार नहीं दिया गया था। इस दिशा में किया गया प्रयास राजद्रोह माना जाता था और इसलिए दण्डनीय था। राज कर्मचारियों के बीच जब द्वेष तथा वैमनस्य की भावना रहती है तो वे एक दूसरे के कार्यों में हर सम्भव बाधा डालते हैं; परिणामस्वरूप राज्य की हानि होती है।

राज कर्मचारियों के प्रमादपूर्ण व्यवहार के प्रत्येक रूप को वर्जित माना गया था। ऐसा करने पर उनको वेतन का दोगुना दण्ड प्रदान करने की व्यवस्था की गई थी। बेईमान कर्मचारी की पहचान यह थी कि उसका व्यय आय की अपेक्षा अधिक होता था। ऐसा होने पर यह स्वाभाविक है कि वह अनुचित रूप से धन का अर्जन करे तथा राज कोष के धन को स्वयं हड़प जाये। प्रत्येक पदाधिकारी को अपने पद के आय व्यय का पूरा ब्यौरा राजा के सम्मुख प्रस्तुत करना होता था। नियत धन राशि से अधिक मात्रा में धन राज कोष में जमा कराना कोई प्रशंसा की बात नहीं समझी जाती थी वरन् यह जन पद के साथ किये गये उसके धोखे का प्रतीक माना जाता था। सरकारी धन का गबन करने वाले तथा प्रजा से रिश्वत लेने वाले अधिकारियों को प्रतिफल रूप में दण्ड प्रदान करने की व्यवस्था थी। उनसे वह धन राशि वापिस ली जाती थी तथा उनकी पद अवनति कर दी जाती थी। इस प्रकार उपयुक्त दण्ड के माध्यम से उनको अनुशासन में बनाये रखने का प्रयास किया जाता था।

केन्द्रीय कार्यालय का संगठन
(The Organisation of Central Office)

राज्य के समस्त कार्यों का अभिलेख रखने के लिए तथा राजा द्वारा प्रसारित आदेशों का रूप निर्धारित करने के लिए एक केन्द्रीय कार्यालय होता था जिसे हम सचिवालय या शासनालय भी कह सकते हैं। इसमें लेखक, सचिव तथा अन्य अनेक अधीनस्थ कर्मचारी होते थे। मौर्य शासन काल में विभागों के अध्यक्षों को लेखक कहा जाता था जिसका पद अमात्य के बराबर होता था। मन्त्री के अतिरिक्त उसे अन्य सभी से अधिक वेतन एवं सम्मान देने की बात कही गई थी। प्रो० अलतेकर का कहना है कि "शासन की उत्तमता बहुत कुछ सचिवालय के कर्मचारियों की कार्यपटुता एवं केन्द्रीय शासन के आदेशों के ठीक-ठीक लेखबद्ध करने की योग्यता पर निर्भर करती थी।" शुक्र का कहना है कि राज सत्ता राजा के शरीर में नहीं रहती वरन् उसके हस्ताक्षरित और मुद्रांकित शासन में रहती है।

चोल राज्य के लेखकों में सचिवालय की कार्यवाही का विवरण प्राप्त होता है। उनमें बताया गया है कि जब कभी राजा किसी विषय पर आज्ञा देते थे तो उससे सम्बन्धित सभी अधिकारी उपस्थित रहते थे। लेखक द्वारा उस आज्ञा को लिखा जाता था तथा अन्य दो-तीन व्यक्ति मूल आज्ञा एवं लेखक द्वारा लिखी आज्ञा का मिलान करते थे। विभागों की प्रमाण पुस्तकों में अंकित करने के बाद यह आज्ञा जिलों के कर्मचारियों को भेज दी जाती थी।

राजा के व्यक्तिगत सचिव भी होते थे। जब कभी राजा द्वारा दौरे के समय कोई मौखिक आदेश दिया जाता था तो राजा का व्यक्तिगत सचिव उसे लेखबद्ध करके राजधानी को भेज देता था। शुक्र ने राजा की आज्ञा को लेखबद्ध कराने पर पर्याप्त जोर दिया है। उसका कहना है कि राजा को राजमहल, सभाभवन आदि बनवाने के साथ-साथ अधिकारियों के लिए निवास स्थान भी बनवाने चाहिए। अर्थ-शास्त्र में भी केन्द्रीय शासन कार्यालय की रचना का विस्तार से वर्णन किया गया है। उसमें उल्लेख है कि अक्षपटल अर्थात् लेखा कार्यालय को इस प्रकार बनाया जाय कि कार्यालय का प्रधान दरवाजा पूर्व या उत्तर दिशा में हो। इसके अन्दर छोटे-बडे अनेक कमरे बनाए जाए जिनमें अनेक प्रकार के गणना करने वाले बैठ सकें। आय और व्यय का हिसाब रखने के सभी कागजात और रजिस्टरों के रखने के लिए एक लक्ष्य कार्यालय होना चाहिए। अक्षपटल से कई एक महत्वपूर्ण कार्यों को सम्पन्न कराया जा सकता था। प्रथम, इसमें प्रत्येक जन-पद की पैदावार एवं आय को विभिन्न स्थानों के नामो के साथ लेख-बद्ध किया जाता था। इसके अतिरिक्त खदानों की आय तथा व्यय, सोने एवं अन्न का उपयोग आदि को लेख-बद्ध किया जाता था। दूसरे, महारानी एवं राजपुत्रों की संपत्ति का पूरा ब्यौरा लिखा जाता था। तीसरे, इसके अध्यक्ष के द्वारा जन-पद के समस्त कार्यालयों के प्रबन्ध का समाचार गुप्तचरों के माध्यम से प्राप्त करते रहना चाहिए। छोटे-छोटे कार्यालयों का यह कर्त्तव्य था कि वे वर्ष पूरा होने पर आषाढ के महीने में प्रमुख कार्यालयों में जा कर अपना हिसाब दिखायें। चौथे, लेखा रखने के समय की व्यवस्था, क्लर्कों की सावधानी पर, उनको दण्ड देने के नियम और अध्यक्षों के द्वारा सरकार का धन हरण किये जाने पर उन्हे दिये जाते वाले दण्ड आदि का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। इसके केन्द्रीय कार्यालय का मुख्य कार्य यह देखना होता था कि स्थानीय कर्मचारी कहीं भ्रष्ट हो कर जनता को कष्ट न देने लगें। प्रो० अलतेकर के कथनानुसार "केन्द्रीय सरकार व शासनालय का एक प्रमुख कार्य, प्रान्तीय, प्रादेशिक और स्थानीय शासन का निरीक्षण और नियन्त्रण होता है।" इसलिए शुक्र आदि आचार्यों द्वारा गांव, पुर और देश में स्वयं प्रतिवर्ष दौरा करने के लिए कहा गया है।

प्रान्तीय, प्रादेशिक और जिला प्रशासन
[Provincial, Territorial and District Administration]

राज्य का क्षेत्रीय आधार पर विभाजन किया जाता था। यह विभाजन

समय और स्थान के साथ साथ बदलता रहता था, इसलिए इसके सम्बन्ध में कोई भी बात सामान्य रूप से नहीं कही जा सकती। इसके अतिरिक्त विभाजन की सभी इकाईयों का स्वरूप भी एक जैसा नहीं होता था। कुछ जिले बहुत बड़े होते थे जबकि अन्य जिले अपेक्षाकृत अत्यन्त छोटे होते थे। सच यह है कि जितने बड़े सामन्त राज्य को साम्राज्य में मिलाया जाता था वह ज्यों का त्यों एक जिला बन जाता था। समस्त राज्य का विभिन्न प्रान्तों में प्रत्येक प्रान्त को विभिन्न प्रदेशों में, प्रत्येक प्रदेश को विभिन्न जिलों या विषयों में और प्रत्येक विषय को भुक्तियों पेठो या पाठकों में विभक्त किया जाता था। विभिन्न राज्यों में राज्य के इन प्रादेशिक विभागों के नाम अलग अलग हुआ करते थे। इसके अतिरिक्त इनके शासकों के लिए भी अलग अलग संज्ञाओं का प्रयोग किया जाता था। राधाकुमुद मुकर्जी ने मौर्य साम्राज्य को दो भागों में वर्गीकृत किया है। एक ओर प्रान्त थे जिनका शासक प्रान्तपति अथवा गवर्नर होता था, साथ ही अन्य प्रदेश होते थे जिनका अध्यक्ष राज प्रतिनिधि होता था। ये प्रांत एवं प्रदेश सम्राट के प्रत्यक्ष रूप से आधीन रहते थे। इनके अतिरिक्त साम्राज्य के कुछ ऐसे भाग भी थे, जिन पर विभिन्न श्रेणियों के सामन्तों या करद राजाओं का शासन था। राजा इन प्रदेशों के आन्तरिक प्रशासन में कोई हस्तक्षेप नहीं करता था।

प्रान्तीय शासन व्यवस्था

आज की भान्ति प्रान्तों का प्रशासन केवल बड़े राज्यों में प्राप्त होता था। मौर्य साम्राज्य अनेक प्रान्तों में विभाजित था। इनमें उत्तरापथ, अवन्ति राष्ट्र दक्षिण पथ, कलिंग और प्राच्य आदि के नाम उल्लेखनीय हैं जिनकी राजधानी क्रमश तक्षशिला, उज्जैयनी, स्वर्णगिरि, तोसली और पाटलीपुत्र थी। हो सकता है कि यह प्रान्त भी स्वयं कई प्रान्तों में विभाजित रहे हों। इन प्रान्तों के शासक उच्चपदाधिकारी हुआ करते थे। प्रायः राजवंश के कुमारों को इन पदों पर बैठाया जाता था। राजकुमार न होने पर प्रान्तीय शासक का पद राज्य के सर्वोच्च एवं अनुभवी अधिकारियों को दिया जाता था जो प्राय प्रसिद्ध सैनिक भी हुआ करते थे। प्रान्त के शासकों को अत्यन्त व्यापक शक्तियां प्राप्त थी। उनमें सैन्य संचालक की योग्यता अनिवार्य मानी जाती थी क्योंकि उन्हें प्रान्त में पूर्ण शान्ति बनाए रखना और प्रान्त को सीमावर्ती राज्य के आक्रमणों से सुरक्षित रखना होता था।

प्रान्तीय शासक बहुधा राजकुमार होते थे इसलिए उनके अपने मन्त्रि और राज सभा हुआ करती थी। प्रान्तीय शासक को राजा की नीति का अवलम्बन करना होता था जो कि दूतों के माध्यम से समय समय पर राजा द्वारा प्रसारित की जाती थी। ऐसा प्रसारण यातायात के साधनों के अभाव में प्राय कम ही हो पाता था, इसलिए ये प्रान्तीय प्रशासक पर्याप्त स्वतन्त्रता का उपभोग करते थे। कभी कभी इनके द्वारा सन्धि और विग्रह जैसे कार्य भी किये जाते थे। प्रान्तों की अपनी सेना होती थी। प्रान्तीय कर्मचारियों पर इस शासक का कितना अधिकार था इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। प्रान्तीय सरकार द्वारा भूमिकर एवं अन्य राज्यकर एकत्रित

किए जाते थे और प्रान्तीय शासन का खर्च चलाने के बाद शेप धन को केन्द्रीय सरकार को भेज दिया करते थे। कौटिल्य ने प्रान्तीय शासकों की शक्ति पर कुछ प्रतिबन्ध लगाने की बात कही है। यह शासक सम्राट द्वारा किये गये समझौतों का पूर्ण पालन किया करते थे। सम्राट से आज्ञा लिए बिना उसके मन्त्रियों तथा अन्य उच्च अधिकारियों से प्रत्यक्ष पत्र व्यवहार नहीं कर सकते थे। नये जीते हुए प्रदेश की सूचना उन्हें सम्राट को देनी होती थी। यदि प्रान्त में कोई उपद्रव हो जावे अथवा कोई अन्य राजा आक्रमण कर दे तो उसकी सूचना वे सम्राट को देते थे। सामन्तों की अनेक श्रेणियां वर्णित की गई हैं।

प्रदेशों का प्रशासन

प्रान्त पर्याप्त बड़े होते थे, इसलिए प्रशासनिक सुविधा की दृष्टि से उन्हें कुछ प्रदेशों में विभाजित कर दिया जाता था; इन प्रदेशों को मुक्ति राष्ट्र अथवा मण्डल कहा जाता था। कहीं कहीं इनके लिए देश शब्द भी प्रयुक्त किया जाता था। सम्राट अशोक के शासन काल में रज्जुकों को व्यापक अधिकार प्रदान किये गये। ये रज्जुक अथवा प्रादेशिक शासक साम्राज्य की साधारण नीति के अनुसार दीवानी फौजदारी तथा माल सम्बन्धी समस्त विषयों पर पूर्ण अधिकार रखते थे। वे आवश्यकतानुसार दण्ड एवं पुरस्कार दे सकते थे। प्रदेश का शासक अपने अधीनस्थ कर्मचारियों पर पूर्णनियंत्रण रखता था। राजद्रोह करने वालों को तुरन्त कैद करके उपयुक्त दण्ड के लिये वह राजधानी भेजता था। प्रादेशिक शासक को पर्याप्त सैनिक शक्ति युक्त होना पड़ता था, क्योंकि जिले के अधिकारियों द्वारा राजद्रोह किये जाने की संभावनायें थीं। इन अधिकारियों को न्याय देने का अधिकार या अपने प्रदेश के ये सर्वोच्च न्यायाधिकारी हुआ करते थे। प्रदेश के शासकों को परामर्श देने के लिये कोई नियमित संस्था होती थी या नहीं इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

जिले का शासन

जिला अथवा विषय क्षेत्रीय विभाजन की अन्य इकाई थी। इनके मुख्य शासक को विपति कहा जाता था। इसके आधीन १००० से लेकर २००० तक के गांव होते थे। आज के कलेक्टर या जिलाधीश की भान्ति विषयपति का काम, जिले में शान्ति और सुव्यवस्था बनाए रखना तथा माल गुजारी एवं अन्य करों की वसूली करना था। उसके आधीन अनेक कर्मचारी कार्य करते थे। शान्ति और सुव्यवस्था करने के लिए इनके आधीन छोटी सैनिक टुकड़ी भी हुआ करती थी। इन टुकड़ियों के नायक को दण्ड नायक कहते थे। दण्ड पाशिक आदि पुलिस अधिकारी भी संभव है कि विषयपति के आधीन कार्य करते थे। इस अधिकारी के न्याय संबन्धी अधिकारों में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। जिले के शासन में जनता का पर्याप्त योगदान रहता था। वह परिषद के माध्यम से जिला प्रशासन के कार्यों में भाग लेता था।

तहसीलों का प्रशासन

जिलों को प्रशासनिक सुविधाओं के लिए आगे अन्य भागों में विभाजित किया गया। पश्चिमी भारत में अनेक गांवों के समूह को मण्डल कहा जाता था। ये मंडल जिले और प्रशासन की सबसे छोटी इकाई 'गांव' के बीच प्रशासन की अन्य इकाइयां थीं। इन इकाइयों का स्वरूप समय समय पर बदलता रहा है। मनु के कथनानुसार प्रशासन की सुविधा के लिए दस गांवों का एक समूह होना चाहिए और ऐसे दस समूहों अथवा १०० गांवों को मिलाकर एक मण्डल बनाया जाना चाहिए। इस मण्डल को आज की भाषा मे हम तहसील कह सकते हैं। किसी भी जिले में १००० गांव अथवा १० तहसीलें होनी चाहिए। गांवों को सामूहिकृत करके जो शासन की इकाई बनाई जाती थी उसे विभिन्न स्थानों पर पाठक, पेठ, स्थली एवं भुक्ति आदि अनेक नामों से पुकारा जाता था। इन क्षेत्रों के प्रशासन के लिए केन्द्रीय सरकार द्वारा आज के तहसीलदार जैसा कोई अधिकारी नियुक्त किया जाता था। ग्रामीण क्षेत्रों की इन प्रशासनिक इकाइयों के साथ साथ लोकप्रिय संस्थाएं अथवा पंचायतें भी होती थीं, जिनको ग्राम शासन व्यवस्था का महत्वपूर्ण अंग माना जाता था। इनका संगठन किस प्रकार किया जाता था, यह स्पष्ट नहीं है।

स्थानीय सरकार
(Local Government)

प्राचीन भारत में स्थानीय सरकार को आज की भांति शहरी एवं देहाती क्षेत्रों में विभाजित किया गया था। दोनों क्षेत्रों की प्रशासनिक व्यवस्था अलग अलग प्रकार से की गई थी। अतः यह उपयुक्त रहेगा कि अलग शीर्षकों में इनका अध्ययन किया जाए।

नगरों का प्रशासन
(The Administration of cities)

वैदिक काल के नगरों की शासन व्यवस्था से सम्बन्धित जानकारी बहुत कम मिलती है। उस समय गांवों की संख्या अधिक थी और पुर या नगर बहुत कम होते थे, जिनका महत्व भी कम होता था। वेदोत्तर साहित्य में भी नगरों से सम्बन्धित बहुत कम जानकारी मिलती है। महाकाव्य काल में अनेक नगरों तथा राजधानियों का विकास हो गया। अयोध्या हस्तिनापुर आदि की प्रशासनिक व्यवस्था का पर्याप्त वर्णन इन ग्रन्थों में मिलता है। भारत पर जब सिकन्दर ने आक्रमण किया उस समय का पंजाब नगरों और पुरों से पूर्ण दिखलाई देता है। ये नगर प्रायः स्वायत्त थे और अपनी नगर परिषद के द्वारा संचालन करते थे। गुप्तकाल के बाद से नगरों की शासन व्यवस्था का पूरा विवरण प्राप्त होता है।

' महाभारत के भीष्म के मतानुसार नगर ऐसा होना चाहिए जो दुर्ग सम्पन्न हो, धान्य और शस्त्रों से भरापूरा हो, दृढ़ दीवार एवं सीमाओं से

घिरा हुआ हो तथा हाथी घोड़े तथा रथ समूह से युक्त हो। शुक्र ने राजधानी के निर्माण के संबंध में बताया है कि यह ऐसे प्रदेश में बनाई जाए जो अनेक वृक्षों एवं लताओं से युक्त है, पशु पक्षियों से व्याप्त है, अन्न एवं जल से सम्पन्न है, वृक्ष और काष्ट परिपूर्ण है और नदियों तथा पर्वतों के निकट है। शुक्र के मतानुसार नगरो का प्रशासन ६ प्रमुख अधिकारियों द्वारा किया जाना चाहिए। ये है—मुखिया एवं प्रधान, न्यायाधीश अथवा दण्डाधीश, भूमिकर वसूल करने वाला, चूंगी और शुल्क अधिकारी, सन्तरी और क्लर्क। इनमें सन्तरी का काम विभिन्न प्रकार की सूचनाएं एकत्रित करना है और नगर प्रमुख को नागरिको के प्रति पिता के जैसा व्यवहार करना चाहिए। राजधानी प्रदेश में दुर्ग बनाने पर पर्याप्त जोर डाला गया है। राजधानी प्रदेश के अतिरिक्त अन्य नगर भी हुआ करते थे। इनमें पतन वह नगर होता था, जहां नाव से उतरने के घाट थे। पहण उस नगर को कहते थे जहां केवल नाव द्वारा ही पहुंचा जा सकता था। द्रोणमुख वे नगर थे, जिनमें जल तथा स्थल दोनो मार्गों से पहुंचा जा सकता था।

नगर प्रशासन के अधिकारी

नगर का प्रशासन विभिन्न प्रकार के अधिकारियों द्वारा किया जाता था। इनमें प्रथम उल्लेखनीय नगर प्रमुख है। इसके अतिरिक्त नगर प्रशासन में भाग लेने वाले राज्य की ओर से नियुक्त पदाधिकारी तथा स्थानीय सभाएं समितियां और समुदाय होते थे। कौटिल्य ने नगर के मुख्य अधिकारी को नागरक कहा है जिसे व्यापक अधिकार दिये हैं। यह अधिकारी नगर के भीतर शान्ति, सुव्यवस्था और स्वच्छता रखने के लिए उत्तरदायी था। उसे नगर निवासियों से कर लेने और नियमों के विरुद्ध आचरण करने वालों को दण्ड देने का अधिकार था। वह नगर में होने वाले कार्यों का पर्यवेक्षण करता था। वह दूसरों की खोई व उनके द्वारा भूली या छोड़ दी गई वस्तुओं की रक्षा करता था। अपने उत्तरदायित्वों को निभाने में उसके द्वारा कोई असावधानी नहीं बरती जाती थी। मौर्य काल के बाद भी नगर प्रमुख की नियुक्ति की परम्परा बनी रही। जातकों में पुर के प्रमुख राजपुरुषों को नगर गुत्तिक कहा गया है। मनु स्मृति में नगर के प्रमुख अधिकारी को नगर में होने वाली प्रत्येक घटना की देखरेख करने वाला कहा गया है। नगर की रक्षा और दुष्टों का दमन उसके दो मुख्य कार्य थे। इस अधिकारी से आशा की जाती थी कि उसका व्यवहार नगर निवासियों के साथ सहानुभूति और आत्मीयता से पूर्ण हो।

नगर प्रमुख के अतिरिक्त अर्थशास्त्र में कुछ अन्य राज पुरुषों के भी नाम मिलते हैं। इनका पण्याध्यक्ष वह होता था जो कि नगरों में बेची जाने वाली वस्तुओं का मूल्य निर्धारण करता था। सुराध्यक्ष द्वारा राज्य के नियमों के अनुसार मदिरा के क्रय विक्रय तथा प्रयोग का संचालन किया जाता था। सून्याध्यक्ष यह देखता था कि मांस बेचने वाले हड्डियों को निकाल कर स्वच्छ माँस बेचते हैं कि नहीं। गणिकाध्यक्ष गणिकाओं को आय का निर्धारण

करता था और उन पर कर लगाता था। नावाध्यक्ष विदेशी यात्रियों से शुल्क वसूल करता था।

नगर में जनसंख्या के विवरण को सुरक्षित रखने की व्यवस्था थी। कौटिल्य ने जनसंख्या कार्यालय का उल्लेख किया है। उसने जन गणना करने वाले गोप तथा स्थानिक नाम के दो राज पुरुषों का उल्लेख किया है। प्रत्येक धर्मशाला अपने यहां रुकने वालों के नाम और प्रत्येक नागरिक अपने अतिथियों के नाम की सूचना इन अधिकारियों के पास भेजते थे।

नगरपालिका के कर्तव्य

नगरों का शासन करने वाली संस्था 'पौर' कहलाती थी। खारवेल के लेखों मे, दिव्यावदान मे, रामायण में तथा कुछ अन्य ग्रन्थो में इस शब्द का इसी रूप मे प्रयोग किया गया है। इस सभा के द्वारा सार्वजनिक कल्याण का कार्य किया जाता था। बृहस्पति के अनुसार यह नगर में शान्ति और व्यवस्था का कार्य करती थी। यह सार्वजनिक उपयोग की इमारतें बनवाती थी। इसके अतिरिक्त बाजारो का मूल्य नियंत्रण, बन्दरगाहों का पर्यवेक्षण एवं मन्दिरों की देखभाल भी इसके द्वारा की जाती थी। मैगस्थनीज के कथनानुसार पाटलिपुत्र की नगर सभा के ६ विभाग थे तथा प्रत्येक विभाग म ५ सदस्य होते थे। पहला विभाग औद्योगिक कला तथा दूसरा विभाग विदेशियो की सुविधा की देखरेख करता था। तीसरा विभाग प्रजा के जन्म-मरण का विवरण रखता था एवं चौथा वाणिज्य एवं व्यापार का संचालन करता था। पांचवां व्यावसायिक विकास का पर्यवेक्षण तथा छठा बाजार में नाप–तौल की जांच करता था। नगर सभा एक पृथक कार्यालय में अपनी बैठकें करती थी। सम्भवत नगर सभा की एक मुद्रा भी होती थी।

पुरों के मुख्य अधिकारी पुरपाल की नियुक्ति राजा के द्वारा की जाती थी। पुरपाल स्वयं ही सेना-नायक होता था। इसे शासन कार्यों में मदद देने के लिए एक गैर-सरकारी संस्था हुआ करती थी। इसमे प्रायः सभी व्यवसायों के प्रतिनिधि होते थे। कभी-कभी पुर को अलग अलग वार्डों मे विभाजित कर दिया जाता था। नगरपालिकायें जनप्रिय निगम, पौर तथा जनपदों की नागरिक संस्थायें, व्यापारिक एवं औद्योगिक गिल्डस आदि अनेक नगर निकायों का संगठन प्राचीन भारत में किया गया। इन निकायो द्वारा वे कार्य किये जाते थे जिनको व्यक्तिगत प्रयास द्वारा सम्पन्न नहीं किया जा सकता था तथा जिनके लिए सामूहिक प्रयास आवश्यक था। बृहस्पति के अनुसार ये कार्य थे—सार्वजनिक भवनो, मन्दिरों, तालाबों, आराम-गृहों, कुओं, पूजा स्थलों आदि की व्यवस्था करना, बदमाश व्यक्तियों से नगर की रक्षा तथा दु खियो की सहायता आदि। नगर पालिकायें विभिन्न स्रोतों से धन प्राप्त करती थीं। इनके सदस्यो द्वारा दान किया जाता था। सार्वजनिक निर्माण के कार्यों से उसे लाभ प्राप्त होता था। दण्ड रूप में भी ये नागरिकों से धन प्राप्त करती थीं। इनकी आय का मुख्य स्रोत नगरपालिका सीमा में बेची जाने वाली वस्तुओं पर चुंगी महसूल था। आधुनिक साधनों के

अपर्याप्त होने पर ये कभी भी आवश्यकता के अनुसार कर्ज ले सकती थीं अथवा राज्य से आर्थिक सहायता पा सकती थीं।

ग्रन्थों में पाटलिपुत्र की भांति अयोध्यानगर के सम्बन्ध में भी कुछ जानकारी प्राप्त होती है। महर्षि वाल्मीकि ने लिखा है कि राजा दशरथ की राजधानी दुर्गम किलों तथा खाइयों से युक्त शत्रु के लिए दुर्गम थी। अयोध्या दो भागों में विभाजित थी–पुर और राष्ट्र। राजधानी में सेना का मुख्य केन्द्र होने के कारण वह दुर्ग से सुरक्षित रहती थी इसी कारण उसे पुर या दुर्ग कहा जाता था। पुर का शासन पौर नाम की एक स्थानीय संस्था द्वारा किया जाता था। पौर एक प्रकार का नगर निगम था। इसके द्वारा किये जाने वाले कार्य थे—नगर-नियोजन, मार्गों की रचना एवं व्यवस्था, स्वच्छ पानी की व्यवस्था, सफाई, गलियों में प्रकाश, सार्वजनिक भवनों की व्यवस्था, मार्गों पर चलने वालों का नियमन, शहर की सजावट, पार्कों की व्यवस्था आदि आदि।

(B) गांवों का स्थानीय प्रशासन
[The Local Government of Villages]

प्रो० अलतेकर का कहना है कि "अति प्राचीन काल से ही भारत के ग्राम शासन व्यवस्था की धुरी रहे हैं।"[1] शुक्र ने गांवों की परिभाषा देते हुए बताया है कि जहां से एक सहस्त्र चांदी के पण की आय हो वह गांव है।[2] कौटिल्य का कहना है कि कोस दो कोस की सीमा में गांव बसाये जायें जिनमें शूद्र तथा किसान अधिक हों, सौ से लेकर पांच सौ तक कुल हों तथा जो गांव एक दूसरे की रक्षा करने में समर्थ हों। इन गांवों की सीमा नदी, पर्वत, वन, खाई अथवा गुफा, सेतु, बांध या वृक्षों से बनायी जाये।[3] वैदिक काल में राज्यों का आकार छोटा होने के कारण गांवों का महत्व और भी अधिक था। राज्य का आकार बढ़ जाने के बाद भी अधिकांश लोग गावों में ही रहते थे अतः इनका महत्व बना रहा। रामायण और महाभारत में भी गांव के अधिकारियों का नाम आया है। वैदिक कालीन ग्रामों का अधिकारी ग्रामणी होता था जिसे स्थानीय जनता का माता-पिता समझा जाता था।

गांवों के प्रशासन का रूप प्रजातन्त्रात्मक था। राधा कुमुद मुकर्जी आदि विद्वानों का मत है कि प्राचीन भारत सत्ता के केन्द्रीकरण में विश्वास नहीं करता था वरन् सामूहिक स्वशासन में था जिसके लिए विकेन्द्रीकरण आवश्यक था। उस समय का प्रत्येक गांव स्वशासित था। गांवों की राजनीति पर राज्य में होने वाले राजनैतिक उतार-चढ़ाव का अधिक प्रभाव नहीं

---

1. प्रो० अलतेकर, पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ–१६८
2. शुक्र-नीति, १/१६२
3. अर्थ-शास्त्र, २/१/२–३

होता था। मैगस्थनीज आदि विदेशी विद्वानों द्वारा भी यह माना गया है कि भारतीय ग्राम छोटे-छोटे आत्म-निर्भर गणतन्त्र थे। कृषि कार्य को इतना पवित्र माना जाता था कि राजनैतिक लड़ाइयों में भी खेतों को यथा शक्ति नुकसान नहीं पहुँचाया जाता था।

शुक्र ने प्रत्येक गांव में ६ राज्य कर्मचारी रखने को कहा है—गांव का अधिपति, सुरक्षा अधिकारी, राज्य की कृषि सम्बन्धी आय लेने वाला, लेखक प्रतिहार तथा व्यापारिक वस्तुओं पर शुल्क लेने वाला।

गांव का अधिपति

गांव का अधिपति अथवा मुखिया अपने निर्देशन एवं निरीक्षण में गांव के शासन को संचालित करता था। विभिन्न समयों एवं स्थानों में इस अधिकारी के लिए अलग-अलग संज्ञाओं का प्रयोग किया गया है। सामान्य रूप से एक गांव का एक ही अधिपति होता था। इसका पद वंश परम्परागत था। उत्तराधिकारी के अयोग्य होने पर किसी अन्य सम्बन्धी को यह पद दिया जा सकता था। यह पद ब्राह्मणों को नहीं वरन् क्षत्रियों को दिया जाता था। कभी-कभी वैश्यों को भी यह पद सौंप दिया जाता था।

गांव के अधिपति का मुख्य कार्य गांव की रक्षा करना था। यही कारण है कि इस पद को क्षत्रियों को दिया जाता था। गांव के स्वयं सेवक दल एवं पहरेदारों का वह नेतृत्व करता था। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जबकि गांव के अधिपति तथा स्वयं सेवक दल के सदस्यों ने गांव की रक्षा में अपने प्राण तक न्यौछावर कर दिये थे।

अधिपति का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य था सरकारी करों का संग्रह करना। यह ग्राम पंचायत का पदेन अध्यक्ष होता था। यह गांव का सबसे प्रभावशाली व्यक्ति होता था। सरकार के प्रति जवाबदेह होते हुए भी वह जनता का तथा जनता के लिए एक अधिकारी होता था।

अन्य अधिकारी

अधिपति के कार्यों में सहायता के लिए अन्य अधिकारी भी होते थे। गांव पंचायत के निर्णयों का अभिलेख तथा जिले एवं सरकार के अधिकारियों के साथ हुए पत्र व्यवहार की प्रतिलिपि रखने का कार्य गांव का मुनीम करता था। इसे वृत्ति के रूप में कर मुक्त भूमि दी जाती थी।

गांव के प्राय सभी सद् गृहस्थों को ग्राम सभा की सदस्यता का अधिकारी माना गया था। महाराष्ट्र, कर्नाटक एवं तमिल देश में इसे क्रियान्वित रूप-प्रदान किया गया।

ग्रामस्तर की अन्य संस्थाएं

गुप्त काल में कुछ प्रान्तों में ग्राम समितियों का विकास हो चुका था। ये मध्यभारत में पंचमण्डली तथा बिहार में ग्राम-जनपद कही जाती

थीं। इनकी नियमित बैठकें हुआ करती थीं तथा महत्वपूर्ण निर्णय लिए जाते थे। देश के कुछ राज्यों में ग्राम वृद्धों द्वारा शासन कार्य सम्पन्न किया जाता था। प्रो० अलतेकर का कहना है कि "गुप्त काल तथा उसके बाद में विहार, राजपूताना, महाराष्ट्र तथा कर्नाटक में ग्राम सभाओं की कार्यकारिणी समितियां भी कायम हो चुकी थीं। पर स्मृतियों और उत्कीर्ण लेखो में इनके संगठन से संबन्धित कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती।"

प्राचीन भारत में इन ग्रामीण संस्थाओं के लिए यदि कोई निर्वाचन किया जाता था तो उस पर आज की तरह से दलबन्दी, साम्प्रदायिकता आदि का प्रभाव नहीं होता था। गांव के सद्गृहस्थों की सभा में जातिपांति के भेद-भाव का असर अधिक नही होता था। मराठा शासन काल की ग्राम पंचायतों के फैसलों पर अब्राह्मणों तथा यहां तक कि शुद्रों तक के हस्ताक्षर मिलते हैं।

ग्राम पंचायतों के कार्य

प्राचीन भारत में ग्राम पंचायतों के द्वारा अनेक कार्य किये जाते थे। प्रो० अलतेकर ने विस्तार के साथ इनका वर्णन किया है। उनके मतानुसार ग्राम पंचायतें निम्नलिखित कार्य करती थीं—

१. **भूमि कर वसूल करना**—भूमि कर वसूल करने का दायित्व पूरी तरह से ग्राम पंचायतों का था। सूखा या बाढ़ आदि की स्थिति में वह लगान माफ कर सकती थी। कर वसूल करने के लिए विभिन्न तरीकों को अपनाया जा सकता था।

२. **ऊसर भूमि का स्वामित्व**—गांव की ऊसर भूमि का स्वामित्व ग्राम पंचायत करती थी। राज्य द्वारा इस भूमि को ग्राम पंचायत की अनुमति के विना नही वेचा जा सकता था। स्वयं पंचायत द्वारा भी ऐसी भूमि के वेचने का विवरण प्राप्त होता है।

३. **झगड़ों को दूर करना**—ग्राम पंचायतों को न्याय के क्षेत्र में व्यापक शक्तियां थीं। यद्यपि गम्भीर अपराध के मामले इनके अधिकार क्षेत्र की सीमा से बाहर थे। दीवानी मामलों में इसके अधिकारों की कोई सीमा नही थी। पंचायतों की व्यापक न्यायिक शक्तियो का कारण तत्कालीन अराजकता या राजकीय न्यायालयों के अभाव को नहीं माना जा सकता। स्वयं राज्य की नीति ही यह थी कि पंचायतों को न्याय के क्षेत्र में अधिक शक्तियां सौंपी जाये। पंचायतों के निर्णय के विरुद्ध अपील की जा सकती थी, किन्तु इसकी सफलता की आशायें अत्यन्त मन्द होती थी।

४. **देवालयों का प्रबन्ध**—जिस गांव में देवालयों की देख-रेख करने के लिए कोई अलग व्यवस्था नहीं होती थी वहां पंचायत अथवा उसकी किसी उपसमिति द्वारा यह कार्य किया जाता था।

५. **पीड़ितों की सहायता**—इसके द्वारा आवश्यकतामन्द लोगों की जरूरत पूरी करने के लिए उनको ऋण दिया जाता था। ऋण देने की खातिर पंचायत द्वारा सार्वजनिक भूमि को गिरवी रख दिया जाता था।

६. **सार्वजनिक हित की योजनायें**—गांव के उत्पादन को व ढ लिए ग्राम पंचायतें योजना बनाती थीं। इसके लिए वे जंगली तथा ऊसर भूमि

को कृषि योग्य बनाने का प्रयास करती थीं। ये सड़कों की मरम्मत, पेय जल के कुएं तथा धर्मशाला आदि की व्यवस्था भी करती थीं।

७. सांस्कृतिक एवं साहित्यिक विकास—ग्राम पंचायतें अपने देश के निवासियों को भौतिक सुख साधन उपलब्ध कराके ही संतोष नहीं कर लेती थीं, वरन् ये नागरिकों के सांस्कृतिक एवं साहित्यिक विकास के लिए भी सक्रिय योगदान करती थीं।

ग्राम पंचायतों के उपर्युक्त कार्यों को देखने के बाद प्रो॰ अल्तेकर का यह कथन सार्थक प्रतीत होता है कि "आधुनिक काल में हिन्दुस्तान या योरुप-अमरीका में ग्राम संस्थाओं को जितने अधिकार प्राप्त हैं उनसे कहीं अधिक इन प्राचीनकालीन ग्राम संस्थाओं को थे और इनकी रक्षा करने में वे हमेशा सावधान रहती थीं। ग्रामवासियों के अभ्युदय और उनकी सर्वांगीण भौतिक, नैतिक और धार्मिक उन्नति के साधन में इनका भाग प्रशंसनीय और महत्वपूर्ण था।"[1]

अन्य स्थानीय संस्थायें
[Other Local Bodies]

स्थानीय स्तर पर उपर्युक्त के अतिरिक्त भी संस्थायें होती थीं जो कि जनता की सामूहिक प्रवृत्ति एवं मिल-जुल कर काम करने के प्रयास का परिणाम थीं। इन संघों को पारस्परिक सहायता एवं रक्षा के उद्देश्य से बनाया जाता था। इनका आधार निवास स्थान, रक्त सम्बन्ध एवं व्यवसाय आदि होते थे। कुल श्रेणी एवं पूग द्वारा स्थानीय स्तर पर न्याय एवं अन्य सुविधायें प्रदान करने का प्रयास किया जाता था। कुल सम्भवतः एक ही परिवार के सदस्यों के समूह को कहा जाता था। आचार्यों ने इसे परिवार के सदस्यों की बैठक माना है। स्वशासन की संस्थाओं में इनका कोई विशेष हाथ नहीं होता था तो भी राधाकुमुद मुकर्जी तथा दीक्षितार आदि इनको स्वशासन की संस्थाओं में स्थान देते हैं। श्रेणी व्यावसायिक समिति को कहा जाता था। इसके अपने रीति-रिवाज होते थे जिनको स्मृतियों में श्रेणी धर्म कहा गया है। अपने सदस्यों के मतभेदों का निपटारा यह श्रेणी धर्म के अनुसार ही करती थी। महाभारत ने गण को श्रेणी का पर्यायवाची माना है। श्रेणी जैसे व्यावसायिक संघों का अस्तित्व यह साबित करता है कि प्राचीन भारत में सहकारिता के सिद्धान्त को मान्यता दी गई थी। पूग के बारे में राधाकुमुद मुकर्जी का कहना है कि यह एक विशेष प्रकार का संघ था। इसमें अनेक जातियों के लोग होते थे जिनका कोई निश्चित व्यवसाय या जीवन-यापन का साधन नहीं था जो धन और आनन्द प्राप्त करने के सामान्य लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए मिलते थे।[2] इन स्थानीय संगठनों अथवा समितियों का मुख्य कार्य स्थानीय झगड़ों का निपटारा करना था।

---

1 प्रो॰ अल्तेकर, पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ—१८३
2 "पूगा समूहाः भिन्न जातीनाम् ।"—मिताक्षरा

स्थानीय संस्थायें व केन्द्रीय सरकार

नगरों तथा गांवों की स्थानीय सस्थायें पर्याप्त स्वतन्त्रता एवं स्वायत्तता का उपयोग करती थी। यातायात के साधनों के अभाव में तथा राजनैतिक जीवन की अस्थिरता में समस्याओं के बाहुल्य के कारण केन्द्रीय सरकार इन संस्थाओं के कार्यों में हस्तक्षेप करना न तो उचित समझती थी और न ही वह कर सकती थी। स्थानीय स्तर की यह स्वायत्तता इतनी भी न थी कि इसे अराजकता या अव्यवस्था में बदला जा सके। अधिकांश स्थानीय अधिकारियों की नियुक्ति राज्य सरकार द्वारा की जाती थी। सामयिक पर्यवेक्षण एवं गुप्तचरों के द्वारा इन पर आवश्यक नियन्त्रण रखा जाता था। ग्रामों तथा नगरों के अधिकारियों के ऊपर एक सचिव रखने को कहा गया जो कि धर्म का जानकार हो, सदैव जागरूक रहे और सरल स्वभाव वाला हो। जिस प्रकार नक्षत्रों के ऊपर ग्रह रहते हैं उसी प्रकार सचिव उन सबकी स्वयं देखभाल करे। सचिव को चाहिए कि वह गुप्तचरों के माध्यम से स्थानीय अधिकारियों के हालचाल जानता रहे। शठ, हिंसक, पापी एवं पराये धन को लूटने वालों से जनता की रक्षा करना राज्य का मुख्य दायित्व है।

गांवों में स्वायत्त शासन की व्यवस्था करके छोटे–छोटे गणतन्त्र बनाने का प्रयास तो किया गया था किन्तु इसका अर्थ यह नहीं था कि यह प्रशासनिक गतिरोध को जन्म दे। शासन व्यवस्था में एक जंजीर के जैसा एकीकरण था। राजा के द्वारा एक गांव, दस गांव, बीस गांव, सौ गांव तथा सहस्त्र गांवों के अधिपति नियुक्त किये जाते थे। गांव में किसी प्रकार की गड़बड़ी होने पर एक गांव का अधिकारी दस गांवों के अधिकारी को सूचना देता था, दस ग्राम का अधिकारी बीस ग्राम के अधिकारी से और इस प्रकार क्रमशः अपने से ऊंचे अधिकारी से जाकर नीचे के अधिकारी अपने क्षेत्र की गड़-बड़ी की सूचना देते थे।

स्थानीय संस्थाओं एवं केन्द्रीय सरकार के मध्य स्थित सम्बन्धों के बारे में प्रो० अलतेकर का यह कथन सत्य है कि "केन्द्रीय सरकार को केवल साधारण निरीक्षण एवं नियन्त्रण का अधिकार था। ग्राम प्रबन्ध की पूरी जिम्मेदारी ग्राम सभा या पंचायत पर ही थी और उसे अधिकार भी बहुत थे।" स्थानीय संस्थायें स्वयं की परम्पराओं, रीति-रिवाजों एवं नियमों के अनुसार कार्य करती थी।

१०

गणराज्य अथवा प्रजातंत्र

[THE REPUBLICS]

प्रागैतिहासिक काल में हिन्दू राज्य व्यवस्था का रूप क्या था यह एक अनुमान का विषय है जो कि प्राचीन ग्रन्थों से प्राप्त सामग्री के आधार पर लगाया जा सकता है। आज अधिकांश विद्वान इस बात से सहमत हैं कि प्राचीन भारत मे प्रजातन्त्रात्मक शासन व्यवस्था का प्रचलन था, किन्तु यह व्यवस्था राजतन्त्र की पूर्ववर्ती है अथवा अनुवर्ती है इस सम्बन्ध में वे मतैक्य नहीं है। एक ओर तो डा० जायसवाल हैं जिन्होंने अनेक प्रमाण देकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि गणतन्त्रों का उदय प्रारम्भिक वैदिक काल तथा राजतन्त्र के बाद हुआ। प्रारम्भिक वैदिक साहित्य में केवल राजतन्त्र का ही उल्लेख किया गया है। यह इसलिए हुआ होगा क्योंकि वैदिक युग के प्रारम्भ मे केवल राजाओं के द्वारा ही शासन हुआ करता था। वैदिक युग के बाद यह शासन व्यवस्था छोड़ दी गई तथा भिन्न-भिन्न स्थानों में प्रजातन्त्रात्मक शासन व्यवस्था को अपनाया गया। अपने पक्ष के समर्थन मे डा० जायसवाल का कहना है कि महाभारत के अनुसार वैदिक युग मे केवल राजा द्वारा शासन करने की परम्परा थी। दूसरे, ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में विभिन्न स्थानों पर राजा की स्तुति की गई है। तीसरे, मैगस्थनीज द्वारा सुनी हुई परम्परागत बातों से यही सिद्ध होता है कि यहा प्रजातन्त्र का प्रचलन प्रारम्भिक वैदिक काल के बाद हुआ होगा।[1] चौथे, प्रजातन्त्रात्मक शासन के प्रमाण परवर्ती वैदिक साहित्य मे प्राप्त होते हैं।

डा० जायसवाल का यह मत दूसरे विद्वानो को मान्य नहीं है तो भी यह तो सभी मानते हैं कि प्राचीन भारत में गणतन्त्रात्मक शासन का अस्तित्व था। डा० वी० पी० वर्मा के कथनानुसार प्राचीन भारत की गणतन्त्रीय संस्थाओं का परिचय प्राप्त कर उन विद्वानों को आश्चर्य होता है जो कि निरंकुश धर्मतन्त्रात्मक और स्वेच्छाचारी शासन का एशिया मे सरकार का एक

---

1. कई पीढ़िया बीतने पर नृपतन्त्र समाप्त हो गया तथा उसका स्थान प्रजातन्त्रात्मक शासन व्यवस्था ने ले लिया—एरियन, अध्याय—६

मात्र रूप मानते हैं।[1] विनय कुमार सरकार के कथनानुसार भारतीयों का संस्था विषयक अनुभव केवल राजतन्त्र के क्षेत्र तक ही सीमित न रहा। हिन्दू संविधान का विकास गणतंत्रात्मक अथवा अप्रजातन्त्रात्मक दिशा में भी हुआ। भारत के प्राचीन इतिहास में कम से कम तीन काल ऐसे रहे हैं जब कि हिन्दुओं ने यूनानी एवं रोमन साम्राज्य से पूर्व कालीन ढग के गणों अथवा सङ्घों का विकास किया।[2] प्राचीन राज्यों में गणराज्यों के अस्तित्व को विभिन्न प्रकार के प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया गया है। अधिकांश भारतीय विद्वान जायसवाल की इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं है कि गणतत्र राजतन्त्र का परिवर्ती है। उनकी यह मान्यता है कि "भारतीय विद्वानों ने सर्वप्रथम जनतन्त्र शासन की ही कल्पना की थी। भारत में राज्य की उत्पत्ति सर्वप्रथम जनतंत्र के रूप में ही हुई थी और वैदिक काल में ही जनतन्त्र का रूप पूर्णतः विकसित हो चुका था। कालान्तर में जनतंत्र शासन में कुछ दोष उत्पन्न हो गये, इस कारण जनतन्त्र के रूप में भी कुछ परिवर्तन करने पड़े और शासन का रूप जनतन्त्र से राजतन्त्र की ओर झुका।"[3]

इस सम्बन्ध में दूसरा प्रश्न यह उठता है कि क्या प्राचीन भारतीय गणराज्यों को आज की भाषा में प्रजातन्त्र या लोकतन्त्र कहा जा सकता है। इस सम्बन्ध में कुछ का कहना है कि प्राचीन भारत में प्राप्त गणराज्य केवल जन राज्य अथवा शान्ति राज्य थे। उस समय प्रजातन्त्र जैसी कोई व्यवस्था नहीं थी केवल राजतन्त्र कायम था। इस मत में आंशिक सत्यता है। यह सच है कि प्राचीन भारत के यौधेय, शाक्य मालव आदि गणराज्यों को हम आज के लोकतन्त्र के समरूप नहीं मान सकते, क्योंकि आज के उन्नतिशील लोग प्रजातन्त्र की भांति इन गणराज्यों की शक्तियां सामान्य जनता के हाथ में नहीं थी। इन व्यवस्थाओं को हम प्रजातन्त्र केवल इसलिए कह सकते हैं, क्योंकि इनमें शासन की सर्वोच्च शक्तियां राजतन्त्र की तरह किसी एक व्यक्ति में न होकर किसी समूहगण अथवा परिषद के हाथ में होती थी जिनकी संख्या भिन्न-भिन्न रहती थी। जन सामान्य का शासन प्रजातन्त्र का एक आदर्श रूप हो सकता है किन्तु वास्तविक व्यवहार में इसकी उपलब्धि बहुत कम हो पाती है। समाज का एक वर्ग बच जाता है जिसे शासन की कोई शक्ति नहीं सौंपी जाती। प्राचीन भारत में स्थित गणराज्य व्यवस्था को राजतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था नहीं कहा जा सकता। यह शुद्ध रूप से जनतंत्रीय शासन था, क्योंकि इसका अपना विशेष रूप था और उसके संगठन और निर्वाचन की निजी प्रणाली थी।

---

1. V. P. Verma, Studies in Hindi Political thoughts and its metaphysical foundations-Page-31.
2. B K. Sarkar, op. cit., Page—136.
3. डा० देवीदत्त शुक्ल, प्राचीन भारत में जनतंत्र, हिन्दी समिति, लखनऊ, १९६६, पृष्ठ १७.

प्रजातन्त्र राजतन्त्र का पूर्ववर्ती है

आज प्राय अधिकांश विद्वान इस बात से सहमत हैं कि भारत में सर्वप्रथम जनतन्त्र का उदय हुआ और राजतन्त्र उसका विकृत रूप था। भारतीयों के मन में जनतन्त्र के प्रति भक्ति भावना आदिकाल से रही है और समय समय वे इसे वास्तविक जीवन में उतारते रहे हैं। जब कभी भारतीय राजनीति से जनतन्त्रात्मक व्यवस्था विलीन हुई तो इसके साथ ही जनतन्त्रीय भावना समाप्त न हो सकी। सम्भवत यही कारण है कि राजतन्त्रीय शासक भी जनता की स्वीकृति से शासन चलाने मे रुचि लेते थे। भारतीय जनता में स्वतन्त्रता की भावना का अस्तित्व महाराणा प्रताप और शिवाजी के कठोर संघर्षों में जनता के सहयोग से प्रमाणित होता है। भारतीयों में जनतन्त्रात्मक भावना स्वाभाविक एवं अन्तर निहित है।

विभिन्न प्रमाणो के होते हुए भी भारतीय गणराज्य व्यवस्था के सम्बन्ध में जो भ्रम होता है उसके विभिन्न कारण है। इसका पहला कारण तो यह है कि प्राचीन भारतीय साहित्य जनतन्त्रात्मक व्यवस्था के सर्वोच्च अधिकारी के लिए भी राजा शब्द का प्रयोग करता है। ऐसी स्थिति में उस शासन व्यवस्था के रूप के सम्बन्ध में भ्रम होना स्वाभाविक है। न केवल विदेशी लेखक वरन् अनेक भारतीय विद्वान भी राजा शब्द को देखकर शासन व्यवस्था को राजतन्त्रात्मक मान लेते हैं। दूसरे वैदिक साहित्य ने राजा की स्तुति करते समय उसे देवताओ के समान माना है। विभिन्न लेखक इसे राजा के दैवीय अधिकारों का प्रतीक मानते हैं जबकि तथ्य यह है कि प्राचीन भारतीयो ने अधिकार पर इतना बल नहीं दिया था, जितना कि कर्त्तव्यों पर। राजा को देवताओ के समान मानकर भी ग्रन्थकारों ने उसके कर्त्तव्यों के बारे में ही रुचि ली है। मनु ने स्पष्ट रूप से बताया है कि अमुक अमुक देवताओं की उपमाओं से राजा के इन इन कर्त्तव्यों का बोध होता है। तीसरे, प्राचीन भारतीय शासक के पद को वंश परम्परागत बनाने में रुचि लेते थे। उन्हें विश्वास था कि मनुष्य के जीवन पर पैतृक गुण विशेष प्रभाव रखते हैं। यही कारण है कि राज पद पर निर्वाचन करते समय राजपुत्रों को विशेष रूप से योग्य समझा जाता था। फलत विभिन्न निर्वाचित पद भी वंश परम्परागत बन जाते थे। बौद्ध साहित्य में इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि शासन के रिक्त स्थानों के लिए निर्वाचन करते समय पहले पूर्व अधिकारी के पुत्रों की योग्यता को देखा जाता था तथा जहाँ तक सम्भव हो सके उन्हीं मे से किसी को नियमित किया जाता था। चौथे प्रारम्भ मे वर्ण व्यवस्था का आधार कर्म होने के कारण शासन करने वाले समस्त व्यक्तियों का वर्ण क्षत्रीय मान लिया जाता था। दूसरी जाति के लोग भी जब प्रशासकीय पदों को प्राप्त कर लेते थे तो वह क्षत्रीय मान लिये जाते थे। इस प्रकार केवल क्षत्रीय ही प्रशासनिक पदो पर स्थित मिलते हैं।

इन समस्त कारणों से कई बार यह भ्रम हो जाता है कि प्राचीन भारत की शासन व्यवस्था गणतन्त्रात्मक नहीं थी, जिसमें कि शासकों को जनता द्वारा निर्वाचित किया जाता हो वरन् यह राजतन्त्रात्मक थी- जहाँ कि

शासक एक ही जाति का और बहुधा वंश परम्परागत होता था । इस मत को केवल मृगमरीचिका मात्र कहा जा सकता है । असल में तथ्य यह है कि विधि की प्रधानता और शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त भारतीय राज्य दर्शन में इतना अधिक महत्व रखते थे कि भारतीय राजनीति में मताधिकार का महत्व गौण समझा गया । इससे प्रकट है कि भारतीय जनतंत्रीय शासन का अपना निजी रूप रहा है और उसके संगठन और निर्वाचन की अपनी प्रणाली रही है ।

अध्ययन की कठिनाईयां

भारतीय राज्य व्यवस्था के जनतन्त्रात्मक रूप को समझने के मार्ग में कुछ अन्य कठिनाइयां भी हैं । पहली बात तो यह है कि विषय को समझने के लिए प्राप्त सामग्री अत्यन्त अल्प है । कौटिल्य ने तथा महाभारत के शान्ति पर्व ने जिन अनेक आचार्यों तथा उनके ग्रन्थों का उल्लेख किया है उनमें से बहुत कम ही प्राप्त हुए हैं । जो ग्रन्थ इन नामों से उपलब्ध होते हैं उनके मूल ग्रन्थों के होने में पर्याप्त सन्देह है । भारतीय राज्य शास्त्र के प्राचीन ग्रन्थ या तो नष्ट हो गये अथवा नष्ट कर दिये गये, जो भी ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं वे भारतीय राजनीतिक विचारधारा को स्पष्ट करने में अपर्याप्त हैं ।

दूसरे, विभिन्न स्थानों पर खुदाई के द्वारा जो सिक्के प्राप्त होते हैं वे भी मूल ग्रन्थों के अभाव को पूरा नहीं कर पाते । उनमें से अनेक पर तो समय भी अंकित नहीं है । इसके अतिरिक्त उनमें कोई स्पष्ट विवरण प्राप्त नहीं हो सकता । तीसरे, जो ग्रन्थ प्राचीन भारत में गणतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था का उल्लेख मानते हैं उनकी पुष्टि के लिए अन्य कोई सामग्री प्राप्त नहीं हो पाती । वैदिक कालीन एवं महाभारत कालीन गणराज्यों का यहां तहां केवल नाम दिया गया है किन्तु पर्याप्त प्रमाण नहीं मिलते । चौथे, प्राचीन ग्रन्थों में गणतन्त्रात्मक ग्रन्थों का उल्लेख किसी गम्भीरता के साथ नहीं किया गया है । वैदिक साहित्य की शैली परोक्षवादी थी । महाभारत आदि ग्रन्थों में भी केवल संकेतात्मक शैली को अपनाया गया है । बौद्ध और जैन धर्म के साहित्य में प्राप्त राजनैतिक विवरण पर्याप्त है । ऐसी स्थिति में अध्ययनकर्ता को अनुमान के आधार पर आगे बढ़ना पड़ता है जिसमें त्रुटियों की पूरी सम्भावना होती है । इस सम्बन्ध में एक बात उल्लेखनीय यह भी है कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र के पहले का ऐसा कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता जिसमें राजनीति का वैज्ञानिक ढंग से वर्णन किया गया हो । कौटिल्य और उसका परवर्ती साहित्य में राजतंत्र को अध्ययन का मुख्य विषय माना गया है ।

---

1. सुरेन्द्र तिवाड़ी, सचिव, हिन्दी समिति, उद्धृत–डा० देवीदत्त शुक्ल, पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ ६

जनतन्त्र के अस्तित्व के आधार

उपर्युक्त सभी सीमाओं और कठिनाइयों के होते हुए आज यह बात स्वीकार की जाती है कि वैदिक काल से लेकर ५ वीं ईसवी शताब्दी तक भारत में जनतन्त्रात्मक शासन पद्धति को अपनाया गया। वेदों की परोक्षवादी शैली के आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि वैदिक काल में आर्थिक तथा क्षेत्रीय संस्थाएं राजा का निर्वाचन करती थी। निर्वाचित राजा को राज्यसभा के सदस्यों द्वारा स्वीकार किया जाना जरूरी था। निर्वाचन के समय चुनाव प्रचार किया जाता था। राजा के अधिकार उस समय इतने सीमित थे कि उस समय के राज्य को वास्तव में वर्गों का संघ मानना ही उपयुक्त रहेगा। बाद के ब्राह्मण ग्रन्थों में राजा की उपमा अनेक देवताओं से की गई है किन्तु इससे न तो राजा की दैवी उत्पत्ति का प्रतिपादन होता है और न उसके व्यापक अधिकारों का। ये उपमायें राजा के कर्तव्यों का बोध मात्र करवाती हैं।

महाभारत में विभिन्न राजतन्त्रीय राज्यों का उल्लेख मिलता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उस समय की शासन व्यवस्था राजतन्त्रात्मक थी। राजा शब्द का प्रयोग सामान्यतः शासक के लिए किया जाता था चाहे वह व्यवस्था राजतन्त्रात्मक हो चाहे प्रजातन्त्रात्मक हो। दोनों व्यवस्थाओं के बीच का अन्तर उनके संगठन को देखकर जाना जा सकता है। स्मृतियों एवं धर्म शास्त्रों में राज्य के विभिन्न कर्त्तव्यों का उल्लेख किया गया है उनसे भी राजतन्त्र और गणतन्त्रात्मक शासनों का भेद स्पष्ट नहीं होता।

महाभारत में वैराज्य, पारमेष्ठ्य राज्य, गणराज्य एवं संघ राज्य आदि चार प्रकार के जनतन्त्रीय शासनों का उल्लेख है। महाभारतीय कालीन जनतन्त्रीय राज्यों में यह सभी गुण थे, जिन्हें आज प्रजातन्त्र के लिए आवश्यक माना जाता है अर्थात सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व विधायनी शक्ति का पृथक्करण, न्याय की निष्पक्षता, सर्वोच्च सत्ता का जनता में निहित होना भाषण और संगठन बनाने की स्वतन्त्रता आदि। बौद्ध काल में आकर गणराज्यों में केवल अभिसिक्त वर्गों के प्रतिनिधि को ही स्वीकार किया गया। इस प्रकार गणराज्य व्यवस्था में सामन्तवादी तत्वों का प्रभाव बढ़ा। शाक्य राज्य के सम्बन्ध में विद्वानों के बीच मतभेद है। अधिकांश विद्वान उसे राजतन्त्रात्मक व्यवस्था कहते हैं। दूसरी ओर डा० देवीदत्त शुक्ल आदि लेखकों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि शाक्य राज्य जनतन्त्रीय राज्य था और उसका शासन बहुमत से होता था। इसी प्रकार लिच्छवी गणराज्य के सम्बन्ध में भी मतभेद है। यह राज्य सामन्त तन्त्रीय गणराज्य था। इस प्रकार गणतन्त्रात्मक शासन प्रणाली का रूप समय समय पर बदलता रहा है। डा० देवीदत्त शुक्ल के शब्द में "वैदिक कालीन गणराज्य महाभारत के काल में कुलीन गणराज्य बन गया और बौद्ध काल में उसका रूप सामन्ती गणराज्य हो गया।"

सम्राट अशोक के शिलालेखों से जनतन्त्रात्मक शासन प्रणाली वाले राज्यों के अस्तित्व का आभास मिलता है। इन राज्यों की शासन प्रणाली

एवं संगठन से सम्बन्धित अधिक सूचनायें प्राप्त नहीं होती। भारत के प्राचीन साहित्य में जनतन्त्र का अधिक उल्लेख नहीं मिलता। इस आधार पर यह मानना अनुपयुक्त होगा कि भारतीय विद्वानों की जनतन्त्र में रुचि नहीं थी। असल में प्राचीन भारतीय विचारक धर्म से मर्यादित, राजतन्त्र और जनतंत्र को एक ही मानते थे। प्राचीन भारत में अराजनैतिक संस्थाओं को जो महत्व प्राप्त था वह भी इस बात का प्रमाण है कि उस समय गणतन्त्रात्मक व्यवस्था कायम थी। समय के अनुसार इन अराजनैतिक संस्थाओं का महत्व कम होता गया।

हिन्दू प्रजातंत्र के पारिभाषिक शब्द
(Terms for Hindu Republic)

प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में गणतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था के लिए विभिन्न शब्दों का प्रयोग किया गया है। भारतीय जनतन्त्र में सबसे अधिक महत्व विधि की प्रधानता को दिया गया है। इसका कारण यह बताया गया है कि यहां आदिकाल से ही धर्म को सर्वोपरि माना गया है। विधि की प्रधानता के कारण प्राचीन भारतीय राज्य का रूप ऐसा बन गया जिसमें मताधिकार का कोई महत्व नहीं रहा। शासन का रूप चाहे जनतन्त्रात्मक हो चाहे राजतन्त्रात्मक, विधि का पालन करना ही उसकी श्रेष्ठता की कसौटी माना गया है। राज्य विधि को केवल क्रियान्वित्त कर सकता था उसे बना नहीं सकता था। मताधिकार को महत्व न देने के कारण उसके आधार पर शासन व्यवस्था का नामकरण करना भी अधिक महत्वपूर्ण नहीं माना गया।

प्राचीन भारतीय ग्रन्थों ने प्रजातंत्र के लिए जिन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है उनमें प्रमुख 'गण' शब्द है। डा० जायसवाल ने जैन साहित्यों में प्राप्त दोरिज्जाणी एवं गणरायाणी शब्दों का उल्लेख किया है। उनके कथनानुसार ये शासन प्रणाली के व्याख्यात्मक शब्द हैं। पहले शब्द का प्रयोग उन राज्यों के लिए किया जाता था जिनमें दो शासक शासन करते थे और दूसरे शब्द का प्रयोग उन राज्यों के लिए किया गया था जिनमें गण या समूह का शासन होता था। प्रजातंत्रात्मक शासन व्यवस्था के लिये प्रयुक्त किया जाने वाला दूसरा शब्द संघ था। इन दोनों मूल शब्दों का विभिन्न विशेषणों के साथ प्रयोग किया गया है। जनता के मताधिकार के आधार पर भारत में जनतन्त्रात्मक राज्यों का नामकरण किया गया। वैराज्य उस राज्य को कहा गया जिसमें जनता के प्रत्येक व्यक्ति को मताधिकार दिया जाता था और इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति राज्य के शासन में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेता था। गणराज्य वह राज्य था जिसमें समस्त जनता मताधिकार रखती थी किन्तु शासन का अधिकार केवल प्रतिनिधियों को प्राप्त था। पारमेष्ठ्य राज्य वह था जिसमें मताधिकार प्रत्येक गृहपति को दिया जाता था जो कि शासन कार्यों में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेता था। कुलीन गणराज्य वह होता था जिसमें मताधिकार केवल कुलपतियों को प्राप्त होता था और प्रत्येक कुलपति शासन कार्यों में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेता था। सामंत पर्यायी गणराज्य वह होते थे जिनमें केवल सामन्त ही मत देने का अधिकार रखते थे और वे ही शासन

कार्य मे भाग लेते थे। संघ राज्य शब्द का प्रयोग ऐसे राज्यों के लिए किया जाता था जिनमे एक से अधिक गणराज्य मिलकर शासन में समान रूप से भाग लेते थे।

इस नामकरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत मे मताधिकार की संस्था से लोग अनभिज्ञ नहीं थे किन्तु उसे अधिक महत्व देने की आवश्यकता नहीं समझी जाती थी। मताधिकार के अतिरिक्त आधुनिक प्रजातंत्र की एक अन्य विशेषता राजनैतिक दल माने जाते हैं। हिन्दू राज्य दर्शन मे राजनैतिक दलों को कभी मान्यता नहीं दी है। यहा राजनैतिक दल जनतन्त्रात्मक शासन चलाने के लिए आवश्यक नहीं माने गये हैं। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि प्राचीन भारतीय विचारो की भिन्नता अथवा उन्हें प्रकट करने की स्वतंत्रता में विश्वास नहीं करते थे। इसके विपरीत उनकी यह मान्यता थी कि विचारो की भिन्नता मानव जीवन की एक स्वाभाविक प्रवृति है। ऐसा कोई भी विचारक नहीं होता जिसका मत अन्य विचारक से पूरी तरह मिलता हो। विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता को प्राचीन भारतीयो ने इतना अधिक महत्व दिया कि सभा मे अपने विचार प्रकट न करने वाले को उन्होंने अत्यन्त निकृष्ट दृष्टि से देखा है। राजनैतिक दलो की स्थिति से आवश्यक नहीं कि जनतन्त्रात्मक मूल्यों का प्रोत्साहन मिले। तथ्य तो यह है कि वैयक्तिक विचारों की अभिव्यक्ति राजनैतिक दलो मे स्वतन्त्र रूप मे नहीं हो सकती। वहां दलगत स्वार्थ व्यक्ति के स्वतन्त्र विचारों को दबा देते हैं। दलबन्दी तथा गुटबन्दी के कारण संघ राज्य निर्बल बन जाता है। यही कारण है कि हिन्दू राज्य दर्शन में राजनैतिक दलो को जनतन्त्रात्मक राज्यों की शक्ति क्षीण करने वाला माना है।

गण शब्द का अर्थ एवं महत्व

डॉ० जायसवाल के कथनानुसार गण शब्द का मुख्य अर्थ है समूह और इसलिए गणराज्य का अर्थ एक ऐसे राज्य से है जो कि समूह के द्वारा या बहुत से लोगो द्वारा संचालित किया जाए। प्रजातंत्र के लिए पारिभाषिक शब्द गणतन्त्र पर्याप्त प्रचलित था। गण शब्द का प्रयोग ऋगवेद में ४० बार, अथर्ववेद मे ६ बार और ब्राह्मण ग्रन्थों मे कई बार किया गया है। गण लोगों का एक समाज या समूह होता था, उसे गण इसलिए कहा जाता था क्योंकि उसमे उपस्थित व्यक्ति या तो एक निश्चित संख्या में होते थे अथवा उनकी गणना की जाती थी। इस प्रकार देखा जाय तो गण शब्द से संसद की प्रतीति होती है। वैदिक कालीन गण जनता का ऐसा समूह होता था जो कि सभा के रूप मे कार्य करता था। गण के नेता को प्राय गणपति कहा जाता था। उत्तर वैदिक काल में गणो को एक निश्चित प्रदेश मे बसा हुआ बताया गया है किन्तु वैदिक काल में वे गण एक स्थान से दूसरे स्थान मे घूमते फिरते थे तथा मवेशियों पर अधिकार करने के लिए निरन्तर युद्ध मे रत रहते थे। विचारकों

का कहना है कि वैदिक काल के गणों को एक प्रकार से प्रारम्भिक जनात्मक प्रजातन्त्र माना जाता है।

गण एक संज्ञा सूचक शब्द है। ब्राह्मण ग्रन्थों में, रामायण में तथा जहां भी कहीं इस शब्द का प्रयोग हुआ है यह समूह के रूप में हुआ है। रामायण से पूर्व गण शब्द का प्रयोग प्राय: अराजनैतिक संस्थाओं के लिए ही किया गया है। रामायण काल में आकर यह गण अराजनैतिक संस्थाओं के रूप में भली प्रकार संगठित हो चुके थे किन्तु राजनीति में भी इनके द्वारा महत्वपूर्ण भाग लिया जाता था। गण शब्द का विभिन्न भारतीय विद्वानों एवं ग्रन्थों में जिस अर्थ में प्रयोग किया गया है उसे देखने के बाद इस शब्द का अर्थ स्पष्ट हो जायेगा।

पाणिनी ने अपने ग्रन्थ अष्टाध्यायी में गण शब्द का कई बार प्रयोग किया है, किन्तु इसके अर्थ के सम्बन्ध में आधुनिक विचारक एक मत नहीं है। डा. डी. आर. भण्डारकर के मतानुसार पाणिनी ने गण तथा संघ का प्रयोग किसी निश्चित उद्देश्य से संगठित व्यक्तियों के समूह अथवा किसी निश्चित कार्य के लिए संगठित व्यक्तियों की संस्था के अर्थ में किया है। डा. के. पी. जायसवाल का मत है कि पाणिनी ने इन दोनों शब्दों को समान अर्थ का माना है। डा. मजूमदार के मतानुसार पाणिनी ने गण शब्द का अर्थ जनतंत्रीय शासन ही माना है। डा. देवीदत्त शुक्ल के मतानुसार पाणिनी ने गण और संघ को विशेष संस्थाओं के लिए प्रयोग किया है और इन दोनों प्रकार की संस्थाओं को भिन्न-भिन्न माना गया है। गण और संघ नामक संस्थाएं राजनैतिक क्षेत्र में भी होती थी तथा आर्थिक, धार्मिक और अराजनैतिक क्षेत्र में भी।

महाभारत में गण शब्द का प्रयोग स्पष्ट रूप से गणराज्य के लिए किया गया है। शान्ति पर्व के अध्याय १०७ में गणों का अर्थ समझाया गया है। यहां आकर गण अराजनैतिक संस्था नही रह जाते। शान्ति पर्व में स्पष्ट रूप से इनको राज्य कहा गया है। सभा पर्व में अर्जुन द्वारा गणों को जीत कर उन्हें करदायी बनाने की बात कही गई है। अमर कोष में गण शब्द का प्रयोग समान गुण वाले व्यक्तियों के समूह के लिए किया गया है।

बौद्ध साहित्य मुख्यत: जातकों में गण शब्द का प्रयोग जिस रूप में किया गया है उससे स्पष्ट हो जाता है कि गण का अर्थ किसी ऐसी संस्था या साधारण समिति से है जिसमें मिलकर लोग एक हो जाते थे। जातकों में यह शब्द गणराज्य के लिए भी प्रयुक्त हुआ है और धार्मिक संघों के संबंध में। बौद्ध काल में गण शब्द का प्रयोग जनतंत्रीय राज्यों के लिए बहुत लोकप्रिय बन चुका था।

जैन साहित्य में भी गण शब्द का पर्याप्त प्रयोग किया गया है। वहां इसके तीन अर्थ लिये गये हैं—समान गुण वाले प्राणियों का समूह, अराजनैतिक संस्थाएं और राज्य।

जब धर्म शास्त्रों की टीकाएं होने लगी थीं उस समय तक राजनैतिक संस्था के रूप में गण का अन्त हो चुका था। किन्तु फिर भी इन टीकाकारों ने मोनियर विलियम्स तथा डा० फ्लीट की भांति गण शब्द को उपजाति [Tribe] समझने की भूल नहीं की है। वे उसे कृत्रिम संस्था ही समझते थे।

इस प्रकार ग्रन्थों में गण शब्द के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। यह मतभेद मुख्यतया दो प्रकार का है। एक ओर वे विद्वान हैं जो कि गण और संघ शब्द को पर्यायवाची मानते हैं जबकि दूसरी ओर ऐसे विचारक हैं जिनके मतानुसार ये दोनों शब्द समानार्थक नहीं हैं। वरन् संघ की इकाई को ही गण कहा जाता था। गण और संघ को पर्यायवाची शब्द मानने वाले विचारक भी उसके अर्थ के संबंध में एकमत नहीं हैं। डा० फ्लीट बहुत समय तक गण का अर्थ कबिला मानते थे। डा० के पी जायसवाल ने इसका अर्थ गणराज्य माना है। डा० भंडारकर किसी निश्चित उद्देश्य के लिए संगठित व्यक्तियों के समूह अथवा संस्था को गण कहते हैं। डा० आर. सी मजूमदार उस संस्था को गण कहना चाहते हैं जिसका सम्बन्ध नियम और विधियों से है। डा० यू एन घोषाल इस शब्द को साधारण एवं विशेष दो अर्थों में प्रयोग करते हैं।

संघ शब्द का अर्थ एवं महत्व

जो विचारक गण और संघ शब्द को पर्यायवाची नहीं मानते वे संघ शब्द का अलग से अर्थ देना आवश्यक समझते हैं। डा० देवीदत्त शुक्ल के मतानुसार गण के समान ही संघ शब्द भी तीन विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। इसका सामान्य अर्थ समूह है। किसी भी उद्देश्य के लिए एकत्रित व्यक्तियों को समूह कह दिया जाता है। संघ शब्द को विशेष अर्थों में अराजनैतिक संस्थाओं के लिए प्रयुक्त किया जाता है जैसे व्यापारिक संघ या धार्मिक संघ। इस शब्द का पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग संघ राज्य के लिए किया जाता है। ऐसे राज्य का गठन एक से अधिक गणराज्यों द्वारा मिल कर किया जाता है। कौटिल्य द्वारा संघ शब्द का प्रयोग अन्तिम दो अर्थों में किया गया है। महाभारत में इसका प्रयोग स्पष्ट रूप से राजनैतिक संघों अर्थात् संघ राज्य के लिए किया गया है।

पाणिनी ने संघ शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया है। प्रथम अर्थ में तो वे संघ को गण का समकक्ष मानते हैं जिसे देख कर ऐसा लगता है कि मानो उन्होंने दोनों शब्दों को पर्यायवाची ही कहा है। दूसरे अर्थ में संघ शब्द का प्रयोग एक ऐसी संस्था के लिए किया गया है जो निश्चय ही गणराज्य से भिन्न रही होगी। बौद्ध धर्म के साहित्य में संघ शब्द का प्रयोग धार्मिक संघ के रूप में किया गया है किन्तु ऐसा करते समय राजनैतिक संघ की ओर भी यदा-कदा संकेत किया गया है। बौद्ध संघों को भिक्षु संघ कहने का अर्थ यह निकाला जाता है कि उस समय अन्य प्रकार के संघ भी रहे होंगे तभी भेद करने के लिए विशेषण का प्रयोग किया गया। बौद्धों के मज्झिम

निकाय में वज्जियों के संघ राज्य का उल्लेख है। इस प्रकार यहां संघ शब्द को राजनैतिक अर्थ में भी प्रयुक्त किया गया है।

प्राचीन भारतीय प्रजातंत्रों का स्वरूप
[The Nature of Ancient Indian Republic]

प्राचीन भारत में जिस प्रजातन्त्रात्मक शासन पद्धति को अपनाया गया था वह निश्चय ही आज प्रजातन्त्रात्मक कही जाने वाली शासन व्यवस्थाओं से भिन्न थी। उस समय सामान्य जनता के मताधिकार को कोई महत्व प्रदान नहीं किया गया था। इसके अतिरिक्त अनेक महत्वपूर्ण प्रशासनिक पदों को वंश परम्परागत रखा गया था। राज्य के शासक को राजा कहा जाता था जिसकी शक्ति की तुलना विभिन्न देवताओं से की जाती थी। राज्य में सामयिक रूप से निर्वाचन नहीं होते थे। प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त का स्पष्ट रूप से विकास नहीं हो पाया था। राजनैतिक दल व्यवस्था के संगठन तथा कार्य प्रणाली का भी किसी प्राचीन भारतीय ग्रन्थ में उल्लेख नहीं मिलता है। कोई संगठित राजनैतिक दल न होने के कारण सामान्य जनता अपने मत को इतने प्रभावपूर्ण ढंग से प्रस्तुत नहीं कर सकती थी कि वह राज्य के निर्णयों को बदल सके। संघ बनाने के अधिकार तथा परम्परा के अभाव में जनता की राजनैतिक चेतना का स्तर अत्यन्त निम्न होता था। राजनैतिक कार्यों में उसकी अभिरुचि बहुत कम रहती थी। राज्य की शक्तियां एक वर्ग विशेष अथवा जाति विशेष के हाथ में रहती थीं जिनसे यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वे समस्त नागरिकों के साथ समानतापूर्ण व्यवहार करेंगे।

इस पृष्ठभूमि में कुछ विचारकों का यह मानना आश्चर्यजनक न होगा कि प्राचीन भारत में प्रजातंत्रात्मक शासन व्यवस्था नहीं थी। ये लोग एक से अधिक व्यक्तियों के प्रशासक होने को ही जनतंत्र का प्रतीक नहीं मानते। इनका कहना था कि यौधेयों की परिषद में चाहे पांच हजार व्यक्ति हों किन्तु ये सभी राज्य के अमीर या उच्च वर्ग के लोग होते थे। जन साधारण का शासनकार्यों में कोई हाथ न था। साधारण किसान तथा मजदूर का काम तो केवल यह था कि अधिकारी वर्ग द्वारा किये गये निश्चय को माने तथा उसे पूरा करे।

विचारकों का उक्त मत तर्क की दृष्टि से सही प्रतीत होता है किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से देखने पर यह गलत साबित हो जाता है। प्रजातंत्रात्मक शासन व्यवस्था की मूल आत्मा यह है कि इसमें शासन व्यवस्था को सामान्य कल्याण के लिए संचालित किया जाये तथा प्रशासनिक शक्तियों पर किसी एक व्यक्ति का एकाधिकार न हो जाये जो कि स्वेच्छापूर्वक अत्याचार करता हुआ शासन को व्यक्तिगत स्वार्थ का साधन बनाले। प्राचीन भारतीय ग्रन्थों का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में प्रजातंत्र की इस आत्मा का अस्तित्व था। उस समय की परिस्थितियों के अनुसार इसे बनाये रखने के लिए जो संगठनात्मक प्रणाली अपनाली गई वह आज की संगठनात्मक व्यवस्था से भिन्न थी किन्तु दोनों का लक्ष्य एक ही रहा।

प्राचीन भारतीय प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था को आधुनिक दृष्टिकोण की अनेक आपत्तियों के बाद भी प्रजातन्त्रात्मक कहने के पीछे कई एक कारण हैं–

१ राजनीति शास्त्र के मानक ग्रन्थों के अनुसार प्रजातन्त्रात्मक राज्य में सर्वोच्च शासन के अधिकार राजतन्त्र की तरह एक व्यक्ति के हाथ में नहीं होते वरन् एक समूह, गण या परिषद के हाथ में होते हैं। इसके सदस्यों की संख्या कम या अधिक हो सकती है।

२ प्राचीन एवं मध्यकालीन अनेक देशों को प्रजातन्त्रात्मक माना जाता है जबकि उनमें प्रजातन्त्र की सभी विशेषतायें वर्तमान नहीं थी। प्राचीन यूनान में अधिकार रहित नागरिक एवं दासों के होते हुए भी यदि वह प्रजातन्त्र हो सकता है तो प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था के विरुद्ध उठाई गई आपत्तियां अनुचित प्रतीत होती है।

३ ऐसे अनेक प्रमाण प्राप्त हुए हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारत में राजा का निर्वाचन किया जाता था। शासन का निर्वाचित सर्वोच्च पदाधिकारी गणतन्त्र के अतिरिक्त किस शासन व्यवस्था में हो सकता है।

४ राजा एक स्वेच्छाचारी शासक नहीं था। उसके द्वारा लिए जाने वाले निर्णयों पर उसके मन्त्रियों सलाहकारों एवं अनेक अराजनैतिक संघों की राय का प्रभाव पड़ता था जिसकी अवहेलना करके वह अधिक समय तक अपने पद पर नहीं रह सकता था।

५ राजा की शक्ति धर्म के द्वारा मर्यादित थी। राजा धर्म रक्षक था तथा धर्म के विपरीत कुछ भी करने की उसे अनुमति नहीं थी। सम्पूर्ण शासन व्यवस्था धर्म के कुछ नियमों के अनुसार संचालित की जाती थी। ऐसी स्थिति में राजा के स्वेच्छाचारी होने अथवा व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए राज्य सत्ता का प्रयोग करने की सम्भावना नहीं रहती।

६ प्राचीन भारतीय आचार्यों एवं ग्रन्थों द्वारा विधि की सर्वोच्चता में विश्वास किया गया है। राजा अथवा प्रशासन की कोई भी सर्वोच्च इकाई विधि को क्रियान्वित करने का एक माध्यम मात्र थी। विधि को बनाने में उसका कोई हाथ नहीं था। धर्म शास्त्र परम्परा, प्रचलन, रीतिरिवाज, विश्वास आदि के द्वारा विधि का स्वरूप निश्चित किया जाता था। विधि की सर्वोच्चता के कारण ही जनसाधारण को मताधिकार प्राप्त करने की कोई लालसा नहीं रहती थी।

७. प्राचीन भारतीय प्रजातन्त्र में दलबन्दी को न केवल अनावश्यक वरन् एक अनुचित संस्था माना जाता था। उनका विश्वास था कि जहां लोग विचारों या हितों के आधार पर स्थायी रूप से बट जाते हैं वहां शासन व्यवस्था में अनेक दोष पैदा हो जाते हैं और अन्त में उस राज्य का पतन हो जाता है।

गणतंत्रों के अध्ययन स्रोत
[The Source Material of Republics]

प्राचीन भारतीय गणराज्य चाहे राजतंत्र के पूर्ववर्ती हों अथवा परवर्ती किन्तु यह तो निश्चित है कि कम से कम उत्तर वैदिक काल में इनका अस्तित्व था। ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त में यह प्रार्थना की गई है कि "समिति की मन्त्रणा एक मुखी हो, सदस्यों के मत भी परम्परानुकूल हों और निर्णय भी सर्व सम्मत हों।" यह सूक्त जिस समिति की ओर संकेत करता है वह एक गणतंत्रात्मक समिति प्रतीत होती है। यद्यपि वेदों की शैली परोक्षवादी और श्लेषात्मक है किन्तु फिर भी उसके आधार पर कुछ निष्कर्षों पर अनुमान के आधार द्वारा पहुँचा जा सकता है। यह माना जा सकता है कि राज्य की उत्पत्ति सर्व प्रथम जनतंत्र के रूप में ही हुई थी। बाद के ब्राह्मण साहित्य में कई एक गणराज्यों का उल्लेख मिलता है। उसके आधार पर प्रो. अलतेकर का कहना है कि "इसमें कोई संदेह नहीं कि उत्तर कुरु और उत्तर-मद्र के "वैराज्य" गणतंत्र ही थे क्योंकि 'विराट' सम्बोधन उनके राजाओं का नहीं वरन् 'नागरिकों' का है और अभिषेक राजा का नहीं जनता का होता था।"[1]

कल्पसूत्रों में शासन की प्रणाली पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया किन्तु यह नहीं बताया गया कि राज्य का रूप जनतंत्रात्मक था अथवा राजतंत्रात्मक। यद्यपि यह कहा गया है कि राजा का राजतिलक किया जाता था किन्तु यह होने पर भी व्यवस्था प्रजातंत्रात्मक हो सकती थी।

महाभारत में स्पष्ट रूप से गणराज्यों के अस्तित्व का आभास मिलता है। इसमें गणराज्यों की नीति एवं राज्यों के संगठन के बारे में स्पष्ट जानकारी प्राप्त नहीं होती। यहां-तहां उल्लिखित सूचना के आधार पर उस समय के जनतन्त्र के सम्बन्ध में कुछ राय कायम की जा सकती है।

विभिन्न स्मृति ग्रन्थों में प्राप्त सामग्री का सम्बन्ध विशेषत: राजतंत्र से है, गणतन्त्रात्मक शासन प्रणाली के बारे में इसमें कोई सूचना नहीं मिलती। बौद्ध साहित्य का सम्बन्ध मुख्यत: धार्मिक विषयों से है। इसके अतिरिक्त भगवान बौद्ध के जीवन से सम्बन्धित होने के कारण इस पर जनश्रुतियों का अधिक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इसमें जनतन्त्रात्मक राज्यों का कुछ उल्लेख मात्र केवल इसलिए मिलता है क्योंकि उन राज्यों से बौद्ध धर्म का सम्बन्ध था।

जैन साहित्य में जहां-तहां भी राजनैतिक विषयों का विवरण है वहां वे मुख्यत: राजतन्त्र से ही सम्बन्ध रखते हैं। कुछ गणतन्त्रात्मक राज्यों का केवल उल्लेख मात्र है। उनके सम्बन्ध में कोई विवरण इन ग्रन्थों में प्राप्त नहीं होता।

---

1. प्रो. अलतेकर, पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ ८४-८५

यूनानी लेखकों में सिकन्दर के आक्रमणकाल से पंजाब में स्थित जनतन्त्रीय राज्यों का विवरण प्राप्त होता है। इन लेखों के साथ भी यह सीमा है कि ये जनश्रुतियों पर आधारित हैं अतः इनको भी अधिक विश्वसनीय नहीं माना जा सकता।

शिलालेखों एवं प्राप्त सिक्कों से जो सूचना प्राप्त होती है वह अपर्याप्त है। इनमें तत्कालीन गणराज्यों के नामों के अतिरिक्त सामग्री नहीं मिलती। इनके आधार पर अनुमान लगा कर भी यह नहीं जाना जा सकता कि इन गणराज्यों का स्वरूप क्या था।

यही बात कुछ-कुछ अर्थ शास्त्र के सम्बन्ध में भी है। यह ग्रन्थ वैसे राजनीति शास्त्र का एक महत्वपूर्ण वैज्ञानिक ग्रन्थ है किन्तु फिर भी इसका सम्बन्ध मुख्य रूप से राजतन्त्र से ही है। प्रजातन्त्र या गणतन्त्र के सम्बन्ध में इसमें अधिक कुछ नहीं कहा गया है। जो कुछ भी सूचना इसमें प्राप्त होती है उसे पूर्ण रूप से विश्वसनीय माना जा सकता है। प्रसंगवश कहीं कहीं यह ग्रन्थ तत्कालीन जनतन्त्रों की व्यवस्था पर भी प्रकाश डालता है। कौटिल्य अर्थशास्त्र तथा ... के ग्रन्थों में जनतन्त्र का विवरण बहुत कम प्राप्त होता है सम्भवतः इस काल तक इनका अस्तित्व एवं महत्व समाप्त हो चुका होगा।

गणराज्यों का विकास
[The Evolution of Republics]

प्राचीन भारत में गणराज्य व्यवस्था के विकास को केवल ऐतिहासिक काल में ही स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इनके सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण बात यह है कि किसी समय विशेष में सम्पूर्ण भारत में गणराज्य व्यवस्था रही हो यह बात नहीं है। प्रो० अल्तेकर का कहना है कि ऐतिहासिक काल में भारत के उत्तरी पश्चिमी और उत्तरी-पूर्वी भू भागों में गणतन्त्र राज्य कायम थे। पर दक्षिण में किसी गणतन्त्र राज्य का पता नहीं चलता यद्यपि उत्तर भारत की अपेक्षा वहां स्थानीय शासन में जनता का हाथ कहीं अधिक था।[1]

मि० विनय कुमार सरकार ने गणराज्यों के विकास को तीन कालों में विभाजित किया है। प्रथम काल ४०० ई० पू० तक चलता है। इस काल में मि० राय ने गण या संघ राज्यों का उल्लेख किया है। इनमें से कुछ के सम्बन्ध में जो सूचना प्राप्त होती है वह राजनैतिक दृष्टि से बहुत कम महत्वपूर्ण है। ये गण या संघ सुंसुमार गिरि के प्रदेश अल्लकप्प के बुली केसपुत्त के काल में पिप्पलीवन के मौर्य राम गाम के कोलिय कुशी नगर के मल्ल काशी के मल्ल कपिलवस्तु के शाक्य मिथिला के विदेह वैशाली के लिच्छवि थे। इनमें मल्लों की ३ शाखायें थीं जो कि कुशीनारा, पावा और काशी में स्थित थे। इन ११ राष्ट्रों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण थे कपिलवस्तु के

---

1 प्रो० अलतेकर, पूर्वोक्त पुस्तक पृष्ठ ८५

शाक्य, मिथला के विदेह और वैशाली के लिच्छवि। बाद में अन्तिम दोनों संयुक्त होकर वज्जियों के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन गणों में परस्पर लड़ाई के प्रमाण भी प्राप्त होते हैं। इनमें गणराज्य की भावना बहुत गहरी होती थी। जब कभी किसी राजाशाही से उनका संघर्ष होता था तो अपनी गण व्यवस्था को सुरक्षित रखने के लिए यह अपना सब कुछ न्योछावर करने को तैयार रहते थे।

गणराज्यों के विकास का दूसरा काल ३५० से ३०० वर्ष ई० पू० तक चलता है। इस काल में अटल, अराट, मालव, क्षुद्रक, सम्वष्टई, आगलस्सोई, तथा निसोई थे। विकास का तृतीय काल १५० वर्ष ई० पूर्व से ३५० ई० तक चलता है। यह लगभग ५०० वर्ष का काल मौर्य साम्राज्य के पतन एवं गुप्त साम्राज्य के उदय के बीच का है। इस काल में कुषाण और आन्ध्र साम्राज्यों के अतिरिक्त अनेक अराजतन्त्र राज्यों का उदय हुआ जो कि भारत के कूटनीतिज्ञ इतिहास पर अपनी छाप छोड़ गये हैं। वैसे इन राज्यों की सम्प्रभुता के काल को निश्चित करना कठिन है, किन्तु फिर भी सिक्कों तथा अन्य सामग्रियों के आधार पर कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। भौगोलिक दृष्टि से पूर्ण स्वतन्त्रता का उपभोग करने वाले ये राज्य दक्षिण पंजाब, राजपूताना और मालवा में उपस्थित थे। इन गणराज्यों में मुख्य रूप से उल्लेखनीय हैं—योद्धे, मालवा, कुनिन्द एवं वृष्णि।

प्रो० अलतेकर ने बताया है कि ५०० ई० पूर्व से ४०० ई० तक पंजाब और सिन्धु की घाटी में गणतन्त्र राज्यों का ही बोलबाला था। इन गणराज्यों के सम्बन्ध में नाम के अतिरिक्त अन्य कोई सूचना प्राप्त नहीं होती। वर्तमान आगरा और जयपुर के प्रदेश में लगभग २०० ई० पू० से लेकर ४०० ई० अर्जुनायन गणतंत्र का अस्तित्व था। यहां प्राप्त मुद्राओं में "अर्जुनायना नाम् जयं" अंकित है। सहारनपुर से पश्चिम की ओर भावलपुर तक और उत्तर पश्चिम में लुधियाना से दक्षिण पूर्व में दिल्ली तक यौधेय गणतन्त्र का अस्तित्व था। इस गणतन्त्र का रूप संघात्मक था तथा इसमें ३ गणराज्य सम्मिलित थे। यूनानी लेखकों में यौधेय गणराज्य का उल्लेख आता है। यौधेय अपनी वीरता के लिए विख्यात थे। इनके द्वारा कुमार कार्तिकेय को अपना कुल देवता माना जाता था। ३५० ई० तक यह गणतंत्र वर्तमान था। इसके बाद का इतिहास ज्ञात नहीं है।

मालव और क्षुद्रक गणराज्यों ने सिकन्दर के आक्रमणों का प्रबल विरोध किया। सिकन्दर का सामना करने के लिए उन्होंने संयुक्त योजना बनायी थी, किन्तु योजना के क्रियान्वित होने से पूर्व ही सिकन्दर का आक्रमण हो गया। महाभारत में मालव तथा क्षुद्रकों का उल्लेख कई स्थानों पर साथ-साथ पाया गया है। प्रो० अलतेकर का कहना है कि बौद्धों के त्रिपिटक एवं भाष्यों से यह ज्ञात होता है कि गोरखपुर और उत्तरी बिहार के अनेक गणतन्त्र विद्यमान थे।

गणराज्य की विभिन्न तस्वीरें
(Various Pictures of Republics)

विभिन्न प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में गणराज्यों के स्वरूप, संगठन, प्रकार एवं कार्य प्रणाली से सम्बन्धित सूचनायें प्राप्त होती हैं। जैसा कि कई बार उल्लेख किया जा चुका है वैदिक साहित्यों में प्राप्त इससे सबन्धित जानकारी पर्याप्त नहीं है। इससे तो केवल यही अनुमान लगाया जा सकता है कि उस काल में भी गणराज्य कायम थे। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद, प्रारण्यक आदि ग्रन्थों में गणतन्त्र से सम्बन्धित जानकारी प्रत्यक्ष, स्पष्ट और पर्याप्त मात्रा में प्राप्त नहीं होती। वैदिक कालीन गणराज्यों का शासन सभा और समितियों के माध्यम से किया जाता था। इनमें सभा एक क्षेत्रीय संस्था थी जबकि समिति समस्त जनता की राष्ट्रीय संस्था थी। गणराज्यों के सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण सामग्री वेदोत्तर काल के ग्रन्थों में प्राप्त होती है।

[1] महाभारत में गणतन्त्र
(The Republics in Mahabharat)

महाभारत काल में जनतन्त्र और राजतन्त्र दोनों प्रकार के शासनतन्त्रों का अस्तित्व मिलता है। वैदिक कालीन जनतन्त्रात्मक व्यवस्था राजतन्त्र के रूप में कैसे बदल गई इस सम्बन्ध में डा० देवीदत्त शुक्ल ने लिखा है कि "जनतन्त्र में कुछ ऐसे दोष उत्पन्न हो गये थे जिनका निवारण करना जनहित में था और उन दोषों को दूर करने पर जो परिवर्तन हुआ उसके कारण परिवर्तित स्वरूप राजतन्त्र का रूप बन गया। महाभारत में जिन विभिन्न गणराज्यों का उल्लेख मिलता है, उनमें प्रमुख हैं यौधेय, मालव, शिवि, औदुम्बर, अन्धक वृष्णि, त्रिगर्त, माध्यमकेय, अम्बष्ट, वातधान, यादव, कुकुर भोज आदि। इनमें से कुछ गणराज्यों ने मिल कर संघ का निर्माण भी किया हुआ था।

गणतन्त्रों तथा राजतन्त्रों में राजा
[The King in Republics and Monarchies]

महाभारत में राजतन्त्र और प्रजातन्त्र राज्यों के बीच का भेद उनके शासकों के नाम के आधार पर निर्धारित नहीं किया जा सकता, क्योंकि दोनों के शासक को राजा कहा जाता था। नामकरण एक जैसा होते हुए भी दोनों के पदों में राज्याभिषेक, कार्यकाल मन्त्री परिषद व मन्त्रीमण्डल और राज्य सभा की दृष्टि से अनेक भेद पाए जाते हैं। प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था में जिस व्यक्ति का राजतिलक किया जाता था वह राज्य सभा द्वारा निर्वाचित किया जाता था। श्रेष्ठ व्यक्ति चुनने के लिए वंश परम्परागत गुणों को महत्वपूर्ण माना गया। इस दृष्टि से राजपद के लिए पूर्व राजा की सन्तान को योग्य समझा जाता था। इस परम्परा द्वारा राजपद वंशानुक्रमिक बन गया जिसने राजतन्त्र के बीज बोये। राजतन्त्रात्मक व्यवस्था में राजा को निर्वाचित नहीं किया जाता था।

राजा का कार्यकाल जनतन्त्रात्मक व्यवस्था में निश्चित होता था। सामाजिक चुनावों में होने वाले संघर्षों को रोकने के लिए यह परम्परा विकसित की गई कि राजा को उस समय तक नही हटाया जाय जब तक कि वह विधियुक्त शासन करता है और प्रजा को सन्तुष्ट रखता है। महाभारत मे अनेक जगह ऐसे उदाहरण आये हैं, जबकि प्रजा ने अत्याचारी राजा का वध कर दिया था। महाभारत के अनुशासन पर्व में कहा गया है कि जो राजा जनता की रक्षा करने के अपने कर्त्तव्य को पूरा नहीं करता वह पागल कुत्ते की तरह मार देने योग्य है।

प्रजातन्त्रात्मक राज्य में गण के प्रधान व्यक्ति राजा के साथ मन्त्रणा करते थे। यद्यपि इन मन्त्रियों की नियुक्ति राजा द्वारा की जाती थी। फिर भी ऐसे अनेक नियम बना लिये गये थे जिनके आधार पर मन्त्री मण्डल और मन्त्री परिषद का संगठन किया जाता था। राजा इन नियमों की अवहेलना नही कर सकता था। मन्त्रियों की संख्या सम्भवतः निश्चित नहीं होती थी। गणराज्य की सभा द्वारा इसे तय किया जाता था।

जनतन्त्रात्मक राज्यों में राज्य सभा को पर्याप्त अधिकार प्राप्त थे। यह सभा राजा की अनुपस्थिति में भी निर्णय लेकर उसके अनुसार कार्य कर सकती थी। उसके पास सर्वोच्च शक्तियां थी और यह किसी महत्वपूर्ण विषय पर निर्णय ले सकती थी। राजतन्त्र शासन में ऐसी कोई सभा नही होती थी। यहां सभा का कार्य सपरिषद राजा द्वारा किया जाता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि महाभारत काल में स्थित राजतन्त्र और प्रजातन्त्र दोनों राज्यो के शासक को यद्यपि राजा कहा जाता था किन्तु फिर भी दोनों व्यवस्थाओ के बीच पर्याप्त अन्तर थे। महाभारत के भीष्म ने युधिष्टर को शान्ति पर्व मे राजधर्म का उपदेश दिया। उसे मुख्यतः तीन भागों में बांटा जा सकता है। प्रथम वह जिसका सम्बन्ध केवल जनतन्त्र से था। द्वितीय वह जिसका सम्बन्ध केवल राजतन्त्र से था। तृतीय वह जिसका सम्बन्ध जनतन्त्र व राजतन्त्र दोनो से था। यहां पहले हम उन बातों का उल्लेख करना उचित समझते हैं जो कि राजतन्त्र और प्रजातन्त्र दोनों के सम्बन्ध में सामान्य रूप से लागू होती हैं।

प्रजातन्त्र एवं राजतन्त्र में समानता
[Similarities Between Republics and Monarchies]

दोनों व्यवस्थाओं में समानता के क्षेत्र निम्नलिखित हैं—

राज्य का मूल उद्देश्य

राज्य का स्वरूप चाहे प्रजातन्त्र हो अथवा जनतन्त्रात्मक, राज्य का मूल उद्देश्य अराजकता की स्थिति को समाप्त करना है जिसमें संघर्ष, अन्याय, अधर्म और असुरक्षा रहती है। प्रत्येक राष्ट्र को सुरक्षा एवं व्यवस्था के लिए राजा का अभिषेक करना चाहिए।

राज्य का सावयवी रूप

महाभारत में राज्य के सात अङ्ग माने गये। ये थे—आत्मा (राजा), अमात्य, कोष, दण्ड (सेना) मित्र, जनपद और पुर।[1] ये सभी अवयव राजतन्त्र और प्रजातन्त्र दोनों में समान रूप से पाये जाते हैं। दोनों में राजा ही प्रधान है, जिसे राजा न कहकर आत्मा कहा गया है।

राजा के गुण

जनतन्त्र एवं राजतन्त्र दोनों प्रणालियों में राजपद पर आसीन व्यक्ति के गुणों पर पर्याप्त जोर दिया जाता था। जनता के प्रतिनिधि इस बात पर विचार करते थे कि राजा होने वाला व्यक्ति क्या इस योग्य है कि उसे राजा बनाया जाय। भीष्म के कथनानुसार राजा में ये गुण होने चाहिए कि वह जितेन्द्रिय हो तथा उसका चरित्र एक आदर्श हो; क्योंकि सामान्य जनता उसके चरित्र का ही अनुसरण करती है। वह सत्यवादी होना चाहिए, इसके अतिरिक्त वह शूरवीर, सदाचारी, उदार, कोमल प्रकृति, धर्मात्मा, प्रसन्न और अत्यन्त दानी होना चाहिए। राजा को कामी, क्रोधी और लोभी नहीं होना चाहिए।

राजा या राज्य के कर्त्तव्य

राजा का सबसे पहले कर्त्तव्य यह माना गया कि वह प्रजा को सुखी और प्रसन्न रखे इसके लिए जनता के हृदय से भय को दूर करना आवश्यक था। राजा को हमेशा यह ध्यान रखना चाहिए कि उसके कर्मचारी अपनी शक्ति का दुरुपयोग तो नहीं कर रहे हैं। राजा का दूसरा कर्त्तव्य धर्म की रक्षा करना होता था। असल में राज्य की उत्पत्ति ही धर्म की रक्षा करने के लिए हुई थी। राजा का कर्त्तव्य था कि वह सभी वर्णों और आश्रम के लोगों को अपने अपने कर्त्तव्यों के पालन में संलग्न रखे। राजा का तृतीय कर्त्तव्य था आन्तरिक और बाह्य आपत्तियों से जनता की रक्षा करना। इसके लिए उसके पास दण्ड की शक्ति रहती है। इस शक्ति का प्रयोग उसे सावधानी से करना चाहिए वरना संकट उत्पन्न होने का डर रहता है। राज्य का चौथा कार्य जनता को न्याय प्रदान करना है। सामाजिक एवं धार्मिक विधियों के अनुसार उल्लंघन करने वाले व्यक्तियों को राजा के द्वारा दण्ड दिया जाए। राजा को इतना पक्षपात रहित होना चाहिए कि यदि उसके निकट के सम्बन्धी ने अपराध किया है तो वे भी दण्ड से न बच सकें। इस दृष्टि से किसी भी वर्ण को विशेष अधिकार नहीं दिया गया था।

राजा का पांचवां कार्य राज्य कर्मचारियों की नियुक्ति करना था। क्योंकि अकेला राजा चाहे वह कितना भी योग्य क्यों न हो, योग्य कर्मचारियों के बिना वह भली भांति शासन नहीं कर सकता। कर्मचारियों की नियुक्ति करते समय जिन गुणों पर ध्यान दिया जाना चाहिए उनका भी उल्लेख किया गया है।

---

1. महाभारत, शान्तिपर्व ६९।६४-६५

छटे, भीष्म ने राज्य के सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में भी कुछ कर्त्तव्य माने हैं। जनहित की दृष्टि से उसे यह कार्य सम्पन्न करने चाहिए। ये सभी कर्त्तव्य महाभारत काल में स्थित राजतन्त्र और जनतन्त्र दोनों व्यवस्थाओं पर लागू होते हैं।

जनतंत्र के प्रकार
[The Types of Republics]

महाभारत में चार प्रकार के जनतन्त्र राज्यों का उल्लेख किया गया है। प्रथम वैं०राज्य था, जिसमें कि शासन बिना किसी शासक के ही किया जाता था। भीष्म पर्व में मंग, मशक, मानस और मंदग जनपदों का उल्लेख है जिनमें क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य और शूद्र रहा करते थे। यहां के सभी लोग धर्म के ज्ञाता थे और अपने-अपने धर्म का पालन करते हुए ही शान्ति व्यवस्था बनाए हुए थे। इन जनपदों में राज्य अर्थात प्रशासन व्यवस्था तो थी किन्तु वहां कोई राजा नहीं था। दूसरे प्रकार का राज्य पारमेष्ठ्य राज्य था। इस प्रकार के राज्य में प्रत्येक गृहपति राजानः होता था। यह अपने हितों की रक्षा स्वयं करता था। राजानः शब्द का अर्थ राज्य सभा के सदस्य से है। इससे प्रगट होता है कि ऐसे राज्य में प्रत्येक गृहपति सभा का सदस्य होता था और सभी लोग एक दूसरे के भावों को समझ कर परस्पर मिलकर कार्य करते थे। महाभारत में ऐसे राज्य के गुणों का व्यापक रूप से उल्लेख किया गया है। इस प्रकार की शासन प्रणाली उच्च कोटि की एवं श्रेष्ठ मानी गयी है। इस प्रणाली में राज्य के अध्यक्ष को राजा नहीं कहा जाता था वरन् उसे श्रेष्ठ कहते थे। उसकी नियुक्ति एक निश्चित समय के लिए होती थी। इस प्रकार के राज्य छोटे होते थे और शासन प्रणाली में सहयोग तथा संयम पर विशेष बल दिया जाता था। तीसरे प्रकार का राज्य गणराज्य था। इस प्रकार के राज्यों में प्रतिनिधित्व जाति एवं कुलों के आधार पर होता था। शान्तिपर्व के अनुसार गणराज्यों में जाति एवं कुल के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति समान है। ऐसे अनेक प्रमाण मिलते हैं जिनसे प्रतीत होता है कि गणराज्यों में विभिन्न जातियों एवं वर्णों के लोग रहते थे।

डा० श्यामलाल पांडे ने माना है कि "महाभारत काल में भारत के उत्तर और पश्चिम में बहुत से गणराज्य थे जिनका उल्लेख महाभारत के सभा पर्व और वन पर्व मे किया गया है। ग्रन्थकार ने इन राज्यों में किसी राजा का नाम उल्लेख नहीं किया है। इसलिए सम्भव है कि यह राज्य गण-राज्य रहे होंगे। गणराज्यों का चौथा रूप संघ राज्य था। महाभारत मे अन्धक-वृष्णि नामक प्रसिद्ध संघ राज्य का उल्लेख है। पहले ये दोनों राज्य अलग अलग थे। बाद में इन्होंने मिलकर एक संघ बना दिया और श्रीकृष्ण को इसका प्रधान बना दिया गया। शान्तिपर्व के एक श्लोक से ऐसा लगता है कि यादव, कुकुर और भोज भी इस संघ की इकाई थे। महाभारत में संघ के दो रूप प्राप्त होते हैं—संघ और राष्ट्रमण्डल।

रामायण और महाभारत काल में जनतन्त्र शासन के अन्तर्गत अनेक दोष उत्पन्न होते जा रहे थे। इन दोषों को दूर करने के लिए राजतंत्र का

उदय हुआ। स्थापित राजतन्त्र में दोषों का निराकरण कर दिया था, इसलिए वे अधिकाधिक लोकप्रिय होते आ रहे थे।

महाभारत कालीन जनतंत्रों की प्रकृति
[The Nature of Republics in Mahabharat]

महाभारत काल के गणराज्यों अथवा जनतन्त्री राज्यों में कुछ विशेष गुणों को आदर्श माना गया था यद्यपि ये आदर्श पूर्ण रूप से कहीं प्राप्त नहीं होते थे। इन आदर्शों को हम उस समय के गणतन्त्रों की प्रकृति या विशेष गुण मान सकते हैं। इसमें पहला आदर्श यह था कि व्यवस्थापिका शक्ति को राज्य के अन्य अंगों से अलग रखा गया। डा॰ श्यामलाल पांडे के मतानुसार महाभारत में सामाजिक, धार्मिक एवं प्रशासनिक समस्त प्रकार की विधियों का भाग ब्रह्मा द्वारा रचित माना गया है। ब्रह्मा का अर्थ ऐसे विद्वान ब्राह्मणों से है जो कि उत्तम गुणों से सम्पन्न और सर्वत्र समान दृष्टि रखने वाले होते हैं। ऋषि मुनियों द्वारा आवश्यकता के अनुसार इन विधियों को बदला गया। राज्य को इनकी व्याख्या करने का अधिकार नहीं था।

महाभारत कालीन जनतन्त्रों की दूसरी विशेषता यह थी कि उनकी राज्य सभा के सदस्य अर्थात गृहपति और कुलपति का चुनाव कुल धर्म के अनुसार किया जाता था। कुल धर्मों को राज्य द्वारा मान्यता दी जाती थी और वे स्वतन्त्रतापूर्वक कुलपति और गृहपति का चुनाव करते थे। सामान्य रूप से घर के वयोवृद्ध व्यक्ति को गृहपति बनाया जाता था। गणराज्य के अध्यक्ष का चुनाव किस प्रकार किया जाता था यह स्पष्ट नहीं है। फिर भी यह अनुमान है कि यह चुनाव राज्य सभा के सदस्य ही करते होंगे, क्योंकि गणराज्य का संगठन और कार्य बहुमत पर आधारित था। तीसरे, गणराज्यों की न्याय व्यवस्था धर्म शास्त्रों के अनुसार संचालित की जाती थी। न्याय व्यवस्था के पक्षपात रहित होने पर पर्याप्त जोर दिया गया। न्यायकर्ता प्रकाण्ड विद्वान होते थे और उनके द्वारा शीघ्र न्याय प्रदान किया जाता था।

चौथे, राज्य की सर्वोच्च सत्ता वैधानिक रूप से तो विधि में निहित थी और राज्य का कार्य विधि को क्रियान्वित करवाना था। किन्तु वास्तविक व्यवहार में राज्य सभा ही सर्वोच्च राजनैतिक व्यवस्था थी। जनता द्वारा निर्मित होने के कारण इसका उत्तरदायित्व जनता के प्रति होता था। सभा की सत्ता राजा से भी उच्च थी। सभी प्रशासनिक अधिकार इसे प्राप्त थे।

पाँचवे, गणतन्त्र में संगठन पर पर्याप्त जोर दिया गया। फूट को रोकने के लिए हर सम्भव प्रयास किया जाता था क्योंकि फूट पड़ने पर गण कई दलों में बट जाता है और सारे कार्य बिगड़ जाते हैं। जनतन्त्र की शक्ति संगठन में मानी गई, क्योंकि इसी से आर्थिक उन्नति होती है और बाहरी राज्य भी मित्रता करना चाहते हैं।

छठे जनतन्त्र में व्यक्तिगत गुणों पर विशेष ध्यान दिया गया तथा इनका उचित सम्मान करने पर जोर दिया गया। जनता का पारस्परिक व्यव-

हार यदि सेवामय और प्रेमपूर्ण हो तो सब जगह सुख का अनुभव किया जाता है।

सातवें भाषण की स्वतन्त्रता को जनतन्त्रों की सभा में पर्याप्त महत्व प्रदान किया गया। सभा के सदस्य अध्यक्ष की आलोचना कर सकते थे ताकि वह जनता की सेवा करने से अपने आपको उदासीन न बनाए। जनतन्त्रात्मक शासन की इन समस्त विशेषताओं के कारण ही जनतन्त्र को एक श्रेष्ठ शासन समझा गया।

जनतंत्रों की समस्याएं
[The Problems of Republics]

महाभारत में प्राप्त जनतन्त्रों की उपर्युक्त विशेषताओं के कारण यद्यपि वे प्रशंसा के पात्र बने किन्तु फिर भी उनमें कुछ समस्याएं तथा दोष थे जिनके कारण उनका प्रचलन कम हो गया। इसकी प्रथम समस्या तो यह थी कि जो व्यक्ति बलवान, पराक्रमी तथा राजनैतिक दल से सम्पन्न होते थे उनका समाज और राज्य पर प्रभाव बढ़ जाता था। वे जिस कार्य को चाहते थे वह सम्पन्न हो सकता था और जिसे नहीं चाहते थे उसे होने से रोका जा सकता था। राजनीति को एक प्रकार का व्यवसाय बनाने की प्रवृति बढ़ रही थी और पक्षपात का प्रभुत्व अधिक होता जा रहा था।

प्रजातन्त्र की दूसरी समस्या यह है कि यहां असमानों में समानता का प्रयास किया जाता है। इसके फलस्वरूप अयोग्य व्यक्ति भी लोभ के कारण उच्च पद पर पहुंचने की इच्छा और प्रयास करते हैं और असफल हो जाने पर उन योग्य व्यक्तियों से द्वेष करने लगते हैं जो कि इस पद पर पहुंच जाते हैं। शान्तिपर्व में यह कहा गया है कि गणराज्यों का पतन मुख्यतया दो कारणों से होता है लोभ और संघर्ष।[1] पहले व्यक्ति में लोभ उत्पन्न होता है और उसके बाद संघर्ष और द्वेष उत्पन्न होते हैं। इसके फलस्वरूप व्यय और क्षय बढ़ते हैं और एक दूसरे का पतन हो जाता है।

तीसरे, जब गणतन्त्रों में निश्चित स्वार्थों के आधार पर दलबन्दी एवं गुटबन्दी पनपने लगती है तो राज्य के समर्थ नेताओं के बीच फूट पड़ जाती है। वे एक दूसरे के विरोधी शत्रु बन जाते हैं। केवल विरोध के लिए विरोध किया जाता है और अर्थ का अनर्थ किया जाता है। ऐसी स्थिति में नेतागण जनहित के कार्यों से उदासीन हो जाते हैं।[2] वे केवल अपने संगठन की शक्ति बढ़ाने तथा स्वार्थों की पूर्ति करने में ही लग जाते हैं। ऐसी स्थिति में शत्रु के द्वारा साम, दाम और भेद की नीति का प्रयोग करके गणराज्यों का आसानी से पतन किया जाता है इसलिए यह माना गया है कि गणराज्यों के लिए बाहरी भय इतना घातक नहीं होता है जितना कि आन्तरिक होता है।[3] दलबन्दी के कारण न्याय का गला घोंट दिया जाता है और

---

1. महाभारत, शान्तिपर्व, १०७।१०
2. महाभारत, शान्तिपर्व, १०७।१३
3. महाभारत, शान्तिपर्व, १०७।२८

जनतन्त्र व्यवस्था से प्राप्त होने वाले अधिकांश लाभ समाप्त हो जाते हैं।

चौथे, जनतन्त्रात्मक प्रणालियों मे मन्त्रणा को गुप्त नहीं रखा जा सकता था। राज्य सभा के सभी सदस्यों को समान अधिकार प्राप्त होना था और इसलिए वे सभी भेद की बातों को जानने मे अधिक रुचि लेते थे। गुप्त मन्त्रणा का इस प्रकार विज्ञापन राज्य की सुरक्षा के लिए एक गम्भीर खतरा बन सकता था। महाभारत के भीष्म ने गुप्त मन्त्रणा के सुनने का अधिकार सभी को नहीं दिया तथा प्रधान व्यक्तियों को यह उत्तरदायित्व सौंपा कि वे मन्त्रणा को गुप्त रखें और गुप्तचरों की नियुक्ति करें।

पांचवें, महाभारत काल की जनतन्त्रात्मक सभाओं में अराजनैतिक संस्थाओं को पर्याप्त महत्व न मिल सका, इसका स्थान वंश परम्परागत प्रतिनिधित्व ने ग्रहण कर लिया और इस प्रकार गणराज्य का चेहरा पूरी तरह से बदल गया। बौद्धकाल में आकर उस पर नये रंग पड़े तथा यह शुद्ध रूप से जनतन्त्रीय न रहकर सामन्ततन्त्रीय बन गया।

गणतंत्रों की रक्षा के उपाय
[The Safeguards of Republics]

यह सच है कि गणतन्त्रात्मक या प्रजातन्त्रात्मक शासन प्रणाली में महाभारत ने उपर्युक्त दोषों की अनुभूति की। किन्तु फिर भी इस शासन प्रणाली के गुणों की वजह से इसे अपनाने का समर्थन किया और इसके ऐसे विभिन्न उपाय बताये जिनके द्वारा इसे रक्षित रखा जा सकता था। समय बीतने पर लोभ तथा अमर्ष के प्रभाव से जनता के प्रतिनिधि दलबन्दी मे पड गये और राजा का निर्वाचन उसकी योग्यता और गुणों के आधार पर न होकर दलबन्दी के आधार पर होने लगा। फलत. अनेक अयोग्य शासकों के हाथ में शक्ति आ गई। ये लोग हर प्रकार का साधन अपना कर अपना पक्ष दृढ़ कर लेते थे इसलिए इनको पद से हटाना भी कठिन था। विद्वान ब्राह्मणों द्वारा इस स्थिति को देखकर राजा के गुण निर्धारित किये गये, किन्तु इन गुणों से सम्पन्न राजा कहां से लाया जाये यह एक समस्या बन गई। जनतन्त्रात्मक शासन की इस समस्या का समाधान राजपद को वंश परम्परागत बना कर किया गया। दूसरे, राजा से यह आग्रह किया गया कि वह राजकुमारों को जन्म से ही विनयशील बनायें और जिसे अपने समान गुणवान पायें उसी को युवराज नियुक्त कर दे। तीसरे, जनता को यह अधिकार दिया गया कि राजा बनने के बाद भी यदि व्यक्ति अयोग्य साबित हो तो उसे हटा दिया जाये। महाभारत के आश्वमेधिक पर्व मे ऐसा उदाहरण प्राप्त होता है जबकि प्रजा ने अपने इस अधिकार का प्रयोग किया था।

चौथे, मन्त्रणा को गुप्त रखने की गरज से राजा को यह अधिकार दिया गया कि वह योग्य और विश्वास पात्र मन्त्रियों का चुनाव करे। मन्त्री-परिषद में सभी वर्णों के योग्य व्यक्तियों को एक निश्चित अनुपात मे लेने की व्यवस्था की गई। मन्त्रियों की योग्यता निश्चित की गई ताकि इस पद पर अयोग्य व्यक्ति न आ सके।

पांचवे, मंत्री परिषद की कार्य प्रणाली जनतन्त्रात्मक थी। इसके प्रत्येक सदस्य को यह अधिकार दिया गया कि वह प्रशासनिक विषयों पर स्वतन्त्र रूप से विवेचन कर सके। निर्णय बहुमत द्वारा लिये जाते थे।

राजा के ऊपर अभी भी प्रजा का तथा सामाजिक एवं धार्मिक परम्पराओं का नियंत्रण था। विधि की सर्वोच्चता कायम रही तथा न्याय व्यवस्था को यथावत् बनाये रखा गया। जनतन्त्र के दोषों को दूर करने के लिए उसमें जो परिवर्तन किये उनसे उसका रूप पूर्णत: बदल गया और वह कुछ ऐसी व्यवस्था बन गई जिसे कि आज मर्यादित राजतन्त्र कहा जा सकता है।

(II) पाणिनी में गणतंत्र
[Republics in Panini]

पाणिनी के प्रसिद्ध ग्रन्थ अष्टाध्यायी के अध्ययन से यह विदित होता है कि उनके काल में गणतन्त्रों को अत्यधिक महत्व प्रदान किया जाता होगा। पाणिनी द्वारा वर्णित गणतन्त्र ईसा से लगभग पांच सौ वर्ष पूर्व स्थित थे। सम्भवतः इनका स्थान उत्तरी–पश्चिमी भारत रहा होगा। पाणिनी ने अपने ग्रन्थ में संघ शब्द का बहुत प्रयोग किया है। डा० के० पी० जायसवाल का मत है कि यहां संघ शब्द को 'गण' के अर्थ में ही प्रयुक्त किया गया है। दोनों ही शब्द पर्यायवाची है। डा० आर. सी. मजूमदार भी दोनों शब्दों को समानार्थक मानते हैं। यह मत डा० देवीदत्त शुक्ल को मान्य नहीं है। उनका मत है कि सामान्य रूप में पाणिनी ने इन दोनों शब्दों का प्रयोग एक समूह के लिए किया है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि इनके बीच अन्तर ही नहीं है। तथ्य यह है कि उन्होंने दोनों के बीच पर्याप्त अन्तर माना है। 'गण' संघ की इकाइयां हैं। एक से अधिक गणों को मिलाकर एक संघ बनाया जाता था। राजनैतिक क्षेत्र में गण तथा संघ को पर्यायवाची नहीं मान सकते।[1]

संघों के दो रूप
[Two Types of Sanghas]

पाणिनी के समय में दो प्रकार के संघ स्थित थे–१. अराजनैतिक संघ और २. राजनैतिक संघ। अराजनैतिक संघों में आर्थिक संघों को लिया जा सकता है जिनको पाणिनी द्वारा आयुध जीवी संघ का नाम दिया गया है। इन संघों में सभी जातियों के लोगों को स्थान प्राप्त था। इस संघ के लोग सम्भवतः युद्ध के उपकरण बनाकर अपनी जीविकोपार्जन करते होंगे।

डा० जायसवाल मानते हैं कि संघ राज्य में भी सभी जातियां एवं वर्ण शामिल थे। डा० देवीदत्त शुक्ल की भी यही मान्यता है कि संघ राज्य में अन्य

---

1. डा० देवीदत्त शुक्ल, पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ—११३

वर्ण भी शासन कार्यों में भाग लेते थे। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल का मत इनसे भिन्न है। उनकी मान्यता है कि गणराज्य में शासक केवल क्षत्रिय वर्ण के लोग ही होते थे, अन्य जाति के लोगों को शासक सत्ता का अधिकार नहीं था। यह मान्यता अनेक प्रमाणों की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। वैशाली नगर में अनेक कुल थे जिनका अभिषेक पोखरणी के जल से हुआ करता था। लिच्छवि गणराज्य में ७७०७ राजा तथा इतने ही उपराजा होते थे। सम्भवतः ये सभी विभिन्न कुलों का प्रतिनिधित्व करते होंगे। कात्यायन का मत था कि गणराज्य में अनेक कुलों का प्रतिनिधित्व होता है।

आयुधजीवी संघ

कुछ संघों को पाणिनी ने आयुधजीवी संघ कहा है। डा० भण्डारकर इनको व्यापारिक कबीले मानते हैं जब कि डा० मजूमदार इन्हें राजनैतिक संघ या जनतन्त्रीय संघ राज्य कहते हैं। डा० जायसवाल के अनुसार ये संघ जनतन्त्रात्मक राज्य थे तथा इनकी जनता सामान्य रूप से लड़ाकू होती थी। डा० घोषाल मानते हैं कि आयुधजीवी संघ के लोगों की वृत्ति युद्ध सम्बन्धी व्यवसाय से थी। डा० देवीदत्त शुक्ल की मान्यता है कि पाणिनी के आयुध जीवी संघ कौटिल्य के वार्ताशस्त्रोपजीवी संघों के समान ही आर्थिक संघ थे।

इन आर्थिक संघों का संगठन कई प्रकार से होता था जिनमें व्रात, पूग, श्रेणी और वर्ग के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पाणिनी ने इन सभी के सम्बन्ध में सूचना प्रदान की है किन्तु उनके सूत्रों से यह प्रकट नहीं होता कि इन आर्थिक संगठनों का एक दूसरे के साथ क्या सम्बन्ध था। स्थान-स्थान पर प्राप्त विवरण से यह तो स्पष्ट है कि ये संघ परस्पर सम्बन्धित थे। पाणिनी सूत्र ५-३-११७ में यौधेयों को आयुध जीवी संघों के अन्तर्गत लिया गया है।

आयुध जीवी संघ एक आर्थिक संघ था। इसका उल्लेख पाणिनी द्वारा बार-बार किया गया है सम्भवतः अन्य व्यवसायों में इतना अधिक संगठन नहीं होता होगा। एक अन्य स्थान पर पाणिनी ने वाहीक देश में स्थित ब्राह्मणों के संघ 'गोपालक' का उल्लेख किया है। इसके सदस्य आयुध जीवी नहीं होते थे वरन् पशु पालन इनका मुख्य व्यवसाय था। पाणिनी ने आयुध जीवी संघों में राजन्य वृक, दामनी, पशु, त्रिगर्तषष्ठ, यौधेय आदि का नाम लिया गया है।

राजनैतिक संघ

पाणिनी द्वारा अनेक राजनैतिक संघों या जनपदों का उल्लेख किया गया है। इन संघों को गण राज्य भी कहा जा सकता है। संघ राज्य के संगठन में गृह, कुल और गण राज्य प्रमुख थे। 'गृह' समाज की सबसे अधिक महत्वपूर्ण इकाई थी। इसके स्वामी को गृहपति कहा जाता था। अनेक गृहों के मिलने पर एक कुल बनता था। कुल के प्रधान को कुल वृद्ध कहा जाता था। कुलों का समूह गण कहलाता था और कुछ गणों के मिलने पर संघ बन जाता था। संघ के प्रधान को संघ मुख्य कहा जाता था। महाभारत कालीन अन्धक-वृष्णि संघ राज्य इसका एक उदाहरण है।

गणराज्य की राज्य सभा में सभी कुल वृद्धों को प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाता था। गणराज्य में लिये जाने वाले निर्णयों के लिए एक निश्चित मत संख्या आवश्यक होती थी। गणराज्य के प्रधान को राज्य सभा का बहुमत चुनता था। संघ में गणों का प्रतिनिधित्व होता था। गणराज्य की भांति संघ राज्य के निर्णय भी बहुमत के आधार पर लिये जाते थे। संघ राज्य का प्रधान सम्भवतः इसकी सभा के बहुमत से ही चुना जाता होगा। पाणिनी ने ३३ गणराज्यों का उल्लेख किया है तथा मद्रवृजि, अन्धक वृष्णि, एवं क्षुद्रक-मालव आदि संघ राज्यों का नाम लिया है।

गणतंत्रों की शासन व्यवस्था
[The Administration of Republics]

डा० जायसवाल का मत है कि पाणिनी ने प्रशासनिक संगठन की दृष्टि से गणतंत्रों को दो प्रकार का माना है प्रथम वे जिनमें द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका होती थी तथा दूसरे वे जिनमें केवल एक ही प्रतिनिधि सभा होती थी। द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका वाले गणराज्यों को वे अनौत्तराधर्य कहते हैं। डा० देवीदत्त शुक्ल इस मत का खण्डन करते हैं; उनके अनुसार पाणिनी सूत्र ३-३-४२ 'संघे चानौत्तराधर्ये' का डा० जायसवाल ने गलत अर्थ लिया है। असल में इस सूत्र से "यह सिद्ध नहीं होता कि उस समय द्विसदनात्मक शासन विधान था अथवा किसी राज्य में दो प्रतिनिधि संस्थायें होती थीं।" इस सम्बन्ध में जो प्रमाण दिये गये हैं वे अपर्याप्त है तथा अन्य प्रमाण प्राप्त नहीं होते हैं अतः यह नहीं कहा जा सकता कि किसी भी प्राचीन भारतीय राज्य में द्विसदनात्मक शासन व्यवस्था कायम थी।

पाणिनी के ग्रन्थ में तत्कालीन गणतंत्रों के बारे में जो सूचनायें प्राप्त होती हैं उनमे से प्रथम तो यह है कि जनपद के निवासियों को तीन भागों में विभाजित किया जाता था—(i) जनपद के प्रति भक्ति भाव रखने वाले निवासी (ii) जनपद में रहने वाले (iii) जो पीढ़ियों से ही जनपद में रहते आये हों। ये तीनो ही उस समय नागरिकता प्राप्ति के आधार थे।

दूसरे, कुछ जनपद ऐसे थे जहां सभी निवासियों को शासन की दृष्टि से समान नहीं समझा जाता था। अन्य कुछ जनतंत्रों में कुलीनतंत्रात्मक व्यवस्था कायम थी अर्थात शासन सभा में प्रत्येक कुल का केवल एक ही सदस्य भाग लेता था। महाभारत की भांति पाणिनी ने जनतंत्रों के शासकों को राजा नहीं कहा है और न ही उनके अभिषेक की बात कही है।

तीसरे, पाणिनी के सूत्र ४/३/१२७ के अनुसार संघ जनपदों द्वारा अंकों तथा लक्षणों का प्रयोग किया जाता था। डा० जायसवाल का मत है कि "अंक वे प्रतीक थे जो कि बदलती हुई सरकारों द्वारा अपनाये जाते थे। एक निर्वाचित शासक या प्रशासकीय निकाय द्वारा उनके अपने विशेष अंक अपनाये जाते थे तथा ज्यों ही वे अधिकारी कार्यालय से बाहर होते थे त्यों ही इन अंकों

को छोड़ दिया जाता था ।"[1]

बौद्ध साहित्य में गणतन्त्र
[Republics in Buddhist Literature]

बौद्ध साहित्य में जो कुछ भी लिखा गया है वह मुख्य रूप से धार्मिक दृष्टिकोण से लिखा गया है । राजनीति के सम्बन्ध में ये ग्रन्थ उदासीन नहीं थे यद्यपि ये विषय उनमें अनायास ही आ गये हैं । बौद्ध ग्रन्थों में राजनीति का समावेश कई कारणों से हुआ था जैसे-गौतम बुद्ध का जन्म राजघराने में हुआ था, बौद्धों को सुसंगठित ब्राह्मण समाज का विरोध करना था, ये लोग राजा को शुद्ध करने के बाद प्रजा को शुद्ध करना चाहते थे । बौद्ध काल में आकर राजा एक स्वच्छन्द प्रशासक बन गया था । उसके ऊपर जनता का नियंत्रण शेष नहीं रहा था । जनता राजकार्यों में विशेष भाग नहीं लेती थी । बौद्ध जातकों में अनेक राजाओं की स्वच्छन्दता की कथायें प्राप्त होती हैं । साथ ही उनमें ऐसी कथायें भी हैं जिनके अनुसार अत्याचारी राजा को जनता द्वारा पदच्युत कर दिया जाता था या उसका वध कर दिया जाता था ।

बौद्ध काल में भी राजपुत्रों को राजा बनाने से पहले उनकी परीक्षा की जाती थी । वैसे तो राजपद वंश परम्परागत होता था किन्तु यदि उत्तराधिकारी अयोग्य हो तो उसका अधिकार छीना भी जा सकता था । इस प्रकार राजपद के लिए वंश परम्परा की अपेक्षा योग्यता पर अधिक बल दिया जाता था । जनतन्त्र की भावना का प्रभाव इतना अधिक था कि जनता द्वारा अत्याचारी राजा को पद से हटाया जा सकता था ।

बौद्ध काल के गणराज्यों में प्रतिनिधित्व पर्याप्त सीमित हो गया था । ७७०७ लिच्छवी कुलों को लिच्छवी गणराज्य में प्रतिनिधित्व प्राप्त था । इन प्रतिनिधियों के बीच परस्पर सम्मान की भावना नहीं थी । शासकों का व्यवहार गम्भीर न होकर उच्छृंखलतापूर्ण था ।

गौतम बुद्ध से जब यह पूछा गया कि गणराज्य की सफलता के लिए किन गुणों की आवश्यकता है अथवा कोई गणराज्य क्यों सफल होता है तो उन्होंने इसके लिए उत्तरदायी सात कारणों का उल्लेख किया-(१) जल्दी-जल्दी सभायें करना तथा उनमें मताधिकार प्राप्त व्यक्तियों का अधिक से अधिक भाग लेना, (२) राज्य के कार्यों को एकमत होकर सहयोग पूर्वक सचालित करना, (३) कानून का कभी उल्लंघन न करना तथा समाज विरोधी कानूनों की रचना न करना, (४) वृद्ध व्यक्तियों के विचारों को महत्व देना तथा उनका पर्याप्त सम्मान करना, (५) कन्याओं एवं स्त्रियों के साथ बलात्कार न करना (६) अपने धर्म में दृढ़ विश्वास रखना तथा (७) कर्त्तव्य परायण रहना । तत्कालीन वज्जियों के गणराज्य में ये सभी गुण पाये जाते थे ।

---

1. The Anka, it seems to me, refers to symbols adopted by changing governments. An elected ruler or body of rulers adopted their own special Anka which was given up when those officers went out of office.

—Dr. K. P. Jayaswal, op cit. (English Edition), P. 37

बौद्ध संघों का संगठन एवं गणराज्यों की प्रवृत्ति

[The Organisation of Buddhist Sanghas And Nature of Republics]

डा० जायसवाल का कहना है कि बौद्ध संघों का संगठन करने में गौतम बुद्ध ने राजनैतिक संघों से विचार ग्रहण किया था।[1] इस मान्यता का आधार यह है कि बौद्ध संघ में अनेक पारिभाषिक शब्दों को बिना उनकी व्याख्या किये ही ले लिया गया है। इसके अतिरिक्त यह प्रणाली इतनी वैधानिक है कि इसके बनने में शताब्दियों का अनुभव आवश्यक था जो कि स्वयं बौद्ध धर्म के पास नहीं था। डा० भण्डारकर भी यह मानते हैं कि गौतम बुद्ध द्वारा अपने संघ के लिए जो अनेक पारिभाषिक शब्द एवं कार्य प्रणाली प्रयुक्त की गई है वह अवश्य ही पहले के अन्य राजनैतिक, स्थानीय या आर्थिक संघों में प्रचलित रही होगी।

अनेक जातक कथाओं एवं अन्य बौद्ध ग्रन्थों ने भी इस मत का समर्थन किया है। वज्जियों की शासन-प्रणाली में प्राप्त सातों गुणों को बौद्ध संघों का संगठन करने में अपनाया गया। डा० देवीदत्त शुक्ल द्वारा इस मत का खण्डन किया गया है। उनका मत है कि महात्मा बुद्ध के समय आर्थिक तथा राजनैतिक ये दो प्रकार के संघ वर्तमान थे। बौद्ध संघों का संगठन राजनैतिक संघ के आधार पर न होकर, आर्थिक संघों से बहुत कुछ समानता रखता था।[2]

बौद्ध संघ के लिए प्रयुक्त होने वाले गणबन्धन, गणपूरक एवं गणभाग आदि शब्दों के आधार पर विचारक यह निष्कर्ष निकालते हैं कि इनका संगठन गणराज्यों के संगठन के आधार पर ही किया गया है। यह मत मान्य इसलिए नही होता क्योंकि गण शब्द का प्रयोग राजनैतिक संस्थाओं से पूर्व आर्थिक संस्थाओं के लिए किया जाता था; अतः वे ही बौद्ध संघ के संगठन का आधार हैं। बौद्ध संघ के संगठन एवं कार्य प्रणाली के सम्बन्ध में जिस उच्च-कोटि की नियमावली एवं सुगढ़ भाषा का प्रयोग किया गया है, उससे यह ज्ञात होता है कि ऐसा करने के लिए दीर्घकालीन अनुभव से काम लिया गया होगा।

बौद्ध साहित्य में तत्कालीन गणराज्यों से सम्बन्धित जो सूचना प्राप्त होती है उसके आधार पर इनकी प्रकृति के सम्बन्ध में कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। इस सम्बन्ध मे पहली बात तो यह है कि गणराज्यों की जनता को पहले कुलों में विभक्त किया जाता था और फिर प्रत्येक कुल का एक प्रतिनिधि राज्य सभा का सदस्य बनता था। यदि सभा में निर्णय सर्वसम्मति से न हो

1. डा० के० पी० जायसवाल, पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ–४०–४२
2. डा० देवीदत्त शुक्ल, पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ–१३७

सके तो उस विषय पर मत लिये जाते थे और बहुमत के निर्णय को स्वीकार किया जाता था। सामान्यतः यह माना जाता है कि कुलपति का पद कुल के वयोवृद्ध को मिलता होगा, किन्तु ललित विस्तर के अध्याय तीन में यह उल्लेख आया है कि लिच्छवि की सभा में ऊँच-नीच और छोटे-बड़े का कोई विचार नहीं किया जाता था। इसका अर्थ यह हुआ कि युवक एवं वृद्ध सभी सभा के सदस्य होते थे। यदि व्यक्ति में योग्यता है तो वह कम उम्र होने पर भी कुलपति बन सकता था। बौद्ध ग्रन्थों के अध्ययन से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि गृहपति कुलपति का चुनाव करते थे और कुलपति राज्य सभा के सदस्य हुआ करते थे। ये सदस्य सेनापति और राज्य के अध्यक्ष का निर्वाचन करते थे।

बौद्ध ग्रन्थों में राज्यों की जो कार्यप्रणाली वर्णित की गई है उसके सम्बन्ध में विचारक एकमत नहीं हैं। डा० जायसवाल मानते हैं कि बौद्ध संघों का संगठन एवं कार्य प्रणाली तत्कालीन जनतंत्रों के संगठन और कार्य प्रणाली पर आधारित थी। डा० बी० सी० लॉ के कथनानुसार बुद्ध द्वारा धार्मिक संघ के संगठन और कार्यप्रणाली में राजनैतिक संघ की जनतन्त्रात्मक सभाओं की कार्यप्रणाली का अनुकरण कर लिया गया। डा० मजूमदार को यह मत सन्देहजनक दिखाई देता है। उनका कहना है कि यदि संघ की प्रणाली पहले से ही प्रचलित होती तो महावग्ग, विनयपिटक में संघ की कार्यप्रणाली का इतने विस्तार के साथ वर्णन नहीं होता। डा० मजूमदार की मान्यता है कि बुद्ध किसी की नकल नहीं कर रहे थे वरन् अपने संघ की नयी प्रणाली बना रहे थे। इस प्रणाली का रूप जनतन्त्रात्मक संस्थाओं के लिए उपयोगी था, इसलिए उन्होंने कई बातें इनसे ग्रहण कीं, उदाहरण के लिए––(१) सभा में प्रस्ताव रखने के लिए निश्चित नियम बनाये गये। किसी भी प्रस्ताव को साधारण रूप से तीन बार दोहराया जाता था और विरोध न होने पर उसे स्वीकृत मान लिया जाता था। यदि विरोध होता था तो बहुमत के आधार पर निर्णय किया जाता था। (२) जो समस्याएं सुलझ नहीं पाती थीं वे समिति के सम्मुख रख दी जाती थीं। (३) गणपूर्ति के नियम बने हुए थे। अनुपस्थित सदस्यों के मत प्राप्त करने की व्यवस्था भी थी। बौद्ध संघों से यह ग्रहण किया गया कि अवैधानिक रूप से निर्मित सभा के निर्णयों को कैसे वैधानिक मान्यता दी जाए।

गणराज्यों में सभा की कार्य प्रणाली बहुत कुछ बौद्ध संघ की कार्यप्रणाली से मिलती थी। उसमें गणपूर्ति, गणपूरक एवं मतग्रह शलाकाओं का प्रयोग किया जाता था। बौद्ध संघ में किसी कार्य विशेष को सम्पन्न करने के लिए सदस्यों की उपस्थिति की न्यूनतम संख्या निर्धारित कर दी गई थी। उससे कम सदस्य होने पर किया गया कार्य अव्यावहारिक माना गया था। यह निश्चित संख्या ही गणपूर्ति थी। जिस सदस्य को न्यूनतम संख्या में सदस्यों को उपस्थित करने का भार सौंपा जाता था वह गणपूरक कहलाता था। संघ के सदस्य जिस आसन पर बैठते थे उसे ठीक प्रकार लगाने वाला अधिकारी आसन प्रज्ञापक कहलाता था। जो प्रस्ताव संघ में विचारार्थ प्रस्तुत किया

जाता था उसके सम्बन्ध में सदस्यों का मौन उसकी स्वीकृति माना जाता था। यदि कोई विरोध करना चाहता तो वह बोलकर ऐसा कर सकता था।

यदि संघ का कोई सदस्य बीमारी या अन्य किसी कारण से संघ में उपस्थित न हो सके तो भी उसका मत प्राप्त करने की व्यवस्था थी। मतों का संग्रह तो किया ही जाता था, किन्तु इन अनुपस्थित सदस्यों के मतों को गिनना अथवा न गिनना उपस्थित सदस्यों की इच्छा पर आधारित था।

बहुमत की राय जानने के लिए मत संग्रह शलाका का प्रयोग किया जाता था। शलाका को ग्रहण करने वाले की नियुक्ति के लिए नियम बने हुए थे। शलाका ग्रहण तीन प्रकार से हो सकता था—(१) गूल्हकम्म के अनुसार गुप्त रूप से मत या छंद संग्रह किया जाता था। (२) सकणणय्-जप्पतम् के अनुसार धीरे से कान में कहकर मत प्रकट किया जाता था। (३) विवतकम् के अनुसार प्रकट रूप से छन्द प्रदान किये जाते थे। कई बार ऐसे भी अवसर आते थे जबकि विचारार्थ विषय निरर्थक व्याख्यानों में उलझ जाता था। ऐसी स्थिति में संघ द्वारा वह विषय किसी न्युक्ति समिति को सौंप दिया जाता था। यदि यह समिति कोई निर्णय नहीं कर पाती थी तो निर्णय संघ के द्वारा ही किया जाता था।

एक बार किसी प्रश्न पर निर्णय हो जाने के बाद उसे दुबारा नहीं उठाया जाता था। भाषण में अनुचित शब्दों का प्रयोग करने वाले सदस्य के विरुद्ध निन्दा प्रस्ताव लाया जा सकता था। संघ में वाद-विवाद करने के नियम थे और वाद-विवाद के समय उनका पालन किया जाता था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बौद्ध संघ की कार्य प्रणाली अत्यन्त उन्नत और विकसित थी।

बौद्ध ग्रंथों में जिन विभिन्न गणराज्यों का उल्लेख किया गया है उनमें शाक्य, कोलिय, रामग्राम, लिच्छवि, विदेह, मल, मौर्य एवं मग्ग आदि प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। इन विभिन्न गणराज्यों में प्रशासनिक व्यवस्था बहुत कुछ बौद्ध संघ कार्य प्रणाली से मिलती थी। गणराज्यों में शासक की सर्वोच्च सत्ता को केन्द्रीय समिति को सौंपा गया जिसकी सदस्य संख्या विभिन्न गणराज्यों में अलग-अलग थी। यौधेयों की समिति में पांच हजार और लिच्छवियों की समिति में सात हजार सात सौ सदस्य थे। समिति का संगठन एक संघागार में किया जाता था। जिस समय लिच्छवि राजा संघागार में प्रविष्ट होते थे उस समय वहां एक घड़ियाल बजाया जाता था। केन्द्रीय समिति के द्वारा मन्त्रिमण्डल के सदस्यों और सेनानायकों का चुनाव किया जाता था। विदेश नीति का निर्धारण समिति द्वारा किया जाता था। संकट के समय समिति के प्रमुख सदस्यों को दूत बनाकर भेजा जाता था।

गणराज्यों के मन्त्रिमण्डल के सदस्यों की संख्या निश्चित नहीं थी। लिच्छवि-विदेह राज्य की परिषद में १८ सदस्य थे। मल्लों की मन्त्रि परिषद में चार मन्त्री होते थे, जबकि लिच्छवियों की मन्त्रि परिषद ९ सदस्यों से बनी थी। इस प्रकार केन्द्रीय समिति द्वारा नियोजित इन मन्त्रियों की संख्या ४ से लेकर २० तक हो सकती थी। इन गणराज्यों में स्वायत्त शासन को

महत्व दिया जाता होगा, क्योंकि नगरों की स्वायत्त परिषदों का कई स्थानों पर उल्लेख आया है। गणराज्यों में न्याय व्यवस्था पर्याप्त संगठित थी।

जैन साहित्य में गणराज्य
(Republics in Jain Literature)

जैन साहित्य भी बौद्ध साहित्य की भांति मुख्य रूप से धर्म सम्बन्धी विषयों का विवेचन करता है। शासन सम्बन्धी विवरण बहुत थोड़ी मात्रा में प्राप्त होता है। जैन साहित्य का अवलोकन इस बात की पुष्टि करता है कि उस समय तक राज्यों में सामन्तवाद के अंकुर पर्याप्त पनप चुके थे। जैनों की धार्मिक संस्थाओं में गणधरों और कुलधरों की महत्वपूर्ण संस्थायें थीं। जैन साहित्य में आये विवरण के अनुसार कई एक नये संघों तथा कुलों की स्थापना कुछ व्यक्तियों ने मिलकर की। इनका नामकरण या तो संस्थापक के नाम पर किया जाता था अथवा स्थान के नाम पर। जैन ग्रन्थ अभिदान राजेन्द्र में गण शब्द के दो रूपों का उल्लेख है–सचित और अचित। अचित गण साधारण समूह को कहा गया है जबकि सचित गण व्यक्तियों के विवेकपूर्ण संघ को कहा गया है। उद्देश्यों के आधार पर सचित गण दो भागों में बांटे जा सकते हैं—राजनैतिक और अराजनैतिक।

जैन ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार की शासन–प्रणालियों का उल्लेख किया गया है, किन्तु उनके सम्बन्ध में पर्याप्त विवरण नहीं दिया गया है। ये शासन प्रणालियां उस समय स्थित थीं अथवा नहीं थीं यह बात अधिक महत्व नहीं रखती, किन्तु इससे यह तो साबित हो जाता है कि तत्कालीन समाज और विचारक इन प्रणालियों से परिचित थे। ये हैं—अरायाणि, गणरायाणि, जुगरायाणि, दोणरज्जायाणि, वेरज्जाणि, और विरुद्धरज्जाणि। इन शासन प्रणालियों में युवराज और द्विराज्य शासन प्रणालियां राजतन्त्रात्मक थीं तथा शेष का रूप जनतन्त्रात्मक था। जैन सूत्रों में भोज शासन प्रणाली का भी उल्लेख किया गया है। सम्भवतः यह भी जनतन्त्रीय थी।

अराजक शासन प्रणाली राज्य की उत्पत्ति से पूर्व कायम थी। इसमें बिना राज्य और बिना राजा के ही व्यवस्था की जाती थी। मनुष्य का कार्य प्राकृतिक विधियों और प्रेरणाओं से अनुशासित होता था। मनुष्य में मोह, लोभ, काम, द्वेष आदि विकार पैदा नहीं हुए थे। उसमें सहयोग की भावना प्रधान थी। उसका जीवन सुख और शांति के साथ व्यतीत होता था। मानव मन में विकार उत्पन्न होने के बाद यह अवस्था नहीं रही।

गणराज्य व्यवस्था के सम्बन्ध में जैन ग्रन्थों की कोई अच्छी राय नहीं थी। आचारांग सूत्र में जैन साधु और साधुनियों से यह कहा गया है कि वे ऐसे शासन में प्रवेश न करें, क्योंकि उन्हें गुप्तचर होने के सन्देह में आपत्ति में डाला जा सकता था। गणराज्यों के सम्बन्ध में इस दृष्टिकोण का आधार यह था कि इनमें बुरे चरित्र वाले स्त्री-पुरुषों को राजा बना दिया जाता था। इनके बीच परस्पर द्वेष और कलह रहता था जिसके कारण राज्य का जन–जीवन दुखद बन जाता था।

वैराज्य शासन प्रणाली मानव विकास की अगली सीढ़ी है। यह अराजक अवस्था के बाद और राज्य की उत्पत्ति के पहले की स्थिति है। अराजक अवस्था में मानव मन में जो विकार उत्पन्न हुए तो वह उद्दण्ड बन गया, ऐसी स्थिति में समाज को दण्ड व्यवस्था की आवश्यकता हुई। विद्वानों ने दण्ड नीति अथवा प्रशासनिक विधियों का इस्तेमाल किया। इस प्रकार वै राज्य के प्रारंभिक रूप में राजा नहीं था किन्तु प्रशासनिक विधियां थीं। इस काल में वर्ण व्यवस्था और धर्म का जन्म हो चुका था और राजनैतिक क्षेत्र में सभा तथा समितियां कायम हो गई थीं। यजुर्वेद के अनुसार यह राज्य शासन प्रणाली दक्षिण में वर्तमान थी। इसके सर्वोच्च शासक को अधिपति कहा जाता था तथा इसके सेनापति को इन्द्र कहते थे। शासन के १५ विभाग थे। इनका शासन विधरता और अधिपति परस्पर सहयोग से करते थे।

विरुद्ध-रज्जाणि को डा० जायसवाल ने राजनैतिक दलों का राज्य माना है। डा० देवीदत्त शुक्ल का कहना है कि राजनैतिक दल तो गणराज्य में भी होते हैं इसलिए विरुद्धरजाणि तो ऐसा संघ राज्य होगा जिसमें दो या दो से अधिक गणराज्य सम्मिलित होते थे। जैन ग्रन्थ गणराज्यों को अच्छी नजर से नहीं देखते, इसलिए विरुद्ध रज्जाणि के सम्बन्ध में भी उनकी ऐसी ही नजर स्वाभाविक है।

भोज्य राज्य नाम के कुछ स्वतन्त्र राज्य मौर्य काल में स्थित थे। अमर कोश के अनुसार भुज शब्द का अर्थ है भोजन और पोषण की व्यवस्था करना। इस आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि भोज्य राज्य में शासन अधिकारियों के कर्त्तव्य सीमित रहते होंगे। इनका मुख्य कर्त्तव्य जनता की आजीविका और आन्तरिक व्यवस्था का प्रबन्ध करना होगा। डा० देवीदत्त शुक्ल के मतानुसार "भोज्य राज्य की जनता आर्थिक संघों में संगठित होगी और राजा का कर्त्तव्य उन संघों के पारस्परिक संबंध बनाए रखना तथा अन्य राज्यों से व्यापार की व्यवस्था करना होगा, क्योंकि भोज शब्द से इस प्रकार का भाव प्रकट होता है।"[1] इस प्रकार जैन ग्रन्थों में जनतन्त्रात्मक शासन प्रणालियों के कुछ रूप वर्णित किये गये हैं किन्तु उनकी अधिक जानकारी इनमें प्राप्त नहीं होती।

अर्थशास्त्र में गणराज्य
[Republics in Economics]

कौटिल्य का अर्थशास्त्र जिस समय लिखा गया उस समय राजतन्त्र राज्य प्रबल हो चुके थे। स्वयं कौटिल्य भी राजतंत्र का पोषक था। फिर भी उसने संघ की शक्ति को महत्वपूर्ण माना है। अर्थशास्त्र में गणराज्यों के अन्तर्गत फूट डालने के जिन विभिन्न उपायों का वर्णन किया गया है उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि कौटिल्य के समय में जनतंत्र राज्य अत्यन्त प्रबल थे।

---

1. डा० देवीदत्त शुक्ल, पूर्वोक्त पुस्तक १६९

कौटिल्य ने संघों को दो रूपों में विभाजित किया है: यह है—अनुगुण और विगुण। अनुगुण का अर्थ ऐसे संघ से है जिसकी जनता अपने राजा के अनुकूल भाव रखती है और उसके अनुसार कार्य करती है जबकि विगुण का अर्थ ऐसे संघ से है जिसकी जनता राजा के प्रति विरोधी भाव रखती है। कौटिल्य का कहना है कि राजा को अनुगुण संघों को वश में करने के लिए साम और दाम नीति का प्रयोग करना चाहिए और विगुण संघों को वश में करने के लिए भेद और दण्ड नीति अपनानी चाहिए। विगुण संघों को वश में करने की दृष्टि से आगे दो भागों में विभाजित किया गया है—वार्ताशस्त्रोपजीवी तथा राजशब्दोपजीवी। कौटिल्य ने इन दोनों प्रकार के संघों के साथ भिन्न व्यवहार करने के लिए कहा है।

वार्ताशस्त्रोपजीवी संघ

कौटिल्य का कहना है कि कम्बोज और सुराष्ट्र के क्षत्रियवर्ग लोग श्रेणी आदि बनाकर वार्ता और शस्त्रों के द्वारा अपनी जीविका का उपार्जन करते थे। कौटिल्य के समय में व्यावसायिक एवं औद्योगिक क्षेत्र में संघ हुआ करते थे। विभिन्न व्यवसायों को करने वाले लोग अपनी-अपनी श्रेणी में संगठित होकर कार्य करते थे। उस समय कुछ श्रेणियां ऐसी भी होती थीं जो चोरी करने तथा डाका डालने में संलग्न रहती थीं। इनके नेता को श्रेणी मुख्य कहा जाता था। श्रेणियों के पास स्वयं की सैनिक शक्ति रहती थी और आवश्यकता पड़ने पर राजा द्वारा भी इसका उपयोग किया जा सकता था।

अर्थशास्त्र में कृषि, पशुपालन, और व्यापार को वार्ता कहा है। क्षत्रिय वर्ग के लोग शस्त्रोपजीवी कहाते थे क्योंकि शस्त्रों के निर्माण एवं उनके प्रयोग से वे जीविका का उपार्जन करते थे। क्षत्रियों के संघ को वश में करने के लिए कौटिल्य द्वारा अनेक उपाय बताये गये हैं। इन संघों के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि ये जनतन्त्रों में होते थे अथवा राजतन्त्रों में। यदि ये जनतन्त्रों में रहे होते तो राजा को इन्हें वश में करने की आवश्यकता नहीं होती। केवल राजतन्त्र में ही स्वच्छन्द राजा को इनकी शक्ति से भय रहता था। इन संघों से सम्बन्धित कम्बोज और सुराष्ट्र दोनों ही राजतन्त्रीय राज्य थे।

प्रो० अल्तेकर ने वार्ताशस्त्रोपजीवी संघ का अर्थ एक ऐसा राज्य माना है जिसमें व्यापारी और सैनिक दोनों वर्गों के लोग शासन कार्य में भाग लेते थे। डा० देवीदत्त शुक्ल के मतानुसार इस अर्थ को सही मानने पर श्रेणी और क्षत्रिय शब्द निरर्थक बन जाते हैं। इसके अतिरिक्त कम्बोज और सुराष्ट्र जनतन्त्र नहीं थे वरन् राजतन्त्र थे।

राज्यशब्दोपजीवी संघ

ये संघ राजनैतिक थे और इस प्रकार पूर्व वर्णित आर्थिक संघों से ये भिन्न थे। राज्य शब्दोपजीवी शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया क्योंकि इसके द्वारा 'राज्य' से जीविका कमाने वाले लोगों को इंगित करना था। जिस तरह भारत में जमींदारी प्रथा में जमींदार की आजीविका का साधन उसकी जमींदारी थी, उसी प्रकार के सामन्त कौटिल्य के काल में भी रहे होंगे।

इन सामन्तों के संगठन से जो राज्य बनता था उसे ही राज्य शब्दोपजीवी की संज्ञा प्रदान की गई। प्रो० अलतेकर इस संघ को एक ऐसा राज्य मानते हैं जिसमें केवल उन्हीं को राजा की पदवी दी जाती थी जो कि राज्य के संस्थापक क्षत्रियों के वंशज थे। यह मत अधिक सही प्रतीत नहीं होता। कौटिल्य के कथनानुसार इस संघ में हीन कुल और उच्च कुल दोनों के लोग होते थे। कौटिल्य ने इस प्रकार के राज्यों को संघ कहा है। वह इनके लिए गणराज्य शब्द का प्रयोग नहीं करता। ऐसी स्थिति में इस शब्द का यही अर्थ प्रतीत होता है कि राजा नामधारी सामन्त अपनी जमींदारियों में पर्याप्त स्वतन्त्रता का प्रयोग करते थे और प्रबल शक्ति रखते थे। इनमें से प्रत्येक अपने आप को राजा समझता था। इन सामन्तों ने जब मिल कर एक संघ बना दिया तो उसे राज्यशब्दोपजीवी संघ का नाम दिया गया। कौटिल्य ने इन प्रकार के सात संघों का उल्लेख किया है। वे हैं—लिच्छविक, व्रजिक, मल्लक, मद्रक, कुकुर, कुरु और आचाॅल। कौटिल्य ने इनके विभिन्न संघों का विवरण केवल प्रसंगवश दिया है। उसका मुख्य विषय तो राजतन्त्र की व्याख्या करना था।

यूनानी ग्रन्थों में गणतन्त्र
(Republics in Greek Texts)

सिकन्दर के साथ-साथ भारत में कुछ यूनानी लेखक भी आये, जिन्होंने यहां के जीवन को लेखबद्ध किया। उनका यह वर्णन मूलरूप में प्राप्त नहीं होता और जो प्राप्त होता है वह कथात्मक रूप में है तथा उसमें अनेक विरोध हैं। इसलिए इनकी सत्यता में कम विश्वास किया जाता है। यूनानी साहित्य के जिन विभिन्न जनतन्त्रों का उल्लेख किया गया है वे हैं—कथ, अद्रेस्तई, सोभूति, क्षुद्रक, मालव, अग्रश्रेणी, अम्बष्ठ, क्षत्रोई, ओस्सदिओई, मुसिकनि, पटल आदि। इन विभिन्न गणराज्यों को जिन स्थानों पर बताया गया है तथा इनके सम्बन्ध में जो सूचना प्रदान की गई है उसके सम्बन्ध में विद्वानों में परस्पर पर्याप्त अन्तर है।

अन्य भारतीय ग्रन्थों की तरह यूनानी लेखों में भी किसी राज्य का विवरण पूर्ण एवं सन्तोषजनक रूप में प्राप्त नहीं होता। इन लेखों में परस्पर विरोधी बातें कही गयी हैं और इनके आधार पर सत्य का पता लगाना अत्यन्त मुश्किल हो जाता है। फिर भी इन लेखों से जनतन्त्रों के तत्कालीन शासन और प्रशासन-प्रणाली का कुछ परिचय प्राप्त होता है। उस समय पश्चिम उत्तर भारत में जनतन्त्रात्मक राज्यों का संगठन तीन प्रकार का था—१. जनतन्त्र जिसे यूनानी लेखक डेमोक्रेसी (Democracy) कहते हैं। इन राज्यों की राज्य सभा के सदस्यों का निर्वाचन नागरिक प्रत्यक्ष मतदान द्वारा करते थे। २. कुलीन गणतन्त्र (Oligarchy) इन राज्यों की राज्य सभा के सदस्य कुलों के आधार पर निर्वाचित किये जाते थे। ३. सामन्त पर्यायी संघ (Aristocracy) राज्यों में शासन का अधिकार सामन्तों की एक सभा को सौंप दिया गया था।

मौर्य कालीन गणतन्त्र
(The Republics of Maurya Period)

सम्राट अशोक के शिलालेखों में तत्कालीन गणराज्यों का उल्लेख किया गया है। मौर्य राजाओं ने अनेक छोटे-छोटे राज्यों को जीत कर अपने साम्राज्य में मिला दिया किन्तु वहां की शासन-प्रणाली को पूर्ववत् ही रहने दिया। जब केन्द्रीय शक्ति का पतन हो गया तो ये राज्य फिर से स्वतन्त्र हो गये।

अशोक के समय में वर्तमान गणतन्त्रों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। इसके प्रथम भाग में वे गणराज्य आते हैं जो कि अशोक के साम्राज्य के अन्तर्गत थे और दूसरे भाग में साम्राज्य के बाहर वाले गणराज्यों को लिया जा सकता है। प्रथम प्रकार के गणराज्यों को अपने आंतरिक प्रशासन की स्वतन्त्रता थी किन्तु अपने बाह्य संबंधों में वे मौर्य साम्राज्य के संरक्षण में थे तथा उसे कर भी देते थे। अशोक के शिलालेख ५ और १३वें में वर्णित योन (यवन), कम्बोज गन्धार राष्ट्रिक, पितिनिकि, भोज आन्ध्र, पारध और नाभक को प्रथम श्रेणी के गणराज्यों में लिया जा सकता है। साम्राज्य के बाहर वाले जनतन्त्रों में चोल, पाण्ड्य, केरल आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

अशोक के शिलालेखों से इस बात का कोई पता नहीं लगता कि इन विभिन्न गणराज्यों में शासन व्यवस्था का रूप क्या था। इन गणराज्यों की शासन व्यवस्था के रूप की जानकारी के लिए भी हमको अनुमान के आधार पर आगे बढ़ना होता है। इस प्रकार किये गये अनुमानों में मत-विभिन्नताओं का रहना स्वाभाविक है।

शुंग काल में गणतन्त्र
(The Rellcublics of Shung Period)

मौर्य काल गणराज्यों की दृष्टि से पतन का काल था जबकि इनमें से अधिकांश अपने स्वाभाविक रूप को छोड़ते हुए जा रहे थे। केवल कुछ शक्तिशाली राज्य ही शुंगकाल तक अपनी गणतन्त्रात्मक व्यवस्था बनाये रहे। शुंग काल में कुछ एक नये गणराज्यों का भी उदय हुआ। किन्तु कुछ समय बाद ही वे अतीत की कथा बन गये। शुंग काल में अथवा उसके बाद जो जनतन्त्र राज्य मिलते हैं वे बहुधा राजपूताने और उसके आसपास के प्रदेशों में स्थित थे। इससे यह प्रकट होता है कि पंजाब के जनतन्त्रात्मक राज्य मौर्य साम्राज्य के बाद नष्ट हो गये। इतिहासकारों का मत है कि जब मौर्य काल के बाद उत्तर पश्चिम दिशा से विदेशियों के निरन्तर आक्रमण और आगमन होते रहे तो पंजाब की स्वतन्त्रताप्रिय जातियों ने राजपूताने की ओर प्रस्थान किया। शुंग काल में वर्तमान विभिन्न गणराज्यों में मुख्य रूप से यौधेय, मद्र, मालव और क्षुद्रक अर्जुनायन, कुकर, वृष्णि, राजन्य, नाग और मालव आदि का नाम लिया जा सकता है। इस काल के अधिकांश गणतन्त्रों का अस्तित्व सिक्कों और शिलालेखों के माध्यम से ज्ञात होता है।

गणराज्यों का पतन और उसके कारण
(Downfall of Republics & their reasons)

डा० देवीदत्त शुक्ल के कथनानुसार "द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व से चतुर्थ शताब्दी ईसवी तक का समय भारतीय इतिहास में जनतन्त्र राज्यों के अन्तिम उत्थान का समय था।"[1] इस काल में जनतन्त्रों के इतिहास की निरन्तरता समाप्त हो गई। नये जनतन्त्रों की स्थापना और स्थित जनतन्त्रों का पतन आये दिन की घटना बन गया। पांचवी शताब्दी ईसा पूर्व तक इनके पतन का इतिहास अपने केवल दो अवशेष छोड़कर थोड़ा रुका। इस काल में केवल लिच्छवियों और पुष्य मित्रों के ही गणराज्य मिलते हैं। लिच्छवियों का गणराज्य गुप्त साम्राज्य के समय स्थित था। इनके द्वारा गुप्त साम्राज्य के उत्थान में पर्याप्त सहायता प्रदान की गई। लगता है कि गुप्त साम्राज्य के साथ-साथ लिच्छवियों का गणराज्य भी इतिहास के गर्त में चला गया। पांचवीं शताब्दी के बाद के इतिहास के पन्ने पुष्य मित्रों के नाम से सभी वंचित हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भारत में जनतन्त्र के इतिहास की धारा छठीं शताब्दी ईसवी से एक लम्बे काल के लिए रुक गई और १५ अगस्त, १६४७ के शुभ दिन ने अनेक परिवर्तनों और मोड़ों के साथ इसे पुनः प्रवाहित किया।

भारत में जनतन्त्र की जड़ें अत्यन्त गहरी थीं। यहां के जन-मानस पर जनतन्त्रात्मक मूल्यों का इतना प्रभाव था कि दिखने में राजतन्त्रात्मक लगने वाली व्यवस्था भी वास्तविक व्यवहार में प्रजातन्त्रात्मक थी। वैदिक काल के प्रारम्भ से ही भारतीयों ने प्रजातन्त्र के बीज आरोपित किये तथा परिस्थितियों के अनुसार उसमें समय-समय के अनुसार परिवर्तन होते रहे। यहां के आचार्यों ने भी इस प्रणाली को अच्छी बताया और इसके महत्व के प्रति सजगता जाहिर की। इतना होने पर भी यह व्यवस्था भारतीय प्राचीन इतिहास से पूर्णतः विलुप्त हो गई। यह एक आश्चर्य का विषय है। इस सम्बन्ध में केवल यही अनुमान किया जा सकता है कि भारतीय गणतन्त्र व्यवस्था के पतन के कारण भी पर्याप्त दीर्घकालीन और संख्या में अनेक रहे होंगे।

डा० देवीदत्त शुक्ल ने भारतीय गणराज्यों के पतन के कारणों को प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भागों में विभाजित किया है। उनकी दृष्टि से इसका एक महत्वपूर्ण प्रत्यक्ष कारण यह है कि बौद्ध कालीन उत्तर प्रदेश और बिहार के जनतन्त्रीय राज्यों को मगध एवं कौशल राज्यों में अपनी साम्राज्यलिप्सा का ग्रास बना लिया। पंजाब के जनतन्त्रों को सिकन्दर के आक्रमणों का घुन लग गया। जब वे संरक्षण के लिए मौर्य साम्राज्य के पास आये तो उनके स्वतन्त्रता-प्रेम को दबा दिया गया। यही कारण है कि जब शकों और हूणों ने आक्रमण किये तो वे सफलता के साथ उनका मुकाबला नहीं कर पाये। राज-

---

1. देवीदत्त शुक्ल, पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ २१६

यूनानी और गुजरात के जनतन्त्रों की शक्ति को शुंग, कलिंग और आन्ध्र राज्यों ने क्षीण बना दिया तथा गुप्त साम्राज्य ने उनके अस्तित्व को पूरी तरह मिटा दिया। ये समस्त कारण जनतन्त्र के पतन के प्रत्यक्ष कारण हैं; किन्तु इन कारणों को वास्तविक एवं केवल मात्र नहीं माना जा सकता। इनके अतिरिक्त अनेक परोक्ष कारण भी थे जिन्होंने भारतीय जनतन्त्रों को कमजोर बना दिया था। इन परोक्ष गुणों में महत्वपूर्ण निम्नलिखित हैं—

(१) पैतृक गुणों का महत्व

भारतीय ग्रन्थों एवं आचार्यों द्वारा पैतृक गुणों पर अनिश्चय जोर दिया गया है। महाभारत तथा अन्य धर्म-शास्त्रों में सर्वत्र इसका प्रभाव दृष्टिगत होता है। निर्वाचित पद पर नियुक्ति करते समय भी वंश परम्परा को महत्व दिया जाता था। डा० देवीदत्त शुक्ल का मत है कि गणतन्त्रों को राजतन्त्रों में परिवर्तित करने वाला यह सर्वप्रथम कारण है। इसके बाद में धीरे-धीरे यह परम्परा पड़ गई कि राजा के पद पर राजा के पुत्रों में से ही किसी को बैठाया जाये। राजपद आजीवन बन गया और गणतन्त्र का स्थान राजतन्त्र ने ले लिया। यद्यपि प्रजा अब भी राजा को उसके पद से अलग कर सकती थी तो भी इस अधिकार का प्रयोग करने के प्रति वह न तो सजग थी और न ही संगठित होकर राजा की शक्ति का विरोध कर सकती थी।

(२) राजा द्वारा मन्त्रियों की नियुक्ति

प्रारम्भ में मन्त्रियों की नियुक्ति राज्य सभा द्वारा की जाती थी जिसमें जनता के चुने हुए प्रतिनिधि होते थे। मन्त्रियों की नियुक्ति में राजा का कोई हाथ नहीं था। जब राजपद वंश-परम्परागत बन गया तो मन्त्रियों की नियुक्ति भी राजा द्वारा की जाने लगी। राजा द्वारा नियुक्त ये मन्त्री राजा के सही और गलत सभी कार्यों का समर्थन करते थे। इस प्रकार राजा की शक्तियां बढ़ीं और वह स्वेच्छाचारी बनता चला गया। पहले मन्त्रियों द्वारा राजा को कुमार्ग से रोकने तथा उसे जनकल्याण में लगाने का जो कार्य मन्त्रियों द्वारा किया जाता था उसे वे अब करने में असमर्थ थे। ऐसी स्थिति में जनतन्त्र व्यवस्था का अस्तित्व असम्भव था।

(३) स्मृतियों एवं धर्मशास्त्रों का आदर्श रूप

परिस्थितियों की आवश्यकता को समझ कर विद्वान् ब्राह्मणों द्वारा धर्मशास्त्रों एवं स्मृति ग्रन्थों की रचना की गई ताकि राजा के व्यवहार का निर्देशन कर सकें। इनमें राजा तथा प्रजा के कर्त्तव्यों का विस्तार के साथ वर्णन किया गया किन्तु ऐसा करते समय इन्होंने राज्य विशेष को ध्यान में न रखा वरन् एक आदर्श राज्य-सिद्धान्त को वर्णित किया। इस रूप में ये व्यावहारिक महत्व के कम थे।

(४) राजा शक्ति पर धर्म का नियन्त्रण

प्राचीन भारत में विधि राजा से उच्च थी और राजा को उसके बनाने की दृष्टि से कोई अधिकार नहीं था। इसके अतिरिक्त राजा के व्यवहार पर

धर्म की सीमायें भी थीं। राजा यदि आततायी होता था अथवा वह जनता का शोषण करने लगता था तो उसे जनता द्वारा पदच्युत कर दिया जाता था अथवा उसकी हत्या कर दी जाती थी। इस प्रकार राजा पर नियन्त्रण रखने का कार्य धर्म तथा उसके व्याख्याकारों द्वारा किया जाता था। सामान्य जनता इस सम्बन्ध में अपना कोई उत्तरदायित्व नहीं मानती थी। धर्म मर्यादित राज्य व्यवस्था में जन-साधारण को पर्याप्त स्वतन्त्रता की अनुभूति होती थी, किन्तु धर्म का प्रभाव जब कम होने लगा तो राजा की स्वच्छन्दता बढ़ने लगा और जनतन्त्रात्मक मूल्य शासन—व्यवस्था से विलीन होते गये।

(५) सामन्तवादी व्यवस्था का प्रभाव

कालान्तर में सामन्तवादी व्यवस्था विकसित होने लगी तथा जंगली प्रदेशों की खाली भूमि को कृषियोग्य बना कर उस पर स्वामित्व किया जाना प्रारम्भ हो गया। इन सामन्तवादी प्रदेशों की शासन व्यवस्था यहां के कुल—पतियों के द्वारा संचालित की जाती थी। इस प्रकार प्रारम्भ में ये जनतंत्रात्मक थे किन्तु बाद में इनका रूप सामन्तवादी होता गया।

प्राचीन भारत में उच्च प्रशासकीय अधिकारियों को वेतन के रूप में नकद धन नहीं दिया जाता था, वरन् उतनी ही भूमि दे दी जाती थी। इस प्रकार सामन्तवादी व्यवस्था पनपती जा रही थी। इसी प्रकार पराजित राज्य को जब विजयी राज्य अपने वश में कर लेता था तो उसमें भी कुछ सामन्तवादी तत्त्व विकसित हो जाते थे।

सामन्तवादी व्यवस्था का विकास एक अन्य प्रकार से भी होता था कि राजा के पुत्रों में से ज्येष्ठ अथवा योग्य को तो राजा बनाया जाता था किन्तु शेष को अलग अलग भू—भाग सौंप दिये जाते थे।

इस प्रकार जनतंत्र एवं राजतंत्र दोनों ही प्रकार के राज्यों में सामन्तवादी व्यवस्था कायम थी जिसने बढ़ते—बढ़ते एक दिन जनतन्त्र को पूरी तरह से मिटा दिया। बौद्ध काल में गणराज्यों का स्वरूप बहुत कुछ सामन्तवाद से मिलता-जुलता-सा था। शुंग काल एवं गुप्त काल के गणराज्यों की प्रवृति भी कुछ इसी प्रकार की थी। इनमें तथा राजतन्त्रों के बीच स्थित अन्तर धीरे-धीरे कम होता जा रहा था। सामान्य जनता के लिए दोनों प्रकार के राज्यों के बीच अधिक अन्तर नहीं था। जनता की अभिरुचि अब गणराज्यों से हटती जा रही थी क्योंकि बड़े एवं शक्तिशाली राज्य में जन-जीवन के सुरक्षित तथा सुखी रहने की सम्भावनायें अधिक थीं। छोटे-छोटे राज्य या तो परस्पर लड़ते रहते थे अथवा उनके ऊपर बड़े शक्तिशाली राज्यों द्वारा आक्रमण कर दिया जाता था।

(६) जातीय भेदभाव की भावना

भारत में जाति—व्यवस्था जब जन्मजात होकर प्रबल बन गई तो समाज में ऊंच-नीच की भावना भी जोर पकड़ने लगी। गणराज्यों में जिन

सामन्तों के हाथ में शक्ति रहती थी वे परस्पर ऊंच-नीच का भेद करने लगे जो कि उनके पारस्परिक द्वेष और मनमुटाव का कारण बन गया। जाति प्रथा के विकास ने एक अन्य प्रकार से भी जनतन्त्रों के विनाश का मार्ग प्रशस्त किया। जातीय आधार पर प्रत्येक गणराज्य अपने को अन्य की अपेक्षा श्रेष्ठ तथा उच्च मानता था और इसलिए उनके बीच किसी प्रकार का संघ बनने की सम्भावनायें समाप्त हो गईं। छोटे-छोटे गणराज्य यदि मिल कर संघ बना लेते तो विदेशी आक्रमणकारियों को करारा जवाब दे सकते थे, किन्तु जाति-व्यवस्था पर आधारित ऊंच-नीच द्वेष तथा स्वार्थ के भावों ने उनको अलग अलग ही बनाये रखा और वे मिलने की अपेक्षा मिट गये।

उक्त सभी कारणों ने मिलकर जनतन्त्र प्रणाली को क्षत-विक्षत कर दिया। गुप्त काल में आकर यह व्यवस्था अपनी अन्तिम श्वासें गिनने लगी। इस काल की जनता का जनतन्त्र से विश्वास उठ गया क्योंकि यह व्यवस्था उसको न तो सुरक्षा प्रदान कर पाती थी और न ही उससे जनता की खुशहाली बढ़ पाती थी। इस समय में जो भी गणतन्त्र स्थापित किया गया उसके पीछे सामन्तों का निहित स्वार्थ था। राजतन्त्रात्मक व्यवस्था में सामन्तों को पूरी स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो पाती थी। उन पर केन्द्र का पर्याप्त नियन्त्रण रहता था। उनके द्वारा स्वच्छन्दता पूर्ण व्यवहार नहीं किया जा सकता था। गण-तन्त्रात्मक व्यवस्था के सम्बन्ध में यह बात न थी। इसमें सामन्तों द्वारा ही स्वयं एकत्रित होकर केन्द्र का शासन संचालित किया जाता था। यहां उनको व्यवहार की पूरी स्वतन्त्रता एवं स्वच्छन्दता प्राप्त हुई जिसका दुरुपयोग करते हुए उन्होंने पारस्परिक द्वेष और कलह को जन्म दिया। फलतः उनकी शक्ति [illegible] न आवे। सामन्तों को भी यह [illegible] में शासन स्थिर नहीं रह पाता [illegible] की अपेक्षा बड़े साम्राज्य का संरक्षण प्राप्त करना अधिक उपयुक्त समझने लगे। प्राचीन भारतीय गण-राज्यों के पतन का मूल कारण जनता की इनके प्रति उत्पन्न अरुचि थी जो स्वयं अनेक कारणों से उत्पन्न हुई थी।

१०

राजपद और राजतंत्र
(KINGSHIP AND MONARCHY)

भारत में राजतन्त्रात्मक व्यवस्था इतनी ही पुरानी है जितने पुराने कि वेद हैं। राजतन्त्र में एक व्यक्ति विशेष का शासन होता है जिसे राजा कहा जाता है। 'राजा' शब्द संस्कृत के 'राजन्' शब्द का पर्याय है जो कि राज + अन् धातु से मिलकर बना है। इसका अर्थ तेजी के साथ चमकना अथवा प्रकाशवान होता है। इस प्रकार राजा उसे कहा जाता था जो कि तेज सम्पन्न है और अपने सौन्दर्य, गुण तथा यश के कारण दूसरों को आसानी से आकर्षित कर सकता है। रामायण कालीन राजाओं में सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी राजाओं का जो उल्लेख होता है वह राजा के इसी प्रकाशमान तत्व पर जोर देता है। राजा शब्द का एक अन्य अर्थ प्रजा का रंजन करने वाले व्यक्ति से लिया जाता है। डा० जायसवाल के शब्दों में 'शासक को राजा इसलिए कहते हैं कि उसका कर्त्तव्य अच्छे शासन के द्वारा अपने प्रजा का रंजन करना अथवा उसे प्रसन्न करना है।'[1] उनका मत है कि राजा शब्द के इस अर्थ को समस्त संस्कृत साहित्य में स्वीकार किया गया है। यहां तक कि स्वयं राजा लोग भी इस अर्थ को स्वीकार करके तदनुसार कार्य करने का प्रयास करते थे। कलिंग के जैन सम्राट खारवेला ने अपनी हाथी गुफा लेख में इस बात का उल्लेख किया है कि वह अपनी प्रजा का रंजन किया करता था जिसकी संख्या ३५ लाख थी। बौद्ध साहित्य में भी राजा के इस अर्थ को स्वीकार किया गया है।

अथर्ववेद मे यह उल्लेख है कि मनुष्यों में वीर्यवान और सामर्थ्यवान मनुष्य को दूसरों का अधिष्ठाता बनकर विराज सिंहासन पर बैठना चाहिए। एक अन्य स्थान पर राजा से यह कहा गया है कि वह प्रजा का मित्र बनकर राज्य करे प्रजा की पुकार सुने, प्रजा की इच्छा का आदर करे, समुद्र तक बहने वाली नहरों को चलावे और उनसे कृषि कार्यों में सहायता करे। स्पष्ट है कि राजा नामक पदाधिकारी स्वयं शौर्य एवं साहसी गुणों से युक्त होता हुआ प्रजा के कल्याण और सुख समृद्धि का कार्य करता था।

---

1. डा० के. पी. जायसवाल, पूर्वोक्त पुस्तक, द्वितीय भाग, पृष्ठ १

मनुस्मृति के पढ़ने पर यह ज्ञात होता है कि उन्होंने जगत के कल्याण के लिए एक ऐसे सर्वगुण सम्पन्न व्यक्ति की आवश्यकता महसूस की जो कि शक्तिशाली दण्ड को उचित प्रकार से व्यवस्था कर सके। मनु ने ऐसे व्यक्ति को राजा की संज्ञा प्रदान की और उसके पद को राजपद के नाम से सम्बोधित किया। राजा द्वारा दण्ड धारण किया जाता है। वह उसका उचित रूप से प्रयोग करके राज्य में धर्म की स्थापना करता है। इस प्रकार उसका स्वरूप एक दण्डधारी धर्म-संस्थापक का है। उसे अपना आचरण धर्म ग्रन्थों के अनुरूप संचालित करना होता है। राज धर्म के नियम उसके द्वारा बनाये नहीं जाते और न वह उनमें किसी प्रकार का संशोधन, परिवर्तन या परिवर्द्धन कर सकता था। राजा का पद सर्वोपरि नहीं माना गया, क्योंकि धर्म का स्थान उसके ऊपर था। मनु ने प्रत्येक व्यक्ति में राजा बनने की योग्यता नहीं देखी। इस प्रकार उन्होंने सामान्य जनता को राजपद से वंचित रखा है। उन्होंने राजा के जो विशेष गुण वर्णित किये हैं वे सामान्य जन में कदापि प्राप्त नहीं हो सकते।

महाभारत के भीष्म ने राजपद को पर्याप्त महत्वपूर्ण, महान एवं परमावश्यक माना है। राजा के महत्व तथा आवश्यकता के सम्बन्ध में शान्ति पर्व में भीष्म का जो विचार है वह मनु द्वारा व्यक्त विचारों के अनुरूप है। भीष्म के अनुसार भी राजा धर्म की स्थापना करता है। उसके डर से प्रत्येक व्यक्ति अपने धर्म का पालन करता है और इस प्रकार धर्म की व्यवस्था बनी रहती है। राजा के महत्व एवं आवश्यकता को अनेक उपमाओं द्वारा तथा उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया गया है। कहा गया है कि जिस तरह सूर्य और चन्द्र के न होने पर समस्त प्राणी प्रगाढ़ अन्धकार में लीन हो जाते हैं और एक दूसरे को पहचान नहीं पाते, उसी प्रकार राजा के अभाव में प्रजा भी भ्रम में पड़ जाती है। जिस प्रकार ग्वाला रहित पशु अन्धकार में इधर उधर भटक कर नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार राजा के बिना प्रजा नष्ट हो जाती है। राजा के अस्तित्व का पर्याप्त महत्व है, क्योंकि इसके बिना न किसी का कुछ अपना रहता है और न कोई स्वधर्म का पालन करता है। भीष्म ने इस बात का अनुरोध किया है कि राजा का महत्व एवं आवश्यकता कभी भुलाई नहीं जा सकती। मनु की भांति उन्होंने राजा को दण्ड का प्रतीक माना। राजा की स्वच्छन्दता को उन्होंने भी अस्वीकार किया है, क्योंकि वह राजधर्म की सीमा में रहकर व्यवहार करता है, जिसका उल्लंघन करने पर वह स्वयं दण्ड का भागी है। राजा को विधि निर्माण का अधिकार नहीं है वरन् उसका कर्तव्य विधि रक्षण का है। राजा द्वारा जनता के सम्मुख आदर्श प्रस्तुत किये जाते हैं।

राजपद का महत्व एवं आवश्यकता
[The importance and necessity of Kingship]

प्राचीन भारतीय ग्रन्थों एवं आचार्यों ने राजा के पद को अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं आवश्यक माना है। राजतन्त्रात्मक व्यवस्था ऋग्वेद काल में पर्याप्त प्रचलित थी। महाभारत में राजा को भोज, विराट्, सम्राट्, क्षत्रीय,

नृपति, नृपति आदि नामों से संबोधित किया है। राजा को पृथ्वी का स्वामी माना गया क्योंकि वह धर्म को धारण करता है और धर्म संसार को धारण करता है। राजा की स्थिति में ही सारे संसार की स्थिति है। यदि राजा नहीं तो कुछ भी नहीं रहेगा। राजा के महत्व एवं आवश्यकताओं को कभी भुलाया नहीं जा सकता।

अथर्ववेद का कहना है कि तेजस्वी राजा से सभी शत्रु परास्त हो जाते हैं तथा प्रजा सुख तथा शान्ति के साथ रहने लगती है। राजा द्वारा ही प्रजा का संरक्षण किया जाता है और वह ही शत्रु के घातक आक्रमणों से प्रजा की सदैव रक्षा करता रहता है।[1] वैदिक काल की मान्यता के अनुसार राजा धर्म का पोषक, रक्षक और समर्थक था। शुक्रनीति में राजा को जगत की वृद्धि का आधार माना है। उसे इतना आनन्दप्रद स्वीकार किया है जितना कि सम्भवतः चन्द्रमा समुद्र के लिए होता होगा।[2] यदि लोगों के बीच कोई श्रेष्ठ नीति वाला व्यक्ति नहीं होता है तो उनका नाश ऐसे ही होता है, जिस प्रकार बिना कर्णधार के समुद्र पर तैरती हुई नौका डूब जाती है।[3]

रामायण में वृतांत है कि जब राजा दशरथ की मृत्यु के बाद अयोध्या राजा विहीन हो गई तो समस्त मन्त्रियों ने मिलकर गुरु वसिष्ठ से आग्रह किया कि इक्ष्वाकु वंश के किसी को राजा बनाया जाय; क्योंकि राजा के अभाव में सारा राज्य वन का रूप धारण करता जा रहा था। प्राचीन भारतीय आचार्यों ने राजा को प्रजा का माता–पिता और हित साधक माना है। कौटिल्य का विश्वास था कि राजा द्वारा मनुष्य और उसके समाज को वर्णाश्रम धर्म के पालन में प्रवृत किया जाता है जो कि मानव जीवन के कल्याण और उद्देश्य का प्रतीक है। मनुष्य को आसुरी वृतियों को वश में करने के लिए राजा द्वारा दंड का प्रयोग किया जाता है। वह जनता के सम्मुख एक अनुकरणीय आदर्श चरित्र उपस्थित करता है। कामंदक ने भी यह माना है कि राजा समस्त प्रजा के आनन्द का कारण है और उसके अभाव में सारे जगत का नाश हो जाता है।

सोमदेव सूरी का विचार है कि राजा परम देव है। इसलिए वह गुरुजनों से भी नमस्कार का अधिकारी है। उन्होंने राजा के किसी भी प्रकार के अपमान का विरोध किया है। यहां तक कि राजा के चित्र का भी किसी रूप में अनादर नहीं करना चाहिए। भट्ट लक्ष्मीधर ने लोक स्थिति, उसके सम्यक् संचालन तथा उसके सुव्यवस्थित रहने के लिए राजा की आवश्यकता पर जोर दिया है। उनका यह निष्कर्ष है कि अराजक राज्य में योग–क्षेम नहीं रह पाता। ऐसे राज्य की सेना शत्रुओं का नाश करने की अपेक्षा अपने ही राज्य के लोगों को लूटने लगती है। भगवान ने जब यह देखा कि राजा के

---

1. अथर्ववेद, ६।१२८
2. कामंदक नीति, ६।१
3. कामंदक नीति, १० १

मनुस्मृति के पढने पर यह ज्ञात होता है कि उन्होंने जगत के कल्याण के लिए एक ऐसे सर्वगुण सम्पन्न व्यक्ति की आवश्यकता महसूस की जो कि शक्तिशाली दण्ड का उचित प्रकार से व्यवस्था कर सके। मनु ने ऐसे व्यक्ति को राजा की संज्ञा प्रदान की और उसके पद को राजपद के नाम से सम्बोधित किया। राजा द्वारा दण्ड धारण किया जाता है। वह उसका उचित रूप से प्रयोग करके राज्य मे धर्म की स्थापना करता है। इस प्रकार उसका स्वरूप एक दण्डधारी धर्म-संस्थापक का है। उसे अपना आचरण धर्म ग्रन्थों के अनुरूप संचालित करना होता है। राज धम के नियम उसके द्वारा बनाये नहीं जाते और न वह उनमे किसी प्रकार का संशोधन, परिवर्तन या परिवर्द्धन कर सकता था। राजा का पद सर्वोपरि नहीं माना गया, क्योंकि धर्म का स्थान उसके ऊपर था। मनु ने प्रत्येक व्यक्ति मे राजा बनने की योग्यता नहीं देखी। इस प्रकार उन्होंने सामान्य जनता को राजपद से वंचित रखा है। उन्होंने राजा के जो विशेष गुण वर्णन किये हैं वे सामान्य जन में कदापि प्राप्त नहीं हो सकते।

महाभारत के भीष्म ने राजपद को पर्याप्त महत्वपूर्ण, महान एवं परमावश्यक माना है। राजा के महत्व तथा आवश्यकता के सम्बन्ध में शान्ति पर्व मे भीष्म का जो विचार है वह मनु द्वारा व्यक्त विचारों के अनुरूप है। भीष्म के अनुसार भी राजा धर्म की स्थापना करता है। उसके डर से प्रत्येक व्यक्ति अपने धम का पालन करता है और इस प्रकार धर्म की व्यवस्था बनी रहती है। राजा के महत्व एवं आवश्यकता को अनेक उपमाओं द्वारा तथा उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया गया है। कहा गया है कि जिस तरह सूर्य और चन्द्र के न होने पर समस्त प्राणी प्रगाढ़ अन्धकार में लीन हो जाते हैं और एक दूसरे को पहचान नहीं पाते, उसी प्रकार राजा के अभाव में प्रजा भी भ्रम मे पड जाती है। जिस प्रकार ग्वाला रहित पशु अन्धकार में इधर उधर भटक कर नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार राजा के बिना प्रजा नष्ट हो जाती है। राजा के अस्तित्व का पर्याप्त महत्व है, क्योंकि इसके बिना न किसी का कुछ अपना रहता है और न कोई स्वधर्म का पालन करता है। भीष्म ने इस बात का अनुरोध किया है कि राजा का महत्व एवं आवश्यकता कभी भुलाई नहीं जा सकती। मनु की भांति उन्होंने राजा को दण्ड का प्रतीक माना। राजा की स्वच्छन्दता को उन्होंने भी अस्वीकार किया है, क्योंकि वह राजधर्म की सीमा में रहकर व्यवहार करता है, जिसका उल्लंघन करने पर वह स्वयं दण्ड का भागी है। राजा को विधि निर्माण का अधिकार नहीं है वरन् उसका कर्तव्य विधि रक्षण का है। राजा द्वारा जनता के सम्मुख आदर्श प्रस्तुत किये जाते हैं।

राजपद का महत्व एवं आवश्यकता
[The importance and necessity of Kingship]

प्राचीन भारतीय ग्रन्थों एवं आचार्यों ने राजा के पद को अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं आवश्यक माना है। राजतन्त्रात्मक व्यवस्था ऋग्वेद काल में पर्याप्त प्रचलित थी। महाभारत में राजा को भोज, विराट्, सम्राट्, क्षत्रीय,

नृपति, नृपति आदि नामों से संबोधित किया है। राजा को पृथ्वी का स्वामी माना गया क्योंकि वह धर्म को धारण करता है और धर्म संसार को धारण करता है। राजा की स्थिति में ही सारे संसार की स्थिति है। यदि राजा नहीं तो कुछ भी नहीं रहेगा। राजा के महत्व एवं आवश्यकताओं को कभी भुलाया नहीं जा सकता।

अथर्ववेद का कहना है कि तेजस्वी राजा से सभी शत्रु परास्त हो जाते हैं तथा प्रजा सुख तथा शान्ति के साथ रहने लगती है। राजा द्वारा ही प्रजा का संरक्षण किया जाता है और वह ही शत्रु के घातक आक्रमणों से प्रजा की सदैव रक्षा करता रहता है।[1] वैदिक काल की मान्यता के अनुसार राजा धर्म का पोषक, रक्षक और समर्थक था। शुक्रनीति में राजा को जगत की वृद्धि का आधार माना है। उसे इतना आनन्दप्रद स्वीकार किया है जितना कि सम्भवतः चन्द्रमा समुद्र के लिए होता होगा।[2] यदि लोगों के बीच कोई श्रेष्ठ नीति वाला व्यक्ति नहीं होता है तो उनका नाश ऐसे ही होता है, जिस प्रकार बिना कर्णधार के समुद्र पर तैरती हुई नौका डूब जाती है।[3]

रामायण में वृतांत है कि जब राजा दशरथ की मृत्यु के बाद अयोध्या राजा विहीन हो गई तो समस्त मन्त्रियों ने मिलकर गुरु वसिष्ठ से आग्रह किया कि इक्ष्वाकु वंश के किसी को राजा बनाया जाय; क्योंकि राजा के अभाव में सारा राज्य वन का रूप धारण करता जा रहा था। प्राचीन भारतीय आचार्यों ने राजा को प्रजा का माता-पिता और हित साधक माना है। कौटिल्य का विश्वास था कि राजा द्वारा मनुष्य और उसके समाज को वर्णाश्रम धर्म के पालन में प्रवृत किया जाता है जो कि मानव जीवन के कल्याण और उद्देश्य का प्रतीक है। मनुष्य की आसुरी वृतियों को वश में करने के लिए राजा द्वारा दंड का प्रयोग किया जाता है। वह जनता के सम्मुख एक अनुकरणीय आदर्श चरित्र उपस्थित करता है। कामंदक ने भी यह माना है कि राजा समस्त प्रजा के आनन्द का कारण है और उसके अभाव में सारे जगत का नाश हो जाता है।

सोमदेव सूरी का विचार है कि राजा परम देव है। इसलिए वह गुरुजनों से भी नमस्कार का अधिकारी है। उन्होंने राजा के किसी भी प्रकार के अपमान का विरोध किया है। यहां तक कि राजा के चित्र का भी किसी रूप में अनादर नहीं करना चाहिए। भट्ट लक्ष्मीधर ने लोक स्थिति, उसके सम्यक् संचालन तथा उसके सुव्यवस्थित रहने के लिए राजा की आवश्यकता पर जोर दिया है। उनका यह निष्कर्ष है कि अराजक राज्य में योग-क्षेम नहीं रह पाता। ऐसे राज्य की सेना शत्रुओं का नाश करने की अपेक्षा अपने ही राज्य के लोगों को लूटने लगती है। भगवान ने जब यह देखा कि राजा के

---

1. अथर्ववेद, ६।१२८
2. कामंदक नीति, ६।१
3. कामंदक नीति, १० १

बिना उसका बनाया हुआ सारा संसार नष्ट हो जायेगा तो उसने राजा का पद निर्धारित किया।

प्राचीन भारत में राजा को राज्य का संचालक माना गया, जिसके बिना न केवल राज्य की गति रुकने का भय था, वरन् स्वयं राज्य के डूबने की सम्भावना थी। प्रोफेसर अलतेकर का कहना है कि राजपद की प्रतिष्ठा और महत्ता समय के अनुसार बदलती रही है। प्रागैतिहासिक काल में राजा का पद अस्थिर था और उसकी शक्तियां अत्यन्त नियन्त्रित थीं। उस समय का राजा समीर सभा का केवल सदस्य था जो कि शासन व्यवस्था पर पर्याप्त नियन्त्रण रखती थी।[1] वैदिक काल में कई एक राजाओं को अपदस्थ करने के उदाहरण मिलते हैं। पुरोहित के द्वारा राजा से हमेशा यह प्रार्थना की जाती थी कि वह कोई ऐसा कार्य न करे, जिससे कि उसे हटाया जाए। राज्य का आधार ज्यों-ज्यों बढ़ता गया, त्यों त्यों राजा के अधिकार एवं ऐश्वर्य में वृद्धि होती गई। उत्तर वैदिक काल में ही राजा का धन और प्रतिष्ठा पर्याप्त बढ़ गये थे। सम्पूर्ण प्रजा पर राजा का प्रभुत्व था। उसके व्यापक अधिकारों की छाया में सामान्य जनता भयभीत रहती थी तथा उसके क्रोध को न बढ़ाने का प्रयत्न करती थी।

कालान्तर में जब राज्यों का आकार और भी बढ़ गया तथा समिति संस्था का अस्तित्व समाप्त हो गया तो राजा की शक्तियां और भी बढ़ गई। प्रजा पर उनकी स्वेच्छाचारिता जुलम ढाने लगी। प्रजा की रक्षा की अपेक्षा राजा की रक्षा पर अधिक ध्यान रखा जाने लगा, क्योंकि राजा की हत्या के अवसरों की बढ़ोतरी हो गई थी। राजा के वैभव, शान-शौकत और दिखावा आसमान को छूने लगे। राजा के कार्यों का उद्देश्य जन-कल्याण न होकर, जनता का मनोरंजन न होकर जनता के हर प्रयास का उद्देश्य राजा का मनोविनोद और मनोरंजन बन गया। समिति और सभा नाम की संस्थाओं के समाप्त होने पर राजाओं की शक्तियों पर से अनेक नियन्त्रण हट गये। यद्यपि कोष और सेना जैसे महत्वपूर्ण विषयों का प्रबन्ध करने के लिए अलग अधिकारी होते थे किन्तु उनकी स्वयं की कोई शक्ति नहीं होती थी, वरन् वे राजा के नियन्त्रण और अधिकार में रहकर कार्य करते थे। मन्त्रियों की नियुक्ति राजा करता था और कार्य से खुश न होने पर उन्हें हटा भी सकता था। राज्य में फैले हुए गुप्तचरों के जाल का केन्द्र बिन्दु स्वयं राजा था। वह न्यायिक विषयों में भी अन्तिम शक्ति बन गया। ज्यों-ज्यों राजा के महत्व और उपयोगिता के मूल्य को अधिक आंका गया त्यों त्यों उसकी शक्ति और स्वेच्छाचारिता के लिए विभिन्न तर्कों की स्थापना की जाने लगी।

राजपद की उत्पत्ति

[The origin of kingship]

राजा या राजपद का जन्म किस प्रकार हुआ इस सम्बन्ध में प्राचीन

1 प्रो० अल्तेकर, पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ ७५-७६

भारतीय ग्रंथों ने अनेक कथाओं, कल्पनाओं एवं तर्कों के आधार पर अपने विचार प्रकट किये है। जैसा कि पहले भी कहा गया है कि भारत में राजतन्त्र का इतिहास यहां के इतिहास से भी पुराना है। वैदिक काल में पहले प्रजातन्त्र राज्य बने या राजतन्त्र राज्य बने अथवा दोनों का जन्म साथ-साथ हुआ। इस सम्बन्ध में विचारक एक मत नहीं है; किन्तु सभी यह मानते हैं कि राज-तन्त्र व्यवस्था अत्यन्त प्राचीन है। ग्रन्थों में जिस प्रकार का विवरण आता है उससे यह आभास होता है कि प्राचीन भारतीय आचार्यों ने राजपद और राज्य में अधिक भेद नहीं किया और दोनों के स्वभाव, कर्त्तव्य एवं स्थिति को लगभग एक जैसा बताया। ऐसी स्थिति में उनके द्वारा वर्णित राज्य की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्तों को राजा की उत्पत्ति के सिद्धान्त भी माना जा सकता है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि राजा या राजपद का जन्म प्राकृतिक अवस्था के सकटों से व्यक्ति को छुटकारे दिलाने के लिये की गई। इस प्राकृतिक अवस्था में मत्स्य न्याय की स्थिति थी। प्राकृतिक अवस्था के भय और संकटों को राजपद का औचित्य माना जा सकता है, किन्तु राजा को नियुक्त किसके द्वारा किया गया, यह प्रश्न कुछ भिन्नता रखता है। प्राचीन ग्रन्थों में राजा की नियुक्ति के सम्बन्ध में विभिन्न विचार प्रस्तुत किये हैं। कुछ का कहना है कि अपने पूर्व जन्म के अनुसार ही व्यक्ति को यह पद प्राप्त हुआ। अन्य विचारकों का कहना है कि राजा की नियुक्ति ईश्वर द्वारा होती है और उसका पद दैवीय है। कुछ स्थानों पर यह स्वीकार किया गया कि राजा को ऋषियों ने मिलकर नियुक्त किया, क्योंकि तत्कालीन स्थिति में उनके यज्ञ कार्य तथा अन्य धार्मिक अनुष्ठान सम्पन्न नहीं हो पा रहे थे। राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में शक्ति सिद्धान्त, समझौता सिद्धान्त एवं विकास सिद्धान्त को माना गया है।

वेदों में राजपद की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक कल्पनाएं की गयी हैं। एक स्थान पर आए विवरण के अनुसार देवताओं और असुरों के बीच संग्राम हुआ। देवता लगातार हारते जा रहे थे। उन्होंने एकत्रित होकर हार के कारण का विचार किया और पाया कि राजा का न होना इसका मूल कारण है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार देवताओं ने सोम को अपना राजा और नेता बना दिया और तब वे विजय प्राप्त कर सके। तैतरीय ब्राह्मण के अनुसार इन्द्र को देवताओं का राजा इसलिए चुना गया कि वह देवताओं में सब से श्रेष्ठ, यशस्वी और शक्तिशाली था। जैमिनीय ब्राह्मण में बताया गया है कि एक बार वरुण ने देवताओं का राजा होने की कामना की, किन्तु देवताओं को ऐसा करना मन्जूर न था, इस पर वरुण ने अपने पिता प्रजापति से मन्त्र प्राप्त करके शक्ति बढ़ा ली और देवताओं ने उसे अपना राजा चुन लिया। विद्वानों एवं लेखकों द्वारा प्राचीन भारत में प्रचलित राजपद की उत्पत्ति के जिन विभिन्न कारणों का उल्लेख किया है वे निम्न प्रकार हैं—

१. युद्ध का सिद्धान्त

प्रो० अल्तेकर ने वैदिक साहित्य की कथाओं के आधार पर य निष्कर्ष निकाला है कि 'राजा की उत्पत्ति का कारण सामरिक आवश्यक

थी और वही व्यक्ति राजा बनाया जाता था जो कि रण में सफल नेतृत्व कर सके। ऐतरेय ब्राह्मण की कथा इस सिद्धान्त का समर्थन करती है। गुण सम्पन्न व्यक्ति का नेतृत्व संकट काल में जितना आज जरूरी है सम्भवतः उससे भी अधिक जरूरी वह प्राचीन काल में रहा होगा। युद्ध के समय नेतृत्व करने वाला विजय प्राप्त करने के बाद सम्मान और शक्ति का अधिकारी बन जाता है। इस बढ़ी हुई शक्ति ने उसे राजा का पद प्राप्त करने का अवसर और क्षमता प्रदान की। इस प्रकार राजपद प्राप्त व्यक्ति की सन्तान भी अपनी योग्यता से इसे प्राप्त कर लेती थी। प्राचीन भारत में राजपद के उम्मीदवार व्यक्ति की शक्ति और क्षमता की परीक्षा ली जाती थी। इससे प्रकट होता है कि प्रारम्भ में शक्ति ही राजपद की प्राप्ति का आधार रही होगा।

२ पैतृक सिद्धान्त

प्राचीन भारत में पितृ प्रधान परिवार प्रचलित थे। उस समय संयुक्त परिवार प्रणाली के अनुसार सामाजिक जीवन व्यतीत होता था। कई कुटुम्बों और कुलों को मिला कर विश् बनता था और कई विशों को मिला कर 'जन' का संगठन किया जाता था। कुटुम्ब या कुल के प्रधान को कुलपति कहते थे। नेतृत्व और पराक्रम के गुणों से युक्त किसी कुलपति को विशपति बनाया जाता था और उच्च गुण सम्पन्न किसी विशपति को जनपति बना दिया जाता था। इस प्रकार राजपद प्राप्त करने में व्यक्ति के व्यक्तिगत गुणों और योग्यता के साथ साथ उसके सामाजिक स्तर का भी पर्याप्त महत्व रहा। प्रो० अलतेकर के शब्दों में "प्राचीन कथाओं और हिन्दू संयुक्त-कुटुम्ब के संगठन दोनों सिद्ध करते हैं कि राजा की उत्पत्ति समाज के पितृ प्रधान कुटुम्ब पद्धति से हुई है।"[1] आगे चल कर यह पद वंश-परम्परागत बन गये और कुलपति के योग्य पुत्र को कुलपति का तथा जनपति के योग्य पुत्र को जनपति का पद दे दिया जाता था।

३ पण सम्बन्धी सिद्धान्त

डा० जायसवाल ने राजनीतिज्ञ लेखकों के एक निजि और स्वतन्त्र सिद्धान्त का उल्लेख किया है जिसके अनुसार माना जाता है कि पहला राजा कुछ निश्चित शर्तों व पणों पर निर्वाचित हुआ था पर बाद में राजा को यही मूल पण मानने के लिए बाध्य किया जाता था।"[2]

राजपद की उत्पत्ति का यह सिद्धान्त प्रजा की सत्ता पर जोर देता है। विभिन्न वैदिक मन्त्रों के आधार पर समर्थन किया गया है कि इन मन्त्रों का पाठ राजा के निर्वाचन के समय किया जाता था। राजा का राज्याभिषेक करते समय उसे यह शपथ दिलाई जाती थी कि वह धर्म और कानून के

---

1 प्रो० अलतेकर पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ—17
2 डा० के० पी० जायसवाल, पूर्वोक्त पुस्तक, द्वितीय भाग पृष्ठ—६

अनुसार शासन संचालन करेगा । इस परम्परा से भी राजपद के इस सिद्धान्त को समर्थन मिलता है ।

४. निर्वाचन का सिद्धान्त

राजा के पद पर प्रतिष्ठित व्यक्ति को निर्वाचन के आधार पर शक्तियां सौंपी गई । राजा को निर्वाचित करते समय उसके सामने कुछ शर्तें रखी जाती थी और उससे यह आशा की जाती थी कि वह उन शर्तों का पालन करेगा । वैदिक काल के बाद भी राजाओं के निर्वाचित होने के प्रमाण मिलते हैं । मैगस्थनीज ने लिखा है कि स्वयंभू, बुद्ध एवं ऋतु आदि के बाद राजपद प्रायः वंशपरम्परागत बन गया । किन्तु जब किसी राजवंश में कोई उत्तराधिकारी नहीं रह जाता था तो भारतवासी राजा का निर्वाचन योग्यता देख कर करते थे । बौद्ध जातकों में राजा के निर्वाचन की अनेकों कथायें हैं यहां तक कि इनमें पशु-पक्षियों के राजा के निर्वाचित करने की भी कथायें आई हैं । डा० जायसवाल के शब्दों में "राजा के निर्वाचन का सिद्धान्त एक राष्ट्रीय सिद्धान्त था जो बहुत प्रचलित था ।"

राजा का पद निर्वाचित होने के सम्बन्ध में सभी विचारक एक मत नहीं है । प्रो० अलतेकर ने ऋगवेद, अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मण आदि का उल्लेख करते हुए यह बताने का प्रयास किया है कि वैदिक साहित्य में राजपद निर्वाचित था । इस निर्वाचन में दो बातें ध्यान में रखने योग्य हैं—प्रथम तो यह कभी-कभी हुआ करता था और साधारणतः सर्वाधिक प्रतिष्ठित कुल के सर्वाधिक वयोवृद्ध व्यक्ति को ही नेता मान कर राजा का पद सौंप दिया जाता था । दूसरे इन निर्वाचनों में सम्भवतः सारी जनता उपस्थित नहीं होती थी । धीरे-धीरे निर्वाचन की परम्परायें समस्याप्रद बनती जा रही थीं । अधिकांश ग्रन्थों में इस बात का उल्लेख मिलता है कि कुलपतियों और विश्-पतियों की दलबन्दी के कारण राज्य के लगातार संघर्ष की सी स्थिति रहती थी और राजा को मजबूर होकर राजसिंहासन छोड़ना होता था । वैदिक काल में राजा का पद निर्वाचित होते हुए भी उस अर्थ में निर्वाचित नहीं होता था जिस अर्थ में निर्वाचन का आज अर्थ लिया जाता है । राजपद पर बैठने के लिए व्यक्ति को उच्चवर्गीय कुलपतियों और विशपतियों के समर्थन की आवश्यकता थी ।

राजा का पद निर्वाचित होते हुए भी वंश परम्परागत बनता जा रहा था और इस परम्परा ने उसके निर्वाचन को केवल नाम मात्र का रख छोड़ा । ऐसी कथायें एवं प्रसंग प्राप्त होते हैं, जबकि राजा द्वारा नियुक्त उत्तराधिकारी के सम्बन्ध में प्रजा ने विरोध किया । किन्तु इस प्रकार के प्रसंग यह सिद्ध नहीं कर पाते कि राजा के निर्वाचन में प्रजा का प्रत्यक्ष रूप से हाथ होता था । जनता ने राजा के बड़े लड़के के राजपद पर बैठने के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया था । रामायण के राम के राज्याभिषेक और बनवास की घटनाओं में प्रजा की राय का महत्व प्रतीत नहीं होता । राजा की वंश परम्पराओं के वृतांत भी इस बात का खण्डन करते हैं कि राज पद निर्वाचित होता था ।

हर्यंवधन या रुद्रदमन आदि राजाओं के जनता द्वारा राजा बनाने का ग्रन्थों में जो उल्लेख मिलता है, वह तथ्य की दृष्टि से इतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि साहित्यिक दृष्टि से है। इन ग्रन्थों के रचयिता प्रायः राजाओं के दरबारी कवि होते थे, जिनका मुख्य काम अपने अन्नदाता की प्रशस्ति करना था। जातक कथाओं में अनेक ऐसे उदाहरण प्राप्त होते हैं जिनसे राजपद का निर्वाचित होना सिद्ध नहीं होता। प्रो० अलतेकर का मत है कि प्राचीन भारत में राजपद के निर्वाचन की परम्परा का न केवल अभाव था वरन् इसे अनुचित भी समझा जाता था। राजतरंगिणी के लेख और टीकाकार कमलवधन और शूर वर्मा की कहानी का उल्लेख करके राजा के ब्राह्मणों द्वारा निर्वाचन को महामूर्खता का विशेषण प्रदान करते हैं। ग्रन्थों ने अधिकतर इस बात का समर्थन किया है यदि राजा का बड़ा पुत्र अन्धा, गूंगा या मूर्ख नहीं है तो उसी को राज्यगद्दी पर बैठाया जाए। इतिहास में जहां छोटे पुत्र के सिंहासन प्राप्त करने के अथवा राजा के पुत्रों के अतिरिक्त किसी अन्य के सिंहासन पर बैठने के उदाहरण मिलते हैं, वे निर्वाचन पद्धति के उदाहरण नहीं हैं वरन् सम्बन्धित व्यक्तियों की राज्यलिप्सा के प्रतीक हैं। निर्वाचन के आधार पर राजपद की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यद्यपि कुछ प्रमाण प्रस्तुत किये जाते हैं किन्तु वे अधिक मान्य और विश्वसनीय नहीं हैं।

५ दैवीय सिद्धान्त

राजा की उत्पत्ति का दैवीय सिद्धान्त अत्यन्त लोकप्रिय है और प्राचीन ग्रन्थों में इससे सम्बन्धित अनेक कहानियां प्राप्त होती हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार राजा को या तो देवताओं द्वारा नियुक्त माना गया अथवा उसे स्वयं देवता या विभिन्न देवताओं का अंश कहा गया। राजा की नियुक्ति ईश्वर द्वारा की गई इसे मानते हुए भी विभिन्न प्राचीन भारतीय ग्रन्थों का इन प्रश्नों पर मतभेद है कि राजा को ईश्वर ने क्यों नियुक्त किया, कब नियुक्त किया, किस प्रकार नियुक्त किया तथा नियुक्त होने के बाद राज पद का क्या स्वरूप सामने आया।

कहा जाता है कि राजा के दैवीय रूप की भावना वैदिक काल में वर्तमान नहीं थी उस समय के राजा का पद पूर्ण रूप से लौकिक होता था। वेदों में धार्मिक अनुष्ठानों को राजा का उत्तरदायित्व नहीं माना और उनको उसके कार्यों तथा दायित्वों के क्षेत्र से बाहर रखा। ऋग्वेद और अथर्व वेद में केवल एक या दो स्थानों पर राजा को देव या अर्धदेव माना गया है। किन्तु इस मान्यता को प्रो० अलतेकर राजा के दैवीय रूप का प्रतीक न मानकर केवल उसकी प्रशंसा का परिचायक मानते हैं। यजुर्वेद में राजा को विराट पुरुष का अंश मानना, ऋग्वेद में उसे इन्द्र और वरुण का नाम देना तथा अथर्व वेद में उसका समर्थन किया जाना केवल प्रासंगिक उद्धरण हैं। ब्राह्मण काल में जब धार्मिक विधियां एवं विचारों का प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता गया तो एक नवीन वातावरण उत्पन्न हुआ। इस वातावरण में राजा के देवत्व की भावना विकसित होने लगी। शतपथ ब्राह्मण ने राजा को प्रजापति माना है। इस काल में राजा को इन्द्र की उपाधियां प्रदान की जाने लगीं। शतपथ

एवं तैतरीय ब्राह्मण की ऐसी मान्यता दिखाई देती है कि अभिषेक के समय राजा के शरीर में अग्नि, सविता और बृहस्पति आदि देवताओं का प्रवेश हो जाता था। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार राजा देवादि देव प्रजापति का प्रत्यक्ष पति था; इसलिए वह सम्यक लोग उसकी आज्ञा का पालन करते थे। राजा को देव रूप मानने के पीछे यह धारणा थी कि राजा द्वारा वे अनेक कार्य किये जाते हैं जिन्हें विभिन्न देवताओं द्वारा सम्पन्न किया जाता था। यह मान्यता थी कि वह इन्द्र के समान अपनी प्रजा में आवश्यक वस्तुओं की वर्षा करता है। वह सूर्य की भांति राष्ट्र से कर लेता है। वह वायु की भांति अपने दूतों के माध्यमों से सभी में प्रविष्ठ हो जाता है। वह यम के समान अपराधियों को दण्ड देता है और चन्द्रमा के समान सभी के लिए सुखदायी है। महाभारत और शुक्र नीति ने राजा के इस रूप में विश्वास प्रकट किया है। स्मृतियों एवं पुराणों के काल में आकर राजा के दैवीय स्वरूप का दावा स्वीकार कर लिया गया। मनु ने राजा को मनुष्य के रूप में महान देवता स्वीकार किया है। उनका कहना है कि ब्रह्मा जी ने आठों दिशाओं के दिक्पालों का थोड़ा-थोडा हिस्सा लिया और उसे मिलाकर राजा के शरीर की रचना की।[1] विष्णु पुराण एवं भागवत पुराण में यह उल्लेख है कि राजा के शरीर में अनेक देवता निवास करते हैं।

राजा के दैवीय रूप के विरुद्ध तर्क—कई एक विद्वानों की यह मान्यता है कि राजा के दैवीय स्वरूप में प्राचीन भारतीय आचार्यो का विश्वास नहीं था। मि. एन. सी. बन्द्योपाध्याय का कहना है कि भारतीय समाज में राजा न तो दैवीय रूप का दावा कर सकता था और न ही उसे विशेषाधिकार प्राप्त थे।[2] मेसन आवरसेल (Masson-Oursel) का विचार है कि राजपद शुद्ध रूप से एक मानवीय संस्था है और यह किसी दैवीय अधिकार का दावा नहीं करता यद्यपि यह सच है कि राजा की वरुण एवं इन्द्र आदि देवताओं के साथ समानता प्रदर्शित की गई है।[3] प्रो० अलतेकर की मान्यता है कि केवल धर्मात्मा एवं पवित्र राजाओं को ही दैवीय माना जाता था जबकि बुरे और अपवित्र राजा शैतान या राक्षस कहे जाते थे। जॉन स्पैलमेन [John W. Spellman] का कहना है कि "इतना तो निश्चित है कि न तो वैदिक काल में और न ही कौटिल्य के समय में राजा की दैवीय उत्पत्ति या अधिकारों के बारे में विचार किया गया।"[4]

---

1. मनुस्मृति ८।५
2. N. C. Bandyopadhyaya, Hindu Polity and Political Theories, P. 94.
3. P. Masson—Oursel, et al., Ancient India and Indian civilisation, P. 91.
4. "This much is certain that neither during the vedic period nor in the times of Kautilya derive birth or right of kings seems to have been thought of."
   –John W. Spellman, op. cit., P. 26

राजा के दैवीय स्वरूप से सम्बन्धित प्राचीन भारतीय आचार्यों के विचारों का अध्ययन करने के बाद यह कहा जा सकता है कि उन्होंने उसे कभी भी पूर्ण रूप से देवता नहीं माना। वैसे देखा जाये तो भारतीय दार्शनिक एवं धर्मशास्त्री प्रत्येक मानव में परमात्मा या देवता का अंश पाते थे किन्तु साथ ही इन्होंने किसी को पूर्णता प्रदान नहीं की।

राजा के दैवीय रूप के स्तर—राजा के दैवीय रूप की कल्पना प्रत्येक काल में एक जैसी नहीं रही। उस पर समय और स्थान की परिस्थितियों का पर्याप्त प्रभाव पड़ता रहा है। जॉन स्पैलमैन के शब्दों में "सम्भवतः सोपानों की श्रृंखला के माध्यम से ही प्राचीन भारत में राजा के दैवीय रूप की मान्यता का विकास हुआ।"[1] इन्होंने इन विभिन्न स्तरों का विस्तार के साथ वर्णन किया है। सभी स्तरों में राजा को एक उच्च मानव माना गया है जिसका सम्बन्ध देवताओं से रहता था। राजा के दैवीय स्वरूप के विभिन्न स्तर निम्न प्रकार हैं—

१ अवसरगत दैवी रूप [Occasional Divinity]—विभिन्न धार्मिक अनुष्ठानों एवं यज्ञों के समय राजा में दैवीय विशेषतायें आ जाती थीं। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार वाजपेयी यज्ञ के समय राजा इन्द्र देवता बन जाता था और उसका पुरोहित बृहस्पति। राजा को दो कारणों से इन्द्र माना गया—क्योंकि वह क्षत्रिय है तथा क्योंकि वह यज्ञकर्ता है। राजसूय यज्ञ की भाँति अश्वमेध यज्ञ के समय भी राजा में दैवीय गुणों का समावेश माना जाता था। ग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि समय के साथ साथ उन देवताओं की संख्या बढ़ती चली गई जिनका तेज यज्ञ आदि संस्कारों के समय राजा को मिल जाता था।

२ कार्यात्मक दैवी रूप (Functional Divinity)—राजा में अवसरगत दैवीय गुणों का प्राधान्य केवल सामयिक एवं अस्थायी होता था। अवसर समाप्त होने पर राजा पुनः इन्सान बन जाता था। उसे स्थायी रूप से देवता मानने के लिए अन्य सिद्धान्त का विकास करना पड़ा। इसके अनुसार देवताओं के समान कार्य करने वाले राजा को देवता या देवता जैसा ही माना गया। मनु एवं अग्नि पुराण ने कार्यों के आधार पर ही राजा को देवता का पद दिया। मत्स्य पुराण एवं नारद स्मृति में राजा की देवताओं के साथ समानता स्थापित की गई है। राजा की शक्ति को कार्यों के आधार पर पाँच दिशाओं में बाँटा गया। (i) जब राजा उचित या अनुचित कारण से जनता को कष्ट पहुँचाता है या पीड़ा देता है तो वह अग्नि होता है। (ii) जब राजा विजय की आकांक्षा से अपने शत्रु पर आक्रमण करता है तो वह इन्द्र होता है। जब राजा शान्त भाव से एवं प्रसन्न मुद्रा में अपनी जनता के सामने आता है तो वह सोम या चन्द्र होता है। जब राजा न्याय के आसन पर बैठता है तथा सभी को समान न्याय

1. This is probably the series of steps through which the concept of the divinity of the kings evolved in ancient India. —John

प्रदान करने का कार्य करता है तो वह यम होता है। जब राजा आदरणीय व्यक्तियों को बुद्धिमान व्यक्तियों को, सेवकों को तथा अन्य को भेंट देता है तो वह कुबेर बन जाता है। रामायण महाभारत तथा अन्य अनेक ग्रन्थों में राजा के इन देवीय रूपों का वर्णन है।

३. **राजपद का दैवीय रूप (Kingship Divine)**—कुछ विचारकों की मान्यता है कि देवीय विशेषतायें राजा में नहीं होती वरन् राजपद में होती हैं। राजा को एक व्यक्ति के रूप में देवीय अधिकार या शक्तियां नही हैं वरन् इस पद पर रहने के कारण उसे अनेक कर्त्तव्यों का निर्वाह करना होता है। मि. ए. के. सेन ने इसी प्रकार के विचार व्यक्त करते हुए बताया है कि "यदि राजा ही देवता होता या देवता के समान होता तो अन्यायी राजा को उसकी प्रजा द्वारा समाप्त नहीं किया जा सकता था तथा उसे नरक में जाने की बातें नहीं कही जा सकती थीं।"[1] अनुचित कार्य करने वाले अन्यायी राजा को तो भारतीय ग्रन्थ राजा मानने को ही तैयार नहीं हैं। राजा के दैवीय रूप की मान्यता का अर्थ यह कदापि नहीं था कि वह अमर है या उसके आततायी व्यवहार को क्षमा किया जा सकता है। नहुष तथा वेन राजा के रूप में दैवीय थे किन्तु उनको भी अन्यायपूर्ण शासन का मूल्य चुकाना पड़ा। प्रो. अलतेकर का यह कहना उपयुक्त प्रतीत होता है कि "हिन्दू लेखकों ने व्यक्ति के रूप में राजा के देवत्व का पक्ष नहीं लिया वरन् उसके कार्यालय को दैवीय माना क्योंकि उसके तथा कुछ देवताओं के कार्यों के बीच समानता थी।

४. **एकत्रीकरण द्वारा देवत्व [Divinity Through Incorporation]** इस विचार के अनुसार राजा ने विभिन्न देवताओं के गुणों को अपने व्यक्तित्व में एकत्रित करके शासन संचालन का दायित्व सम्भाला और इसलिए वह स्वयं भी दैवीय बन गया। शान्ति पर्व में आये उल्लेख के अनुसार राजा पृथु को आश्वस्त करते हुए विष्णु ने अपनी शक्ति उसे प्रदान की तथा वे उसमें प्रविष्ट हो गये। मनु ने माना था कि राजा में आठ देवताओं का समावेश है। उनके रहते हुए उसका कोई व्यवहार अपवित्र नहीं हो सकता। मरणशील इन्सान में जो दुर्गुण पाये जाते हैं वे इन देवताओं के तेज के कारण राजा में नहीं रह पाते। मत्स्य पुराण में कार्यात्मक दैवीय रूप को एकत्रीकरण के दैवीय रूप के साथ मिला दिया गया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत में राजा लोग अपने दैवीय स्वरूप का दावा करने के लिए एक तर्क यह भी देते थे कि उनके व्यक्तित्व में अनेक देवताओं का संगम है। इस विचारधारा द्वारा राजपद को नहीं वरन् स्वयं राजा को ही दैवीय माना गया।

५. **राजा ईश्वर का प्रतिनिधि [King the Regent of God]**—राजा को दैवीय मानने से सम्बन्धित एक विचारधारा यह भी है कि उसे ईश्वर ने धर्म की रक्षा तथा शान्ति की व्यवस्था करने के लिए धरती पर भेजा

---

1. A. K. Sen, Hindu Political Thought, P. 57

है। इस प्रकार वह राजा का प्रतिनिधि है और उसके स्थान पर शासन चलाता है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि वाजपेयी यज्ञ करते समय जब राजा आरोहण करता था तो वह प्रजापति का प्रतिनिधि बन जाता था।[1] राजा द्वारा जब दैवीय कार्य किए जाते थे तो स्पष्ट था कि वह देवताओं का प्रतिनिधित्व कर रहा होता था। शतपथ ब्राह्मण में ही एक अन्य स्थान पर उल्लेख है कि सूर्य अच्छे और बुरे राजाओं के माध्यम से संसार को प्रकाशित करता है।

जॉन स्पैलमैन महोदय का विचार है कि राजा को ईश्वर का स्थानापन्न अधिकारी या प्रतिनिधि मानने के विचारों का जितना विकास भारतेतर देशों में हुआ था उतनी पूर्णता के साथ यह प्राचीन भारत में नहीं हो पाया था। इसका कारण सम्भवतः यह रहा होगा कि भारत के धार्मिक जीवन में कभी भी एक देवता का प्रभाव नहीं रहा। यह प्रभाव तथा देवताओं की संख्या समय-समय पर बदलती रही। ऐसी स्थिति में समस्या यह थी कि राजा को किस देवता का प्रतिनिधि माना जाता।

६. दैवीय वंशज (Devine Descent)– इस विचारधारा के अनुसार राजा को देवता या देवताओं का पुत्र माना जाता था। वैदिक काल में इस विचारधारा का इतना प्रभाव नहीं था। उस समय के राजसूय यज्ञों में राजा के माता व पिता किसी मनुष्य को ही बताया जाता था। बाद में राजा को जब अन्य कारणों से दैवीय बताया गया तो उसने अपने को ईश्वर की सन्तान कहना प्रारम्भ किया।

देवत्व की व्यापकता

प्रारम्भ में तो राजा के दैवीय रूप का प्रभाव पर्याप्त सीमित था। केवल उचित एवं न्यायपूर्ण व्यवहार करने वाले राजा को ही ईश्वर कहा जाता था जब कि अन्यायी राजा की हत्या करने की छूट थी। बाद में राजा के देवत्व का यह क्षेत्र व्यापक हो गया। नारद ने तो यहाँ तक कहा है कि "जो कुछ भी राजा करता है वह ठीक ही करता है। यह एक मान्य नियम है क्योंकि वह संसार की रक्षा करता है तथा समस्त प्राणियों के प्रति कृपा भाव रखता है। जिस प्रकार एक दुर्बल और क्षीणकाय पति की उसकी पत्नी द्वारा लगातार पूजा की जाती है उसी प्रकार बेकार होने पर भी राजा को उसकी प्रजा द्वारा निरन्तर पूजा जाना चाहिए।"[2]

राजा की दैवीय उपाधियाँ

प्राचीन भारत में राजा को जो उपाधियाँ तथा संज्ञायें प्रदान की जाती थीं उनको देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि राजा के देवत्व में उस समय कितना विश्वास था। विभिन्न प्रमाण प्रस्तुत करने के बाद जॉन स्पैलमैन कहते हैं कि 'यह कहना कि राजा के देवत्व में न तो विश्वास किया गया था

---

1. शतपथ ब्राह्मण, V 1 5 4
2 नारद स्मृति, XVIII, 21 22

और न ही उसका दावा किया गया था, निरी मूर्खता है। कोई प्रमाण न देने पर भी उसकी उपाधियों का निरीक्षण मात्र ही इसे स्पष्ट कर देता है।"[1] वेदों में 'राजा', 'राजू' एवं 'क्षत्र' आदि पद राजाओं तथा देवताओं के लिए समान रूप से प्रयुक्त किये गये हैं। राजा के लिए देव, भूदेव, क्षितिदेव, नरेन्द्र नृदेव, नृदेवदेवा आदि की उपाधियां दी गई जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत में राजा के दैवी स्वरूप को कितना मान्य समझा गया था।

अशोक के शिला लेखों से उसकी उपाधियों की सूचना मिलती है। उसे 'देवानाम प्रिय प्रियदर्शी राजा' कहा जाता था। कुशान राजाओं ने अपने आपको महाराजा, राजाधिराज, देवपुत्र, अथवा इसी प्रकार की उपाधियों के मिश्रण से सम्बोधित कराया। इसकी सूचना उनके शिला लेखों तथा मुद्राओं आदि से प्राप्त होती है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय आचार्यों ने राजा या राजा पद की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे विभिन्न प्रकार की कल्पनायें कीं। इन कल्पनाओं का प्रभाव एवं महत्व समय-समय पर बदलता रहा तथा राजतन्त्र के स्वरूप को प्रभावित करता रहा।

राजपद के कार्य एवं औचित्य
(Functions And Justification of Kingship)

प्राचीन भारतीय ग्रन्थों ने राजा के विभिन्न कर्त्तव्यों का विस्तार के साथ वर्णन किया है। राजा को समस्त कार्यपालिका के प्रधान के रूप में अनेक कार्य करने होते थे। वह न्याय का सर्वोच्च अधिकारी होता था। इतने पर भी उसके कर्त्तव्यों पर उसकी शक्तियों एवं अधिकारों से अधिक जोर दिया गया। व्यक्तिगत रूप से सदगुण सम्पन्न रहना उसका कर्त्तव्य माना गया, तथा सार्वजनिक दृष्टि से जनता के सुख और समृद्धि का प्रयास करना उसका दायित्व था। राजा के विभिन्न कर्त्तव्यों से ही उसके अधिकार निकलते थे। असल में अधिकारों को उस समय गौण माना गया। राजा द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले कर्त्तव्यों का रूप एक सेवक द्वारा सम्पन्न किये हुए कर्त्तव्यों जैसा था। यह मान्यता थी कि राजा प्रजा का सेवक है और प्रजा अपनी आय का जो छटा भाग देती है वही उसका वेतन है। नारद ने भी कर को प्रजा की रक्षा का पारिश्रमिक कहा है। शुक्र के अनुसार प्रजा राजा को भरपूर वेतन देती है अतः उसे भी सेवक और दास की भांति उसकी सेवा करनी चाहिए। प्राचीन भारत में राजा द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले विभिन्न कार्यों को निम्न प्रकार वर्णित किया जा सकता है—

---

1. To allege that the king was neither believed nor claimed to be devine is nonsense. . His titles alone would indicate this even in the absence of the above evidence.
—John W. Spellman, op. cit. P. 38

१. प्रजा की रक्षा करना

प्रजा की रक्षा करना राजा का सर्व प्रमुख कर्त्तव्य था। मिस्टर के० एम० पन्निकर के कथनानुसार सुरक्षा को व्यापक अर्थ में राज पद का उद्देश्य मान लेने पर अन्य सभी कर्त्तव्य इसके अधीनस्थ हो जाते हैं। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए राजा को दुष्टों का दमन करना होता था। अपराधियों को दण्ड देना होता था। बाह्य आक्रमणों से रक्षा करनी होती थी. किसी भी राजा की योग्यता का पहला मापदण्ड यह था कि उसकी प्रजा सुरक्षित है अथवा नहीं। जो राजा इस कार्य को सम्पन्न नहीं कर पाता था, उसे अयोग्य कहा जाता था और ऐसा ऊसर-भूमि, बांझ स्त्री और विद्या विहीन ब्राह्मण के समान बेकार था। महाभारत में एक स्थान पर कहा गया है कि जो राजा अपनी जनता को उसकी योग्यता के अनुसार उचित सुरक्षा प्रदान करता है वह एक हजार अश्वमेध यज्ञ करने वाले के बराबर है। अर्थशास्त्र में राजा के इस कर्त्तव्य पर बहुत जोर दिया गया है। असल के अर्थशास्त्र का महत्व ही यही है कि इसमें जनता के लिए सुरक्षा और राज्य की रक्षा के विभिन्न उपायों का वर्णन किया गया है। मि० के० एम० पन्निकर के शब्दों में न तो कौटिल्य ने न शुक्र ने और न ही राजनीति के किसी अन्य लेखक ने शासन के नैतिक पहलू को मौखिक से अधिक महत्व प्रदान किया तथा सरकार की समस्या पर पूर्णत राज्य की भौतिक अच्छाई के रूप में विचार किया।[1]

राजा को इस कर्त्तव्य की सम्पन्नता के लिए पर्याप्त व्यापक शक्तियां प्रदान की गई और यह कहा गया कि संकट के समय वह चाहे जितना धन एकत्रित करे। प्रजा का रक्षण वह सर्वोच्च कर्त्तव्य था जिसके लिए वह अपने परिवार का भी बलिदान कर सकता था। महाभारत के अनुसार इस रक्षा कार्य का उद्देश्य था कि लोग पुन अराजकता की स्थिति में न पहुंच जाए। सोमदेव ने राजा के इस कर्त्तव्य पर जोर दिया है कि "वह राजा किस काम का है जो अपने अधीन प्रजा की रक्षा नहीं करता।" सोमदेव के अनुसार केवल वही राजा प्रजा से कर लेने अधिकारी है जो उसकी रक्षा करता है। प्रत्येक राज्य में कुछ दुष्ट स्वभाव के लोग रहते हैं, जब तक इनका दमन नहीं किया जायेगा तब तक जन जीवन सुरक्षित नहीं रह सकता। सोमदेव ने राज्य की परिभाषा देते हुए बताया है कि पृथ्वी पालन के लिए उचित कार्यों का सम्पादन ही राज्य है।

प्राचीन ग्रन्थों की यह स्पष्ट मान्यता है कि कि यदि राजा रक्षा न करे, तो दुष्ट लोग दूसरों की सम्पत्ति को छीन लें, राजा को रक्षा न करने पर जन्म की शुद्धता नहीं रह जाए, कृषि नष्ट हो जाए, अन्याय का साम्राज्य

1. Neither Kautilya nor sukra nor any of the other writers on Rajaniti attack more than verbal importance to the ethical aspect of rulership and deal with the problem of government almost wholly in terms of the material good of the state.

—K. M. Pannikar, op. cit. Page 54

हो, वर्ण व्यवस्था टूटती जाए और अकाल के द्वारा देश को नष्ट कर दिया जाए। जब राजा दण्ड दाता के रूप में कार्य नहीं करता तो शक्तिशाली लोग निर्बल लोगों को ऐसा ही खा जाते हैं जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है। राजा द्वारा सुरक्षित होने पर लोग निडर हो जाते हैं और वे अपने घर के दरवाजों को खोल कर सो सकते है। भीष्म ने उस राज्य को सर्वश्रेष्ठ बताया है, जिसमें समस्त प्राणी निर्भय होकर घूमते हैं। ठीक इस प्रकार जैसे कि एक पुत्र अपने पिता के घर में अपने को सुरक्षित समझ कर घूमता है।

सुरक्षा के आन्तरिक और वाह्य दोनों पहलू थे। न केवल वाह्य आक्रमणों से वरन् आन्तरिक अन्याय और अराजकता से लोगों की रक्षा करना भी राजा का कर्त्तव्य था। सुरक्षा शब्द के आन्तरिक और वाह्य शांति की स्थापना, सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखना, लोगों का स्वतन्त्र जीवन बनाए रखने योग्य परिस्थितियां बनाना आदि बातें आती हैं।

२. धर्म की स्थापना और रक्षण

राजा का एक अन्य प्रमुख कर्त्तव्य यह माना गया था कि वह राज्य में धर्म की स्थापना करे। यहा धर्म का अर्थ वर्णाश्रम धर्म एवं मानवीय आचारों के परिपालन से था। प्राचीन भारत में व्यक्ति और समाज के कल्याण के लिए वर्णाश्रम व्यवस्था का निर्माण किया गया। यह विश्वास किया जाता था कि इस व्यवस्था का सही रूप से पालन करने से मनुष्य का जीवन इस लोक में सुख और शान्ति पूर्ण रहेगा और उस लोक में परम् आनन्ददायक। राजा का यह कर्त्तव्य था कि वह जनता से इस व्यवस्था का पालन कराये। सोमदेव के कथनानुसार स्वधर्म का अतिक्रमण करने वाले पुरुष को राजा स्वधर्म पालन के लिए नियोजित कर सकता है। इस कर्त्तव्य को सम्पन्न करके राजा पुण्य का भागी बनता है। वर्णाश्रम धर्म के पालन पर कौटिल्य द्वारा भी पर्याप्त जोर दिया गया है और इसका पालन न करने वाले को दण्ड देने को कहा है। कौटिल्य की मान्यता है कि अपने अपने धर्म का पालन स्वर्ग और मोक्ष के लिए किया जाता है। यदि कर्मों का लोप किया गया तो वर्ण संकरता होकर संसार में उथल-पुथल मच जायेगी। जनता से स्वधर्म का पालन कराने के लिए राजा को दण्ड का प्रयोग करना होता है। मनु, भीष्म, कामंदक, शुक्र आदि सभी राज्य शास्त्र प्रणेताओं में वर्णाश्रम धर्म व्यवस्था की रक्षा को राजा का प्रमुख कर्त्तव्य माना है।

३. कर संग्रह करना

राजा अपने विभिन्न कर्तव्यों का पालन करने के लिए जनता से कर प्राप्त करता है। इन प्राप्त करों का प्रयोग वह स्वार्थ पूर्ति के लिए अथवा प्रजा का शोषण करने के लिए नहीं कर सकता। प्राचीन भारतीय आचार्यों ने राजा को इन्द्र के समान माना है, जिस प्रकार जल वृष्टि करके इन्द्र संसार को तृप्त करता है; उसी प्रकार राजा द्वारा समस्त प्राणियों की कामना पूर्ण करके उन्हें तृप्त किया जाता है। कर संग्रह इतना अधिक और इतना जल्दी नहीं करना चाहिए कि जनता की कमर ही टूट जाए। इस दृष्टि से राजा

को सूर्य देव की उपाधि दी गई है। यह कहा गया कि जिस प्रकार सूर्य वर्ष के आठ महिनों में अपनी किरणों द्वारा पृथ्वी से धीरे धीरे जल ग्रहण करता है, उसी प्रकार राजा भी अपनी प्रजा से धीरे धीरे थोड़ी मात्रा में कर ग्रहण करे और उसे जनता के कल्याण में ही खर्च करे। राजा को विभिन्न देवताओं के सदृश्य इसलिए बताया गया है, क्योंकि वह प्राप्त करों को लोक कल्याण में खर्च करता है।

४ न्याय की स्थापना करना

राजा को न्याय का मुख्य स्रोत माना गया है। न्याय की स्थापना और अपराधियों को दण्ड देना, सुरक्षा की समस्या के ही विभिन्न पहलू हैं। प्राचीन भारतीय विचारक सन्त आगस्ताइन के इस विचार में विश्वास रखते थे कि न्याय को यदि एक तरफ रख दें तो राजधानियां केवल डकैती के केन्द्र बन जायेंगे। राजा को जितनी भी शक्तियां व उत्तरदायित्व सौंपे गये उनका औचित्य यह बताया गया है कि वह न्याय की स्थापना करता है। मनु का विचार था कि राजा समय, स्थान, शक्ति और उद्देश्य आदि पर भली भांति विचार करने के बाद विभिन्न रूप धारण करता है। राजा से यह आग्रह किया गया कि वह बुद्धिमान एवं विद्वान व्यक्तियों की सहायता से ही न्याय के प्रशासन के लिए व्यक्तिगत ध्यान दे। जब राजा न्याय की व्यवस्था करता है और एक व्यक्ति को दूसरे के अधिकार क्षेत्र में हस्तक्षेप करने से रोकता है तभी वह सार्थक प्रतीत होता है। कौटिल्य ने राजा को न्यायपालिका का अध्यक्ष कहा है। वह कानूनों के उल्लंघन करने वालों को दण्ड देता है, किन्तु स्वयं कानून नहीं बनाता। न्याय की स्थापना पर आचार्यों ने पर्याप्त जोर दिया है। मनु का कहना है कि जहां न्याय का उल्लंघन होता है वह प्रदेश नष्ट हो जाता है और जहां न्याय की रक्षा की जाती है वहां सुरक्षा रहती है। उनका यह विश्वास था कि राजा प्रजा के कर्मों के पाप और पुण्यों का भागी होता है यदि प्रजा अन्याय करती है तो राजा को ही पाप लगेगा इसलिए उसे न्याय की स्थापना करनी चाहिए। सोमदेव ने राजा को अपने आधीन प्रजा के गुण दोष की गुरुता एवं लघुता के ज्ञान की एक तुला माना है। विभिन्न आचार्यों ने विस्तार के साथ यह बताया है कि किसे और कब न्यायाधीश नियुक्त करना चाहिए तथा उनकी कार्य प्रणाली किस प्रकार की होनी चाहिए।

राजा यद्यपि न्याय का प्रशासन करता था किन्तु वह न्याय का स्रोत नहीं था। न्याय को दैवीय माना गया, इसके सामाजिक रूप वे थे जो कि स्मृतियों में वर्णित किये गये। स्मृतिकार राजा नहीं थे, वरन् अन्य विद्वान पुरुष थे। राजा क्योंकि युग निर्माता होता था, इसलिए वह परम्पराओं को थोड़ा बदल सकता था किन्तु वह उन कानूनों को या दण्ड के आधारों को नहीं बदल सकता था जो कि स्मृतियों द्वारा स्थापित किये गये। इस सम्बन्ध में भीष्म द्वारा दो महत्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किये गये। प्रथम यह कि न्याय के द्वारा समाज को एक साथ बांधा जाता है तथा वह महान सुरक्षात्मक सिद्धांत

हैं। दूसरे यह कि आर्थिक सम्पन्नता, नैतिक कल्याण और सांस्कृतिक प्रगति न्याय पर आधारित हैं।

५. दण्ड की व्यवस्था करना

न्यायिक प्रक्रिया द्वारा राजा अपराधियों का पता लगाता था और उनके लिए उचित दण्ड की व्यवस्था करता था। प्राचीन भारतीय आचार्यों ने दण्ड नीति को ईश्वर की पुत्री माना है। दण्ड के माध्यम से ही राजा अपराधियों में भय की भावना पैदा करता है। मनु के अनुसार "दण्ड राजा है। यह राज्य का रक्षक एवं न्यामक है, बुद्धिमान लोग दंड को सामाजिक संगठन का रक्षक मानते हैं।" दण्ड के माध्यम से न्याय की व्यवस्था करके राजा द्वारा जनता को खुशहाली और सम्पन्नता प्रदान की जाती है। आचार्यों की मान्यता है कि जब सभी सो जाते हैं तो दण्ड जागता रहता है, उनकी दृष्टि से दण्ड ही धर्म थे, किन्तु दण्ड अपने आप में उद्देश्य नहीं है वरन् वह न्याय की स्थापना का एक साधन मात्र है। दण्ड देने से पहले सारी परिस्थितियों पर पूर्ण रूप से विचार कर लेना चाहिए। परिस्थिति में उलझी हुई प्रवृत्तियां, उद्देश्य, समय, स्थान, आर्थिक दशाएं आदि को देखने के बाद अपराधी का निर्धारण करना चाहिए कहीं निरपराध को दण्ड न मिल जाए। न्याय के प्रशासन या दंड के व्यवस्थापक के रूप में राजा स्वेच्छाचारी नहीं था। वह कानून की भुजा, न्याय का स्रोत एव समाज का संरक्षक था।

६. जनकल्याण

राजा का एक अन्य महत्व पूर्ण कार्य सार्वजनिक कल्याण की उपलब्धि थी। प्राचीन भारतीय आचार्यों ने राजा के कार्यों पर विचार करते समय उन असहाय एवं अनाथ प्राणियों की ओर से आंखे बन्द नहीं की थीं जो कि प्राय: प्रत्येक राज्य में होते हैं। जिनके भरण पोषण का कोई अन्य साधन नहीं होता, उन अनाथ और असहाय प्राणियों की सहायता का दायित्व राजा पर है। सार्वजनिक कल्याण की परिधि में केवल इन निराधार अभावग्रस्तों को सामान्य स्तर पर लाने के कार्यों को ही सम्मिलित नहीं किया जा सकता वरन् सामान्य स्तरवालों को यथासंभव उच्च स्तर प्रदान करना भी सम्मिलित किया जाता है। राजा का यह प्रमुख उद्देश्य होता था कि वह जनता का अधिक से अधिक प्यार प्राप्त करे। कौटिल्य के मतानुसार वह यह तभी कर सकता था। जबकि सार्वजनिक कल्याण में पहल और उद्यम करता।

इस प्रकार के कल्याण की प्राप्ति के लिए सक्रिय प्रयास राजा का कर्तव्य माना गया। इस दृष्टि से केवल यही पर्याप्त नहीं था कि धर्म की स्थापना कर दी जाए। न्याय का प्रशासन संचालित किया जाय, और जन-जीवन को सुरक्षित रखा जाय। इन कार्यो का स्वरूप निषेधात्मक है जबकि आचार्यों ने राजा को एकात्मक कर्त्तव्य भी सौंपे। कौटिल्य का कहना था कि जनता की प्रसन्नता राजा की प्रसन्नता है। जनता की भलाई उसकी भलाई है, उसका व्यक्तिगत शुभ उसका वास्तविक सच्चा शुभ नहीं है। जनता का शुभ ही उसका सच्चा शुभ है। राजा को जनता की सम्पन्नता एवं कल्याण

करने में सक्रिय रहना चाहिए क्योंकि यत्न और उद्यम ही सम्पन्नता के हेतु हैं और उद्यम का अभाव विनाश का प्रतीक है।

जनता का योग-क्षेम राजाओं का अपरिवर्तित धर्म माना गया, यह धार्मिक कृत्यों यज्ञों एवं अन्य संस्कारों से प्राप्त उनसे महान था, जब राजा जनता के (कल्याण) शुभ का निश्चय करे तो उसे व्यक्तिगत रूप से सोचने की अपेक्षा जनता की इच्छा से सोचना चाहिए। महाभारत में राजा की तुलना एक गर्भवती स्त्री से की गयी है। उसमें कहा गया है कि जिस प्रकार एक गर्भवती स्त्री अपने अन्तर्निहित जीव के शुभ की दृष्टि से कार्य करती है उसी प्रकार राजा को भी जनता की इच्छा का पालन करना चाहिए। कौटिल्य, शुक्र, कामन्दक और पुराणों के रचयिताओं ने इसी विचार को विभिन्न शब्दों में व्यक्त किया है।

७ आर्थिक कार्य

राजा का एक यह भी कर्तव्य था कि जनता की एक आर्थिक सम्पन्नता की ओर विशेष ध्यान दे। इस दृष्टि से वह व्यापारियों एवं उद्योगों को प्रोत्साहन देता था, कृषि कार्य की देखभाल करता था और ऐसी व्यवस्था करता था जिसमें सभी को उनके परिश्रम का फल मिल सके। नीति शास्त्रों के लेखकों की अपेक्षा नीति सार के लेखकों ने इस विषय पर अधिक जोर दिया है कि कौटिल्य उस व्यक्ति को राजा मानने के लिए तैयार नहीं है जो कि आर्थिक सम्पन्नता के लिए सन्तोषजनक कार्य नहीं करता। जनता से लिए जाने वाला राज-कर सरल और हलका होना चाहिए। राजा उत्पादक से केवल छठे भाग का और व्यापारियों से कुछ कर पाने का अधिकारी था। प्राचीन काल में देश का आर्थिक जीवन राजनीतिक क्रियाओं से बहुत कुछ स्वतन्त्र था। नियमों एवं व्यवसायिक श्रेणियों द्वारा आर्थिक जीवन नियमित किया जाता था। राजा का यह कर्तव्य था कि वह गणों या निगमों की रक्षा करे।

८ प्रशासनिक कार्य

प्रशासन के क्षेत्र में राजा सर्वोच्च अधिकारी था यद्यपि इस कार्य में सहायता करने के लिए उसे अनेक अधिकारियों एवं कर्मचारियों का सहयोग प्राप्त होता था, किन्तु सर्वोच्च सत्ता उसी के पास थी। मनु ने माना है कि राजा द्वारा मन्त्रियों एवं विभिन्न व्यक्तियों की नियुक्ति की जाती थी। कौटिल्य के अनुसार राजा इस नियुक्ति करने के अतिरिक्त उन अधिकारियों पर नियन्त्रण भी रखता था। भारतीय आचार्यों ने राजा की जो दिनचर्या प्रस्तुत की है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रशासन के क्षेत्र में उसके द्वारा अनेक कार्य सम्पन्न किये जाते थे।

९. सैनिक कार्य

सेना का नेतृत्व एवं उसका संचालन राजा के रक्षात्मक कर्तव्यों के अन्तर्गत आ जाता है पर फिर भी यह इतना महत्वपूर्ण है कि इसका अलग से

उल्लेख करना अनुपयुक्त न रहेगा। समस्त सैनिक अधिकारी राजा की आधीनता में कार्य करते थे। राजा के द्वारा वह स्थान चुना जाता था, जहां कि सैनिक छावनियों को बनाया जाए। क्षत्री होने के नाते राजा का यह महत्वपूर्ण कर्तव्य था कि वह युद्ध करे और युद्ध के मैदान से पीठ दिखाकर न आए। वह राज्य के सर्वोच्च सेनापति के रूप में प्रतिदिन सेना के प्रत्येक अंग का निरीक्षण करता था।

१०. कामन्दक द्वारा वर्णित कर्तव्य

प्राचीन भारतीय आचार्य कामन्दक ने राजा के कर्तव्यों का स्पष्ट रूप से वर्णन किया है। इन्हें डा. श्यामलाल पांडे ने दो श्रेणियों में विभाजित किया है[1]—परम्परागत कर्तव्य और आर्थिक कर्तव्य। राजा के परम्परागत कर्तव्यों को वे चार अन्य श्रेणियों में विभाजित करते हैं—

[i] अपने प्रति कर्तव्य—राजा के कुछ ऐसे कर्तव्य गिनाए गये जिनका सम्बन्ध उसके वैयक्तिक जीवन से था। राजा राज्य का प्राण होता है इसलिए प्राण की सुरक्षा शरीर की सुरक्षा का प्रथम शर्त है। राजा को ऐसा आचरण करने के लिए कहा गया जिससे कि वह अपने पद के दायित्वों को पूरा करता रहे। इस दृष्टि से राजा को अपने शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा की विकास पर निरन्तर ध्यान देने के लिए कहा गया। उसके लिए विभिन्न प्रकार के व्यायाम, शस्त्र प्रयोग, सवारियां, युद्ध-कौशल, विद्याध्यन, आदि विभिन्न कार्य करने के लिए कहा गया। उसे जीवन रक्षा के लिए सजग रहने को कहा गया।

[ii] पारिवारिक जनों के प्रति कर्तव्य—कामंदक का विचार था कि राज्य का पतन आन्तरिक और वाह्य दोनों प्रकार के कोपों से होता है। आन्तरिक कोप में उसने कुमार तथा अन्य परिवारिक जनों तथा पुरोहित, मन्त्री आदि द्वारा किये गये कोप को सम्मिलित किया है। कामंदक ने राजा को परामर्श दिया है कि अपने परिवारिक जनों के प्रति स्नेह पूर्ण व्यवहार करे और उनकी रक्षा एवं भरण पोषण की ओर पर्याप्त ध्यान दे।

[iii] प्रजा के प्रति कर्तव्य—कामंदक के अनुसार राजा को अपने प्रजा के प्रति विभिन्न कर्तव्य करने चाहिए, वह अधर्म का विरोध करे दुष्टों का दमन करे, सन्तों की रक्षा करे। समस्त प्राणियों के साथ न्याय और अहिंसा का व्यवहार करे। राज्य के कंटकों की शोधन करे। विभिन्न अधिकारियों और कर्मचारियों की नियुक्ति करे, प्रजा से उचित कर प्राप्त करे। जनता के साथ उचित व्यवहार करे और प्रजा की आजीविका का प्रबन्ध करे।

[iv] अन्य राज्यों के प्रति कर्तव्य—कामंदक ने राजा के ऐसे कार्यों का भी वर्णन किया है, जिनका सम्बन्ध दूसरे राज्यों से भी है। राजा को स्वंय यह निर्णय लेना चाहिए कि किन परिस्थितियों में वह किस प्रकार का व्यवहार

---

1. डा० श्यामलाल पांडे, भारतीय राज्य शास्त्र-प्रणेता, हिन्दी समिति, सूचना विभाग उत्तर प्रदेश, लखनऊ, १९६४ पृष्ठ १७०.

करे, ऐसा करते समय वह अपने मन्त्रियों की सलाह ले सकता है। लिये गये निर्णयों को उसे क्रियान्वित करना चाहिए। अन्य राज्यों के साथ आवश्यकता और परिस्थितियों के अनुसार साम, दाम, भेद आदि नीतियों का प्रयोग करना चाहिए। दूसरे राज्यों में स्वयं के दूत भेजना और दूसरे राज्यों के दूतों की अपने राज्य में रक्षा करना भी उसका एक कर्तव्य है। राजा को अपने मित्रों की संख्या बढ़ाने व शक्ति और शत्रुओं की संख्या कम करने का प्रयास करना चाहिए उसे हमेशा यह देखते रहना चाहिए कि उसके शत्रु, मित्र, उदासीन एवं मध्यस्थ राजाओं की क्या गतिविधियाँ हैं। दूसरे राज्य के साथ राजा के कर्तव्यों का निर्धारण विभिन्न तत्वों के आधार पर तय किया गया।

कामंदक ने आर्थिक कार्यों को अधिक महत्वपूर्ण माना है। उनके मतानुसार चार सूत्रीय आर्थिक व्यवस्था की स्थापना करना राजा का प्रमुख कर्तव्य है। इस चार सूत्री व्यवस्था में अर्थोपार्जन, अर्थ रक्षण, अर्थ वर्धन और और अर्थ वितरण आते हैं। इन कार्यों को करते समय राजा को सदैव न्यायपूर्ण व्यवहार के लिए कहा गया है। डा० श्यामलाल पांडे के कथनानुसार "कामंदक ने राजा के अनेक कर्तव्यों का उल्लेख किया है। इन कर्तव्यों में चार सूत्री अर्थ व्यवस्था सम्बन्धी राजा के कर्तव्यों का उल्लेख कर, उन्होंने इस क्षेत्र में नवीनता लाने का प्रयास किया है। इस क्षेत्र में कामंदक की यह देन महत्वपूर्ण है।"[1]

११ स्वयं के धर्म का पालन

राजा का केवल यही कर्तव्य नहीं था कि वह अपनी जनता से उसके स्वधर्म का पालन कराये, वरन् वह स्वयं भी अपने कर्तव्यों के पालन के लिए बाध्य था। राजा को अपने धर्म का पालन करके जनता के सम्मुख एक आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए। स्वयं अपने कर्तव्यों की अवहेलना करने वाला राजा जनता से यह आशा नहीं कर सकता है कि वह स्वधर्म में प्रतिष्ठित रहेगी। राजा के लिए धर्म का पालन नित्य तथा आवश्यक कर्तव्य था और इसके लिए उससे बढ़कर कुछ भी नहीं था। महाभारत के अनुसार दुनिया के प्रथम राजा वेण ने यह प्रतिज्ञा की कि श्रुति और स्मृतियों में जो धर्म कहा गया है उसका वह पालन करेगा और कभी भी मनमानी नहीं करेगा। यह विश्वास किया जाता था कि प्रजा में रोग, शोक और कष्ट राजा के अधर्म का प्रतीक है। एक बौद्ध जातक में यह कहा गया है कि यदि राजा अन्यायी हो जाए तो शक्कर और नमक भी अपना स्वाद खो देते हैं। जातकों की अन्य कथाओं में स्थान-स्थान पर यह आया है कि यदि किसान के किसी बैल को हलकी चोट लग गई तो यह राजा के पाप का परिणाम है। यदि कोई ग्वाला दुष्ट गाय के द्वारा मारा गया तो इसके लिए भी राजा उत्तरदायी है। इसी प्रकार एक स्थान पर उल्लेख है कि जब भूखे कौओं ने मेंढकों को काट डाला तो राजा को दोष देने लगे।

---

1. डा० श्यामलाल पांडे, पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ १७३-७४

इस प्रकार धर्म, राजनीति, न्याय, अर्थ व्यवस्था, प्रशासन, जन कल्याण आदि विभिन्न क्षेत्रों में राजा द्वारा अनेक कार्य सम्पन्न किये जाते थे। एक श्रेष्ठ राजा वह होता था जो कि अपने कर्तव्यों का सही रूप में सम्पादन करे और जनता को सुख सम्पन्नता एवं समृद्धि प्रदान करे।

राजतन्त्र पर संस्थागत और लोकप्रिय प्रतिबन्ध

[The institutional and popular check on monarchy]

प्राचीन भारत में जिस राजतन्त्र को कल्पना एवं व्यवहार में अपनाया गया था, उसके स्वेच्छाचारी एवं आततायी होने के प्रत्येक अवसर थे। यह अधिक व्यक्तियों का न होकर एक ही व्यक्ति का शासन था। इस व्यक्ति को वंश परम्परागत आधार पर पद प्रदान किया जाता था। इसके अतिरिक्त उसे देवता अथवा देवताओं के समान मान कर आचार्यों ने उसे एक अति मानवीय रूप प्रदान किया जिसका विरोध करना हर दृष्टि से अनुचित बताया गया। इन परिस्थितियों का लाभ उठा कर कुछ राजा अपनी महत्वाकांक्षाओं को पूरा करने की दृष्टि से राज्य की शक्ति को व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए प्रयुक्त करते थे और इसके परिणाम स्वरूप राज्य के उद्देश्य जन कल्याण और जन पोषण के स्थान पर जन शोषण होता था। इसे रोकने के लिए भारतीय आचार्यों ने ऐसे विभिन्न प्रतिबन्धों की व्यवस्था की, जो कि राजा को स्वेच्छाचारी होने से रोक सके और शासन को व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए संचालित न करके लोक कल्याण की साधना कर सके।

प्राचीन भारतीय विद्वानों ने उस राजा को अधिक महत्व दिया है तथा उचित बताया है जो कि अपने जीवन को प्रजापालन के लिए न्यौछावर कर देता है। इसके अतिरिक्त वे मनव स्वभाव में निहित कमजोरियों से भली प्रकार परिचित थे उन्हें इस बात का ज्ञान था कि साधारण कोटि के राजाओं से इन उच्च आदर्शों को पूर्णरूप से प्राप्त करने की आशा नहीं की जा सकती। इसलिए उन्होने राजशक्ति पर कुछ प्रतिबन्ध लगाये। प्रो० अलतेकर का कहना है कि प्राचीन भारतीय विद्वानों द्वारा राजशक्ति पर आधुनिक अर्थ में कोई वैधानिक प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया। वैदिक काल में राजा की शक्ति को समिति द्वारा प्रतिबन्धित किया गया। वेदों में ऐसे अनेक उदाहरण आते है जिन से यह ज्ञात होता है कि समिति से विकृत नीति अपनाने वाला राजा अपने पद पर अधिक समय तक नहीं रह सकता था किन्तु जब धीरे-धीरे समिति की शक्तियां कम हो गई तथा उसका स्थान किसी अन्य सस्था द्वारा लिया जा सका तो राजा की स्वेच्छाचारिता के अवसर बढ़ गये। इस समय राजा न्याय का सर्वोच्च अधिकारी था और इसलिए किसी भी व्यक्ति को वह दण्ड देने का अधिकार रखता था। राजा की शक्ति के दुरुपयोग पर केवल अमात्य मण्डल द्वारा अंकुश रखा जा सकता था, किन्तु अमात्य का पद जिसकी इच्छा पर निर्भर हो उसे वह प्रतिबन्धित करने मे असमर्थ था। प्राचीन भारत में ऐसा कोई न्यायालय नहीं था जो कि अत्याचारी राजा के व्यवहार पर विचार कर सके, इसके अतिरिक्त किसी प्रतिनिधि सभा को राजा के आर्थिक कार्यों पर प्रतिबन्ध लगाने का अधिकार नही था। इस सब के होते

हुए भी कुछ एक प्रतिबन्ध लगाये गये जिससे कि राजा मनमानी न कर सके। इनमे से प्रमुख निम्न प्रकार हैं—

१ धार्मिक प्रतिबन्ध—प्राचीन भारतीय जन जीवन में अन्य पुरातन सभ्यताओं की भांति धर्म का अतिशय महत्व था। मानव जीवन के विभिन्न पहलुओं को धार्मिक दृष्टि से देखने की आदत थी। सामाजिक मूल्य कुछ इस प्रकार बने थे कि उनके स्तर को धर्म के आधार पर ही तय किया जाता था। अपराध करने वाले व्यक्ति को धार्मिक तथा पारलौकिक दण्डों का बहुत भय रहता था। मनुष्य ने अपने कार्यों को केवल इस जीवन तक संकुचित करके जीवन के बाद की परिस्थितियों में भी ढाला। यह मान्यता थी कि पुनर्जन्म होता है तथा स्वर्ग और नरक होता है। व्यक्ति के कार्यों के अनुसार ही विधाता इनका निर्णय करता है। विधाता चाहते हुए भी कर्म फल को रोक या बदल नहीं सकता। शास्त्रकारों ने राजा को बताया कि राजा प्रजा को दुख देता है या उसके धन का दुरुपयोग करता है तो वह पाप का भागी है। इस पाप का बदला यदि उसे इस जन्म में न मिला तो इस जन्म के बाद वह निश्चय ही नर्क के दारुण दुखों को प्राप्त करेगा। प्राचीनकाल में जबकि धर्म एक प्रभावशील तत्व था, यह नर्क की मान्यता और उसके दण्डों का भय कितना प्रभावशील होता था, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती।

२. सामाजिक परम्पराएँ—प्राचीन भारत में व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन को सामाजिक परम्पराओं तथा रूढ़ियों पर ढाला जाता था। यह सच है कि राजा का पद उस समय दैवीय माना गया और राजा को सामान्य-स्तर के इन्सानों से कुछ ऊंचा समझा गया, इतने पर भी राजा को सामाजिक परम्पराओं से अधिक महत्व प्रदान नहीं किया गया। यदि वह इन्हें तोड़ता था या इनके विपरीत कोई कार्य करता था जनमानस उसे प्रशंसा की दृष्टि से नहीं देखता था। राजा से यह आशा की जाती थी कि वह स्वयं इनका पालन करेगा और जनता से भी इनका पालन करायेगा। राजा का जब राजतिलक होता था तो उसे ऐसा करने की प्रतिज्ञा करनी होती थी। इन सामाजिक परम्पराओं में राजा द्वारा कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता था।

३. उपयुक्त शिक्षा—प्राचीन भारत में वंश परम्परागत गुणों के अतिरिक्त सामाजिक परिवेश को भी पर्याप्त महत्व दिया गया। केवल यही पर्याप्त नहीं था कि राजा का पुत्र राजा हो, किन्तु यह भी जरूरी था कि राजा का पुत्र ऐसा हो, जिसे उचित संस्कारों में ढाला गया हो और उपयुक्त शिक्षा प्रदान की गई है। शिक्षा और संस्कार व्यक्ति के जीवन को ढालने वाले ऐसे सांचे थे, जिनके द्वारा मनचाहा व्यक्तित्व प्राप्त किया जा सकता था। जिस राजा को उचित संस्कारों एवं शिक्षा प्रदान नहीं की जाती थी उसके स्वेच्छाचारी और निरंकुश होने की प्रत्येक सम्भावना रहती थी। यही कारण है कि प्राचीन भारतीय ग्रन्थकारों से राजकुमार को बालकपन और किशोरावस्था में उचित शिक्षा एवं संस्कार डालने पर पर्याप्त जोर दिया है। उनका कहना था कि राजा में वे समस्त मानवीय गुण होने चाहिए जो कि

प्राय: साधारण इन्सान में नहीं हुआ करते। जिस राजा को उचित शिक्षा और संस्कारों द्वारा अपने दायित्वों का निर्वाह करने योग्य नहीं बनाया जाता था, उसके स्वेच्छाचारी होने की आशंकाएं बढ़ जाती थी। इसके विपरीत जिसे अच्छी शिक्षा प्रदान की गई या जिसके बचपन के संस्कार उच्च कोटी के हैं वह कभी भी प्रजा को दुख नही देगा।

४. प्रजा का विरोध—उपयुक्त शिक्षा एवं संस्कार होने पर भी अनेक परिस्थितियां व्यक्ति को वह कुछ करने को अग्रसर कर देते हैं, जिसकी वह स्वयं आशा नहीं करता। सब कुछ ठीक होने पर भी यदि राजा स्वेच्छाचारी बन जाए तो उसके लिए क्या किया जाए—यह एक व्यावहारिक प्रश्न था। कई राजा ऐसे भी होते थे जो लोकमत की परवाह नहीं करते थे, अपने वृद्ध जनों की शिक्षा पर कान नहीं देते, स्वर्ग और नरक की मान्यताओं में विश्वास नहीं करते, उनको स्वेच्छाचारी बनने से रोकना एक जटिल समस्या थी। ऐसी स्थिति उत्पन्न होने पर श्राद्ध शास्त्रकारों ने प्रजा के विरोध का समर्थन किया। उन्होंने बताया कि जब अन्य सभी उपाय निरर्थक बन जाए तो जनता को अत्याचारी राजा की आज्ञा का पालन नहीं करना चाहिए। अत्याचार का विरोध करना प्रजा का एक कर्त्तव्य माना गया। आचार्यों ने इस सम्बन्ध में विशेष रूप से कुछ नहीं लिखा है क्योंकि वे जनता में अराजकता की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन नहीं देना चाहते थे।

अत्याचारी राजा का विरोध कई प्रकार से किया जाता था। सर्वप्रथम जनता द्वारा ऐसे राजा को चेतावनी दी जाती थी कि यदि उसने अपना आचरण नहीं सुधारा तो वह अन्य राज्य में चले जायेंगे जहां का शासन अपेक्षाकृत अच्छा है। राज्य छोड़ने की नीति उस समय के छोटे राज्य में पर्याप्त प्रभावशाली होती थी, क्योंकि इससे न केवल राजा की प्रतिष्ठा को धक्का लगता था, वरन् राज्य की जनशक्ति और राज्य के आर्थिक साधन कम होने की भी सम्भावना होती थी। यदि कोई राजा इस उपाय को भी अनुसुना कर दे तो शुक्र नीति ने उसे गद्दी से उतार कर उसी के कुल के किसी अन्य गुणवान को राजा बनाया जाय। महाभारत में तो यहां तक कहा गया है कि अत्याचारी राजा का वध भी किया जा सकता है। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते है कि अत्याचारी राजा की प्रजा द्वारा हत्या कर दी गई। राजा वेण यद्यपि अपने आपको दैवीय घोषित करता था, किन्तु फिर भी जनता ने उसके अत्याचार को सहन नहीं किया और उसे मार डाला। मनु द्वारा यह बताया गया है कि यद्यपि राजा एक दैवीय पुरुष है, किन्तु फिर भी उसके अत्याचारी बनने पर जनशक्ति द्वारा उसकी हत्या की जा सकती है। इसलिए उसे सचेत रहना चाहिए। बौद्ध जातकों में ऐसी अनेकों कथाए हैं जिनमें अत्याचारी राजाओं को जनता द्वारा मार दिया गया।

५. सामन्तों एवं सरदारों का प्रतिबन्ध—राज्य में अनेक सामन्त सरदार होते थे और इनकी अवहेलना करके राजा अधिक समय तक अपने पद पर नहीं रह सकता था। उसे कोई भी निर्णय लेते समय इनकी राय को महत्व प्रदान करना होता था। प्राचीन भारत में सेना प्राय: स्थाई और सवैतनिक नहीं होती थी। गांवों तथा नगरों में जो स्वयंसेवक सेना होती

थी, उसके हथियार अधिक शक्तिशाली नहीं थे, ऐसी स्थिति में राजा को सदैव यह भय रहता था कि यदि सामन्तों के संगठन से जनता ने विरोध किया तो उसे दबाया नहीं जा सकेगा। इसके अतिरिक्त अत्याचारी राजा का विरोध करने के लिए मन्त्री, सेनापति अथवा इसी प्रकार के अन्य अधिकारी भी तैयार हो जाते थे। राजा की शक्ति अधिक न होने पर प्रजा उसे हटा कर अन्य व्यक्ति को नियुक्त कर सकती थी।

६ **प्रतिनिधि सभाओं का प्रतिबन्ध**—प्राचीन काल के छोटे राज्यों में समिति और सभा जैसी प्रतिनिधि सभा, राजा की स्वेच्छाचारी शक्तियों पर प्रभावशील नियन्त्रण रखती थी। अथर्ववेद में राजा की सबसे बड़ी विपत्ति यह मानी गई है जबकि उसका समिति से विरोध हो जाता था। राज्य का आकार बड़ा होने पर इन संस्थाओं का नियन्त्रण कम प्रभावशील हो गया।

७ **विकेन्द्रीकरण का प्रसार**—प्राचीन भारतीय विचारकों ने शासन सत्ता को विकेन्द्रीकरण का हर सम्भव प्रयत्न किया। उन्होंने ग्राम, नगर और प्रदेशों की प्रशासनिक संस्थाओं को व्यापक अधिकार सौंपे। ये संस्थाएँ जनता के सक्रिय सहयोग से चलती थी और इनके माध्यम से राज्य जनता के सम्पर्क में आता था। राजा द्वारा चाहे कितने ही कर लगा दिए जाएं किन्तु जनता से वे ही कर एकत्रित किये जाते थे, जिनको ग्राम सभा एकत्रित करना चाहती थी। ऐसी स्थिति में राजा की स्वेच्छाचारिता के अवसर घट जाते हैं। ये स्थानीय संस्थाएं न केवल प्रशासन के क्षेत्र में वरन् न्याय के क्षेत्र में भी व्यापक शक्तियां रखती थी। स्थानीय संस्थाएं जो कर उगाती थी, उसका प्रयोग भी प्रायः उन्ही के द्वारा किया जाता था। वे इसे राजा के विलास में खर्च न करके सार्वजनिक कल्याण में लगाते थे। गांव के अधिकारी वेतन भोगी कर्मचारी नहीं होते थे वरन् स्थानीय हित के साथ उनके हित वंश परम्परागत जुड़े हुए थे। यदि कभी केन्द्रीय सत्ता से उनका संघर्ष होता था तो वे स्थानीय हितों का समर्थन करते थे। इस प्रकार से गांव और नगर की इन संस्थाओं को छोटे छोटे गणराज्य कहा जा सकता है, जिनका शासन स्वयं उनकी जनता ही चलाती थी। इस प्रकार अत्याचारी राजा का अत्याचार भी केवल राजधानी प्रदेश तक ही सीमित रहता था। विकेन्द्रीकरण राजा की स्वेच्छाचारिता पर एक महत्वपूर्ण प्रतिबंध था।

राजा और पुरोहित का सम्बन्ध
[Relationship Between King & Priest]

प्राचीन भारत में पुरोहित का पद अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं कठिन सम्पन्न था। उस समय के विश्वास के अनुसार देवता राजा का दिया हुआ उस समय तक ग्रहण नहीं करते थे जब तक कि पुरोहित उसके साथ न हो। कोई भी यज्ञ करते समय राजा द्वारा पुरोहित नियुक्त किया जाता था ताकि देवता उसके द्वारा दिए हुए को ग्रहण कर सके। प्राचीन काल में पुरोहित के लिए पुरोधा शब्द का प्रयोग किया जाता था। इस पद की उत्पत्ति के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। मिस्टर फिक ने इसे वैदिककालीन

संस्था माना है जबकि ए० एन० ला इस पद को यज्ञों से उत्पन्न हुआ मानते है। प्रो० अलतेकर के अनुसार पुरोहित का नाम सर्वत्र रत्नियों की सूचि में आता है। उनका कहना है कि "जिस युग में यज्ञ द्वारा देवता का प्रसाद प्राप्त करने पर ही युद्ध क्षेत्र में विजय प्राप्ति निर्भर मानी जाती थी, उस युग में पुरोहित का नाम मन्त्रियों की सूचि में पहले रखा जाना अनिवार्य ही था।"

पुरोहित का पद अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया था। उसे १८ तीर्थों में स्थान दिया गया। यदि पुरोहित उपस्थित न हो तो राजसूर्य यज्ञ नहीं हो सकता था और इस प्रकार राजा गद्दी पर नहीं बैठ सकता था। प्राचीन काल के इतिहास में ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता जब कि बिना पुरोहित के कोई राजा होता हो। पुरोहित राजा का धार्मिक गुरु ही नहीं था, वरन् वह प्रशासन का एक आवश्यक मन्त्र था। विश्वामित्र और वशिष्ठ आदि पुरोहितों के स्तर तथा सम्मान की तुलना उस काल के किसी भी मन्त्री से नहीं की जाती थी। वेदों में यह कहा गया है कि पुरोहित के साथ अत्याचार करने वाले राजा के राज्य मे देवता वर्षा नहीं करते, उसके आदेश का पालन नहीं किया जाता तथा वह अपने सकल्पों को पूरा करने में किसी का सहयोग प्राप्त नहीं कर सकता। प्रत्येक महत्वपूर्ण निर्णय लेने से पूर्व राजा पुरोहित की राय अवश्य लेता था और प्राय: उसे मानता था। पुरोहित की राय का उल्लंघन करने वाला राजा निंदा का पात्र होता था। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि 'जिस राजा के पास पुरोहित होता है वह कभी युवावस्था में नहीं मरता, उसका राज्य भी पहले नष्ट नहीं रहता, वह वृद्धावस्था तक जीवित रहता है। वह दुबारा जन्म नहीं लेता।' पुरोहित की आवश्यकता और महत्व प्राय: सभी हिन्दू ग्रन्थों में वर्णित किया गया है। यह सच है कि इनमें से कुछ प्रसंशाएं तो स्वयं ब्राह्मणों द्वारा ही लिखी गयी हैं फिर भी इनके आधार पर पुरोहित शक्ति और सम्मान का दावा कर सकता था, राज्य में उसकी स्थिति निश्चय ही अत्यन्त महत्वपूर्ण थी। वह क्षत्रियों का आधा शरीर कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण की मान्यता के अनुमार कोई भी ब्राह्मण बिना राजा के रह सकता है, किन्तु यदि वह राजा के साथ रहे तो इसमें राजा की तथा उसकी दोनों की भलाई है। दूसरी ओर राजा को बिना पुरोहित के नहीं रहना चाहिए वह जो भी कार्य करे पुरोहित को साथ लेकर करे।

पुरोहित के पद का अस्तित्व प्राचीनतम ग्रन्थों में प्राप्त होता है। ऋगवेद में वशिष्ठ और विश्वामित्र आदि पुरोहितों के नाम लिए गये हैं। देवताओं में अग्नि, इन्द्र और बृहस्पति को भी पुरोहित कहा गया है। एन० एन० ला ने बताया है कि प्रत्येक राज्य में एक पुरोहित का रहना अनिवार्य था, यद्यपि यह हो सकता था कि एक ही पुरोहित एक ही साथ एक से अधिक राज्यों म कार्य करे। राजशक्ति के साथ सम्बद्ध पुरोहित को अधिक उच्च माना जाता था। तैतरीय संहिता के अनुसार अपनी पवित्र शक्ति के द्वारा वह राज शक्ति को बढ़ा देता है। राजा की शक्ति उसकी धार्मिक शक्ति को बढ़ा देती है इसलिए जो ब्राह्मण राजा के पास रहता है वह अन्य ब्राह्मणों से उच्च है और जिस राजा के पास पुरोहित रहता है वह अन्य राजाओं से अधिक उच्च है।

पुरोहित का पद महत्वपूर्ण होने के कारण इस पद पर आने वाले व्यक्ति में कुछ योग्यताओं का होना आवश्यक माना गया। महाभारत के भीष्म के अनुसार मनु की रक्षा करने वाले और अमरत्व का निवारण करने वाले व्यक्ति को ही राजपुरोहित बनाना चाहिए। राष्ट्र का कल्याण राजा के हाथ में माना गया था किन्तु राजा का कल्याण पुरोहित के हाथ में था। यह माना गया कि पुरोहित पद पर आसीन व्यक्ति अच्छे कुल वाला तथा शील वाला हो, उसे वेद-ज्योतिष शास्त्र दण्ड नीति आदि का ज्ञान हो। कोई भी साधारण ब्राह्मण पुरोहित नहीं बन सकता था। वह राष्ट्र की नीति निर्धारण करने में राजा को सहयोग देता था, इसलिए उसका अत्यन्त गुणवान होना परमावश्यक था।

प्रारम्भिक वैदिक काल में पुरोहित का पद वंश परम्परागत नहीं था, इस पद के लिए प्रायः प्रतियोगिता हुआ करती थी। ऐतरेय ब्राह्मण में पुरोहित पद प्राप्त करने का तरीका दिया हुआ है। राजा और पुरोहित के पारस्परिक सम्बन्धों के बारे में ग्रन्थों में अलग अलग बातें कही गई हैं। राजा की सुरक्षा एवं प्रगति पुरोहित पर निर्भर मानी गई थी। प्राचीन भारत में धर्म और राजनीति के बीच जो पारस्परिक सम्बन्ध था उसे देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि पुरोहित का पद अत्यन्त महत्वपूर्ण था। महाभारत में यह बताया गया है कि धन सम्पन्न यह वसुधरा अधिक समय तक अपने बोझ को नहीं सम्भाल सकी क्योंकि इसका राजा बिना पुरोहित के कार्य करता था तब पृथ्वी ने ब्राह्मण द्वारा प्रशासित राज्य का महत्व राजा को समझाया और उसके कर्तव्यों का उपदेश दिया। यह माना गया है कि जिस प्रकार हाथीवान के बिना युद्ध में हाथी की स्थिति होती है उसी प्रकार ब्राह्मण के बिना क्षत्री भी अपनी शक्ति खो देता है। जिस प्रकार हवा से शक्ति पाकर अग्नि तेज हो जाती है और सारी लकड़ियों को जला देती है उसी प्रकार राजा और ब्राह्मण मिलकर सभी शत्रुओं का नाश कर देते हैं। मनु वशिष्ठ, याज्ञवल्क्य आदि आचार्यों ने भी पुरोहित नियुक्त करने की आवश्यकता पर बल दिया है। मनु का कहना है कि जो राजा ब्राह्मणों का विरोध करता है वह स्वयं ही नष्ट हो जाता है। यद्यपि राजा का पद सम्माननीय है किन्तु फिर भी उसके जन्म का कारण ब्राह्मण है इसलिए जो कोई ब्राह्मणों को सताता है वह राजाओं के जन्म स्थान का विनाश करता है। वह सबसे बड़ा पापी है क्योंकि उसने अपने से उच्च को सताया है।

प्राचीन भारत में ब्राह्मणों को जो सम्मान दिया गया वह केवल भारत की ही अपनी विशेषता नहीं थी, वरन् अन्य महाद्वीपों में भी ऐसा हुआ है। एक अन्तर उल्लेखनीय है कि भारत में पुरोहित की शक्ति के पीछे कोई संस्था नहीं थी वरन् उनका महत्व व्यक्तिगत था। यहां पुरोहितों की भर्ती व्यवस्था स्वयं राजा द्वारा की जाती थी, इसलिए उन्होंने राजनैतिक कार्यों में हस्तक्षेप करना न्यायुक्त समझा। महाभारत में राजा को पुरोहितों का सेवक बताया गया है और अलग से उसको कोई महत्व नहीं दिया गया है। अन्य ग्रन्थों में दोनों के प्रभाव क्षेत्र अलग अलग बताये गये हैं, जो ग्रन्थ धार्मिक दृष्टि से लिखे गये हैं उनमें पुरोहित को राजनैतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण

माना गया है किन्तु जिन ग्रन्थों का मुख्य विषय धर्म नहीं है उनमें पुरोहित को महत्व देते हुए भी इतनी केन्द्रीय स्थिति नहीं दी गयी है। महाभारत के अनुशासन पर्व में राजा की सेवा करना पुरोहित के लिए अनुचित बताया गया है। राज्य के सामान्य सेवक, ऋण के ब्याज पर रहने वाले तथा राज्य के कर्मचारी ब्राह्मणों की श्रेणी से निकालने की बात कही है। पुरोहित और राजा के सम्बन्धों के बारे में निश्चित रूप से कोई सामान्यीकरण करना अत्यन्त कठिन है।

पुरोहित को भारतीय आचार्यों ने बहुत महत्वपूर्ण कार्य सौंपे हैं। ऋगवेद मे जनता को प्रकाश का मार्ग बतलाना, पूर्ण रूप से हित साधन करना, ऋतु के अनुसार यज्ञ करना, रत्नों को धारण करना, उनका दान करना, संगीत करना आदि पुरोहित के विभिन्न कार्य बताये है। पुरोहित द्वारा राजनैतिक क्षेत्र में जो भी कार्य किये जाते थे, उन्हें सम्पन्न करने में वह स्वतन्त्र नही था, उसका अधिकार क्षेत्र पृथक नहीं था। राजाओं के अधीन रह कर ही वह इन कार्यों को सम्पन्न करता था। उस समय ब्राह्मणों का कोई निश्चित संगठन नहीं था, इसलिए वे मध्यकालीन यूरोप की तरह राजनैतिक शक्ति के प्रतिद्वन्द्वी नहीं बन सके।

प्रशासनिक दृष्टि से राजा के बाद पुरोहित का ही नाम आता है। उसे जो स्वविवेक की शक्तियां प्राप्त थीं उन्हें देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि वह दण्ड से मुक्त था। उसका अपमान किया जा सकता था, उसे जेल भेज दिया जाता था बल्कि यहां तक कि उसका वध भी किया जा सकता था। रामायण मे वशिष्ठ को पुरोहित तथा कुलगुरु के रूप में वर्णित किया गया है। वह न केवल राजनैतिक क्षेत्र मे वरन् राजा के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपनी दखल रखते थे। वशिष्ठ ने ही दशरथ के यहां पुत्र प्राप्ति का यज्ञ करवाया। पुत्रों का जन्म होने पर दशरथ ने उन्हें आमन्त्रित किया, जब पुत्र बड़े हुए तो वशिष्ठ द्वारा ही उनके समस्त संस्कार किये गये। युवराज बनाने के पहले वशिष्ठ की राय ली गई थी। इस प्रकार पुरोहित के कर्त्तव्य व क्षेत्र पर्याप्त व्यापक था। मिस्टर शिन्दे ने पुरोहित को राजा का वह अधिकारी माना है जो कि राजा के धार्मिक, नैतिक और राजनैतिक कल्याण का ध्यान रखता है और युद्ध तथा शान्ति के समय राजा के साथ रहता है। बौद्ध जातकों में पुरोहित के अनेक कार्य बताये हैं; उसे एक ज्योतिषी कहा है जो अशुभ कार्यो से राजा की रक्षा करता है। वह यज्ञों के माध्यम से राजा को विजयी बनाता है। इसके अतिरिक्त वह राजा के कोष की रक्षा करता है। तैतरीय ब्राह्मण में बताया गया है कि राजा के जीवन में पुरोहित का पर्याप्त महत्व रहता है। वह यज्ञ के समय होत्र का भाग लेता है और महत्वपूर्ण मन्त्र बोलता है। वह यज्ञों का मुख्य संयोजक होता है। अन्य पुरोहितों द्वारा की गई गलतियों को वह ठीक करता रहता है। पुरोहित के विभिन्न कार्यों को देख कर हम उसे केवल एक ऐसा ब्राह्मण नहीं कह सकते जो कि राजा का एक कर्मचारी है और जिसका कार्यक्षेत्र केवल सेवा पूजा तक ही सीमित है। इसके विपरीत उसकी शक्तियां देवताओं से प्राप्त हैं जिनके माध्यम से वह राजा और राज्य की रक्षा करता है। वैदिक

काल में वह राजा के साथ युद्ध भूमि में जाता था। वह शारीरिक रूप से लड़ता था या नहीं यह तो निश्चित रूप से नहीं कह जा सकता किन्तु इतना अवश्य है कि अपने समस्त प्रभाव, तेज और मन्त्र शक्ति के द्वारा शत्रु का ह्रास का प्रयास करता था। धर्मशास्त्र में बताया गया है कि पुरोहित द्वारा स्वर्ग प्राप्ति का आकर्षण दिखा कर सैनिकों को प्रोत्साहित किया जाता था।

कौटिल्य का कहना है कि पुरोहित के द्वारा सभी दैवीय आपत्तियों से राज्य की रक्षा की जाती है। इन दैवीय आपत्तियों में अग्नि बाढ़, बीमारी, अकाल, चूहे चील, सांप और भूत प्रेत को सम्मिलित किया गया है। पुरोहित के द्वारा उपयुक्त वर्षा करने का उपक्रम किया जाता है व अपनी मन्त्र शक्ति से फसलों के बढ़ने और कृषि कार्य की सुव्यवस्था का प्रबन्ध करता है। राजा और पुरोहित के पारस्परिक सम्बन्धों का वर्णन करते हुए जॉन स्पेलमैन ने लिखा है कि राजा का पुरोहित के साथ सम्बन्ध सामान्यतः सहयोग और मित्रता का था न कि विरोध और दुश्मनी का। हमारा विश्वास है कि उनका सम्बन्ध दोनों के द्वारा प्राप्त शक्तियों के पारस्परिक सम्मान के द्वारा था।[1]

यह स्पष्ट है कि राजा और पुरोहित का सम्बन्ध अत्यन्त निकट का था फिर भी कभी-कभी उनके बीच मतभेद भी उत्पन्न हो जाते थे। सम्भावित होते हुए भी ऐसे मतभेद प्रायः कम होते थे क्योंकि प्राचीन विश्वास के अनुसार ब्राह्मण द्वारा क्षत्रियों का नाश किया जा सकता था।

प्राचीन भारतीय मन्त्रिमण्डल में पुरोहित का स्थान अत्यन्त सम्मानजनक था। मिस्टर होपकिन्स (Hopkins) का कहना है कि पुरोहित का प्रभाव गुप्त परिषद में प्रारम्भ हुआ। ज्यों ज्यों उसकी शक्तियां बढ़ती गईं वह राजा के विचारों को प्रभावित करता गया और इस प्रकार उसने सभा को भी प्रभावित किया। उनका विचार है कि सभा के सदस्य पुरोहित के विरुद्ध कुछ भी करने से डरते थे इसके अतिरिक्त पुरोहित एक चतुर तर्कशास्त्री और सुन्दर बोलने वाला होता था। इसलिए वह अन्य बोलने वालों को हरा देता था। वह अपने धार्मिक प्रभुत्व से राजा पर छाया रहता था। जॉन स्पेलमैन का मत है कि होपकिन्स के इन विचारों का कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता और इस प्रकार यह बहुत कुछ एक कल्पनात्मक अतिशयोक्ति बनती है।

पुरोहित राजा का एक पारिषद होता था किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि आज की तरह से वह राजनैतिक दृष्टि से कोई पदेन मन्त्री था। प्राचीन ग्रन्थों ने उसके पद को हमेशा मन्त्रियों से पृथक किया है। वह कुछ विशेष प्रशासकीय कर्त्तव्यों वाला कोई मन्त्री नहीं था वरन् वह राजा का

---

1 The usual relationship with priest was one of amity and friendliness, not hastility and treachery We believe that their relationship was based on mental respect for the powers respectively possessional.

—John W. Spellman, op cit p 78

आध्यात्मिक परामर्शदाता था। जब अन्य धर्मों का उदय हुआ और राजनीति को भौतिक दृष्टि से देखा जाने लगा तो पुरोहित का प्रभाव घटने लगा। जातक कथाओं में इसका उल्लेख आता है परन्तु यहां इसका उल्लेख कम आता है। पुरोहितों ने राजा को धार्मिक परामर्श देने का कार्य कुछ समय पूर्व तक किया। यह पद बाद में वंश परंपरागत होगया।

राज्याभिषेक और उसका महत्व
(Coronation and its Significance)

प्राचीन भारत के जनजीवन पर धर्म का प्रभाव होने के कारण राजनीति भी उससे अछूती नहीं थी। राजा के पद सम्भालने से लेकर पद छोड़ने तक का प्रत्येक महत्वपूर्ण कार्य धार्मिक विधियों, संस्कारों एवं परम्पराओं के अनुसार होता था। राजा का अभिषेक करते समय जिस धार्मिक प्रक्रिया को अपनाया जाता था वह अत्यन्त महत्व रखती थी। इस प्रक्रिया को राज्याभिषेक के नाम से पुकारा गया है। राज्याभिषेक के समय यज्ञ किया जाता था, जिसके बिना किसी व्यक्ति को राजपद का उचित अधिकारी नहीं माना जाता था। लक्ष्मीधर भट्ट के अनुसार अनाभिषिक्त राजा को वैध राजाओं की श्रेणी में नहीं गिना जा सकता था। इस प्रकार का राजा लोक की दृष्टि में पतित व निन्दनीय समझा जाता था। प्राचीन भारत में इस सिद्धान्त पालन नियमित रूप से होता रहा। समय के परिवर्तन के साथ-साथ इसके बाह्य रूप में कुछ परिवर्तन अवश्य हुए किन्तु इसका आन्तरिक रूप प्राय: ऐसा ही रहा। वेद मत और लोकमत दोनों ने राजपद की प्राप्ति के लिए राज्याभिषेक को एक अनिवार्य कार्य समझा है।

वेदों में राज्याभिषेक का अधिकारी क्षत्री मात्र को माना गया है। लक्ष्मीधर भट्ट ने भी क्षत्री वर्ण को ही राज्याभिषेक का वैध अधिकारी माना है। समय बीतने के साथ-साथ राज्याभिषेक यह जातीय सीमा अनुपयुक्त मानी गई और राजपद के अधिकार का विस्तार अन्य तीन वर्णों तक कर दिया। अब राज्याभिषेक के लिए एक नयी पद्धति को आवश्यक माना गया। यह नवीन पद्धति पुराणों में वर्णित है। इसलिए इसे पौराणिक पद्धति के नाम से पुकारा जाता है।

राज्याभिषेक की वैदिक एवं पौराणिक पद्धतियां केवल आर्य राजाओं के लिए बनाई गई थीं किन्तु उनका पतन होने पर जब मुसलमान राजा बनने लगे तो नयी पद्धति का विकास करना जरूरी बन गया। इस पद्धति में वैदिक मन्त्रों का उच्चारण नहीं किया जाता, केवल राजतिलक किया जाता है। राजधर्म निबन्धकार मित्र मिश्र ने इन तीनों पद्धतियों को मान्यता दी है। उनका मत है कि वैदिक, पौराणिक अथवा अमन्त्रक इन तीनों पद्धतियों में किसी भी प्रकार की पद्धति द्वारा किया गया राज्याभिषेक विधि के अनुसार है।

राज्याभिषेक के समय किया जाने वाला राजसूय यज्ञ एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कृत्य था। इस संस्कार को शासक के गद्दी पर बैठने का पूर्व उद्घाटन समारोह कह सकते हैं जो कि वैधानिक रूप से अत्यन्त महत्व रखता था।

राजा हो तुम अमुक व्यक्ति को राजत्व प्रदान करो। अभिषेचन समारोह दो भागों में बटा हुआ था। पहले तो विभिन्न वर्णों या वर्गों के प्रतिनिधि एकत्रित किए हुए जल को राजा के ऊपर छिड़कते थे और उसके बाद राजपुरोहित द्वारा निर्वाचित राजा के राज सिंहासन पर बैठने से पूर्व उसका अभिषेक किया जाता था। अभिषेक करने वाले चार व्यक्ति होते थे। प्रथम ब्राह्मण दूसरा निर्वाचित राजा के कुल या गोत्र का व्यक्ति तीसरा क्षत्री और चौथा वैश्य। अभिषेक करने वालों में शूद्र का नाम नहीं है। जिस समय पुरोहित के द्वारा राजा का अभिषेक किया जाता था तो वह उसे कहता था कि "अन्तरिक्ष और इस पृथ्वी को जो दिव्य जल अपने तत्व से तृप्त करते हैं, उन सब जलों के तेज से मैं तुम्हारा अभिषेक करता हूँ जिससे तुम इस तेज से युक्त हो।"[1] जब इस प्रकार राजा का अभिषेचन हो जाता था तो राजा को एक रेशमी वस्त्र और उसके ऊपर एक अन्य परिधान धारण कराया जाता था। वह अपने सिर पर मुकुट धारण करते थे। इसके उपरान्त राजा को राजसत्ता प्राप्त हो जाती थी। उसे यह प्रार्थना की जाती थी कि हम लोगों ने तुम्हें इस राजगद्दी पर आसीन किया है और तुम्हारा यह कर्त्तव्य है कि राजसभा में बैठकर स्थिर और अविचलित रूप से कार्य सम्पन्न करो, ताकि प्रजा तुम्हारे कार्यों से सन्तुष्ट हो। राजा से आत्म समर्पण करने के लिए आग्रह किया जाता था क्योंकि स्वयं इन्द्र ने भी इसी प्रकार स्थिर राज्य प्राप्त किया।

जब राजा का अभिषेक हो जाता था तो इसकी सूचना राज्य के निवासियों एवं देवताओं को प्रदान की जाती थी। यह सूचना एक घोषणा के माध्यम से दी जाती थी। यह मानकर चला जाता था कि सभी महत्वपूर्ण देवता राजा के राज्याभिषेक से सहमत हैं। पुरोहित के सम्बोधन के बाद राजा उसका उत्तर देता हुआ कहता था कि "मेरा सिर प्रजा की शोभा है मेरा मुख उसका यश है तेजस्वी मनुष्य मेरे प्राण हैं मेरी जिह्वा प्रजा की कल्याण की बात का उच्चारण करे और मेरी वाणी प्रजा की महत्तता का बखान करती रहे। प्रजा का विशेष कल्याण मेरा अंग है। उसकी सहनशक्ति मेरा मित्र है। मेरी वीरता उसका शारीरिक बल है।" इन सब कथनों से यह स्पष्ट होता है कि राजा अपने आपको किन उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने के लिए प्रतिबद्ध करता था। अभिषिक्त होने से पूर्व उसे कई प्रकार की शपथें लेनी होती थी। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार उसे कहना होता था कि जिस रात में मैंने जन्म लिया और जिस रात मे मृत्यु होगी उसके मध्य में मेरे द्वारा जो भी अच्छे कार्य किये गये हैं वे सब नष्ट हो जाएं, मैं अपने स्वर्ग, अपने जीवन और अपनी सन्तान से वंचित हो जाऊं यदि मैं तुम्हें सताऊं अथवा हानि पहुंचाऊं। स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में प्रजा के हित और कल्याण को अधिक महत्व दिया जाता था। राज शक्ति अपने आप में कोई उद्देश्य नहीं थी वरन् इस कल्याण की प्राप्ति का एक महत्वपूर्ण साधन थी।

राजा पर जिस पात्र से जल छिड़का जाता था वह एक सौ नौ छिद्रों वाला स्वर्ण पात्र होता था। पात्र के १०० छिद्र राजा की इतनी आयु के

1 अथर्ववेद ४ ८ ५

प्रतीक थे। इसके बाद तीन कदम चलकर राजा एक लकड़ी के सिंहासन पर बैठता था। जब उसे सिंहासन से नीचे उतारा जाता तो वह सूअर के चमड़े के जूते पहनता था। उसके बाद कुछ दूर तक रथ में यात्रा करने पर वह पुनः यज्ञ मण्डल मे लौट आता था, जिस रथ से वह यात्रा करता था उसे ४ घोड़े खींचते थे। रथ यात्रा से लौटने के बाद जब राजा सिंहासन पर बैठता था उसके चारो ओर सिंहासन के नीचे रत्नि, ब्राह्मण जन, पुरोहित सामन्त, ग्रामीणी बैठे होते थे। इस समय पर राजा द्वारा दण्ड, भूमि एव देश के प्रति सम्मान प्रकट करते हुए कहा जाता था कि "हे पृथ्वी माता तू मुझे चोट न पहुंचाना और मैं तुझे चोट नही पहुंचाऊगा। इसके बाद राजा और रत्नियों के बीच जूआ खेला जाता था जिसमे जनसमुदाय के किसी भी सदस्य द्वारा भाई गयी गाय को दाव पर चढ़ाया जाता था। इस अवसर पर राजा को न्यायिक दण्ड की सीमा से परे करके अदण्डय बना दिया जाता था।

अभिषेचन हो जाने के ५ दिन बाद दाम वेद संस्कार होता था, जिसके अनुसार १० आहुतियां दी जाती थी और यह संस्कार १० दिन तक चलता था। उसके एक वर्ष बाद केशवपाणीय संस्कार में बाल कटवाये जाते थे। एक वर्ष तक बाल न कटवाने के पीछे यह विश्वास था कि ऐसा करने से शायद वह शक्ति चली जायेगी जो कि छिड़के हुए जल से प्राप्त होती थी। इसके बाद कुछ संस्कार राजा को पाप रहित बनाने के लिए तथा राजा की शक्ति के लिए समर्थन प्राप्त करने को किये जाते थे। इनके बाद में सोत्रामणि संस्कार किया जाता था, जिसका उद्देश्य राजसूय यज्ञ मे अधिक सोमरस पीने के कुप्रभाव को नष्ट करना था। राज्याभिषेक संस्कार का अन्तिम चरण वह था जिसमें कि त्रिधातिवी आहुति दी जाती थी।

राज्याभिषेक के समारोह का अध्ययन करने के बाद जो निष्कर्ष निकाले जाते हैं, उन्हें स्पष्ट रूप से डा० के. पी. जायसवाल द्वारा ४ भागों में विभाजित किया गया है—

१. हिन्दू एक राजता एक मानव संस्था थी, उसमें केवल मानव भाव था।

२. हिन्दू एकराजता का आधार निर्वाचन था और निर्वाचक सारी प्रजा हुआ करती थी।

३. हिन्दू राजत्व का आधार कुछ पारस्परिक शर्तें या अनुबन्ध हुआ करते थे। हिन्दू राजत्व राज्य का एक पद था, इसका पदाधिकारी राज्य के अन्य पदाधिकारियों के सहयोग से कार्य करता था।

४. हिन्दू राजत्व एक प्रकार की धरोहर थी, जिसमें देश की समृद्धि को तथा उन्नति को राजा के हाथ में सौंप दिया जाता था।

५. हिन्दू राजत्व स्वेच्छाचारी नही था।

६. यह धर्म या कानून के ऊपर नहीं था वरन् उसके आधीन था।

७. हिन्दू राजत्व में क्षेत्रीय सीमाओं पर इतना विचार नहीं किया जाता था जितना कि उसमें रहने वाली जनता पर।

वेदों में इस समारोह का उल्लेख होते हुए भी इसे इतनी धूमधाम से नहीं मनाया जाता था, जितना कि ब्राह्मणों के ग्रन्थों के देखने से लगता है। वैदिक कालीन छोटे राज्यों में समस्त प्रजा इस समारोह में भाग ले सकती थी। उस समय का राज्य चिन्ह 'पर्ण' कहलाता था और यह समस्त प्रजाजनों द्वारा सम्मिलित रूप से राजा को दिया जाता था। धीरे धीरे जब राष्ट्र बड़े हो गये तो समस्त जनता का भाग लेना असम्भव हो गया। केवल प्रजा के प्रतिनिधि ही राजा के अभिषेक में भाग लेने लगे। राजसूय यज्ञ के समय राजा द्वारा रत्नियों को हवि दी जाती थी। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार, इन रत्नियों की संख्या १२ थी। इन्हें हवि देने के पश्चात राजा देवताओं को 'बलि' देता था। बलि लेने वाले देवताओं में सविता, अग्नि, सोम, बृहस्पति, इन्द्र रुद्र, मित्र तथा वरुण आदि का नाम उल्लेखनीय है। बलिदान करने के बाद राजा में दैवीय गुणों का संचार हो जाता था।

राज्याभिषेक के समय राजसूय यज्ञ के अतिरिक्त वाजपेय और इन्द्र महाभिषेक यज्ञ भी किये जाते थे। इन यज्ञों में बड़ा यज्ञ कौनसा था, इस सम्बन्ध में विचारक एक मत नहीं हैं। इस सम्बन्ध में मि० लॉ का कहना है कि एक समय वाजपेय यज्ञ को राजसूय यज्ञ से कम महत्वपूर्ण माना जाता था क्योंकि राजाओं के लिए वाजपेय के बाद राजसूय यज्ञ किया जाता था। शतपथ ब्राह्मण काल में आकर वाजपेय यज्ञ को राजसूय से बड़ा माना गया है क्योंकि राजसूय यज्ञ के द्वारा तो एक व्यक्ति केवल राजा बनता था, किन्तु वाजपेय यज्ञ से राजा सम्राट बन जाता था। इन दोनों प्रकार के यज्ञों के बीच ऊंच नीच के बारे में मत भिन्नता होते हुए भी इस सम्बन्ध में विचारक एकमत हैं कि दोनों यज्ञों का प्राचीन भारत में महत्व था। राजसूय यज्ञ में मूल चीज अभिषेक संस्कार होती है। यह एक राजनीतिक संस्कार है और यह केवल क्षत्रियों के लिए विहित माना गया है। दूसरी ओर वाजपेयी यज्ञ सम्राट के लिए किया जाता है। यह राजसूय से उच्चतर है और राजनैतिक संस्कार नहीं हैं। इसे करने वाले अधिकारी ब्राह्मण और क्षत्री दोनों माने गये हैं। डा० के पी जायसवाल के कथनानुसार "समाज के प्रधानों या राजाओं को अभिषिक्त करने के लिए श्रुतियों में तीन यज्ञ कहे गये हैं। इनमें से सबसे पहला यज्ञ राजसूय है जिसके अनुसार वह राजपद का अधिकारी होता था। दूसरा यज्ञ वाजपेय था जिसके द्वारा राजा राजर्षि या राजधर्माधिकारी पद का अधिकारी होता था और तीसरा यज्ञ सर्वमेध था जिसके द्वारा वह समस्त विश्व पर शासन करने का अधिकारी होता था।"[1] डा० जायसवाल का मत है कि शायद वाजपेय यज्ञ का मूल राजनैतिक नहीं था, वह या तो दिग्विजय करने के लिए किया जाता होगा या ऐसी ही किसी बात का उत्सव मनाने के लिए किया जाता होगा। सर्वमेध यज्ञ को केवल उन राजाओं द्वारा ही किया जाता था जो अपने आपको सम्राट मानते थे और दूसरों को भी ऐसा मानने के लिए कहते थे। डा० जायसवाल ने वाजपेय और राजसूय दोनों यज्ञों को एक दूसरे का पूरक बताया है। दोनों कृत्यों में अनेक

---

1 डा० के. पी जायसवाल, पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ २२

बातें ऐसी है जो कि समान है।

राजसूय यज्ञ

राजसूय यज्ञ केवल राजाओं के लिए हुआ करता था। इसमें जितने संस्कार किये जाते थे, वे बहुत दीर्घगामी और संख्या में अधिक होते थे। मि० दीक्षितार के मतानुसार उसमें २ साल ३ महिने लग जाते थे। इस यज्ञ में सात अन्य छोटे यज्ञ हुआ करते थे; ये थे–अग्निस्तोम, अभिषेचन, दासपेय, केशवपाणिय, अतिरात्रि यज्ञ, व्युष्ति–द्विरात्रि, क्षत्रधृति। इन सब संस्कारों का उद्देश्य दैवीय शक्तियों को प्रसन्न करना था ताकि राज्य को भावी संकटों से बचाया जा सके और उसके आशिवाद से सुख सम्पत्ति की रक्षा की जा सके। डा० जायसवाल ने इस यज्ञ अनुष्ठान के तीन प्रमुख अंग माने हैं। इसके प्रथम अंग में अनेक यज्ञ और होम आदि हुआ करते थे। उसके बाद अभिषेचन संस्कार होता था और अन्त में अन्य यज्ञ तथा दूसरे संस्कार सम्पन्न किये जाते थे। इनमें अभिषेचन संस्कार सबसे अधिक महत्वपूर्ण था। इसके होने पर ही व्यक्ति के लिए राजा शब्द का प्रयोग किया जाता था।

राजसूय यज्ञ में सबसे पहले जिस व्यक्ति को राजा बनाया जाना है वह विभिन्न रत्नियों के घर जाता था और उन्हे रत्न हवियां सौंपता था। इन रत्नियों की संख्या ग्यारह थी। ये थे–सेनानी, पुरोहित, महिषी (महारानी), सूत, ग्रामीण, क्षत्री, संग्रहित (कोषाध्यक्ष), भाग दुघा, (भूमि कर वसूल करने वाला) अक्षावाप, गोविकृत पालागल। इन ग्यारह रत्नियों के अतिरिक्त स्वयं राजा होता था। इन रत्नियों को यह सम्मान इसलिए प्रदान किया जाता था क्योंकि इनका अस्तित्व पहले से ही रहता था तथा राजा के लिए इनकी स्वामिभक्ति परमावश्यक थी। रत्नियों को सम्मान प्रदान करने के बाद राजा को समाज के विभिन्न वर्गों से अनुमति लेनी होती थी कि क्या वे उसके राजपद ग्रहण करने से सहमत थे। अनुमति की यह रस्म पृथ्वी के सम्बन्ध में भी लागू होती थी। मातृभूमि से अनुमति मांगी तथा प्राप्त की जाती थी और यह संस्कार भिन्न भिन्न वर्णों तथा वर्गों से अनुमति प्राप्त करने से पूर्व किया जाता था। रत्नियों के बाद राजा सोम और रूद्र को चरू देता है। देवताओं की पूजा बाद में किया जाना कुछ असंगत सा लगता है जिसका स्पष्टीकरण करते हुए शतपथ ब्राह्मण से कहा गया है कि पहले उन लोगों को पूज लिया गया था जो पूजने के योग्य नहीं थे। इसलिए उसका प्रायश्चित करते हुए देवताओं का पूजन करके उन्हें सन्तुष्ट किया जाता है।

अभिषेचन समारोह में विभिन्न नदियों समुद्र, आकाश एवं अन्य पवित्र स्रोतों का जल मंगवाया जाता था। इस जल संग्रह से पूर्व कुछ देवताओं को बलि दी जाती थी ताकि वह होने वाले राजा को अपने कुछ गुण प्रदान कर सकें। जब जल को एकत्रित किया जाता था तो उस व्यक्ति का नाम उच्चारण किया जाता था जिसका अभिषेक किया जाना होता था। जल लेते समय इस स्थान पर यह कहा जाता था "हे राजपद देने वाले जलो! तुम राजत्व के

राज्याभिषेक की परम्परा समय और परिस्थिति के अनुसार थोड़ी बहुत बदलती रही है, किन्तु उसका मूल सिद्धान्त वही था जो कि वैदिककाल में था। महाभारत के युधिष्ठर ने अपने राज्याभिषेक से पहले राजमन्त्रियों का पूजन किया था, इन्हें हम वैदिक काल के रत्नि मान सकते हैं। युधिष्ठर के राज्याभिषक में सभी ब्राह्मण, भूमिपति, वैश्य और समस्त प्रतिष्ठित शूद्र आमन्त्रित किये गये थे। रामायण काल में आकर इस समारोह में स्त्रियों का भी प्रतिनिधित्व होने लगा। अविवाहित कन्याएं भी अभिषेक में सम्मिलित होती थी। वैदिक काल तथा उसके परिवर्ती काल के राज्याभिषेक समारोहों के बीच एक मुख्य अन्तर यह हुआ कि बाद में आकर प्रतिनिधित्व के सिद्धांत में वृद्धि कर दी गई।

रामायण और महाभारत के काल में भांति राजा को अपना कर्त्तव्य पालन करने की शपथ लेनी होती थी। इस शपथ के शब्दों में अन्तर होता रहा, किन्तु यह परम्परा मुसलमान काल तक चलती रही।

राज्याभिषेक के लिए बाद के ग्रन्थों में उम्र निश्चित कर दी गई। खारीवेल के शिलालेख से ज्ञात होता है कि निर्वाचित राजा का २४ वीं वर्ष समाप्त होने से पहले हिन्दू प्रथा के अनुसार उसका राज्याभिषेक नहीं हो सकता था। जैन साहित्य की एक शाखा में कहा गया है कि विक्रम का राज्याभिषेक उसके पच्चीसवें वर्ष में हुआ था। बृहस्पति सूत्र में भी इस उम्र का समर्थन किया गया है। प्राचीन भारतीय ग्रन्थों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय राज्याभिषेक से सम्बन्धित नियमों का दृढ़ता से पालन किया जाता था।

विभिन्न यज्ञ
(The Various Sacrifices)

राज्याभिषेक समारोह में किये जाने वाले राजसूय यज्ञ के अतिरिक्त कुछ अन्य यज्ञ भी किये जाते थे। इनमें वाजपेय यज्ञ, अश्वमेध यज्ञ और इन्द्र का महाभिषेक आदि उल्लेखनीय है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि वाजपेयी यज्ञ को ब्राह्मण और क्षत्री दोनों द्वारा किया जाता था, क्योंकि इसे बृहस्पति और इन्द्र दोनों ने किया था। वाजपेय यज्ञ को राजसूय से उच्च माना गया; क्योंकि यह सम्राट द्वारा किया जाता था। मिस्टर लॉ के अनुसार इस यज्ञ की परम्परा एक पौराणिक कथा पर आधारित है। यहाँ 'वाजम' का अर्थ शक्ति है इसलिए वाजपेय यज्ञ को सम्पन्न करने वाला व्यक्ति अन्य की तुलना में अधिक शक्तिशाली माना जाता था। दीक्षितार का कहना है कि इस यज्ञ में राजा द्वारा उत्तर की ओर १७ बाण छोड़े जाते थे। ऐसा करके वह यह प्रदर्शित करता था कि वह अनेक लोगों का शासक है। इस यज्ञ का दूसरा नाम अन्नपेय रखा गया, क्योंकि इसमें यज्ञ के कर्त्ता को धन और अन्न प्राप्त होता था। इस यज्ञ समारोह में विभिन्न संस्कारों के साथ-साथ रथ की दौड़ कराई जाती थी जोकि इसका महत्वपूर्ण भाग थी। इस दौड़ में यज्ञ का कर्त्ता राजा अथवा पुरोहित विजयी होता था। रथ यात्रा से लौटने के बाद

यज्ञ कर्त्ता यज्ञ स्थान के सबसे ऊपर चढ़ जाता था। एकत्रित लोग उस पर नमक की थैलियां फेंकते; बाद में जब वह नीचे उतरता तो सोने के टुकड़ों पर तुलता था जिन्हें बकरी की खाल पर रखा जाता था। रथ-दौड़ के अतिरिक्त इस दौड़ में बनावटी जुआ भी खेला जाता था जिसमें यज्ञकर्त्ता राजा विजयी होता था।

अश्वमेध यज्ञ वैसे तो काफी पुराना है, किन्तु उसे लोकप्रियता बहुत बाद में मिली। इस यज्ञ को राजा द्वारा नहीं वरन् राजाओं के राजा द्वारा किया जाता था। इस यज्ञ को दिग्विजय के बाद किया जाता था। शतपथ ब्राह्मण ने इसे राष्ट्रीय यज्ञ कहा है और राष्ट्रीय समृद्धि का प्रतीक माना है। राजा इस यज्ञ को राष्ट्र की स्थिरता के लिए करता था। इस यज्ञ को ग्रन्थों में अत्यन्त महत्वपूर्ण माना है। यह एक वर्ष १५ दिन में पूरा होता था। इस सारे समय में तैयारियां होती रहती थी और असल कार्य केवल अन्तिम तीन दिन में सम्पन्न किया जाता था। इस यज्ञ को अश्वमेध कहने का अर्थ यह है कि इसमें यज्ञ का घोड़ा होता था, जिसे आसपास के प्रदेशों में छोड़ा जाता था और लौटने पर समारोह के साथ उसे बलिदान कर दिया जाता था। अश्व ' महीने में लौटकर आता था तब उसे नहला कर अस्तबल में रखा जाता था। विभिन्न संस्कारों के साथ-साथ उसे हीरों से सजाया जाता था, उसका बलिदान हो जाने के बाद महारानी उसके शरीर के चारों ओर परिक्रमा लगाती थी। पर्याप्त संस्कारों और मन्त्रोच्चारणों के बाद महारानी उस अश्व के शरीर के पास लेटती थी। उसका अर्थ यह होता था कि वह शक्तिशाली और सद्गुण सम्पन्न पुत्र चाहती है। अश्व को यदि कोई राजा पकड़ लेता था तो इसका अर्थ यह समझा जाता था कि उसने राज्य सत्ता को चुनौती दी है। फलतः युद्ध होता था। यदि घोड़े को पकड़ने वाला जीत जाय तो वह घोड़े का मालिक और यज्ञ करने वाला बन जाता था।

इन्द्र का महाभिषेक भी एक ऐसा उत्सव था जिसमें अत्यन्त पेचीदा कर्म-काण्ड अपनाया जाता था। इस समारोह का आधार वह कथा है जिसके अनुसार देवासुर संग्राम के समय देवताओं ने अपनी निरन्तर हार के बाद इन्द्र को राजा निर्वाचित किया था। इन्द्र का महाभिषेक करते समय देवताओं ने उसे अपना स्वामी अधिपति सम्प्रभु और शासक कहा। ठीक ये ही सज्ञायें होने वालों राजाओं पर भी प्रयुक्त होती हैं, इसलिए ये संस्कार राज्याभिषेक के समय करने की परम्परा रही।

प्राचीन भारत में राजा के पद, उसके महत्व नियुक्ति, योग्यतायें, राज्याभिषेक, कार्या एवं उसकी स्वेच्छाचारिता पर लगाये गये प्रतिबन्धों का अध्ययन करने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि विभिन्न कालों में देशकाल की परिस्थितियों मे राजा या राजपद के विभिन्न पहलुओं में परिवर्तन किया, किन्तु उसका महत्व निरन्तर रूप से बना रहा। राजतन्त्रात्मक व्यवस्था मे सामान्य जनता को अपना जन जीवन सुरक्षित लगता था और वे सम्पन्नता एवं समृद्धि की आशायें करते थे।

१२

मंत्रि-परिषद

(THE COUNCIL OF MINISTERS)

****

प्राचीन भारतीय राजनीति में मन्त्रि मण्डल या मन्त्रि परिषद का अपना एक महत्वपूर्ण स्थान था। राज्य के सप्तांगों में मन्त्रिगण को सम्मिलित किया गया है। शुक्र ने राज्य रूपी शरीर की राजा का सिर, अमात्य को नेत्र, मित्र को कान, कोष को मुख, सेना को मन और दुर्ग तथा राष्ट्र को हाथ पैर माना है। मन्त्रियों को नेत्रों की उपमा देने का तात्पर्य यह था कि राजा द्वारा अकेले कार्य नहीं किया जा सकता, अतः वह सहायकों के रूप में इनकी नियुक्ति करता है। राजनैतिक निर्णयों में मन्त्रियों के परामर्श पर पर्याप्त जोर दिया गया है। मन्त्रि मण्डल में विचार करने के बाद जो भी निर्णय लिया जाए, उसे क्रियान्वित करने के लिए राजा को परामर्श दिया गया। बिना मन्त्रि परिषद के परामर्श, स्वीकृति एवं सहयोग के राजा को कुछ भी करने की मनाही थी। कौटिल्य ने मन्त्रियों को राज्य रूपी रथ का दूसरा पहिया माना है। वे इन्द्र को इसलिए एक हजार आँखों वाला कहता है, क्योंकि उनकी परिषद में इतने ही ऋषि हैं।

मंत्रियों की आवश्यकता एवं महत्व
(The Necessity and Importance of Ministers)

राज्य के कार्य इतने बहुमुखी एवं जटिल होते हैं कि उन्हें कोई भी एक व्यक्ति सम्पन्न नहीं कर सकता, चाहे वह कितना ही समर्थ और प्रतिभावान क्यों न हो। इस सम्बन्ध में मनु का कहना है कि "एक व्यक्ति के लिए सरल कार्य की सम्पन्नता भी कठिन होती है। राज्य की उन्नति तो बिना सहायकों के हो ही नहीं सकती। महाभारत, शान्तिपर्व में यह विचार प्रकट किया गया है कि किसी भी राजा का राज्य बिना सहायकों के शीघ्र ही नष्ट हो जाएगा, वह दो तीन दिनों में अधिक नहीं चल सकेगा। कौटिल्य ने मन्त्रियों की नियुक्ति के लिए एक अन्य औचित्य बताया है। उनके अनुसार, राज्य के कार्य अनेक होते हैं तथा वे अलग अलग स्थानों पर होते हैं। ऐसी स्थिति में देश काल की दृष्टि से कोई त्रुटि न रहे और पारित कर सारे कार्य भी सम्पन्न हो सकें। इसके लिए अमात्यों का नियुक्त करना आवश्यक है। ने

केवल इनकी नियुक्ति वरन् इनके साथ विचार–विमर्श करना तथा इनकी राय को महत्व देना भी आवश्यक माना गया। कामदक का विचार था कि जो राजा अपने मन्त्रियों के मत की अवहेलना करता है, उसका शीघ्र ही पतन हो जाता है। यदि राजा के मन्त्रियों में दोष उत्पन्न हो गये हैं तो वह राजा उसी प्रकार गिर जायेगा जिस प्रकार कटे हुए पंख वाला पक्षी गिर जाता है। एक ही व्यक्ति द्वारा सभी बातों की अथवा किसी एक बात की सभी पक्षों को नहीं समझा जाता, इसलिए राजा को सहायकों की नियुक्ति करनी पड़ती है ताकि राज्य का उत्थान हो सके।

सोमदेव सूरी ने मन्त्रियों को राजा का हृदय माना है। मनुष्य के जीवित रहने के लिए जिस प्रकार हृदय की आवश्यकता है उसी प्रकार राज-कार्य के लिए मन्त्रियों का होना परम आवश्यक है। इसके अतिरिक्त मंत्रियों की नियुक्ति इसलिए भी जरूरी है कि आवश्यकता के समय उनसे परामर्श लिया जा सकता है। जरूरत पड़ने से पूर्व ही ऐसे व्यक्तियों का रहना उपयोगी है जो कि संकट के समय सन्मार्ग दिखा सकें। घर में आग लग जाने के बाद उसे शान्त करने के लिए जल पाने के हेतु कुआ खोदना व्यर्थ है। शुक्र-नीति ने मन्त्रियों के बिना अकेले रह कर कोई कार्य करने के लिए राजा को मना किया है। राजा चाहे सभी शास्त्रों एव नीतियों का विशेषज्ञ हो, किन्तु उसे अपने अधिकारियों या मंत्रियों की परिषद के मत को जानना तथा उसी के अनुसार व्यवहार करना चाहिए। वृहस्पति सूत्र ने प्रत्येक अच्छे कार्य को पर्याप्त मन्त्रणा के बाद करने का आग्रह किया है। शुक्र एक अन्य स्थान पर कहते हैं कि एक बुद्धिमान राजा सभ्य, अधिकारियों, प्रजा तथा सभासद् आदि के मत में स्थित रहे अर्थात् उसी के अनुसार कार्य करे, किन्तु उसे अपने मत में स्थित नहीं रहना चाहिए। जो राजा अपनी इच्छानुसार कार्य करता है और दूसरे के मत की अवहेलना करता है वह अनर्थ की ओर बढ़ता है और उसके कारण राजा में तथा प्रजा में भेद पड़ जाता है। मानवीय व्यवहार में एव विचारों की बहुरूपता सहयोगियों की मन्त्रणा को महत्वपूर्ण बना लेती है। भारतीय आचार्यों ने राजा की जो दिनचर्या प्रस्तुत की उसमें मन्त्रियों के साथ मन्त्रणा को महत्व दिया गया है।

द्रोण भारद्वाज के मतानुसार हितैषी मंत्रियों का कहना न मानने वाला राजा अधिक दिन तक राजसिंहासन पर नहीं रहता चाहे वह राज्य उसके बाप दादाओं का ही क्यों न हो। प्रो० अलतेकर के कथनानुसार सुशासन के लिए मन्त्रियों का होना अत्यन्त आवश्यक माना गया था, यहाँ तक कि युवराज तथा प्रान्तों के शासक भी मन्त्रिपरिषद नियुक्त करते थे। कौटल्य मन्त्रि परिषद को शासन की एक मात्र स्तम्भ मानते हैं। मनु का कहना था कि राजा को पहले सब मन्त्रियों से अलग-अलग परामर्श करना चाहिए तब सबको एकत्रित करके परामर्श करना चाहिए। आचार्यों एवं लेखकों के मन्त्रिमण्डल से सम्बन्धित इन विचारों को व्यवहार में उतारा गया। भारतीय राजनीति में मन्त्रिमण्डल को शासन का एक अभिन्न अङ्ग माना गया। विनयकुमार सरकार के अनुसार उस समय मंत्रिमण्डल राष्ट्रीय जीवन का प्रमुख आधार था। राजा को स्वतन्त्र रूप से कुछ भी करने की अनुमति

आचार्यों ने बहुत कुछ समानार्थ माना जबकि सचिव शब्द का प्रयोग उन्होंने राज्य के उच्चाधिकारियों के लिए किया।

कौटिल्य ने मन्त्री और अमात्य के बीच अन्तर माना है। इस बात का पता हमें इस तथ्य से लगता है कि वे अमात्यों के गुण बताने के पश्चात् ऐसे गुण सम्पन्न व्यक्तियों को अमात्य नियुक्त करने के लिए कहते हैं, किन्तु उन्हें मन्त्री बनाने की अनुमति नहीं देते। कुछ ने मन्त्रियों को राजा के सहायकों में गिना है। ऐसी स्थिति में हम उन्हें सचिवों से किस प्रकार पृथक करें। रामायण में अमात्य शब्द का सामान्य रूप से प्रयुक्त किया गया है और सचिवों व मन्त्रियों के बीच भेद माना गया है। आर० स्पेलमैन का मत है कि, "सम्भवतः मन्त्री सर्वोच्च अधिकारी था और उसके बाद महत्व की दृष्टि से क्रमशः अमात्य और सचिव का नाम आता है।

मन्त्री अमात्य और सचिव को भी आगे कई श्रेणियों में विभाजित किया गया था। जूनागढ़ के शिलालेख में रुद्रदमन ने सचिवों को मति सचिव और कर्म सचिव अर्थात् परामर्शदाता पार्षद और कार्यकारी पार्षद के रूप में विभाजित किया है। जे० गोंडा के अनुसार मन्त्री का कार्य मूल रूप से राजा को धार्मिक तथा जादू टोने की प्रकृति की सलाह देना था, क्योंकि मन्त्री शब्द मन्त्र से बना है। मन्त्र का प्रयोग जादूगरों और पुरोहितों द्वारा किया जाता था। मिस्टर पी० वी० काणे (P V Kane) ने इन तीनों पदों के अर्थ को तथा अन्तरों को व्यापक रूप से वर्णित किया।

राजा के विभिन्न अधिकारियों के लिए जो अन्य शब्द प्रयुक्त किया जाता था वह तीर्थ था। इस शब्द का प्रयोग चौथी शताब्दी ईसा पूर्व से चौदहवीं ईसवी तक किया गया। डा० जायसवाल ने अष्टादश तीर्थ को एक अत्यन्त प्राचीन वर्ग माना है तथा रामायण में इसके उल्लेख का वर्णन किया है। कौटिल्य ने तीर्थ का अर्थ महा अमात्य बताया है। सोमदेव सूरी ने तीर्थों की व्याख्या करते हुए उन्हें धर्म शास्त्र तथा शासन कार्य करने वाले अधिकारियों की एक संस्था कहा है। तीर्थ का व्युत्पत्ति यह स्थान है जहाँ से होकर निकलना पड़े। अर्थशास्त्र ने विभागाध्यक्षों के लिए इस शब्द का प्रयोग किया है। सम्भवतः इसका कारण यह था कि इन विभागाध्यक्षों के माध्यम से ही विभागों में समस्त आज्ञायें पहुँचती थीं। १८ तीर्थों में मन्त्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, दौवारिक, अन्तर्वंशिक प्रशास्ता समाहर्ता, सन्निधाता, प्रदेष्टा, नायक, पौर व्यवहारिक, कार्मान्तिक, मन्त्री परिषद का अध्यक्ष, दण्डपाल, दुर्गपाल तथा अन्तपाल को लिया गया था। इस वर्गीकरण के द्वारा राज्य के प्रशासन को अलग अलग भागों में बांटा गया था। इन तीर्थों में से कुछ तो मन्त्री थे, किन्तु सभी को मन्त्री नहीं कहा जा सकता।

मन्त्रियों की संख्या
[The number of Councillors]

डा० जायसवाल के कथनानुसार मन्त्री परिषद के मन्त्रियों की संख्या सदा एक सी नहीं रहती थी वह बराबर घटती बढ़ती रहती थी। समय के

अनुसार और ग्रन्थकार के अनुसार इनकी संख्या सदैव अलग-अलग रही है। कौटिल्य ने विभिन्न आचार्यों द्वारा दी गई मन्त्री परिषद की संख्या का उल्लेख किया है। मनु के अनुयायियों के अनुसार मन्त्री परिषद में १२ सदस्य होने चाहिए, जबकि वृहस्पति के अनुयायियों ने इनकी सख्या १६ वताई है और शुक्र के अनुयायी इनकी सख्या २० तक वताते हैं। कौटिल्य ने अपनी ओर से कहा है कि मत्रि मण्डल में इतने सदस्य रखे जाने चाहिए जितना रखना राज्य के लिए आवश्यक हो। मनु ने स्वयं तो राजा को सात या आठ ऐसे मत्री रखने को कहा जो कि परम्परागत रूप से राजा की सेवा करते आये है। रामायण में उल्लेख है कि जव दशरथ ने राम को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया तो उसने अपनी यह खबर वशिष्ठ और अपने आठ मत्रियो को दी। प्राचीन काल में परिषदों का आकार वहुत वडा होता था। महाभारत में ३२ मत्रियो की एक परिषद का उल्लेख है। शांति पर्व के अनुसार राजा को ३७ सचिव रखने चाहिए जिनमें से ४ ब्राह्मण हो, ८ क्षत्रिय हो, २१ वैश्य हों, ३ शूद्र हो तया १ सूत हो। इन सव के होते हुए भी नीति सम्वन्धी मामलो पर इनसे विचार नहीं किया जाना चाहिए। नीति सम्बन्धी मामलों पर केवल ८ मत्रियों से विचार करना चाहिए। मत्रियों की सामान्यतः संख्या ८ दिखाई देती है। यद्यपि समय की परिस्थितियों के अनुसार इनकी संख्या वदलती रही है।

डा० जायसवाल का कहना है कि "जिस समय शुक्र नीति लिखी गई थी, उस समय ८ मंत्रियों की संख्या प्रायः निश्चित सी हो गई थी और उसी के अनुसार शिवाजी ने अष्ट प्रधान या ८ मंत्री वनाये थे।" शुक्र ने आवश्यकता के समय उपमंत्री नियुक्त करने की सलाह दी है, वैसे उन्होंने मत्रियों में सुमंत्र, पण्डित, मंत्री प्रधान, सचिव, अमात्य, प्राड् विवाक् एवं प्रतिनिधि को सम्मि-लित किया है। नीति वाक्यामृत में कहा गया है कि मत्रियों की सख्या ३, ५ या ७ से अधिक नहीं होनी चाहिए।

मत्रियों की संख्या के सम्वन्ध में कोई सामान्य सिद्धांत प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। राज्य के आकार, प्रकृति एवं कार्यों के आधार पर उनकी संख्या निश्चित की जाती थी। इसी कारण मनु और कौटिल्य ने राज्य की आवश्यकता के अनुसार मंत्रियों की संख्या निश्चित करने पर जोर दिया। मनु न तो अल्प संख्या वाली मत्रि परिषद के समर्थक हैं न ही वे अधिक संख्या वाली का पक्ष लेते हैं। उनके मतानुसार यदि परिषद के सदस्यों की संख्या कम रही तो वह किसी विषय पर वास्तविक निर्णय लेने में असमर्थ रहेगी। छोटी परिषद में विविध ज्ञान और जीवन की अनेक समस्याओं का अनुभव सदस्यों को प्राप्त नहीं होता। दूसरी ओर अधिक सदस्यों वाली परिषद में किसी समय पर अंतिम तथा वास्तविक निर्णय तक पहुंचने में समय लगता है। वह यदि निर्णय पर पहुंच भी जाती है तो उसे गुप्त नहीं रख पाती।

शुक्र ने परिषद के जिन १० सदस्यों का उल्लेख किया है, वे हैं— पुरोधा, प्रतिनिधि, प्रधान, सचिव, मन्त्री, प्राडविवाक्, पण्डित, सुमन्त्र, अमात्य और दूत। शुक्र ने इन्हें १० प्रकृतियां माना है जो आचार्य परिषद में केवल

नहीं दी गई थी। यह कहा गया है कि वह अपने कर्मचारी की नियुक्ति करते समय भी वह अपने मन्त्रियों की परामर्श ले। मन्त्रियों के विरोध करने पर राजा दान भी नहीं कर सकता। डा० के० जी० जायसवाल लिखते हैं कि 'धर्म शास्त्रियों ने यह निर्देश कर रखा था, कि यदि मन्त्रिगण विरोध करें, तो राजा को यह अधिकार नहीं है कि वह किसी को भी वित्त दान कर सके।"[1] विभिन्न आचार्यों ने राजा की अपेक्षा मन्त्री पद को अधिक महत्व प्रदान किया है। राजा की अपेक्षा मन्त्रियों में रहने वाले दुर्गुणों को अधिक हानिकारक बताया गया है क्योंकि उन्हीं के हाथ में कार्य की सफलता रहती है।

मन्त्रि परिषद का विकास
(The Evolution of Council of Ministers)

मन्त्री परिषद का विचार अत्यन्त पुराना है किन्तु यह संस्थागत रूप में धीरे धीरे विकसित हो सका। डा० जायसवाल का कहना है कि "हिन्दू मन्त्री परिषद वास्तव में एक ऐसी संस्था थी जो प्राचीन वैदिक काल की राष्ट्रीय सभा थी उसकी शाखा के रूप में निकली थी।" अथर्व वेद में राजा को राज पद सौंपने वाले राजकर्ताओं का उल्लेख है। बाद में ये ही राजकर्ता रत्नि, उच्च पदाधिकारी, सेनापति, कोषाध्यक्ष आदि के रूप में प्रकट हुए। होने वाले राजा द्वारा इन सभी की पूजा की जाती थी। मन्त्री परिषद के पदाधिकारियों की नियुक्ति राजा द्वारा नहीं की जाती थी। यह समाज का प्रतिनिधित्व करने के कारण इसके मन्त्री होते थे।

बृहदारण्यक उपनिषद में समिति को परिषद का नाम दिया गया है। बाद वाली मन्त्री परिषद इस समिति परिषद का ही परिवर्तित रूप है। आदि धर्म ग्रन्थों में राजकर्ताओं को मन्त्री कहा गया है। सम्राट अशोक भी अपने उच्च अधिकारियों की बागडोर धारण करने वाले अर्थात् शासक मन्त्री कहा करते थे। अशोक स्तम्भ में मन्त्री परिषद के लिए परिषद शब्द आया है जब कि जातकों में उसे परिषा कहा गया है। प्रोफेसर मेकडोनेल तथा कीथ के मतानुसार मन्त्री परिषद शब्द का अर्थ निश्चित रूप से ऐसे मन्त्रियों की परिषद का संगठित होना है जिनका संबंध राज्य के राजनैतिक विषयों से है। यह मन्त्री परिषद एक प्रकार से मन्त्रीमण्डल था।

रामायण और महाभारत में ऐसे उल्लेख आते हैं जिनसे मन्त्री परिषद के अस्तित्व का आभास होता है। महाभारत के सभा पर्व में नारद ने राजा को यह परामर्श दिया है कि वह हमेशा मन्त्रियों से मन्त्रणा करता रहे। रामायण के भरत जब मामा के यहाँ से लौट कर आए तो राजकर्ता उनके अभिषेक के लिए उपस्थित हो गए। मौर्य वंश और शुंग वंश के शासक मन्त्री परिषद की सहायता से ही कार्य चलाते थे। शकों की परिषद में मति सचिव और कर्म सचिव रहते थे, जो परामर्श देने का तथा शासन

---

१ डा० के० पी० जायसवाल, पूर्वोक्त पुस्तक पृष्ठ २३१

विभागों की अध्यक्षता करने का कार्य करते थे। गुप्त वंशीय राजाओं की शिलालेखों में मन्त्रियों के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं। प्रो० अलतेकर के कथनानुसार मध्यकाल में आकर मन्त्री मण्डल शासन व्यवस्था का अभिन्न अंग बन गया। विभिन्न ग्रन्थों एवं अन्य प्रमाणों के आधारों पर यह कहा जा सकता है कि परमार राजा यशोवर्मा, गुजरात के चौलुक्य, युक्त प्रान्त के गाहड़वाल, नाडोल के चाहमान, महोबा के चन्देल, दक्षिण के राष्ट्रकूट एवं शिलाहार आदि वशों के राजाओं ने शासन संचालन में मन्त्री परिषद का पूरा पूरा सहयोग लिया। राज तरंगिणी से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कश्मीर में मन्त्रियों को क्या स्वर और महत्व प्रदान किया गया था। दक्षिण भारत के शिलालेख यह स्पष्ट करते है कि वहां अनेक मन्त्रियों का सम्मान सामन्त राजाओं से भी ऊंचा था। उनको महासामन्त और महामण्डलेश्वेर आदि नामों से पुकारा जाता था।

अमात्य, मंत्री और सचिव व तीर्थ
(Amatya, Mantrin, Sachiva and Tirth)

प्राचीन भारतीय ग्रन्थों ने मंत्री परिषद के सदस्यों के लिए भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग किया है। कौटिल्य, मनु, कामन्दक और अग्नि पुराण में अमात्य और सचिव शब्दों को पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त किया है, जब कि अमात्य और मंत्री शब्द स्पष्ट रूप से भिन्नार्थक बनाये गये है। इन तीनो शब्दों के बीच स्पष्टत: विभाजन करने के लिए कोई विश्वसनीय माप दण्ड नही है। जॉन स्पैलमैन का कहना है कि "यद्यपि आमात्य, सचिव और मंत्री शब्दों के बीच अंतर है, किन्तु फिर भी इसका प्राय: पालन नहीं किया गया और लेखकों ने इनका प्रयोग प्राय: पर्यायवाची के रूप में किया है।"[1]

अमात्य शब्द का प्रयोग राजा के उच्च परामर्शदाता के लिए किया जाता था। सामान्य रूप से अमात्य को मंत्री के रूप में परिभाषित किया गया है, जब कि मनु ने इसे सचिव के समरूप माना है। जब मारुत इंद्र के सचिव बने तो उन्हें इंद्र का परामर्शदाता एव सहायक माना गया। कौटिल्य ने मन्त्री और अमात्य दोनो शब्दो का प्रयोग किया है। ऐसा लगता है कि वे मन्त्री शब्द प्रधान मन्त्री के लिए और अमात्य शब्द अन्य मन्त्रियो के लिए प्रयुक्त करना चाहते थे। शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से अमात्य और सचिव का अर्थ सहायक या साथी था जब कि मंत्री का अर्थ होता है मन्त्रणा करने वाले या गुप्त परामर्श करने वाले लोग। इन तीनों पदों के स्पष्ट अर्थ जानने की कठिनाई का कारण यह है इन्हें भिन्न-भिन्न ग्रन्थों ने अलग अर्थों में प्रयुक्त किया है। यहां तक की एक ही ग्रन्थ में अलग-अलग स्थानों पर इनका अर्थ एक जैसा नहीं है। सामान्यत: यह दिखाई देता है कि मंत्री और अमात्य को भारतीय

---

1. Although there are distinctions between the Amatya Sachiva and Mantrin, there are not aften observed and authors sometimes used these words Inter-changeably and as synonymes"

—John W. Spellman., op. cit., Page 79

८ सदस्य मानते है व पुरोधा और दूत को सदस्यता नहीं देना चाहते।

मनु की भांति सोमदेव सूरी ने भी राजा को केवल एक मन्त्री न रखने का आग्रह किया है। उनका मत है कि केवल एक ही मन्त्री रखने पर विचार भिन्नता की स्थिति मे निर्णय लेना मुश्किल हो जायेगा। एक मन्त्री की मन्त्री परिषद राजा को स्वेच्छाचारी बना सकती है। मन्त्री यदि दो हुए और वे परस्पर मिल गये तो मन्त्रणा नहीं हो पायेगी। यदि वे विरोधी रहे तो राज्य समाप्त हो जायगा। मन्त्रियों की संख्या ७ से अधिक नहीं होनी चाहिए।

सदस्यों की योग्यतायें
(The qualifications of Councillors)

मन्त्रि परिषद का सदस्य बनने के लिए व्यक्ति मे कुछ विशेषताओं का होना अनिवार्य माना गया। प्राचीन भारत में सरकार मे मन्त्रियों का स्थान अत्यन्त उच्च था। उनको राजा की भांति और दिन तक की संज्ञा प्रदान की जाती था। यही कारण है कि उनकी योग्यता पर अतिशय जोर दिया गया है। विभिन्न ग्रन्थ इस सम्बन्ध मे तो एक मत है कि मन्त्री मे योग्यतायें होनी चाहिए, किन्तु ये योग्यतायें कौन-कौन सी होनी चाहिए इनमे मतभेद है। मनु के अनुसार परिषद में विविध ज्ञान और अनुभवयुक्त व्यक्ति होने चाहिए उनका शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक एवं धार्मिक विकास सामान्य स्तर से बहुत ऊंचा होना चाहिए। मन्त्री पद के उम्मीदवार की परीक्षा का समर्थन किया गया है, दूसरे, मन्त्री को शास्त्रों का भली प्रकार ज्ञान होना चाहिए, इसके बिना वे जीवन की उलझी हुई समस्याओं को नहीं सुलझा सकते।

तीसरे, मन्त्रि परिषद के सदस्य मे अपना लक्ष्य प्राप्त करने की कुशलता होनी चाहिये। केवल योजनायें बनाना या ऊंचे-ऊंचे विचार प्रतिपादित करना उस समय तक बेकार रहता है जब तक कि उनको क्रियात्मक रूप न दिया जाय। ऐसा करने के लिए क्रियाशील एवं दृढ़ संकल्प व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। चौथे, मन्त्री मे शौर्य का गुण होना चाहिए। संकटकाल उत्पन्न होने पर वह दृढ़ रहे और बिना घबराये ही अपने कर्तव्य का दृढ़ता से पालन करता हुआ संकट को दूर करे। पांचवें रक्त की पवित्रता और वातावरण की शुद्धता भी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। ये मन्त्रि परिषद के लिए ऐसे हों। वशोज्ञ को कहते हैं जिनमे योग्यताओं के माध्यम व कुलीनता बताया गया है परम्परागत राज्य सेवियों मे से मन्त्री नियुक्त करना उपयुक्त
क्योंकि ऐसे व्यक्तियों में राज्य निष्ठा स्थायी होती है।
शुक्र के मतानु
तायें होना जरूरी है। फिर भी मन्त्रि परिषद के सदस्यों मे कुछ सामान्य योग्य-
कुलीन वंश मे पैदा हुआ हो कहना है कि मन्त्री पद पर प्रतिष्ठित व्यक्ति,
दिन मे राज्य के प्रति राजभक्ति वह अधिक आयु वाला एक वृद्ध पुरुष हो उसके
हो। शुक्र द्वारा मन्त्रि परिषद के हो और वह एक उच्च चरित्र वाला व्यक्ति
१० सदस्यों की योग्यताओं, अधिकारों एवं

कर्त्तव्यों का अलग-अलग वर्णन किया गया है। इसे शुक्र की एक महान् देन कहा जाता है।

मन्त्रि परिषद के सदस्यों की वांछित योग्यतायें सोमदेव सूरी ने विस्तार के साथ वर्णित की हैं। ये निम्न प्रकार हैं—

(१) **निवास सम्बन्धी योग्यताएं**—सोमदेव का मत है कि मन्त्री पद ऐसे व्यक्ति को दिया जाय जिसका जन्म उसी राज्य में हुआ हो। उनका कहना है कि राज्य के प्रति स्वामिभक्ति व्यक्ति उस समय तक नहीं रख सकता जब तक कि उस देश के कल्याण को वह अपना कल्याण न समझे। राज्य में उत्पन्न मन्त्री अपने देशवासियों और मातृभूमि के प्रति विश्वासघात नहीं कर पायेगा। यदि दूसरे देश के निवासी को मन्त्री बनाया गया तो वह किसी भी समय राज्य के विरुद्ध अपने देश के साथ मिल सकता है। भीष्म, कौटिल्य, कामन्दक आदि आचार्यों ने भी इस योग्यता को आवश्यक माना है।

(२) **आचार-शुद्धि**—सोमदेव के मतानुसार मन्त्री को दुराचारी नहीं होना चाहिए, जिस प्रकार जहर मिला हुआ अन्न, शरीर के सभी गुणों का नाश कर देता है, उसी प्रकार दुराचार से भी मन्त्री के सभी गुण नष्ट हो जाते हैं। सब गुण होते हुए भी यदि व्यक्ति का आचार ठीक नही है तो उसे मंत्री नहीं बनाया जाना चाहिए।

(३) **कुलीनता**—सोमदेव सूरी ऐसे व्यक्ति को मंत्री पद देना चाहते थे जिनकी कुलीनता विशुद्ध हो अर्थात् माता और पिता की ओर से वह पूरी तरह से निष्कलंक हो। नीचे कुल वाला मन्त्री ऊंचे-नीचे काम करने में कभी लज्जा का अनुभव नही करता। वह राजा का अपकार करने के लिए शीघ्र तैयार हो जाता है।

(४) **व्यसनशील न होना**—मंत्री को किसी प्रकार का व्यसन न होना चाहिए। इस प्रकार के मंत्री शीघ्र ही राजा का नाश कर देते हैं। व्यसनशील व्यक्ति प्राय: होश में नही रहता और वह या तो निर्णय ले ही नही पाता और यदि लेता है तो वे राज्य के हित में नहीं होते। व्यसनी मन्त्रियो से युक्त राजा उसी प्रकार होता है जैसेकि दुष्ट हाथी पर सवार एक व्यक्ति होता है। मंत्री को जुआ, स्त्री सम्पर्क, शिकार, पान, या अन्य किसी भी प्रकार का व्यसन नहीं होना चाहिए। मन्त्री का व्यसन राजा से भी अधिक हानिकारक होता है।

(५) **व्यभिचारी न होना**—आवश्यकता के समय राजा की सहायता न करने वाले मन्त्री को सोमदेव सूरी ने व्यभिचारी कहा है। चाहे व्यक्ति में सभी गुण हो किन्तु यदि वह व्यभिचारी है तो उसे मन्त्री पद नही देना चाहिए।

(६) **व्यवहार-तंत्रज्ञता**—सोमदेव ने यह माना है कि मन्त्री को कृषि, वाणिज्य, पशुपालन आदि व्यवहारों का उपयुक्त ज्ञान होना चाहिए। ऐसा होने पर ही वह राज्य के विकास में प्रभावशाली रूप से सहायता कर सकेगा।

(७) अस्त्रों का ज्ञान—मन्त्री का पद पर्याप्त उत्तरदायित्व और संकटों से पूर्ण होता है। ऐसी स्थिति में मन्त्री को अस्त्रों का तथा उनके व्यवहार का पर्याप्त ज्ञान होना चाहिए। अस्त्र ज्ञान आत्मरक्षा के लिए जरूरी माना गया है।

(८) उपधा विशुद्धि—मन्त्री पद पर नियुक्त किये जाने वाले व्यक्ति में उपधाविशुद्धि होनी चाहिए। उपधाएं चार प्रकार की बताई गई हैं—धर्मोपधा, अर्थोपधा, कामोपधा और भयोपधा। इनके माध्यम से विचाराधीन व्यक्ति की योग्यताओं को परखा जाता है। इन परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने वाले व्यक्ति को ही मंत्रि परिषद के मंत्री पद पर नियुक्त करने की सलाह दी गई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न आचार्यों ने मन्त्री पद के लिए अनेक योग्यताएं निर्धारित की हैं। वे चाहते थे कि मंत्री उच्च कुलवाला शक्तिशाली व्यक्ति हो वह क्षमाशील और आत्म नियंत्रित हो। वह स्थान और समय की आवश्यकताओं के अनुसार समयाश्रित होने की योग्यता रखता हो, वह अपने कर्तव्यों के प्रति सजग हो, हमेशा अपने स्वामी का कल्याण चाहे, अपने कर्तव्यों का पालन भक्तिभाव से करे, वह युद्ध और शान्ति के विषय में पूर्ण जानकारी रखता हो। नगर के सभी निवासियों का प्रिय हो। उसे घमण्ड न हो किन्तु अपनी शक्तियों के प्रति आत्मविश्वास हो। उसके मित्र अच्छे होने चाहिए। वह लोगों का नेतृत्व कर सके, मृदुल स्वभाव हो, बहादुर हो। ऐसी विशेषताएं रखता हो कि जो अन्य व्यक्तियों को स्वीकृत हो। महाभारत के शान्ति पर्व के अनुसार जो राजा ऐसा मंत्री प्राप्त करने में सफल हो जाता है उसे कभी नहीं जीता जा सकता। उसका राज्य पृथ्वी पर क्रमशः ऐसे फैलता जाता है जैसे चन्द्रमा का प्रकाश। महाभारत के अनुसार मंत्री को कम से कम ५० साल का होना चाहिए, इसके अतिरिक्त वह उदार, निष्पक्ष और दुर्गुणों से मुक्त हो। वह विश्वास और अविश्वास का व्यावहारिक रूप से प्रयोग करे। आचार्यों ने मंत्री से कहा है कि वह हमेशा लोगों का चेहरा देखता रहे और पढ़ता रहे कि उनको जब कुछ प्राप्ति होती है तो क्या वे सही रूप में प्रसन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त मन्त्री पद पर नियुक्त बुद्धिमान हो, उसकी स्मृति अच्छी हो वह कार्यकुशल हो, निर्दयी न हो तथा कभी भी वह असन्तुष्ट न हो।

मंत्री पद की शर्तें
(The Conditions of Councillorship)

मंत्री पद पर एक व्यक्ति को नियुक्त करते समय पर्याप्त योग्यताओं को देखने के अतिरिक्त आचार्यों ने कुछ जाति सम्बन्धी प्राथमिकताओं का भी उल्लेख किया है। ब्राह्मणों को मन्त्री पद के लिए उपयुक्त समझा गया था। व्यावहारिक दृष्टि से ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता कि जातीय आधार पर इस पद के लिए कोई भेदभाव किया जाता हो। महाभारत ने सैंतीस सदस्यों की मन्त्रि परिषद में विभिन्न जातियों को आनुपातिक रूप से स्थान दिया है।

शुक्र का मत है कि जाति और कुल केवल शादी के समय ही पूछे जाने चाहिए। मन्त्रियों का चुनाव करते समय इन पर ध्यान नहीं देना चाहिए। शुक्र की मान्यता है कि यदि शूद्र योग्य और विश्वासपात्र है तो उसे सेनापति बना दिया जाय। प्राचीन भारत में अधिकतर राजा अब्राह्मण होते थे। अतः इसलिए मन्त्रि परिषद में अब्राह्मणों की नियुक्ति की जाती थी।

मन्त्रियों की नियुक्ति राजा द्वारा की जाती थी और वे प्रत्यक्ष रूप से राजा ही के प्रति उत्तरदायी होते थे। स्मृतिकारों का कहना है कि इस पद पर मन्त्रियों के पुत्रों अथवा वंशजों को प्राथमिकता दी जाये। प्रो० अलतेकर ने अनेक उदाहरण देकर बताया है कि मन्त्री की नियुक्ति में वंश परम्परा का ध्यान रखने का स्मृतियों का आदेश यथासम्भव व्यवहार में लाया जाता था।[1] उस समय कोई ऐसी प्रतिनिधि सभा नहीं होती थी जिसके प्रति मंत्रियों को उत्तरदायी बनाया जा सके। उनका अप्रत्यक्ष उत्तरदायित्व जनमत के प्रति होता था। एक मन्त्री की नियुक्ति और फिर उसका उस पद पर बने रहना बहुत कुछ उसकी व्यक्तिगत योग्यता पर ही निर्भर करता था। यदि मंत्री अयोग्य है अथवा राजा की दृष्टि से वह अनुपयुक्त है तो उसे पद से हटाया जा सकता था दूसरी ओर अच्छी राय देने वाले मंत्री की पदोन्नति भी की जाती थी।

मंत्री परिषद का संगठन
(The Organisation of Council of Ministers)

मंत्री परिषद का संगठन इस प्रकार किया जा सकता था कि वह अपने दायित्वों का निर्वाह भली प्रकार कर सके। मंत्री गण शासन व्यवस्था की मूल धुरी होते थे और इसलिए उनको इस प्रकार संगठित किया जाता था ताकि प्रशासन का संचालनकार्य कुशलतापूर्वक किया जा सके। मन्त्री परिषद को कार्यों के आधार पर विभिन्न भागों में विभाजित किया जाता था। विभिन्न कार्यों को सौंपते समय संबंधित व्यक्ति की योग्यता पर पर्याप्त ध्यान दिया जाता था। मंत्री मण्डल के संगठन में एक योग्यतम व्यक्ति को प्रधान-मंत्री नियुक्त किया जाता था। कामंदक ने मुख्य मंत्री को मंत्री प्रवर की संज्ञा दी है। मंत्री प्रवर की नियुक्ति किस प्रकार हुआ करती थी इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा गया है। इतना स्पष्ट है कि मन्त्री मण्डल के अन्य सदस्यों की अपेक्षा मंत्री प्रवर का सम्बन्ध राजा के साथ अधिक घनिष्ठ रहता था, उसे राजा को अन्तिम परामर्श देने का अधिकार हुआ करता था। कई ग्रंथों में प्रधान मन्त्री को केवल मंत्री कहा गया है जिसका शाब्दिक अर्थ है मन्त्रणा अथवा परामर्श देने वाला। मानव धर्म शास्त्र ने प्रधान मन्त्री के लिए अमात्य शब्द का प्रयोग किया है। शासन या दण्ड का सारा अधिकार उसी के हाथ में रहता था। प्रधान मन्त्री के ब्राह्मण होने पर पर्याप्त जोर दिया गया है। गुप्त काल में सम्भवतः प्रधानमंत्री को ही दण्डनायक कहा जाता था।

---

1. प्रो० अलतेकर, पूर्वोक्त पुस्तक पृष्ठ १३।

मन्त्री परिषद का दूसरा सदस्य दूत होता था जिसका कर्तव्य दूसरे राष्ट्रों से सम्बन्ध स्थापित करना होता था। आवश्यकता अनुसार सन्धि करना और आवश्यकता के अनुसार युद्ध करना उसी के निर्णय का काम थी। गुप्त काल में आकर उसका नाम सन्धि विग्रहिक कह गया है। मौर्य काल में यह पद पर्याप्त महत्वपूर्ण था शायद इसलिए इसका प्रश्न न मन्त्री के हाथों में सौंप दिया गया था और तभी अर्थशास्त्र में इसका उल्लेख नहीं मिलता।

समाहर्ता मन्त्री मण्डल का अन्य सदस्य था। इसके हाथ में राजकोष से सम्बन्धित कार्य रहते थे और इस प्रकार यह एक अर्थ (वित्त) मन्त्री के रूप में कार्य करता था। अर्थशास्त्र में इस विभाग से मिलते जुलते एक अन्य विभाग को सन्निधाता कहा गया है। शुक्र नीति इस पदाधिकारी को सुमन्त्र कहती है।

मन्त्री परिषद का अन्य सदस्य सेनापति होता था। चन्द्रगुप्त के शासन काल में इस पदाधिकारी को युवराज से भी ऊपर का स्थान दिया गया है। उक्त मन्त्रियों के अतिरिक्त मन्त्री मण्डल में पण्डित (विधि मन्त्री), मन्त्रिण (गृह मन्त्री), सचिव (युद्ध मन्त्री), अमात्य (कृषि मन्त्री), प्राड्विवाक, (न्याय विभाग का मन्त्री) पुरोहित (धर्म मन्त्री) आदि होते थे। युवराज को मन्त्री परिषद के सदस्यों में नहीं गिना है तो भी डा० जायसवाल का कहना है कि मन्त्री रहा होगा। युवराज सामान्य रूप से राजवंश का ही राजकुमार होता था दूसरे मन्त्रियों की तरह वह भी राजा की सहायता करता था। युवराज को जब किसी पद पर नियुक्त किया जाता था तो वह पदाधिकारी बन जाता था। महामन्त्रियों की भांति राजकुमारों का भी स्थानान्तरण किया जा सकता था।

मन्त्री परिषद के विभागों का जो वर्गीकरण आज किया जाता है वह उतने स्पष्ट रूप से प्राचीन भारत में नहीं किया जाता था। प्रो० अलतेकर के कथनानुसार 'हमारे प्राचीन आचार्यों ने विभागों के विभाजन पर कुछ विचार नहीं प्रकट किये हैं। आठवीं सदी ईसवी के आचार्य शुक्र से ही हमें विभागों का कुछ विभाजन मिलता है।' वैसे प्रायः एक ही विभाग का एक ही मन्त्री हुआ करता था, किन्तु योग्य और महत्वाकांक्षी मन्त्री प्रायः एक से अधिक विभाग भी सम्भाल लेते थे।

मन्त्री परिषद के संगठन में केवल मन्त्री ही नहीं वरन् अन्य कुछ लोग भी हुआ करते थे। कौटिल्य ने माना है कि परिषद के अधिवेशन में मन्त्र-धारण करने वाले अधिकारी निमन्त्रित किए जायें। मन्त्री परिषद में अन्तरंग सभा के सदस्य विभागीय मन्त्री, निरविभागीय मन्त्री तथा कुछ अन्य लोग होते थे। अन्य लोगों की संख्या प्रायः अधिक होती थी। इन्द्र की सभा के एक सहस्र सदस्य सम्भवतः इन्हीं लोगों से मिल कर बने होंगे। मन्त्री परिषद की एक अन्तरंग सभा भी होती थी। इस अन्तरंग सभा में अर्थशास्त्र के अनुसार तीन या चार सदस्य होते थे। राजा द्वारा प्रायः इन्हीं से मन्त्रणा ली जाती थी। रामायण, महाभारत और अर्थशास्त्र इन्हीं सदस्यों को मन्त्री कहते

हैं। अन्तरंग सभा के सदस्यों की संख्या महाभारत के अनुसार तीन या पांच होनी चाहिए जबकि कौटिल्य ने तीन या चार होने को कहा है। डा० जायसवाल का कहना है प्रारम्भ मे शायद ऐसे एक ही व्यक्ति का समर्थन किया जाता था, जिसने कि राजा आवश्यकता के समय सलाह ले सके। मानव धर्म शास्त्र और पणिक भारद्वाज एक सदसीय अन्तरंग सभा का समर्थन करते हैं। दूसरी ओर विशालाक्ष और रामायण एक मंत्री के होने की निन्दा करते हैं। इसके सदस्यों की विषम संख्या का समर्थन किया गया था कि मतभेद होने पर बहुमत से निर्णय लिया जा सके।

प्राचीन भारतीय मंत्री परिषद में मंत्रियों के अतिरिक्त दो और छोटे या उपमंत्री रहते थे। गुप्त काल के शिलालेखों के आधार पर डा० जायसवाल ने बताया है कि मंत्री परिषद के सदस्यों के साथ महा तथा कुमार आदि शब्द लगाने का अर्थ इनके आधीन मन्त्रियो की संख्या को प्रदर्शित करना था। उपमंत्री को मंत्री पद दिया जा सकता था; इसके अतिरिक्त उन्हें एक विभाग से दूसरे विभाग मे भी बदला जा सकता था। यह मान्यता थी कि एक ही व्यक्ति को हाथ में अधिक दिनो तक अधिकार नहीं देने चाहिए। यदि मंत्री योग्य है तो उसे किसी अन्य विभाग का मंत्री बना दिया जाए तथा किसी नये व्यक्ति को उसके स्थान पर लाया जाए।

मंत्री परिषद की कार्य प्रणाली
(The Procedure of Council of Ministers)

मंत्री परिषद किस प्रकार कार्य करती थी, इसके बारे में प्राचीन भारतीय ग्रंथों में स्पष्ट रूप से कुछ ज्ञात नहीं होता, फिर भी कहीं-कहीं कही गई बातो के आधार पर कुछ निष्कर्ष निकाले जाते हैं। प्रो० अलतेकर ने मंत्री परिषद की कार्य प्रणाली का पूरा पूरा ज्ञान प्राप्त न होने को खेद का विषय माना है। साधारण रूप से मंत्री परिषद की बैठक की अध्यक्षता राजा द्वारा की जाती थी। मंत्री गण राजा की राय से भिन्न राय भी प्रकट कर सकते थे। मनु का मत था कि किसी भी कार्य को प्रारम्भ करने से पहले मंत्री परिषद की बैठक में उसके गुण और दोष पर भली भांति विचार-विमर्श कर लिया जाता था। वे प्रत्येक समस्या को परिषद के सदस्यों के सम्मुख प्रस्तुत करने की बात कहते हैं। राजा को चाहिए कि वह मन्त्रियों में व्यक्तिगत रूप से तथा सामूहिक रूप से विचार-विमर्श करे। व्यक्तिगत रूप से विचार-विमर्श करने की बात इसलिए कही गई, ताकि किसी मंत्री को दूसरों के सामने अपनी बात कहने में कोई संकोच न हो।

शुक्र के अनुसार राजा के उपस्थित रहने पर मन्त्रिगण बहुधा ऐसी बात नही कह पाते जो कि सच्ची होते हुए भी राजा को बुरी लगती है। इसके लिए उन्होंने सुझाव दिया है कि मन्त्रीगण अपना-अपना मत प्रमाण सहित राजा को लिखकर भेजें। कौटिल्य का कहना था कि राजा को विषय सम्बन्धित केवल तीन–चार मन्त्रियों के साथ ही मन्त्रणा करनी चाहिए। परिषद् में विवाद होते हुए भी अन्तिम निर्णय प्रायः एक मत से हुआ करते थे। वह सयुक्त रूप से राजा को मन्त्रणा देती थी। पर्याप्त विचार विमर्श के

बाद एकमत होकर दी गई शास्त्र सम्मत राय सर्वोत्तम मानी जाती थी। कौटिल्य के मतानुसार राजा मन्त्रिपरिषद की राय के विरुद्ध भी कार्य कर सकता था किन्तु उसे प्रत्येक समस्या पर उनके विचार अवश्य जान लेने चाहिए। कामंदक ने माना है कि राजा को प्रधान मन्त्रियों की दी गई मन्त्रणा का तिरस्कार नहीं करना चाहिए जो राजा ऐसा करता है उसका शीघ्र ही पतन हो जाता है। कामंदक का कहना है कि यदि दी गई मन्त्रणा का समय व्यतीत हो गया है तो उसे क्रियान्वित करने से पहले उन्हें मन्त्रणा दी जानी चाहिए। किसी कार्य को बिना किसी मन्त्रणा के प्रारम्भ न किया जाय। कामंदक बहुमत की राय का समर्थन करते हैं, किन्तु उसके साथ ही इस राय पर उन्होंने कुछ प्रतिबन्ध भी लगाये हैं। उनकी मान्यता थी कि बहुमत की राय शास्त्र के अनुकूल, कल्याणकारी, बुद्धि के अनुकूल और अनुभव पर निर्भर होनी चाहिए। बहुमत की राय होते हुए भी यदि वह ऐसी नहीं है तो राजा को उसे अस्वीकार कर देना चाहिए। मन्त्री मण्डल के प्रधान को कामंदक ने मन्त्री प्रवर कहा है तथा उसे पर्याप्त सम्मान सौंपा है। उनका कहना है कि यदि राजा अस्वस्थ हो या उसका चित्त व्यग्र हो रहा हो अथवा ऐसी ही कोई अन्य बात हो गई हो तो मन्त्री प्रवर को राजा की जगह कार्य सम्पन्न करना चाहिए। अर्थात् राजा की अनुपस्थिति में राजा के सभी कार्य सञ्चालित करने चाहिये।

शुक्र ने मन्त्रीपरिषद के सदस्य का कार्यक्षेत्र निश्चित एवं निर्धारित किया है, उनके मतानुसार किसी कार्य के बुरे परिणामों का उत्तरदायित्व सम्बन्धित व्यक्ति पर ही होगा। शुक्र के मतानुसार प्रत्येक मन्त्री को अपनी मुद्रा रखनी चाहिए और सम्बन्धित लेखों पर उसका प्रयोग करना चाहिए। शुक्र इस बात का आग्रह करते हैं कि प्रत्येक समस्या को सबसे पहले सम्बन्धित विभाग में ही प्रस्तुत किया जावे। उसके बाद मन्त्री परिषद का सम्बन्धित सदस्य उस समस्या पर राजा के साथ विचार करे। बाद में वह परिषद के सभी सदस्यों की बैठक में लिख राय प्रस्तुत की जाय। राजा स्वयं भी अपना विचार प्रकट कर सकता है, प्रत्येक सदस्य के मत को लेख बद्ध करने को कहा गया। शुक्र के शब्दों में राजा को अपने मन्त्रियों के मत को साधक-बाधक प्रमाण सहित पृथक्-पृथक् लेखबद्ध करना चाहिए। इसके बाद अपनी बुद्धि से उस पर विचार करना चाहिए जिस पक्ष में बहुमत हो उसी को व्यवहार में लाना चाहिए।

कौटिल्य ने माना है कि असाधारण और विशेष कारण पर मन्त्री-परिषद की बैठक में विचार होना चाहिए। दूसरे शब्दों में साधारण कार्यों को मन्त्री स्वयं भी कर सकते थे। अशोक के शिलालेखों में मन्त्रीपरिषद के कार्यों के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण सूचना प्राप्त होती है। उनमें बताया गया है कि मन्त्रि-परिषद के निर्णय को लेखबद्ध किया जाए और उन्हें स्थानीय कर्मचारियों द्वारा जनता को समझाया जाय। आवश्यकतानुसार सम्राट मौखिक आदेश देता था और विभागाध्यक्ष भी शीघ्रता से निर्णय ले सकते थे किन्तु इन निर्णयों एवं आदेशों पर मन्त्रीपरिषद द्वारा पुन विचार किया जाता था। मन्त्री परिषद आवश्यक रूप से राजा के विचारों को स्वीकार नहीं कर लेती

थी वरन् कभी कभी उसे बदलने का भी आग्रह करती थी। अन्तिम निर्णय चाहे राजा द्वारा ही लिया जाए परन्तु वह परिषद के विरोध पर पुन. विचार करने पर बाध्य हो जाता था।

कार्य प्रणाली का लेखबद्ध होना अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता था। यह सच है कि अभी तक कोई लेख ऐसा प्राप्त नही होता है जिसे हम मन्त्री के कार्यालयों का लेख कह सकें फिर भी ग्रन्थों में इसका उल्लेख है। कौटिल्य के कथनानुसार जो मन्त्री राजा के सम्मुख उपस्थित नही होते वे राजा की जानकारी के लिए समस्त बातों को लिखित रूप में रखें।

मन्त्रीपरिषद की प्रतिदिन की कार्यवाही के सम्बन्ध में शुक्र नीति द्वारा कुछ सूचनाएँ दी गयी है। शुक्र का कहना है कि एक मन्त्री के साथ दो दर्शक अथवा सहायक रखे जायें। कार्य अधिक होने पर दर्शकों की संख्या बढ़ाई जा सकती थी और कम होने पर दर्शक नही भी रखे जाते थे। यदि दर्शक एक योग्य व्यक्ति है तो उसे मन्त्री पद भी प्रदान किया जा सकता है। योग्य मन्त्री अधिक महत्वपूर्ण विभागों में जा सके इसके लिए स्थानान्तरण का कार्यक्रम रखा गया। एक विषय पर निश्चय हो जाने के बाद सम्बन्धित विभाग के मन्त्री द्वारा उसे लिपि बद्ध करके अपनी स्वीकृति प्रदान की जाती थी। उसके बाद वह लेख स्वीकृति के हेतु राजा के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता था, जो कि या तो स्वयं हस्ताक्षर कर देता था अथवा युवराज को अपनी ओर से हस्ताक्षर करने को कह देता था।

मंत्रि परिषद की कार्यवाही के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण बात यह है कि इसके निर्णयों को गुप्त रखा जाता था। गोपनीयता राज्यों के निर्णयों का एक आवश्यक गुण माना गया। इसी कारण कई आचार्य बड़े आकार की मंत्रि परिषद का विरोध करते हैं क्योंकि इसमें किसी भी निर्णय को गुप्त रखना कठिन होता है। अन्तरंग सभा में महत्वपूर्ण विषयो पर विचार करने की परम्परा भी सम्भवतः गोपनीयता की रक्षा के लिए डाली गई थी। सोमदेव सूरी का मत था कि जब तक कार्य प्रारम्भ न कर दिया जाये तब तक निर्णय गुप्त रहना चाहिए। स्वयं कार्य को देख कर ही दूसरों को यह ज्ञात हो कि निर्णय कर लिया गया था। मंत्रणा स्थान को सुरक्षित रखने पर वे पर्याप्त जोर देते है। सावधानी के साथ यह देख लेना चाहिए कि मंत्रणा स्थान के किसी कोने में कोई छिपा न बैठा हो, वह स्थान प्रतिध्वनि करने वाला न हो, वहां पशु-पक्षी न जा सकें, जो मंत्रणा में भाग नहीं ले रहे वे वहां न रहें। इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया कि राजा द्वारा जिस व्यक्ति के बन्धु-बान्धुओं का कभी कोई अपमान किया गया है उससे मंत्रणा न की जाये। मत्रणा की गोपनीयता के लिए यहां तक कहा गया है कि मंत्रणा करने वालों को स्त्री प्रसंग, मद्यपान आदि से दूर रहना चाहिए, प्रमाद एवं सुप्त प्रलाप आदि से मन्त्र की रक्षा करनी चाहिए, मत्रणा संबंधी मनोविकारों को शरीर चेष्टा आदि से प्रकट नहीं करना चाहिए। राजधर्म निबन्धकार चण्डेश्वर ने भी मंत्र-रक्षा के उपायों का वर्णन किया है। उसका मत है कि मंत्र-भेद खुल जाने से राज्य का महान् अनिष्ट हो सकता है। मंत्र यदि छः कानों में पहुंच गया तो वह गुप्त नहीं रह सकता।

मंत्रि परिषद की शक्तियां
(Powers of the Council of Ministers)

प्राचीन भारत में मंत्रि परिषद को राजा का परामर्शदाता, मार्ग-दर्शक सहायक एवं सहयोगी बताया गया था। राजा द्वारा उसके परामर्श को अस्वीकार भी किया जा सकता था क्योंकि निर्णय लेने की अन्तिम शक्ति तो राजा के पास रहती थी। मंत्रि परिषद के सदस्यों को नियुक्त करने में तथा उनकी कार्यवाही में भी राजा का महत्वपूर्ण हस्तक्षेप रहता था, किन्तु इन सबसे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि मंत्रि परिषद एक शक्ति-हीन निकाय था। राजा के निर्णयों पर मंत्री की राय का पूरा प्रभाव रहता था। राजा मंत्रियों के साथ सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध रखता था न कि विरोध पूर्ण। मंत्रियों का राजा द्वारा बहुत महत्व दिया जाता था। वह उन्हें अपना विश्वसनीय सलाहकार मान कर उनकी बातों को महत्व देता था। मंत्री की आज्ञा को राजा स्वयं अपनी ही आज्ञा मानता था। मंत्र परिषद के सदस्यों की योग्यता एवं दायित्व उनको जनता में लोकप्रिय बना देते थे और यह लोकप्रियता इतनी प्रभावशाली हो जाती थी कि राजा उनकी अवहेलना नहीं कर सकता था।

डा० के० पी० जायसवाल ने बताया है कि राजा द्वारा दी गई आज्ञायें सभी लेखबद्ध होती थी और ये सभी स्वयं राजा की नहीं होती थीं। यह सच है कि इन पर राजा के हस्ताक्षर एवं मोहर अंकित होना आवश्यक था किन्तु इनको प्रसारित करने वाली संस्था मंत्रि परिषद ही होती थी। मंत्रि-परिषद की इच्छा के विपरीत राजा की आज्ञा का पालन करना अनुचित माना गया था। शुक्रनीति के अनुसार ऐसा करने वाला चोर था जो कि बाहरी व्यक्ति या चोर की आज्ञा का पालन करता था।

मंत्रि परिषद के अधिकारों के सम्बन्ध में मैगस्थनीज ने कुछ संकेत किये हैं। शुक्र नीति में राजा और मंत्रियों के अधिकार तथा कर्त्तव्य आदि के सम्बन्ध में जो बातें बतलाई हैं उन सबका निष्कर्ष यह ही है कि स्वयं राजा के हाथ में कोई शक्ति नहीं थी। शासन के सारे अधिकार परिषद के हाथ में थे। जहां तक मैगस्थनीज द्वारा दी गई सूचनाओं का सम्बन्ध है उनसे भी यही प्रकट होता है कि शासन से सम्बन्धित सारे काम मंत्रि परिषद द्वारा किये जाते थे। परिषद का परम्परागत रूप से बहुत आदर होता था। इसके सदस्यों की योग्यता एवं बुद्धिमत्ता के कारण इसका सम्मान बहुत था। सार्वजनिक विषयों पर विचार विमर्श करने के बाद निर्णय लिए जाते थे। परिषद के द्वारा प्रान्तों के शासकों का एवं जल तथा थल सेना के सेनापतियों का चुनाव एवं नियुक्ति की जाती थी।

मैगस्थनीज द्वारा प्रदान की गई सूचना का समर्थन विभिन्न भारतीय ग्रन्थों द्वारा भी किया गया है। भारद्वाज ने मंत्रियों के अधिकार के बारे में जो सूचनायें प्रदान की हैं वे मैगस्थनीज द्वारा प्रदत्त की गई सूचनाओं के समरूप हैं। भारद्वाज की मान्यता थी कि राजा के व्यसनों की अपेक्षा मंत्रियों के व्यसन अधिक हानिकारक होते हैं। मंत्रि परिषद द्वारा राष्ट्र के कार्यों के

सम्बन्ध में मंत्रणा की जाती है, उस मन्त्रणा के फल की प्राप्ति की जाती है। यह कार्यों का अनुष्ठान करती है। आय-व्यय से सम्बन्धित समस्त व्यवहार इसी के द्वारा संचालित किया जाता है। यह सेना के संचालन से सम्बन्धित विभिन्न कार्य करती है। राज्य की व्यवस्था तथा शत्रुओं से और जंगलियों से उसकी रक्षा के क्षेत्र में भी विभिन्न कार्य करती है। इसके द्वारा दुर्व्यसनों से प्रजा की रक्षा की जाती है।

मंत्रि परिषद की इच्छाओं तथा निर्णयों की लगातार अवहेलना करने वाला राजा स्वयं ही अपने विनाश के बीज बोता था। स्वेच्छाचारी राजा के राज्य में क्रान्ति की प्रत्येक सम्भावना रहती थी। या तो राजा को अपना आचार-विचार बदलना होता था अथवा शासन संगठन में पूरी तरह से परिवर्तन कर दिया जाता था। शासन मे परिवर्तन करते समय स्थित मंत्रियों को या तो कारागृहों में बन्द कर दिया जाता था अथवा उन्हें जान से मार दिया जाता था। ऐसा करना अत्यन्त कठिन था, क्योंकि मंत्रियों को पौर और जानपद का पूरा-पूरा समर्थन प्राप्त होता था। इसके अतिरिक्त धर्म शास्त्र और प्रचलित परम्परायें भी उन्हीं का पक्ष लेती थीं। परम्परागत रूप से मंत्रियों को अपने राजा को पद से हटाने और उसके स्थान पर दूसरे राजा को बैठाने की पर्याप्त शक्तियाँ थी। सम्राट अशोक के सम्बन्ध में यह वृत्तांत आता है कि उन्होंने धर्म के सम्बन्ध में स्वेच्छाचारिता बरतनी चाही थी। मंत्रि परिषद ने इसका विरोध किया किन्तु न तो उसका अन्त किया गया और न ही शासन सम्बन्धी नियम रद्द किये गये। इसके विपरीत राजा की स्वेच्छाचारिता पर प्रभावशील नियंत्रण लगाया गया।

मंत्रियों के प्रभाव के सम्बन्ध में लिखते हुए जॉन स्पेलमेन ने बताया है कि "हम यह नहीं मान सकते कि मंत्रियों और शाही अधिकारियों को राजा के ऊपर कोई शक्तियां या प्रभाव नही थे। यदि राजा मंत्रियों पर अन्तिम नियंत्रण रखता था तो मंत्री भी प्रशासन पर उल्लेखनीय नियंत्रण रखते थे।"[1] कभी-कभी जब उत्तराधिकार विवादस्पद होता था तो शाही परिवार में से भावी राजा को मंत्रियों द्वारा चुना जाता था।[2] इतिहास के ऐसे अनेकों उदाहरण मिलते हैं जब कि स्वयं मंत्री द्वारा राज पद को हस्तगत कर लिया गया। कौटिल्य ने अनेक ऐसे तरीके बताये हैं जिनके द्वारा राजा की संभावित मृत्यु के बाद एक मन्त्री स्वयं सम्प्रभु शक्तियां ग्रहण कर सकता है। जब किसी अल्पवयस्क को राज गद्दी पर बिठाया जाता था तो उसके समर्थ होने तक सारी शक्तियों का प्रयोग स्वयं मन्त्रियों द्वारा किया जाता था। हिन्दू एवं बौद्ध ग्रन्थों में ऐसे अनेक उदाहरण आते हैं जब कि कोई राजा

---

1. "Nevertheless we can not assume that the Ministers and Royal officers were powerless or without influence upon the King. If the king had ultimate control over the Ministers they very often had considerable control over the administration."
2. अग्निपुराण, CCXXVII

अपनी राजधानी एवं समस्त प्रशासनिक कर्तव्यों को अपने मन्त्रियों को सौंप कर वन को चला गया। जूनागढ़ के शिलालेख द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि राजाओं की इच्छाओं पर किस प्रकार मन्त्रियों की इच्छायें प्रभाव डालती थीं। मन्त्रियों ने राजा रुद्रदमन की सुदर्शन झील पर बांध बनाने की योजना का इतना विरोध किया कि उसे यह योजना अपने व्यक्तिगत कोष से क्रियान्वित करनी पड़ी। जातकों की एक कथा के अनुसार जब एक राजा ने अपना दुराचारपूर्ण व्यवहार नहीं छोड़ा तब उसके ही एक मन्त्री द्वारा उसे अपदस्थ कर दिया गया।

मन्त्रीगण राजा पर पर्याप्त वित्तीय नियंत्रण रखते थे। कोई भी व्यय करने से पहले राजा को उसकी स्वीकृति मन्त्री परिषद से प्राप्त करनी होती थी। डा० जायसवाल के कथनानुसार धर्म शास्त्रियों ने यह निर्देश कर रखा था कि यदि मन्त्री लोग विरोध करें, तो राजा को यह अधिकार नहीं है कि वह किसी को वित्त दान कर सके। यहां तक कि वह ब्राह्मणों को भी इस प्रकार का दान नहीं दे सकता था।"[1] सम्राट अशोक को जिस प्रकार मन्त्री परिषद ने अधिकार विहीन किया, उससे यह प्रकट होता है कि मन्त्रियों के पास पर्याप्त शक्तियां थीं। सम्राट अशोक के पूछने पर जब प्रधान अमात्य ने अशोक को पृथ्वी का स्वामी बताया तो अशोक ने आंसू भरी आंखों के साथ मन्त्रियों से कहा कि केवल शिष्टाचार के विचार से मिथ्या बात क्यों कर रहे हो, हम तो राज्य अधिकार से भ्रष्ट हो चुके हैं। जातकों की इस प्रकार की कथा काल्पनिक या असत्य नहीं हो सकती क्योंकि सम्राट अशोक उनका धर्मानुयायी था। दिव्यावदान में उल्लेख है कि मन्त्रियों ने धर्म पर धन का अपव्यय करने के कारण अशोक की आलोचना की और अन्त में उसे हटाकर उसके पोते सम्प्रति को सिंहासन पर बैठाया। यह उल्लेख चाहे अनैतिहासिक हो किन्तु इससे जाहिर होता है कि मन्त्री परिषद चाहे तो ऐसा भी कर सकती थी।

मन्त्रालयों द्वारा धार्मिक दृष्टि से भी राजा की शक्तियों पर प्रतिबन्ध लगाया गया। धर्म शास्त्रों के अनुसार यदि राजा विद्वान ब्राह्मणों एवं पुरोहितों द्वारा वर्णित धर्म का पालन नहीं करता पाता है तो उसे हटाया जा सकता था। यह सच है कि कुछ शासक ऐसे हुए जिन्होंने मन्त्रीमण्डल को सदैव अपनी इच्छा के अनुसार चलाया। यह एक व्यक्तित्व का प्रश्न है जिसके आधार पर मन्त्रालय की शक्तियां ऊपर नीचे होती रहती थीं। मन्त्रालय के हाथ में इतने महत्वपूर्ण एवं इतने अधिक कार्य सौंपे गये थे कि यदि उनको उचित रूप से सम्पादित नहीं किया जाता तो सारा प्रशासन खटाई में पड़ जाता। भारद्वाज के अनुसार मन्त्रियों के अभाव में समस्त कार्य बुरी तरह सम्पन्न किये जाएंगे और जिस प्रकार एक पक्षी पंख कटने के बाद निष्क्रिय बन जाता है उसी प्रकार मन्त्रियों के बिना राजा का हाल होता है। मन्त्रियों के कर्तव्यों की सूची को देख कर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत के राजनैतिक जीवन में उनका पर्याप्त महत्व था। महाभारत के शान्ति पर्व में कहा गया है कि सुयोग्य मन्त्रियों से विहीन राजा तीन दिन भी शासन नहीं चला सकता।

---

1. डा. के पी. जायसवाल, पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ २३१

मंत्री परिषद और सम्प्रभु
(Council of Ministers and the Sovereign)

प्राचीन भारतीय राजनीति में सम्प्रभुता या तो राजा के रूप में एक व्यक्ति को सौंपी गई थी अथवा वह समस्त प्रजा के हाथ में थी। मन्त्री परिषद दोनों ही स्थितियों में पर्याप्त महत्व रखती थी तथा सम्प्रभु के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध था प्रायः सभी प्राचीन भारतीय ग्रंथों में इस बात पर जोर दिया गया है कि बिना मन्त्रि परिषद की स्वीकृति एवं सहयोग के राजा को कोई कार्य नहीं करना चाहिए। जो राजा सभी प्रशासनिक कार्यों को स्वयं संचालित करना चाहता है उसे मनु ने मूर्ख कहा है। राजा और मन्त्रि परिषद का पारस्परिक सम्बन्ध सहयोगी मित्र, सचेतक एवं नियंत्रण कर्त्ता आदि के रूप में था। राजा को यह परामर्श दिया गया था कि वह अकेले कोई कार्य न करे। उसे प्रत्येक छोटे से छोटा कार्य भी मन्त्रियों के बीच में बैठकर उनसे विचार विमर्श करने के बाद करना चाहिए। कात्यायन ने न्यायिक क्षेत्र में भी राजा के स्वेच्छापूर्ण व्यवहार का विरोध किया है। उनके मतानुसार राजा को अकेले बैठकर किसी भी मुकदमे की सुनवाई या निर्णय नहीं करना चाहिए, वरन् उसे अमात्यों एवं सभ्यों के साथ बैठकर ऐसा करना चाहिए। स्वयं कौटिल्य भी मन्त्रीपरिषद के बहुमत के अनुसार राजा को व्यवहार करने का परामर्श देता है। राजा को यह अधिकार नहीं था कि वह मन्त्री परिषद के निर्णयों को रद्द कर सके। शुक्र ने तो स्पष्ट रूप से माना है कि जब राजा अपनी परिषद से स्वतन्त्र हो जाता है तब मानो वह स्वयं ही अपने विनाश की योजना बनाता है।

मन्त्रीपरिषद में विचार विमर्श के बाद राजा कठिन से कठिन समस्या का समाधान भी पा सकता था। कौटिल्य तो सारे कार्यों को प्रधान मन्त्री के हाथो मे सौपने पर जोर देते हैं। उनका मत है कि राजा को समस्त निश्चयों की रचना एव क्रियान्विति का कार्य किसी बुद्धिमान ब्राह्मण मन्त्री के हाथ में सौंप देना चाहिए।

प्रशासनिक निर्णयों को लेने की प्रक्रिया का अध्ययन करने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि इस क्षेत्र में राजा की शक्तियां नगण्य थी। राज्य के प्रत्येक कार्य के लेख्य की जरूरत थी। इस लेख्य के सम्बन्ध में प्राड्विवाक, पण्डित और दूत नामक मंत्रियो द्वारा कोई आपत्ति न होने की बात कही जाती थी, उसके बाद अमात्य उसे स्वीकार करता था। बाद में अर्थ मन्त्री बताता था कि इस पर विचार हो चुका है। अंत में प्रधान द्वारा उसे लिखा जाता था और प्रतिनिधि उसे स्वीकार्य घोषित करता था। पुरोहित की भी स्वीकृति उस पर दी जाती थी। इस प्रकार प्रत्येक लेख्य को हर मंत्री के हाथ में होकर निकलना पड़ता था। उसके बाद उसे राजा द्वारा स्वीकार किया जाता था, राजा को इतना समय नहीं होता था कि वह पूरे को ध्यानपूर्वक पढ सके अतः उसकी ओर से युवराज या कोई भी मन्त्री उस लेख्य को देखने के बाद राजा के हस्ताक्षर करा लेता था। इस प्रक्रिया से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजा को

प्रशासनिक निर्णयों एवं उनकी क्रियान्विति में हस्तक्षेप करने का विस्तृत अधिकार होता था। इस सम्बन्ध में राजा की शक्तियां अत्यन्त सीमित थीं जिस बात को मंत्रि परिषद के बहुमत ने स्वीकार कर लिया है उसे अस्वीकार करना या उसके विरुद्ध आज्ञा देना, राजा की शक्ति से बाहर की बात थी। राजा की व्यक्तिगत रूप में अधिक शक्तियां न थीं। वास्तव में वह सहपरिषद सम्प्रभुता का उपभोग करता था।

प्राचीन भारत में मन्त्री परिषद एक नियन्त्रणकर्त्ता का कार्य करती थी। एक अच्छा राजतन्त्र उसे माना जाता था, जिसमें कि मन्त्रीगण राजा की स्वेच्छाचारिता को प्रतिबंधित करते रहें। शुक्रनीति के अनुसार राजा के ऊपर किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं होता। इसी नियन्त्रण के लिए मन्त्रियों की आवश्यकता होती है। जो मन्त्री राजा पर नियन्त्रण नहीं रख पाते वे राज्य की अभिवृद्धि नहीं कर सकते,उनका महत्व एवं प्रभाव उतना ही रह जायेगा जितना कि स्त्रियों के शरीर पर रहने वाले आभूषणों का रहता है। प्रसंग में भारतीय आचार्यों ने राजा का तो केवल राष्ट्र का भार सौंपा था, किन्तु मंत्री परिषद को राजा और राष्ट्र दोनों का उत्तरदायित्व सौंपा। राज्य के संगठन संबंधी नियमों के अनुसार वास्तविक राजा उसी को माना गया जो कि हमेशा मन्त्री परिषद के निर्देश के अनुसार चले। महाभारत ने राजा को सदैव मन्त्रियों के शासन और नियन्त्रण में माना है।

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि मन्त्री और राजा के पारस्परिक सम्बन्ध उनके व्यक्तित्व पर निर्भर करते थे। शक्तिशाली राजा के राज्य में समस्त अधिकार राजा में केन्द्रित हो जाते थे जबकि शक्तिशाली मन्त्रियों वाले राज्य की शक्तियां राजा की अपेक्षा मन्त्रियों के हाथ में रहती थी। यदि दोनों का व्यक्तित्व साथ रहा है तो राज्य की शक्तियां दोनों के बीच बंटी रहती थीं। इस प्रकार कथा सरित सागर में शासन के तीन रूप—राजायत्ततन्त्र, सचिवायत्ततन्त्र और उभयायत्ततन्त्र माने हैं। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जबकि राजाओं ने अपने मन्त्रियों के परामर्श पर शासन संचालित किया। ऐसे राज्यों की प्रगति धर्म की वृद्धि एवं अन्य क्षेत्रों में उन्नति, मन्त्रियों की कार्यकुशलता और कर्त्तव्य मग्नता पर निर्भर बताई गई। जब किसी राज्य में मन्त्रीगणों की योग्यता एवं प्रभाव वहां के राजा से अधिक होता था तो प्रशासनिक निर्णयों एवं उनकी क्रियान्विति में राजा की कुछ भी नहीं चलती थी। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि चाणक्य की विद्वता और कुशलता ने चन्द्रगुप्त मौर्य की शक्ति को शक्तिहीन बना दिया था। अशोक के मन्त्रियों ने इसकी अतिशय दानशीलता का विरोध किया, जिसके परिणामस्वरूप वह [illegible] अवन्ति के राजा विक्रमादित्य [illegible] [illegible]जना बनाई, किन्तु मन्त्रियों ने [illegible] [illegible]जाना खाली हो जाता और भद्दे कर लगाने पड़ते। इससे राजा के दान की प्रशंसा तो हो सकती थी, किन्तु मन्त्रियों को प्रजा की गालियां खानी पड़ती। ग्रंथों में ऐसे उदाहरण आते हैं जबकि मन्त्रियों ने एक बुद्धिहीन व्यक्ति को राजा न बनने दिया अथवा बुद्धिमान एवं वीर पुरुष को राजा बना दिया। मन्त्रियों के दृढ़ विरोध के आगे

राजा की बड़ी से बड़ी इच्छा भी साकार नहीं हो पाती थी। यदि कोई राजा बीमार होता अथवा असमय में उसका देहावसान हो जाता तो उसकी शासन सत्ता को सम्भालने का दायित्व मन्त्रियों पर आ जाता था। राज तरंगिणी में ललितादित्य जैसे शक्तिशाली राजाओं का उल्लेख है जो कि मन्त्रियों से यह आग्रह करते थे कि यदि उनकी कोई आज्ञा अनुचित जान पड़े या बेहोशी की हालत में दी गई हो तो मन्त्री उसका पालन न करे। ऐसा करने वाले मन्त्रियों को वे धन्यवाद देते थे।

मंत्रियों द्वारा राजा के हितों एवं सम्मान का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता था। वे जनता के कल्याण के साथ-साथ राजा की रक्षा एवं भलाई का भी पूरा-पूरा ध्यान रखते थे। राजतरंगिणी मे उल्लेख है कि जब राजा जयापीड़ बंदी हो गये तो उनके मंत्री ने अपने प्राणों का बलिदान कर दिया ताकि राजा उसके फूले हुए शव के सहारे नदी पार कर ले और शत्रुओं के पंजे से मुक्त हो जाये। भारत के इतिहास में इस प्रकार के उदाहरणों की कमी नहीं है जिनमें मन्त्री द्वारा राजा के हित में प्राण तक देने की प्रतिज्ञा की जाती थी तथा बाद मे इस प्रतिज्ञा को पूरा किया जाता था।

भारतीय ग्रंथों में यह कहा गया है कि राजा को अपने मंत्रियों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होना चाहिए। महाभारत का कहना है कि जिस राज्य मे राजा तथा उसके अधिकारी बराबर की शक्ति का उपयोग करते हैं उस राज्य में एक समझदार व्यक्ति को नहीं रहना चाहिए। समय समय पर ऐसे अवसर भी आते थे जबकि राजा को अपने अधिकारियों से अधिक शक्ति सिद्ध करने के लिए संघर्ष करना होता था। ग्रंथों में मंत्रियो के व्यवहार के लिए जो नियम बनाये गये हैं उनके अनुसार उन्हें राजा के प्रति प्रसन्नता एवं आदरपूर्ण दृष्टिकोण बनाये रखना चाहिए। राजा के सामने मंत्री को जोर-जोर से हंसना नहीं चाहिए यदि राजा शराबी, जुआरी एवं व्यभिचारी बन जाता है तो मंत्रियों का यह दायित्व था कि वे उसे इन मार्गों पर जाने से रोके। यदि राजा पूरी तरह बिगड़ चुका है तथा उसके सुधरने की कोई आशा नही है तो मंत्रियों को उसकी सेवा छोड़ देनी चाहिए।

मंत्री के व्यवहार पर राजा की प्रसन्नता तथा अप्रसन्नता बहुत कुछ निर्भर करती हैं। राजा मंत्री के जिन कार्यों से अप्रसन्न हो सकता था वे हैं—राजा की उपस्थिति में नाराजी जाहिर करना, राजा के भाषण को कान न देना या सुनने से मना कर देना, उसके आने पर उसे देखने या बैठने का स्थान देने का उपक्रम न करना, बात करते समय विषय को बदल देना, लम्बी स्वांस लेना, बिना कारण के ही हंस जाना, स्वयं से ही बातें करना या बड़-बड़ाना, समान दोषी साथी की आलोचना करना, राज्य के अच्छे कार्यों को न पहचानना, राजा के बुरे कार्यों को कहते फिरना आदि-आदि। इन कार्यों को न करने से राजा प्रसन्न रहता था। राजसेवा में सफलता प्राप्त करने के लिए स्वामिभक्ति, आज्ञाकारिता एवं आदरभाव अपनाने पर जोर दिया गया था।

राजा के अधीन कार्य करने वालों के जीवन की सुरक्षा उनके उचित कार्यों में ही निहित थी। महाभारत का कहना है कि राजा के सेवकों का भाग्य अत्यन्त कष्टदायक होता है। राजा से सम्पर्क रखने वाला व्यक्ति जहरीले सांपों के बीच रहता है। राजा के अनेक शत्रु तथा मित्र होते हैं राजा के कर्मचारियों को इन सभी से डरना चाहिए। प्रत्येक क्षण उनको स्वयं राजा से भी डरना चाहिए। राजा सभी के धन और जीवन की रक्षा करता है अतः उसकी सेवा पूरे ध्यान के साथ करनी चाहिए।

मन्त्रियों को यह परामर्श दिया गया था कि वे सत्य भाषण करें किन्तु यह सत्य कटु नहीं होना चाहिए। उसे इस प्रकार न बोला जाये कि राजा के कानों को कड़वा लगे। रावण के दो मन्त्रियों ने सत्य सूचना भी इस रूप में दी थी कि वाणी में मिठास न रहा। इस पर रावण नाराज हो गया। उसका कहना था कि यह सम्भव है कि जलती हुई आग में रह कर भी पुरुष बच जाये किन्तु यह सम्भव नहीं है कि राजा के क्रोध के सामने किसी का जीवन बच जाये। जातकों तथा अन्य ग्रन्थों में ऐसे वृतान्त आते हैं जबकि राजा ने क्रोधित होकर अपने मन्त्रियों को न केवल राज्य से निकाल दिया वरन् उनको जान से भी मार डाला तथा शरीर की दुर्गति करा दी। धार्मिक ग्रन्थों के निर्देशानुसार जो मन्त्री स्वार्थ के वशीभूत होकर अन्याय करते हैं वे अपने राजा के साथ नर्क में पड़ते हैं। मौर्य काल में आकर जासूसी एवं चर व्यवस्था पर्याप्त सशक्त हो गई और मन्त्री के प्रत्येक व्यवहार एवं विचार पर कड़ी नजर रखी जाने लगी। कौटिल्य तो यह मान कर चलते हैं कि सरकारी सेवक अपने पद का स्वार्थ के लिए यथासम्भव दुरुपयोग करेगा। आकाश में उड़ती चिड़िया की गति को पहचानना सम्भव है किन्तु गुप्त लक्ष्यों वाले सरकारी सेवकों की गतिविधियों का जानना और भी कठिन है। कौटिल्य ने कर्मचारियों के एक विभाग से दूसरे विभाग में स्थानान्तरण की बात कही ताकि उन्होंने जो भी खाया है उसको उल्टी कर दें। मनु, कौटिल्य एवं अग्निपुराण द्वारा जनता के धन का दुरुपयोग करने वाले मन्त्रियों को दण्ड देने की व्यवस्था की गई है।

ने चन्द्रगुप्त मा...
ने इसकी अतिशय ...
अपने संघ को केवल ...
ने पांच लाख मुद्रायें ...
इसका विरोध किया क्यों...
कर लगाने पड़ते। इसमें ...
मन्त्रियों को प्रजा की शान्ति...
जबकि मन्त्रियों ने एक बुद्धिहीन
माल एवं वीर पुरुष को राजा ब

१३

करारोपण के सिद्धांत

(THEORIES OF TAXATION)

आधुनिक काल की भांति प्राचीन काल में भी आर्थिक स्थिति की सुदृढ़ता, राज्य की समृद्धि एवं स्थायित्व के लिए अनिवार्य थी। जॉन स्पैलमेन का यह कहना सही है कि "करारोपण सम्भवत: किसी भी विकसित राजनैतिक व्यवस्था की नींव है।"[1] प्राचीन भारत में देश के विभिन्न भागों की आय के अलग-अलग साधन होने के कारण कर व्यवस्था भी पर्याप्त जटिल थी। प्राचीन काल में राज्य को दिए जाने वाले जो कर निश्चित हो चुके थे उनका वर्णन धर्मसूत्रों एवं धर्मशास्त्रों के लेखकों ने किया है। करारोपण के सम्बन्ध में उन्होंने कुछ सिद्धांत प्रचलित किये और ऐसा करते समय उन्होंने विभिन्न भागों में प्रचलित प्रथाओं को मान्यता दी। बाद में राज्य की शक्तियों में विकास होने के साथ-साथ करारोपण की पद्धति में भी परिवर्तन होते रहे। समय-समय पर करों के विषय और मात्रा में महत्वपूर्ण परिवर्तन होते रहे।

वैदिक साहित्य के अध्ययन से उस समय के राज्यों में स्थित अर्थ-व्यवस्था का सही-सही ज्ञान प्राप्त नहीं होता। प्रारम्भ में राज्य शक्ति का अधिक विकास नहीं हुआ था, इसलिए लोग अपनी मरजी से जब चाहते और जितना चाहते उतना कर राज्य को दे देते थे। राजा अपने कर्मचारियों एवं पारिवारिक जनों का पोषण स्वयं के स्रोतों से करता था। वैदिक प्रार्थनाओं में यह कामना प्रकट की गई है कि राजा अपनी प्रजा से पर्याप्त उपहार और बलि प्राप्त कर सके। वेदों के परवर्ती काल में नियमित करों का प्रचलन हो गया था। यह कर मुख्यत: वैश्यों द्वारा ही दिया जाता होगा क्योंकि उस समय ब्राह्मणों द्वारा जो पुरोहित का कार्य किया जाता था उसमें आमदनी के अवसर कम थे। क्षत्री लोग नये-नये प्रदेशों को जीतने और उनकी रक्षा करने में लगे रहते थे। शूद्रों के पास भी सम्पत्ति नहीं होती थी। इतने पर भी वैश्यों के अतिरिक्त

---

1. Taxation is probably the foundation of any developed political system.

—John W. Spellman. op. cit. Page 176

वर्गों को करों से मुक्त नहीं किया गया। यद्यपि मुख्य भाग वैश्यों से ही प्राप्त होता था।

करों का महत्व
(The Importance of Taxes)

कोष का महत्व होने के कारण कर व्यवस्था का भी अपना महत्व था। मनु की मान्यता थी कि धन के बिना जब छोटा कार्य भी नहीं हो सकता तो निश्चय सच लन जैसा महान कार्य भला किस प्रकार सम्पन्न हो सकता है। शायद यही सोच कर उन्होंने कोष को राज्य के सात अंगों में से एक माना है जिसकी वृद्धि के लिए राजा को निरन्तर प्रयत्नशील होना चाहिए। महाभारत के भीष्म ने कोष को सबका मूल माना है। उनका विचार था कि धर्म प्रजा का मूल है राजा धर्म का मूल है और कोष राजा का मूल है इसलिए राजा को कोष वृद्धि का प्रयास करते रहना चाहिए। कौटिल्य राज्य संचालन के लिए कोष की आवश्यकता एवं उपयोगिता को सर्वोपरि मानते हैं। कामन्दक के मतानुसार कोष क्षीण हुए में यवन की वृद्धि करता है। प्रजा स्वयं कोष सम्पन्न राजा की आश्रय लेती है। शत्रु भी ऐसे राज्य के राजा का आश्रय ग्रहण करते हैं। इस प्रकार कोष राज्य के समस्त क्रिया कलाप की नाभि है। कोष की महिमा का उल्लेख करते हुए नारद ने अर्थ विहीन और सेवक विहीन शत्रु को ऐसा ही माना है जैसा कि एक दाद रहित सांप और टूटे सींग का बैल होता है। एवं सञ्चय कोष का माना जाता था जो कि संकट के समय व्यय किया जा सके। वशिष्ठ के मतानुसार राज्य की सारी आय को सब के साथ खर्च नहीं करना चाहिए उसका कुछ अंश कोष में डाल देना चाहिए ताकि वह संकट के समय काम आ सके। भारतीय आचार्य कोष के महत्व को इतना मानते थे कि उन्होंने मानव जीवन के उद्देश्यों में अर्थ को भी स्थान दिया था। रामायण में लक्ष्मण ने बताया है कि जीवन की विभिन्न अच्छाइयां धन से ही निकलती हैं। जिस व्यक्ति के पास धन वृद्धिशील होता है उसके सभी कार्य पहाड़ों से निकलने वाले नाले के समान आगे बढ़ते जाते हैं। राज्य में से कर वसूल करके कोष की वृद्धि करने वाले कर्मचारियों को पर्याप्त महत्व प्रदान किया गया।

करारोपण के सिद्धांत
(The theories of Taxation)

वैदिक काल में करारोपण के सिद्धांत का भली प्रकार विकास नहीं हो पाया था। अनेक बातों के सम्बन्ध में तत्कालीन ग्रन्थ कुछ नहीं कहते। इस काल में देवताओं को दी जाने वाली बलि से कुछ विचार उभरते हैं। ऋग्वेद के आराधक अग्नि से कहते हैं कि ओ अग्नि हम तुम्हें बलि दे रहे हैं तुम हमारी रक्षा करना। इसी काल में बलि शब्द का प्रयोग राजाओं को दी जाने वाली भेंट के लिए प्रयुक्त किया जाने लगा। प्रारम्भ में बलि देने का कार्य स्वेच्छा पर आधारित था। सम्भवतः प्रजा बलि देकर बदले में कुछ चाहती रही होगी, किन्तु उसे अभिव्यक्त नहीं किया गया। हो सकता है कि यह राजा के दैवीय रूप के लिए दी जाती हो या रक्षा के लिए दी जाती हो अथवा किन्हीं अन्य

कारणों से दी जाती हो। बाद में चल कर यह स्वेच्छापूर्ण, सहयोग आर्थिक दायित्व बन गया। वैदिक काल में करों को किस प्रकार संग्रहित किया जाता था यह स्पष्ट नहीं है। वैदिक काल की समाप्ति पर राजा के करारोपण की शक्तियां पर्याप्त बढ़ गई। ऋगवेद तक में यह कहा गया है कि "जिस प्रकार अग्नि लकड़ियों को खा जाती है उसी प्रकार राजा धनवानों को खा जाता है।"

ब्राह्मण साहित्य में करारोपण की तुलना भक्षण से की जाती रही। भक्षण एवं करारोपण के बीच स्थित सम्बन्ध को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। प्राचीन भारतीय लोग कर के रूप में अन्न का एक निश्चित अंश देते थे और इसलिए राजा को उनका भक्षक कहना अनुपयुक्त नहीं था। शतपथ ब्राह्मण में इस शब्द का प्रयोग कई स्थानों पर किया गया है। जनता का यह कर्त्तव्य माना गया था कि वे अपने राजा का समर्थन करें। राजा द्वारा समय-समय यज्ञ किये जाते थे और लोगों को कर देने के लिए प्रभावित किया जाता था। करो के सम्बन्ध में ब्राह्मणों को काफी छूट मिली हुई थी किन्तु बाद में जब उनके आय के स्रोत निश्चित हो गये तो उन पर भी कर लगाया जाने लगा। प्राचीन भारत में वैदिक युग के बाद से मौर्य काल के पूर्व तक कर व्यवस्था कैसी थी, इस सम्बन्ध में स्पष्टतः कोई सूचना प्राप्त नहीं होती। बौद्ध जातकों में केवल यही कहा गया है कि अच्छे राजाओं द्वारा विधान सम्मत कर लिया जाता है जबकि बुरे राजा मनमाना कर लगा दिया करते हैं, जिससे परेशान होकर जनता को जगलो में भागना पड़ता है। ये कहानियां करारोपण के वास्तविक रूप को अभिव्यक्त नहीं करती। मौर्य काल के ग्रंथों, सिक्कों, शिलालेखो एवं ताम्र पत्रों आदि के माध्यम से उस समय की कर व्यवस्था के बारे में पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है।

करारोपण के सिद्धांतों के सम्बन्ध में समृतिकारों एवं विभिन्न धर्मशास्त्रकारों द्वारा स्पष्ट किये गये विचार उल्लेखनीय हैं। उन्होंने यह बताया है कि प्रजा से धन संचय करके राज कोष की वृद्धि करना राजा का प्रमुख कर्त्तव्य है, किन्तु उसे इस कर्त्तव्य का पालन कुछ निर्धारित सिद्धांतों के आधार पर करना चाहिए।

मनु का मत—मनु के अनुसार ये सिद्धांत निम्नलिखित हैं—

प्रजा रक्षण का सिद्धांत—मनु का मत है कि राजा को राजकोष के लिए प्रजा से उतना धन लेना चाहिए, जितना कि वह उनकी रक्षा करने की सामर्थ्य रखता है। जो राजा प्रजा रक्षण का कार्य न करके कोष वृद्धि के लिए प्रजा से धन ग्रहण करता रहता है उसके प्रति जनता विद्रोह कर देती है और मरने के बाद वह नर्क में जाता है। ऐसा राजा प्रजा के सम्पूर्ण पापों के भार को वहन करता है। इस विचार की व्याख्याएं विभिन्न प्रकार से की गई है, किन्तु मूल विचार यही है कि राजा कर लेने का हकदार तभी होता है जबकि वह प्रजा की रक्षा करे। हापकिन्स (Hopkins) का मत है कि यह सिद्धांत करारोपण को विनिमय की व्यवस्था पर आधारित बना लेता है। इसके अनुसार यह स्पष्ट किया जाता है कि राजा को कितने धन के लिए

कितनी सुरक्षा प्रदान करनी चाहिए। सुरक्षा की कठिनाइयों के आधार पर ही करों से प्राप्त धन की मात्रा निश्चित की जाती थी। इसी आधार पर संकट काल में अधिक धन करों के रूप में लिया जाता था। यह विचार बुद्धिपूर्ण होते हुए भी तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता है। जॉन स्पलमैन के अनुसार क्षत्रियों द्वारा जो सुरक्षा प्रदान की जाती थी वह कोई खरीदी और बेचे जाने वाली चीज न होकर एक पवित्र कर्त्तव्य मानी गई थी। यदि विनिमय और सौदेबाजी के विचारों को सही माना जाय तो अन्धों, बहरों, बीमारों, व्यापारियों तथा ऐसे ही अन्य लोगों को सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा अधिक कर देना चाहिए क्योंकि उनको सुरक्षा की अधिक आवश्यकता होती है, किन्तु धर्मशास्त्रकारों ने ऐसा कोई मत प्रकट नहीं किया है वरन् वे स्पष्टतः इसके विपरीत मत प्रकट करते हैं।

मनु द्वारा दी गई व्यवस्थाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि राज्य को अपने आधीन प्रजा से तभी तक कर ग्रहण करने का अधिकार है जब तक कि वह अपने प्रजा रक्षण के कर्त्तव्य को पूरा करता रहे। ज्यों ही वह अपने इस कर्तव्य के पालन में प्रमाद करने लगता है, वह इस अधिकार से वंचित हो जाता है।

२ लाभ पर कर लगाने का सिद्धान्त—मनु द्वारा वर्णित दूसरा सिद्धांत लाभ पर कर लगाने का है। इस सिद्धांत के अनुसार किसी व्यवसाय अथवा आय के अन्य कार्यों में जो पूंजी लगाई जाती है उस पर कर नहीं लगाना चाहिए। मनु के अनुसार जब व्यापारियों पर कर लगाये जाएं तो मार्ग व्यय, भरण-पोषण व्यय, सुरक्षा व्यय आदि को ध्यान में रखकर ऐसा करना चाहिए।

३. राष्ट्रीय योजना सिद्धान्त—इस सिद्धांत के अनुसार जनता से उतना कर लेना चाहिए जितना कि राष्ट्रीय योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक है। राज्य को समृद्ध एवं सुसम्पन्न बनाने के लिए विभिन्न योजनाएं बनाई जाती थी तथा उन्हें समय पर क्रियान्वित किया जाता था, इस कार्य के लिए समुचित धन की आवश्यकता थी। इस धन को प्राप्त करने के लिए राजा पर्याप्त रूप से जनता पर कर लगा सकता था। ये योजनाएं राजा के व्यक्तिगत स्वार्थ से ऊपर हों और इनसे जनता का कल्याण होता हो। राष्ट्रीय योजनाओं के अनुसार राजा कर की मात्रा भी बढा सकता है।

४. व्यथा-मुक्ति का सिद्धांत—इस सिद्धांत के अनुसार प्रजा से करों के रूप में इस प्रकार धन संचय किया जाय जिससे कि प्रजा किसी प्रकार क्लेश का अनुभव न करे। इस सिद्धांत को उदाहरणों से स्पष्ट करते हुए मनु ने बताया है कि बछड़ा अपनी माता का दूध थोड़ा-थोड़ा और धीरे-धीरे पीता है इसलिए गाय को जरा भी क्लेश का अनुभव नहीं होता। इसके विपरीत वह आनन्दित होती है। इसी प्रकार पानी की जोंक पशु के शरीर में चुपचाप चिपट जाती है और धीरे-धीरे, तथा थोड़ा-थोड़ा रक्त पीने के बाद जब सन्तुष्ट हो जाती है तो स्वतः ही छूट जाती है। पशु को यह पता भी नहीं होता कि किसी ने उसका खून लिया है. यही बात भौंरे के सम्बन्ध में कही जा सकती है

जो मीठी तान सुनाता हुआ फूल का अनुरंजन करता है किन्तु असल में वह उसका मधु ग्रहण करता है।

५. अधिक कर-निषेध-सिद्धांत—मनु के अनुसार प्रजा पर उसकी सामर्थ्य से अधिक कर नहीं लगाना चाहिए यदि कोई राजा जनता के धन को हरने का लोभ करता है तो वह राजा और प्रजा दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। मनु का कहना है कि राजा अपनी प्रजा पर उतना कर लगाये, जिससे कि शासन का संचालन ठीक प्रकार होता रहे और दूसरी ओर जनता पर अनुचित भार न पड़े। राज्य का काम भी न रुकना चाहिए और उधर करों की मात्रा भी जनता की सामर्थ्य से बाहर नहीं जानी चाहिए, तभी जनता और राजा दोनों का कल्याण हो सकता है। मनु का मत है कि जो राजा मूर्खतावश अपनी प्रजा का शोषण करता है, वह राज्य से भ्रष्ट होकर अपना तथा अपने बन्धु-बांधवों का नाश कर लेता है। जिसके शरीर का शोषण किया जाता है और जिसके द्वारा किया जाता है उन दोनों को ही इसका बुरा फल भुगतना होता है।

भीष्म का मत

महाभारत के भीष्म ने करारोपण से सम्बन्धित प्रायः वे ही सिद्धांत माने हैं जो कि मनु द्वारा वर्णित किये गये थे। उन्होने धन संचय के कार्य में राजा को स्वेच्छाचारी न होने की बात कही है, क्योंकि ऐसा करने से जनता के कष्ट बढ़ते हैं। भीष्म के मतानुसार करारोपण का पहला सिद्धांत **प्रजा-परिपुष्टि सिद्धान्त** है। इसके अनुसार राजा को तभी कर लगाने चाहिए जब प्रजा स्वयं इतनी सम्पन्न हो कि स्वेच्छा से धन दे सके। इस सम्बन्ध में भीष्म ने गाय, माली और मां के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। जब माली द्वारा बगीचे के वृक्षो की उपयुक्त सेवा सुश्रूषा की जाती है तो बगीचे के वृक्ष और पौधे उसके लिए स्वयं ही फल और फूल पृथ्वी पर टपका देते हैं। इसी प्रकार जब एक गाय की सेवा सुश्रूषा करके उसे पूर्ण सन्तुष्ट कर दिया जाता है तो वह स्वयं ही दूध देने के लिए आतुर हो जाती है। इसी प्रकार माता को अपने बच्चे को दूध पिलाने में तभी प्रसन्नता होती है जब कि वह स्वयं तृप्त हो। राजा को जनता से कर लेने में भी ठीक इसी प्रकार का व्यवहार करना चाहिए, अर्थात पहले वह अपनी प्रजा को अच्छी प्रकार से सम्पन्न और संतुष्ट बनाए और उसके बाद ही वह कर संग्रह करे। भीष्म ने करारोपण का दूसरा सिद्धांत मनु की भांति **व्यथा-मुक्ति** माना है अर्थात कर इस प्रकार लगाए जाए कि जनता को यह महसूस न हो कि कर कब और किसके द्वारा लगाया गया था। भीष्म कहते हैं कि जिस प्रकार एक बाघिन अपने मुंह में दांतों के बीच में अपने शिशु को पकड़ कर उसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाती है, परन्तु शिशु को पता भी नहीं लगता कि वह किस समय किसके द्वारा और कब एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया गया।

भीष्म ने मनु का अनुसरण करते समय करारोपण का दूसरा सिद्धांत यह माना है कि लाभ पर ही कर लगाये जाएं। करों का चौथा सिद्धांत **प्रजा-**

रक्षण का है। भीष्म के मतानुसार जो राजा प्रजा से कर ग्रहण करता है और उसकी रक्षा नहीं करता वह प्रजा का चोर है। पांचवें, भीष्म ने राजा को प्रजा का एक वेतन भोगी सेवक माना है। राजा का काम जनता का कल्याण करना है और जो राजा इस कर्तव्य को पूरा नहीं करता वह कर पाने का अधिकारी भी नहीं है। भीष्म ने स्पष्ट रूप से जो उल्लेख किया है कि बलि शुल्क दण्ड आदि के रूप में राजा को जो धन प्राप्त होता है वह उसका वेतन होता है। डा० स्पेलमन यहां वेतन शब्द की अपेक्षा शुल्क (Fees) शब्द का प्रयोग करना अधिक उपयुक्त समझते हैं। छठे भीष्म ने अधिक कर लेने का विरोध किया है उनके मतानुसार प्रजा का सामर्थ्य समय एवं परिस्थिति को देखकर नियमानुसार कर लगाने चाहिए। जिस प्रकार गाय का दूध अधिक निकाल लेने से उसका बछड़ा कमजोर और निकम्मा हो जाता है उसी प्रकार की दशा अधिक कर लगाने से जनता की हो जाती है। सातवें, भीष्म का मत है कि करों की दर में वृद्धि एकदम नहीं कर देना चाहिए वरन् धीरे धीरे तथा थोड़ी मात्रा में करनी चाहिए। यह वृद्धि इस प्रकार की हो कि कर दाता को यह महसूस न होने पाए। जिस प्रकार किसी भी बछड़े पर एकदम वजन नहीं लादा जाता उसी प्रकार जनता पर भी एकदम कर भार नहीं डालना चाहिए वरना वह दब जायेगी। आठवें भीष्म ने संकट काल में अधिक कर लेने का समर्थन किया है। यदि शत्रु से युद्ध करने में अथवा अन्य किसी आपत्ति में राजकोष खाली हो जाता है तो राजा जनता पर विशेष कर लगा सकता है, किन्तु ऐसा करने से पूर्व उसे प्रजा को परिस्थिति का बोध करा देना चाहिए।

कौटिल्य का मत

कौटिल्य ने राजकोष को महत्वपूर्ण मानते हुए उसके संचय में राजा को स्वतन्त्रता नहीं दी है क्योंकि ऐसा करने से जनता दुखित होगी और राज्य का मूल द्रव्य पीछे रह जायेगा। कौटिल्य द्वारा वर्णित करारोपण के सिद्धांतों में पहला परिपुष्ट सिद्धांत है। इसके अनुसार किसी उद्योग धन्धे पर उस समय कर लगाया जाय जबकि वह भली प्रकार पनप चुके। इससे पहले कर लगाने पर उसका पनपना मुश्किल हो जायेगा। समर्थ प्रजा आसानी से कर दे सकती है और इस प्रकार राज्य भी समृद्ध बन सकता है। माली जब कच्चे फलों की रक्षा करता है तभी उसे पके फलों की प्राप्ति होती है। करारोपण का दूसरा सिद्धांत यह है कि दुर्लभ किन्तु उपयोगी वस्तुओं के उत्पादन की व्यवस्था राज्य के अंतर्गत ही की जानी चाहिए। ऐसे पदार्थों को यदि कर मुक्त कर दिया जाए तो उचित रहेगा। तीसरे मानव जीवन के महत्वपूर्ण किन्तु विशेष कार्यों को भी कर से मुक्त कर देना चाहिए। मनुष्य के इन विशेष संस्कारों की सफलता के लिए जिन पदार्थों की आवश्यकता हो उन पर कर नहीं लगाना चाहिए। चौथे कौटिल्य ने उद्योगों एवं व्यवसायों पर राज्य के नियंत्रण का समर्थन किया है ताकि मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण रोका जा सके। राज्य द्वारा उद्योगों एवं व्यापार पर ऐसे कर लगाये जाएं कि किसी भोले व्यक्ति को ठगा न जा सके तथा सभी को अपने श्रम का उचित लाभ प्राप्त हो सके। पांचवें, कौटिल्य ने भी राजा को प्रजा का वेतन भोगी सेवक माना है। राजा द्वारा जो सेवायें प्रदान की जाती हैं उनके वेतन स्वरूप प्रजा उसे कर देती है।

कामन्दक का मत

कामदक ने करारोपण से सम्बन्धित जिन सिद्धान्तों का वर्णन किया है उन मे शब्दों के अतिरिक्त अधिक नवीनता नही है। उनके अनुसार पहला सिद्धान्त प्रजा-परिपुष्टि से सम्बधित है। राजा को पहले प्रजा को परिपुष्ट एवं सम्पन्न करना चाहिए उसके बाद ही वह कर लेने का अधिकारी है। दूध प्राप्त करने के लिए गाय का पालन-पोषण करना जरूरी है तथा फल-फूल प्राप्त करने के लिए पौधों को सींचना जरूरी है उसी प्रकार कर लेने से पहले प्रजा को सुसम्पन्न और समृद्धि बनाना भी जरूरी है। दूसरे राजा को कर इस प्रकार लगाने चाहिए कि व्यापार, व्यवसाय एवं अन्य उद्योग धन्धे निरन्तर विकसित होते रहे। राजा का खजाना चाहे कितना ही खाली हो जाए किन्तु प्रजा के प्रति उसे कभी ऐसा व्यवहार नही करना चाहिए कि व्यापार द्वारा आजीविका कमाने वाले लोगो पर उसका बुरा प्रभाव पड़े। तीसरे राजा का कर्त्तव्य है कि वह पांच प्रकार के भयों से जनता को छुटकारा दिलाये। राजा के कर्मचारी, चोर, शत्रु, राजा के कृपा पात्र और लोभी राजा ये पाच प्रकार के भय होते हैं। इनको दूर करने के लिए राजा प्रजा से आवश्यक धन की मांग कर सकता है।

चौथे, कामदक का कहना है कि राजा प्रजा का उपकार करने के लिए प्रजा पर कर लगा सकता है। राजा द्वारा करों के रूप मे जो धन धीरे धीरे एकत्रित किया जाए उसे प्रजा के उपकार मे ही खर्च कर देना चाहिए। राजा सूर्य की भांति है जो कि धीरे-धीरे थोडी मात्रा में धरती से जल ग्रहण करता है बाद में उसे वह उसी के कल्याण के लिए वर्षा के रूप मे प्रदान कर देता है, ताकि ससार सुखी, समृद्धि और सम्पन्न हो सके। पांचवे, कामदक का कहना है कि राजा को दुष्ट पुरुषों की सम्पत्ति का अपहरण कर लेना चाहिए क्योंकि इससे अच्छे लोगो को कष्ट पहुंचता है। कामदक का कहना है कि जिस प्रकार बुद्धिमान पुरुष पके फोडे से पीब को निकाल कर अलग कर देते है उसी प्रकार राजा को दुष्ट जनो की सम्पत्ति छीन लेनी चाहिए।

सोमदेव सूरी का मत

सोमदेव सूरी ने करारोपण के सिद्धान्तों का वर्णन विशेष रूप से नही किया है किन्तु फिर भी कुछ सकेतों के आधार पर जो बात कही जा सकती है उनमें प्रथम यह है कि वे कोष की समृद्धि को प्रजा की समृद्धि पर आधारित मानते थे। उनके मतानुसार प्रजा के परिपुष्टि होने पर ही उस पर कर लगाये जाए। इनका मत था कि जो राजा अपरिपक्वावस्था में प्रजा से धन ग्रहण करता है वह अपनी प्रजा का नाश करता है। दूसरे, राज्य-कर इस प्रकार नही लगाने चाहिए कि प्रजा को उससे कोई अडचन पैदा हो जाए। प्रजा की अडचनें आगे चलकर राजकोष के लिए दुखदाई होती हैं। पहले प्रजा को बाधामुक्त करना चाहिए और उसके बाद उस पर कर लगाना चाहिए। तीसरे, कोष की वृद्धि की खातिर राजा को मर्यादाओं का उल्लघन नही करना चाहिए। मर्यादा का उल्लघन करने पर जनता मे अविश्वास पैदा हो जाता है राजा के प्रति उसकी श्रद्धा भावना नष्ट हो जाती है। सोमदेव का स्पष्ट मत है कि जब राजा

मर्यादाओं का अतिक्रमण करने लगता है तो सम्पन्न प्रदेश भी निर्जन वन में परिवर्तित हो जाते हैं। राजा को चाहिए कि जिन्हें कर मुक्त कर दिया गया है उनसे धन वसूल न करे और जिनसे कर वसूल करना है उनको बच कर न निकलने दे।

सोमदेव द्वारा मान्य चौथा सिद्धांत मकाग्राम-प्रदान सिद्धान्त था। इसके अनुसार यह कहा गया कि जो गांव विशेष धान्य का उत्पादन करते हों उनकी विशेष रूप से रक्षा की जानी चाहिए। इनका दान नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से राजकोष सूना हो जाता है। राजा की सेवा की अभिवृद्धि इसी प्रकार के गांवों पर निर्भर थी। पांचवा सिद्धान्त कृषि रक्षा का सिद्धांत था। राजकोष की समृद्धि के लिए यह जरूरी माना गया कि कृषि पर पूरी तरह से ध्यान दिया जावे। सोमदेव का कहना था कि जिस समय हरे-भरे खेत लहरा रहे हों उस समय उस तरफ से सेना का संचार नहीं करना चाहिए। ऐसा करने से धान्य नष्ट हो जाता है और राज्य को दुर्भिक्ष का सामना करना पड़ता है। दुर्भिक्ष से पीड़ित जनता राजा को कर नहीं दे पाती और इस प्रकार राजकोष खाली पड़ जाता है। राज्य को चाहिए कि वह कर लेने के साथ साथ कृषि के विकास के उपायों की ओर भी ध्यान दे। वह सिंचाई की समुचित व्यवस्था करे। छठे, उद्योग धन्धों एवं वाणिज्य व्यापार पर कर लगाते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि कर अनुपयुक्त अथवा अधिक भारशील न बन जायें।

शुल्क लगाने तथा उसे ग्रहण करने में यदि अन्याय का आश्रय लिया गया तो कोष क्षीण हो जायेगा। अतः शुल्क उपयुक्त मात्रा में ही लिया जाना चाहिए। जिस राज्य में बिक्री शुल्क अधिक लिया जाता है तथा कम मूल्य पर वस्तुओं को बेचने के लिए मजबूर किया जाता है वहां बाहर के व्यापारी नहीं आ पाते तथा राज्य के व्यापारी भी राज्य छोड़ छोड़ कर चले जाते हैं। अतः उपयुक्त शुल्क लगाना चाहिए तथा सही मूल्य पर वस्तुओं की बिक्री का प्रबन्ध करना चाहिए ताकि व्यापार एवं उद्योग ठीक संचालित हो सके और राजकोष की वृद्धि की जा सके।

सातवें, कर इस प्रकार लगाना चाहिए कि गोमण्डल का विकास होता रहे। राजा को चाहिए कि वह अपने राज्य के गोमण्डलों के विकास का पूरा-पूरा ध्यान रखे। गोमण्डल से प्राप्त आय का कुछ अंश राजकोष के लिए देना जरूरी था।

कुछ अन्य मत

भारतीय आचार्यों ने करारोपण के कुछ अन्य सिद्धान्तों का भी यहां वहां उल्लेख किया है जो कि या तो प्रत्यक्ष रूप से या अप्रत्यक्ष रूप से उपर्युक्त सिद्धान्तों से सम्बन्ध रखते हैं। इनमें से कुछ सिद्धान्तों का सम्बन्ध कर संग्रह के तरीकों से है। आचार्यों का मत था कि करों की मात्रा एकदम नहीं बढ़ानी चाहिए और न ही उन्हें अधिक घटानी चाहिए। जिस प्रकार मधुमक्खी एवं बछड़ा आदि थोड़ा-थोड़ा करके अपना भोजन ग्रहण करते हैं उसी प्रकार

राजा को भी उपयुक्त वार्षिक कर ग्रहण करना चाहिए। जो व्यक्ति कच्चे फल को पेड़ से तोड़ लेता है वह न केवल उस फल के रस से वंचित होता है वरन् वह कच्चे बीजों को भी नष्ट करता है। मौसम में तोड़ा हुआ फल खाने वाले को भी मजा देता है और समृद्धि का प्रतीक भी बनता है। इस संबंध में दूसरी बात यह है कि राजकोष की बाधा को समाप्त किया जाना चाहिये ताकि समृद्धि और सम्पन्नता के मार्ग में कोई बाधा न आए। जिस प्रकार दूसरे वृक्षों के हित का ध्यान रखते हुए एक बड़े वृक्ष को काट दिया जाता है उसी प्रकार से राजकोष की वृद्धि की बाधाओं को भी समाप्त किया जाता है। तीसरे, राजा को कर संग्रह में या करारोपण में अनुचित व्यवहार नहीं करना चाहिए। ऐसा करने वाले राजा की जनता पड़ोसी राज्यों में चली जाती है। याज्ञवल्क्य के मतानुसार ऐसा राजा अपने बन्धु बांधवों सहित नष्ट हो जाता है। महाभारत मे एक स्थान पर यह भी कहा गया है कि यदि राजकोष खतरे में है तो ब्राह्मणों को छोड़कर अन्य सभी की सम्पत्ति को जब्त कर ली जाए। ऐसा कोई प्रमाण नही मिलता कि कभी महाभारत की इस उक्ति को व्यवहार में लाया गया हो।

करारोपण एवं सामाजिक कल्याण
(Taxation & Social Welfare)

करारोपण से सम्बन्धित एक अन्य सिद्धान्त के रूप में यह कहा जाता है कि राजा को सदैव ही जनता के कल्याण मे तत्पर रहना चाहिए। मनु का कहना है कि जिस प्रकार इन्द्र द्वारा वर्षा के दिनों में फलदायक वर्षा की जाती है उसी प्रकार राजा को अपनी राजधानी में सुख सम्पत्ति की वर्षा करनी चाहिए। जिस प्रकार सूर्य वर्ष के आठ महीनों में अपनी किरणों से जल को सोखता है उसी प्रकार राजा को अपनी राजधानी से करों का संग्रह करना चाहिए। मिस्टर ए० एम होकार्ट (A. M. Hocart) के मतानुसार इन सन्दर्भों से मूलतः राजा का कार्यात्मक देवत्व सिद्ध होता है किन्तु फिर भी करारोपण व्यवस्था में सैद्धान्तिक दृष्टि से इसका कुछ महत्व है।

राजा के द्वारा अनेक ऐसे उत्सव किये जाते थे जिनमें कि वह करों से प्राप्त सम्पत्ति का अधिकांश भाग अपनी प्रजा को लौटा देता था। राजा द्वारा ऐसे अनेक यज्ञ किये जाते थे जिनमें कि वह ब्राह्मणों को पर्याप्त धन वितरित करता था। मनु ने राजा से प्रसिद्धि प्राप्त करने के लिए ब्राह्मणों को धन और प्रशंसा देने के लिए कहा है। जब जन्मेजय ने अपना नागयज्ञ समाप्त किया तो पुरोहितों, ब्राह्मणों, एवं अन्य उपस्थित जनों को सैकड़ों से हजारों की संख्या में धन प्रदान किया। जब राजा हरिश्चन्द्र ने राजसूय यज्ञ किया तो उन्होंने प्रत्येक मांगने वाले को उसकी मांग का पांचगुना धन प्रदान किया।

यह सच है कि ब्राह्मणों को राज्य की विशेष भेंट दी जाती थी किन्तु राज्य के अन्य अनेक लोगों को भी राज्य से पर्याप्त लाभ होता था। अनेक वर्गों के लोगों को कर से मुक्ति प्रदान की गई थी। इस कर मुक्ति के अतिरिक्त सुरक्षात्मक कर्त्तव्य का निर्वाह करते हुए राजा और भी अनेक कार्य

करता था। वशिष्ठ के कथनानुसार राजा को श्रोत्रियों का काम करने में अक्षम व्यक्तियों की सहायता करनी चाहिए। उसे शाही परिवार के लोगों एवं पागलों आदि की रक्षा करनी चाहिए। इनके अतिरिक्त विधवा, अनाथ, बीमार तथा परेशान लोग भी राजा की सहायता एवं सहयोग के अधिकारी थे। प्राचीन भारतीय राज्य की लोक कल्याणकारी प्रकृति का परिचय अनेक ग्रन्थों के उद्धरणों से प्राप्त होता है। आपस्तम्ब के अनुसार राजधानी में कोई भी व्यक्ति भूख, बीमारी सर्दी या गर्मी के अभाव के कारण अथवा जान-बूझकर त्रसित न हो। राजा का 'स्वागत भवन' राजधानी में आने वाले प्रत्येक के लिए खुला रहेगा तथा उसकी योग्यता के अनुसार विभिन्न सेवाएं प्रदान करेगा।

राजा द्वारा अभावग्रस्तों को दान दिया जाता था। जनता के कल्याण के लिए राजकोष में धन न होने पर अथवा कोई वैधानिक बाधा उत्पन्न होने पर राजा अपने व्यक्तिगत कोष में से भी धन लगाता था। जनता का कल्याण राज्य की क्रियाओं का मूल उद्देश्य माना गया था जिनकी सिद्धि के लिए वह अपने समस्त साधनों को प्रयुक्त करता था। राजकोष संचित करते समय तथा उसके धन को लगाते समय यही ध्यान मुख्य रूप से रखा जाता था कि जनता का कल्याण होता रहे।

राजकर संबंधी नियम
(Rules Regarding the Taxation)

डा० जायसवाल ने उन नियमों का विस्तार के साथ उल्लेख किया है कि जो धर्मशास्त्रों के प्रणेताओं ने राज-कर के सम्बन्ध में निश्चित किये थे। उनके मतानुसार ये नियम अथवा सिद्धान्त उन उद्देश्यों से बिल्कुल मिलते हैं जिनकी प्राप्ति के लिए हिन्दू राज्य की स्थापना की गई थी। इस सम्बन्ध में प्रथम उल्लेखनीय बात यह है कि आचार्यों ने राजा को कर संग्रह करने में कभी लोभी न होने की बात कही, क्योंकि तृष्णा के कारण वह अपना तथा दूसरों का विनाश कर लेगा। दूसरे, कर लेते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि करदाता शक्तिहीन न बन जाये तथा भविष्य में वह अधिक करों का भार वहन करने के अयोग्य न बन जाये। तीसरे, व्यक्तिगत जीवन की भांति सार्वजनिक जीवन में भी बचत को एक गुण माना गया। वह राजा श्रेष्ठ कहा गया जो कि कम खर्च के साथ राज्य की रक्षा के कार्यों का निर्वाह करता रहे और जनता पर कम से कम करों का भार डाले। राजा को कर इतने धीरे धीरे तथा इतनी कम मात्रा में संचित करने चाहिये कि प्रजा को उनका आभास भी न हो सके तथा जनजीवन के प्रवाह में किसी प्रकार की रुकावट न आये।

पांचवें, जब राज्य का आर्थिक स्तर बढ़ जाये तो जन पर लगाये गये करों की मात्रा बढ़ाई जा सकती है। छठे करों को लगाते समय, काल स्थान एवं अवसर की अनुरूपता का ध्यान रखना चाहिए। जनता से कर का संचय तो कर लिया जाय किन्तु उसको अधिक कष्ट न पहुंचाया जाये। गाय को

दूह तो लिया जाये किन्तु उसके थनों को न नोचा जाये। सातवें, उत्पादन पर कर लगाते समय उसमें यह देखना चाहिए कि उसमें कितना समय एवं परिश्रम लगता है तथा कितना माल तैयार हो पाता है। आठवें, किसी शिल्पी पर कर लगाते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि किसी वस्तु के बनाने में क्या लागत आती है, कितना सामान लगता है तथा शिल्पी के निर्वाह के लिए कितने धन की आवश्यकता है।

नवें, वाणिज्य कर लगाते समय यह देखा जाये कि उस चीज की बिक्री की कीमत क्या है, उसको किस कीमत पर खरीदा गया है, वह कहां से आई है तथा उसके आने में कितना खर्च करना पड़ा है अर्थात उसमें कुल लागत कितनी आ गई है तथा कितनी जोखिम उठानी पड़ी है, दसवें जो वस्तुयें राज्य के लिए हानिप्रद है तथा निरर्थक हैं उन पर कर अधिक लगाया जाये ताकि उनका आयात कम किया जा सके। ग्यारहवें जो आयातित वस्तुयें अत्यन्त लाभदायक हैं उनको शुल्क से मुक्त कर देना चाहिए ताकि उनके व्यापार को प्रोत्साहन मिलता रहे। बारहवें, जिन वस्तुओं का उत्पादन राज्य में नहीं होता या कम होता है, उन पर भी कर को कम कर दिया जाये। तेरहवें, जिन चीजों की मात्रा कम होती थी तथा आवश्यकता अधिक होती थी उनके निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाये जाते थे तथा आयात को कर मुक्त कर दिया जाता था। चौदहवें कुछ वस्तुओं पर विशेष कर भी लगाया जाता था। ये वस्तुयें प्राय: ऐसी होती थी जो कि राज्य में बनने वाली चीजों की बिक्री पर विपरीत प्रभाव डालती थीं।

आय के स्रोत
(The Sources of Income)

राज्य द्वारा जनता के कल्याण एवं रक्षा सम्बन्धी कार्यों में जो धन व्यय किया जाता था उसके लिए आय के पर्याप्त स्रोतों की आवश्यकता थी। प्राचीन भारत में राज्य की आय के विभिन्न स्रोतों का अध्ययन भी एक रुचिकर विषय है। उस समय राज्यों के बीच प्राय: लड़ाइयां होती रहती थीं। लड़ाई में लूट का माल आय का एक स्रोत था किन्तु राज्य को इससे थोड़ा ही लाभ होता था क्योंकि वह प्राय: सैनिको के बीच बंट जाता था। इससे अतिरिक्त विजेता राष्ट्र को विजित राष्ट्र द्वारा भेंट दी जाती थी। यह भी उसके कोष की वृद्धि का एक साधन थी। राज्य के द्वारा सभी प्रकार के फौजदारी एवं दीवानी अपराधों के लिए दण्ड प्राप्त किया जाता था। यद्यपि दण्ड प्राप्ति का मूल लक्ष्य कोष वृद्धि न होकर केवल अपराधों को रोकना ही था, किन्तु फिर भी कोष को पर्याप्त सहारा प्राप्त होता था। न्यायालयों के निर्णय से राज्य जब किसी की सम्पत्ति को जब्त करता था तो वह धन भी राजकोष में जाता था।

कई उद्योगों पर राज्य का अधिकार होता था। नमक-भण्डार राज्य की सम्पत्ति माने जाते थे और जिन व्यक्तियों को नमक की खानों पर कार्य करने का लाइसेंस दिया गया था उन पर कर लगाया जाता था। राजा को

अन्य अनेक प्रकार की खानों तथा खनिजों का स्वामी माना गया। इन से प्राप्त होने वाली आय राज कोष की वृद्धि का एक साधन थी। इसके अतिरिक्त रेशम, ऊन, घोड़े, मोती तथा जवाहरात आदि पर राज्य का ही एकाधिकार था। कोई भी मनुष्य व्यक्तिगत रूप से हाथी या घोड़े नहीं रख सकता था, क्योंकि ये पशु राजा की विशेष सम्पत्ति थे। वह इनकी देखभाल के लिए अलग से ही अधिकारी नियुक्त करता था। इन सभी एकाधिकारों से राजा को आय प्राप्त होती थी।

राज्य में मादक पेयों पर राज्य का नियन्त्रण था। इनसे सम्बन्धित नियमों को तोड़ने वालों को दण्ड की व्यवस्था की गई थी। कौटिल्य ने इनकी प्रशासनिक व्यवस्था का विस्तार के साथ वर्णन किया है। राज्यों को मादक-पेयों से पर्याप्त आमदनी होती थी। वेश्यावृत्ति को कानूनी बना दिया गया था। उसकी आय में से कुछ भाग राज्य को दिया जाता था, राजा की गणिकायें उसके तथा उसके मेहमानों के मनोरंजन के लिए हुआ करती थीं। इनका राज्य की ओर से वेतन प्रदान किया जाता था। व्यक्तिगत रूप से इस पेशे को अपनाने वाली युवतियों का व्यवहार भी राज्य के कानून द्वारा विनियमित किया जाता था। इन सभी के द्वारा राजा को फीस दी जाती थी। वेश्याओं पर अनुचित व्यवहार के लिए दण्ड दिया जा सकता था। इसके अतिरिक्त वेश्या अथवा उसके परिवार को किसी प्रकार की हानि पहुंचाने वाले पर भारी दण्ड किया जाता था।

राजा को बाध्यकारी श्रम प्राप्त करने का भी अधिकार था। गौतम के कथनानुसार प्रत्येक कलाकार को माह में एक दिन राजा का कार्य करना चाहिए। उस दिन के भोजन की व्यवस्था उसके लिए राज्य द्वारा ही की जाएगी। यह माना गया था कि गरीब से गरीब व्यक्ति को भी राज्य के लिए कुछ योगदान करना चाहिए बाध्यकारी श्रम इसी का एक साधन था। बन्दियों द्वारा भी कृषि अधीक्षक की आधीनता में कार्य किया जाता था। युद्ध काल में भी राज्य के द्वारा बाध्यकारी श्रम लिया जा सकता था।

प्राचीन भारत में दासता की परम्परा भी कायम थी किन्तु इससे राजा को कोई आर्थिक लाभ नहीं होता था। यह सच है कि वह दासों में से ही कुछ को अपना सेवक बना लेता था किन्तु फिर भी यह ध्यान रखा जाता था कि किसी आर्य को दास न बनाया जाये। दासों के साथ व्यवहार अच्छा था।

कोष-संचय के साधनों पर आचार्य

प्राचीन भारतीय आचार्यों ने राज्य के कोष के समृद्धि के साधनों का विस्तार के साथ वर्णन किया है। यहां हम विभिन्न आचार्यों द्वारा कोष संग्रह के लिए बताये गये साधनों का वर्णन करेंगे।

मनु के विचार

मनु द्वारा कुछ करों का उल्लेख किया गया है जिनके द्वारा धन का संचय करके राज-कोष को सम्पन्न बनाया जा सकता है। इन करों में बलि, शुल्क, दण्ड, भाग आदि प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। प्रजा की रक्षा का कार्य सम्पन्न करते समय राजा को जिस धन-धान्य की आवश्यकता होती है उसे

प्रजा द्वारा कर के रूप में दिया जाता था। मनु ने इसी को बलि के नाम से सम्बोधित किया है। मनु के मतानुसार यह कर विशेष रूप से गांवों में रहने वाली जनता पर लगाया जाना चाहिए। जो राजा प्रजा-रक्षण के अपने दायित्वों को पूरा न करता हुआ भी इस कर को ग्रहण करता था उसे मनु ने पापी कहा है। प्रजा ऐसे राजा के प्रति विद्रोह करती है और उसे नरक प्राप्त होता है।

'शुल्क' राज्य के कोष को समृद्ध करने वाला एक अन्य साधन था। इसे व्यापारिक सामग्री तथा बाजारों एवं हाटों में बिक्री के हेतु आने वाली वस्तुओं पर लगाया जाता था। यह कर आज के चुंगी कर से मिलता-जुलता था। मनु का मत था कि व्यापारी के लाभ का बीसवां भाग राजा को प्राप्त होना चाहिए। शुल्क का संग्रह करने वाले स्थान बाजार, हाटों को जाने वाले मार्गों पर अथवा नगर की सीमा पर होने चाहिए। जो व्यक्ति शुल्क स्थान पर शुल्क जमा कराये बिना ही अन्य रास्तों से निकल जाते हैं उनके लिए मनु ने दण्ड का विधान किया है। व्यापारी पर कर केवल तभी लगाया जाना चाहिए जब कि उसे लाभ हो रहा हो। कर लगाते समय इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि व्यापारी तथा राजा को उनके परिश्रम का पूरा फल प्राप्त हो जाये।

मनु ने दण्ड-कर को भी राज्य की आय का एक साधन माना है। उनके मतानुसार दण्ड के दस स्थान हैं उन्हीं में से एक 'धन' भी है। आर्थिक दण्ड देते समय अपराधी के देश, काल, परिस्थिति एवं उसकी सामर्थ्य पर विचार किया जाता है। मनु के मतानुसार केवल वही राजा अर्थ दण्ड से धन प्राप्त करने का अधिकार रखता है जो अपनी प्रजा का समुचित प्रबन्ध करता है। उचित तो यह है कि इस प्रकार से राजा को जो धन प्राप्त हो उसे वह जनता की रक्षा के कार्यों में ही खर्च करे। ऐसा न करने वाले राजा को स्वर्ग प्राप्त नहीं हो सकता।

अर्थ-दण्ड के जिन विभिन्न रूपों का उल्लेख मनु द्वारा किया गया है उनको देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि दण्ड राज-कोष की वृद्धि का एक महत्वपूर्ण साधन था। व्यक्ति को किस अपराध के लिए कितना अर्थ-दण्ड प्राप्त होना चाहिए, इस बात का भी स्पष्ट उल्लेख किया गया है। अर्थ-दण्ड उन अपराधों के लिए भी दिया जा सकता है जिनके लिए अन्य प्रकार के दण्डों का विधान है।

एक अन्य प्रकार का कर तर-कर होता है जो कि नदी, नालों आदि को पार करने के लिए राज्य के पुलों, नावों तथा डोंगियों आदि का प्रयोग करने वालों से लिया जाता है। मनु ने तर-कर की दरें निर्धारित करने का भी प्रयास किया है। उदाहरण के लिए पुल पर से जाने वाली गाड़ी पर एक पण का कर, भार युक्त मनुष्य पर आधे-पण का कर, पशुओं एवं स्त्रियों पर चौथाई पण, भार-हीन व्यक्ति पर पण का आठवां भाग तर-कर के रूप में लिये जाने का विधान किया गया है।

1. मानव धर्मशास्त्र, ४०४ ८

मनु ने तर-कर की दरों के अतिरिक्त इस सम्बन्ध में कुछ नियमों का भी उल्लेख किया है। यह कर निश्चित करते समय करदाता के यजन, उसकी समाज सेवा, कर देने की क्षमता एवं व्यापारिक लाभ आदि बातों का समुचित रूप से ध्यान रखना चाहिए। इस कर को मल्लाह अथवा विशेष राजकर्मचारियों द्वारा एकत्रित किया जा सकता था। राज्य को नावों, डोंगियों, मल्लाहों तथा पुल आदि का समुचित प्रबन्ध करना होता था।

मनु के अनुसार तर कर सम्बन्धी व्यवस्था पर राज्य का नियन्त्रण रहना चाहिए। नाविकों तथा नाव में यात्रा करने वालों के पालन के लिए राज्य द्वारा कुछ नियम बनाये जायें। उदाहरण के लिए एक नियम यह हो सकता था कि यदि नाविक की गलती से नौका में बैठे यात्रियों की क्षति हो जाये तो उसका पूरा हर्जाना नाविक को देना होगा। दैवी कारण से होने वाली विपत्ति का भुगतान करने के लिये वह बाध्य नहीं था।

मनु द्वारा वर्णित पांचवां कर पशु कर था। राजाओं को चाहिये कि वह व्यापारियों पर पशु कर लगाये किन्तु यह कर लाभ का पचासवां भाग होना चाहिये। पशु कर भी राज-कोष की वृद्धि का एक साधन था।

छठे प्रकार कर स्वर्ण के लाभ के रूप में प्राप्त किया जाता था। मनु का कहना है कि राजा को प्रजा से स्वर्ण के लाभ का पचासवां भाग आकर-कर के रूप में ग्रहण करना चाहिये।

सातवें श्रमजीवी एवं शिल्पी-कर उनसे लिया जाता था जो कि श्रम अथवा शिल्पकला के माध्यम से धनोपार्जन करते थे। मनु का मत है कि इनकी आय का कुछ भाग भी राज्य को प्राप्त होना चाहिये। यह धन राज्य कर के रूप में प्राप्त नहीं करता था वरन् श्रम और कला के ही रूप में प्राप्त करता था। यह कर प्रत्यक्ष रूप से राज-कोष की अभिवृद्धि न करते हुए भी महत्वपूर्ण माना गया है। मनु का कहना है कि "लोहार, बढ़ई आदि शिल्पी एवं श्रम करके अपनी जीविका कमाने वाले शूद्रों से महीने में एक दिन राज्य का काम करा लेना चाहिए।"[1] इस प्रकार मनु ने शिल्पी एवं श्रम जीवी जनता को भी करों से मुक्त नहीं किया है। बाद में यह कर प्रजा के पीड़न का माध्यम बन कर बेगार के रूप में परिवर्तित हो गया।

भीष्म का विचार

महाभारत के भीष्म द्वारा भी राजकोष की वृद्धि के लिए विभिन्न करों का समर्थन किया गया है। भीष्म के मतानुसार व्यक्ति की जीविका के तीन मुख्य साधन हैं—कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य। इन तीनों व्यवसायों के संगठन, संचालन एवं विकास के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करने के लिए राज्य को नियमन तथा व्यवस्थापन करना होता है। इस कार्य के बदले में वह इन व्यवसायों पर कर लगाने का अधिकारी है। कृषि पर राज्य द्वारा लगाये गये कर को भीष्म ने 'बलि' का नाम दिया है। कृषकों की रक्षा तथा कृषि के

1. मानव धर्मशास्त्र, ११८ ७

विकास के लिए राज्य को जो धन व्यय करना पड़ता था उसे वह धन धान्य अथवा अन्य उपज का छठवां भाग लेकर प्राप्त करता था। यह कर एक प्रकार से राजा का वेतन था। यदि राजा अपनी प्रजा के कर्त्तव्य को पूरा नहीं करता है तो वह इस कर को प्राप्त करने का अधिकारी नहीं था।

गोरक्षा अथवा पशुपालन व्यवसाय पर लगाया जाने वाला कर को पशुकर कहा गया है। राजा का यह कर्त्तव्य था कि वह इस व्यवसाय के संगठन एवं विकास के लिए यथा सम्भव सुविधायें प्रदान करे। जिन लोगों को राजा के इन प्रयासों से लाभ होता था उनको कर देने के लिए कहा गया। पशुओं से प्राप्त होने वाले लाभ का पचासवां भाग राज्य को कर रूप में प्रदान करने को कहा गया। इस सम्बन्ध में भीष्म तथा मनु एकमत हैं।

शुल्क वह कर था जो कि राज्य द्वारा व्यापारियों पर लगाया जाता था। व्यापारी वर्ग की सुविधा के लिए राज्य द्वारा मार्गों, हाटों एवं बाजारों का प्रबन्ध किया जाता था। इसके बदले में व्यापारी लोग अपने माल के अनुसार कर देते थे। भीष्म ने इस कर की दरों के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा है।

चौथे, राज्य हिरण्य-कर ले सकता था। भीष्म ने इस कर का समर्थन तो किया है, किन्तु यह नहीं बताया है कि कर हिरण्य के व्यापार पर लगाया जाये अथवा उसके उत्पादन पर। यह कर हिरण्य के लाभ का पचासवां भाग होना चाहिए।

पांचवें दण्ड रूप में प्राप्त धन को भी भीष्म ने राजकोष की वृद्धि का एक साधन माना है। यद्यपि इस धन को करों की श्रेणी में नहीं गिना जा सकता तो भी यह राज्य की आय का एक साधन तो है ही। भीष्म ने अपराधों की गुरुता के आधार पर विभिन्न प्रकार के दण्डों का विधान किया है।

छठे, खनिज पदार्थ राज्य की सम्पत्ति होते हैं और इसलिए खनिज पदार्थों के व्यापार पर कर लगना चाहिए। यह कर किन खनिजों पर तथा किस दर से लगाया जाना चाहिए, इस सम्बन्ध से भीष्म ने कुछ भी नहीं कहा है।

सातवें, भीष्म लवण-कर का समर्थन करते हैं। मनु ने इस कर का कहीं भी उल्लेख नहीं किया था। इस कर की दर के विषय में भीष्म ने कुछ भी नहीं कहा है।

आठवें, भीष्म ने भी मनु की भांति तरण-कर का उल्लेख किया है। जो कि नदी, नालों एवं अन्य जल के स्थानों को पार करने का प्रबन्ध करने के लिए राजा को प्रदान किया जाना चाहिए। यह कर केवल उपभोक्ताओं पर ही लगाया जायेगा।

कौटिल्य का विचार

कौटिल्य ने कोष की वृद्धि के अनेक उपायों का वर्णन किया है। उनकी दृष्टि से ये उपाय मुख्यतः दो वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं। प्रथम

वर्ग को वे आय शरीर कहते हैं तथा इस वर्ग में वे उन उपायों को रखते हैं, जिनका सम्बन्ध दुर्ग राष्ट्र, खान, सेतु, वन तथा वणिक पथ से है। दूसरे वर्ग को आयमुख कहा गया है। इसमें कौटिल्य ने उन उपायों को रखा है जो कि मूल, भाग, व्याज परिघ क्लृप्त रूपिक और अत्यय आदि नामों से राजकोष की आमदनी को बढ़ाते हैं। कौटिल्य द्वारा आय के इन समस्त साधनों का विस्तार के साथ उल्लेख किया गया है।

शुक्र का विचार

शुक्र ने राज्य की आय के विभिन्न साधन बताये हैं। राज–कर इन साधनों में से ही एक था। इसके अतिरिक्त दण्ड उपायन, विजय अपहरण, आदि को भी आय का साधन बतलाया गया। राज्य की आय का मुख्य साधन विभिन्न करों के रूप में प्रजा से प्राप्त होने वाला धन था। विभिन्न करों को शुक्र ने भाग, आकर-कर, शुल्क, भाटक और आपत्कालीन कर आदि नाम दिये हैं।

भागकर का अर्थ भूमिकर से था। भूमिकर की दृष्टि से कृषि भूमि को तीन भागों में विभाजित करने को कहा गया—बहु, अल्प तथा मध्य। उपज के आधार पर वर्गीकृत इन तीनों प्रकार की भूमियों पर कर की व्यवस्था भी अलग प्रकार से करने को कहा गया।

आकर-कर उस धन पर लगाया जाता था जो कि खानों में प्राप्त होता था। आकर-कर की दर वस्तु के आधार पर अलग अलग निश्चित की गई। शुल्क उस कर को कहा गया जो कि क्रेताओं तथा विक्रेताओं द्वारा राजा को दिया जाता था। शुक्र का कहना है कि किसी भी वस्तु पर केवल एक ही बार कर लगना चाहिए, एक से अधिक बार नहीं। कुछ वस्तुओं पर शुल्क की दर तो उन्होंने निर्धारित भी कर दी थी। उनका विचार था कि कुल लागत को आमदनी में से निकाल देने के बाद जो लाभ बचता है उसी पर कर लगाया जाना चाहिए। भाटक कर भी राज्य कोष की वृद्धि का एक साधन बताया गया। यह कर आवागमन के साधनों पर लगाया जाता था। इसे लगाने का उद्देश्य यह था कि आवागमन के साधनों की व्यवस्था पर राज्य का नियंत्रण रखा जाये।

उपर्युक्त करों के अतिरिक्त शुक्र ने कुछ अन्य स्रोतों का भी उल्लेख किया है जो कि राजकोष को बढ़ाने में योगदान करते हैं। अर्थदण्ड इन्हीं में से एक है। राज्य के नियमों का भंग करने वाले व्यक्तियों से अर्थदण्ड वसूल करना चाहिए। विभिन्न प्रकार के दण्डों से जो धन वसूल होता है उसे राजकोष में ही जमा कराया जाता था। उपायन द्वारा राजकोष का धन बढ़ाया जाता था। राजा के जन्म दिन, पुत्र जन्म, यज्ञ उत्सव एवं अन्य ऐसे ही अवसरों पर प्रजा द्वारा जो धन भेंट के रूप में राजा को दिया जाता था उसे शुक्र ने उपायन कहा है। शुक्र का मत है कि धर्म पूर्ण व्यवहार न करने वाले राजा के राज्य एवं धन का अपहरण कर लेना चाहिए। अधार्मिक शत्रु के राष्ट्र का हरण करने के लिए छल तथा बल सभी प्रकार के साधनों को अप-

नाया जा सकता था । दुष्ट प्रकृति के अधार्मिक राजा को पराजित करके उसके धन को अपने राजकोष में मिलाना धार्मिक राजा का एक कर्त्तव्य माना गया। अधार्मिक राज्यों के अतिरिक्त दुष्ट व्यक्तियों के धन का भी राज्य को अपहरण कर लेना चाहिए। जो लोग गलत तरीकों से धन कमाते हैं तथा उसे अपने आमोद-प्रमोद में ही खर्च करते है वे अपात्र होते हैं और उनका धन छीन कर राजकोष में रख लेना अनुचित नही था। अपात्र का सारा धन छीन लेने के बाद भी राजा पाप का भागी नहीं होता।[1]

राजा को सामान्यतः जनता पर अधिक कर भार नही डालना चाहिए तो भी वह आपत्तिकाल में अधिक कर ले सकता था। इस काल की विशेष परिस्थिति में राजा विशेष कर लगाकर कोष वृद्धि कर सकता था।

सोमदेव का विचार

सोमदेव ने करों के सम्बन्ध में अधिक कुछ नही लिखा है, वे केवल शुल्क कर की ओर ही संकेत करते है। ऐसी स्थिति में करों से सम्बन्धित उनके विचार अधिक स्पष्ट नहीं हैं।

उक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारतीय आचार्यों ने राज्य की आय के स्रोतों का वर्णन पर्याप्त विस्तार से किया है। व्यवहार में भी राज्य द्वारा इन स्रोतों को प्रयुक्त किया जाता था। इनसे ग्रहण किया गया धन जनता के कल्याण, राज्य की रक्षा धर्म की रक्षा एवं दुष्टों के दमन आदि उद्देश्यों के लिए प्रयुक्त किया जाता था।

प्राचीन भारत में करों के रूप
(The Kinds of taxes in Ancient India)

करो के सम्बन्ध में विभिन्न भारतीय आचार्यों के विचारों को जान लेने के बाद यह उपयुक्त रहेगा कि हम उस समय स्थित विभिन्न करों का कुछ विस्तार के साथ अध्ययन करे। इन करो में जो प्रमुख थे, वे निम्न प्रकार हैं—

भूमि कर [Land Tax]

भूमिकर भारत जैसे कृषि प्रधान देश में राज्य की आय का एक मुख्य साधन था। इस कर को विभिन्न ग्रन्थों ने अलग अलग नाम दिये हैं। कुछ इसे 'भाग कर' कहते है जबकि अन्य के द्वारा इसे 'उद्रंग' कहा गया है। स्मृतियों में तथा अन्य ग्रन्थों में भूमिकर की कोई सामान्य दर निश्चित नहीं की गयी है। उनमें आठ प्रतिशत से लेकर तैंतीस प्रतिशत तक कर लेने का निर्देश है। यह अन्तर सम्भवतः भूमि के प्रकार पर निर्भर रहा होगा। मि० यू एन. घोषाल ने कर युक्त भूमियों को कई भागों मे वर्गीकृत किया है। उनका यह वर्गीकरण शुक्र नीति द्वारा किये गये वर्गीकरण से समता रखता है। उनके अनुसार कुछ भूमियां ऐसी होती थी, जो कि सिचाई के लिए नदियों

---

1. शुक्रनीति, १२१/४

पर आश्रित थीं, इनमें उत्पादन का आधा भाग राजा को दिया जाता था। दूसरे ऐसी भूमियां हुआ करती थीं जो कि तालाबों एवं कुओं पर आश्रित थीं और ये राजा को एक तिहाई भाग अदा करती थीं। तीसरे प्रकार की भूमियां वर्षा के जल पर आधारित थीं, इन्हें एक प्रकार से असिंचित भूमि कहा जा सकता है। ये अपने उत्पादन का एक चौथाई भाग राज्य को देती थीं चौथा वर्ग ऐसी भूमियों का था जिनमें कि कंकड़ और पत्थर होते थे। ये अपने उत्पादन का छठा भाग राज्य को देती थीं।

जब हमें एक ही आचार्य के वर्णन में भूमि कर की विभिन्न दरें पाते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इनका आधार उन्होंने भूमि की अच्छाई-बुराई का अन्तर माना होगा। इस आधार पर आचार्यों ने भूमि को कई भागों में विभाजित किया है। इसके अतिरिक्त अलग-अलग राज्यों में भूमिकर की मात्रा भी अलग अलग थी। एक ही राज्य में समय तथा स्थान के अनुसार भूमि कर की मात्रा बदल जाती थी। इतने पर भी सामान्य परम्परा जैसा कि प्रोफेसर अल्तेकर का विचार है भूमि कर के रूप में उत्पादन का छठवां भाग लेने की थी। सम्भवतः इसी कारण बंगाल बुन्देलखण्ड तथा अन्य भागों में कर एकत्रित करने वाले कर्मचारियों का नाम षष्ठ विकृत पड़ गया। यह स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता कि राज्य द्वारा खेत में स्थित पूरे गल्ले का छठवां भाग लिया जाता था अथवा खर्च से बची हुई उपज का छठवां भाग लिया जाता था। ग्रन्थों के अध्ययन के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कर के रूप में यह छठवां भाग शायद समूची उपज का ही होगा। शुक्रनीति में ३३ प्रतिशत भूमि कर लेने की बात कही गयी है। उसका मत है कि एक किसान कृषि कार्य के व्यय और भूमि कर के रूप में जितना धन खर्च करता है उसे उससे दो गुना धन आय के रूप में प्राप्त होना चाहिए। भूमि कर किस रूप में लिये जाते थे इस सम्बन्ध में अधिक मत भेद नहीं है। अधिकांश भारतीय ग्रन्थों में भूमिकर की मात्रा उत्पादित वस्तु के रूप में बताई गयी है न कि नकद धन के रूप में। प्रो० अल्तेकर के शब्दों में "भूमिकर अनाज के रूप में ही लिया जाता था यह सिद्ध करने के लिए प्रचुर प्रमाण हैं।"[1] इस सम्बन्ध में पहली बात तो यह है कि जब इसे भागकर की संज्ञा प्रदान की गई तो स्पष्ट हो गया कि यह कर खेत में होने वाली फसल का ही एक भाग था। बौद्ध जातकों में ऐसी कथाएँ आती हैं जिनमें कि एक व्यक्ति अपने ही खेत में से धान की बाली तोड़ने से डरता है क्योंकि ऐसा करने से राजा अपने भाग से वंचित हो जायेगा। इसके अतिरिक्त कौटिल्य ने स्थान स्थान पर स्थित राज्य की विशाल खत्तियों या कोठियों के होने का उल्लेख किया है जिनमें कि भूमिकर के रूप में प्राप्त अन्न का संचय किया जाता था। इन अन्न के भण्डारों की देख रेख राज्य के अधिकारी करते थे और वे इनमें घुन लगने से पहले ही इनकी निकासी का प्रबन्ध करते थे। बाद के काल में भूमिकर नकद के रूप में अदा किया जाने लगा। ऐसे कुछ शिलालेख तथा सिक्के आदि प्राप्त हुए हैं जिनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है।

यदि कोई व्यक्ति भूमिकर नहीं चुका पाता था तो उसे अपनी बकाया रकम का ब्याज देना होता था और असमर्थ होने पर उसकी भूमि को नीलाम

भी किया जा सकता था। भूमिकर का बकाया अधिक से अधिक तीन महीने तक रखा जा सकता था, उसके बाद जमीन बेचकर राज्य यह कर वसूल करता था। कभी कभी तीन महीने के समय को बढ़ाकर अधिक भी किया जा सकता था, किन्तु निर्धारित अवधि समाप्त हो जाने के बाद जमीन को किसी प्रकार से बचाया नहीं जा सकता था। उस काल में ब्राह्मण वर्ग भी भूमिकर से मुक्त नहीं था, केवल विद्वान ब्राह्मणों को, जो कि निर्धन होते थे तथा जिन्हें राज्य से कोई वृत्ति प्राप्त नहीं होती थी, कर मुक्त किया जा सकता था।

भूमि पर देवालयों का भी स्वामित्व होता था। यह भूमि केवल तभी कर मुक्त की जा सकती थी जब कि देवालय की आय कम हो। आमदनी पर्याप्त होने पर उनसे पूरा कर लिया जाता था। राज्य के कर को चुकाने के लिए कई बार मन्दिरों को अपनी भूमि का कुछ अंश बेचना पड़ता था। यदि मन्दिरों द्वारा ऐसा नहीं किया जाता तो राज्य ऐसा कर वसूल करने के लिए उनकी भूमि बेच देता था।

इस सम्बन्ध में भूमि के स्वामित्व से सम्बन्धित प्रश्न पर विचार करना भी उपयुक्त रहेगा। कृषि योग्य भूमि राजा की होती थी अथवा उस पर व्यक्तिगत स्वामित्व होता था, इस सम्बन्ध में विचारक एक मत नही हैं। मनु स्मृति की यह मान्यता है कि राजा भूमि का अधिपति होता है और इसलिए भूमि के अन्दर की समस्त चीजों का वह स्वामी है। अर्थ शास्त्र के टीकाकार भट्टस्वामी भी भूमि और जलाशयों पर राजा का स्वामित्व मानते है। डा० जायसवाल प्राचीन भारत में भूमि पर राजा का स्वामित्व नहीं मानते। ग्रन्थों में ऐसे भी प्रमाण आते हैं जिनसे भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व की बात प्रकट होती है। पूर्व मीमांसा मे कहा गया है कि कुछ यज्ञों के अन्त में राजा सब कुछ दान कर सकता है किन्तु वह प्रजा की निजी भूमि को दान में नहीं दे सकता। कौटिल्य द्वारा राजा को भूमि और पानी का पति कहने का अर्थ केवल यही है कि वह इनकी रक्षा करता है। इनका स्वामी नहीं है। कौटिल्य ने व्यक्तिगत भूमि और राज्य की भूमि के बीच स्पष्ट रूप से अन्तर किया है। नारद ने राजा को चेतावनी दी है कि वह जनता के घर तथा खेत के स्वामित्व में हस्तक्षेप न करे क्योंकि ऐसा करने से पूरी तरह अव्यवस्था फैल जायेगी। नीलकण्ठ ने राजा को समस्त पृथ्वी का स्वामी मानते हुए भी जनता के घरों और खेतों पर उसका अधिकार नहीं माना है।

प्रागैतिहासिक काल में भूमि का स्वामित्व सम्भवतः सामाजिक था, इसी कारण आचार्यों ने भूमि को बेचने या हस्तान्तरित करने से पूर्व पूरे गांव, गोत्र या बिरादरी से अनुमति प्राप्त करने की बात कही है। सामाजिक स्वामित्व का अर्थ, प्रो० अलतेकर के मतानुसार, यह नहीं था कि समाज सरकार द्वारा किसी भी व्यक्ति की भूमि छीन ले। इस प्रकार सामाजिक स्वामित्व व्यक्तिगत स्वामित्व का विरोधी नहीं था। इससे तो भूमि को हस्तांतरित करने पर रोक लगाई जाती थी और इस प्रकार किसी अवांछनीय व्यक्ति को गांव में प्रविष्ठ होने से रोक दिया जाता था। वैदिक काल में राजा

भी किसी भूमि को तभी दान कर सकता था जबकि ऐसा करने से पड़ोसियों को कोई एतराज न हो।

प्राचीन ग्रन्थों का झुकाव बहुत कुछ इस ओर है कि उस समय भूमि पर स्वामित्व राजा का था। वह कर न देने की स्थिति में किसी भी किसान को उसकी भूमि से वंचित कर सकता था। हम देखते हैं कि ऐतिहासिक काल में राजा को जगत ऊपर भूमि एवं खानों का स्वामी माना गया है। यह मान्यता समस्त भूमि पर राजा के स्वामित्व की धारणा पर आधारित है।

७०० शताब्दी पूर्व के बाद से भूमि पर राजा का स्वामित्व बहुत कम रह गया यद्यपि उसे अब भी यह अधिकार था कि कर न देने वाले की सम्पत्ति को बेच दे। फिर भी भूमि पर लोगों का व्यक्तिगत स्वामित्व होने लगा था वे इच्छानुसार अपनी भूमि को दान कर सकते थे, बेच सकते थे, या गिरवी रख सकते थे। शिलालेखों में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनमें लोगों ने सरकार की अनुमति लिए बिना ही भूमि दान कर दी तथा सरकार को इस पर कोई आपत्ति नहीं हुई। प्रो० अलतेकर के कथनानुसार "निश्चित प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि कम से कम उत्तर बौद्धकाल में कृषि योग्य भूमि का स्वामित्व जनता को ही था और राज्य कर देने के सिवाय और किसी कारण से इस स्वत्व का अपहरण न हो सकता था। अतः राज्य को मिलने वाली रकम भूमिकर थी। भूमि का किराया नहीं।"

वाणिज्य और उद्योग कर (Tax on Business and Industry)

प्राचीन भारत मे राजकोष की अभिवृद्धि के लिए वाणिज्य और उद्योगों पर कर लगा दिये जाते थे। व्यापारियों को गांव मे या नगर में लाकर वस्तु बेचने पर कर देना पड़ता था। यह कर आज की भाषा में चुंगी कहा जा सकता है। इस कर का औचित्य बताते हुए यह कहा गया कि राज्य को सड़कों की मरम्मत और सुरक्षा में पर्याप्त खर्च करना पड़ता है। इसलिए इनका उपभोग करने वालों से कर लिया जावे। इस कर को वसूल करने वाला अधिकारी नगर या गांव के प्रवेश द्वार पर अथवा मुख्य बाजारों मे होता था। इस कर को वसूल करने की प्रक्रिया, स्थान विशेष की परम्पराओं पर आधारित थी। कहीं यह सामान के रूप में लिया जाता था, कहीं इसे नकद धन के रूप में प्राप्त किया जाता था। चुंगी की दरें वस्तु के अनुसार अलग अलग होती थी। आचार्यों ने विभिन्न वस्तुओं के नाम देकर उन पर लगाये जाने वाले करों की मात्रा का उल्लेख किया है। राज्य को जब जैसी आवश्यकता होती थी वह चुंगी कर के रूप मे परिवर्तन कर लेता था।

इस कर को विशेष आयोजनों के लिये की जाने वाली खरीद पर नहीं लगाया जाता था। कौटिल्य ने वधू को भेंट देने के लिए खरीदी जाने वाली साड़ियों, जेवरों आदि को कर मुक्त किया है। इसके अतिरिक्त विभिन्न धर्मों के अनुयायी अपने मन्दिरों की मूर्तियों के लिये जो आभूषण और वस्त्र खरीदते थे, उन पर भी कर नहीं लिया जाता था। इस नियम का कभी-कभी व्यापारियों द्वारा गलत रूप से भी फायदा उठा लिया जाता था। व्यापारी

लोग बौद्ध भिक्षुओं के साथ सोना और अन्य प्रकार के जेवर नगर में भेज देते थे। ये भिक्षुक उन्हें "बौद्ध मूर्तियों के लिए खरीदे हुए हैं" कहकर कर मुक्त करा लेते थे।

दुकान कर (Tax on Shops)

प्राचीन भारत में कुछ राज्यों में यह परम्परा थी कि वहां दुकानदारों की माप और तौल की भली प्रकार जांच करने के बाद उन पर मोहर लगाई जाये; इसके बदले में दुकानदारों को कुछ कर देना होता था। स्मृतिकारों ने इस कर का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु बाद के लेखों में इसके अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। मेगस्थनीज ने बिक्री कर का भी उल्लेख किया है, किन्तु अर्थशास्त्र आदि ग्रन्थों में बिक्री कर का उल्लेख न होने के कारण इसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है।

उद्योग-धन्धों पर कर (Tax on Artisans)

राज्य के कलाकारों और कारीगरों पर भी राज्य द्वारा कर लगाया जाता था। इस कर के पीछे यह धारणा थी कि राज्य का प्रत्येक नागरिक राज्य की सेवाओं से लाभान्वित होता है, इसलिए उसे राजकोष में योगदान करना चाहिए। इस दृष्टि से बढ़ई, कुम्हार, सुनार आदि पर श्रम के रूप में राज्य द्वारा कर लगाया जाता था। इन कारीगरों को महीने में एक या दो दिन राज्य के लिए कार्य करना पड़ता था। राज्य के द्वारा इस श्रम को लेने का अधिकार स्थानीय संस्थाओं को दे दिया जाता था ताकि वे सार्वजनिक निर्माण के कार्यों में इसका प्रयोग कर सकें। यह परम्परा बाद में बाध्यकारी श्रम और बेगार के रूप में परिवर्तित हो गई। जो गरीब व्यक्ति नकद रकम के रूप में कर नहीं दे सकते थे उन्हें शारीरिक श्रम के रूप में राज्य को कुछ देने की सुविधा दी गई। बेगार करते समय कर्ता को राज्य से भोजन प्राप्त होता था।

अन्य कर (The other Taxes)

राज्य द्वारा अन्य कर भी लिये जाते थे जो कि व्यक्तिगत रूप से प्रभावपूर्ण न होते हुए भी संयुक्त रूप से राजकोष की मात्रा को निश्चित करने में महत्व रखते थे। राज्य शराब के व्यापार पर पूर्ण नियन्त्रण रखता था। राजकीय सुरालय एवं व्यक्तिगत सुरालय दोनों में ही शराब बनाई जाती थी। निर्माताओं को पांच प्रतिशत आबकारी के रूप में राज्य को देना होता था। इसके अतिरिक्त खानों को राज्य की सम्पत्ति समझा जाता था। कुछ खानों को तो राज्य सरकार स्वयं ही खुदवाती थी और अन्य को ठेके पर दे देती थी। जिन खानों की सामग्री ठेकेदारों द्वारा निकाली जाती थी उन पर राज्य सरकार द्वारा भारी कर लिया जाता था। नमक को भी आबकारी कर का विषय बनाया गया। नमक की खानें भी सरकारी एवं गैर सरकारी प्रबन्धकों द्वारा संचालित की जाती थीं। पशुओं पर कर लिया जाता था। कृषि के अतिरिक्त पशुपालन भारत का एक मुख्य धन्धा था और इसलिए पशुओं के समूह पर कर लगाने की व्यवस्था की गई।

आपत्तिकालीन कर (Tax in Emergency Period)

आपत्तिकाल में जब राज्य का कोष हल्का रहता था तो, उसे विशेष कर लगाने की शक्ति प्रदान की गई। महाभारत ने इस प्रकार के विशेष करों को अच्छा नहीं माना है तो भी उसकी मान्यता है कि कभी-कभी इनके अति-रिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं रह जाता। जब कभी इस प्रकार का कर लगाना आवश्यक प्रतीत हो तो राज्य को जनता में अपने विशेष दूत भेजने चाहिए जो कि संकट के कारणों एवं स्वरूप को अच्छी प्रकार से समझा सकें और जनमत को कर संग्रह के पक्ष में ला सकें। कौटिल्य इन विशेष करों को 'प्रणय' एवं 'भेंट' कहकर पुकारता है। ये एक प्रकार के ऐच्छिक उपहार होते थे तथा इनको सही अर्थों में कर कहना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। उपहार देने वालों को राज्य द्वारा विशेष सम्मान एवं उपाधियाँ दी जाती थीं। इस उपाय से धन एकत्रित करने के लिए राज्य कूटनीतिक तरीका अपनाता था। समाहर्ता से मिले हुए लोग सबसे पहले अधिक से अधिक धन देते थे ताकि दूसरों को प्रोत्साहन मिले। इसके अतिरिक्त वे कम धन देने वालों को धिक्कारते भी थे ताकि राजकोष में अधिक धन एकत्रित किया जा सके। कौटिल्य ने संकटकाल में धन एकत्रित करने के लिए अनेक भेदपूर्ण तरीकों का वर्णन किया है। इन तरीकों में धोखा, झूठ, मक्कारी, बेईमानी आदि सभी साधनों को प्रयुक्त किया जा सकता था किन्तु प्रो० विनय कुमार सरकार ने इनकी तुलना मैकियावेली के तरीकों से नहीं की है जो कि नैतिकता जैसी कोई बात नहीं मानते। प्रो० सरकार के मतानुसार ये उच्च वित्त के वैज्ञानिक तरीके थे। धनवानों से धन निकलवाने का उस समय इससे अच्छा कोई उपाय नहीं था। महाभारत का शान्ति पर्व आपत्तिकाल में राजा को जनता से अपील करने के लिये कहता है। यह अपील कर्णप्रिय एवं नम्र शब्दों में होनी चाहिए तभी इसके वांछनीय परिणाम प्राप्त हो सकते हैं।

करों से छूट
(Exemption from Taxes)

प्राचीन भारत में करारोपण का यह मुख्य सिद्धान्त था कि समय, परिस्थिति, स्थान, व्यक्ति की क्षमता आदि विभिन्न तत्वों को ध्यान में रख कर कर लगाया जावे। परिस्थितियों के अनुसार नियमित कर से पूरी तरह से अथवा आंशिक रूप से छूट दे दी जाती थी। ऐसा करते समय औचित्य एवं न्याय का सदैव ही ध्यान रखा जाता था। जो व्यक्ति बंजर तथा ऊसर भूमि को कृषि योग्य बनाता था उससे राज्य प्रारम्भ में नाम मात्र का कर लेता था और बाद में बढ़ाते बढ़ाते वह उसे सामान्य स्तर पर लाता था। दूसरे जिन गांवों द्वारा राज्य की सेना में पर्याप्त सैनिक भेजे जाते थे उनको भी राज्य कर से मुक्त कर देता था।

तीसरे, अन्धे, बहरे, अपाहिज, गूंगे, रोगी आदि व्यक्तियों को उनकी गरीबी एवं असमर्थता के कारण राज्य करों से मुक्त कर देता था। जंगलों में रहने वाले तथा आश्रमों में विद्या का अध्ययन करने वाले लोगों पर भी कर

नहीं लगाया जाता था। जिस व्यक्ति को आय का कोई साधन ही नहीं है उस पर कर लगाना अनुचित तथा अन्यायपूर्ण होता। इस कर को चुकाने के लिए उस व्यक्ति को अपने कर्त्तव्य पालन के मार्ग से हट कर असामाजिक तरीके अपनाने पड़ते। चौथे, विद्वान ब्राह्मण को भी स्मृतिकारों ने कर मुक्त रखने को कहा है। ये विद्वान अपना सारा जीवन विद्या के अध्ययन तथा अध्यापन में ही लगा देते थे। इनके पास धन का कोई काम ही नहीं था। विष्णु पुराण आदि कुछ ग्रन्थों में ब्राह्मण वर्ग को ही कर मुक्त करने की बात कही गई है, किन्तु यह अधिकांश ग्रन्थों को मान्य नहीं है और न ही इसे व्यवहार में प्रयुक्त किया जाता था। प्राचीन भारत में किसी भी व्यक्ति अथवा वर्ग को राज कर से मुक्ति एक विशेषाधिकार के रूप में प्राप्त नहीं होती थी वरन् इसका मुख्य आधार सम्बन्धित व्यक्ति की कर दान करने की क्षमता था।

उपसंहार . . . . .

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत में करारोपण के पीछे कुछ निश्चित सिद्धांत कार्य कर रहे थे जिनके सम्बन्ध में कुछ अन्तरों को छोड़ कर प्रायः सभी आचार्य एक मत रहे। इन सिद्धांतों का व्यवहार में बहुत कुछ पालन किया गया। राजकोष की वृद्धि को वांछनीय मानते हुए भी उसके लिए ऐसे साधन प्रयुक्त नहीं किये गये जो कि अनुचित, अन्यायापूर्ण एवं समाज विरोधी थे। प्राचीन भारतीय राज्यों द्वारा लिया जाने वाला कर राज्य के कल्याण, राज्य की रक्षा एवं विकास में व्यय किया जाता था। अपने कर्त्तव्यों का पालन न करने वाला राजा इन करों को पाने का अधिकारी नहीं था। प्रजा के विद्रोह के कारण वह इस लोक में अपने राज्य से तथा परलोक में स्वर्ग-सुख से हाथ धो बैठता था।

१४

अन्तर्राज्यीय सम्बन्ध और कूटनीति
(INTER-STATE RELATIONS AND DIPLOMACY)

अब तक हमने प्राचीन भारतीय राजनीति से सम्बन्धित जिन विभिन्न विषयों का अध्ययन किया उनका क्षेत्र एक राज्य था। हमने यह देखा कि राज्य का जन्म और विकास किस प्रकार हुआ तथा उसे क्या कार्य सौंपे गये; एक लोक कल्याणकारी राज्य का प्राचीन भारत में क्या स्वरूप था; नागरिकों का राज्य के साथ क्या सम्बन्ध था; सम्पत्ति का स्वामित्व व्यक्तिगत था अथवा राज्य का; उस समय सरकार का संगठन किस प्रकार किया जाता था, और उसे क्या कार्य सौंपे जाते थे, इसके अतिरिक्त राज्य की व्यवस्थापिका व न्यायपालिका का स्वरूप व कार्यों की प्रकृति क्या थी। इन सबके अतिरिक्त हमने राज्यों के विभिन्न रूपों का अध्ययन करने की भी चेष्टा की। कुल मिला कर यह कहा जा सकता है कि अब तक के सारे अध्ययन में हमारी रुचि का केन्द्र बिन्दु एक राज्य का संगठन एवं कार्य-प्रक्रिया थी। प्राचीन भारतीय आचार्यों ने केवल इस पर विचार करके ही अपने आपको सन्तुष्ट नहीं कर लिया वरन् तत्कालीन राज्यों के आपसी सम्बन्धों को भी पर्याप्त महत्व की दृष्टि से देखा।

प्राचीन भारत में राज्यों का आकार छोटा, किन्तु फिर भी उनके पारस्परिक सम्बन्धों में जो सिद्धान्त और नियम लागू होते थे, उनमें से अधिकांश आज भी उतने ही महत्वपूर्ण हैं। प्राचीन भारतीय आचार्यों ने नागरिकों की सुरक्षा का राज्य का मुख्य उत्तरदायित्व माना था। इस सुरक्षा का एक पहलू स्वदेश में शान्ति की स्थापना था और दूसरा पहलू अन्य राज्यों के आक्रमणों से देश की रक्षा करना था। ग्रन्थों का अध्ययन करने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि मनु-स्मृति, याज्ञवल्क्य-स्मृति, शुक्र-नीति, अग्नि-पुराण, अर्थशास्त्र आदि में राज्य की आन्तरिक व्यवस्था की अपेक्षा अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों पर अधिक पृष्ठ लगाये गये हैं। प्रत्येक राज्य को अपने आस-पास के राज्यों से सम्बन्ध रखना होता था, यह सम्बन्ध मित्रता और शत्रुता दोनों ही प्रकार का हो सकता था। इन अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों को भारतीय विचारकों ने निम्न शीर्षक के आधीन स्पष्ट किया है।

प्राचीन भारत में यह जरूरी समझा गया था कि प्रत्येक राज्य के अन्य मित्र राज्य भी होने चाहिए। राज्यों के बीच सदैव शक्ति का संघर्ष चलता रहता है। इस संघर्ष में जो राजा अकेला रह जाता है, उसे अनेक कठिनाइयों, आपत्तियों और कष्टों का अनुभव करना होता है। ऐसी स्थिति में यह जरूरी था कि प्रत्येक राज्य अपने मित्रों की संख्या बढ़ाए और अधिक से अधिक राजाओं को अपने साथ रखने का प्रयास करे ताकि अन्य कोई राष्ट्र उस पर हावी न हो सके। मित्रों से घिरा हुआ राज्य अपने किसी भी आक्रमणकारी को तथा अधार्मिक राजा को आसानी से वश में कर सकता था।

प्राचीन भारतीय राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को अन्तर्राष्ट्रीय की अपेक्षा अन्तर्राज्यीय कहना अधिक उपयुक्त है, क्योंकि उस समय भारत में राष्ट्र राज्य के सिद्धान्त का विकास नही हो पाया था। छोटे छोटे सम्प्रभु राज्य होते हुए भी वे एक दूसरे को पराया या विदेशी नहीं मानते थे। विदेश के राज्यों से इनका सम्बन्ध या तो बिल्कुल ही नहीं था और यदि था भी तो केवल नाम मात्र का। ऐसी स्थिति में उन राज्यों की विदेश नीति का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। विभिन्न राज्यों के बीच वैदिक काल में जो सम्बन्ध था उसकी हमें स्पष्ट सूचना प्राप्त नहीं होती। सम्भवतः विदेशी जातियों से सघर्ष करते रहने के कारण इन राज्यों का पारस्परिक सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण रहा होगा। कभी कभी कुछ व्यक्तिगत कारणों से यह राज्य आपस में भी उलझ जाते थे। बाद में राज्यों का आकार कुछ बड़ा हुआ। उस समय राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों पर अधिक जोर दिया जाने लगा। महाकाव्य काल के राज्य न केवल आर्य-राज्यों से वरन् अनार्य राज्यों से भी मित्रता और शत्रुता का सम्बन्ध रखते थे।

मिस्टर एच० सी० चटर्जी के मतानुसार प्राचीन भारत में राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का विकास विभिन्न सोपानों पर होता हुआ आगे बढ़ा। वैदिक काल में राज्य छोटे तथा जनजातीय थे। उन्हों ने अपने पारस्परिक सम्बन्धों का एक स्तर बना रखा था। वे लड़ते थे और मित्रता भी करते थे। विकास का दूसरा सोपान महाकाव्य काल को माना गया है। इस काल में धर्म, युद्धों का विकास हुआ; अश्वमेध, राजसूय आदि यज्ञों द्वारा राज्यों के आपसी सम्बन्धों में फेर बदल की जाती रही। महाकाव्यों के इस काल में अन्तर्राज्यीय कानून का जन्म हुआ और उससे सम्बन्धित अनेक महत्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किये गये। विकास का तीसरा सोपान सिकन्दर महान के आक्रमण और विजय से प्रारम्भ होता है। इस काल में भारतीय राज्यों ने विदेशियों के साथ सम्बन्धों का विकास किया। चौथे सोपान में राज्यों के आपसी सम्बन्धों का निर्धारण धर्म द्वारा किया जाने लगा। बौद्ध धर्म और जैन धर्म ने राज्यों की पारस्परिक मैत्री एवं शत्रुता को पर्याप्त प्रभावित किया। विकास का पाँचवा काल पौराणिक युग को माना गया है और अन्तिम काल मुस्लिम आक्रमणों और गुप्त वंश के राजाओं के पतन के बीच का रहा।

राज्यों के स्तर
(The Power Position of States)

प्राचीन भारत में स्थित राज्य आकार, शक्ति एवं क्षमता आदि की दृष्टि से एक जैसे नहीं थे। इन दृष्टियों से उनके बीच में पर्याप्त अन्तर था। कुछ राज्य दूसरों की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्रता व सम्प्रभुता का उपभोग करते थे। राज्यों के बीच शक्ति की दृष्टि से भी पर्याप्त अन्तर था। मनु ने राज्यों की स्थिति, सामर्थ्य और पारस्परिक व्यवहार आदि की दृष्टि से राज्यों को मुख्यतः चार श्रेणियों में विभाजित किया है। ये थीं—मध्यम राज्य, शत्रु राज्य, मित्र राज्य और उदासीन राज्य। मनु का मत था कि प्रत्येक राज्य का पड़ोसी राज्य उसका शत्रु राज्य होता है। शत्रु राज्य से परे और उससे सटा हुआ राज्य उसका मित्र होता है। मनु ने मध्यम राज्य और उदासीन राज्य के स्वरूप के सम्बन्ध में अधिक कुछ नहीं कहा है।

कौटिल्य ने पद और स्थिति के आधार पर राज्यों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है—समराज्य, बलवान राज्य और हीन राज्य। कुछ राज्य तो पूर्ण रूप से प्रभुत्व सम्पन्न होते थे। इन के अधिपति को सम्राट अधिराज, एकराट् या स्वराट आदि उपाधियों से विभूषित किया जाता था। इस प्रकार के राज्य बलवान राज्य थे। हीन राज्यों द्वारा सम्प्रभुत्व का आंशिक रूप में प्रयोग किया जाता था। ऐसे राज्यों के अधिपति सामन्त होते थे। उनका स्तर राजाओं की श्रेणी में पर्याप्त नीचा था। उनके द्वारा राजाओं को भेंट तथा उपहार दिये जाते थे। समराज्य कौटिल्य उन राज्यों को कहते हैं जिन की शक्ति और स्तर प्रायः एक समान होता था। कौटिल्य का कहना था कि विजय की इच्छा रखने वाले राजा को अपने समान और अपने से बलवान राज्यों के साथ संधी कर लेनी चाहिए किन्तु हीन राज्य के साथ उसे युद्ध करना चाहिए। कौटिल्य का विचार था कि यदि अपने से शक्तिशाली से युद्ध किया तो वह उसी प्रकार होगा जैसे कि एक पैदल चलने वाला व्यक्ति हाथी पर चढ़े हुए व्यक्ति के साथ लड़ाई करे। दो सम राजाओं के बीच के संघर्ष को उन्होंने कच्चे मिट्टी के बर्तनों के परस्पर टकराने का संघर्ष माना है, जिसके परिणाम स्वरूप उन दोनों का विनाश निश्चित था। अपने से हीन के साथ युद्ध करने पर सफलता उसी प्रकार निश्चित होती है जिस प्रकार कि घड़े पर पत्थर की चोट लगाने से उसका फूटना निश्चित होता है।

प्राचीन भारत के राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन करते समय एक बात तो यह ध्यान में रखनी चाहिए कि उस समय इन राज्यों को अलग अलग करने वाली प्राकृतिक सीमाएं नहीं थी और इसलिए उनके बीच समय समय पर झड़पें होती रहती थी। इसके साथ ही वैदिक काल की संस्कृति एवं धार्मिक परम्पराओं ने राजा के सामने एक बड़े साम्राज्य का आदर्श रखा। प्रत्येक राजा यह चाहता था कि वह राजाओं का राजा बने तथा सम्राट पद प्राप्त करे। अपनी इस इच्छा को पूरा करने के लिए उसे जब भी अवसर प्राप्त होता, वह किसी भी राज्य पर चढ़ाई कर देता था फलतः राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में अस्थिरता आ गई। राज्यों की शक्ति-स्थिरता में आये दिन परिवर्तन होते रहते थे।

मण्डल का सिद्धांत
(The Doctrine of MANDALA)

राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का स्वरूप निर्धारण करते समय प्राचीन भारतीय आचार्यों ने मण्डल के सिद्धान्त की रचना की। मण्डल के सिद्धान्त का अर्थ यह था कि अन्य राज्यो से ठीक प्रकार के सम्बन्ध रखने की इच्छा करने वाले राज्य को यह प्रयत्न करना चाहिये कि वह अपने विरोधी शत्रुओं तथा उनके सहायकों के अनुपात में ही अपने सहायकों और मित्रों को बढ़ाये ताकि वह उन सभी पर नियन्त्रण रख सके। इस प्रकार मण्डल का सिद्धान्त शक्ति संतुलनका व्यावहारिक रूप था। प्रो० अलतेकर लिखते हैं कि "स्मृति और नीति ग्रन्थकारों की प्रख्यात 'मण्डल' नीति शक्ति संतुलन के सिद्धान्त पर ही आधारित थी। इन आचार्यों ने ······ दुर्बल राज्यों को अपने पड़ोसी शक्तिशाली राज्यों से सावधान रहने की सलाह दी है और इसको विस्तार नीति से अपनी रक्षा के हेतु अन्य समान या न्यूनाधिक बल वाले राज्यों से मैत्री स्थापित करके ऐसा मण्डल बनाने की सलाह दी है जिस पर आक्रमण करने का शत्रु को साहस ही न हो।"[1] शुक्र, मनु कामदक एवं कौटिल्य ने इस सिद्धान्त का विस्तार के साथ वर्णन किया है। इस प्रकार भारतीय आचार्यों के अनुसार विजिगीषु (विजय की इच्छा रखने वाला राजा) राजा उसके शत्रु एवं मित्र तथा सहायक, उसके शत्रु के अन्य सहायक और अन्य मध्यम और उदासीन राजाओं को मिलाकर मण्डल बनता था। इस मण्डल में मुख्य रूप से चार प्रकार के राजाओं को सम्मिलित किया गया। विजिगीषु, शत्रु, मध्यम और उदासीन। इनमें मध्यम और उदासीन को एक ही समझा गया। इस प्रकार मण्डल के मूल तत्व अथवा प्रकृतियां केवल तीन रहीं। इन प्रकृतियों का उपयुक्त आयोजन ही मण्डल का संचालन कहलाता था। मण्डल की कुल प्रकृतियां १२ होती थी। जिन आचार्यों ने मण्डल का पूरा वर्णन किया है उन्होंने इन १२ प्रकृतियों का वर्णन किया है। विजिगीषु राजा और उसका शत्रु दोनों ही एक दूसरे को हराने की गरज से अपनी-अपनी शक्तियां बढ़ाने का प्रयास करते हैं। वे अपने मित्रों का क्षेत्र बढ़ाते है और शत्रुओं का क्षेत्र कम करते हैं।

मनु ने मण्डल की एक मूल प्रकृति राज्य के स्वामी को माना है। इस स्वामी के अतिरिक्त पांच अन्य प्रकृतियां भी होती हैं। इसी प्रकार की छः प्रकृतियां शत्रु राज्य और मित्र राज्य की भी होती हैं। इन १८ प्रकृतियां को मिला कर एक लघु मण्डल बनता है। इन १८ प्रकृतियों में से एक को मूल प्रकृति माना गया तथा अन्य १७ प्रकृतियों को शाखा प्रकृति कहा गया। वृहत् मण्डल में मध्यम राज्य, शत्रु राज्य, मित्र राज्य और उदासीन राज्य इस प्रकार चार राज्य होते थे। इनकी एक-एक मूल प्रकृति और १७ १७ शाखा प्रकृतियां होती थी। दूसरे शब्दों में प्रत्येक वृहत् मण्डल में चार मूल प्रकृतियां

1. प्रो० अलतेकर, पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ—२२४

और ६८ शाखा प्रकृतियाँ तथा कुल मिला कर ७२ प्रकृतियाँ होती थीं। मनु के मतानुसार राजा को इनकी पूर्ण जानकारी होनी चाहिए।

कौटिल्य ने भी राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों का वर्णन करने के लिए मण्डल सिद्धांत का आश्रय लिया है। उन्होंने इस सिद्धान्त की दृष्टि से राज्यों को चार श्रेणियों में विभाजित किया—अरि, मित्र, मध्यम और उदासीन। इनमें से प्रत्येक राज्य का एक मण्डल होता है और उस प्रत्येक मण्डल में राज्य, उसका शत्रु राज्य, उसका मित्र राज्य, मध्यम राज्य तथा उदासीन राज्य रहते हैं। कौटिल्य द्वारा वर्णित राज्य के इन रूपों की विशेष जानकारी प्राप्त करना अधिक उपयुक्त रहेगा।

अरि राज्य—कौटिल्य अरि राज्य को तीन भागों में विभाजित करते हैं ये थे—प्रकृति, सहज और कृत्रिम। राज्य की सीमा से सटा हुआ शत्रु राज्य अर्थात् अरि राज्य माना गया। इन्हें प्रकृति अरि कहने का अर्थ यह था कि ये राज्य स्वाभाविक रूप से शत्रु बन जाते हैं। इनका मित्रता पूर्ण व्यवहार आश्चर्यजनक प्रतीत हो सकता है किन्तु शत्रुता पूर्ण व्यवहार में कोई विशेष बात नहीं होती। सहज अरि वे होते हैं जो कि राजा के स्वयं के वंश के ही होते हैं। पारस्परिक कटुता, वैमनस्य और ईर्ष्या की भावना उन्हें सहज रूप से शत्रु बना लेती है। तीसरे प्रकार के शत्रु वे माने गये जो कि अपनी ओर से शत्रुता पूर्ण व्यवहार करने थे इन्हें कृत्रिम अरि कहा गया। प्राचीन भारत में राजाओं की विजय आकांक्षा पर्याप्त बढ़ी-चढ़ी थी। उनकी सीमाएं एक दूसरे से सटी होने के कारण उनमें निरन्तर सीमा विवाद रहता था। प्रत्येक राजा अपने क्षेत्र को बढ़ाने के लिए और पड़ोसी राज्य की भूमि को हड़पने के लिए कोई न कोई षड्यन्त्र करता रहता था।

मित्र राज्य—कौटिल्य मित्र राज्यों को भी तीन भागों में विभाजित करते हैं। जो राज्य एक राज्य की सीमा से सम्बद्ध सीमा वाले अरि राज्य की दूसरी सीमा पर स्थित हैं उनको कौटिल्य ने प्रकृति मित्र राज्य कहा है। राजा के माता-पिता से सम्बन्धित राज्य सहज मित्र कहे गये हैं। धन और जीवन की रक्षा के लिए जब कोई राजा अन्य राजा का आश्रय ग्रहण करता है तो वह आश्रय देने वाले का कृत्रिम मित्र बन जाता है। इसे कृत्रिम मित्र कहने का अर्थ यह है कि स्वाभाविक रूप से वह मित्र नहीं है किन्तु फिर भी आवश्यकता के कारण उसने मैत्री स्वीकार की है।

मध्यम राज्य—मध्यम राज्य विजिगीषु और अरि राज्य के बीच स्थित होता है। यह राज्य इन दोनों को एक ही साथ सहायता देने तथा निग्रह करने की सामर्थ्य रखता है। इस प्रकार मध्यम राज्य की दो विशेषताएं हैं—१. यह राज्य विजिगीषु और अरि राज्य दोनों की सीमा पर स्थित होता है। २ मध्यम राज्य इतना शक्तिशाली होता है कि आवश्यकता पड़ने पर वह इन दोनों राज्यों पर एक साथ अथवा अलग अलग अनुग्रह कर सकता है। आज की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भी केवल वही राज्य दो राज्यों के बीच समझौता कराने में सफल होता है जो कि उनमें से प्रत्येक को अपना

दोनों को सहायता या दण्ड देने की क्षमता रखे। जब तक मध्यस्थ राज्य का प्रभाव और आतंक दोनों पक्षों पर नहीं होता तब तक दो विरोधियों के बीच समझौता कराना मुश्किल है।

उदासीन राज्य—कौटिल्य ने उदासीन राज्य की संज्ञा उस राज्य को दी है जो कि विजिगीषु, अरि और मध्यम राज्यों से परे हैं। यह राज्य अपनी प्रकृतियों में सम्पन्न होता है तथा बलशाली होता है। इसकी क्षमता इतनी होती है कि यदि वह चाहे तो अन्य तीनों प्रकार के राज्यों पर पृथक-पृथक अथवा सभी पर एक साथ अनुग्रह या निग्रह कर सके। इस प्रकार कौटिल्य का यह उदासीन राज्य शक्तिहीन अथवा प्रभावहीन राज्य नहीं होता था वरन् ठीक इसके विपरीत था।

कौटिल्य उपर्युक्त राज्यों को राज्य मण्डल की इकाइयां मानते हैं। इन इकाइयों में से प्रत्येक का पृथक से अपना राज्य मण्डल होता है। विजयाभिलाषी राज्य उसका मित्र और उसके मित्र के मित्र का राज्य इनके तीन राजा तीन प्रकृति के कहे गये हैं। इन तीनों राज्यों में प्रत्येक राज्य की पांच-पांच प्रकृतियां (मन्त्री, कोष, दण्ड, जनपद और पुर) होती हैं। इस प्रकार कुल १८ (१५+३) प्रकृतियां हुईं जो कि एक राज्य मण्डल का निर्माण करती हैं। जब उपर्युक्त चारों प्रकार के राज्यों का एक वृहद् राज्य मण्डल बनता है तो उसमें १२ राज्य प्रकृतियां और ६० द्रव्य प्रकृतियां होती है। इस प्रकार कुल मिला कर ७२ प्रकृतियों का एक वृहद् राज्य मण्डल बनता है। कौटिल्य राज्य मण्डल की तुलना एक चक्र से करते है। इस चक्र में फंसा हुआ बलवान शत्रु भी आसानी से उखाड़ा या पीड़ित किया जा सकता है। राजधर्म निबन्धकारों में चण्डेश्वर ने भी मण्डल सिद्धांत को राज्य की बाह्य नीति का आधार माना है। उनका कहना है कि प्रत्येक राजा को देशकाल और परिस्थितियों के अनुसार राज मण्डलों की रचना करते रहना चाहिए और इन मण्डलों के माध्यम से अपने शत्रु को निर्बल तथा क्षीण करके स्वयं को सबल और समृद्ध बनाना चाहिए। इनके अतिरिक्त याज्ञवल्क्य और कामंदक आदि ने भी मण्डल सिद्धांत का वर्णन किया है।

मण्डल सिद्धान्त के सम्बन्ध में कुछ एक बातें महत्वपूर्ण रूप से ध्यान में रखने योग्य हैं। इस सम्बन्ध में पहली बात तो यह है कि मण्डल सिद्धांत मूल रूप से विजिगीषु का सिद्धांत है। इसके पीछे विस्तारवादी नीति के तत्व काम करते हैं। अधिकांश भारतीय ग्रन्थ 'टूट जाओ पर मुड़ो मत" का उपदेश देते हैं। उनके द्वारा व्यक्ति को निरन्तर आगे बढ़ने का सदेश दिया जाता है। वे सम्मान और प्रगति को जीवन से भी अधिक महत्व देते है। इस वातावरण मे रह कर प्रत्येक भारतीय राज्य अपनी सामर्थ्य का ध्यान न रखते हुए भी विजय की कामनाएं करने लगता था। मण्डल सिद्धांत को विजिगीषुओं ने अपने अस्तित्व के लिए, अपना प्रभाव जमाने के लिए और विश्व राज्य स्थापित करने के लिए प्रयुक्त किया। प्रो० विनयकुमार सरकार के शब्दों में

"यह सिद्धान्त एक गत्यात्मक तत्व है जो कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के शक्ति-सन्तुलन और यथास्थिति को भंग करने के लिए रखा गया।"[1]

कौटिल्य ने माना है कि प्रत्येक राज्य की यह महत्वकांक्षा होती है कि वह अपनी जनता के लिए शक्ति और प्रसन्नता प्राप्त कर सके। स्वयं कामदक भी राजा की इस महत्वकांक्षा का उल्लेख करते हैं, उनके अनुसार प्रत्येक राजा अपने आपको इस व्यवस्था की नाभि अथवा केन्द्र बनाना चाहता है। वह हमेशा इस बात के लिए प्रयत्नशील रहता है कि जिस प्रकार चन्द्रमा के चारों ओर तारों का चक्र होता है उसी प्रकार उसका प्रभाव क्षेत्र विकसित हो जावे। उसके पूर्ण प्रभाव क्षेत्र में मित्र, शत्रु एवं उदासीन सभी राज्य आते हैं। ऐसी स्थिति में आचार्यों के अनुसार राजा को सदैव ही तैयार रहना चाहिए। मनु के अनुसार प्रत्येक राजा को सदैव ही अपने दण्ड के साथ तैयार रहना चाहिए। वह अपनी शक्ति को सुरक्षित रखता हुआ नीतियों को भली प्रकार संरक्षित रखे उसे हमेशा शत्रु की कमजोरी पर निगाह रखनी चाहिए। इसके अतिरिक्त विजय के मार्ग में आने वाली समस्त बाधाओं का उसे एक-एक करके निराकरण करते रहना चाहिए। हमेशा तैयारी की स्थिति में रहने का औचित्य इसकी 'स्वाभाविकता' द्वारा बताया गया। आचार्यों का कहना था कि जिस प्रकार मानव शरीर में सदैव रक्त संचार होते रहना चाहिए उसी प्रकार राज्य में सदैव शक्ति की तैयारी चलनी चाहिए।

प्राचीन भारतीय आचार्य वास्तविक राजनीति के विचारक थे। शुक्र के मतानुसार सभी शासक अभिमानतापूर्ण होते हैं। इनमें से जो उठना चाहता है महान बनना चाहता है, सद्गुण सम्पन्न और शक्तिशाली है, उसके सभी गुप्त शत्रु बन जाते हैं। ऐसा होना स्वाभाविक भी है क्योंकि प्रत्येक राजा को अतिरिक्त प्रदेश की चाह रहती है और इसलिए ऐसी ही चाह रखने वाले प्रत्येक अन्य को वह अपना गुप्त शत्रु समझने लगता है। अन्तर्राष्ट्रीय मनोविज्ञान की इस स्थिति को स्वीकार करते हुए कामदक ने यह सुझा था है कि शत्रुओं से बचने के लिए जब कभी संभव हो सके अपने रक्त सम्बन्धियों को नियुक्त करना चाहिए। उनका कहना है कि जहर के प्रभाव को जहर से मिटाया जा सकता है हीरे को हीरे से काटा जा सकता है और हाथी को अन्य हाथी के द्वारा ही बस में किया जाता है। इसलिए सम्बन्धियों के प्रभुत्व को मिटाने के लिए अन्य सम्बन्धियों को प्रोत्साहन देना चाहिए। जिस प्रकार छोटी मछलियां बड़ी मछलियों द्वारा दबाई या नष्ट की जा सकती हैं, उसी प्रकार सम्बन्धियों की विरोधी शक्तियां पारस्परिक संघर्ष में समाप्त हो जाएगी और राजा को कोई नुकसान न होगा। कामदक अपनी इस नीति के उदाहरण स्वरूप राम की कूटनीति का उल्लेख करते हैं जिसके अनुसार रावण को समाप्त करने के लिए राम ने विभीषण का हाथ पकड़ा।

---

1. The Conception is thus all together a dynamic factor calculated to disturb the equilibrium and status quo of International Politics

—B. K. Sarkar, op cit. page 215

इस यथार्थवादी राजनीति की भूमि में कोई भी विजिगीषु पवित्र भावनाओं से युक्त नहीं रह सकता था और न ही आदर्शवादी स्वप्न दर्शकों की कल्पनात्मक राजनीति में विश्वास रख सकता था। उन्होंने संसार को एक युद्ध-भूमि माना और युद्ध में प्रत्येक चीज को उचित स्वीकार किया।

मण्डल सिद्धांत का एक दूसरा पहलू पारस्परिक सम्बन्धों में राज्यों के अधिकारों से सम्बन्ध रखता है। जहां अस्तित्व के लिए संघर्ष चल रहा हो वहां एक राज्य का सही स्थान किस प्रकार तय किया जाए। महाभारत के भीष्म के अनुसार अधिकार वह होता है जिसे शक्ति सम्पन्न व्यक्ति अधिकार मानते हैं। उनके अनुसार विजय समस्त अधिकारों की जननी है। अप्रसिद्धि की अपेक्षा मृत्यु के वरण को अधिक उपयुक्त माना गया। कौटिल्य और कामंदक ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में अपनाये जाने वाले प्रारम्भिक सिद्धांतों का स्पष्ट रूप से वर्णन किया है। कामंदक यह मानकर चलते हैं कि राज्य के चारों ओर शत्रु बसे हुए हैं उनके बाद वाले मित्र हैं तथा चारों ओर दूरी पर पुनः शत्रुओं का बसेरा है। विजिगीषु एवं उसके शत्रुओं के बीच हमेशा युद्ध की स्थिति रहती है।

अन्तर्राज्यीय राजनीति के उपाय
(The Means of Inter-state Politics)

उपर्युक्त मण्डल के अन्तर्गत राजनीति का संचालन जिन साधनों से किया जाता था उन्हें प्राचीन भारतीय आचार्यों ने विभिन्न उपायों का नाम दिया है। मनु के मतानुसार विजिगीषु राजा को मण्डल की विभिन्न प्रकृतियों के प्रति चार उपायों से व्यवहार करना चाहिए। ये हैं साम-दाम भेद और दण्ड। इनको मनु साम आदि उपायों का नाम देते हैं। मनु के शब्दों में "विजय चाहने वाले राजा को चाहिए कि वह अपनी परिपन्थियों को साम आदि विभिन्न उपायों के द्वारा वश में करे।" दण्ड द्वारा दमन केवल तभी किए जाएं जबकि अन्य तीनों उपाय असफल हो जावें। इस प्रकार दण्ड का प्रयोग राजा की मजबूरी का प्रतीक है।

कौटिल्य ने इन उपायों की विस्तार के साथ व्याख्या की है। कौटिल्य का कहना है कि दुर्बल राजाओं को साम और दान के माध्यम से वश में करना चाहिए। ऐसे राजा या तो समझाने बुझाने से मान जाते हैं अथवा उन्हें कुछ दे दिया जाए तो वह सन्तुष्ट हो जाते है। सबल राजाओं को वश में करने के लिए भेद और दण्ड उपाय काम में लेने चाहिए।

कामंदक ने भी राजा की सफलता के लिए उपायों का आश्रय लेने की बात कही है। इन उपायों का प्रयोग करते समय राजा को देश, काल, समय परिस्थिति एवं आवश्यकता पर विचार करना चाहिए। कामंदक का कहना है कि उपाय से मतवाले हाथियों के मस्तक पर भी पांव रखा जा सकता है, लोहे को गलाया जा सकता है और अन्य असाध्य कार्य किये जा सकते हैं। लोकप्रिय कहावत के अनुसार जल अग्नि को बुझा देता है किन्तु यदि उपाय से काम लिया जाए तो अग्नि से जल को सुखाया जा सकता है।

कामंदक ने परम्परागत चार उपायों के अतिरिक्त तीन अन्य उपाय भी माने हैं और इस प्रकार वे निम्नलिखित सात उपायों को मान्यता देते हैं—

१ साम—इस उपाय के अनुसार शत्रु या बिगड़े हुए मित्र को समझाया बुझाया जाता है और इस प्रकार उसे अपने अनुकूल बनाया जाता है। साम नीति का प्रयोग करते हुए किए हुए उपकारों का वर्णन किया जाता है एक दूसरे के गुणों की प्रशंसा की जाती है एक दूसरे के सम्बन्धों की प्राचीनता बताई जाती है भविष्य में किये जाने वाले अच्छे कार्यों को प्रकाशित किया जाता है और स्वयं का समर्पण करते हुए यह कहा जाता है कि मैं तुम्हारा हूं। इस उपाय का प्रयोग करते समय इस प्रकार की वाणी का प्रयोग करना चाहिए कि दूसरे को उद्वेग न हो यह वाणी सरल सत्य व प्रिय होती है। जहां तक सम्भव हो सके राजाओं को साम नीति का प्रयोग ही करना चाहिए। कामंदक के कथनानुसार इस उपाय का प्रयोग करके ही देवताओं ने क्षीर सागर का मन्थन किया और अमृत की प्राप्ति की।

२ दान—शत्रुओं एवं बिगड़े हुए मित्रों को शान्त करने का यह एक दूसरा उपाय है। साम की भांति दान के भी कई भेद हैं—किसकी वस्तु को ज्यों की त्यों लौटा देना दान का एक भेद है। शत्रु के अधिकार में आई हुई भूमि के दान का अनुमोदन करना इसका दूसरा भेद है। दूसरे के द्वारा स्वयं दान ग्रहण करना इसका तीसरा भेद है। शत्रु राज्य से लूट में प्राप्त धन को उसी के पास छोड़ देना या उसके कर को माफ करना इसका अन्य भेद है। कौटिल्य ने भी दान के इन भेदों को मान्यता दी है।

३ भेद—इस उपाय को अपना कर शत्रु अथवा बिगड़े हुए मित्रों के बीच भेद डाल दिया जाता था। यह उपाय भी कई प्रकार का हो सकता है। इसके प्रथम प्रकार में विभिन्न साधनों से शत्रुओं के बीच स्थित स्नेह भावों को दूर किया जाता है। उनके प्रिय जनों को एक दूसरे का विरोधी बना दिया जाता है। भेद के दूसरे प्रकार से शत्रुओं के बीच संघर्ष पैदा कर दिया जाता है। शत्रु के मन्त्री सेनापति एवं अन्य अधिकारी एक दूसरे के साथ धृष्टता का व्यवहार करने लगते हैं। भेद के अन्य प्रकारों में शत्रु को धमकी देकर उनके तथा उसके सहायकों के बीच भेद पैदा कर दिया जाता है।

जिन पुरुषों में भेद पैदा किया जाना चाहिए, कामन्दक ने उनके लक्षणों का वर्णन किया है। जिस मनुष्य को अपनी दी हुई वस्तु का मूल्य नहीं मिला जो लोभी मानी और तिरस्कृत है जो क्रोधी है तथा किसी कारण से नाराज हैं उन पर इस प्रकार के उपाय का प्रयोग किया जा सकता है। कुलीन पुरुषों का भेद सबसे भयानक होता है। इनके अतिरिक्त मन्त्री अमात्य एवं पुरोहित आदि का भेद भी राज्य को नष्ट कर देता है। व्यक्ति विशेष को देखकर उसकी भावनाओं एवं महत्त्वाकांक्षाओं को पहचानकर उस पर भेद नीति का प्रयोग करना चाहिए।

४ दण्ड—यह अन्तिम उपाय है जो कि अपकार करने वाले शत्रु के प्रति प्रयुक्त किया जाता है। इस उपाय का प्रयोग करते समय शत्रु का

वध किया जा सकता है, उसका धन छीना जा सकता है तथा शारीरिक रूप से उसे विशेष कष्ट दिया जा सकता है। कामन्दक प्रकट और अप्रकट अथवा प्रकाश और अप्रकाश दो प्रकार के दण्ड मानते हैं। उनका कहना है कि प्रजा के विरुद्ध और द्वेषी पुरुषों को प्रकाश दण्ड देना चाहिए किन्तु जिनको दण्ड देने से प्रजा उत्तेजित हो जाती है उनको अप्रकाश दण्ड देना चाहिए।

५. **माया**—आवश्यकता के अनुसार शत्रु का नाश करने के लिए छल, कपट से पूर्ण व्यवहार भी किया जा सकता था। कामन्दक के अनुसार इच्छानुसार रूप धारण कर लेना, जल तथा शस्त्रास्त्र की वर्षा करना एवं अन्धकार में विलीन हो जाना आदि को मानुषी माया कहा जा सकता है। उनके कथनानुसार भीष्म ने स्त्री का रूप धारण करके कीचक का वध कर दिया। दिव्य माया से राजा नल बहुत समय तक अपना स्वरूप छिपाये हुये सारथी के रूप में राजा ऋतुपर्ण की सेना में रहा।

६. **उपेक्षा**—जब कोई दूसरा व्यक्ति उपकार करता है तो उसका अहसान मानना चाहिए, किन्तु यदि किसी विशेष परिस्थिति के कारण उसकी ओर से आंख मींच ली जाए तथा जानबूझ कर चुप रहा जाय तो उसे उपेक्षा उपाय का अवलम्बन कहा जायेगा। उपेक्षा, अन्याय व्यसन, और युद्ध तीनों स्थितियों में की जा सकती थी।

७. **इन्द्रजाल**—शत्रु को भयभीत करने के लिए इन्द्रजाल का सहारा लिया जा सकता था। कामन्दक के अनुसार मेघ, अन्धकार, वर्षा, अग्नि, पर्वत तथा अन्य अनोखी चीजों का दर्शन इन्द्रजाल कहा गया।

इन समस्त उपायों को राजा शत्रु की सेना अथवा अपने द्रोहियों को नष्ट करने के लिए आवश्यकतानुसार काम में लिया करता था। सोमदेव सूरी और चंडेश्वर आदि विचारकों ने पूर्व वर्णित आचार्यों द्वारा मान्य चार उपायों को ही माना है। इन विभिन्न उपायों का प्रयोग करते हुए राजा अपने लक्ष्यों की पूर्ति कर सकता था। किस उपाय का प्रयोग किस शत्रु के साथ किया जाए इस सम्बन्ध में शुक्र ने व्यवस्था दी है। उनका कहना है कि शत्रु के लिए पहले साम का प्रयोग किया जाय, फिर दाम का और भेद का तो कभी भी प्रयोग किया जा सकता है किन्तु दण्ड का प्रयोग केवल उसी समय करना चाहिए जबकि प्राण संशय में पड़े हुए हों। शुक्र का कहना है कि प्रबल शत्रु के साथ साम और दाम का प्रयोग करना चाहिए, यहां दण्ड और भेद का प्रयोग करना स्वयं के लिए हानिकारक है। अधिक शक्तिवान् शत्रु के साथ साम और भेद का प्रयोग करना चाहिए, समान शक्ति वाले शत्रु के साथ साम, भेद और दण्ड का प्रयोग करना चाहिए तथा अपने से कम शक्ति वाले के साथ केवल दण्ड का प्रयोग करना चाहिए। शत्रु की प्रजा के साथ हमेशा भेद तथा पीड़ा देने की नीति का प्रयोग करना चाहिए किन्तु अपनी प्रजा के साथ सदा ही साम और दाम का प्रयोग करना चाहिए क्योंकि दण्ड और भेद का प्रयोग करने से राजा नाश की दिशा में अग्रसर होता है।

षाड्गुण्य नीति
(The Policy of Six Virtues)

भारतीय आचार्यों ने विजिगुषु राजा को उपर्युक्त उपायों को अपनाने के अतिरिक्त इन्हीं से सम्बन्धित अन्य मन्त्रों अथवा नीतियों को भी काम में लाने का परामर्श दिया है। राजा छः गुणों के आधार पर शत्रु के साथ व्यवहार कर सकता है। ये छः गुण हैं—सन्धि विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव तथा आश्रय। इन गुणों का प्रयोग परिस्थिति, समय एवं स्थान के अनुसार करना चाहिए। इनका उचित रूप से प्रयोग किया गया तो राजा को विजय प्राप्त होगी। महाभारत के शान्ति पर्व में कहा गया है कि उपयुक्त मन्त्र को अपनाने से राज्य की उन्नति होती है और अनुपयुक्त मन्त्र को अपनाने से राज्य की अवनति होती है। राजाओं की विजय या पराजय इसी मन्त्र पर आश्रित है। महाभारत, अर्थशास्त्र मनुस्मृति आदि सभी मुख्य ग्रन्थों में इन गुणों का उल्लेख किया गया है।

१ सन्धि

आचार्यों ने प्रथम गुण सन्धि को माना है। मनु ने सन्धि की कोई परिभाषा नहीं दी है अतः उसके वास्तविक प्रमाण के बारे में सप्रमाण कुछ भी नहीं कहा जा सकता। वैसे सामान्य रूप से सन्धि का अर्थ यह माना जाता है कि कुछ शर्तों के आधार पर दो या दो से अधिक राज्यों के बीच मेल हो जाये। राजधर्म निबन्धकार चण्डेश्वर ने उस परिस्थिति को सन्धि की स्थिति माना है जब दो राजाओं में एकीभाव की स्थापना के लिए परस्पर गठबन्धन हो जाता है। यह मत कुछ शर्तों के आधार पर दो राजाओं में मेल हो जाने को सन्धि मानने वाले कौटिल्य के मत की अपेक्षा कुछ नवीनता रखता है। शुक्र ने उस क्रिया को सन्धि माना है जिसके सम्पन्न करने से वैरी भी मित्र बन जाता है। मनु का कहना है कि "भविष्य में अपना भावक हो जायेगा यह निश्चय हो तथा वर्तमान समय में अपनी दुर्बलता एवं पीड़ा जान पड़े तो ऐसी स्थिति में सन्धि गुण का आश्रय लेना श्रेयस्कर होगा।[1] कौटिल्य ने उन परिस्थितियों का विस्तार के साथ वर्णन किया है जिसमें कि एक राजा को अन्य राजा के साथ सन्धिबद्ध होना चाहिए। सभी सन्धियों का उद्देश्य शत्रु का नाश तथा स्वयं की रक्षा एवं विकास था। कौटिल्य ने पराजित राजा के लिए सन्धिकाल उस अवसर को माना है जिसका प्रयोग वह केवल अपने से सबल शत्रु से मेल करके उसको किसी न किसी प्रकार से शक्तिहीन बनाने में करता है। इस प्रकार सन्धि वह साधन था जिससे स्वयं को सबल तथा शत्रु को निर्बल बनाया जा सके। कौटिल्य ने सन्धियां अनेक प्रकार की मानी हैं जो कि दण्डलाभ, कोषलाभ, भूमि लाभ, कर्मलाभ, हिरण्य लाभ एवं मित्र लाभ आदि विभिन्न भागों में वर्गीकृत की गई हैं।

---

१ मानव धर्मशास्त्र, १६६।७

कामन्दक ने भी सन्धि को परिभाषित नहीं किया है, केवल उन परिस्थितियों का उल्लेख किया है जिनमें कि इस गुण का आश्रय लेना चाहिए। उनके शब्दों में "जब राजा बली शत्रु से आक्रान्त हो जाये तथा उससे बचने का कोई उपाय दृष्टिगोचर न हो तो इस विपदग्रस्तकाल को व्यतीत करते हुए राजा को सन्धि गुण का आश्रय लेना चाहिए।"[1] कामन्दक ने सन्धियों के बीस प्रकार माने हैं, किन्तु उनसे पूर्व के आचार्य सन्धियों के सोलह भेद मानते रहे थे। ये हैं—कपाल सन्धि, उपहार सन्धि, सन्तान सन्धि, संगत सन्धि, उपन्यास सन्धि, प्रतिकार सन्धि, संयोग सन्धि, पुरुषान्तर सन्धि, अदृष्ट पुरुष सन्धि, आदिष्ट सन्धि, आत्माभिष सन्धि, उपग्रह सन्धि, परिक्रय सन्धि, परिदूषण सन्धि, उच्छिन्न सन्धि, एवं स्कन्धोपनेय सन्धि। कामन्दक इन सन्धियों के अतिरिक्त चार अन्य सन्धियों को भी मान्यता देते हैं। ये हैं—उपकार सन्धि, मैत्र्य सन्धि, सम्बन्ध सन्धि और उपहार सन्धि। इनमें से उपहार सन्धि को कामन्दक ने एक मात्र श्रेष्ठ सन्धि बताया है। उनका मत है कि शक्तिशाली आक्रमणकारी राजा अपने लोभ की निवृत्ति किये बिना नहीं लौट सकता। अतः उपहार सन्धि प्रदान करने के अतिरिक्त अन्य कोई साधन हो ही नहीं सकता।[2]

२. विग्रह

षाड्गुण्य मन्त्र का दूसरा गुण विग्रह है। विग्रह का अर्थ राजाओं का एक दूसरे के अपकार में लग जाना है। मनु का कहना है कि "जब राजा यह अनुभव करे कि उसकी सम्पूर्ण प्रकृतियाँ (मन्त्री, कोष, दण्ड आदि) स्वस्थ हैं तथा वह स्वयं भी उत्साह पूर्ण है तो उसे विग्रह गुण का आश्रय लेना चाहिए।"[3] मनु विग्रह के दो रूप ने माने हैं। इनमें स्वयंकृत विग्रह वह होता है जो शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए स्वयं ही किया जाता है और दूसरा विग्रह मित्रों केअर्थ साधन के हेतु किया जाता है।

कौटिल्य का कहना है कि विग्रह गुण का आश्रय केवल तभी लेना चाहिए जबकि वह अपने आपको शत्रु की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली पाये।

कामन्दक ने विग्रह की परिभाषा स्पष्ट शब्दों में की है। उनकी मान्यता है कि "कोध धारण किये हुये, क्रोध से ही सन्तप्त चित्त वाले दो व्यक्तियों का परस्पर अपकार में संलग्न होना ही विग्रह कहलाता है।"[4] कामन्दक राजा को इस साधन से प्रयुक्त करने की सलाह नहीं देते क्योंकि इससे शरीर, बल, स्वजन तथा धन आदि सब पराये बन जाते हैं तथा व्याकुल होकर तड़पते रहते हैं। युद्ध की खातिर इन सबका बलिदान कर दिया जाता है और ऐसा करने से जो भी प्राप्त होता है वह जीवन को आनन्द नहीं देता वरन् उसमें कड़वाहट भर देता है। कामन्दक ने विग्रह को केवल विवशता या मजबूरी

---

1. कामन्दक नीति, ९।१
2. कामन्दक नीति, ९।२२
3. मानव धर्मशास्त्र, १७०।७
4. कामन्दक नीति, १०।१७

का परिणाम माना है। यदि यह करना भी पड़े तो कभी भी अपने से अधिक शक्तिशाली से न किया जाये। प्रकृति में भी कहीं ऐसा उदाहरण प्राप्त नहीं होता जहां बली के साथ निर्बल युद्ध करता हो। मेघ कभी भी पवन के विपरीत नहीं चलते।

कामन्दक ने उन विभिन्न कारणों का वर्णन किया है जो कि विग्रह के आधार बनते हैं। उनका मत है कि स्त्री, राज्य, स्थान देश, दान और धन का अपहरण, देशवासियों का पीड़ित किया जाना मद और मान का होना, मित्र के लिए अथवा अपमान होने से, बन्धुओं का विनाश हो जाने पर, मण्डल दूषित होने पर दो पुरुषों का एक ही प्रयोजन होने पर प्राय विग्रह हो जाता है। इन कारणों को हटाने पर विग्रह को रोका जा सकता है किन्तु यदि यह प्रारम्भ हो गया तो उसे शान्त नहीं किया जा सकता।

कामन्दक ने उन विग्रहों की अलग-अलग सूचियां प्रदान की हैं जिनको अपनाना चाहिए तथा नहीं अपनाना चाहिए। जिन विग्रहों का निषेध किया है वे सोलह हैं तथा इस प्रकार हैं—जिस विग्रह से थोड़े ही फल की प्राप्ति हो, जिस विग्रह से कोई भी फल प्राप्त न हो, जिस विग्रह के फल के बारे में संदेह हो, जो विग्रह वर्तमान काल में दोष प्रकट करे, जो शत्रु के बल-वीर्य से अज्ञात हो कर किया जाये जो दुष्ट के बहकाने में आकर किया जाये जो दूसरो के निमित्त किया जाये, जिसके लिए दीर्घ काल तक श्रेष्ठ ब्राह्मणों से वैर साधना पड़े, जो अकाल में किया जाये, जो देव-युक्त हो, जिसमे बल प्रयोग द्वारा मित्र को उच्छिन्न किया जाये जिससे वर्तमान काल में किसी भी फल की प्राप्ति न हो, जिससे भविष्य में भी फल की प्राप्ति न हो तथा जो वर्तमानकाल मे पूर्ण रूप से निष्फल रहे। इन समस्त विग्रहों को नही किया जाना चाहिए।

कामन्दक केवल उन्हीं विग्रहों को करने की अनुमति देते हैं जो कि वर्तमान एवं भविष्य दोनों ही कालो में फलदायक हों। कार्य लोक विरुद्ध नहीं होना चाहिए तथा वह शास्त्र प्रमाणों के अनुकूल एवं साधु कल्याणकारी होना चाहिए। लोभ क वशीभूत हो कर कभी भी विग्रह का मार्ग नहीं अपनाना चाहिए।

विग्रह की नीति अपनाने पर प्राप्त होने वाले सम्भावित फलो को कामन्दक ने तीन प्रकार का बताया है य हैं—भूमि, मित्र एवं स्वर्ण। विग्रह की नीति केवल तभी अपनानी चाहिए जबकि उसके द्वारा इन फलों की प्राप्ति का निश्चय हो। कामन्दक ने धन को दुनिया की एक बड़ी चीज कहा है, धन की अपेक्षा मित्र का स्थान अधिक महत्वपूर्ण है तथा भूमि लाभ मित्र लाभ से भी अधिक श्रेष्ठ होता है। कामन्दक का कहना है कि कुछक शत्रु ऐसे होते हैं जिनको जीतना असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य होता है। अत इस प्रकार के शत्रुओं के विरुद्ध विग्रह नीति का प्रयोग नही करना चाहिए।

३. यान

अभ्युदय के लिए आक्रमण करना यान है। मनु की मान्यता है कि शत्रु पर किया जाने वाला आक्रमण दो प्रकार का हो सकता है। प्रथम प्रकार के आक्रमण में विजिगीषु राजा अपने मित्र राज्यों की सहायता लिए बिना ही शत्रु के विरुद्ध अभियान कर देता है। दूसरे प्रकार के आक्रमणों में वह अपने मित्रों की सहायता लेकर आगे बढ़ता है। इनमें प्रथम को एकाकी यान और द्वितीय को मित्र-संहत यान कहा गया है। मनु के अनुसार एक राजा को यान का सहारा उस समय लेना चाहिये जबकि वह अपने को सैनिक दृष्टि से समर्थ तथा शत्रु को कमजोर पाये।

कौटिल्य का कहना है कि एक राजा को यान गुण का आश्रय उस समय लेना चाहिए जबकि उसने अपने राज्य की रक्षा का पूरा प्रबन्ध कर लिया है तथा वह यह सोचता है कि शत्रु का नाश उस पर आक्रमण किये बिना नहीं किया जा सकता।

कामन्दक के कथनानुसार स्मृतिकारों द्वारा यान के पांच भेद बताये गये हैं—विगृह्य यान, संधाय यान, सम्भूय यान, प्रसंग यान तथा उपेक्षा यान।

४. आसन

उपेक्षा करके बैठे रहना आसन कहा गया है। जब एक राजा किसी समय अथवा परिस्थिति की प्रतीक्षा करते हुए मौन बैठा रहता है तो वह इसी नीति का पालन कर रहा होता है। मनु द्वारा आसन के दो प्रकारों का वर्णन किया गया है। प्रथम, राजा अपने पूर्व कर्म के कारण क्षीण हो कर बैठ जाता है। दूसरे, वह अपने मित्र के अनुरोध पर चुप हो कर बैठ जाता है। मनु का कहना है कि राजा को इस नीति का अवलम्बन उस समय करना चाहिए जबकि वह अपनी सेना एवं वाहन की दृष्टि से क्षीण हो जाये। इस नीति को अपना कर वह शत्रु को शान्त रखेगा तथा स्वयं तैयारी के लिए समय पा लेगा।

कौटिल्य का कहना है कि अपनी वृद्धि के लिए चुप बैठे रहना भी एक नीति है। आसन के तीन रूप माने हैं—इनको कौटिल्य स्थान, आसन और उपेक्षण नामों से सम्बोधित करते हैं। इनकी विशेपतायें उन्होंने अलग-अलग वर्णित की हैं। इस नीति का अवलम्बन किस समय करना चाहिए इस बात का उल्लेख करते हुए कौटिल्य ने बताया है कि जब राजा यह समझे कि उसका शत्रु इतना समर्थ नहीं है कि उसके कार्यों की हानि पहुंचा सके और न ही वह स्वय उसके कार्यों को बिगाड़ सकता है तो उसे इस नीति का आश्रय लेना चाहिये।

कामन्दक का कहना है कि यदि युद्ध के कारण विजिगीषु की शक्ति नष्ट हो रही हो तो उसे मौन ही बैठना चाहिए। कामन्दक के मतानुसार आसन के पांच भेद हैं—विगृह्यासन, सन्धायासन, सम्भूयासन, प्रसंगासन तथा उपेक्षासन। उन्होंने इन पांचों के विशेप लक्षणों का भी उल्लेख किया है।

५. संश्रय

इस गुण के अनुसार राजा अपने आपको दूसरे के आश्रय में समर्पित कर देता था। मनु का कहना है कि जब शत्रु सेना के आक्रमण के विरुद्ध दुर्गों के रहने पर भी सुरक्षा न की जा सके तो उस राजा को चाहिए कि किसी धार्मिक किन्तु बलवान राजा का आश्रय ग्रहण करे। मनु द्वारा इस नीति के भी दो भेद माने गये हैं। प्रथम भेद के अनुसार शत्रु से पीड़ित हो कर राजा अपनी रक्षा के लिए किसी अन्य राजा की शरण लेता है तथा दूसरे भेद में पीड़ित राजा सज्जनों के साथ व्यपदेशार्थ अन्य राजा की शरण लेता है।

कौटिल्य ने अपने बलवान शत्रु तथा अन्य किसी बलवान राजा के प्रति किये गये आत्म-समर्पण को संश्रय गुण माना है। जब एक राजा यह अनुभव करे कि वह शत्रु के कार्यों को हानि नहीं पहुंचा सकता और न ही वह अपने कार्यों की रक्षा ही कर पा रहा है तो उसे किसी बलवान राजा का आश्रय ग्रहण कर लेना चाहिए। आश्रय लेते समय उसे यह देखना चाहिए कि इस राजा की शक्तियां शत्रु राजा की शक्तियों से अधिक होनी चाहिए। यदि ऐसा कोई राजा न मिले तो उचित यह रहेगा कि वह अपने सबल शत्रु के सामने ही आत्म-समर्पण कर दे। अधिक शक्तिशाली के आश्रय को भी कौटिल्य ने अधिक अच्छा नहीं माना है क्योंकि कई बार यह अनिष्टकारी भी सिद्ध हो जाता है।

कामन्दक ने संश्रय गुण को आश्रय का नाम दिया है। उनका कहना है कि जब बलवान शत्रु उपद्रव कर रहा हो और प्रतीकार का कोई उपाय न दीख पड़े तो ऐसी स्थिति में कुलीन, चरित्रवान, शीलवान तथा बलवान आर्य राजा का आश्रय ग्रहण कर लिया जाये।

६. द्वैध अथवा द्वैधीभाव

मनु ने इस गुण की व्याख्या करते हुए बताया है कि जब एक राजा अपनी सेना के कुछ भाग को किसी स्थान पर सेनापति के आधीन रख कर स्वयं कहीं और रहता है तो यह नीति द्वैधीभाव कहलाती है। इसे अपनाते हुए वह किसी के साथ तो सन्धि करता है और किसी के साथ लड़ाई करता है। इस नीति का प्रयोग करने की स्थिति के सम्बन्ध में मनु का कहना है कि जब एक राजा शत्रु को बलवान पाये तो उसे अपनी सेना को दो भागों में बांट कर अपने कार्यों को साधना करनी चाहिए। उसे एक स्थान पर तो युद्ध करना चाहिये तथा दूसरे स्थान पर शान्ति से रहना चाहिये।

कौटिल्य ने भी एक राजा से सन्धि करने तथा दूसरे से विग्रह करने की परिस्थिति को द्वैधीभाव बताया है। उनका कहना है कि "यदि कोई राजा समझे कि वह एक राजा से सन्धि और दूसरे से विग्रह करके अपने कार्यों को साध सकेगा और शत्रु की योजनाओं को नष्ट कर सकेगा तो उसे द्वैधीभाव गुण का आश्रय लेकर अपनी वृद्धि करनी चाहिये।"

कामन्दक ने द्वैधीभाव उस स्थिति को माना है जिसमें राजा शत्रुओं के बीच में वाणी द्वारा आत्मसमर्पण करता हुआ काक के समान कभी किसी की ओर और कभी किसी की ओर देखने की वृत्ति धारण करता है, तथा उनमें से किसी का भी विश्वास नहीं करता। कामन्दक ने इस गुण के दो भाग किये हैं—स्वतन्त्र द्वैधीभाव और परतन्त्र द्वैधीभाव।

कौटिल्य ने उपर्युक्त सभी गुणों के महत्व का तुलनात्मक अध्ययन किया है। उनका विचार है कि संधि और विग्रह में संधि श्रेष्ठ है क्योंकि विग्रह में क्षय व्यय, प्रवास तथा अन्य कष्ट होते हैं। दान और आसन की तुलना करने पर आसन उचित एवं श्रेष्ठ है। इसी प्रकार द्वैधीभाव तथा संश्रय में से द्वैधीभाव उपयुक्त है क्योंकि द्वैधीभाव की नीति अपनाने पर स्वयं का ही अहसान होता है जब कि संश्रय की नीति में अन्य का अहसान कराना होता है।

दूत व्यवस्था

ऊपर जिन उपायों और गुणों का वर्णन किया गया उनका प्रयोग जिसके माध्यम से किया जाता है वह दूत होता है। दूत वह होता है जो कि अन्य शत्रु तथा मित्र राजाओं के यहां जाकर अपने राजा का हित-साधन करता है। मनु का मत था कि सन्धि और विग्रह दोनों ही कार्य दूत के आधीन रहते हैं। दूत के द्वारा लोगों को मिलाया जाता है अथवा वह मिले हुए लोगों को अलग करता है। दूत वह कार्य करता है जिससे कि मनुष्यों के बीच संघर्ष भी छिड़ सकता है। दूत के सम्बन्ध में कौटिल्य तथा कामन्दक ने अनेक नियमों की व्यवस्था की है जिनका पालन उनको अपने व्यवहार के समय करना चाहिये। प्राचीन भारत के प्रायः सभी राजशास्त्रीयों ने दूत की आवश्यकता एवं उपयोगिता को स्वीकार किया है। दूत के द्वारा राजाओं में परस्पर बात करने और उनके बीच सम्पर्क स्थापित करने का कार्य किया जाता है; इसलिए कौटिल्य दूत को राजा का मुख कहते हैं। उनके कथनानुसार दूत रूपी मुख के द्वारा ही राजा लोग एक दूसरे से बातचीत करते हैं।

कौटिल्य का मत

कौटिल्य ने योग्यता एवं अधिकारों की दृष्टि से दूतों को तीन भागों में विभक्त किया है ये हैं—निसृष्टार्थ परिमितार्थ और शासन हर। यह भेद योग्यताओं के आधार पर किया गया है। प्रथम श्रेणी में आने वाले दूतों में उतनी योग्यतायें होनी चाहिये जितनी कि अमात्य पद के लिए आवश्यक होती हैं। दूसरी श्रेणी वाले दूतों के लिए अमात्य पद की ३।४ योग्यतायें पर्याप्त हैं जबकि तीसरी श्रेणी में आने वाले दूतों के लिए अमात्य पद की आधी योग्यतायें पर्याप्त मानी गई हैं।

प्रथम श्रेणी वाले दूतों को सन्देशों के आदान-प्रदान करने के अतिरिक्त कुछ अन्य अधिकार भी प्राप्त थे। ये दूत अपनी बुद्धि के अनुसार राजा की कार्य सिद्धि के लिए अनुकूल वार्तालाप करते हैं। असल में इस श्रेणी के दूत आजकल के राजदूतों के समान होते थे और इसलिए इस पद पर योग्य

व्यक्तियों को नियुक्त करने की बात कही गई। परिमितार्थ दूत के अधिकार सीमित थे। वह अपने निर्धारित अधिकारों की सीमा में रह कर ही अन्य राजा से बात कर सकता था। तीसरी श्रेणी के दूतों का काम केवल यह था कि अपने राजा का सन्देश दूसरे राजा तक पहुंचा दे तथा अन्य राजा के सन्देश को अपने राजा तक पहुंचा दे। प्रथम दो श्रेणी के दूतों को जो अधिकार प्रदान किये जाते थे उनसे इन्हें वंचित रखा गया।

दूतों के आचार के सम्बन्ध में कौटिल्य ने कई एक बातें लिखी हैं। इन व्यवहार के नियमों का दूतों को पालन करना चाहिये। यह जरूरी है कि दूत पूरे ठाटबाट के साथ दूसरे राज्य में रहे। उसे अपने विशिष्ट यान, वाहन, नौकर चाकर एवं अन्य उत्तम सामग्रियों के साथ दूसरे राज्यों में रहना चाहिये। दूसरे राज्य में रहते हुए वह उस राज्य के अटविपाल, पुर और राष्ट्र के प्रमुख व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित करता रहे। दूत का यह कर्तव्य था कि वह दूसरे राज्य में तभी प्रवेश करे जबकि वहां के राजा की अनुमति प्राप्त हो जाए। अपने राजा का सन्देश अन्य राजा के समक्ष उसे ज्यों का त्यों प्रस्तुत करना चाहिए। प्राणों का डर होने पर भी उसे सन्देश में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं करना चाहिए।

सन्देश को घटा बढ़ा कर कहना दूत का कार्य नहीं है। दूसरे राज्य को छोड़ने से पहले दूत को वहां के राजा की अनुमति प्राप्त कर लेनी चाहिए। दूसरे राजा द्वारा उसका जो स्वागत सत्कार किया जाए, उसके प्रति प्रसन्नता प्रकट करते हुए भी अधिक प्रभावित नहीं होना चाहिये। उसे परकीय राजा के आन्तरिक भाव को समझने का प्रयास करना चाहिए। दूसरे राज्य की जनता में रह कर वह अपने बल का प्रदर्शन न करे, साथ ही अनुचित बातों को भी सहन न करना चाहिए। उसे परकीय राज्य के राजा के डर से स्पष्ट बात कहने में पीछे नहीं रहना चाहिए। दूत को कभी भी परस्त्री गमन और मद्य-पान आदि व्यसनों में नहीं फंसना चाहिए क्योंकि इन से मन का आन्तरिक भाव प्रकट होने का भय रहता है। दूत को अकेले में सोना चाहिए क्योंकि अनेक बार एक व्यक्ति नशे में या सोते सोते ही अपने मन के भेदों को कहने लगता है। यदि परकीय राजा दूत को अपने यहां रोकने का प्रयास करे तो पहले उसे सोच लेना चाहिए कि राजा ऐसा क्यों कर रहा है और सोचने के बाद ही उसे वैसा करना चाहिए, जिससे कि उसके राजा के हितों की पूर्ति होती हो। यदि परकीय राजा उसके राज्य की प्रकृतियों के सम्बन्ध में भेद लेना चाहे तो उसे कुछ भी भेद नहीं देना चाहिए। ऐसी परिस्थिति यदि आ भी जाए तो यह कह कर टाल देना चाहिए कि "आप सब कुछ जानते हैं।" दूत को हमेशा वही वचन बोलने चाहिए और उसी प्रकार का व्यवहार करना चाहिए जिससे कि उसके राजा का हित साधन हो सके। दूत को यदि ऐसा अनुभव हो कि अपने राजा का सन्देश सुनाना परकीय राजा को बुरा लगा है और वह उसे बन्दी बनाना चाहता है अथवा उसे मारने की योजना बना रहा है तो दूत को उस राज्य से भाग जाना चाहिए। अपने राज्य की कोई गुप्त बात बताए बिना ही दूत को अपने राजा का कुल ऐश्वर्य, व्याज, उन्नति, सरलता, धर्म प्रियता आदि का बखान करते रहना चाहिए। उसे दोनों पक्षों

के गुणों का कीर्तन करते रहना चाहिए। इस प्रकार दूत के आचार व्यवहार के सम्बन्ध में व्यापक नियम बनाए गये। ये नियम आज की बदली हुई परिस्थिति में भी पर्याप्त उपयोगी एवं व्यवहारिक हैं।

कौटिल्य ने दूतों के कर्त्तव्यों का भी स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है। उनके मतानुसार प्रशासन के क्षेत्र में दूत का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उसके प्रमुख कार्यों मे जिनको गिना गया है वे हैं—पर राज्यों के शासकों के समक्ष अपने स्वामी का सन्देश प्रस्तुत करना, पहले की हुई सन्धि की शर्तों का पालन करवाना, अपने स्वामी के गौरव और शक्तियों का प्रचार करना, मित्र बनाना, शत्रु एवं उसके मित्रों में भेद उत्पन्न करना, शत्रु के बन्धु बान्धवों का संग्रह करना, गुप-चुप दण्ड की व्यवस्था करना, गुप्तचरों का ज्ञान प्राप्त करना, पराक्रम का प्रयोग, सन्धि के अनुसार राजकुमार आदि को मुक्त कराना, अपने कार्यों की सिद्धि के लिए विभिन्न उपायों को सुझाना आदि-आदि। इनके अलावा दूत का यह भी कार्य था कि वह जल एवं स्थल मार्गों का अपनी सेना के हितार्थ ज्ञान प्राप्त करे। उसे दूसरे राज्य के दुर्ग की सारी गुप्त बातें जाननी चाहिए तथा कोष, मित्र तथा सेना के सभी छिद्रों से परिचित होना चाहिए। उसे यह भी पता लगाना चाहिए कि परकीय राज्य की जनता वहां के राजा से कितना प्रेम करती है। शत्रु के राज्य में जिन व्यक्तियों को तोड़ा-फोड़ा जा सके उन्हें फुसला कर अपनी ओर कर लिया जाना चाहिए। जिनको तोड़ा-फोड़ा न जा सके उनके सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। दूत को अपने राज्य के गुप्तचरों का सहारा लेकर परकीय राज्य की प्रत्येक बात का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त करते रहना चाहिए। यदि दूत अपने गुप्तचरों से बात न भी कर पाये तो उसे याचक, मत्त, उन्मत्त तथा सोये व्यक्तियों के प्रलापों से इन बातों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। परकीय राजा के समाचारों का पता तीर्थ स्थान, देवालय, चित्रशाला एवं लेखन कला आदि के माध्यम से लगाते रहना चाहिए। जहां तोड़-फोड़ की आवश्यकता हो वहां ऐसा करना चाहिए।

दूत के विषय में एक महत्वपूर्ण नियम यह था कि उसे मारा नहीं जा सकता था। यह नियम दूत के कार्यों को सम्पन्न करने के लिए परम आवश्यक था, क्योंकि उसके द्वारा जिन सन्देशों का आदान-प्रदान किया जा सकता था वे प्रिय और अप्रिय दोनों प्रकार के हो सकते थे। अप्रिय सन्देश कई बार ऐसे भी हो सकते थे, जो कि अत्यन्त कटु और असह्य हों; ऐसे सन्देश सुनकर श्रोता आवेश में आकर दूत के वध की आज्ञा तक दे सकता था। ऐसी स्थिति में दूत की रक्षा का समुचित प्रबन्ध करना परमावश्यक समझा गया ताकि वह अपने कार्यों का विधिवत् संचालन कर सके। कौटिल्य का कहना है कि दूत को सन्देश के अनुसार कटु तथा मधुर सब कुछ कहने का अधिकार है। दूत चाहे चाण्डाल ही क्यों न हो वह भी अवध्य है। राजा यदि शस्त्र भी उठा ले तो दूत को वही बात कहनी चाहिए जो कि वह कह रहा था। उसका कार्य सत्यसन्देश को कहना है। रामायण के हनुमान जब दूत बन कर गये और उनके सन्देश और व्यवहार से रावण कुपित होकर उनके वध करने पर विचार करने लगा

तो विभीषण ने दूत के न मारने की बात कही। फलत उनकी जान न लेकर केवल पूंछ में आग लगाई गई।

कामन्दक का मत

कामंदक ने भी दूत के पद को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना है। उनके अनुसार यह एक विशेष चर होता है। वे उसे प्रकाशचर का नाम देते हैं। कामंदक के अनुसार दूत में वे सभी गुण और योग्यताएं होनी चाहिए जो कि सामान्यत चरों के लिए आवश्यक होती हैं। इनके अतिरिक्त दूत में कुछ अन्य भी विशेष योग्यताएं होनी हैं। सामान्य चर के रूप में एक दूत को तर्क शक्ति मनोविज्ञान, स्मरण शक्ति मृदु भाषण, शीघ्र पराक्रमशीलता, कष्ट सहन की सामर्थ्य, परिश्रमशीलता, चातुर्य, परिस्थिति के अनुसार निर्णय लेने की शक्ति आदि गुणों से सम्पन्न होना चाहिए। दूत में विशेष योग्यताओं के रूप में प्रगल्भता, विशेष वाक शक्ति शास्त्र एवं अस्त्र-शस्त्र का ज्ञान तथा कर्त्तव्यपरायणता आदि होनी चाहिए।

कामंदक ने कौटिल्य की भांति तीन प्रकार के दूत माने हैं जिनको वे निसृष्टार्थ मितार्थ और शासनवाहक कहते हैं। कामंदक ने इन दूतों के विभिन्न कर्त्तव्यों का भी उल्लेख किया है। अपने तथा पराये राजाओं के बीच सन्देशों की गति बनाए रहना उनका पहला कर्त्तव्य है। दूत को अपने प्राण संकट में रख कर सन्देश घटा बढ़ा कर प्रस्तुत न करने के लिए कहा गया है। दूत का दूसरा कर्त्तव्य यह है कि वह अन्य राज्य में जाकर वहां अपने राजा के प्रताप एवं प्रभाव की स्थापना करे। दूसरे राज्य में रहते समय दूत को अत्यन्त सावधानीपूर्वक आचरण करना चाहिए। दूत का तीसरा कर्त्तव्य यह है कि वह परकीय राज्य के विभिन्न अंगों की वास्तविक शक्तियों का ज्ञान प्राप्त करे और अपने राजा को उनसे पूर्ण रूप से परिचित कराये। दूत का चौथा कार्य परकीय राज्य के कृत्य वर्ग को अपनी ओर मिला लेना है। कृत्य वर्ग कामंदक ने उन लोगों को माना है जो अपने राजा से नाराज और असन्तुष्ट रहते हैं। दूत को चाहिए कि उनके असन्तोष और नाराजगी को बढ़ा कर पराकाष्ठा पर पहुंचा दे और अपने राजा के प्रति उनमें अनुकूलता उत्पन्न करे। युद्ध के समय दूत का यह कर्त्तव्य था कि वह सेना के जल तथा स्थल मार्गों का पता लगाये। दूतों का यह भी एक कर्त्तव्य था कि वे युद्ध भूमि से आसानी से भागने वाले मार्गों का भी पता लगायें। दूत का एक यह भी कर्त्तव्य था कि अन्य राज्यों द्वारा भेजे गये दूतों की चेष्टाओं का भली भांति अध्ययन करता रहे और जानता रहे कि उसके राज्य को कहां लाभ और कहां हानि होने वाली है।

कामंदक ने दूतों के लिए कुछ विशेष सावधानियां बरतने के लिए कहा है ताकि वे अपने राज्य का अधिक से अधिक हित साध सकें। ये सावधानियां प्राय वे ही हैं जो कि कौटिल्य ने इनके आचार के अन्तर्गत बताई हैं।

कामंदक की रचना में कुछ ऐसा आभास होता है कि उस समय कुछ दूत ऐसे भी होते थे जो अपने राज्य और पर राज्य दोनों से वेतन प्राप्त करते थे। इन्हें कामंदक ने उभय वेतन भोगी कहा है।

सोमदेव सूरी का मत

सोमदेव सूरी कामंदक के इस मत से सहमत नहीं हैं कि दूत चर विशेष होता है। वे दूत को मन्त्रियों की श्रेणी मे रख कर उसे वाह्य विषयों का मन्त्री कहते हैं। इनकी यह मान्यता शुक्र से मिलती है। सोमदेव ने दूत पद के लिए कुछ विशेष योग्यताओं का भी वर्णन किया है। उन्होंने दूत के जिन कर्त्तव्यों का वर्णन किया है उनमें भी कोई नवीनता नहीं है। उनके मतानुसार परराज्य में भेद योग्य व्यक्तियों को अपने पक्ष में लाने का प्रयत्न करना और जो भेद योग्य नहीं है उन में उनके राजा के प्रति असन्तोष उत्पन्न करना, शत्रु राजा के पुत्रों मे भेद पैदा करना, शत्रु के चरों का पता लगाना, शत्रु की प्रकृतियों का ज्ञान प्राप्त करना आदि कार्य दूत को करने चाहिए। सोमदेव सूरी का कहना है कि कुछ विशेष परिस्थितियों में दूत आज्ञा के बाद प्रवेश के नियम को भंग कर सकता है। दूत को यद्यपि सहनशील होना चाहिए तथापि सोमदेव सूरी ने इसे अपने गुरु अथवा स्वामी के अपमान के लिए कहे गये वचनों को न सहने का परामर्श दिया है। सोमदेव का कहना था कि दूत चाहे कितना ही अपकार कर ले किन्तु उसका वध नहीं करना चाहिए। दूतों के द्वारा युद्ध काल में भी दोनों पक्षों के बीच वार्ता चलती रहती है। दूत के वचनों को राजा द्वारा अपनी उन्नति और शत्रु की अवनति का प्रतीक नहीं माना जाना चाहिए।

चर व्यवस्था
(Spies System)

चर व्यवस्था का प्राचीन भारतीय राजनीति में पर्याप्त महत्व था। चर का कार्य क्षेत्र केवल राज्य से बाहर का ही नहीं था वरन् वह राज्य के भीतर और बाहर दोनों ही स्थानों पर शांति स्थापना एवं सुरक्षा की व्यवस्था करता था। राज्य में शांति बनाए रखने के लिए यह जरूरी था कि राजा प्रजा के दुख सुख, उसके दैनिक कार्य, उसके सम्पर्क में आने वाले राज्य कर्मचारी, व्यवसायी और व्यापारी तथा राज्य की विभिन्न बाधाओं का ज्ञान प्राप्त करता रहे। ऐसा करने के लिए उसे अनेक कर्मचारी नियुक्त करने पड़ते हैं जो गुप्त रूप से राजा को सारे समाचार देते रहते हैं। इन कर्मचारियों को चर कहा गया है जो कि राजा एवं प्रजा दोनों के लिए कल्याण कारक होते हैं।

कौटिल्य ने चरों को कई श्रेणियों में विभक्त किया है इनमें से प्रमुख नौ रूप ये हैं—कापटिक, उदास्थित, गृहपतिक, वैदेहक, तापस, सत्री, तीक्ष्ण, रसद और भिक्षुकी। चरों के ये नाम इनके विशेष कर्त्तव्यों एवं उनकी वेश भूषा के ऊपर निर्धारित किये गये थे। इनमें से प्रत्येक श्रेणी के चर बाह्य चर और आभ्यन्तर चर नाम के दो वर्गों में विभाजित थे।

चरों के संगठन से संबंधित विशेष विवरण अर्थशास्त्र में प्राप्त नहीं होता। अनुमान है कि उस समय चरों की एक संस्था होती थी, जिसके आधीन समस्त चर कार्य करते थे। सम्भवतः चरों की प्रत्येक श्रेणी की

अलग अलग चर संस्थाएं थीं और प्रत्येक चर संस्था के अध्यक्ष का यह कर्त्तव्य था कि अपनी संस्था के अन्तर्गत कार्य करने वाले चरों से प्राप्त समाचार के आधार पर विवरण तैयार करे और उसे राजा के सम्मुख प्रस्तुत करे। कौटिल्य का मत था कि एक चर संस्था में चर द्वारा जो समाचार दिया जाए उसे दूसरी चर संस्था से गुप्त रखा जाना चाहिए।

चरों की कार्य व्यवस्था के लिए कौटिल्य ने सांकेतिक लिपि का उल्लेख किया है। इस लिपि का प्रयोग करके ही गुप्त बातों को रहस्यपूर्ण रखा जा सकता था। कौटिल्य का स्पष्ट आदेश था कि चर विभाग के अन्तर्गत एक चर दूसरे चर के पास अथवा चर संस्था के अधिकारी के पास कोई समाचार या सूचना भेजे तो उसे लिख कर भेजना चाहिए और इस लेखन में विशेष लिपि का प्रयोग करना चाहिए। यह लिपि ऐसी हो जिसे केवल चर विभाग के कार्यकर्त्ता ही समझ सकें।

कौटिल्य का मत था कि राजा को केवल एक चर द्वारा दी गई सूचना पर विश्वास नहीं कर लेना चाहिए। जब कम से कम तीन चरों से एक ही सूचना प्राप्त हो या अन्य किसी प्रकार से समाचार की पुष्टि हो तो राजा को उस पर विश्वास करना उचित रहेगा। यदि कोई चर बारबार असत्य समाचार लाता है तो उसे गुप्त रीति से दण्ड देना चाहिये अथवा उसे पद से हटा देना चाहिए। कौटिल्य का कहना था कि राज्य का शासन तभी श्रेष्ठ हो सकता है जबकि उसकी चर व्यवस्था उत्तम हो।

कामन्दक ने भी चरों को उन्हीं कारणों से महत्वपूर्ण माना है, जिनसे कि कौटिल्य मानते थे। वे चरों को दूर तक पहुंचने वाला राजा का चक्षु कहते हैं। राजा जब सो जाता है तो भी उसके ये चक्षु दूर और समीप की सारी घटनाओं को देखते रहते हैं। कामन्दक ने चर के लिए कुछ योग्यतायें निर्धारित की हैं। उनके मतानुसार चर को तर्कशील होना चाहिए ताकि वह अपनी तर्क शक्ति द्वारा किसी घटना या क्रिया के वास्तविक स्वरूप को जान सके। उसे मनोविज्ञान की प्रारम्भिक जानकारी हो तभी वह मनुष्य की चेष्टाओं और हाव भावों से वास्तविकता पर पहुंच सकता है। उसकी स्मरण शक्ति तीव्र होनी चाहिए ताकि वह छोटी बड़ी किसी भी घटना को भूल न सके। चर को हर प्रकार के लोगों से वास्ता रखना होता है और प्रत्येक प्रकार की परिस्थिति में से निकलना होता है, इसलिए मीठा बोलने वाला और शीघ्र पराक्रमशाली होना चाहिए। वह परिश्रमशील हो तथा हर तरह का कष्ट सह सके। चर में समय, स्थान और परिस्थिति के अनुसार व्यवहार करने की योग्यता होनी चाहिए।

कामन्दक ने भी चरों का वर्गीकरण किया है किन्तु यह कौटिल्य से भिन्न है। कामन्दक ने चरों के कर्तव्यों का सामूहिक रूप में वर्णन किया है तथा व्यक्तिगत रूप से वर्णन करने में कोई रुचि नहीं ली है। कामन्दक के अनुसार चरों का प्रधान कर्तव्य समाचार लेते हुए सब तरफ विचरण करते रहना है। इन समाचारों को एकत्रित करने के बाद चर प्रति दिन राजभवन में राजा के सम्मुख उपस्थित होते हैं। चरों का एक अन्य कर्तव्य यह माना गया

कि वे अपने राजा के शत्रु राजाओं की चेष्टा का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करें और उसे अपने राजा के सम्मुख रखें। दोनो पक्षों की सही स्थिति का बोध कराना चरों का कर्तव्य था। कामन्दक ने लिखा है कि "जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों द्वारा पृथ्वी का जल पीता रहता है उसी प्रकार सब की इच्छा को जानते हुए शिल्पविद्या और अध्यापन कला में निपुण चरों को अनेक रूप धारण कर विचरण करना चाहिए और इस प्रकार गोपनीय बातों, घटनाओं, क्रिया कलापों आदि का पता लगाते रहना चाहिए। विश्वसनीय सूचनायें वे केवल तभी प्राप्त कर सकते है जबकि किसी को उनके अस्तित्व की अनुभूति न हो। विभिन्न रूप धारण करके उन्हें जनता में इस प्रकार घुलमिल जाना चाहिए जिससे कि कोई उन्हें पहचान न सके।

सोमदेव सूरी ने चरों की आवश्यकता तथा उपयोगिता बतलाते हुए कहा है कि "अपने राजमण्डल और परराजमण्डलों में जो कार्य एवं अकार्य हो रहे हैं अथवा होने वाले है उनका अवलोकन करने वाले राजा के चर ही उसके चक्षु होते है।" एक उचित चर व्यवस्था की स्थापना के बिना राजा उसी प्रकार निकम्मा हो जायेगा जिस प्रकार नेत्रों के अभाव में एक अन्धा व्यक्ति हो जाता है। मनु भी यह मानते थे कि चर-रहित राजा अपने प्रजा पालन और प्रजा रंजन के कर्तव्यों को पूरा नहीं कर सकेगा और इसके फल-स्वरूप वह पद से हटा दिया जावेगा।

सोमदेव ने चरों के वेतन के सम्बन्ध में भी विचार किया है। उनका मत है कि चर को इतना वेतन प्रदान किया जाए जिससे कि उसकी तुष्टि हो सके। वह अर्थ चिन्ता से मुक्त रहे और अपने कर्तव्यो का पालन करता रहे। सोमदेव सूरी का मत है कि किसी भी प्राप्त सूचना को एकदम सत्य नहीं मान लेना चाहिए वरन् उसे परखना चाहिए। जिस सूचना के सम्बन्ध में संदेह हो उसके बारे में अन्य चरों से भी समाचार लेने चाहिए यदि इन दोनों के बीच विरोध दिखाई दे तो सूचना को असत्य समझना चाहिए। जब तीन चर एक जैसी सूचना देते हैं तो राजा को उसे सत्य मान लेना चाहिए। सोमदेव ने चरों के अनेक भेदों का वर्णन किया है यद्यपि इनकी संख्या कौटिल्य द्वारा किए गये भेद से बहुत अधिक है किन्तु लगता है कि वर्गीकरण में कौटिल्यकृत वर्गीकरण को ही आधार बनाया गया है।

एक राजा द्वारा जो चर नियुक्त किये जाते थे वे अन्य राज्य के सैनिक बल और युद्ध की तैयारियों के सम्बन्ध में सूचनाएं लाते थे। रामायण से इन चरों के अस्तित्व का आभास होता है। जब श्री राम लंका पर चढ़ाई करने वाले थे तो रावण के अनेक चरों ने उनकी छावनी का निरीक्षण किया। इनमें शुक नाम का एक चर था जिसने यह प्रयत्न किया कि सुग्रीव को राम के विरुद्ध रावण के साथ मिला दिया जावे। जब श्री राम समुद्र पार कर चुके तो उनके डेरों में अनेक राक्षस बन्दरों का वेश धारण करके घूमते रहते थे। भारतीय ग्रन्थों ने चरों के महत्व का आभास बहुत पहले ही कर लिया था। ऋगवेद में वरुण के चरों का उल्लेख है। इनकी सहायता से ही वह सब कुछ देख सकता था। आकाश में उड़ते हुए पक्षी, समुद्र मे चलते हुए जलयान, दूर

तक चलने वाली हवा और हो रही अथवा होनी वाली सभी गुप्त बातों का पता वरुण को रहता था। वैदिक साहित्य के अतिरिक्त महाकाव्यों में तथा अन्य ग्रन्थों में भी चरों के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। रामायण का रावण चर व्यवस्था का सम्यक् प्रयोग करता था। सीता हरण के बाद उसने अपने आठ जसूसों को दण्डकारण्य में लगा रखा था ताकि राम की गतिविधियों का पता लगता रहे। कौटिल्य ने माना है कि विजिगीषु राजा को शत्रु, मित्र, मध्यम और उदासीन सभी राज्यों में अपने चर नियुक्त करने चाहिए। मनु के कथनानुसार राजा को अपनी और शत्रु की वास्तविक स्थिति का पता चरों के माध्यम से लगाते रहना चाहिए। इस पद पर नियुक्त व्यक्ति इतने विश्वस्त एवं चरित्रवान हों कि वे किसी प्रकार के प्रलोभन या बहकावे में आकर अपने कर्तव्य के मार्ग से न हटें। शत्रु पक्ष में गुप्तचर छोड़कर राजा को ऐसा उपाय करना चाहिए कि उसकी शक्ति घट जाए, प्रजा भ्रष्ट हो जाए, नागरिकों में असन्तोष और क्रोध पैदा हो जाए, उनमें अपने राजा के प्रति स्वामिभक्ति न रहे आदि-आदि।

अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों में शत्रु और मित्र

प्राचीन भारत में राज्यों के पारस्परिक व्यवहार को सूत्र करते समय इस आधार पर भेद किया गया कि सम्बन्धित राज्य से किस प्रकार के सम्बन्ध हैं। ये सम्बन्ध शत्रुता, मैत्री, उदासीनता, मध्यस्थता आदि विभिन्न प्रकारों के हो सकते थे। इन प्रकारों के बीच भी मात्रा का भेद सम्भव था। एक राज्य दूसरे की अपेक्षा अधिक खतरनाक शत्रु या घनिष्ठ मित्र हो सकता था। प्राचीन भारतीय आचार्यों ने राजा को इस बात का पर्याप्त निर्देश दिया है कि वह अपने शत्रुओं तथा मित्रों के साथ किस प्रकार का व्यवहार करे। मित्र और शत्रु का निर्धारण करने के सम्बन्ध में भी उन्होंने कुछ नियम बनाए। इस सम्बन्ध में एक मान्यता उनकी यह थी कि शत्रु अथवा मित्र केवल स्वार्थ के आधार पर होते हैं। *उनका कहना था कि किसी भी राज्य का न तो कोई* राज्य स्थाई शत्रु होता है और न ही स्थाई मित्र होता है वरन् केवल उसके स्थाई स्वार्थ होते हैं। शुक्र का कहना था कि मित्र और शत्रु का भेद महत्वहीन और अवास्तविक है क्योंकि कोई मित्र नहीं होता। मित्र दिखाई देने वाला भी असल में छिपा हुआ शत्रु होता है।

शान्तिपर्व, शुक्रनीति एवं कामन्दक नीति आदि ग्रन्थों ने राजनीति में व्यवहार का यह नियम बताया है कि किसी का भी विश्वास नहीं करना चाहिए और प्रत्येक से हर समय सावधान रहना चाहिए। इतने पर भी अपने आपको मित्र कहने वाले और स्पष्ट रूप से अपने को शत्रु घोषित करने वाले राज्यों के व्यवहार कदापि एक से नहीं हो सकते। चाहे मित्रों का होना एक वास्तविकता न हो, किन्तु यह एक सत्य है कि अवास्तविक मित्रों की बड़ी संख्या को देखकर भी शत्रु राजा का दिल दहल जाता है। आचार्यों ने राजा को यह निर्देश दिया कि वह मण्डल के राजाओं को अपना मित्र बनाए, क्योंकि ऐसा करने पर ही मण्डल उसके हित में कार्य कर सकता है। जिस राजा के अनेक मित्र होते हैं वह अपने शत्रुओं को शीघ्र पराजित कर देता है। कई

बार तो शत्रु उसका विरोध करने का साहस ही नहीं करते । प्रत्येक राज्य को अधिक से अधिक मित्र बनाने चाहिए और शत्रुओं की संख्या कम करनी चाहिए । ऐसा न हो कि अनुचित वचन कह कर, मिथ्या आरोप लगाकर या उनके दोषों का उल्लेख करके मित्रों की संख्या कम कर दी जाए । आचार्यों के मतानुसार यदि शत्रु भी हित करता है तो उसको मित्र बना लिया जाए । दूसरी ओर यदि मित्र अपकार करने वाला है अथवा दोषपूर्ण है तो उसे छोड़ दिया जाए और आवश्यक हो तो नष्ट कर दिया जाए । महाभारत ने मित्रता को शुक्र नीति या अन्य ग्रन्थों की तरह कोई धोखा नहीं माना है । उसका मत है कि "उत्तम मित्र की हर प्रकार से वृद्धि करनी चाहिए और उस पर पिता के समान विश्वास करना चाहिए । मित्र की रक्षा करने में किसी प्रकार का प्रमाद नही करना चाहिए ।"

शत्रु के साथ किये जाने वाले व्यवहार का निर्धारण करने से पहले यह देख लेना चाहिए कि शत्रु शक्तिशाली है या कमजोर है । एक शत्रु तो वह होता है जो कि स्वयं जीतने की इच्छा रखता है और दूसरा शत्रु वह है जिसे जीता जाना है । कौटिल्य का मत है कि जो राजा व्यसनों में फसा हुआ है उसे नष्ट कर देना है, जो राजा निराश्रित है अथवा जिसका आश्रय दुर्बल है उसका उच्छेदन कर देना चाहिए तथा जो राजा इस प्रकार का नहीं है उसके कोष तथा सेना को नष्ट कर देना चाहिए तथा उसे अन्न और जल की दृष्टि से कष्ट पहुंचाना चाहिए । राजा को चाहिए कि वह अपने बलवान शत्रु को न छेड़े और न ही उसके साथ युद्ध करे । उसके साथ सन्धि कर लेनी चाहिए । पहले बलवान के सामने झुका जाए और समय आने पर अपना पराक्रम दिखाया जाए यही नीति उपयुक्त रहती है । बलवान शत्रु कौटिल्य ने तीन प्रकार के माने हैं—धर्म विजयी, लोभ विजयी और असुर विजयी । इनमें पहले प्रकार का शत्रु उसकी अधीनता स्वीकार करने पर ही सन्तुष्ट हो जाता है पर ऐसा करने के बाद दूसरे राज्यों के आक्रमण का भय भी घट जाता है । अत: इस प्रकार के शत्रु से सन्धि कर लेनी चाहिए । दूसरे प्रकार का शत्रु भूमि, धन आदि लेकर सन्तुष्ट हो जाता है अत: इसके साथ भी सन्धि कर ली जाए तो उपयुक्त है । तीसरे प्रकार का शत्रु खतरनाक होता है वह राजा के पुत्र, स्त्री एवं प्राण तक लेने का इच्छुक होता है । अतः उससे सन्धि तो करनी चाहिए किन्तु बाद में उसे नष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए ।

समान शक्ति वाले राज्यों के साथ सन्धि कर लेनी चाहिए क्योंकि उनके साथ युद्ध करने में विजय अनिश्चित होती है तथा दोनो के ही नाश की पूरी सम्भावनायें रहती हैं । हीन राजा के साथ कभी भी सन्धि नहीं करनी चाहिए क्योंकि वह इस सन्धि काल का प्रयोग अपनी शक्ति बढ़ाने में करेगा और समय पाकर स्वयं ही आक्रमण कर देगा । इसलिए जहां तक सम्भव हो उसे दबाकर रखना चाहिए ।

अन्तर्राज्यीय सम्बंधों के आदर्श
[The Ideals of Inter-state Relations]

भारतीय आचार्य इस बात पर जोर देते थे कि राजाओं को अन्य राज्यों के साथ अपने सम्बन्धों में सभी उपायों एवं षड्गुण्यों को अपनायें और

राज्य की प्रगति का प्रयास करें। उद्योग करके ही राज्य का सुख एवं सम्पन्नता प्राप्त की जा सकती है। बुद्धि की शक्ति इतनी होती है कि उसके लिए कोई भी कार्य असाध्य नहीं है। शुक्र नीति में यह उल्लेख किया गया है कि अच्छे उपाय से अच्छी योजना से साधारण व्यक्तियों के कार्य भी सिद्ध होते हैं फिर राजाओं के कार्य क्यों नहीं हो सकते। केवल इच्छा मात्र से कोई भी कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। प्रत्येक कार्य की सिद्धि के लिए उद्योग करना परम आवश्यक है। शेर भी यदि सोता रहता है तो उसके मुख में हाथी नहीं गिर सकते। मनु स्मृति राजा को दैव के आश्रित न रह कर फल और लाभ प्राप्त करने के लिए प्रयास करने को कहती है। याज्ञवल्क्य ने भी दैव की तुलना में पुरुषार्थ का महत्व अधिक बताया है।

कामन्दक ने राजनीति में उद्योग के महत्व को और भी अधिक स्पष्ट किया है। उनके कथनानुसार जैसे ईंधन डालने से अग्नि प्रज्वलित हो जाती है उसी प्रकार उद्योग से राजा अपने राज्य की वृद्धि कर सकता है। दुर्बल व्यक्ति भी यदि नित्य प्रयत्न करे तो वह लक्ष्मी को प्राप्त कर सकता है। लक्ष्मी उस दुष्ट स्त्री के समान है जिसे भोगने के लिए व्यक्ति को वीर्यवान होने की आवश्यकता है नपुंसक की नहीं। उत्साही पुरुष सदैव ही सिंह की जैसी वृत्ति धारण किये रहता है और दुर्विनीत स्त्री की भांति लक्ष्मी को बाल पकड़ कर वश में कर लेता है। सदैव ऊंचे की इच्छा करने वाला महान पद प्राप्त कर लेता है किन्तु जो गिरने की आशंका से ही त्रस्त है और प्रयास नहीं करता वह नीचे ही चला जाता है।

कुल मिला कर यह कहा जा सकता है कि भारतीय आचार्यों ने राजा के सम्मुख विजय प्राप्ति का आदर्श रखा था ताकि वह सारे देश में एक छत्र राज्य स्थापित कर सके और चक्रवर्ती का पद प्राप्त कर सके। उन्होंने शौर्य दिखाना, विजय प्राप्त करना, सभी को अपने वश में करना कोई निन्दनीय बात नहीं मानी थी वरन् इसे क्षत्रियों के लिए आवश्यक बताया था। वे संघर्ष की अनिवार्यता स्वीकार करते थे। स्वार्थ एवं महत्वाकांक्षाओं पर आधारित संघर्ष कभी समाप्त नहीं हो सकता अतः राजा को चाहिए कि वह इस संघर्ष में विजय लाभ करके राज्य को सम्पन्न तथा वृद्धिशील बनाये। चक्रवर्ती का पद प्राप्त करना प्रत्येक राजा का आदर्श बना दिया गया और इस प्रकार संघर्ष की स्वाभाविक गति को सकारण एवं औचित्यपूर्ण बना दिया गया।

सार्वभौमत्व अथवा चक्रवर्तित्व प्राप्त करना सभी राजाओं का एक आदर्श माना गया। अथर्ववेद ने इन्द्र के राजाओं में अधिराज होने की कामना की है। ऐतरेय ब्राह्मण का कहना है कि जो राजा अन्य सभी राजाओं में श्रेष्ठ होना चाहता है तथा समुद्र पर्यन्त पृथ्वी पर सार्वभौम या एकराट होकर शासन करना चाहता है वह अपना इन्द्रमहाभिषेक कराये। अर्थशास्त्र, शान्तिपर्व एवं मत्स्य पुराण ने चक्रवर्ती, एक छत्र राजा तथा सम्राट का उल्लेख किया है। विनय कुमार सरकार के मतानुसार यह विश्व राज्य का विचार था जिसे प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में कई प्रकार से अभिव्यक्त किया

गया है। चक्रवर्ती का सिद्धान्त इसकी अभिव्यक्ति का एक रूप है। इसका अर्थ यह है कि राज्य के रथ का पहिया या चक्र बिना किसी बाधा के प्रत्येक स्थान पर घूमेगा। चक्र को सम्प्रभुता का प्रतीक माना गया है। समुद्र से लेकर समुद्र तक की भूमि पर जिस राजा का प्रभाव रहता था उसे चक्रवर्ती कहा जाता था।

सार्वभौम के सिद्धान्त को सम्राट की परम्परागत एवं लोकप्रिय मान्यता में भी अभिव्यक्त किया गया है। महाभारत में विश्व-राज्य के विचार को स्पष्ट करने के लिए इस पद का प्रयोग किया गया है। सभापर्व में उल्लेख है कि प्रत्येक राज्य में एक राजा होता था जो कि अपने क्षेत्र में कुछ भी करने के लिए स्वतन्त्र था, किन्तु उनको सम्राट नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह पद प्राप्त करना अत्यन्त कठिन होता है। युधिष्ठिर ने यह पद प्राप्त कर लिया था।

सर्वभौम के विचार को प्रकट करने के लिए एक अन्य पद चतुरान्त' का प्रयोग किया गया। कौटिल्य ने अपने साम्राज्यवादी राष्ट्रवाद को अभिव्यक्त करने के लिए इसका प्रयोग किया है। चतुरान्त शासक वह होता था जिसका शासन चारों दिशाओं की असीमित गहराइयों तक फैला हुआ होता था। इस प्रकार का शासक सारी पृथ्वी का उपभोग करता था तथा उसकी शक्तियों को चुनौती देने वाला कोई भी नहीं होता था। रघुवंश में सर्वभौम राजा का वर्णन करते हुए कालीदास ने लिखा है कि वह उस राज्य का शासन करता है, जिसकी सीमायें समुद्र से लेकर समुद्र तक है तथा उसका रथ आसमान तक बिना किसी बाधा के चलता है।"

भारतीय राजनीति में वर्णित सार्वभौम के सिद्धान्त के कई स्तर माने गये थे। ऋगवेद तथा शतपथ ब्राह्मण, ऐतरेय ब्राह्मण आदि प्राचीन ग्रन्थों में राज्यों के नीचे से ऊपर तक के पद सोपान का स्पष्ट उल्लेख है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार सबसे छोटी राष्ट्रीयता राज्य होती है। उसके ऊपर उच्च या बड़ी शक्तियां होती हैं। शुक्रनीति ने छोटे प्रदेशों, मध्य स्तर के राज्यों तथा महाशक्तियों की एक अन्य सूची दी है जिसमें कि उनकी वार्षिक आय का भी उल्लेख किया गया है। शुक्र की सूची में क्रमशः सामन्त, मण्डलिका, राजा, महाराजा, स्वराट्, सम्राट, विराट तथा सार्वभौम का नाम आता है।

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार राजा का कार्यालय सबसे नीचे स्तर पर है जबकि सम्राट का सबसे ऊंचे स्तर पर। राजा बनने के लिए केवल राजसूय यज्ञ करना होता है जबकि सम्राट बनने के लिए वाजपेय यज्ञ करना जरूरी है। अन्य ग्रन्थों में राजसूय, अश्वमेध अथवा अन्य किसी यज्ञ को बड़ा बताया गया है किन्तु फिर भी सभी ग्रन्थ सम्राट पद का पदसोपान की सर्वोच्च कड़ी मानते हैं।

सार्वभौम सिद्धान्त के सम्बन्ध में दिग्विजय की मान्यता भी महत्वपूर्ण है जिसके अनुसार राजा सभी दिशाओं में अपनी विजय पताका फहराता था। विजिगीषु के रथ का पहिया किसी भी दिशा में नहीं रुकता। जो उसे रोकने

का प्रयास करता है उसको दबा दिया जाता है। जब रघुवंश के नायक ने सभी राजाओं पर विजय प्राप्त कर ली तो उसे विश्व जीत यज्ञ मानने की शक्ति दी गई। इस सम्बन्ध में मि बी के सरकार लिखते हैं कि "संघीय राष्ट्रवाद, साम्राज्यवादी संघ या विश्व राज्य के रूप में सार्वभौम का सिद्धान्त सम्प्रभुता की हिन्दू विचारधारा के महराब का मुख्य पत्थर है। दूसरे शब्दों में सार्वभौम सहयोग का संदेश राज्य दर्शन के लिए नीति शास्त्रों की अन्तिम देन है।"[1]

भारतीय राज्य व्यवस्था में यह प्रयत्न किया गया था कि प्रत्येक राजा इस बात का प्रयास करे कि वह सभी राजाओं को अपने वश में करके अपनी सत्ता सारे देश पर स्थापित कर ले। पर-राज्यों से सम्बन्ध रखने के लिए उपायों, गुणों तथा नियमों का उल्लेख किया गया था। उन सब के पीछे यही भावना थी कि सभी राजा अपनी राजनीति का इस प्रकार संचालन करें कि सारे देश में उनकी सार्वभौम सत्ता कायम हो सके। मण्डल व्यवस्था को अपना कर एक राजा चक्रवर्ती बनना चाहता था। इस प्रकार विजय प्राप्त करना भारतीय राजनीति का एक मुख्य आदर्श बन गया। विजय प्राप्ति के लिए युद्ध करना होता था और युद्ध के लिए सेना का संगठन करना अत्यन्त अनिवार्य था। अतः प्राचीन भारत में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का अध्ययन करते समय यह जानना भी उपयुक्त रहेगा कि युद्ध की प्रकृति एवं क्रियान्विति से सम्बन्धित भारतीय आचार्यों के विचारों का अध्ययन करें।

युद्ध
(The war)

अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों का एक रूप युद्ध भी होता था। आचार्यों ने राजनीति के उपायों में दण्ड को और षाड्गुण्य में विग्रह को स्थान दिया है। उस समय की राज्य व्यवस्था में युद्ध एक निरन्तर प्रक्रिया थी जिसमें प्रत्येक राज्य किसी न किसी रूप में उलझा रहता था। राज्य की अधिकांश शक्तियाँ युद्ध की तैयारी करने में, अथवा युद्ध करने में अथवा युद्ध का प्रतिकार करने में संलग्न रहती थीं। उस काल में "एक राज्य की सुरक्षा दूसरे राज्य के लिए आक्रमण थी।"[2] प्रो अलतेकर के कथनानुसार "स्मृतियों का

---

1. The doctrine of *Sarva-bhauma* as the concept of federal nationalism, imperial federation, or the universe state, is thus the keystone in the arch of the Hindu Theory of Sovereignty. The message of Pax Sarva Bhaumica, in *other words*, the doctrine of unity and concord is the final *contribution* of niti sastras to the philosophy of the state
—B. K Sarkar, op. cit, p 225

2 Defence to one State was aggression to the other.
—M. V Krishna Rao, Studies in Kautilya, Munsi Ram Manohar Lal, Nai Sarak, Delhi 6, 1958, p 133

भी मत है कि जब राजा अपने राज्य को समृद्ध और सेना को बलवान देखे तथा शत्रु की स्थिति इसके विपरीत देखे तब वह उस पर वे-हिचक आक्रमण कर सकता है।"[1] यद्यपि आचार्यों का यह कथन विश्व शान्ति के सन्दर्भ में अनुपयुक्त एवं खतरनाक दिखाई देता है किन्तु फिर भी यह वास्तविकता का परिचायक था। संसार का आज तक का इतिहास इस बात का साक्षी है कि कमजोर राज्य को शक्तिशाली राज्य द्वारा दबा कर अपनी शक्ति बढ़ाई जाती है। अन्तर्राज्यीय सम्बन्धो में युद्ध की स्थिति को पूर्ण रूप से समाप्त नहीं किया जा सकता। यह एक असम्भव कार्य है। प्राचीन भारत के संघर्ष पूर्ण वातावरण में निरन्तर युद्ध होने के कारण एक अलग से ही वर्ग बन गया था जिसका मुख्य कार्य युद्ध करना था। शुक्रनीति ने शय्या पर पड़े-पड़े मरना क्षत्रिय वर्ग के लिए घोर अधर्म बताया है।

युद्ध एक आवश्यक बुराई है
(War is a Necessary Evil)

आचार्यों ने युद्ध का समर्थन करते हुए भी उसे अधिक प्रशंसनीय दृष्टि से नहीं देखा। उनके अनुसार युद्ध सर्दैव ही एक जोखिम होता है जिसका परिणाम अनिश्चित एवं केवल कल्पना का विषय है। युद्ध का सहारा केवल तभी लिया जाना चाहिए जब कि अन्य सभी साधन प्रयुक्त किये जाने के बाद प्रभावहीन सिद्ध हो चुके हों। महाभारत के भीष्म ने अपने जीवन के व्यावहारिक अनुभवों के आधार पर युद्ध की निन्दा की थी। शर-सय्या पर पड़े हुए वह इसे केवल विवशता का साधन ही कहते हैं। बृहस्पति के मत का समर्थन करते हुए उन्होंने बताया कि 'बुद्धिमान राजा को राज्य-विस्तार की कामना से युद्ध नहीं करना चाहिए। राजा की निपुणता इसी में है कि वह साम, दाम और भेद उपायों द्वारा अपने कार्यों को सिद्ध करे।" युद्ध एक प्रकार के बालक वृत्ति का प्रतीक है। क्रोध और अक्षमा केवल बालकों अथवा मन्द बुद्धियों द्वारा ही किया जाता है। राजा को तो बिना युद्ध किये ही विजय प्राप्त करनी चाहिए क्योंकि युद्ध द्वारा प्राप्त विजय को पण्डितों द्वारा गण-निन्दित माना गया है। इस प्रकार भीष्म ने युद्ध-निषेध सिद्धान्त का पोषण किया है। कामन्दक की स्पष्ट मान्यता थी कि युद्ध से दोनों पक्षों का नाश होता है।

सोमदेव सूरी ने भी इस बात का विरोध किया है कि राज्यों की पारस्परिक विवादग्रस्त समस्याओं के समाधानार्थ युद्ध का आश्रय लेना उपयुक्त रहेगा। उनका विचार था कि जो समस्यायें शान्तिपूर्वक सुलझाई जा सकें उनके लिए युद्ध का मार्ग न अपनाया जाये। जहां गुड़ देने से ही कार्य सिद्ध होता हो वहां जहर का प्रयोग करना उचित नहीं है। युद्ध का आश्रय केवल उन्हीं समस्याओं के समाधान के लिए लिया जाए जो कि दण्ड साध्य हैं।

---

1. प्रो. अलतेकर, पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ २२३

युद्ध के अवसर
(The Occasions for War)

युद्ध एक जोखिम है जिसको उठाने से पूर्व हर प्रकार की सावधानी बरतना जरूरी था ताकि सफलता के अवसर बढ़ जायें। आचार्यों ने इस विषय पर अपने विचार प्रकट किये हैं कि युद्ध कब और किन परिस्थितियों में छेड़ना चाहिए। मनु ने स्पष्ट रूप से इस बात का विरोध किया है कि वर्षा में कभी भी युद्ध की घोषणा कर दी जाए। उनके मतानुसार ऐसा करने से पूर्व जलवायु तथा भूमि की उपज का पर्याप्त ध्यान रखना चाहिए। मार्गशीर्ष, फाल्गुन तथा चैत्र के महीने युद्ध के लिए उपयुक्त माने गये। पर इस नियम को कठोर बनाना उपयुक्त नहीं था। जब एक राजा यह अनुभव करे कि उसकी विजय निश्चित है अथवा शत्रु राजा व्यसनों में व्यस्त है तो वह बे-मौसम भी आक्रमण कर सकता है।

कौटिल्य का मत था कि राजा को युद्ध का आश्रय केवल तभी लेना चाहिए जब कि वह उत्तम सेना से सम्पन्न हो तथा उसके द्वारा किये जाने वाले षड्यन्त्र सफल हो गये हों वह आपद निवारण के लिए उपाय कर चुका हो तथा युद्ध की खातिर उचित स्थान प्राप्त कर चुका हो। यदि ऐसा नहीं हुआ है तो उसे केवल कूटनीतिक युद्ध का ही सहारा लेना चाहिए। कौटिल्य की भांति कामन्दक की भी यही मान्यता रही है कि जिस समय जनता सम्पत्ति-सम्पन्न हो, खेतों में धान्य का आधिक्य हो, मार्ग पर जल या कीच न हो, ग्रामों में चोर आ रहा हो वनों में शोभा हो रही हो उस समय राजा को शत्रु के राज्य में विजय की कामना से गमन करना चाहिए। शत्रु पर आक्रमण करते समय स्वयं की शक्ति एवं शत्रु की व्यसनशीलता का भी ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए। प्रदेश यदि रेगिस्तानी है तो वर्षा के दिनों में और यदि जलवाला दल दल या दुर्गम प्रदेश है तो ग्रीष्म काल में आक्रमण करना चाहिए। युद्ध प्रारम्भ करने से पूर्व सुविधा एवं अनुकूलता देख लेनी चाहिए।

युद्ध के कारण
(The Causes of War)

दो या दो से अधिक राज्यों के बीच युद्ध प्रारम्भ करने में जो उद्देश्य या तत्व कारणों का कार्य करते थे उनके संबंध में भी भारतीय आचार्यों ने जहां-तहां प्रकाश डाला है। सामान्यतः युद्ध का प्रथम कारण साम्राज्य पद की आकांक्षा को माना गया है। प्रत्येक राजा यह चाहता था कि उसका प्रदेश एवं प्रभाव-क्षेत्र बढ़े और मण्डल में उसी की प्रतिष्ठा हो। सम्राट पद प्राप्त करने की अभिलाषा प्रत्येक राजा के अन्तर्मन में समाई रहती थी और वह उस समय उभर कर व्यावहारिक रूप धारण कर लेती थी जबकि वह अपने आप को शक्ति-सम्पन्न माने। प्राचीन भारतीय राज्य व्यवस्था में युद्ध तो स्वाभाविक स्थिति थी। उसका न होना किसी अन्य बात का प्रतीक हो सकता था। तत्कालीन समाज व्यवस्था में चक्रवर्ती या सम्राट होना पूर्व

जन्म के कर्मों का फल अथवा भाग्यशीलता का प्रतीक माना जाता था। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जान की बाजी लगा देना भी कोई मंहगा सौदा नहीं माना जाता था। अतः युद्ध स्वाभाविक था।

युद्ध का दूसरा कारण आत्म-रक्षा था। जब कोई विजिगीषु युद्ध छेड़ देता था तो उसका प्रतीकार करने की गरज से प्रभावित राज्य को भी शस्त्र उठाना होता था। कई बार आक्रमण की आशंका से ही युद्ध प्रारम्भ कर दिया जाता था। तीसरे राज्य अपने प्रदेश का विस्तार करने के लिए भी युद्ध छेड़ देते थे। यदि कोई प्रदेश भौगोलिक, ऐतिहासिक या अन्य किसी भी कारण से महत्वपूर्ण है तो कोई भी राज्य उसे अपने में मिला लेने की इच्छा करता था। ऐसा करने के लिए युद्ध अवश्यम्भावी था। एक राज्य के आधीन कुछ एक सामन्त भी होते थे जो कि राजा को नियमित रूप से कर देते थे तथा अन्य प्रकार से भी स्वामि भक्ति प्रदर्शित करते थे। यदि इनमें से कोई सामन्त राज्य विरोधी कार्यवाही करे या कर देना बन्द कर दे अथवा अन्य किसी प्रकार से उसकी आधीनता न माने तो राजा उसके विरुद्ध युद्ध छेड़ देता था। चौथे, युद्ध कभी-कभी शक्ति संतुलन की स्थापना के लिए भी लड़े जाते थे। जब एक राज्य अधिक शक्ति का संचय कर लेता था और इस प्रकार पड़ोसी राज्यों के लिए खतरा बन जाता था तो कम शक्ति सम्पन्न कुछ राज्य मिल कर उसका प्रतिकार करते थे और इस प्रकार युद्ध छेड़ दिया जाता था। पांचवें, अतीत की स्मृतियां समय आने पर युद्ध छिड़ने का कारण बन जाती थीं। यदि एक राज्य द्वारा पड़ोसी राज्य का कभी किसी भी तरह से अपमान किया गया है तो पड़ोसी राज्य इस अपमान का बदला समय आने पर अवश्य लेगा। मनमुटाव बढ़ेगा और शस्त्रों की झंकार गूंजेगी। छटे, भारतीय आचार्यों ने अधर्म के विनाश तथा पीड़ित जनता की रक्षा के लिए भी युद्ध को अनिवार्य एवं उपयोगी बताया। उनका कहना था कि यदि कोई राजा धर्म विरोधी व्यवहार कर रहा है या अन्यायी है या जिसके शासन में जनता का शोषण किया जाता है तो इस प्रकार के राजा के ऊपर धर्मशील एवं समर्थ राज्य को आक्रमण कर देना चाहिए। ये समस्त कारण अकेले रूप में अथवा संयुक्त रूप में समय-समय पर युद्धों को प्रारम्भ करते रहे हैं। भारतीय इतिहास के पन्ने इन युद्धों एवं रक्त की होलियों के समारोह से भरे पड़े हैं।

महाभारत के भीष्म ने युद्ध-निषेध-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, किन्तु फिर भी वे कुछ परिस्थितियों का वर्णन करते हैं और उनमें किये गये युद्ध को विधि सम्मत मानते हैं। भीष्म द्वारा वर्णित ये परिस्थितियां युद्ध के कारण भी कही जा सकती हैं। यदि लोक रक्षा के कार्य में बाधा आ रही हो तो युद्ध छेड़ना चाहिए। जनता की रक्षा करना प्रत्येक राजा का प्रमुख कर्त्तव्य है और इसी के खातिर राज्य की स्थापना की गई थी। यदि इस कर्त्तव्य-पालन के मार्ग में कोई बाधा आ जाती है तो उसको हटाने की खातिर युद्ध छेड़ा जा सकता था। धर्मपरायण जनता की रक्षा के लिये भी राजा यदि युद्ध छेड़ दे तो भीष्म के मतानुसार विधि सम्मत ही है। इसके अतिरिक्त

शरण में आये हुए की रक्षा के लिए युद्ध प्रारम्भ करना भी अनुपयुक्त नहीं था। इस प्रकार भीष्म के अनुसार लोक रक्षा, प्रजा रक्षण, मित्र रक्षा, शरणागत एवं धर्म की रक्षा निमित्तों के लिए युद्ध छेड़ना अनुपयुक्त नहीं था। दूसरी ओर राज्य की लिप्सा अथवा व्यक्तिगत वैर मात्र के कारण युद्ध छेड़ कर प्राणियों की हत्या करा देना अन्यायपूर्ण माना गया।

युद्ध के प्रकार
(Kinds of War)

युद्ध अपने उद्देश्य एवं प्रक्रिया के अनुसार विभिन्न प्रकार के होते हैं। कौटिल्य ने इन प्रत्येक प्रकारों का उल्लेख किया है। इनमें से तीन प्रमुख हैं—प्रकाश अथवा धर्म युद्ध, कूट युद्ध और तूष्णीं युद्ध। प्रकाश युद्ध कौटिल्य ने उसको माना है जिसमें कि देश और काल की घोषणा युद्ध से बहुत पहले ही कर दी जाती है। इन धर्म युद्धों को कौटिल्य धर्म विजय का नाम देते हैं। इनको दोनों ही पक्ष नैतिकता के मान्य सामान्य नियमों के अनुसार ही आचरण करते थे। बिना नैतिकता के युद्ध को जंगली पाशविकता माना जाता था वह एक मन्याय व्यवहार कहा रह जाता था। धर्म विजय में जो कूटनीतिक एवं समझौते के लिये स्थान किए जाते थे उनका लक्ष्य संघर्ष की सम्भावना को मिटाने के साथ-साथ पड़ोसी राज्यों पर विजय प्राप्त करना भी होता था।

धर्म युद्ध की मान्यता ने युद्ध को ठीक वैसा ही रूप प्रदान कर दिया जो कि वैदिक यज्ञों का था। इस युद्ध के नियम स्पष्टतः प्रतिपादित कर दिये गये तथा योद्धाओं से यह आशा की गई कि वे इनका पालन करेंगे। युद्ध प्रारम्भ करने से लेकर समाप्ति के परिणामों को स्वीकार करने तक का समस्त कार्य धार्मिक अनुष्ठानों के अनुसार किया जाता था। महाभारत की लड़ाई को इसी प्रकार का धर्म युद्ध कहा जा सकता है जो कि प्रातःकालीन शंख की ध्वनि के साथ प्रारम्भ होता था और सांझ होते ही योद्धा ठीक ऐसे बन जाते थे जैसे कि उनके बीच कोई झगड़ा ही न हो।

कूट युद्ध में इन नियमों का अथवा नैतिकता के सिद्धान्तों का कोई स्थान नहीं था। "युद्ध के समय सब कुछ न्याय है" वाला कथन इसमें व्यवहृत किया जाता था। इसमें छल और कपट के साधनों को अपनाकर शत्रु के मन में भय पैदा किया जाता था दुर्गों को तोड़ा जाता था लूटमार की जाती थी घरों को जला दिया जाता था जब शत्रु प्रमाद अथवा किसी व्यसन में ग्रस्त हो तो उस पर आक्रमण किया जाता था एक स्थान से युद्ध को रोक कर पीछे से दूसरे स्थान पर मार काट मचा दी जाती थी। तूष्णी युद्ध में अधार्मिकता एवं अनैतिकता अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाती थी। इसमें जहर तथा घातक औषधियों का प्रयोग किया जाता था, गुप्त पुरुषों के द्वारा शत्रु का वध करा दिया जाता था शत्रु के भेद लेने के लिए प्रत्येक तरीका अपनाया जाता था।

इस प्रकार कौटिल्य ने युद्धों को औचित्य एवं अनौचित्य के आधार पर वर्गीकृत किया है। उसके ऊपर यह दोष लगाया जाता है कि उसने अनु-

चित तथा अधार्मिक युद्ध का समर्थन किया था जिसमें सभी साधनों एवं तरीकों को अपनाया जा सकता था। कौटिल्य के प्रति किया गया यह दोषारोपण कुछ विचारकों को उचित नहीं लगता। उनका कहना है कि कौटिल्य ने अधार्मिक तथा अनुचित युद्ध का जो वर्णन किया वह तो एक राजनैतिक विचारक के रूप में उसको करना ही था, किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं होता कि वह इनका समर्थन करता था। आन्तरिक मामलों में भी उसने अनुचित तरीके केवल उन्ही के विरुद्ध अपनाने को कहा था जो कि राजा के प्रति शत्रुतापूर्ण हैं तथा सामाजिक व्यवस्था को तोड़ना चाहते हैं। अन्तर्राज्यीय सम्बन्धो में कौटिल्य ने भी युद्ध को अधिक प्रशसनीय दृष्टि से नहीं देखा है। जब युद्ध छेड़ने के परिणाम पूर्णतः सदिग्ध हों तो कौटिल्य ने राजा को शांतिपूर्ण रहने के लिए कहा है। युद्ध में मनुष्य एवं धन का नाश होता है अतः जहां तक सम्भव हो इसको नहीं अपनाना चाहिए। इनके स्थान पर सन्धि या अन्य किसी शान्तिपूर्ण साधन का प्रयोग करना चाहिए। अर्थशास्त्र में अनेक स्थानों पर छोटे राज्यों पर आक्रमण करने की अपेक्षा उसकी रक्षा करने की बात कही गई है। यदि कोई शक्तिशाली शत्रु छोटे राज्य को धमकी देता है या आक्रमण कर देता है तो अन्य शक्तिशाली राज्य को उसकी रक्षा करनी चाहिए। इस प्रकार उन्होंने छोटे राज्यों की सुरक्षा की पर्याप्त व्यवस्था की।

कामन्दक ने भी कौटिल्य द्वारा वर्णित युद्ध के भेदों को स्वीकार किया है। उनका मतलब है कि जब देश, काल अनुकूल हो और शत्रु की प्रकृतियों तथा शत्रु के बीच मतभेद हो तो ऐसी स्थिति में प्रकाश युद्ध का सहारा लेना चाहिए। दूसरी ओर यदि स्थिति इसके विपरीत है तो कूट युद्ध एवं तूष्णी युद्ध का सहारा लिया जाय। कामन्दक द्वारा युद्ध के इन प्रकारों के विशेष लक्षणों का वर्णन नहीं किया गया है तो भी जहां-तहां दिये गये वृतान्त से यह ज्ञात होता है कि इन्होने कौटिल्य प्रदत्त लक्षणों को स्वीकार किया है। कामन्दक का कहना है कि कूट युद्ध में थके हुए तथा रात्रि में सोये हुये सैनिकों का वध कर देना एवं सूर्य के सम्मुख अथवा आंधी के सम्मुख मिची आंखों वाली शत्रु सेना का वध कर देना विधि संगत माना है। ऐसा करने से अधर्म अथवा नरक की प्राप्ति नहीं होती। विश्वास के साथ सोई हुई पाण्डु सेना को द्रोण पुत्र ने मार डाला था।[1]

युद्ध के प्रकारों का शुक्र ने जो विवरण दिया है वह पर्याप्त भिन्नता रखता है। वे युद्धों को दो आधारों पर वर्गीकृत करते हैं। युद्ध संचालन की प्रणाली के आधार पर युद्ध पांच प्रकार के होते है—दैविक युद्ध, आसुर युद्ध, मानव युद्ध, शस्त्र युद्ध तथा बाहु युद्ध। इन पांच प्रकार के युद्धों के अलावा युद्ध के नियमों के आधार पर युद्ध के दो भेद और भी बतलाये गये हैं—धर्म युद्ध और कूट युद्ध। इस प्रकार शुक्र ने युद्ध के सात भेदों का उल्लेख किया है। इनमे मन्त्रों से प्रेरित करके महाशक्तिशाली बाण द्वारा जो युद्ध

1. कामन्दक नीति, १८।६६

किया जाता है वह दैविक अथवा मन्त्र युद्ध कहलाता है। शुक्र ने इसे सर्वोपरि माना है। नली वाले अस्त्रों द्वारा जो युद्ध किया जाता है उसे आसुर युद्ध कहा गया है। मानव युद्ध को भी दो श्रेणियों में बांटा गया। शस्त्र युद्ध सैनिकों की भुजाओं के बल से चलाये गये शस्त्रों द्वारा किया जाता है जबकि बाहु युद्ध में उलट पुलट कर शत्रु को खींच-खांच कर, उसकी सन्धियों को आघात पहुंचाकर युक्ति से मारा अथवा बांधा जाता है। इस युद्ध को बाहु युद्ध इसलिए कहते हैं क्योंकि इसमें शस्त्रों का प्रयोग नहीं किया जाता। धर्म युद्ध निर्धारित नियमों के अनुसार किया जाता है और कूटयुद्ध में इन सभी नियमों को छोड़ दिया जाता है।

युद्ध का क्रियान्वित रूप
(The war at Battlefield)

भारतीय आचार्यों ने युद्ध की अच्छाई, बुराई या प्रकार आदि का वर्णन करके ही सन्तोष नहीं कर लिया वरन् उन्होंने इसकी क्रियान्विति से सम्बन्धित बातों को भी विस्तार के साथ रखने की चेष्टा की। प्रमुख आचार्यों ने इस बात पर अपने विचार प्रकट किये हैं कि सेना का संचालन किस प्रकार किया जाय। युद्ध के संचालन का क्या तरीका अपनाया जाय, युद्ध करते समय किन किन नियमों का पालन किया जाये और जब युद्ध में एक पक्ष पराजित हो जाय तो उसके साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जाये।

सेना जब युद्ध करने के लिए चले तो उसे किस प्रकार चलना चाहिए। इस सम्बन्ध में मनु ने बताया है कि चलने से पूर्व सेना को अपने राज्य की रक्षा की समुचित व्यवस्था कर देनी चाहिए, यात्रा के समय जिस सामग्री की आवश्यकता होगी वह सब साथ ले लेनी चाहिए, अपने गुप्तचरों को मार्ग में नियुक्त कर देना चाहिए, सम, विषम और जलीय मार्गों से शत्रु की ओर प्रस्थान करना चाहिए। मार्ग के प्रकार एवं समय की जरूरत के अनुसार व्यूह का निर्माण करना चाहिए। व्यूह अनेक प्रकार के होते हैं जैसे—शकट व्यूह, दण्ड व्यूह वराह व्यूह मकर व्यूह, सूची व्यूह, गरुड़ व्यूह आदि। सेना द्वारा इनमें से किसी भी व्यूह को अपनाया जा सकता था किन्तु राजा को तो सदैव ही पद्म व्यूह में रह कर चलना चाहिए था। कामन्दक ने सेना के संचालन के लिये जिन तीन मार्गों का उल्लेख किया है वे हैं—सम, विषम एवं निम्न। सम भूमि में अश्वों द्वारा तथा विषम जलपूर्ण तथा पर्वतीय भूमि पर हाथियों द्वारा आक्रमण किया जाना चाहिए।

मनु का कहना है कि जब सेना युद्ध स्थल पर पहुंच जाये तो उसे टोलियों अथवा जत्थों में जरूरत के माफिक विभाजित कर देना चाहिए। इन टोलियों का नामकरण सुविधा के अनुसार किया जाना चाहिए ताकि उनको आज्ञा देने में किसी प्रकार की असुविधा न हो। यदि सेना कम है तो सहत युद्ध करना चाहिए और यदि सेना पर्याप्त है तो खूब फैल फूट कर युद्ध करना चाहिए। मनु ने इस बात पर पर्याप्त जोर दिया है कि व्यूहों का आश्रय लेकर युद्ध करना चाहिए। युद्ध में शत्रु को कमजोर करने के लिए हर प्रकार की

नीति का अवलम्बन करना चाहिए। शत्रु को भली प्रकार घेर लिया जाये तथा उसका उत्पीड़न किया जाये। उसके अन्न, जल, चारा, ईंधन आदि के भण्डारों को एवं स्रोतों को नष्ट कर दिया जाये। रात्रि काल में शत्रु को अनेक प्रकार से तंग किया जा सकता है।

कूट युद्धों एवं तूष्णीं युद्धों को छोड़ कर शेष युद्धों का संचालन कुछ नियमों के अनुसार करने के लिए कहा गया। युद्ध को विवशता का परिणाम मानने वाले आचार्यों ने इसमें मानवीयता के प्रतीकों को यथासम्भव अपनाने के लिए कहा। मनु ने युद्ध में छल-कपट तथा धूर्तता का आश्रय लेकर अपने विपक्षी योद्धा को मारने का निषेध किया है। उन्होंने कुछेक परिस्थितियों का वर्णन किया है जिनमें कि युद्ध स्थल में व्यक्ति को नहीं मारना चाहिए। मनु द्वारा वर्णित युद्ध के नियमों में एक यह था कि समर्थ योद्धा को समर्थ योद्धा से ही युद्ध करना चाहिए। यदि किसी के पास से हथियार अथवा वाहन छूट गया है तो उस स्थिति का लाभ उठा कर उसे मार नहीं देना चाहिए। दूसरे, शत्रु को असावधानी अथवा अचेतावस्था में नहीं मारना चाहिए। पहले शत्रु को भली प्रकार सचेत कर दे तब युद्ध प्रारम्भ करे। युद्ध न करने वाले को नहीं मारना चाहिए। पराजय स्वीकार कर लेने वाला शरणार्थी भी अवध्य बन जाता है। युद्ध से भागने वाले अथवा डरे हुए व्यक्ति को न मारने का विधान किया गया। मनु ने कुछ ऐसे आयुधों का प्रयोग न करने की भी बात कही है जिनसे व्यक्ति को विशेष कष्ट पहुंचाता है तथा जिसका प्रयोग करना अमानवीय है। मनु ने युद्ध को वीरता-प्रदर्शन की एक क्रिया माना है अतः वे हर प्रकार के छल-कपट को इससे दूर रखना चाहते हैं।

भीष्म द्वारा भी धर्म युद्ध के कुछ नियमों का उल्लेख किया है। उनका मत है कि राजा का युद्ध राजा से ही होना चाहिए, अन्य किसी व्यक्ति को राजा के सामने युद्ध के लिए प्रस्तुत नहीं होना चाहिए। शरणागत का वध नहीं करना चाहिए। शस्त्रहीन व वाहनहीन पर प्रहार नहीं करना चाहिए। दो सेनाओं के बीच खड़ा हो कर यदि ब्राह्मण शान्ति स्थापना की बात कहे तो दोनों पक्षों को मान लेना चाहिए। घायल पुरुष की चिकित्सा कराई जाये और उसके ठीक होने पर वह छोड़ दिया जाये। युद्ध में स्त्री, बालक, वृद्ध, रथवाहक आदि की हत्या नहीं करनी चाहिए। भीष्म ने दूत को भी अवध्य माना है। यदि कोई राज्य दूत की हत्या करता है तो वह अपनी स्त्रियों सहित नरक का गामी होगा तथा उसके पितरों को भ्रूण हत्या का पाप लगेगा। कौटिल्य ने भी युद्ध के प्रायः उन्हीं नियमों का वर्णन किया है जो कि मनु द्वारा स्वीकार किये गये हैं। कौटिल्य का कहना है कि जब युद्ध का प्रारम्भ हो रहा हो तो अग्नि का प्रयोग नहीं करना चाहिए। 'अग्नि' विनाश का एक ऐसा साधन है जो उचित अनुचित का भेद करना नहीं जानती।

युद्ध में किसी एक पक्ष की जीत होती है और दूसरा पक्ष पराजित होता है। इन दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध युद्ध के बाद कैसा होना चाहिए तथा पराजित राज्य एवं राजा के प्रति किस प्रकार का व्यवहार किया जाना

चाहिए, इस सम्बन्ध में भी आचार्यों ने अपना मत प्रकट किया है। मनु का मत है कि विजेता राजा को पराजित राजा के प्रति सज्जनतापूर्ण व्यवहार करना चाहिए। उसके किसी भी कार्य से पराजित राजा अथवा उसकी प्रजा को किसी प्रकार की हार्दिक वेदना नहीं होनी चाहिए। विजेता को चाहिए कि वह विजित राज्य के लोगों की धर्म परम्परा एवं मर्यादाओं को मान्यता दे। विजित राज्य के व्यक्तियों का धन से सत्कार करना चाहिए तथा उन राज्य में अच्छे शासन की व्यवस्था करनी चाहिए। विजित राज्य को अपने राज्य में न मिलाने की बात कही गई। इस सम्बन्ध में प्रो० अल्तेकर का कहना है कि 'विजय के बाद जीते हुए राज्य को अपने राज्य में न मिलाने की सलाह दे देना आसान बात है किन्तु इसका कार्यान्वित करना कठिन है। परन्तु प्राचीन भारतीय इतिहास से यही सिद्ध होता है कि अधिकतर इसका पालन ही होता था।'[1] पराजित राज्य के राजा को पदच्युत करके उसी के वंश के अथवा अन्य किसी योग्य व्यक्ति को उस का राजा बनाना चाहिए तथा उसे सन्धि करके अपना मित्र बना लेना चाहिए। मित्र बनाने को महत्वपूर्ण मानते हुए मनु ने कहा है कि एक राजा की उन्नति स्वर्ण और भूमि से इतनी नहीं होती जितनी भविष्य में दुर्बल राजा से भी सहायता प्राप्त करने की सम्भावना से होती है।

विजेता राजा द्वारा किये जाने वाले व्यवहार का स्पष्ट विवरण कौटिल्य द्वारा दिया गया है। उनका कहना है कि विजेता राजा को विशेष रूप से सावधान एवं सचेत रहने की परम आवश्यकता है। उसे पराजित राजा के अवगुणों को अपने गुणों से तथा उसके गुणों को अपने दुगने गुणों से दबा देना चाहिए। विजित राज्य के लोगों को धर्म, अनुग्रह, कर मुक्ति एवं दान आदि के व्यवहार द्वारा सन्तुष्ट एवं प्रसन्न करना चाहिए। जो व्यक्ति राजा के प्रति विशेष श्रम करता है उसको विशेष अधिकार एवं धन प्रदान किये जाने चाहिए। विजेता राजा को चाहिए कि वह विजित राज्य की जनता के अनुकूल ही वेष-भूषा एवं भाषा का व्यवहार करे। उसे वहां की धार्मिक परम्पराओं एवं रीति रिवाजों के प्रति श्रद्धा दिखानी चाहिए। जनमत की नब्ज को गुप्तचरों के माध्यम से सदैव ही देखते रहना चाहिए तथा उनको अपने अनुकूल एवं अपने को उनके अनुकूल करते रहना चाहिए। चरों को चाहिए कि वे पूर्व राजा के दुर्गुणों एवं व्यसनों को बढ़ा चढ़ा कर वर्णित करें तथा अपने राजा की वीरता, धर्म एवं विद्वता आदि का गुणगान करें। राज्य के बन्दी मुक्त कर दिये जावें तथा अनाथों, गरीबों एवं दुखियों पर दया प्रदर्शित की जाये। बालक तथा स्त्री की हत्या नहीं करानी चाहिए। किसी अधिकारी के पुंसत्व का नाश नहीं किया जाना चाहिए। पराजित राजा के जो दुर्गुण उसकी हार के कारण बने थे उनको नहीं अपनाना चाहिए। प्रजा जिन गुणों की प्रशंसा करती है उन गुणों का अधिक से अधिक विकास करना चाहिए। राजा को अपने गुणों का प्रकाशन विशेष रूप से करना चाहिए तथा उनके नीचे पूर्व राजा के गुणों एवं अवगुणों को दबा देना चाहिए।

1. प्रो० अल्तेकर, पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ—२२६।

विजित राजा यदि सदाचारी था तो विजेता को और भी सावधानी बरतनी चाहिए। यदि सदाचारी विजित राजा की मृत्यु हो गई है तो उसकी सम्पत्ति, भूमि, स्त्रियों एवं पुत्रों को विजेता राजा द्वारा अपने अधिकार में नहीं करना चाहिए। इसके विपरीत उसके सम्बन्धियों को राज्य के उच्च पदों पर लगाना चाहिए। यदि राजा युद्ध में ही मारा जाये तो उसके पुत्र को राज-सिंहासन पर बैठाना चाहिए। ऐसा करने पर ही वे सब विजेता राजा के अनुगामी हो सकेंगे। जो राजा इसके विपरीत व्यवहार करता है वह अपने लिए आपत्तियों को आमन्त्रित करता है। उससे अन्य राजा क्रुद्ध हो जाते हैं तथा उसके नाश का प्रयास करने लगते हैं। ऐसे राजा के अमात्य भी भय-भीत हो कर विद्रोहियों के साथ हो कर उस राजा को उखाड़ने का प्रयास करते हैं। अतः उचित यह रहेगा कि साम या दान आदि नीतियों का प्रयोग करते हुए वह पूर्व राजा के समर्थकों एवं अनुयायियों को अपना समर्थक बना ले।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन भारतीय आचार्यों ने युद्धों को यथासम्भव मानवीय बनाने का प्रयास किया और इस प्रयास में युद्धों की नियमावलि बनायी गई, अनेक प्रतिबन्ध लगाये गये, तथा व्यवस्थायें की गईं। युद्ध के साथ धर्म शब्द भी लगाया गया क्योंकि यह धार्मिक तथा नैतिक आचारों के अनुसार संचालित किया जाता था। यही कारण है कि युद्ध परिणाम अधिक विनाशकारी नहीं बन पाते थे। युद्ध में भाग न लेने वाले व्यक्तियों को प्रभावित नहीं किया जाता था। युद्ध काल में भी नागरिक जीवन सामान्य गति से चलता रहता था। कृषिभूमि एवं बाग-बगीचों को कोई नुकसान नहीं पहुंचाया जाता था। नैतिकता एवं धर्म के संदर्भ में प्रत्येक व्यवहार युद्ध में उचित नहीं माना गया था। पराजित राजा के प्रति मानवीय सलूक किया जाता था। विजित राज्य को अपने अधिकार में करने की लिप्सा नहीं रहती थी और या तो पूर्व राजा को अथवा उसके ही किसी सम्बन्धी को राज्यगद्दी सौंप दी जाती थी। विजित राज्य के नागरिकों को लूटने की अपेक्षा उनको अधिक से अधिक सुविधायें प्रदान करके उनके प्यार को जीतने का प्रयास किया जाता था।

विजित राजा का यह कर्त्तव्य नहीं माना गया था कि वह विजित राज्य के राज-परिवार को नष्ट कर उस राज्य को अपने में मिला लें। एक छत्र राज्य का यह अर्थ नहीं लिया जाता था। राजा की महत्वाकांक्षा केवल यही रहती थी कि विजित राज्य उसकी आधीनता स्वीकार कर ले तथा उसका करदाता बन जाये। इसी कारण यह आग्रह किया जाता था कि यदि जीते हुये राज्य का राजा कुलहीन है तो उसके निकट के ही किसी व्यक्ति को राजा बनाया जाये। रामायण में बालि की मृत्यु के बाद सुग्रीव को तथा रावण की मृत्यु के बाद विभीषण को राज्य सौंपा गया। महाभारत में भी यही विवरण है कि पाण्डवों ने दिग्विजय करते समय राज्यों को अपने साथ मिलाया नहीं किन्तु उनको करदाता भाग बना दिया।

प्राचीन भारत में कूटनीति
(Diplomacy in Ancient India)

विजय प्राप्ति के लिए आचार्यों ने कूटनीतिक साधनों का भी उल्लेख किया है। मनु स्मृति मे इन कूटनीतिक साधनों का उल्लेख करने के बाद यह कहा गया है कि नीति कुशल राजा को चाहिए कि वह उन सब तरीकों का प्रयोग करे जिससे कि शत्रु मित्र एवं उदासीन राज्य अधिक बलवान न होने पाये। कौटिल्य का अर्थशास्त्र, महाभारत का शान्तिपर्व एवं अन्य अनेक ग्रन्थों ने इन कूटनीतिक साधनों का उल्लेख किया है। वैसे तो इस बात पर जोर दिया गया था कि मित्रों, उदासीनों एवं मध्यम राज्यों को अपने पक्ष मे बनाये रखने के लिए हर सम्भव प्रयास किया जाये किन्तु तो भी कूटनीतिक व्यवहार मुख्य रूप से शत्रुओं के साथ प्रयुक्त करने के लिए ही था। कूटनीतिक उपायों के वर्णन का अपना एक महत्व था। धार्मिक नियमों की जो मर्यादायें राज्यों के पारस्परिक व्यवहार पर लगाई गई थीं उनका पालन केवल धर्मभीरु राजाओं द्वारा ही किया जाता था। दुष्ट प्रकृति का अधार्मिक राजा तो किसी प्रकार का प्रतिबन्ध मानता ही नहीं था। उसे नियमों से नहीं वरन् शक्ति से ही नियन्त्रित किया जा सकता था। ऐसी स्थिति में धार्मिक नियन्त्रण धर्मशील राजाओं को हानि की स्थिति मे रख देते थे। अतः यह कहा गया कि ऐसे राजा से संघर्ष करते समय किसी प्रकार का धार्मिक नियन्त्रण न माना जाये।

धार्मिक राजा को भी कूटनीतिक उपायों का प्रयोग इस प्रकार करने के लिए कहा गया कि अधर्मी राजा को नियन्त्रण में लाया जा सके। यह आचार्यों के व्यावहारिक दृष्टिकोण का प्रतीक प्रतीत होता है। शत्रु विजय की लालसा एवं चक्रवर्ती सम्राट बनने की महत्वाकांक्षा के पीछे किसे यह होश रहता था कि वह धार्मिक नियमो का पालन करे। इतने पर भी यह कहा गया कि कूटनीतिक उपायो का प्रयोग समय की परिस्थिति के अनुसार किया जाये। इनको केवल राजाओं के साथ ही प्रयुक्त किया जाये न कि उनकी प्रजा के प्रति। प्रजा के साथ तो सदैव ही धर्मपूर्ण व्यवहार करना चाहिए। बताये गये कूटनीतिक साधन दिखने मे तो अधार्मिक एवं अनैतिक लगते थे किन्तु अपने उद्देश्य के आधार पर वे उचित ठहराये जा सकते थे। महाभारत के भीष्म के अनुसार धर्म केवल वही नहीं है जो कि श्रुतियों या स्मृतियों मे कहा गया है वरन् सज्जन लोगों की बुद्धि भी अनेक बार धर्म का निर्णय करती है। विजयाभिलाषी राजा को भी समय की आवश्यकता एवं परिस्थितियों की मजबूरी को देखते हुए निर्णय लेना चाहिए। राजा का जन्म दूसरों का हित साधन करने के लिए हुआ है इसलिए उसको भीषण कार्य करने होते हैं क्योंकि अवध्य का वध करने मे दोष है किन्तु वध्य का वध न करने मे भी दोष होता है।

प्राचीन भारत में अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति की यह एक मुख्य मान्यता थी कि आक्रमण करने के लिए युद्ध का सहारा नही लेना चाहिए। जब साम,

दाम एवं भेद आदि नीति के सभी रूप असफल हो जायें तो अन्तिम उपाय के रूप में विवश होकर युद्ध को अपनाना चाहिए।

वार्ता, दबाव, समझौता एवं युद्ध की धमकी आदि कूटनीति के तत्व थे। कूटनीतिक व्यवहार में कुशल राजा को पृथ्वी का विजेता माना गया। विजिगीषु कूटनीतिक व्यवहार का केन्द्र था। यह पुरोहित द्वारा अनुशासित किया जाता था। उसमें छः गुणों का होना अनिवार्य माना गया। ये थे—भाषण की कुशलता, साधनों का तत्काल प्रबन्ध करना, बुद्धिमत्ता, याददास्त, राजनीति एवं नैतिक आचरण का ज्ञान। विजिगीषु अपने शत्रु को समाप्त करने के लिए सात साधन अपनाता था जैसे—जादू, दवायें, भेंट आदि।

कौटिल्य ने जिस कूटनीति का वर्णन किया है वह मैकियावेली से भिन्न है। इसकी जड़ें नैतिक उत्तरदायित्वों में निहित हैं।

आचार्यों ने जिस मण्डल व्यवस्था की स्थापना की थी उसका केन्द्र बिन्दु भी स्वयं विजिगीषु ही था। वह अरिराज्य, मध्यम राज्य एवं उदासीन राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों का रूप निश्चित करता था। वह अपनी मंत्र शक्ति, उत्साह शक्ति, एवं प्रभु शक्ति के माध्यम से बुद्धि, कोष और साहस का सहारा लेकर गत्यात्मक क्रिया सम्पन्न करता था। विजिगीषु की यह प्रमुख समस्या रहती थी कि मण्डल के सदस्यों को कैसे अपने अधिक से अधिक हित में किया जाय। साम, दाम, दण्ड और भेद की नीति अपना कर विजिगीषु मण्डल के सभी सदस्यों को अपने प्रभाव में कर लेता था। सामान्य रूप से विजय सम्भव न होने के कारण स्वामी को सन्धि करनी पड़ती थीं अथवा तटस्थता की नीति अपनानी होती थी। वह षाड्गुण्य को अपना कर व्यवहार संचालित करता था। ये तत्कालीन कूटनीति का एक महत्वपूर्ण अंग थे। कौटिल्य ने युद्ध को एक बुराई मानते हुए स्वामी को प्रत्येक ऐसी नीति अपनाने को कहा जो कि मण्डल की एकता एवं समरूपता को बढ़ावा दे सके। सन्धि एवं आश्रय की नीति केवल अच्छे राजाओं के साथ अपनानी चाहिए और उसे यथासंभव बनाये रखा जाना चाहिए। शान्ति वार्ता बराबर वालों से या अपने से उच्च से करनी चाहिए।

कौटिल्य ने कूटनीति एवं रणकौशल पर विचार करने वाले के रूप में सशस्त्र संघर्ष की अपेक्षा कूटनीतिक संग्रामिका को अधिक महत्व दिया। युद्ध घोषित हो जाने के बाद भी खुले संघर्ष की अपेक्षा कूटनीतिक प्रयासों से ही यदि विजय प्राप्त हो जाये तो अच्छी मानी गई थी। कौटिल्य की आसन या तटस्थता की मान्यता विश्व राजनीति के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण देन थी। उदासीन राज्य तो स्थाई रूप से तटस्थ रहते थे। इतने पर भी मण्डल में उनका स्थान एव महत्व था। उपेक्षासन की मान्यता द्वारा यह बताया गया कि एक राज्य बिना किसी का मित्र अथवा शत्रु बने ही मध्यम सम्बन्ध विकसित कर सकता था।

कौटिल्य की कूटनीति में उपायों के माध्यम से षाड्गुण्य की क्रियान्विति भी अपना महत्व रखती थी। उपायों में माया तथा इन्द्रजाल को कूटनीतिक

व्यवहार का निम्न तत्व माना गया तथा अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता एवं कूटनीति के सिद्धान्तों में स्थान नहीं दिया गया। कूटनीतिक व्यवहार में उपेक्षा का प्रयोग आधुनिक काल में भी अपना महत्व रखता है। कौटिल्य ने बताया था कि कमजोर राष्ट्र, जो कि शक्तिशाली राज्य के साथ खुला युद्ध नहीं कर सकते थे, को अपने पड़ौसियों के प्रति पूर्ण उदासीनता का दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। यह आत्म रक्षा के लिए जरूरी था। उसी प्रकार यह बराबर की अथवा उच्चतर शक्तियों के बीच शत्रुता के वातावरण को कम करने में भी सहयोगी था। उपेक्षा को अर्थ शास्त्र में उदासीन दृष्टिकोण का ही एक पहलू माना है किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि इससे दो युद्धरत शक्तियों के बीच की कटुता किसी प्रकार कम नहीं होती थी। जब एक उच्चतर शक्ति द्वारा आक्रमण की धमकी दी जाती थी उसको सक्रिय विरोध द्वारा नहीं रोका जा सकता था किन्तु उपेक्षा या पूर्ण उदासीनता से उसे शान्त किया जा सकता था। बदतर रूप से उकसाने पर भी धीरज और शान्ति के गुणों द्वारा युद्ध को रोका जा सकता था।

प्राचीन भारत में कूटनीतिक सम्बन्धों का रूप अत्यन्त जटिल था। उस समय समझौता वार्तायें बहुत अधिक संख्या में हुआ करती थीं। यही कारण है कि कूटनीतिक प्रतिनिधियों, संदेश वाहकों तथा गुप्तचरों को पर्याप्त महत्व दिया गया। वे कूटनीति व्यवहार के अविभाज्य एवं नियमित भाग बन गये। कूटनीतिक अधिकारी अपने स्वामी के हितों का प्रतिनिधित्व करने के लिए दूसरे राजा के दरबार में नियुक्त किया जाता था। यह प्रकाश दूत होता था और इस प्रकार और गूढ़ दूतों से भिन्न होता था जो कि गुप्त एजेन्ट होते थे। प्रकाश दूत का कार्य था युद्ध घोषणा को प्रसारित करना, मित्र बनाना तथा राज्य के अधिकारियों एवं प्रजा के बीच भेद डालना। राजदूत तीन प्रकार के होते थे– निसृष्टार्थ, परिमितार्थ और शासन हर।

गुप्तचर कूटनीतिक अधिकारी के नियन्त्रण में रहते थे और अपनी गतिविधियों के लिए उसी के प्रति उत्तरदायी थे। गूढ़ पुरुष का मुख्य कार्य शत्रु प्रदेश में महत्वपूर्ण सूचना एकत्रित करना तथा उसे अपने देश की सरकार के पास भेजना था। दूत को हवा की तरह तीव्र और सूर्य की तरह शक्तिशाली होना था। कौटिल्य ने गुप्तचरों के जो नौ भेद किये हैं, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस काल में कूटनीति का क्या असर था। गुप्तचरों के कार्यों एवं स्थिति के सम्बन्ध में पीछे हम विस्तार के साथ अध्ययन कर चुके हैं। अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों में इनका पर्याप्त महत्वपूर्ण स्थान था। यहाँ तक कि थल सेना एवं जल सेना भी इनकी जांच से बाहर नहीं रहती थी। सेना के विभिन्न विभागों एवं अधिकारियों के प्रत्येक कार्य पर सूक्ष्म दृष्टि रखी जाती थी। मण्डल को शुद्ध रखने के लिए यह सब किया जाना जरूरी था। विरोधी तथा शत्रु पक्ष के गुप्तचरों द्वारा मण्डल को अशुद्ध बनाया जा सकता था। राजनीति का सारा खेल आसपास के राज्यों के बीच शक्ति सन्तुलन की स्थापना करने के लिए था। इसके लिए आन्तरिक जागरूकता आवश्यक थी। एक ऐसे राज्य से भी आक्रमण की आशा की जा सकती थी जो कि कल्पना के बाहर था। कामन्दक ने मण्डल की तुलना एक चक्र से की है जिसकी धुरी विजिगीषु होता

है। अन्य राज्य इस के बाहर का पहिया तथा उसे मिलाने वाली ताडियां होते हैं। यदि धुरी मजबूत है तो वह गति के समय ताडियों एवं पहिए को यथास्थान रख सकेगी। धुरी में किसी प्रकार की कमजोरी पूरे चक्र के लिए खतरनाक हो सकती है। विजिगीषु का यह कर्तव्य था कि वह अपने मण्डल के चक्र को युद्ध एवं विनाश से अछूता रखे। इसके लिए उसे लालच, अविवेक एवं अनौचित्य से दूर रहने को कहा गया।

उपसंहार

प्राचीन भारत में अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों का अध्ययन करने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन आचार्यों ने अपनी रचनाओं में आदर्श और यथार्थ का एक अद्‌भुत समन्वय किया था। उन्होंने व्यक्ति की महत्वाकांक्षा, शक्ति प्रेम, पद लालसा, सम्मान की भूख आदि प्रवृत्तियों को कुछ ऐसा रूप दिया कि वे कम से कम विध्वंशकारी बन सकें तथा जन रक्षा, जन व्यवस्था एवं प्रगति के लिए समुचित व्यवस्था की जा सके। प्राचीन भारत की राज्य व्यवस्था में अनेक छोटे-बड़े राज्यों के अस्तित्व को स्वीकार किया गया था। जब विजेता राजा से यह कहा गया कि वह विजित राज्य को पूर्व राजा या उसी के किसी वंशज को प्रदान कर दे तो यह स्पष्ट था कि इन राज्यों को मिटाने का कोई इरादा नहीं किया गया था। एक छत्र राज्य का अर्थ केवल यही माना गया था कि एक राज्य की आधीनता स्वीकार कर ली जाये तथा उसे कर प्रदान किया जाये। अधिनस्थ राज्य की आन्तरिक व्यवस्था में मुख्य राज्य द्वारा कोई हस्तक्षेप नहीं किया जाता था। शासन कार्यों में सुव्यवस्था एव दक्षता लाने की गरज से ही छोटे राज्यों के अस्तित्व को स्वीकार किया गया। छोटे राज्य मण्डल व्यवस्था को अपना कर अपनी रक्षा का प्रयत्न करते थे। मण्डल का केन्द्र बिन्दु विजिगीषु होता था जो कि साम, दाम, दण्ड और भेद के उपायों तथा सन्धि, विग्रह दान आदि षाड्‌गुण्य का प्रयोग करके दूसरे राज्यों पर अपना प्रभाव बढ़ाता रहता था।

युद्ध के सम्बन्ध में आचार्यों का मत स्पष्ट था कि यह अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों का कोई सही रूप नहीं है। फिर भी मानवीय कमजोरी युद्ध को मजबूरी एवं विवशता में भी परिणत कर सकती थी। युद्ध को यदि अपनाया भी जाये तो वह धार्मिक एवं नैतिक नियमों से प्रशासित होना चाहिए। धर्म युद्ध के नियमों का पालन न करने वाले राजा को अन्य राजाओं द्वारा बदनाम किया जाता था। प्रजा भी ऐसे राजा को आदर की निगाह से नहीं देखती थी। धर्म और नैतिकता को महत्व देने के कारण सारा देश एकता के सूत्र में बंध गया और किसी भी विदेशी आक्रमण के समय इस सूत्र ने एक होकर संघर्ष करने के लिए प्रेरित किया। इस सम्बन्ध में डाक्टर सुरेन्द्र नाथ मित्तल का यह कथन उल्लेखनीय है कि "भारतीय समाज रचयिताओं ने अपनी निर्मित की हुई समाज रचना के साथ मिली हुई सुव्यवस्थित और सुयोजित राज्य व्यवस्था भी तैयार की थी ताकि इस राज्य व्यवस्था से रक्षित और वर्धित यह समाज रचना व्यक्ति और समाज दोनों की आध्यात्मिक और भौतिक उन्नति

करने में समर्थ हो सके तथा संसार के समक्ष एक सुगठित आदर्श जीवन का चित्र प्रस्तुत कर सके।"[1] अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों के जो आदर्श एवं सिद्धान्त प्राचीन भारतीय आचार्यों द्वारा प्रतिपादित किये गये हैं उनमें से अधिकांश आज के अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में उतनी ही सत्यता एवं महत्व रखते हैं। सम्भवतः यह इस लिए है कि परिस्थितियां बदल जाने पर भी मानव प्रकृति प्रायः वही है जो पहले थी।

1. डा० सुरेन्द्रनाथ मित्तल, समाज और राज्य' भारतीय विचार, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद,1967, P 367

कौटिल्य का अर्थशास्त्र
(THE ARTHSHASTRA OF KAUTILYA)

कौटिल्य का अर्थशास्त्र भारतीय राजनीति का सबसे अधिक स्पष्ट, वैज्ञानिक एवं विस्तृत ग्रन्थ है जिसके आधार पर तत्कालीन राजनैतिक विचारों एवं संस्थाओं का परिचय प्राप्त होता है। प्राचीन भारतीय राजनीति के अध्ययन में एक सबसे बड़ी समस्या यह है कि इसके अध्ययन के स्रोत बहुत कम हैं। ऐसी स्थिति में कौटिल्य का अर्थशास्त्र एक अमूल्य निधि माना जा सकता है। सन् १६०५ में डा० आर० शाम शास्त्री द्वारा अर्थशास्त्र की खोज किये जाने और सन् १६१४ में इसके प्रकाशित होने से पूर्व भारतीय राजनीति जैसे किसी विषय के अस्तित्व में विश्वास नहीं किया जाता था। इस ग्रन्थ ने भारत के राजनैतिक जीवन से सम्बन्धित अनेक त्रुटियों को दूर कर दिया। अर्थशास्त्र का अध्ययन करने के बाद डा० गणपति शास्त्री, जॉली (Jolly), डा० विन्टर निट्ज (Dr Winter Nitz), मेयर्स (Meyers) आदि ने अपने मूल्यवान विचार प्रस्तुत किये हैं। अर्थशास्त्र से पूर्व के जिन ग्रन्थों में राजनीति पर विचार किया गया था, वे मूल रूप से धार्मिक या नैतिक ग्रन्थ थे। राजनीति के सम्बन्ध में उन्होंने केवल प्रसंगवश विचार किया, इसके विपरीत अर्थशास्त्र एक मात्र राजनीति का ही ग्रन्थ है।

मिस्टर सालेटोर (B. A. Saletore) ने चार कारणों से इस ग्रन्थ को महत्वपूर्ण माना है। प्रथम, इस ग्रन्थ में इस विषय से सम्बन्धित सभी ग्रन्थों का सार दिया हुआ है। रचनाकार व्यवहारिक उद्देश्य को लेकर चलता है। दूसरे, यह ग्रन्थ यथार्थवादी है तथा उन समस्याओं पर विचार करता है जिनका सामना मनुष्य को इसी लोक में करना होता है। तीसरे, अर्थशास्त्र ने राजनीति को धर्म से पृथक करके देखा। चौथे, इसके रचयिता ने भारत को एक सुदृढ़ और केन्द्रीयकृत शासन दिया, जिसके सम्बन्ध में पहले के विचारक अनभिज्ञ थे। अर्थ-शास्त्र के महत्व के सम्बन्ध में रामास्वामी का यह मत उल्लेखनीय है कि "अर्थशास्त्र कौटिल्य से पूर्व की रचनाओं में इधर-उधर फैली राजनीतिक बुद्धिमत्ता और शासन कला के सिद्धान्तों का एक संग्रह है। कौटिल्य ने शासनकाल को एक पृथक तथा

विशिष्ट विज्ञान का रूप देने के प्रयत्न में उसको नये रूप में विवेचित किया है।'[1]

अर्थशास्त्र का रचयिता
(The Author of Arth-Shastra)

अर्थशास्त्र के ग्रन्थकार के सम्बन्ध में पर्याप्त विवाद है। प्राचीन ग्रन्थों जैसे विष्णु, पुराण, कामन्दक नीति, दशकुमार चरित नीति वाक्यामृत आदि में यह उल्लेख आया है कि अर्थशास्त्र की रचना कौटिल्य द्वारा की गयी जिनको चाणक्य और विष्णुगुप्त के नाम से भी जाना जाता था। उन्होंने चन्द्रगुप्त मौर्य के लिए शास्त्रों का अध्ययन किया और तत्कालीन शासन सम्बन्धी विचारों एवं व्यवहारों का मनन करने के बाद शासन विधि की रचना की। अर्थशास्त्र के अनुसार कौटिल्य ने अर्थशास्त्र सम्बन्धी बिखरी हुई सामग्री को संग्रहित कर सरल और बोधगम्य शास्त्र की रचना की। डा० श्यामलाल पाण्डेय का कहना है कि "प्रमाणिक सामग्री के आधार पर इस विषय में लेश मात्र भी सन्देह नहीं रहता कि कौटिल्य जो चन्द्रगुप्त मौर्य के राजगुरु थे और जिन्होंने नन्द-वंश का अन्त किया था, अर्थशास्त्र के रचयिता हैं। उन्हीं कौटिल्य के ही विष्णु गुप्त और चाणक्य दो और नाम थे।"[2]

दशकुमार चरित में अर्थशास्त्र को छः हजार श्लोकों का ग्रन्थ बताया गया है। कादम्बरी के प्रणेता बाणभट्ट ने भी कौटिल्य को अर्थशास्त्र का रचनाकार माना है। कुछ विचारकों कहना है कि कौटिल्य किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं वरन् यह एक राजनैतिक परम्परा का प्रतीक था अथवा यह एक ऐसे महान् कूटनीतिज्ञ की ओर सकेत करता है जो कि अर्थशास्त्र के वर्णन का विषय है। इस कूटनीति के द्वारा शत्रु के विरुद्ध चालबाजी तथा धोखेबाजीपूर्ण व्यवहार किया जाता था जो कि नैतिक दृष्टि से उपयुक्त नहीं था। इस प्रकार के विचार भ्रामक अवश्य है किन्तु किसी विश्वसनीय निष्कर्ष पर नहीं ले जाते। गणपति शास्त्री का मत है कि अर्थशास्त्र के रचनाकार को कौटिल्य नाम दिया गया, इसका कारण यह है कि वह कुटल गोत्र का वंशज था। उसका जन्म चनक में हुआ था इसलिये उसे चाणक्य कहा गया। उसके माता-पिता का दिया हुआ नाम विष्णुगुप्त था। एक व्यक्ति के तीन नाम होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है, इसके उदाहरण हमें आज भी मिल सकते हैं। कौटिल्य चन्द्रगुप्त का राजगुरू था और वह उसके दरबार में ठीक उसी प्रकार रहा जिस प्रकार कि सिकन्दर के दरबार में अरस्तु रहा।

अर्थ शास्त्र का रचनाकाल
(The date of Arthshastra)

अर्थ शास्त्र की रचना और रचनाकार किस काल में रहे इस सम्बन्ध में भी विचारक एक मत नहीं हैं। इस सम्बन्ध में मिस्टर जॉली का मत है

1 T. N. Ramaswami, Essentials of Indian State Craft, p. 1.
2 डा० श्यामलाल पण्डेय, पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ–१०६

कि कौटिल्य का अर्थशास्त्र एक धोखा देने वाली चीज है जिसे कि सम्भवत: तीसरी शताब्दी ईसवी में तैयार किया गया था। अर्थशास्त्र का वास्तविक रचनाकार कोई मन्त्री नहीं था वरन् एक सिद्धान्त 'शास्त्री था। कौटिल्य नाम झूठा है क्योंकि परम्परागत स्रोतों में उसका कोई उल्लेख नही मिलता। मेगस्थनीज न कहीं भी उसके नाम का उल्लेख नहीं किया है। इसी प्रकार पांतजलि ने अपने महाभाष्य में चन्द्रगुप्त एवं अन्य मौर्यों का उल्लेख किया है किन्तु कौटिल्य के सम्बन्ध में वे चुप हैं। इसके अतिरिक्त अर्थशास्त्र में विषय का वर्गीकरण एवं व्याख्या जिस रूप में की गयी है वह किसी बुद्धिमान राजनीतिज्ञ का कार्य होने की अपेक्षा एक पण्डित का कार्य प्रतीन होया है। मिस्टर जॉली के अतिरिक्त ए बी कीथ (A. B. Kieth), विन्टर नित्ज (Winter Nitz) आदि भी अर्थशास्त्र को तीसरी सदी की कृति मानते हैं। मि० आर० जी. भडारकर इसे ईसा की प्रथम शताब्दीकी रचना कहते हैं। यह मत अधिक मान्य नहीं है।

डा० शाम शास्त्री एवं डा० जायसवाल आदि उपर्युक्त मत से सहमत नहीं हैं। उनका मत है कि आज प्राप्त होने वाला अर्थशास्त्र वही ग्रन्थ है जिसकी रचना चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधानमन्त्री एक राजगुरु कौटिल्य ने मौर्य राजाओं के पथ-प्रदर्शन के लिए की थी। डा० जायसवाल का विचार है कि अर्थशास्त्र में अनेक ऐसे प्रमाण आते हैं जिनकी तुलना चौथी शताब्दी ईसा पूर्व से ही कर सकते हैं। 'युक्त' का प्रयोग केवल मौर्यकाल में किया जाता था। इस काल में युग को पांच वर्षों का माना जाता था और वर्षाकाल का आरम्भ आषाढ़ की अपेक्षा श्रावण में माना जाता था। इसके अतिरिक्त जैन बौद्ध एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में चन्द्रगुप्त के मन्त्री के रूप में कौटिल्य का उल्लेख आता है। इसके अतिरिक्त वात्स्यायन 'कामन्दक' दण्डी और मेधातिथि आदि साहित्यिक और राजनीतिक लेखकों ने अर्थशास्त्र को राजनीति का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ कहा है। अर्थ शास्त्रों में अनेक ऐसे उल्लेख आते हैं जिनके कारण इस रचना को पूर्वकाल की मानना पड़ता है। इस मत को स्वीकार करने वालों में डा० शाम शास्त्री और डा० काशीप्रसाद जायसवाल के अतिरिक्त गणपति शास्त्री, ए० एन० ला (A. N. Law), डी. आर. भण्डारकर, फ्लीट, आर. के. मुकर्जी, एच. सी. राय, वी. ए स्मिथ एवं एस डब्ल्यू टॉमस आदि हैं। ये विचारक मि० जाली और उनके समर्थकों का उत्तर देते हैं किन्तु फिर भी इस सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं लिया जा सकता है। इस सम्बन्ध में डा. श्यामलाल पांडेय का कथन है कि 'प्रस्तुत अर्थशास्त्र चाहे मौर्य काल की रचना हो चाहे उसके पश्चात किसी समय का नवीन संस्करण हो, परन्तु इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि इस अर्थशास्त्र में राजशास्त्र सम्बन्धी जिन सिद्धान्तों की स्थापना की गई है वे मौर्य कालीन ही हैं।"[1]

---

[1] डा. श्यामलाल पाण्डेय, पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ १०८

अर्थ शास्त्र की सामान्य प्रकृति
(The nature of Arth Shastra)

अर्थशास्त्र में वर्णित विचारों का अध्ययन करने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि इस ग्रन्थ के रचयिता अपने विचारों एवं व्याख्याओं में कितने स्पष्ट थे। यह अर्थशास्त्र शुक्र और बृहस्पति की वन्दना से प्रारम्भ होता है। इसमें उस समय स्थित समस्त राजनैतिक विचारों की समालोचना की गई है यह उन राजाओं के लिए एक निर्देशक है जो कि भूमि को जीतना चाहते हैं। कौटिल्य के मतानुसार अर्थशास्त्र के प्रकाश में एक व्यक्ति न केवल औचित्य मितव्ययता एवं सौंदर्यपूर्ण कार्यों को सम्पन्न कर सकता है किन्तु वह अनुचित, अमितव्ययता पूर्ण और असुन्दर कार्यों को छोड़ भी सकता है। उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना तत्कालीन धर्म शास्त्रों और शस्त्रा के विज्ञान के आधार पर की। इसके द्वारा उन्होंने नन्द राजाओं को उखाड़ कर फेंक दिया। ग्रन्थ की समाप्ति के समय स्वयं लेखक स्वीकार करता है कि जिसने शास्त्र, शस्त्र और नन्द राजा के अधीन भूमि का उद्धार अपने क्रोध से किया है उसी विष्णु गुप्त ने इस अर्थशास्त्र की रचना की है।

अर्थशास्त्र १५ अधिकरणों में विभाजित है जिनमें कि १५० अध्याय हैं। राजनीति की समस्याओं के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण का यह एक विनित रूप है और निश्चित विज्ञान के सभी मापदण्डों तथा आवश्यकताओं को पूरा करता है। इसके प्रथम अधिकरण का नाम विनयाधिकारिक है जिसमें कि २० अध्याय हैं। प्रथम अध्याय का नाम विद्या समुद्देश्य है जिसमें कि राजा के लिए आवश्यक सभी विद्याओं का संक्षेप में वर्णन है। इसके अन्य अध्यायों में वृद्ध संयोग, इन्द्रियों की विजय, अमात्यों का वर्णन, मन्त्री और पुरोहितों का विवेचन, अमात्यों के मन की बात का छुपाकर पता लगाना, गुप्तचरों के प्रकार उनके कार्य, मन्त्रणा, दूतों का विवेचन, राजपुत्रों की रक्षा आदि-आदि हैं।

अर्थशास्त्र के अन्य १४ अधिकरणों के नाम हैं—अध्यक्ष प्रचार, धर्मस्थीय, कंटक शोधन, योगवृत्त, मण्डलयोन, षाड्गुण्य, व्यसनाधिकारिक, अभियास्यत्कर्म, सांग्रामिक, संघवृत्त, आबलियस, दुर्गलम्भोपाय, औपनिषदक एवं तन्त्रयुक्ति तन्त्र।

अर्थशास्त्र में एक निष्कर्ष तक पहुंचने के लिए कुछ क्रमिक सोपानों को काम में लिया गया है। तथ्यों का वर्णन स्थान, प्रक्रिया एवं प्रभाव आदि के सन्दर्भ में किया है। स्थान-स्थान पर पूर्व वर्णित लोगों को सन्दर्भित किया गया है तथा वैकल्पिक नीतियों एवं कार्यों को बताया गया है। तत्कालीन जटिल राजनैतिक वातावरण को स्पष्ट करने के लिए लेखक ने अपने निजी शब्दों का प्रयोग किया है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र को उस समय स्थित राजनीति के ग्रन्थों पर ही आधारित नहीं रखा है वरन् अपने उस व्यक्तिगत अनुभव एवं ज्ञान पर भी आश्रित रखा जो कि उन्होंने तत्कालीन राजनैतिक स्थिति और संस्थाओं का अध्ययन करने पर प्राप्त किया था। प्रोफेसर एच.

वी. कृष्णाराव (M. V. Krishna Rao) के कथनानुसार "अरस्तु की भांति उन्होंने अपने सैद्धान्तिक ज्ञान का अपने समय की सरकार के रूपों व व्यवहारों को व्यक्तिगत अनुभवों से सही बनाया।"[1]

अर्थशास्त्र का प्रारम्भ समाजों के उद्देश्य की परीक्षा से होता है ताकि मानवीय अस्तित्व की योजना में त्रयी, अन्वीक्षिकी, वर्त और दण्ड का सही स्थान निर्धारित किया जा सके। ये सभी मानवीय ज्ञान के प्रकाश हैं। इनके द्वारा जीवन के सब धर्म एवं महान कार्यों को आसानी से पूरा किया जाता है। ग्रन्थ में स्वाभाविक एव कृत्रिम शास्त्रों के बीच, धर्म और अधर्म के बीच, नय और अनय के बीच तथा उचित व अनुचित के बीच अन्तर निर्धारित किया है। ग्रन्थ व मोक्षम व्यवस्था को सामाजिक व्यवस्था का आधार मानकर चलता है। इसमें सभी के सामान्य उद्देश्यों का वर्णन किया गया है। सत्यवादिता, शुद्धता, सहिष्णुता, क्षमाशीलता तथा किसी को नुकसान न पहुंचाना आदि का व्यवहार व्यक्ति को स्वर्ग में ले जाता है। एक सुशिक्षित स्वामी अनुशासित रूप से कार्य करते हुए तथा श्रेष्ठ सरकार की सहायता प्राप्त करते हुए समस्त पृथ्वी का निर्विघ्न रूप से उपभोग करता है। ग्रन्थ में पार्षदों, पुरोहितों, मन्त्रियों आदि की योग्यताएं निर्धारित की गई है और गुप्तचरों द्वारा मन्त्रियों के चरित्र एवं आचरण की परीक्षा करने आदि का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त राजा और सरकारी कर्मचारियों के कर्त्तव्य का उल्लेख किया गया है। राज्य के विभिन्न विभागों का वर्णन है जो कि एक अलग-अलग अध्यक्ष के आधीन रहकर अपने सेवी वर्ग, प्रक्रिया तथा प्रशासन का नियमन करता था।

अर्थ शास्त्र के कुछ अध्यायों में नागरिक कानून की कुछ व्याख्या की गई है। इसमें समझौतों एवं समविदाओं की कानूनी प्रक्रिया का वर्णन किया गया है, वैधानिक झगड़ों को सुलझाने के लिए प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है। उसके बाद फौजदारी कानून अर्थात कंटक शोधन का वर्णन किया गया है तथा ऐसे अनेक प्रयास वर्णित किये गये है जिनके द्वारा कारीगरों, व्यापारियों तथा प्रशासनिक अधिकारियों के विरुद्ध सामान्य जनता की रक्षा की जा सके। इसके कुछ अध्याय शान्ति और युद्ध, नीति, बाह्य खतरे की प्रकृति, आक्रमणकारियों एवं शक्तिशाली शत्रुओं के कार्य, युद्ध और रणनीति तथा शत्रु को समाप्त करने के गुप्त उपायो एवं साम्राज्य को बढ़ाने के साधनों का वर्णन किया गया है।

कौटिल्य के अर्थ शास्त्र में दण्ड नीति को सभी पुरुषार्थ का स्रोत माना गया है। जीवन और सम्पत्ति की रक्षा तथा वर्णाश्रम धर्म का पालन केवल एक सुव्यवस्थित एवं सुप्रशासित समाज में ही हो सकता है। दण्डधर संसार में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को धारण करने वाला होता है। जब तक वह इनकी रक्षा करता है वह उन्नतिशील होते हुए जीवन को आनन्ददायक

---

1. M. V. Krishna Rao, op. cit. Page 4

बनाने में मदद करता है, किन्तु जब दण्ड पर कमजोर होता है और सम्प्रभुता को धारण नहीं कर पाता तो भौतिक एवं आदिभौतिक अस्तित्व के ये साधन जीवन को नष्ट कर देते हैं। राज्य शक्ति के अभाव में मानवीय आत्मा दूषित हो जाती है। शरीर रोगग्रस्त हो जाता है और किसी प्रकार की व्यवस्था नहीं रहती। वर्णाश्रम धर्म तथा अर्थ और काम सम्पूर्ण संस्कृति और सभ्यता के आधार हैं, इसलिए इनकी स्थापना के हेतु अर्थ शास्त्र ने राज्य शक्ति का समर्थन किया है। ग्रन्थ ने उन विभिन्न आपत्तियों का वर्णन किया है जो कि साम्राज्य को एकीकृत करने में आन्तरिक और बाह्य रूप से आ सकती थी। आन्तरिक कोप वह होता था जो कि मन्त्री, पुरोहित, सेनापति और युवराज द्वारा उत्पन्न किया जाता था। अनेक संकट, संघों, श्रेणियों एवं निगमों द्वारा भी पैदा किये जा सकते थे। स्वामी के आत्मदोष भी अनेक बार संकटों के कारण बन जाते थे अतः उसे अपनी भावनाओं क्रोध कायरता आदि के प्रति आन्तरिक सजगता रखने को कहा गया। राजा को आसुरी जीवन की विशेषतायें अपने व्यवहार में से पूर्ण रूप से समाप्त करनी होती थी। कौटिल्य के कथनानुसार "जिस व्यक्ति का अपनी भावनाओं पर नियन्त्रण नहीं है वह शीघ्र ही नष्ट हो जावेगा चाहे वह सम्पूर्ण पृथ्वी का स्वामी ही क्यों न हो।"

जहां तक सरकार के रूपों का सम्बन्ध है उनके सम्बन्ध में अर्थ शास्त्र इतना अधिक चिन्तित नहीं है। उसका मुख्य उद्देश्य तो स्थायी केन्द्रीभूत एवं कार्य कुशल सरकार प्राप्त करना था जो कि जनता की शारीरिक, आर्थिक और सामाजिक सुरक्षा प्रदान करके उसकी भौतिक एवं आध्यात्मिक प्रगति का प्रतीक बन सके। इसमें उन गणराज्यों का विरोध किया गया है जो कि शक्तिशाली सरकार रखने में असमर्थ होते हैं। ये कमजोर गणराज्य हमेशा विघटनकारी प्रवृत्तियों एवं बाह्य आक्रमणों को आमन्त्रित करते हैं। एकता और संगठन प्रत्येक राज्य का एक मुख्य आधार माना गया। इसके अभाव में वह राज्य किसी भी सेना के द्वारा जीता जा सकता था। गणराज्य यदि शक्तिशाली है तो अर्थ शास्त्र उनका आदर करने को तैयार था।

मन्त्रियों की व्यवस्था एवं देख-रेख पर अर्थ शास्त्र ने पर्याप्त जोर दिया। इसके मतानुसार राजा की सत्ता के लिए सर्वाधिक गम्भीर खतरा और साम्राज्य के विनाश का कारण मन्त्रियों की महत्वकांक्षा होती थी। यही कारण है कि मन्त्रियों के आचरण के लिए उच्च मापदण्ड निर्धारित किए गये। इस पद के लिए उच्च योग्यताएं निर्धारित की गई। मन्त्रियों के द्वारा ही राज्य के सारे कार्य सम्पादित किये जाते थे। उनके हाथ में प्रमुख शक्तियां निहित रहती थी, इसलिए अर्थ शास्त्र ने स्वामी को इनके विरुद्ध अपनी रक्षा के लिए सजग रहने को कहा है। यदि राजा को यह अन्देशा हो कि आन्तरिक और बाह्य शत्रुओं से उसकी हार निश्चित है तो उसे राज्य छोड़ देना चाहिए। अपनी जीवन रक्षा के बाद वह भविष्य में कभी भी शक्ति प्राप्त कर सकेगा। आन्तरिक संकट बाह्य संकट की अपेक्षा अधिक खतरनाक साबित हो सकते थे क्योंकि इनकी गति सांप की तरह होती थी। अतः राजा को

इन्हें विकसित होने से रोकने के लिए प्रयास करने को कहा गया। पारस्परिक घृणा, पक्षपात, विरोध आदि राज्यों को नष्ट कर देते है।

अर्थ शास्त्र ने राजा की कुलीनता पर पर्याप्त जोर दिया क्योंकि संकटों का मुकाबला करने वाली जनता प्राय: कुलीन राजा के प्रति ही स्वामिभक्ति प्रकट करती है। इस दृष्टि से एक कमजोर किन्तु कुलीन राजा को एक निम्न कुल वाले किन्तु शक्तिशाली राजा से अधिक श्रेष्ठ माना गया। राजा चाहे शक्तिहीन हो किन्तु वह राज्य का प्रतीक एव सभी धार्मिक अनुष्ठानों का आधार था। अर्थ शास्त्र को एक सैद्धान्तिक ग्रन्थ कहने की अपेक्षा यदि राजनीति की व्यावहारिक पुस्तिका माना जाए तो अधिक उपयुक्त रहेगा। इसके रचनाकार कौटिल्य ने एक बड़े साम्राज्य की रचना का स्वप्न देखा जो कि चतुरान्त महीम शब्द द्वारा वर्णित किया गया। इसकी सीमाएं हिमालय से लेकर समुद्रों तक थीं। अर्थ शास्त्र ने सार्वभौम सम्राट और आधिपत्य के स्थान पर देश तथा चक्रवर्ती शब्दों का प्रयोग किया है। अपने स्वप्निल साम्राज्य को अपने जीवनकाल में प्राप्त करने के लिए जिन राजनीतिक नियमों एवं सिद्धान्तों की रचना कौटिल्य को आवश्यक प्रतीत हुई उसे उन्होंने अर्थ शास्त्र में संग्रहित किया। मौर्य साम्राज्य कौटिल्य के सपनों का एक साकार रूप था। इसके अधिकांश सिद्धांतों को प्रशासन द्वारा अपनाया गया और इस प्रकार अर्थ शास्त्र राजाओं के लिए पाठ्य पुस्तक बन गयी। इसके द्वारा राजनीति पर स्थित धर्म के प्रभाव को दूर किया गया। इसने अनेक ऐसे तत्वों को सम्मुख रखा जो कि वास्तविकताएं थी किन्तु मानव ज्ञान का विषय नहीं बन पाई थीं। अर्थ शास्त्र में धर्म राज्य की स्थापना के लिए आवश्यक साधनों, उपायों एवं प्रक्रियाओं का विस्तार के साथ उल्लेख करने की चेष्टा की। यह कहा जाता है कि अशोक ने अपने साम्राज्य का निर्माण कौटिल्य के अर्थशास्त्र का आधार पर किया; उसके प्रशासनिक यंत्र की योजना अर्थ शास्त्र के पृष्ठों पर अंकित थी। मिस्टर कृष्णा राव के शब्दों में कहा जा सकता है कि "अर्थ शास्त्र की खोज ने प्राचीन भारत से सम्बन्धित ज्ञान को समृद्ध बनाने में पर्याप्त योगदान किया है।"[1]

अर्थशास्त्र के राजनैतिक विचार
(The Political Ideas in Arthshastra)

कौटिल्य का अर्थ शास्त्र मूल रूप से एक राजनीति का ग्रन्थ था। इसकी विषय वस्तु में जिन अन्य बातों को समाहित किया है वे सभी राजनीति से सम्बद्ध होने के कारण इसमें स्थान पा सकीं। कौटिल्य की दृष्टि से मनुष्य की वृत्ति (जीविका) को अर्थ कहा जाता है। उन्होंने मनुष्यों से युक्त पृथ्वी को भी अर्थ माना है। ऐसी स्थिति में उनका अर्थ शास्त्र एक ऐसा शास्त्र था जिसमें मनुष्य-वती भूमि के लाभ तथा उसके पालन करने के

1. The discovery of Arthsastra has contributed much to the enrichment of knowledge about Ancient India.
—M. V. Krishna Rao, op. cit. Page 13

उपायों का वर्णन किया गया था। कुछ विचारकों का कहना है कि प्राचीन भारत में अनेक राजनैतिक विचारधाराओं का अस्तित्व था। धर्म प्रधान विचारधारा भी इन्हीं में से एक थी। कौटिल्य इस विचारधारा के समर्थक थे और इसलिए इनके ग्रन्थ का नाम अर्थ शास्त्र है। शुक्र ने अर्थ शास्त्र को परिभाषित करते हुए बताया है कि श्रुति और स्मृति के अनुकूल जिस शास्त्र में राजनीति का वर्णन हो तथा धर्म और युक्ति पूर्वक अर्थ के उपार्जन के नियमों का वर्णन किया गया हो वह अर्थ शास्त्र है।"

अर्थ शास्त्र की विषय वस्तु मनुष्यों से युक्त भूमि की प्राप्ति और उस भूमि के उचित रूप से पालन करने के उपाय तथा साधन थे। इस प्रकार इसमें राज्य शास्त्र (Political Science) और अर्थ शास्त्र (Economics) दोनों ही विषय आ जाते हैं। इसके अतिरिक्त समाज शास्त्र का बहुत कुछ अंश भी इसके क्षेत्र में आ जाता है। अर्थ शास्त्र में वर्णित विभिन्न राजनैतिक विचारों का अध्ययन हम विभिन्न अध्यायों में स्थान स्थान पर कर चुके हैं क्योंकि प्राचीन भारतीय राजनीति के अध्ययन का यह एक स्रोत है जिसके आधार पर प्रामाणिक एवं तथ्यगत रूप से कुछ कहा जा सकता है। इतने पर भी यदि अर्थ शास्त्र के प्रमुख राजनैतिक विचारों का उल्लेख कर दिया जाए तो अनुपयुक्त न रहेगा।

राज्य की उत्पत्ति और स्वरूप
(Origin and Nature of the State)

कौटिल्य ने राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सामाजिक समझौते के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। एक स्थान पर उन्होंने बताया है कि राज्य से पूर्व समाज में मत्स्य न्याय का प्रभाव था। जिस तरह से बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है उसी तरह समाज के सबल पुरुष निर्बल पुरुषों के विनाश में हमेशा सक्रिय रहा करते थे। इस व्यवस्था से तंग आकर लोगों ने विवस्वान के पुत्र मनु को अपना राजा बना लिया। ये लोग इसे अपनी अन्न की उपज का छठा भाग व्यापार द्वारा प्राप्त धन का दसवां भाग और सोने की आय का कुछ अंश कर के रूप में देने लगे। मनु को राजा नियुक्त करते समय इन लोगों ने यह स्पष्ट कर दिया था कि कर वे लोग राजा को तभी देंगे जबकि वह उनके योग क्षेम की समुचित व्यवस्था करता रहेगा। इस प्रकार राज्य की उत्पत्ति एक सामाजिक समझौते का परिणाम थी। कौटिल्य ने हाब्स द्वारा वर्णित प्राकृतिक अवस्था के लक्षणों को मान्यता दी है। वे उस काल में मनुष्य के जीवन को अस्थिर, अशान्त यातनायुक्त एवं पशुवत मानते हैं। इस युग का व्यक्ति स्वार्थ साधन के लिए दूसरे के विनाश में लगा हुआ था। प्राकृतिक अवस्था से तंग होकर उसने राज्य का निर्माण किया तथा राजा को स्पष्ट रूप से बता दिया कि यदि वह प्रजा के योग क्षेम की व्यवस्था के अपने कर्तव्य से विमुख हो जायगा तो उसे लोग धन और जन की सहायता देना बन्द कर देंगे और वह इस प्रकार उनका राजा नहीं रहेगा।

कौटिल्य ने राज्य की उत्पत्ति के अपने इस सिद्धान्त में लोक वित्त पर जनता का अधिकार माना। उनके अनुसार राजा द्वारा बिना प्रजा की पूर्व अनुमति के उस पर कर नहीं लगाये जा सकते थे, वह धन एकत्रित करने और उसे खर्च करने का अधिकार नहीं कर रखता था। इस प्रकार कौटिल्य राजा की निरंकुशता पर एक महत्वपूर्ण प्रतिबन्ध लगाते हैं जो कि उनकी सूझ बूझ को प्रदर्शित करता है।

कौटिल्य राज्य के सावयवी रूप में विश्वास करते हैं। उनके मतानुसार राज्य की सात प्रकृत्तियां हैं स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग कोष, दण्ड और मित्र। इन प्रकृत्तियों को कौटिल्य ने राज्य के अवयव कह कर सम्बोधित किया है। इस प्रकार इनके मतानुसार राज्य एक ऐसा सावयवी है जिसकी रचना सात अवयवों से मिलकर होती है। राज्य के इस सावयवी रूप का वर्णन कौटिल्य से पूर्व भी प्राप्त होता है। ऋगवेद में इस विचार की थोड़ी झलक मिलती है। यजुर्वेद में बताया गया है कि विराट पुरुष की पीठ राष्ट्र है और उसके उदर, कन्धे, कटि, जघा तथा घुटने आदि सभी उसकी प्रजा हैं। महाभारत के भीष्म और मनु ने भी राज्य के सावयवी रूप का वर्णन किया है किन्तु उनमें कौटिल्य जैसी स्पष्टता नहीं है। अर्थ शास्त्र न भी राज्य के सावयवी रूप का केवल उल्लेख मात्र किया है किन्तु यहां हमें राज्य के सावयवी सिद्धान्त का वास्तविक स्वरूप ज्ञात नही होता। ऐसी स्थिति मे इस विषय में अधिक नहीं कहा जा सकता।

कौटिल्य द्वारा वर्णित राज्य का सावयवी रूप कोई विदेशी आयात नहीं है वरन् यह शुद्ध रूप से भारतीय है। इसका उदगम स्थान ऋगवेद का पुरुष सूक्त है। कौटिल्य के इस सिद्धान्त की तुलना पाश्चात्य सिद्धान्त से करना अनुचित रहेगा।

कौटिल्य ने राज्य की विभिन्न प्रकृतियों का उल्लेख किया है, उन्होंने राजा के स्वरूप का वर्णन करते हुए उसे कार्यपालिका का सर्वोच्च अधिकारी माना है। उसके बाद मन्त्रियों का नाम लिया गया है जोकि राजा को परामर्श देते है और शासन कार्यों को संचालित करते हैं। दुर्ग को राज्य की रक्षा के लिए आवश्यक माना गया जबकि जनपद या भू भाग राज्य के अस्तित्व का एक भौतिक आधार था। कोष राज्य की जनता की सुख व समृद्धि के लिए अनिवार्य था और दण्ड के बिना राज्य में शान्ति व्यवस्था नहीं की जा सकती थी. इसके अतिरिक्त मित्र राज्यों का होना राज्य के अस्तित्व एवं सुरक्षा के लिए जरूरी माना गया। राजनीति शास्त्र के आधुनिक विद्वान सामान्यतः राज्य के चार आवश्यक तत्व मानते हैं। ये हैं—भूमि, जनसंख्या सरकार और सम्प्रभुता। कौटिल्य ने इनमें कोष, दुर्ग और मित्र को स्थान देकर तत्कालीन परिस्थितियों के प्रभाव को प्रदर्शित किया है। एन. सी. वन्द्योपाध्याय के मतानुसार आज के जमाने में जबकि एक स्थायी राजनीतिक सन्तुलन स्थापित हो चुका है तथा छोटे राज्यों के अस्तित्वों को भी मान्यता प्रदान कर दी गयी है, कोई भी राज्य बिना मित्रों के नहीं रह सकता। आज के जमाने में भी सुरक्षित एवं समृद्ध अस्तित्व के लिए मित्रों का होना

जरूरी है क्योंकि राजनैतिक पृथकता का अर्थ मृत्यु है। उस समय कोष और दुर्ग को भी राज्य के लिए परम आवश्यक एवं महत्वपूर्ण माना जाता था।

राज्यों के प्रकार
(Types of States)

अर्थशास्त्र में वैसे तो राजतन्त्र को श्रेष्ठ माना है और इसी के संगठन से सम्बन्धित विचार प्रकट किये हैं। उसी की मान्यता है कि राजतन्त्र में राज्य शक्ति कुलीन वर्ग के हाथ में रहती है और उपयुक्त अनुशासन तथा प्रजा में स्वामिभक्ति की स्थापना की जा सकती है। राजतन्त्र जनता को एक स्थायी व्यवस्थित तथा केन्द्रीय कृत शासन दे सकता था जो कि उस समय की आवश्यकता थी। इस पर भी अर्थशास्त्र में स्थान-स्थान पर विभिन्न प्रकार के राज्यों का उल्लेख आया है इनमें द्वैराज्य वैराज्य और संघ राज्य का नाम लिया जा सकता है।

राज्य का उद्देश्य
(The object of the State)

कौटिल्य ने राज्य को केवल नागरिकों की आन्तरिक एवं बाह्य सुरक्षा का काम ही नहीं सौंपा है वरन् व्यक्ति के जीवन के पूर्ण विकास के लिए उन्होंने राज्य को आवश्यक माना है। अच्छे राज्य के लिए स्वस्थ्य और सुदृढ़ अर्थ व्यवस्था को अनिवार्य माना गया है। जब तक यह प्राप्त नहीं की जाती तब तक राज्य स्थाई नहीं रह सकता और न ही बाह्य आक्रमणों से इसकी रक्षा की जा सकती है। कौटिल्य ने राज्य के कार्य का क्षेत्र पर्याप्त व्यापक बताया है। मि. बन्धोपाध्याय के कथनानुसार अर्थशास्त्र ने अच्छे राज्य का आधार सुदृढ़ अर्थ व्यवस्था को माना है ताकि उसके निवासी अपने जीवन के लक्ष्यों की प्राप्ति कर सकें। अर्थशास्त्र के माध्यम से व्यक्ति को अर्थ, धर्म और काम तीनों की प्राप्ति का प्रयास किया गया। राज्य के अस्तित्व का उद्देश्य मनुष्य के इस त्रिवर्ग की प्राप्ति था। वह राज्य को व्यक्ति के लौकिक तथा पारलौकिक कल्याण का प्रतीक मानता है। इस प्रकार इनका लोक कल्याणकारी राज्य व्यापक क्षेत्र रखता है।

राजा और राजपद
(The King and Kingship)

अर्थशास्त्र का कहना है कि राज्य में वर्णाश्रम धर्म का पालन कराने के लिए दण्ड शक्ति का आविष्कार किया गया। दण्ड के द्वारा समाज में फैली हुई अराजकता और अव्यवस्था को दूर करके व्यक्ति को उसके धर्म पालन के लिए प्रवृत्त किया जाता है। इस दण्ड का सचालन करने वाली सत्ता राजा और उसका राजपद कही गई। कौटिल्य के अनुसार राजा राज्य की कार्य-पालिका का सर्वोच्च अधिकारी है। राजा दण्ड का प्रतीक है और निर्धारित नियमों के अनुसार उसका पालन करते हुए प्रजा के कल्याण का प्रयास करता है। इन नियमों का न तो वह निर्माता है और न ही वह उनमें संशोधन परि-वर्तन, परिवर्धन आदि कर सकता है। राजा के समस्त कार्य प्रजा के कल्याण

के लिए होते हैं। प्रजा के कल्याण में ही राजा का कल्याण माना गया। कौटिल्य ने राजा को सदाचार की साक्षात मूर्ति माना है। वह एक आदर्श पुरुष के रूप में जनता के सामने चरित्र का आदर्श प्रस्तुत करता है और प्रजा को उसका पालन करने के लिए कहता है। राजपद इतना महत्वपूर्ण होने के कारण इस पद पर आने वाले व्यक्ति के लिए कुछ महत्वपूर्ण योग्यतायें निर्धारित की गई। यह बताया गया कि राजा को अनेक शारीरिक, आत्मिक, मानसिक और बौद्धिक योग्यताओं तथा गुणों से युक्त होना चाहिए। कौटिल्य ने राजा की दिनचर्या निर्धारित की ताकि वह अपने समय का दुरुपयोग न करे और इस प्रकार वह अपने कर्त्तव्यों का पालन करने में प्रमादी तथा व्यसनग्रस्त न बन जाये। राजा को कहा गया कि वह अपने कार्यों का संचालन यथा सम्भव इस दिनचर्या के अनुसार करे। राजा को उसके उत्तरदायित्वों की दृष्टि से कुछ विशेष अधिकार सौंपे गये। राजा को अदण्डनीय बताया गया। इसके अतिरिक्त उसे सभी प्रकार के राज्य करों से छूट दी गई। तीसरे, राज्य में यदि सम्पत्ति का कोई अधिकारी नहीं है तो वह स्वयं राजा को ही प्राप्त होती थी। चौथे, वह धरती में गडे हुए धन का अधिकारी था। न्यायालय में उसे एक साक्षी के रूप में नहीं बुलाया जा सकता था। राजा का पद एवं स्तर समाज में सबसे ऊंचा था। कौटिल्य ने राजा की सत्ता पर कुछ सीमायें भी निर्धारित कीं ताकि वह निरकुंश न बन जाये। राज्य का कानून तथा धर्म राजा की शक्ति पर अंकुश की तरह कार्य करता था। राजा सामाजिक परम्पराओं और वर्णाश्रम धर्म के कर्त्तव्यों की अवहेलना नहीं कर सकता था।

राजा की जो दिनचर्या बताई गई उनके अनुसार राजा को इस प्रकार का आचरण करने का अवसर दिया गया जिसे अन्य कर्मचारी अपना आदर्श बना सकें। राजा को अपने रात-दिन को आठ-आठ भाग करने को कहा गया। दिन के आठ भागों में उसके द्वारा किये जाने वाले कार्य इस प्रकार थे—प्रथम भाग में पुलिस विभाग और राज्य की आय व्यय का निरीक्षण, दूसरे में पुर तथा जनपद के निवासियों के मुकदमों की सुनवाई, तीसरे में स्नान, भोजन और स्वाध्याय, चौथे में कर विभाग का निरीक्षण तथा विभिन्न विभागाध्यक्षों की नियुक्ति, पांचवें में मंत्री परिषद के साथ मन्त्रणा और गुप्तचरों से सूचना की प्राप्ति, छठे में इच्छानुसार विहार एवं विचार, सातवें में हाथी, घोड़े, रथ एवं शस्त्रों की देखभाल और आठवें में सेनापति के साथ पराक्रम सम्बन्धी चर्चा। दिन की भांति रात को भी ८ भागों में बांटा गया था। इसके प्रथम भाग में राजा गुप्तचरों का निरीक्षण करे द्वितीय में स्नान, भोजन और स्वाध्याय करे, तीसरे में शंख की ध्वनि के साथ रनिवास में प्रवेश करे, चौथे व पांचवें भाग में शयन करे, छठे भाग में गाना बजाना सुनकर जाग जाये, इसी भाग में दिन के आवश्यक कार्यों पर विचार करे, सातवें भाग में गुप्त मन्त्रणा करके गुप्तचरों को आवश्यकतानुसार इधर उधर भेज दे। आठवें भाग में आचार्य एवं पुरोहित का आशीर्वाद ग्रहण कर तथा वैद्य, ज्योतिषी एवं रसोइया से शरीर के स्वास्थ्य के बारे में विचार-विमर्श करे। प्रातःकाल होने

पर वह बछड़े वाली गाय तथा बैल की परिक्रमा करके दरबार में प्रवेश करे।

कौटिल्य का अर्थशास्त्र क्योंकि सैद्धान्तिक विवेचन की अपेक्षा एक व्यावहारिक ग्रन्थ अधिक है इसलिए इसमें राजा की सुरक्षा तथा उसके राज-भवन के प्रबन्ध के सम्बन्ध में विस्तार से विवरण प्राप्त होता है।

उत्तराधिकारी का प्रश्न
(The question of Successor)

कौटिल्य ने राजपद के उत्तराधिकारी के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किए हैं। उनके मतानुसार सामान्यतः राजा के ज्येष्ठ पुत्र को राजपद का अधिकारी मानना चाहिए, किन्तु केवल ज्येष्ठता ही राजपद की एकमात्र योग्यता नहीं मानी गई, इसके अतिरिक्त अन्य राज्योचित गुणों एवं योग्यताओं का होना भी आवश्यक था। इनके अभाव में ज्येष्ठ पुत्रों को भी राज्याधिकार से वंचित किया जाता था। कौटिल्य ने राजकुमारों को बुद्धिमान, आहार्य बुद्धि और दुर्बुद्धि, इन तीनों श्रेणियों में विभाजित किया है। बुद्धिमान राजकुमार उसे कहा गया जो कि सिखाने से धर्म और अर्थ की शिक्षा को विधिवत ग्रहण करले और उसका आचरण कर ले। जो राजकुमार धर्म और अर्थ को समझने के पश्चात उसके अनुसार कार्य नहीं करता था उसे आहार्य बुद्धि कहा गया, किन्तु जो राजकुमार प्रतिदिन विपत्ति लाने के उपाय सोचता था और धर्म तथा अर्थ के विरुद्ध आचरण करता था उसे दुर्बुद्धि कहा गया। कौटिल्य का कहना था कि दुर्बुद्धि को तो कभी भी राजपद न देने के लिए कहा। राजपद सौंपते हुए बुद्धिमान राजा को प्राथमिकता दी जानी चाहिए और इसके अभाव में आहार्य बुद्धि को राज्य सत्ता सौंपी जाय। कौटिल्य ने उत्तराधिकारी की सीमाओं का विस्तार राजवंश की स्त्रियों तक किया है, उनका मत है कि राजा की मृत्यु हो जाने पर राजकुमार, राजकुमार का पुत्र, राजकन्या के पुत्र आदि के अभाव में राजकन्या अथवा गर्भिणी राजमहिषी को राजपद पर अभिषिक्त करना चाहिए।

उत्तराधिकार के प्रश्न पर कौटिल्य ने रक्त की शुद्धता पर बहुत जोर दिया है। उन्होंने राजा की जाति में उत्पन्न न होने वाले राजा के पुत्र को उसकी वास्तविक संतति नहीं माना है। ऐसा राजपुत्र केवल मन्त्रणा देने का अधिकार रखता है उसे राज्य का अधिकार नहीं सौंपा जा सकता। इस प्रकार कौटिल्य ने राजा के अकुलीन पुत्र को राज्याधिकार से वंचित रखा है चाहे वह कितना ही योग्य क्यों न हो।

मन्त्री परिषद
(The Council of Ministers)

राज्य की कार्यपालिका में राजा के अतिरिक्त उसके सलाहकार, अनेक मन्त्री, अमात्य एवं अन्य उच्च अधिकारी होते थे। ये सभी केन्द्रीय कार्यपालिका के अंग थे। कौटिल्य का विचार था कि कोई भी कार्य प्रारम्भ करने के

पहले उसके सम्बन्ध में मन्त्र-निर्णय कर लेना चाहिए। राज्य के कार्य अनेक प्रकार के होते है। इन सभी के सम्बन्ध में कोई भी एक व्यक्ति उपयुक्त राय नही दे सकता। इसलिए अलग-अलग विषयों पर अलग-अलग व्यक्तियों से परामर्श लेना जरूरी बन जाता है। राजा के समीप कुछ ऐसे व्यक्तियो का होना आवश्यक माना गया जो कि आवश्यकता के समय उसे परामर्श दे सके। उपयुक्त परामर्श मन्त्री परिषद की आवश्यकता एवं उपयोगिता का पहला आधार था। दूसरे, इसकी उपयोगिता एव आवश्यकता इस बात में थी कि यह राजा को उस के कर्त्तव्य पालने मे प्रमादी होने से रोकने थे। कौटिल्य के कथनानुसार "अमात्य गण समय विभाग रूपी चाबुक से प्रमाद ग्रस्त राजा को सावधान करते हैं। उपयोगिता का तीसरा आधार यह था कि विपत्ति के समय अमात्यों द्वारा राजा की रक्षा की जाती थी। राजपद के व्यापक उत्तर-दायित्वो के कारण उसके सकट भी अनेक होते थे। इन सबसे उसकी रक्षा करना मन्त्री परिषद का कार्य था। कौटिल्य ने मन्त्रियों को राज्य रूपी गाड़ी का दूसरा पहिया माना है जिसके अभाव में अकेला पहिया अर्थात राजा गाड़ी को आगे नहीं बढ़ा सकता। राज्य के सुसंचालन के लिए मन्त्री परिषद का होना परमावश्यक था।

मन्त्री परिषद के सदस्यों की संख्या के सम्बन्ध मे कौटिल्य का विचार है कि "राजा को तीन अथवा चार मन्त्रियों से मन्त्रणा करनी चाहिए। उसे समय परिस्थिति और आवश्यकता के अनुसार मन्त्रियों को रखना चाहिए।" कौटिल्य ने मन्त्री परिषद की सदस्य संख्या के सम्बन्ध में अपने पूर्व के आचार्यों के विचार व्यक्त किये हैं। मनु के अनुयायियों ने इनकी संख्या १२, बृहस्पति के अनुयायियो ने १६ तथा उशना ऋषि के अनुयायियों ने २० माने हैं। कौटिल्य ने मन्त्री और अमात्य के बीच भेद किया है।

कौटिल्य ने मन्त्री परिषद की सदस्यता हर किसी के लिए सुलभ नहीं मानी है। इन्होंने इस पद के लिए कुछ विशेष योग्यताओं का निर्धारण किया है। मन्त्री परिषद के सदस्यों को उनके गुण तथा योग्यताओं के आधार पर तीन भागों मे विभाजित किया गया। जिन सदस्यों में कौटिल्य द्वारा वर्णित सभी गुण और योग्यताएं होती थी उनको उत्तम अमात्य माना गया, जिनमें उन गुणों तथा योग्यताओं के आधे गुणों का अभाव होता था उनको मध्यम और आधे अंश के अभाव वाले मन्त्रियों को क्षुद्र अमात्य घोषित किया गया।

कौटिल्य ने मन्त्री परिषद की कार्य प्रणाली का भी उल्लेख किया है। उनके अनुसार मन्त्री परिषद का एक अध्यक्ष होता था, इसे राज्य के १८ तीर्थों से से एक माना गया है। मन्त्री परिषद की अध्यक्षता राजा द्वारा नही की जाती थी। उसकी बैठकें अध्यक्ष की देख-रेख में ही होती थी। राजा अपनी आवश्यकता के अनुसार मन्त्री परिषद की बैठकें बुलाता था। ये बैठकें सामान्यत: स्वतन्त्र रूप से हुआ करती थी। मन्त्री परिषद के अध्यक्ष का पद पर्याप्त महत्वपूर्ण था। राजा आवश्यकता के समय मन्त्री परिषद की बैठके बुला सकता था। मन्त्री परिषद के निर्णय बहुमत से लिए जाते थे। इस

सम्बन्ध में कौटिल्य का कहना है कि अत्यन्त आवश्यक कार्य उपस्थित होने पर राजा को मन्त्री परिषद बुलानी चाहिए। मन्त्री परिषद की इस बैठक में जिस विषय की पुष्टि बहुमत द्वारा होती हो, उसी निर्णय को कार्यान्वित करने वाले उपायों को अपनाना चाहिए।

कौटिल्य ने मन्त्री परिषद की राय और निर्णय को गुप्त रखने पर पर्याप्त जोर दिया। मन्त्र के फूट जाने से राजा और उस मन्त्र का अधिकारी दोनों ही सकट में पड़ सकते थे। राजा के व्यवहार की तुलना कौटिल्य ने कछुए से की है। जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को केवल आवश्यकता के समय ही बाहर निकालता है नहीं तो उन्हें सदैव गुप्त रखता है; उसी प्रकार एक राजा को आवश्यकता के अनुसार ही मन्त्रों को प्रकाशित करना चाहिए। कौटिल्य ने मन्त्रणा स्थान की सुरक्षा पर पर्याप्त जोर दिया। उनके मतानुसार वह स्थान ऐसा होना चाहिए कि वहां की बातचीत को कोई सुन न सके, पक्षी भी उस स्थान पर न टिक सकें। मन्त्र भेदी को राज्य से निकालने अथवा सूली पर चढ़ा देने की व्यवस्था की गयी। मन्त्र को गुप्त रखने के लिए यह कहा गया कि मन्त्रणा की अवधि लम्बी नहीं होनी चाहिए। निर्णय होने पर उसे रचनात्मक रूप देने में अधिक विलम्ब न किया जाए। राजा को ऐसे पुरुषों के साथ मन्त्रणा नहीं करनी चाहिए जिनका वह कभी अपकार कर चुका हो।

मन्त्र गोपन एक अत्यन्त कठिन कार्य था जिसके लिए कौटिल्य ने यह व्यवस्था दी है कि राजा मन्त्री परिषद के सभी सदस्यों से परामर्श न करे। इनमें से वह तीन या चार सर्वश्रेष्ठ सदस्यों को अलग कर ले। केवल इन्हीं को कौटिल्य ने राजा के मन्त्री माना है। मन्त्री परिषद के सभी सदस्य राजा के मन्त्री नहीं हो सकते। मन्त्री परिषद में मन्त्रियों के अतिरिक्त अमात्य भी होते थे किन्तु अमात्य को राजा को मन्त्रणा देने का अधिकार नहीं था। कौटिल्य इस मन्त्री मण्डल में तीन या चार मन्त्री रखना उचित मानते हैं। उनके मतानुसार एक ही मन्त्री के साथ मन्त्रणा करने पर यदि मतभेद हो गया तो उसका निर्णय नहीं हो सकेगा। अकेला मन्त्री बिना विचार किए हुए अपनी इच्छानुसार कार्य कर सकता था। दो मन्त्रियों के बीच भी मन्त्र निर्णय नहीं करना चाहिए क्योंकि यदि वे दोनों मिल गये तो उचित मन्त्र निर्णय नहीं हो पाएगा। यदि वे दोनों परस्पर विरोधी बन गये तो कार्य नहीं हो सकता। तीन अथवा चार मन्त्रियों के होने पर इस प्रकार की स्थितियां उत्पन्न होने की सम्भावना बहुत कम हो जाती है। मन्त्रणा के लिए यदि चार से अधिक मन्त्री रखे गये तो मन्त्र को गुप्त रखना कठिन बन जायेगा।

मन्त्रियों का वेतन योग्यता के आधार पर देने की बात कही गयी। जैसा जिसका काम होता था वैसे ही उसको वेतन प्रदान करने की व्यवस्था की गयी। इसके अतिरिक्त वेतन निर्धारित करते समय यह भी जरूरी माना गया कि वेतन की मात्रा इतनी हो जो कि मन्त्रियों के उपयुक्त भरण पोषण के लिए पर्याप्त हो। यह वेतन इतना कम नहीं होना चाहिए था कि मन्त्री

को अपने और अपने आश्रित परिवार के भरण-पोषण के लिए दूसरे साधनों का आश्रय लेना पड़े। वेतन कम होने पर कार्यकर्त्ता कुपित हो जाते हैं और इसके फलस्वरूप राज्य का विनाश होता है। वेतन की दृष्टि से कौटिल्य ने आचार्य, पुरोहित, सेनापति, युवराज, राजमाता, राजमहषी और राज्य के मन्त्रियों को एक ही श्रेणी में रखा है। इनमें स प्रत्येक को ४८ सहस्त्र पण वार्षिक वेतन निर्धारित किया था।

स्थानीय प्रशासन
(The Local Administration)

कौटिल्य ने स्थानीय प्रशासन के सम्बन्ध में अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। उस समय राज्य के दो भाग किये जाते थे—दुर्ग और जनता। कौटिल्य ने दुर्ग को पुर अथवा नगर का पर्यायवाची माना है। कौटिल्य के अनुसार दुग को चार भागों में बांटा जाना चाहिए और प्रत्येक भाग के लिए एक स्थानिक नाम का कर्मचारी नियुक्त किया जाना चाहिए। स्थानिक के आधीन गोप नामक कर्मचारी रखे गये। इन कर्मचारियों को उन संगठनों के ऊपर नियुक्त किया जाता था जो कि १०, २० ४० कुटम्बों के संयोग से संगठित किये जाते थे। इन गोपों का यह कार्य था कि अपने आधीन कुटुम्बों के सदस्यों की जनगणना करे और उनकी आय-व्यय का ब्योरा रखे तथा उससे अपने स्थानिक को परिचित करावे। स्थानिक इस सूचना को नागरिक तक पहुंचाता था। नागरिक नगर के अध्यक्ष को कहते थे। उसका मुख्य कर्त्तव्य अपने नगर में शांति एवं सुरक्षा की व्यवस्था करना था। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए उसे अनेक कार्य सम्पन्न करने होते थे, जैसे रात्रि में राहगीरों के ठहरने के नियम बनाना और रात्रि के समय नगर में आवागमन सम्बन्धी कतिपय नियम बनाना और उन्हें क्रियान्वित करना आदि।

स्थानीय प्रशासन का दूसरा अंग जनपद था। कौटिल्य के अनुसार जनपद के मध्य और अन्त में दुर्ग होने चाहिए जो कि आपत्ति काल में अपने जनपद के निवासियों और बाहर से आने वाले व्यक्तियों के भोजन की दृष्टि से पर्याप्त सम्पन्न हो। जनपद की रक्षा के लिए कौटिल्य में विभिन्न बस्तियां बनाने की योजना प्रस्तुत की है। उनके कथनानुसार शासन कार्य एवं राजकोष के सचय की दृष्टि से दस गांवों के बीच मे संग्रहण, दो सौ गांवों के बीच खरवटक, चार सौ गांवों के बीच द्रोणमुख और आठ सौ गांवों के बीच स्थानीय नाम की बस्तियां बनानी चाहिए।

कौटिल्य का कहना था कि जनपद में एक अथवा दो कोस के अन्तर पर ग्राम की स्थापना करनी चाहिए ताकि वे एक दूसरे की रक्षा करने में समर्थ हों। इन गांवों में अधिकतर संख्या शिल्पियों एवं किसानों की होनी चाहिए। एक गांव में कम से कम सौ और अधिक से अधिक पांच सौ घर होने चाहिए। ग्राम के शासन का संचालन गांव के वृद्धों एवं ग्रामिक के द्वारा किया जाना चाहिए।

वाले कर्मचारियों को मृत्यु दण्ड देने की व्यवस्था की गई और कम कीमत वाली वस्तुएं चुराने पर केवल जुर्माना करने को कहा गया।

दण्ड सिद्धांत
(The Theory of Punishment)

अपराधी को दंड देते समय किन किन बातों का ध्यान रखना चाहिए इस सम्बन्ध में कौटिल्य ने अपने विचार प्रकट किये हैं। उनका कहना है कि दंड का निर्धारण करते समय अपराध की मात्रा अपराधी की सामर्थ्य, अपराधी का वर्ग, अपराधी में सुधार की सम्भावनायें आदि बातों पर ध्यान दिया जाना चाहिए।

कौटिल्य ने जिन विभिन्न प्रकार के दंडों का निर्धारण किया है उनको मुख्य रूप से तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—अर्थदंड, कायदंड और बन्धनागार दंड। अर्थ दंड के अन्तर्गत हम उन दंडों को सम्मिलित कर सकते हैं जो कि जुर्माने के रूप में अपराधियों को देने पड़ते थे। ये पण के आठवें भाग से लेकर सहस्त्रों पण तक निर्धारित किये जा सकते थे। अर्थशास्त्र के अध्ययन से ऐसा लगता है कि आर्थिक दंड का प्रयोग दीवानी अभियोगों तथा कम महत्व के फौजदारी अभियोगों में किया जाता था। कहा गया है कि जो मनुष्य जाल बिछाकर, फंसाकर या अन्य किसी प्रकार से संरक्षित राजकीय मृग, पशु, पक्षी, मछली आदि पकड़े तो उससे उनकी कीमत वसूल की जानी चाहिए तथा उतना ही जुर्माना किया जाना चाहिए। शिल्पियों की छोटी मोटी वस्तुओं की चोरी पर एक सौ पण का और खेती के सामान चुराने वाले पर दो सौ पण का जुर्माना करने को कहा गया।

कौटिल्य शारीरिक दंड को कायदंड का नाम देते हैं। अपराध के अनुसार यह दंड भी छोटा बड़ा होता था। इस प्रकार के दंडों में बेंत मारना, कोड़े लगाना, रस्सी से मारना, उन्हें लटकाना, हाथियों से कुचलवाना, कुत्तों से चिथवा कर प्राण लेना, हाथ पैर आदि अंगों को कटवा देना, शरीर के मर्मस्थलों को छेदन कराना, नाखूनों में सुइयां चुभाना, क्लेश पूर्वक शरीर के अंगों को कटवाना, शरीर एवं शीश पर जलते हुए अंगार रख कर प्राण लेना, जल में डुबोना, शरीर की खाल निकलवाना तथा वध करा देना प्रमुख थे।

तीसरे प्रकार का दंड बन्धनागार दंड कहा गया। बन्दीगृह के अधिकारी को बन्धनागाराध्यक्ष कहा गया। बन्दीगृहों में स्त्रियों तथा पुरुषों के लिए अलग अलग व्यवस्था की जाती थी। इसमें अनेक कोठरियां होती थीं तथा इनकी सुरक्षा का समुचित प्रबन्ध किया जाता था। बन्दीगृह में रहने वाले अपराधियों को सामान्य सुविधायें प्रदान की जाती थीं। उनकी क्षमता के अनुसार ही उनसे काम लिया जाता था। समय समय पर उनके आचरण तथा व्यवहार की जांच की जाती थी और उसके आधार पर उनसे सलूक किया जाता था। बन्दियों पर कठोर अनुशासन रखा जाता था।

कौटिल्य ने दंड का निर्धारण करते समय ब्राह्मणों एवं उच्च वर्णों को विशेष स्तर प्रदान किया है। उनके लिए वे दंड की मात्रा कुछ कम

रखते हैं। अर्थशास्त्र का आठवाँ अध्याय उन्हें मृत्यु दंड देने का निषेध करता है। गम्भीर अपराधों के लिए उसमें ब्राह्मणों के माथे पर दाग लगाने की बात कही गई है ताकि उनको पतितों की श्रेणी मे रखा जा सके। कौटिल्य के दंड सिद्धान्त में विशेष परिस्थितियों को पर्याप्त महत्व दिया गया, दड के भय से आंतक पैदा करने की चेष्टा की जाती थी, अपराधी को अपमानित एव लज्जित किया जाता था। बन्दियों के आचरण को सुधारने के लिए भी कई एक कदम उठाये जाते थे।

आर्थिक नीति
(The Financial Policy)

अर्थशास्त्र में राजनीति के साथ-साथ उन विषयों का भी अध्ययन किया गया है जो कि धन से सम्बन्ध रखते हैं। कौटिल्य ने राज्य की जिस आर्थिक नीति का उल्लेख किया है उसके तीन सिद्धांत है। इसका प्रथम सिद्धांत यह है कि जिन उद्योगों पर राज्य का अस्तित्व निर्भर करता है उनका संचालन राज्य के द्वारा ही किया जाना चाहिए। इन उद्योगों में लगाई गयी पूंजी उसका श्रम और सार प्रबध राज्य द्वारा ही होना चाहिए। इस प्रकार कौटिल्य ने मूल उद्योगों पर राज्य के प्रत्यक्ष स्वामित्व को स्वीकार किया है। इस क्षेत्र में नागरिकों को निजी सम्पत्ति का कोई अधिकार नही दिया जा सकता। मुख्य उद्योगों को राज्य के नियन्त्रण में रखने का तात्पर्य सम्भवत: एक सशक्त राज्य का निर्माण करना होगा। दूसरे सिद्धांत के अनुसार अव-शिष्ट विषयों पर व्यक्तिगत स्वामित्व का अधिकार दिया गया। जनता इस क्षेत्र में आने वाले उद्योगों पर अपनी पूंजी, अपना श्रम और अपना प्रबन्ध लगा सकती थी। इस प्रकार इन उद्योगों का संचालन उसी के द्वारा किया जाता था। इस श्रेणी में आने वाले उद्योगों पर व्यवस्थापकों का एक मात्र अधिकार माना गया। तीसरे सिद्धांत के अनुसार राज्य के नियन्त्रण का समर्थन किया गया। मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण को रोकने के लिए राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक माना गया था। कौटिल्य ने इन तीनों श्रेणियों में आने वाले विभिन्न उद्योगों का विस्तार के साथ उल्लेख किया है।

कौटिल्य राज्य के लिए कोष को अत्यन्त उपयोगी मानते हैं। उनके मतानुसार व्यक्ति का कोई व्यक्तिगत कार्य भी धन के विना सम्पन्न नही हो सकता तो राज्य संचालन जैसा महान कार्य इसके विना कैसे संचालित किया जा सकता है। राजा कोष के आधार पर ही सेना का संगठन करता है और इस प्रकार वह अपनी रक्षा करने मे समर्थ होता है। कोष वृद्धि के लिए राज्य को क्या उपाय अपनाने चाहिए, इस सम्बन्ध में कौटिल्य ने विस्तार के साथ लिखा है। इस क्षेत्र में वे राजा को स्वतन्त्रता नहीं देना चाहते; यद्यपि राज्य संचालन के लिए कोष परम आवश्यक और उपयोगी है किन्तु फिर भी उसे एकत्रित करने में राजा स्वेच्छाचारिता नहीं बरत सकता था। अर्थ शास्त्र में कोष संचय के लिए विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया, ये थे—परिपुष्टि सिद्धांत, दौर्लभ्य एवं उपयोगिता का सिद्धांत, विशेष क्रिया के आधार पर कर मुक्ति का सिद्धांत, व्यवसाय एवं उद्योग नियन्त्रण सिद्धांत और वेतन

न्यायिक व्यवस्था
(Judicial System)

कौटिल्य ने स्वधर्म के पालन को मनुष्य का महत्वपूर्ण कर्त्तव्य माना है। इस कर्त्तव्य को पूरा करके ही व्यक्ति इस लोक का सुख और परलोक का आनन्द प्राप्त कर सकता है। स्वधर्म पालन का कर्त्तव्य ऐसा था, जिसे कोई भी व्यक्ति अपनी मर्जी से पूरा करने के लिए इच्छुक नहीं होता जब तक कि ऐसा करने के लिए उसे पुरस्कृत या दण्डित न किया जावे, ऐसी स्थिति में न्याय व्यवस्था की स्थापना की जाना अत्यन्त आवश्यक मानी गयी। कौटिल्य का मत था कि उचित न्याय का वितरण करने के लिए सरकार द्वारा न्याय की समुचित व्यवस्था की जानी चाहिए। महत्वपूर्ण केन्द्रों पर न्यायाधीशों की नियुक्ति की जानी चाहिए ताकि लोगों के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा की जा सके। न्याय कार्य को कौटिल्य ने दो क्षेत्रों में विभाजित किया है—व्यवहार (दिवानी) और कण्टक शोधन (फौजदारी)। प्रथम क्षेत्र के अन्तर्गत नागरिकों के पारस्परिक सम्पर्क को लिया जाता था। नागरिकों के बीच होने वाले कलह के मूल कारणों को खोज कर न्यायालय उनकी विवेचना करते थे और इस विवेचना के आधार पर दोषी को उसके दोष के अनुसार दण्ड देते थे तथा निर्दोषी को उसके अधिकार दिलाने की चेष्टा करते थे। दूसरे क्षेत्र में मनुष्य जीवन के उस अंश को लिया गया जिस अंश में व्यक्ति का राज्य के कर्मचारियों, व्यापारियों एवं व्यवसायियों तथा कुछ विशेष कोटि के दुष्ट व्यक्तियों से सम्बन्ध रहता था। इन विभिन्न वर्ग के लोगों के द्वारा सामान्य लोगों का शोषण किया जाता था। उन्हें इस शोषण और उत्पीडन से बचाने के लिए न्याय व्यवस्था की स्थापना की गयी।

मनु ने व्यवहार के क्षेत्र को निर्धारित करके उसके विषयों को सूचीबद्ध किया है किन्तु कौटिल्य ऐसा न करके उनका अलग अलग वर्णन करते हैं। इस क्षेत्र में जो विभिन्न विषय आते है वे हैं—स्त्री पुरुष के धर्म व्यवस्था, परस्त्री हरण एवं परस्त्री का परपुरुष से सम्बन्ध दाय भाग, अंश विभाग, पुन विभाग वास्तु विवाद, ऋण लेकर न देना अथवा बिना दिए मांगना, निक्षेप, स्वामी रहित वस्तु का विक्रय, साझे का व्यापार, दान, वेतन, प्रतिज्ञा का भंग करना दास कार्य, क्रय विक्रय विवाद, पशु स्वामी तथा पशु विवाद, सीमा विवाद, डाका चोरी मारपीट, कठोर वचनों का प्रयोग आदि आदि। इन विभिन्न विवादों को सुलझाने के लिए कौटिल्य ने विभिन्न प्रकार के न्यायालयों की स्थापना करने का सुझाव दिया है। ये न्यायालय छोटे और बड़े विभिन्न प्रकार के होने चाहिए। इन न्यायालयों की स्थापना विभिन्न बस्तियों में की जानी चाहिए तथा इनमे विवादों को सुनने और उन पर निर्णय देने के लिए तीन न्यायाधीश और तीन अमात्य होने चाहिए। स्थानीय महत्व के विवादों की सुलझाने के लिए स्थानीय न्यायालयों की स्थापना की बात कही गयी। उनके मतानुसार न्याय कार्य का सम्पादन ग्राम के वृद्धों एवं ग्राम सामन्तों द्वारा किया जाना चाहिए। यदि किसी विषय पर ये लोग एक मत नहीं सकें तो गांव के धार्मिक लोगों से अनुमति लेकर निर्णय लेना

चाहिए। न्याय के क्षेत्र में मध्यस्थता के सिद्धांत को पर्याप्त महत्व दिया गया। विवाद से सम्बन्धित दोनों पक्ष किसी व्यक्ति को मध्यस्थ बनाकर उससे विवाद ग्रस्त विषय का निर्णय करा सकते थे। मध्यस्थ द्वारा इस निर्णय को अन्तिम समझा जाता था।

कौटिल्य ने न्यायालयों की कार्य प्रणाली का विस्तार के साथ वर्णन किया है। उनके मतानुसार अर्थी, प्रत्यर्थी एव साक्षी को न्यायालय में अपना पक्ष प्रस्तुत करने की पूरी स्वतन्त्रता थी। इस स्वतन्त्रता के हरण करने वाले प्रत्येक न्यायाधीश एवं कर्मचारी को दण्ड का भागी माना गया। कौटिल्य का मत था कि "घटना चाहे कितनी पुरानी हो जाए, उसके प्रमाणित हो जाने पर दोषी को अवश्य दण्ड दिया जाए। इस प्रकार अपकारी को छोड़ना नहीं चाहिए।" कौटिल्य पूर्व निर्धारित विचारों पर निर्णय लेने का विरोध करते हैं। इनके मतानुसार जो व्यक्ति साक्ष्य द्वारा सच्चा प्रमाणित हो जाए उसे ही सच्चा मानना चाहिए। इस प्रकार व्यवहार क्षेत्र में कौटिल्य ने साक्षी को पर्याप्त महत्व दिया है। वे साक्ष्य को लिखित प्रमाण, भोग प्रमाण और साक्षी प्रमाण इन तीन भागों में विभाजित करते हैं। प्रमाणों की सत्यता को परखने के लिए उन्होंने अनेक तरीके बताए हैं। महत्वपूर्ण अभियोगों में चरों द्वारा प्राप्त सूचनायें भी उपयोगी हो सकती थी।

अपराधों का दूसरा क्षेत्र कौटिल्य द्वारा कंटक शोधन कहा गया। इसके अन्तर्गत उन्होने उन उपायों का वर्णन किया जो कि राज्य के व्यवसायों एवं दुष्ट जनो से प्रजा की रक्षा कर सकें। कौटिल्य की स्पष्ट धारणा थी कि यदि राज्य के विभिन्न व्यवसायियों पर नियन्त्रण न रखा गया तो वे प्रजा का शोषण व पीड़न करने लगेंगे। कम तोलना, बिक्री के माल में मिलावट करना, बढ़िया चीज के नाम पर घटिया चीज देना, निर्धारित मूल्यों से अधिक मूल्य लेना आदि क्रियाओं से व्यापारी वर्ग भोली प्रजा को ठग सकता था इसलिए कौटिल्य उन पर नियन्त्रण रखने का समर्थन करते हैं। उन्होंने व्यवसाय सम्बन्धी विभिन्न नियमों का उल्लेख किया और बताया कि जो इन नियमों का उल्लंघन करेगा वह राज्य के दण्ड का भागीदार होगा। व्यवसायियों की भांति राज्य के कर्मचारियों पर भी कड़ा नियन्त्रण रखने की बात कही गई ताकि वे स्वार्थरत होकर अपने कर्तव्य पालन के मार्ग से न हट जाएं। इस कार्य की देखरेख के लिए चरों की व्यवस्था की बात भी कही गई। कौटिल्य का मत था कि दुष्ट कर्मचारियों को उनके दोष के अनुसार दण्ड देकर उनके आचरण की निरन्तर शुद्धि करनी चाहिए ताकि राज कर्मचारी अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए अपनी प्रजा का कल्याण कर सकें। दुष्ट जनों से भी राज्य की सुरक्षा व शांति भंग होने का खतरा था। चोर, डाकू, व्यभिचारी वचक, घातक आदि के होने पर लोगों का जीवन निर्भयता एव सुख के साथ व्यतीत नहीं हो सकता था। राज्य को इन दुष्ट जनों से प्रजा की रक्षा के लिए पुलिस एवं चरों आदि की नियुक्ति करनी होती थी। अपराधी कर्मचारियों को दण्ड देने की व्यवस्था की गई। खदानों अथवा कारखानों से बहुमूल्य माल चुराने

सिद्धांत। अब राज्य जनता पर कर लगाये तो उसे अपना व्यवहार इन्हीं सिद्धांतों के आधार पर संचालित करना चाहिए। इन सिद्धांतों की विस्तृत व्याख्या राज्य के वित्तीय प्रशासन से संबंधित अध्याय में की गई है अतः यहाँ उसको दुहराना उपयुक्त नहीं है।

कौटिल्य ने राज्य के कोष संचय के लिए कई मार्ग बताये हैं। इन मार्गों को आय शरीर और आय मुख नाम की दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। कौटिल्य ने इन दोनों श्रेणियों में आने वाले आय के साधनों की व्याख्या की है। कौटिल्य ने आपत्तिकाल में कोष संचय के लिए कुछ विशेष सिद्धांतों की भी रचना की है। संकट काल में राज्य के कार्य को [illegible] की जाती थी। उदाहरण के [illegible] और जहाँ अन्न का उत्पादन पर्याप्त होता है उनसे राजा अन्न का एक तिहाई या एक चौथाई अन्न का अंश माँग सकता था। दूसरे, उत्पादित अनाज में से बीज तथा अन्य आवश्यकताओं के लिए छोड़ कर अधिक अनाज को खरीदा जा सकता था। तीसरे, समाहर्ता किसानों को समझाकर गर्मी में भी फसल करा सकता था। चौथे, व्यापारियों से धन माँगा जा सकता था। पाँचवें, पशु रखने वालों से उनके पशुओं की आधी आय राज्य को देने के लिए कहा जा सकता था। छठे, धन एकत्रित करने के लिए गुप्तचरों की सहायता ली जा सकती थी। सातवें, धार्मिक संस्थाओं के अध्यक्ष धन संग्रह में राज्य की सहायता कर सकते थे। इस प्रकार संकटकाल में राजकोष के लिए धन एकत्र किया जाता था।

कोष संचय के अतिरिक्त कौटिल्य ने उन विभिन्न कारणों का भी उल्लेख किया है जिनसे कि कोष को समृद्ध बनाने में सहायता प्राप्त होती थी। इनमें प्रथम यह था कि राज्य के निवासियों को सब तरह से सम्पन्न और समृद्ध होना चाहिए। दूसरे, निवासियों का आचरण तथा व्यवहार भ्रष्टाचार रहित हो। तीसरे राज्य की आय का कर्मचारियों या किसी के द्वारा अपहरण न किया जाए। चौथे राज्य के कर्मचारियों की संख्या केवल उतनी ही होनी चाहिए जितनी कि आवश्यक हो। पाँचवें, राज्य का उद्योग तथा व्यापार उन्नत होना चाहिए। छठे, राज्य में अन्न का उत्पादन अधिक होना चाहिए। ऐसा होने पर ही राजकोष को समृद्ध बनाया जा सकता था।

कौटिल्य ने उन विभिन्न मार्गों का भी उल्लेख किया है जिनमें होकर राज्य की संचित निधि का व्यय होता था। उन्होंने इस बात पर जोर दिया है कि इस धन को किसी गलत कार्य में नहीं लगाना चाहिए। कौटिल्य का कहना है कि देव पूजा पितृ पूजन, दान, अन्तःपुर राजकीय रसोई, दूत, कोष्ठागार, शस्त्रागार, पण्यगृह, उद्योग धन्धों में कार्य करने वाले, बेगार पैदल, अश्वारोही हस्त्यारोही और रथारोही सेना, गौ मण्डल, पशु मृग, पक्षी, तथा सर्प आदि जन्तुओं का संग्रह, काष्ठ, तृण बगीचों की रक्षा आदि के कार्यों में राजकोष का व्यय होना चाहिए। इन विभिन्न विषयों में धन की कितनी मात्रा लगाई जाए यह भी कौटिल्य ने निश्चित किया है। सार्वजनिक व्यय के सम्बन्ध में कौटिल्य ने जो भी लिखा है वह अत्यन्त स्पष्ट क्रमबद्ध एवं विस्तृत है।

सालेटोर के कथनानुसार कौटिल्य के अर्थशास्त्र ने भारतीय वित्त के इतिहास में एक नया अध्याय खोला है। इसमें सार्वजनिक वित्त के सबसे अधिक विस्तृत एवं सम्भवतः विश्व के प्राचीनतम सिद्धान्त प्राप्त होते हैं। कौटिल्य ने शान्ति काल एवं आपत्तिकाल दोनों कालों की अर्थ व्यवस्था के सम्बन्ध में विचारा है। दोनों ही अर्थ व्यवस्थाओं का मूल उद्देश्य सुदृढ़ एवं शक्तिशाली राज्य का कल्याण करना था।

कौटिल्य ने कोष की वृद्धि के कारणों की भाँति कोष के क्षय के कारणों का भी उल्लेख किया है। उनके मतानुसार आठ कारणों से कोष का क्षय हो सकता है। ये हैं—प्रतिबन्ध, प्रयोग, व्यवहार, अवस्तार, परिहापण; उपभोग, परिवर्तन और अपहार। जब लाभदायक कार्यों में धन को नहीं लगाया जाता अथवा लाभकारी कार्यों में लगाये धन से प्राप्त आय को राजकोष में जमा नहीं कराया जाता तो यह प्रतिबन्ध कहलाता है। कोष क्षय के दूसरे तथा तीसरे कारण के अनुसार राजकोष के धन को सार्वजनिक कार्यों में लगाने की अपेक्षा निजी लाभ के कार्यों में तथा निजी व्यापार में लगाया जाता है। ऐसा करने से धीरे-धीरे राजकोष घटता जाता है। अवस्तार के अनुसार राज्य के धन को समय पर नहीं उगाहा जाता था। जब भुगतान का समय नहीं होता है तब उसकी उगाही की जाती है। क्लृप्त के अनुसार राज्य के उद्यमों में आय की अपेक्षा व्यय को बढ़ा दिया जाता है। उपभोग में राज्य के कर्मचारी सार्वजनिक सम्पति का उपभोग स्वयं करते है अथवा दूसरो से कराते हैं। जब राजकोष के द्रव्यों को वैसे ही अन्य द्रव्यों से बदल दिया जाता है तो उसकी क्षति का सातवां कारण परिवर्तन पैदा हो जाता है। अपहार के अन्तगर्त प्राप्त धन को जमा नहीं किया जाता और व्यय किये बिना भी यह लिख दिया जाता है कि व्यय कर दिया गया। इन समस्त कारणों से सार्वजनिक धन का अपव्यय होता है और उसका कोई प्रतिदान राज्य को नहीं मिल पाता। इन समस्त कारणों का निराकरण करने के लिए कौटिल्य ने दोषी को दण्ड देने की व्यवस्था की है।

राज्य की बाह्यनीति
(External Affairs of the State)

अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों के बारे में कौटिल्य के विचारों का अध्ययन हम पीछे यथास्थान कर चुके हैं। इतने पर भी उनको यहां संक्षेप में एक स्थान पर देना अनुपयुक्त नहीं रहेगा। राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का वर्णन करने के लिए उन्होने मण्डल सिद्धान्त का आश्रय लिया है। उन्होंने राज्यों को अरि राज्य, मित्र राज्य, उदासीन राज्य तथा मध्यम राज्य के रूप में विभाजित किया है। इनमें से प्रत्येक राज्य का एक मण्डल होना है और उसमें ये ही चारों प्रकार के राज्य सम्मिलित रहते हैं। इन राज्यों की अलग अलग प्रकृतियां होती हैं और वे मिल कर वृहत मण्डल की रचना करती हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का संचालन उपायों एवं षाड्गुण्यों के आधार पर किया जाता है। उपाय चार होते हैं—साम, दान, भेद और दण्ड। इनके

अतिरिक्त छः गुण होते है—सन्धि विग्रह, यान, आसन, संश्रय तथा द्वैधी भाव। कौटिल्य ने इन गुणों तथा उपायों का विस्तार के साथ वर्णन किया है। इनकी प्रकृति का उल्लेख करते हुए इनके प्रयोग के अवसरों की व्यवस्था की है।

सेना और युद्ध
(The Army and War)

कौटिल्य ने सैनिक बल को राज्य की प्रकृतियों में स्थान दिया है। उन्होंने सेना के छः प्रकारों का वर्णन किया है। ये हैं—मौल सेना, जो कि राजधानी की रक्षा करती थी, भृत्य सेना, जो कि वेतन भोगी सैनिकों से पूर्ण होती थी; श्रेणी सेना जो कि विभिन्न प्रदेशों में रखी जाती थी; मित्र बल अर्थात् मित्र राजा की सेना, शत्रु बल अर्थात् शत्रु राजा की सेना और अटवी बल अर्थात जंगल की सुरक्षा के लिए नियुक्त सेना। सेना के इन प्रकारों की उपयोगिता उत्तरोत्तर घटती जाती है। इस दृष्टि से सर्वप्रथम स्थान मित्र बल को और सबसे अन्तिम स्थान अटवीबल को दिया जा सकता है। सेना में वर्ण व्यवस्था को भी महत्व दिया गया। कौटिल्य का कहना था कि युद्ध विद्या में कुशल एवं विनयशील क्षात्रीय सेना सबसे अच्छी होती है। वीर योद्धाओं वाली वैश्यों एवं शूद्रों की सेनाओं को भी उतना ही श्रेष्ठ माना गया। कौटिल्य ने ब्राह्मण वर्ग की सेना को इतना अच्छा नहीं माना था। उसका विचार था कि ब्राह्मण वर्ग केवल नमस्कार करने से ही शत्रु को माफ कर देता है। इस आदत का लाभ उठाकर शत्रु उसे आसानी से परास्त कर देगा। विजय प्राप्त करने की अभिलाषा वाले राजा को पहले तो अपने शत्रु की स्थिति का पता लगाना चाहिए कि वह किस प्रकार की सेना से सम्पन्न है और फिर उसी के अनुसार अपनी सेना का सगठन करना चाहिए। हाथी, घोड़े, रथ तथा पैदल, चार प्रकार की सेना का सगठन किया जाता था। शक्तिशाली सेना ही एक राजा की मुख्य सम्पत्ति होती थी।

कौटिल्य ने व्यूह तथा दुर्ग बना कर युद्ध करने के लिए कहा है। उनका मत है कि सेना की छावनी से पांच सौ धनुष की दूरी पर दुर्ग बनाया जाये अथवा भूमि की सुविधा के अनुसार व्यूह बनाया जाये और युद्ध किया जाये। व्यूह अनेक प्रकार के बनाये जा सकते थे। इनका वर्णन करने के साथ-साथ कौटिल्य ने यह भी बताया है कि अमुक व्यूह के विरुद्ध अमुक व्यूह की रचना विजय प्राप्ति के लिए फलदायक रहेगी। कौटिल्य ने युद्धों को प्रक्रियाओं के आधार पर तीन भागों में विभाजित किया है। ये हैं—प्रकाश युद्ध (धर्म युद्ध), कूट युद्ध और तूष्णी युद्ध। इन तीनों प्रकार के युद्धों का परिस्थिति के अनुसार ही प्रयोग करना चाहिए।

दूत एवं गुप्तचर
(Doot and Spies)

अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों एवं राज्य की आन्तरिक शान्ति-व्यवस्था के लिए गुप्तचरों तथा दूतों का होना अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया था। कौटिल्य ने दूतों को राजा का मुख कहा है क्योंकि इनके माध्यम से ही वह अपनी

बात अन्य राजाओं से कह पाता है तथा उनकी बात को सुन पाता है। कौटिल्य ने दूतों को उनकी योग्यता तथा अधिकारों के आधार पर तीन भागों में विभाजित किया है—निसृष्टार्थ, परिमितार्थ एवं शासन हर। इन तीनों प्रकार के दूतों के अधिकार तथा स्थिति के सम्बन्ध में कौटिल्य ने पर्याप्त रूप से वर्णन किया है।

गुप्तचरों का प्रयोग स्वयं की तथा शत्रु राज्य की स्थिति को जानने के लिए किया जाता था। ये शत्रु के राज्य में वहां की प्रजा को उनके राजा के विरुद्ध उखाड़ने का कार्य करते थे। वहां फूट डाल कर, अव्यवस्था फैला कर तथा अन्य प्रकार से संकट पैदा करके उस राज्य को शक्तिहीन बनाने का प्रयास करते थे। अपने राज्य के अन्तर्गत भी राज्य विरोधी गतिविधियों का पता लगाने के लिए ये सक्रिय रहते थे। सरकारी कर्मचारी एवं सामान्य जनता पर इनका भारी आतंक छाया रहता था और प्रत्येक अपराधी का दिल इनकी उपस्थिति की आशंका से सदैव ही कांपता रहता था। उच्च पदासीन राज्य अधिकारी तक भी इनकी दृष्टि से ओझल नहीं होते थे। ये गुप्तचर शिकारी, साधु, शिल्पी, पागल, पाखण्डी आदि के वेश में इस प्रकार घूमते थे कि कोई सन्देह न कर सके।

अर्थशास्त्र में धर्म और नैतिकता
(Religion and Morality in Arthshastra)

कौटिल्य का अर्थशास्त्र एक प्रकार से राजनीतिज्ञों के लिए पथ निर्देशक ग्रन्थ है जिसके अध्ययन एवं अनुशीलन के बाद वे राज्य की स्थापना करने तथा उसे बनाये रखने के लिए सफलतापूर्वक प्रयास कर सकते थे। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक ही है कि ग्रन्थ द्वारा किसी आदर्श व्यवस्था का वर्णन किये जाने की अपेक्षा केवल व्यावहारिक उलझनों पर ही विचार किया जाता। कौटिल्य में हमें नैतिकता और धर्म की पूर्ण अवहेलना प्राप्त नहीं होती क्योंकि उनका अर्थशास्त्र सबसे पहले वेदों तथा स्मृतियों में वर्णित, वर्णाश्रम व्यवस्था को स्वीकार करता है। इसके अतिरिक्त उसमें राजा को पुरोहित की नियुक्ति करना अनिवार्य माना गया है। उसने ब्राह्मणों को स्मृतियों की भांति सामाजिक तथा कानूनी विशेषाधिकार सौंपे हैं। इस सबसे यह प्रतीत होता है कि कौटिल्य राजनीति को धर्म और नीति से वंचित नहीं करना चाहते। राजा को कौटिल्य ने जो कार्य सौंपे हैं, उनको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि उन्होंने राजा को स्वेच्छाचारी बनने के मार्ग मे अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये हैं। उनका कहना है कि राजा को सदैव जन कल्याण के कार्य करने चाहिये और जो भी कर लगाया जावे वह न्यायोचित हो। राजा को चाहिये कि वह अपनी इन्द्रियों पर कड़ा नियन्त्रण रखे, वह सभी व्यक्तियों को न्याय प्रदान करे तथा जिन लोगों ने धर्म की सीमाओं का उल्लंघन किया है उन्हें दण्ड दे। अर्थशास्त्र का राजा धर्म शास्त्रों एवं नीति शास्त्र के सुस्थापित सिद्धान्तों के अधीन कार्य करता है। इस रूप में वह अत्याचारी नहीं हो सकता। भारतीय जनता अत्याचारी शासक को सहन

करने की अभ्यस्त नहीं थी। धर्म से बंधा हुआ होने के कारण राजा प्रत्येक समस्या पर अपने मन्त्रियों एवं परामर्शदाताओं से राय लेता था।

उपर्युक्त वस्तु स्थिति के होते हुए भी कौटिल्य ने एक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ के रूप में राज्य संचालन के लिए जिन व्यवहारों का समर्थन किया उन्हें देखकर यह कहा जा सकता है कि कौटिल्य नैतिकता और धर्म के प्रति अधिक श्रद्धा नहीं रखते थे। उनके अनुसार राजनैतिक लक्ष्य प्राप्त करने के लिए धर्म का किसी भी रूप में प्रयोग किया जा सकता था। उन्होंने जिन गुप्तचरों का वर्णन किया है उनमें झूठे साधु और सन्यासी भी शामिल किये गये हैं। कूटनीतिक उपायों का वर्णन करते हुए कौटिल्य ने जिन विभिन्न तरीकों का उल्लेख किया है वे धर्म और नैतिकता के किसी भी स्तर पर नहीं टिक पाते। इन बातों के देखने पर ऐसा लगता है कि कौटिल्य राजनीति में नैतिकता को कोई महत्त्व नहीं देना चाहते।

उपर्युक्त दोनों मत आंशिक सत्यता रखते हैं। कई स्थानों पर कौटिल्य ने नैतिकता का पक्ष लिया है किन्तु दूसरे कई स्थानों पर अनैतिक व्यवहार का भी समर्थन किया है। इस सम्बन्ध में डा० घोषाल का यह मत उल्लेखनीय है कि नैतिकता के बारे में कौटिल्य ने दोहरी नीति अपनायी है। उन्होंने राजा के व्यवहार, युवराज के प्रशिक्षण तथा राजघराने के सम्बन्ध में होने वाले व्यय आदि बातों में धर्म और पथ के स्तर को लागू किया है। दूसरी ओर कौटिल्य अपने पूर्वगामी विद्वानों के शासनकाल में सम्बन्धित अनैतिक विचारों की प्रतिक्रिया करते दिखाई देते हैं। भारद्वाज ने यह माना था कि जब राजा को अपने पुत्रों से खतरा हो तो वह उनको इन्द्रिय भोगों में लगा दे। कौटिल्य ने इन सुझाव का खण्डन किया है। वे भारद्वाज के इस मत को भी अस्वीकार करते हैं कि राजा की मृत्यु के बाद मन्त्रियों द्वारा द्रोह तथा हिंसा के द्वारा सिंहासन पर अधिकार कर लिया जाये। कौटिल्य ने इस बात का समर्थन किया है कि राज्यों के आपसी सम्बन्धों में जो सन्धियां सत्य और शपथ पर आधारित रहती हैं उनका आदर किया जावे। असल में कौटिल्य ने धर्म के प्रति जो रुख अपनाया वह उदासीनता का नहीं था वरन् वह लौकिक था।[1] मिस्टर ए० के० सेन के कथनानुसार कौटिल्य अपनी राजनीति में अनैतिक नहीं वरन् नीतिशून्य है। वह धर्म विरोधी नहीं वरन् अधार्मिक है। इन्होंने राजनैतिक उद्देश्यों के लिए और राज्य के उच्च ध्येयों के लिए धार्मिक भावनाओं और धार्मिक संस्थाओं का प्रयोग करने में जागरूकता दिखाई है।[2]

---

1. "Kautilya's attitude to religion was secular and not apathetic"—M V Krishna Rao, op cit page 25

2. "Kautilya is not immoral but unmoral in his Politics; he is not religious but unreligus in his Politics and is pre-

कौटिल्य ने नीति शास्त्र और राजनीति को ऐतिहासिक अध्ययनों का भाग माना है। इतिहास को समझने के लिए अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र का सन्दर्भ देने के पीछे नैतिक तथा भौतिक दृष्टिकोण की आवश्यकता झलकती है। इस प्रकार हम कौटिल्य द्वारा वर्णित विभिन्न अनैतिक तरीकों को देखकर उसे नैतिकता विरोधी नहीं कह सकते। एक स्थान पर कौटिल्य ने यह सुझाव दिया है कि जब शत्रु राजा पूजा करने आये तो उसे नष्ट करने के लिए पहले से ही मूर्ति के अन्दर हथियार छिपा दिये जाये। इसी प्रकार शत्रु राजा को डराने के लिए और अपने सिपाहियों का हौसला बढ़ाने के लिये राजा की दैवीय शक्ति का बखान किया जाय और देवताओं के साथ उसके सम्बन्ध वाली बात कही जाय। कौटिल्य ने इस प्रकार के सिद्धान्तों को बृहस्पति और अथर्ववेद से ग्रहण किया है।

कौटिल्य और कुछ पाश्चात्य विचारक
(Kautilya and some Western thinkers)

कौटिल्य के अर्थ शास्त्र की खोज से पूर्व भारतीय राजनीति जैसा अलग से कोई विषय नहीं था और ज्ञान की इस शाखा में पश्चिम का ही एकाधिकार समझा जाता था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र ने इस धारणा को निर्मूल-सिद्ध कर दिया। अब यह स्पष्ट हो चुका था कि भारत ने उन राजनैतिक विचारों को बहुत पहले ही अभिव्यक्त कर दिया था जो कि आज पश्चिमी विचारकों के नाम के साथ संलग्न हैं। पश्चिम में प्लेटो, अरस्तू और मैक्यावली ऐसे विचारक हैं जिनकी तुलना हम कौटिल्य से कर सकते हैं। इन विचारकों मे कुछ समानतायें पाई जाती हैं और कुछ असमानतायें।

कौटिल्य और प्लेटो

प्लेटो सुकरात का शिष्य और यूनानी राजनैतिक विचारों का मुख्य व्याख्याता माना जाता है। प्लेटो ने विभिन्न ग्रन्थों की रचना की जिनमें उनका रिपब्लिक (Republic) अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसमें उन्होंने आदर्श राज्य का चित्रण किया है। अपने बाद के ग्रन्थो में वे राजा के व्यावहारिक स्वरूप पर भी आ गये। प्लेटो तथा कौटिल्य दोनों विचारकों में कुछ एक समानतायें दृष्टिगोचर होती हैं। उदाहरण के लिए सद्धर्म और न्याय पर दोनों ने जोर दिया है। जिस प्रकार कौटिल्य ने वैदिक वर्ण व्यवस्था को स्वीकार किया है और प्रत्येक को अपना कर्त्तव्य करने को कहा है उसी प्रकार प्लेटो भी समाज को तीन वर्गों मे बांटते हैं और प्रत्येक वर्ग को उसके कर्त्तव्य पूरा करने के लिए कहते हैं। यद्यपि प्लेटो के वर्गीकरण का आधार मनोवैज्ञानिक था। जिस प्रकार प्लेटो ने प्रशासक वर्ग में कुछ निश्चित विशेषताओं का होना आवश्यक माना है, उसी प्रकार कौटिल्य ने भी राजा और प्रशासकों की योग्यताओं का स्पष्ट रूप से वर्णन किया है।

प्लेटो और कौटिल्य के बीच समानताओं की अपेक्षा असमानताओं के अवसर अधिक हैं। प्रथम, प्लेटो ने राज्य को व्यक्ति की आवश्यकता की उपज

माना है, जब कि कौटिल्य राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सामाजिक समझौते के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। दूसरे प्लैटो ने राज्य को एक नैतिक सावयव बताया है जिसमें रह कर व्यक्ति अपना पूर्ण विकास कर सकता है। कौटिल्य भी यद्यपि राज्य को सावयव बताते हैं किन्तु उन्होंने राज्य के जिन सात अंगों अथवा प्रकृतियों का उल्लेख किया है इनके सम्बन्ध में प्लैटो ने कुछ नहीं कहा है। तीसरे, प्लैटो एक आदर्शवादी विचारक थे और उनके ग्रन्थों में उस राज्य के रूप का चित्रण है जो कि होना चाहिए। दूसरी ओर कौटिल्य एक व्यावहारिक यथार्थवादी थे। उन्होंने अपने विचार का केन्द्र उस सबको बनाया जो कि सम्भव था। चौथे, प्लैटो दार्शनिक राजा को अपने आदर्श राज्य का शासक घोषित करते हैं। कौटिल्य ने ऐसी कोई बात नहीं कही। उन का राजा कुलीन एवं गुण सम्पन्न तो होना चाहिए किन्तु उसका दार्शनिक होना जरूरी नहीं था। पांचवें, प्लैटो ने सम्पत्ति और स्त्रियों के साम्यवाद की बात कही है। उन्होंने स्त्रियों को पुरुषों के समान ही सक्षम माना है तथा वे उनको सार्वजनिक जीवन में पुरुषों के साथ कन्धे से कन्धा मिला कर चलने को कहते हैं। कौटिल्य ने स्त्रियों के साम्यवाद जैसी किसी मान्यता में विश्वास नहीं किया है। वे एक स्थान पर तो यह बताते हैं कि औरतों में पुरुषों की अपेक्षा बुद्धि का विकास जल्दी हो जाता है किन्तु दूसरे स्थानों पर कहीं भी उन्होंने राजनैतिक कार्यों में उनके भाग लेने की बात नहीं कही है। छठे, प्लैटो ने यूनान के नगर राज्य को एक आदर्श राज्य माना है। वह उसका आकार बढ़ाने के लिए तैयार नहीं है, किन्तु प्लैटो ने छोटे गणराज्यों की कटु आलोचना की है, क्योंकि ये स्थाई और कुशल शासन नहीं दे पाते और इनमें जन जीवन सुरक्षित नहीं रह पाता। कौटिल्य ने विशाल शक्तिशाली और विस्तारवादी राज्य का समर्थन किया है। सातवें, प्लैटो ने अपने ग्रन्थ में प्रशासन व्यवस्था के विस्तार का उल्लेख नहीं किया है और न ही उनके दार्शनिक राजा को सलाहकारों और मन्त्रियों की आवश्यकता प्रतीत होती है। दूसरी ओर कौटिल्य प्रशासन व्यवस्था का विस्तार के साथ विवेचन करते हैं तथा मन्त्री परिषद की नियुक्ति को आवश्यक बताते हैं। आठवें कौटिल्य का अर्थशास्त्र राज्य सम्बन्धी विषयों का विस्तृत विवेचन करता है और मण्डल सिद्धान्त उपाय, षाड्गुण्य नीति आदि सिद्धान्तों की विवेचना करता है। अर्थशास्त्र के पढ़ने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि शान्तिकाल और युद्धकाल में राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध किस प्रकार नियमित होंगे एवं दूत, गुप्तचर व्यवस्था, युद्ध आदि का क्या रूप होगा। प्लैटो ने इन सब बातों को अपने विचार का विषय नहीं बनाया है।

कौटिल्य और अरस्तु

कौटिल्य को अरस्तु का समकालीन माना जाता है। दोनों ही विचारक उस समय जीवित थे जब कि सिकन्दर महान् अपनी विश्व विजय में लगा हुआ था। कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ की रचना सम्भवतः ३२१ और ३३० ईसवी पूर्व के बीच की है। दूसरी ओर अरस्तु ने भी अपने स्कूल की स्थापना ३३५ ईसवी पूर्व में की। अरस्तु और कौटिल्य के बीच जीवन की परिस्थितियों तथा

उद्देश्यों की दृष्टि से कुछ एक समानताएं थीं जिनके फलस्वरूप दोनों के राजनैतिक विचारों में पर्याप्त साम्य है। ये दोनों महान् राजनीतिज्ञ केवल समकालीन ही नहीं थे वरन् इनका सम्बन्ध दो महान् विजेताओं से था - एक का सिकन्दर से और दूसरे का चन्द्रगुप्त से। इन दोनों के काल में गणराज्य सरकारों के रूप पतन की ओर उन्मुख हो रहे थे। अरस्तु के काल में यूनान के नगर राज्य अपनी व्यवस्था खोते जा रहे थे। इसलिए उन्होंने एक सुसंतुलित संविधान का समर्थन किया तथा एक अच्छी सरकार का पक्ष लिया जिसमें कि शक्तियां ऐसे लोगों के हाथ में सौंपी जाएं जो किये जाने वाले कार्यों में कुशल हो और उनकी प्रकृति वांछनीय संविधान के अनुरूप हो। कौटिल्य के सामने भी गणराज्यों और संघ राज्यों के ऊपर संकट आया हुआ था, अतः उन्होंने राज्य की सावयवी मान्यता पर जोर दिया जिसमें कि एक निर्देशक अंग होना चाहिए था। कौटिल्य ने राजा को राज्य का उसी प्रकार एक अंग माना जिस प्रकार कि मानवीय शरीर के लिए मस्तिष्क होता है। कौटिल्य ने विघटनकारी शक्तियों पर रोक लगाने के लिए दण्डनीति को महत्वपूर्ण बताया। राजा सम्पूर्ण रचना का शीर्ष माना गया। समाज के विभिन्न वर्गों को वर्णाश्रम धर्म के कर्तव्यों का पालन करने के लिए कहा गया। कौटिल्य का अर्थशास्त्र मूलतः प्रशासितों की अपेक्षा प्रशासकों के दृष्टिकोण से अधिक लिखा गया है। कौटिल्य की मुख्य रुचि उस सरकारी यन्त्र की स्थापना एवं व्यवहार में थी जो कि समाज में से मत्स्य न्याय को मिटा सके। अरस्तु की राजनीति भी व्यवस्थापकों एवं राजनीतिज्ञों को निर्देशित करने को थी ताकि वे अपने राज्यों को सुधार सकें तथा उनकी रक्षा कर सकें,

कौटिल्य ने अपना अर्थशास्त्र चन्द्रगुप्त मौर्य के लिये लिखा था। कौटिल्य के समय में संघ राज्यों की जनता जैन धर्म और भागवत धर्म के विरोधी सिद्धांतों से उसी प्रकार विघटित होती जा रही थी जिस प्रकार कि यूनान के नगर राज्य हो रहे थे। आन्तरिक अव्यवस्था, पारस्परिक ईर्ष्या और वंश परम्परागत मनमुटाव आदि ने मिल कर इन संघ राज्यों की एकता और भाईचारे की भावना को चुनौती दी थी। संघों में जो जातीय एकता थी, उसे तत्कालीन धार्मिक आंदोलनों ने नष्ट कर दिया।

कौटिल्य और अरस्तु दोनों ने संघों के संगठित रूप पर पर्याप्त जोर दिया है, किन्तु कौटिल्य इसे साम्राज्यवादी उद्देश्यों के लिए चाहते थे। उनका कहना था कि जिस प्रकार एक व्यक्ति राजा से दण्ड पाये बिना कुछ नहीं करता, उसी प्रकार राज्य और संघ भी तब तक कुछ नहीं करते जब तक कि उनको एक आत्म चेतना न हो और वे किसी सामान्य सर्वोच्च की आज्ञा का पालन न करें। इस प्रकार कौटिल्य ने अपने 'चतुरांत महीम' के आदर्श को मानवीय प्रकृति के अनुरूप बताया।

कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' अरस्तु की 'राजनीति' की तरह कोई स्वेच्छाचारी रचना नहीं है, किन्तु अन्य स्मृतिकारों की अपेक्षा इसका वास्तविकता के साथ अधिक सम्बन्ध है। अरस्तु की भांति कौटिल्य तत्कालीन गणराज्य सरकार, द्वैराज्य, वैराज्य, अराज्य एवं अन्य संघ सरकारों के महान विद्यार्थी

थे। उन्होंने आर्य सभ्यता की उसके राजनैतिक तथा आर्थिक पहलू से व्याख्या की।

अरस्तु की भांति कौटिल्य में बुद्धि के प्रति भय की भावना है, सत्य के प्रति प्रेम है, बुद्धि से विश्वास करने का साहस है और इसके परिणामों को स्वीकार करने की तत्परता है। कौटिल्य ने प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त सामग्री का तुलनात्मक अध्ययन किया है, अपने प्रमाणों का मूल्यांकन किया है और पूर्ण रूप से वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाते हुए तत्कालीन वातावरण की आलोचना की है। अरस्तु की तरह कौटिल्य ने भावनाओं की बजाय बुद्धि को महत्व दिया है। उन्होंने महाकाव्यों पर आधारित भाग्यवाद की छाया को मिटा दिया। वे व्यक्ति और व्यक्ति के उत्तरदायित्व को अधिक महत्व देते हैं। उन्होंने मानवीय प्रयास को सर्वोच्च जीवन की प्राप्ति के लिए मूल्यवान माना।

राज्य के स्वरूप के सम्बन्ध में अरस्तु और कौटिल्य के बीच एक अद्भुत समानता प्राप्त होती है। दोनों के मतानुसार राज्य उन निश्चित एवं स्थाई सम्बन्धों पर आधारित है जो कि व्यक्तियों की लालसा पर आधारित है। दोनों ने व्यक्ति के दो रूपों की कल्पना की है। उसका एक रूप सामाजिक संगठन के साथ है और दूसरा रूप उसके व्यक्तिगत वातावरण के साथ।

कौटिल्य और अरस्तु दोनों की ही यह मान्यता है कि नगर या राज्य एक संगठन नहीं है वरन् वह सावयवी है। यह सरकार का जीवन रहित यंत्र नहीं है और न ही नागरिकों पर थोपी जाने वाली कोई बाहरी शक्ति है। यह एक जीवित सम्पूर्ण है जो कि सभी व्यक्तियों की इच्छाओं पर आधारित होता है। राज्य सर्वोच्च एकता का प्रतीक है जिसमें कि व्यक्ति अपने पृथक व्यक्तित्व को मिला देते हैं। अरस्तु ने समाज और राज्य को एक तथा अविभाज्य माना है जबकि कौटिल्य समाज को राजा के आधीन एक सावयवी मानते हैं। व्यक्ति की पूर्णता समाज में रहकर ही मानी गई। समाज के बाहर व्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं है। अरस्तु ने समाज और राज्य को अविभाज्य माना है, उनके मतानुसार राज्य केवल अधिकारों की सुरक्षा के लिए एक मात्र संस्था नहीं है और न ही वह धन की वृद्धि के लिए, व्यापार की वृद्धि के लिए अथवा साम्राज्य के प्रसार के लिए शक्ति या डर के आधार पर संगठित किया गया है। इसका एकमात्र उद्देश्य मनुष्य के उस श्रेष्ठ जीवन की स्थापना है जिसमें कि व्यक्ति रह सकता है। कौटिल्य ने भी राज्य का मूल उद्देश्य व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास माना है। अन्य दूसरे लक्ष्य इस मूल उद्देश्य के साधन मात्र हैं। दोनों ने राज्य को आध्यात्मिक कार्य सौंपे हैं, उनके मतानुसार राज्य एक गुरू है, एक जीवन निर्देशक है और सम्प्रभु शिक्षक है।

अरस्तु की भांति कौटिल्य राजधर्म को एक स्थाई विज्ञान बनाना चाहते थे। कौटिल्य ने अपने लम्बे अनुभव तथा सूझबूझ के द्वारा यह विचार किया कि विजय प्राप्त करने के लिए कुछ नियमों तथा राजनैतिक सिद्धांतों का होना जरूरी है। कौटिल्य के अनेक विचारों में कठोरता एवं दुराग्रह प्रतीत होता

है। कई स्थानों पर उन्होंने राजाओं और मंत्रियों को चेतावनी दी है कि यदि इन नियमों का उल्लंघन किया गया तो उनका राज्य नष्ट हो जायेगा। कौटिल्य ने भारत के अतीत को गौरव दिया और देश के उस दुर्भाग्य का चित्रण किया जो कि सिकन्दर की विजयों ने पैदा किया था।

अरस्तु और कौटिल्य दोनों ही मनुष्य की अपरिवर्तनीय प्रकृति में विश्वास करते थे। मनुष्य की प्रकृति बहुत पहले से ही समान भावनाओं से प्रवाहित होकर समान दिशाओं की ओर अग्रसर होती रही है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक परिस्थितियां अपने आपको लगातार दोहराती रहती हैं। अतः शासनकला के सिद्धांत इतिहास के उन उदाहरणों से खोजे जाने चाहिए जो कि समान परिस्थितियों एवं समस्याओं को एक चक्र में घुमाते रहते हैं। कौटिल्य का मत था कि एक राज्य को राजा का सौभाग्य महान् तथा शक्तिशाली बना सकता है। कौटिल्य का विश्वास था कि यदि प्रशासक द्वारा लगातार असाधारण शक्ति का प्रयोग नहीं किया गया तो व्यक्ति प्रमाद और आलस्य से पतित बन जायेगा। यही कारण है कि कौटिल्य ने सशस्त्र गणराज्यों की प्रशंसा की। वे सरकार के उस रूप को अच्छा मानते थे, जिसमें कि राजतंत्र, कुलीन तंत्र और प्रजातंत्र के तत्वों का संयोग होता है।

जैसा कि पहले भी कहा गया है, कौटिल्य और अरस्तु इतिहास को सामान्य अनुभव का क्षेत्र समझने की अपेक्षा अनुभवों का गोदाम मानते हैं। इतिहास में वर्तमान के लिए मार्ग दर्शन मिलता है। इसके द्वारा कार्य के विकल्प प्रस्तुत किये जाते हैं, यद्यपि इन विकल्पों में से चयन करने की सीमायें होती हैं।

अरस्तु और कौटिल्य के बीच भी कुछ अन्तर दर्शनीय है जो कि इन दोनों की तत्कालीन परिस्थितियों के कारण पैदा हुए। अरस्तु ने साम्राज्य तथा विशाल राज्य की कल्पना नहीं की, उन्होंने एक निश्चित आकार से बड़े राज्य को अनुपयुक्त माना था। वे नगर राज्य को आदर्श राज्य मानते थे। दूसरी ओर कौटिल्य ने बड़े साम्राज्यों का न केवल समर्थन ही किया है वरन् मौर्य साम्राज्य की स्थापना मे सक्रिय योगदान भी दिया। अरस्तु का ग्रन्थ मुख्य रूप से राजनैतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है जबकि कौटिल्य के अर्थशास्त्र में शासनकला एवं प्रशासन को महत्व दिया गया है। कौटिल्य ने अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों के विषय में जितना लिखा है उतनी ही अरस्तु ने इस विषय की अवहेलना की है। वैसे कौटिल्य को उसी प्रकार भारत का राजनीति शास्त्रवेत्ता एवं कूटनीति का पण्डित कहा जा सकता है जिस प्रकार मैक्सी ने अरस्तु को प्रथम राजशास्त्री कहा है। एम. वी. कृष्णाराव (M. V. Krishna Rao) के कथनानुसार कौटिल्य ने राजनीति को एक स्वतंत्र विज्ञान माना है और इसे सामाजिक विज्ञान की अन्य सभी शाखाओं से स्पष्टतः पृथक किया गया है।[1]

1. Kautilya treats of Politics as an indepedent sciences, and it is clearly demarketcd from all other branches of Social Sciences.—M. V. Krishna Rao, Op. cit. page 56.

कौटिल्य और मैक्यावेली

कौटिल्य को भारत का मैक्यावेली (Machiavelli) कहा जाता है। मैक्यावेली अपनी व्यावहारिक राजनीति के लिए प्रसिद्ध है। उनका महान् ग्रन्थ 'दि प्रिंस' (The Prince) कौटिल्य के अर्थशास्त्र की भाँति शासकों एवं राजनीतिज्ञों के लिए मार्गदर्शन का कार्य करता है। ये दोनों शासनकला और कूटनीति के मान्य पण्डित थे। अपने वर्णन में उन्होंने लौकिक शैली को अपनाया है। दोनों विचारकों के मतों में कई स्थानों पर साम्य दिखाई देता है। दोनों ने राजतन्त्र का समर्थन किया है। दोनों विचारक जनता की भावनाओं के प्रति सहानुभूति रखते हैं, इन्होंने राज्य हित की पूर्ति के लिए शक्ति, धोखा, छल कपट आदि सभी आवश्यक साधनों के प्रयोग का समर्थन किया है। कौटिल्य और मैक्यावेली दोनों ही इतिहास के अध्ययन को वर्तमान समय नो [illegible] नहीं मानते वरन् उसमें इन [illegible] कौटिल्य ने अपने अर्थ [illegible] उदाहरण दिये हैं जिनके कार्य एवं अकार्य भावी राजाओं के दृष्टिकोण एवं नीति को व्यक्त कर सकते हैं।

कौटिल्य और मैक्यावेली के उद्देश्यों में कुछ समानता दिखाई देती है। कौटिल्य ने अपने समय के राजनीतिक व्यवहार में परिवर्तन लाने के लिए लिखा। जैसे मैक्यावेली को यूरोप में संघर्षों एवं पतन की अनुभूति हुई थी, उसी प्रकार कौटिल्य को सिकन्दर के आक्रमण के कारण भारत के दुर्भाग्य का अनुभव हुआ। ऐसी स्थिति में उन्होंने यहाँ के भ्रष्ट शासन तथा विघटनकारी शक्तियों को मिटाने के लिए इस ग्रन्थ की रचना की और इस प्रकार अधिक वैज्ञानिक शासनकला के विकास का प्रयास किया। कौटिल्य ने विभिन्न विकल्पों का अध्ययन करते हुए समस्त समस्याओं के लिए राजनैतिक कार्यों के सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। कौटिल्य उन असंगत परिस्थितियों से अनभिज्ञ नहीं थे जो कि नीति को क्रियान्वित में बाधक बन सकती थी। भाग्य की अवहेलना न करते हुए भी कौटिल्य ने यह प्रयास किया कि राजा और मन्त्री समय और अवसर के विरुद्ध अपनी सुरक्षा करने से न चूकें।

कौटिल्य और मैक्यावेली के विचारों एवं मान्यताओं में कुछ अन्तर भी है। कौटिल्य ने राजनीति को नैतिकता और धर्म से पूर्णतया पृथक नहीं किया। यह सच है कि वे राजनीति को स्वतन्त्र व्यक्तित्व देना चाहते थे, किन्तु फिर भी उन्होंने राजनैतिक क्रियाओं पर धार्मिक तथा नैतिक नियमों पर पर्याप्त नियंत्रण रखा। मैक्यावेली इस प्रकार के पूर्ण नियंत्रण को अस्वीकार करते थे। उनकी मान्यता थी कि यदि उद्देश्य अच्छा है तो उसकी प्राप्ति के लिए कोई भी साधन अपनाया जा सकता है। उद्देश्य की प्राप्ति एवं कार्य की सफलता प्रत्येक साधन को उचित ठहराने के लिए पर्याप्त थी। कौटिल्य और मैक्यावेली के मध्य स्थित इस अन्तर को कुछ विचारकों ने अधिक महत्व नहीं दिया है। यदि हम सैबाइन के कथन पर विचार करें तो यह अन्तर महत्वहीन प्रतीत होता है। सैबाइन का कहना था कि "वह (मैक्यावेली) अपनी विभिन्न

रचनाओं में उतना अनैतिक नहीं है जितना कि वह नैतिकता के प्रति उदासीन है। उसने राजनीति को अन्य विचारों से अलग करके इस प्रकार लिखा है कि जैसे राजनीति स्वयं में ही लक्ष्य हो।"[1]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि कौटिल्य की अनेक राजनैतिक मान्यतायें प्रमुख पाश्चात्य राजनैतिक विचारकों से समानता रखती है, किन्तु फिर भी उनका विचार दर्शन उनका स्वयं का ही था। उनकी मौलिकता भारत में स्थित विशेष समस्याओं की उपज थी। उनके अनेक राजनैतिक विचार आज भी उतना ही महत्व रखते हैं जितना कि उनके प्रतिपादन के समय में था। इसका कारण यही है कि उन्होंने मानवीय प्रकृति को आधार बना कर वास्तविकता की भूमि पर अपने विचार प्रकट किये थे। परिस्थितियां बदल जाने पर भी कौटिल्य की कूटनीति एवं उनकी अन्य धारणायें आज भी प्रभाव पूर्ण हैं। अर्थशास्त्र को राजनीतिज्ञों एवं कूटनीतिक कार्यकर्ताओं के लिए एक आधारभूत ग्रन्थ माना जा सकता है। इसका महत्व सर्वकालीन एवं सर्व-देशीय है।

1. "But for the most part he is not so much immoral as non moral. He simply abstracts Politics from other considerations and write of it, as if it were an end in itself."
—G.H.Sabine: A History of Political Theory, page 292.

कौटिल्य और मैक्यावेली

कौटिल्य को भारत का मैक्यावेली (Machiavelli) कहा जाता है। मैक्यावेली अपनी व्यावहारिक राजनीति के लिए प्रसिद्ध है। उनका महान् ग्रन्थ 'दि प्रिंस' (The Prince) कौटिल्य के अर्थशास्त्र की भांति शासकों एवं राजनीतिज्ञों के लिए मार्गदर्शन का कार्य करता है। ये दोनों शासनकला और कूटनीति के मान्य पण्डित थे। अपने वर्णन में उन्होंने लौकिक शैली को अपनाया है। दोनों विचारकों के मतों में कई स्थानों पर साम्य दिखाई देता है। दोनों ने राजतन्त्र का समर्थन किया है। दोनों विचारक जनता की भावनाओं के प्रति सहानुभूति रखते हैं, इन्होंने राज्य हित की पूर्ति के लिए शक्ति, धोखा, छल कपट आदि सभी आवश्यक साधनों के प्रयोग का समर्थन किया है। कौटिल्य और मैक्यावेली दोनों ही इतिहास के अध्ययन को वर्तमान समय की बुराइयों के कारण देखने के लिए ही उपयोगी नहीं मानते वरन् उसमें इन बुराइयों को दूर करने के उपाय भी खोजे जा सकते हैं। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में स्थान स्थान पर अतीत के उन राजाओं के उदाहरण दिये हैं जिनके कार्य एवं अकार्य भावी राजाओं के दृष्टिकोण एवं नीति को व्यक्त कर सकते हैं।

कौटिल्य और मैक्यावेली के उद्देश्यों में कुछ समानता दिखाई देती है। कौटिल्य ने अपने समय के राजनीतिक व्यवहार में परिवर्तन लाने के लिए लिखा। जैसे मैक्यावेली को यूरोप में संघर्षों एवं पतन की अनुभूति हुई थी, उसी प्रकार कौटिल्य को सिकन्दर के आक्रमण के कारण भारत के दुर्भाग्य का अनुभव हुआ। ऐसी स्थिति में उन्होंने यहां के भ्रष्ट शासन तथा विघटनकारी शक्तियों को मिटाने के लिए इस ग्रन्थ की रचना की और इस प्रकार अधिक वैज्ञानिक शासनकला के विकास का प्रयास किया। कौटिल्य ने विभिन्न विकल्पों का अध्ययन करते हुए समस्त समस्याओं के लिए राजनैतिक कार्यों के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। कौटिल्य उन अवसरगत परिस्थितियों से अनभिज्ञ नहीं थे जो कि नीति की क्रियान्विति में बाधक बन सकती थी। भाग्य की अवहेलना न करते हुए भी कौटिल्य ने यह प्रयास किया कि राजा और मन्त्री समय और अवसर के विरुद्ध अपनी सुरक्षा करने से न चूकें।

कौटिल्य और मैक्यावेली के विचारों एवं मान्यताओं में कुछ अन्तर भी है। कौटिल्य ने राजनीति को नैतिकता और धर्म से पूर्णतया पृथक नहीं किया। यह सच है कि वे राजनीति को स्वतन्त्र व्यक्तित्व देना चाहते थे, किन्तु फिर भी उन्होंने राजनैतिक क्रियाओं पर धार्मिक तथा नैतिक नियमों पर पर्याप्त नियन्त्रण रखा। मैक्यावेली इस प्रकार के पूर्ण नियन्त्रण को अस्वीकार करते थे। उनकी मान्यता थी कि यदि उद्देश्य अच्छा है तो उसकी प्राप्ति के लिए कोई भी साधन अपनाया जा सकता है। उद्देश्य की प्राप्ति एवं कार्य की सफलता प्रत्येक साधन को उचित ठहराने के लिए पर्याप्त थी। कौटिल्य और मैक्यावेली के मध्य स्थित इस अन्तर को कुछ विचारकों ने अधिक महत्व नहीं दिया है। यदि हम सैबाइन के कथन पर विचार करें तो यह अन्तर महत्वहीन प्रतीत होता है। सैबाइन का कहना था कि 'वह (मैक्यावेली) अपनी विभिन्न

रचनाओं में उतना अनैतिक नहीं है जितना कि वह नैतिकता के प्रति उदासीन है। उसने राजनीति को अन्य विचारों से अलग करके इस प्रकार लिखा है कि जैसे राजनीति स्वयं में ही लक्ष्य हो।"[1]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि कौटिल्य की अनेक राजनैतिक मान्यतायें प्रमुख पाश्चात्य राजनैतिक विचारकों से समानता रखती है, किन्तु फिर भी उनका विचार दर्शन उनका स्वयं का ही था। उनकी मौलिकता भारत में स्थित विशेष समस्याओं की उपज थी। उनके अनेक राजनैतिक विचार आज भी उतना ही महत्व रखते हैं जितना कि उनके प्रतिपादन के समय में था। इसका कारण यही है कि उन्होंने मानवीय प्रकृति को आधार बना कर वास्तविकता की भूमि पर अपने विचार प्रकट किये थे। परिस्थितियां बदल जाने पर भी कौटिल्य की कूटनीति एवं उनकी अन्य धारणायें आज भी प्रभाव पूर्ण हैं। अर्थशास्त्र को राजनीतिज्ञों एवं कूटनीतिक कार्यकर्ताओं के लिए एक आधारभूत ग्रन्थ माना जा सकता है। इसका महत्व सर्वकालीन एवं सर्वदेशीय हैं।

---

1. "But for the most part he is not so much immoral as non moral. He simply abstracts Politics from other considerations and write of it, as if it were an end in itself." —G.H.Sabine: A History of Political Theory, page 292.

१६

राजनैतिक विचारों को प्राचीन भारत की देन

(ANCIENT INDIA'S CONTRIBUTION TO POLITICAL THOUGHTS)

प्राचीन भारत के राजनैतिक विचार एव संस्थाओं का अध्ययन करने के बाद एक प्रश्न यह उठता है कि इन्होंने राजनीति के क्षेत्र में क्या योगदान दिया और आज की परिस्थितियों में इनका क्या महत्त्व है। कुछ समय पूर्व तक यह माना जाता रहा है कि भारतीयों ने राजनीति के क्षेत्र में बहुत कम विचार किया। उनका अधिकांश भाग अस्त व्यस्त और अव्यवस्थित था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के प्रकाशन ने इस मत में सन्देह पैदा किया। अब तक भारतीय राजनीतिज्ञों की जो अवहेलना की गई वह कई कारणों से की गई थी। भारत का विदेशी शासन यह नहीं चाहता था कि यहां के निवासियों को उनके देश के गौरव एवं अतीत के महत्त्व का ज्ञान हो। हीनता की भावना पर ही उनका शासन बिना किसी परेशानी के चल सकता था। ज्यों ही भारतीयों में आत्म सम्मान पैदा होता, वे ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंकते। इसके अतिरिक्त जिन विचारकों ने भारत के अतीत का अध्ययन किया, उनमें से अधिकांश विदेशी थे जिन से कि निष्पक्षता एवं विषयगतता की आशा नहीं की जा सकती थी। उन्होंने अपने परिवेश के मापदण्डों पर यहां के राजनैतिक विचारों को कसा और ऐसा करते समय यहां की विशेष परिस्थितियों तथा मान्यताओं को कम महत्त्व दिया। जिन भारतीय विद्वानों ने यहां की राजनीति का अध्ययन करने की चेष्टा की, वे भी भारतीय रक्त में विदेशी मस्तिष्क से युक्त थे। वे विदेशियों की भाषा में उन्हीं के माप दण्डों पर उन्हीं की भांति सोचते थे। विदेशी रंग में रंगे हुए इन विचारकों को विदेशी प्रत्येक बात श्रेष्ठ प्रतीत होती थी और प्रत्येक भारतीय विचार चाहे वह कितना ही ऊंचा क्यों न हो, निकृष्ट प्रतीत होता था। भारत में राष्ट्रीयता की भावना के उदय के साथ साथ यहां के अतीत के गौरव की खोज की जाने लगी।

भारत के राजशास्त्र प्रणेताओं एवं यहां के राजनीतिक जीवन का अध्ययन करने के बाद अनेक ऐसे तथ्य सामने आये, जिन्होंने पूर्व मान्यताओं को मिटाने में आश्चर्यजनक कार्य किया। अब यह स्पष्ट हो गया कि राजनीति शास्त्र पश्चिमी विद्वानों के एकाधिकार का ही विषय नहीं था, वरन् भारतीयों ने बहुत पहले ही उन सिद्धान्तों की सृष्टि कर ली थी जिनको आज राज्य का आधार भूत माना जाता है। प्राचीन भारत में राजनीति शास्त्र के जो अनेक आचार्य हुए उन्होंने इस क्षेत्र में अनेक महत्वपूर्ण देनें दी है। डा० श्यामलाल पाण्डेय ने इन विद्वानों को काल की दृष्टि से अनेक भागों में विभाजित किया है। वैदिक काल में ऐसे अनेक ऋषि हुए, जिन्होंने इस विषय पर अपने विचार प्रकट किये हैं, किन्तु क्योंकि वेदों में किसी भी विषय का क्रमबद्ध वर्णन नहीं है इसलिए इस श्रेणी के साहित्य में उस समय के राजशास्त्र-प्रणेताओं की पृथक–पृथक देन का निश्चिय करना अत्यन्त कठिन है। डा० श्यामलाल पांडेय ने इस कार्य के लिए एक संस्था के निर्माण का सुझाव दिया है जिसके द्वारा पहले तो राजशास्त्र सम्बन्धी समस्त ऋचाओं का सकलन किया जाए फिर उन्हें विषय के अनुसार रख कर उनका मूल्यांकन करके प्रत्येक ऋषि की इस देन का निश्चय किया जाए।

सूत्र ग्रन्थों में राजनीति शास्त्र से सम्बन्धित पर्याप्त सामग्री मिलती है। इन धर्म सूत्रों में गौतम धर्म सूत्र, आपस्तम्ब धर्म सूत्र बोधायन धर्म सूत्र, एवं गोभिल धर्म सूत्र प्रधान हैं। इन सूत्र ग्रन्थों की सामग्री इतनी नहीं है कि जिसके आधार पर उस युग के राज शास्त्र प्रणेताओं का निश्चय किया जा सके तथा उनकी देन का मूल्यांकन किया जा सके। डा० पांडेय का कहना है कि "उक्त युग में कतिपय राज शास्त्र प्रणेता हुए अवश्य हैं, परन्तु उन्होंने इस क्षेत्र में किस प्रकार और किस मात्रा में सहयोग दिया, यह ज्ञात नहीं है।"

रामायण, महाभारत और मानव धर्म शास्त्र की रचना मौर्य काल के पूर्व हो चुकी थी, किन्तु बाद में उसमें अनेक अंश जोड़े गये। इन ग्रन्थों के रचनाकार वालमीकि, व्यास और मनु मुख्य राजनीति शास्त्र प्रणेता थे। कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ में अनेक रचनाकारों का उल्लेख किया है जिनमें मनु, बृहस्पति और उशना प्रमुख थे। इनके अतिरिक्त भारद्वाज, विशालाक्ष, पराशर, पिशुन, कोणपदन्त, वातव्याधि, अम्म तथा बहुदन्तीपुत्र आदि का उल्लेख किया गया है। महाभारत में भीष्म के अतिरिक्त दंडनीति के अन्य प्रणेताओं का भी उल्लेख किया गया है। इनमें भगवान ब्रह्मा का नाम उल्लेखनीय है, जिन्होंने कि लोक कल्याण के लिए अपनी बुद्धि से एक लाख अध्याय वाले दंड नीति के एक विशाल ग्रन्थ की रचना की।

मौर्य काल में राजशास्त्र के प्रमुख प्रणेता कौटिल्य हुए। कौटिल्य के विचारों से पथ प्रदर्शन प्राप्त करके सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य ने नन्द वंश का नाश किया और विशाल साम्राज्य की स्थापना की। गुप्तकाल के प्रारम्भ से हर्ष के निधन तक कामन्दक तथा शुक्र नाम के दो प्रमुख आचार्य हुए जिन्होंने कामन्दकीय नीति और शुक्र नीति नामक ग्रन्थों की रचना की। कामन्दक अपने आप को कौटिल्य की शिष्य परम्परा में मानते हैं। कामन्दकीय नीति बहुत कुछ

अर्थशास्त्र पर आधारित है। ऐसी स्थिति में कुछ विचारक इसे मौलिक ग्रन्थ नहीं मानते। शुक्र नीति की रचना उत्तर गुप्तकाल की है, इसका बहुत कुछ भाग बाद मे जोड़ा गया है। शुक्र नीति की रचना के बाद सम्भवतः राजनीति शास्त्र के किसी मौलिक ग्रंथ की रचना नहीं हुई। सोमदेव सूरी का नीति वाक्यामृत एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त लिखे गये दूसरे ग्रन्थ केवल संकलन मात्र हैं।

प्राचीन भारतीय राजनैतिक विचारधाराएं
(Political theories of Ancient India)

प्राचीन भारत में अनेक राजनैतिक विचारधाराएं प्रचलित थीं। ये विचारधाराएं वैदिक युग के बहुत समय बाद सामने आई। सम्भवतः यह काल बौद्धकाल रहा होगा। यद्यपि यह प्रक्रिया इससे पूर्व ही प्रारम्भ हो चुकी होगी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे हमको राजनीति शास्त्र की तीन प्रमुख विचारधाराओं का संकेत मिलता है। इन विचारधाराओं के प्रवर्तक मनु, बृहस्पति और उशना थे। इन तीनों विचारधाराओं के बीच जो अन्तर था उसका संकेत मात्र ही कौटिल्य द्वारा किया गया है। उनका कहना है कि मनु की विचारधारा मे विश्वास करने वाले त्रयी, वार्ता और दंड नीति को विद्या मानते थे। उन्होंने आन्वीक्षिकी को त्रयी के अन्तर्गत माना। बृहस्पति के अनुयायी केवल वार्ता और दंड नीति को ही विद्याएं मानते हैं। उशना के मतानुयायियों ने केवल दण्ड नीति को ही विद्या माना है। इन तीनों विचारधाराओं के सम्बन्ध में कुछ विस्तार से अध्ययन करना उपयुक्त रहेगा।

१ धर्म प्रधान विचारधारा

मनु द्वारा प्रचलित विचारधारा को धर्म प्रधान विचारधारा कहा जाता है। मनु ने धर्म शास्त्र की सर्वप्रथम रचना की। उन्होंने मानव धर्म शास्त्र में स्वयं लिखा है कि ब्रह्मा ने धर्म शास्त्र की रचना करके उसे मनु को दिया। नारद स्मृति में भी मनु को धर्म शास्त्र का आदि प्रणेता कहा गया है। धर्म शास्त्र मे प्रभावित होने के कारण मनु ने राजशास्त्र को धर्म के अधीन रखा। मनु ने राजनीति शास्त्र के जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया और उनसे प्रभावित होकर अन्य स्मृतिकारों ने जो रचनाएं की उन सभी को एक विचारधारा के अन्तर्गत रखा जा सकता है। यह विचारधारा धर्म को प्रमुख मानती थी, अतः इसे धर्म प्रधान विचारधारा का नाम दिया गया।

२ अर्थ प्रधान विचारधारा

इस विचारधारा का प्रवर्तक बृहस्पति को माना जाता है। महाभारत एवं अन्य ग्रन्थों में बृहस्पति को अर्थशास्त्र का प्रणेता माना गया है। बृहस्पति ने संसार में अर्थ को ही प्रधानता दी। उसके प्राप्त होने पर ही अन्य सारी चीजें प्राप्त हो सकती हैं। बृहस्पति के अनुयायियों ने भी अर्थ को ही जीवन का प्रमुख तत्व माना है और इस प्रकार राजनीति शास्त्र को भी उसके आधीन किया है। कौटिल्य के अर्थ शास्त्र को भी इस विचारधारा के अन्तर्गत शामिल किया जा सकता है। कौटिल्य का कहना था कि उन्होंने अर्थशास्त्र सम्बन्धी

विभिन्न ग्रन्थों के आधार पर अर्थशास्त्र की रचना की। इस विचारधारा के विभिन्न सिद्धान्त स्पष्ट रूप से नहीं मिलते क्योंकि कौटिल्य के अतिरिक्त अन्य अर्थशास्त्र अपने मौलिक रूप में उपलब्ध नहीं है। कौटिल्य और बृहस्पति आदि विचारक अर्थ को ही प्रधान पदार्थ मानते हैं। शेष सारी चीजें इसी के ही अन्तर्गत आती हैं।

३. दण्ड प्रधान विचारधारा

इस विचारधारा का प्रवर्त्तक उशना को माना गया है। ये वेद कालीन ऋषि थे। शुक्र नीति इन्हीं के दूसरे नाम से लिखी गई कृति है। कौटिल्य ने स्पष्ट रूप से इस बात का उल्लेख किया है कि उशना के अनुयायी दण्डनीति मात्र को ही विद्या मानते थे। दण्डनीति का ठीक प्रकार का प्रयोग करने से ही अन्य विद्यायें प्राप्त की जाती थी। इस विचारधारा के अन्तर्गत अनेक नीति ग्रन्थों की रचना हुई; किन्तु इनमें से अधिकांश प्राप्त नहीं होते, जो प्राप्त होते हैं उनकी मौलिकता के बारे में सन्देह है। इस विचारधारा के मानने वाले विद्वानों के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। केवल यही कह सकते हैं कि शुक्र इस विचारधारा के प्रवर्तक और प्रमुख विचारक थे। हो सकता है कि प्राचीन विचारधाराओं के अतिरिक्त भी अन्य विचार धाराएँ रही हो, किन्तु उनके सम्बन्ध में अधिक सूचनाएँ प्राप्त नहीं होतीं।

प्राचीन भारतीय राजनीति की मुख्य बातें
(The essentials of Ancient Indian Politics)

भारत के अतीत में जिन राजनैतिक परम्पराओं को व्यवहार एवं विचारों में अपनाया गया उनकी अपनी कुछ विशेषतायें थीं। हिन्दू राजनीति वेदों से प्रारम्भ होकर कौटिल्य के साथ अपनी चरम सीमा पर पहुंचती है और उसके बाद इसका पतन प्रारम्भ हो जाता है। इस बीच के काल में राजनीति को जिन विभिन्न मोड़ों से गुजरना पड़ा और जिन प्रमुख विशेषताओं को अपनाना पड़ा वे यहां की राजनीति के उल्लेखनीय तत्व हैं। इनका वर्णन पिछले अध्यायों में स्थान-स्थान पर किया जा चुका है। यहां हमारा तात्पर्य इन सभी को एक साथ रख कर यह देखना है कि इन्होंने राजनीति शास्त्र के कलेवर में क्या अभिवृद्धि की और उसका राजनीति शास्त्र पर कितना ऋण है।

(१) धर्म और राजनीति
(Religion And Politics)

भारतीय समाज और संस्कृति प्रारम्भ से ही आध्यात्मिक और धार्मिक विशेषताओं से अभिभूत रही है। यहां का रहन-सहन, विश्वास, विचार, जीवन के अन्य क्रियाकलाप और जीवन के बाद की कल्पनायें सभी कुछ आध्यात्मिक रंग में रंगा हुआ था तथा उस पर धर्म की छाप लगी हुई थी। धर्म का स्वरूप तथा विषय वस्तु यद्यपि समय-समय पर बदलते रहे, किन्तु जीवन पर उसका प्रभाव कभी समाप्त नहीं हुआ। डा० जायसवाल के शब्दों में "धर्म का विचार

हिन्दू मस्तिष्क में गहराइयों के साथ जमा हुआ है।"[1] महाभारत ने धर्म को सम्पूर्ण सृष्टि का आधार माना है। इससे पूर्व भी बृहदारण्यक उपनिषद ने बताया था कि धर्म ब्राह्मणों द्वारा निर्मित है, यह राजाओं का राजा है और इससे ऊंचा कुछ भी नहीं है। राजनीति पर धर्म का प्रभाव होना स्वाभाविक था। सच तो यह है कि भारतीय आचार्यों ने राजनीति को धर्म का रक्षक और साधन माना। राज्य का महत्व एवं राजपद का औचित्य केवल इसीलिए था क्योंकि इसके द्वारा समाज में धर्म की स्थापना की जाती थी। हिन्दू विश्वास के अनुसार धर्म को विनाश से बचाने के लिए समय समय पर भगवान भी अवतार लेते हैं।

हिन्दुओं ने धर्म को व्यवस्था का आधार माना। इनके विश्वास के अनुसार जब-जब अधर्म फैलता है तब तब अव्यवस्था उत्पन्न होती है। व्यवस्था लाने के लिए धर्म को गौरव और महत्व देना परम आवश्यक था। राज्य द्वारा व्यवस्था तभी की जा सकती थी जबकि वह अपनी समस्त प्रजा को धर्म की सीमाओं में रखे। प्रत्येक राजनीतिक प्रश्न पर धार्मिक दृष्टि से विचार किया जाता था। 'धर्म' राज्य की विधि का एक मूल स्रोत था। राजा को धर्म सम्मत विधि का उल्लंघन करने का कोई अधिकार नहीं था। राज दरबार में पुरोहित को एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। राजा का सामाजिक एवं व्यक्तिगत जीवन भी धर्म के नियमों के अनुसार अनुशासित होता था।

प्राचीन भारत में धर्म का प्रभाव स्पष्ट होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि उस समय राजनीतिक संस्थाओं या विचारों की अवहेलना की गई थी। विदेशी विचारकों ने इस सम्बन्ध में पर्याप्त भ्रामक विचार प्रकट किये है - प्रोफेसर ब्लूमफील्ड (Bloom Field) के कथनानुसार भारतीय इतिहास के प्रारम्भ से ही धार्मिक संस्थाओं ने यहां के लोगों के चरित्र और विकास को इतना नियन्त्रित किया जिसका उदाहरण अन्यत्र कहीं भी प्राप्त नहीं होता। ऐसी स्थिति में राज्य के हित और जाति के विकास के लिए कोई प्रावधान नहीं है। इस मत के अनुसार भारत ने धार्मिक और दार्शनिक विचारों के विकास में अपने आपको इतना खो दिया कि वह राष्ट्रीयता की भावना जागृत नहीं कर पाया, उसमें राज्य सम्बन्धी विचार भी पैदा नहीं हो पाये। इन विचारों को डा० भण्डारकर ने अपने शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है कि 'हिन्दुओं ने राजनीति विज्ञान के लिए कोई योगदान नहीं दिया और इसलिए भारत का दुनिया के राजनैतिक इतिहास में कोई स्थान नहीं है।" डा० भण्डारकर इस मत को असत्य मानते हैं।[2]

भारतीय आचार्यों ने राजनीति पर धर्म के प्रभाव को मान कर उसे पाशविक प्रवृत्तियों एवं गर्हित भावनाओं से उभारा। उन्होंने राजनीति को

---

1 "The idea of Dharma was deeply imbedded in the Hindu mind"—Dr K. P Jayaswal, op cit Page—506

2 ... e Hindu mind ... Political theo-

स्वार्थ, संघर्ष, हिंसा, शोषण आदि से बचाने के लिए उस पर धर्म के प्रभाव को स्वीकार किया। धर्म वह था जिसे समाज के रीति-रिवाज और विश्वास मान्यता देते थे। इस दृष्टि से किसी वर्ग विशेष अथवा व्यक्ति विशेष को विशेष महत्व प्रदान नहीं किया गया। धार्मिक नियमों के विपरीत कार्य करने वाला प्रत्येक व्यक्ति राज्य के दण्ड का विषय था।

धर्म और राजनीति के इस समन्वयात्मक दृष्टिकोण को यद्यपि आज के धर्म निरपेक्ष राज्य हेय दृष्टि से देख सकते हैं, किन्तु सम्भवतः उनका ऐसा करना उचित नही है, क्योंकि यहां धर्म का अर्थ मूल मानवीय प्रवृत्तियों से लिया गया था, जो कि सार्वजनिक कल्याण की आश्रय भूमि पर आधारित थी। कर्म काण्ड एवं अन्य धार्मिक अनुष्ठान इसकी केवल वाह्य अभिव्यक्ति मात्र थे। धर्म शब्द का प्रयोग आचार्यों द्वारा संकीर्ण अर्थ में नही किया गया है। इनके धर्म का स्वरूप व्यापक एवं विशाल है। उन्होंने यह माना था कि यदि प्रत्येक प्राणी स्वधर्म का पालन करता रहे और उसके नियमों का उल्लंघन न करे तो संसार में सुख और शान्ति की वर्षा हो सकती है।

(२) सामाजिक समझौते का सिद्धान्त
(Social Contact Theory)

भारतीय आचार्यों ने राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में समझौते या अनुबंध सिद्धान्त को स्वीकार किया है। उनके द्वारा वर्णित यह अनुबंध सिद्धान्त हॉब्स, लॉक और रूसो से उधार लिया हुआ नही है वरन् उनकी मौलिक कृति है। भीष्म कौटिल्य आदि विचारकों ने समझौते के सिद्धान्त की व्याख्या अपने रूप में की है। समाज अनुबंध का सिद्धान्त वैसे तो वैदिक काल मे ही प्रकट हो चुका था, किन्तु महाभारत काल में आकर इसका स्वरूप स्पष्ट हो गया। महाभारत ने विकास के तीन युगों की ओर संकेत किया है। प्रथम युग मे व्यक्ति प्राकृतिक अवस्था में रहता था। समय व्यतीत होने पर यह जीवन उसके लिए असह्य बन गया और उसने सामाजिक जीवन के युग को जन्म दिया। इस जीवन में जब कुछ बाधाएं उपस्थित हुई तो उसने राजनैतिक समाज का संगठन किया। राजनैतिक युग में आने से पूर्व उसने अनुबंध के आधार पर राज्य और सरकार की रचना की। भीष्म के अनुसार यह अनुबंध राजा और जनता के प्रतिनिधियों के बीच हुआ। दोनो पक्षों ने अनुबन्ध की शर्तों का पालन करने की प्रतिज्ञा की।

महाभारत के शांति पर्व में सामाजिक समझौते के उन दोनों स्वरूपों का वर्णन किया गया है जिनको क्रमश हॉब्स और लॉक ने मान्यता दी थी। पहले स्वरूप के अनुसार प्राकृतिक युग को मत्य युग का नाम दिया गया है। यह युग सुख शान्ति और सुमति से पूर्ण था। इस युग में व्यक्ति स्वधर्म का पालन करते थे और दूसरों को उनके धर्म पालन मे सहायता देते थे। उस समय न राजा था न राज्य। राजनैतिक जीवन न होते हुए भी सामाजिक जीवन था। समाज में धर्म की प्रधानता थी और उसी को सामने रख कर लोग एक-दूसरे की रक्षा करते थे। व्यक्ति इस अवस्था में अधिक दिनों तक

नहीं रहा, इसकी आसुरी वृत्तियों ने विकार उत्पन्न कर दिये। सत्य युग का पतन हुआ और धीरे धीरे उसका लोप हो गया। व्यक्ति का जीवन दुख, अशान्ति और पारस्परिक कलह में उलझ गया। व्यक्ति ने इस आपत्ति से निकलने का प्रयत्न किया। फलतः देवगणों ने उन पर कृपा की। उन्होंने ब्रह्मा से मनुष्यों के उद्धार की प्रार्थना की। ब्रह्मा ने दण्ड नीति प्रधान एक ग्रन्थ देवताओं को भेंट किया और मनुष्यों को उस ग्रन्थ में वर्णित जीवन सम्बन्धी नियमों के अनुसार आचरण करने को कहा। देवताओं को दण्ड का पालन कराने के लिए एक दण्डधारी की आवश्यकता प्रतीत हुई। उनकी प्रार्थना पर भगवान विष्णु ने एक ऐसे पुरुष को लक्षित किया, जिसे वे लोग अपना राजा बना लें। इस भावी राजा और लोगों के बीच एक समझौता हुआ। भावी राजा ने यह प्रतिज्ञा की कि वह प्रजा की रक्षा करेगा दण्ड नीति शास्त्र में वर्णित नियमों के अनुसार व्यवस्था करेगा और स्वयं इन नियमों का उल्लंघन करके कभी स्वेच्छाचारी न बनेगा। प्रजा के प्रतिनिधियों ने भी यह प्रतिज्ञा की, कि वे इस राजा के शासन में रहेंगे और तन मन धन से सदैव उसकी सहायता करेंगे।

सामाजिक समझौते का दूसरा स्वरूप प्राकृतिक अवस्था का भिन्न रूप में वर्णन करता है। इसके अनुसार प्राकृतिक अवस्था में कोई स्वामी नहीं था। निर्बल मनुष्य सबल मनुष्यों द्वारा पीड़ित किये जाते थे। मनुष्य का जीवन गर्हित था। इससे मुक्ति पाने के लिए व्यक्ति एकत्रित हुए और उन्होंने सदाचार सम्बन्धी कुछ नियम बनाये। यह आशा की गयी कि इन नियमों का पालन कर के मानव जीवन सुख, शान्ति और सुमति से पूर्ण हो जायेगा, इन नियमों के मूल में कोई सत्ता नहीं थी जो कि लोगों को इनका पालन करने के लिए बाध्य कर सके। लोग स्वामी की खोज के लिए ब्रह्मा के पास गये। ब्रह्मा ने उनकी प्रार्थना स्वीकार की और मनु को राजा बनाने के लिए कहा। इस प्रकार जो राजा बनाया गया वह स्वेच्छाचारी या निरंकुश नहीं हो सकता था। उसके अधिकार सीमित थे। उनकी नियुक्ति सामाजिक जीवन व संगठन को स्थायी और अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए की गयी थी। ऐसी स्थिति में यदि राजा अपने क्षेत्राधिकार का अतिक्रमण करता तो उसे राजपद से हटाया जा सकता था।

भीष्म द्वारा वर्णित सामाजिक समझौते का यह सिद्धान्त अपने आप में अनोखा ही है। इसे हम हॉब्स के समकक्ष नहीं मान सकते, क्योंकि हॉब्स के अनुसार व्यक्ति ने आत्म रक्षा के लिए अपने सारे अधिकार राजा को सौंप दिये थे। इन अधिकारों को व्यक्ति कभी वापिस नहीं ले सकता था। इस प्रकार हॉब्स ने निरंकुश शासन का समर्थन किया। इसके विपरीत भीष्म ने राजा के ऊपर धर्म और न्याय की सीमा लगाई है। उनके कथनानुसार प्रजा की रक्षा न करने वाले राजा को प्रजा उसी प्रकार छोड़ दे, जिस प्रकार समुद्र में टूटी हुई नौका को छोड़ दिया जाता है। भीष्म के विचारों को हम रूसो के समकक्ष भी नहीं कह सकते। रूसो ने प्राकृतिक अवस्था के व्यक्ति को भावुक और विवेकहीन माना है। उसमें विवेक नहीं होता। दूसरी ओर

भीष्म सत्य युग के मनुष्य में विवेक मानते हैं। रूसो ने राज्य को जनता की सामान्य इच्छा पर निर्भर किया है, जब कि भीष्म इसका आधार उस विधि संग्रह को मानते हैं जो कि ब्रह्मा द्वारा लोक कल्याण के लिए तैयार किया गया था।

भीष्म के अतिरिक्त कौटिल्य ने भी राज्य को सामाजिक समझौते की उपज माना है। उनके मतानुसार आदि काल में एक ऐसा समय था जब न राजा था न राज्य व्यवस्था। उस युग का व्यक्ति बरबरता की स्थिति में रहता था, उसका जीवन ठीक वैसा ही था जैसा कि हॉब्स ने वर्णित किया है। व्यक्ति ने इस अवस्था से निकलने के लिए मनु को अपना राजा बनाया। ऐसा करते समय राजा से यह समझौता किया गया कि वह जनता के योग-क्षेम का प्रयास करता रहे। राजा ने यदि इस कर्त्तव्य को पूरा नहीं किया तो उसे धन जन आदि की सहायता देना बन्द किया जायेगा।

(३) राजपद का देवत्व
(The Divinity of kingship)

भारतीय आचार्यों ने राजपद को दैवीय स्वरूप प्रदान कर के दो उद्देश्यों को पूरा किया था। इसके द्वारा राज्य की उत्पत्ति की व्याख्या की गई और राज्य की आज्ञाकारिता का औचित्य निर्धारित किया गया। वैदिक काल के ऋषि राजा को देवताओं की उपाधियों से विभूषित करते थे और उसे उन कर्त्तव्यों को सम्पन्न करने के लिए कहते थे जो कि देवताओं द्वारा किये जाते थे। मनु ने राज्य की उत्पत्ति के इस दैवीय सिद्धान्त में अपनी पूरी आस्था प्रकट की है। मानव धर्म शास्त्र में यह बतलाया गया है कि मनुष्य स्वभाव में दैवीय तथा आसुरी वृत्तियों का संयोग है। इन वृत्तियों के बीच जो संघर्ष होता है उसी को देवासुर संघर्ष बताया गया है। आसुरी प्रवृत्तियां मनुष्य में विकार उत्पन्न कर देती हैं और वह अपने कर्त्तव्य के मार्ग से परे हट जाता है। इनके दमन के लिए राजदण्ड की आवश्यकता है। राजा दण्ड का प्रतीक है और इसका निर्माण विश्व के कल्याण के लिए स्वयं ईश्वर ने किया है। ऐसा करते समय ईश्वर ने आठ देवताओं की मूल शक्तियों को एक ही स्थान पर संचित किया और राजा की सृष्टि की। इस प्रकार राजा न केवल देवता है वरन् सब देवताओं में प्रधान है। मनु ने राजा के पद को पवित्र माना है। उनका कहना है कि 'राजा चाहे बालक ही क्यों न हो, परन्तु उसका कभी अनादर नहीं करना चाहिए क्योंकि वह मनुष्य के रूप में पृथ्वी पर विचरने वाला एक महान देवता है। राजा का अपमान करना देवताओं का अपमान करना है।"

मनु द्वारा वर्णित राजा का यह दैवीय रूप पश्चिमी विचारकों के मत से पर्याप्त भिन्न है। डा० श्यामलाल पाण्डेय ने विश्व के राजनतिक इतिहास में मनु के इन विचारों का विशेष स्थान माना है।[1] मनु ने राजा को केवल

1. डा० श्यामलाल पाण्डेय, पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ २५.

इसी लिए दैवीय माना है क्योंकि उसमें देवताओं की विभूतियां अथवा देवगुण रहते हैं। मनु ने राजा की प्रत्येक क्रिया को विधि के आधीन माना है। वह विधि का उल्लंघन नहीं कर सकता। राजा कार्यपालिका का प्रधान अधिकारी है। वह धर्म के आधीन रह कर दण्ड का प्रयोग करता है। राजा को जिन आठ देवताओं की विभूतियां दी गईं, उनकी सारी विभूतियां राजा में नहीं आईं। केवल विशेष विभूतियां ही आईं। मनु ने राजा के सतो गुण को प्रधान माना है। उसमें जब रजोगुण और तमोगुण प्रधान हो जाते हैं तो उसे राजपद से हटा देना चाहिए।

भीष्म ने भी राजा के पद को दिव्य माना है। उनके मतानुसार वह एक ऐसा देवता है जो कि मनुष्य का रूप धारण करके पृथ्वी पर विचरता है। भीष्म ने राजा में केवल पांच देवताओं का वास माना है। उन्होंने प्रत्येक राजा को देवता नहीं कहा है। वे केवल उसी राजा को देवता कहना चाहते हैं जिसके चरित्र का विकास देव चरित्र के रूप में हो चुका है। इस प्रकार दैवीय राजा केवल कुछ ही होते हैं। अन्य राजाओं को ऐसे देवताओं के सम्मुख मस्तक झुकाना चाहिए। भारतीय आचार्यों द्वारा वर्णित राज्यपद का देवत्व पाश्चात्य विचारों के मतों से मेल नहीं खाता। पश्चिमी विचारकों ने राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि माना था जो अपने समस्त कार्यों के लिए ईश्वर के प्रति उत्तरदायी था। प्रजा को राजा की आज्ञा का विरोध नहीं करना चाहिए क्योंकि वह ईश्वर के प्रतिनिधि की आज्ञा है। यदि कोई राजा बुरा है तो वह जनता के पापों का परिणाम है। भारतीय आचार्य बुरे राजा को देवता नहीं मानते और उस पद से हटा देना पूर्णतः उचित मानते हैं।

सोमदेव सूरी ने भी राजा को देवता माना है। उनके कथनानुसार राजा परम देव है इसलिए गुरुजनों को भी चाहिए कि वे उसे नमस्कार करें, साधारण व्यक्ति का तो कहना ही क्या। उनका तर्क है कि जब हम एक पत्थर का देवता का रूप दे देते हैं तो वह पूजनीय बन जाता है। अतः जब एक मनुष्य देव रूप धारण कर लेता है तो वह क्यों न पूजनीय बन जायेगा। राजा का अनादर करना देवता का अनादर करना है। यहां तक कि उसके चित्र का भी अनादर नहीं करना चाहिए। मनु की भांति सोमदेव ने भी राजपद को पवित्र प्रतिष्ठित और मर्यादा पूर्ण कहा है।

(४) सप्ताङ्ग का सिद्धान्त
(The Theory of Seven Limbs)

भारतीय आचार्यों ने राज्य के स्वरूप का वर्णन करते हुए राज्य को सात अङ्गों से पूर्ण माना है। इस विचारधारा को राज्य की सावयवी विचारधारा भी कहा जा सकता है। इसके अनुसार जिस प्रकार प्राणी के शरीर में विभिन्न अङ्ग होते हैं उसी प्रकार राज्य का शरीर भी सात अङ्गों से मिल कर बनता है। ये सात अंग हैं स्वामी या राजा, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र।

कौटिल्य द्वारा राज्य के इन अङ्गों को राज्य की प्रकृतियां कहा गया है। वैसे देखा जाय तो राज्य का सावयवी सिद्धान्त अथवा उसके विभिन्न अङ्गों की धारणा उतनी ही पुरानी है जितना कि ऋगवेद का पुरुष सूक्त है। शुक्र ने भी इस सावयवी सिद्धान्त को विश्वास प्रदान किया है। उन्होने राज्य की तुलना वृक्ष से की है। उनके मतानुसार जिस प्रकार एक वृक्ष विभिन्न अङ्गों से मिल कर बनता है, उसी प्रकार राज्य भी अनेक अङ्गों के संयोग का परिणाम है। यदि हम राज्य को एक वृक्ष मान लें तो कहना पड़ेगा कि राजा इस की जड़ है, मन्त्री इसके स्कंद हैं, सेनापति शाखाएँ हैं, सैनिक पत्ते और फूल हैं, प्रजा फल हैं, तथा भूमि इसका बीज है। एक अन्य स्थान पर शुक्र ने राजा की तुलना प्राणी के शरीर से भी की है, जहां उन्होने राजा को सिर, मन्त्री को आंख, मित्र को कान, कोष को मुंह, सेना को मन, दुर्ग को हाथ और राष्ट्र को पैर माना है। कौटिल्य ने अपनी प्रकृतियों में राजा और राष्ट्र को प्रमुखता प्रदान की है, सम्भवत: इसी कारण शुक्र ने राष्ट्र को राज्य रूपी शरीर का पैर कहा है। भारद्वाज ने अमात्य को स्वामी अथवा राजा से भी अधिक महत्व दिया है, किन्तु कौटिल्य ने राजा को ही अधिक महत्वपूर्ण माना है, क्योकि वह अमात्यों की नियुक्ति करता है। जैसा राजा होता है वैसी ही प्रजा बन जाती है। यदि स्वामी सम्पन्न है तो अन्य प्रकृतियां भी सम्पन्न रहती है; यदि राजा प्रमादी है तो दूसरे लोग भी उसी की तरह प्रमादी बन जाते हैं।

(५) कल्याणकारी राज्य
(The Welfare State)

भारतीय आचार्यों ने राज्य को केवल पुलिस कार्य ही नहीं सौंपे हैं वरन् उसे लोक कल्याण के क्षेत्र में भी पर्याप्त शक्तियां प्रदान की है। यह सच है कि उन्होने जन जीवन की रक्षा को पर्याप्त महत्व प्रदान किया है। यहां तक कि वे जन रक्षा को राज्य के औचित्य का आधार बताते है। इतने पर भी उन्होंने केवल जन-धन की रक्षा को ही राज्य के कार्यों की इतिश्री नही माना। राजा को अपने प्रजा के सामाजिक तथा आर्थिक जीवन के भी अनेक कार्य करने के लिए कहा गया। मनु ने बाजारों तथा हाटों का नियन्त्रण एवं नियमन करने के लिए व्यवस्थाएं दी हैं। उनके कथनानुसार जो व्यक्ति क्रय-विक्रय सम्बन्धी निर्धारित नियमों का उल्लंघन करे उसे दण्ड दिया जाना चाहिए। इस के अतिरिक्त जो व्यक्ति राजा द्वारा निषिद्ध सामग्री बेचे अथवा बाजार के अतिरिक्त कहीं और जगह लाकर बेचे तो ऐसा करने वाले का सब कुछ जब्त कर लेना चाहिए। इसके अतिरिक्त बाजार में बेची जाने वाली प्रत्येक वस्तु का भाव निश्चित करने की शक्तियां दी गयी। मनु के मतानुसार राज्य को पांच दिन बाद या १५ दिन बाद वस्तुओं का विक्रय मुल्य निर्धारित करना चाहिए। राज्य माप और तोल के साधनों का भी ६ महिने बाद निरीक्षण करता रहे। बाजार में शुद्ध वस्तु बेचने के लिए प्रत्येक सम्भव उपाय किया जाए। राज्य को इस प्रकार के कार्य सौपना इस बात का प्रतीक है कि मनु राज्य को केवल पुलिस कार्य देकर सन्तुष्ट नहीं थे।

मनु की भांति भीष्म ने भी राज्य को संसार की सुव्यवस्था, उसके विकास एवं सम्वर्धन के लिए आवश्यक माना है। कामदक ने राजा को अनेक कार्य सौंपे हैं, जिन्हें देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वे एक लोक कल्याणी राज्य की भावना से प्रभावित थे। कामदक का कहना था कि राजा को अपने राज्य में हिंसा का विरोध करना चाहिए। जहां कहीं भी हिंसा का व्यवहार हो रहा हो, वहां राज्य को सक्रिय रूप से हस्तक्षेप करके उसे रोकना चाहिए। धर्म की स्थापना राज्य का एक अन्य मुख्य कार्य था, इसके लिए वह सकारात्मक एवं निषेधात्मक दोनों प्रकार से कार्य करता था। जहां अधर्म फैल रहा है, वहां राजा का हस्तक्षेप होता था और जहां धार्मिक आचरण की आवश्यकता है वहां राज्य के द्वारा सक्रिय योगदान किया जाए। राज्य को धर्म विरोधियों का परित्याग करने को कहा गया। राज्य में रहने वाले दुष्ट जनों तथा असामाजिक प्रकृति वाले लोगों का निग्रह किया जाता था और इनसे विपरीत प्रकृति वाले अर्थात सन्त महात्माओं को प्रोत्साहन दिया जाता था। विद्वान लोगों की रक्षा की जाती थी। राज्य यह देखता था कि प्रत्येक प्राणी मात्र को न्याय प्राप्त हो सके। जो राज्य अपनी सीमा में रहने वालों को न्याय प्रदान नहीं कर सकता था, उसे अनुचित एवं अनावश्यक माना गया। राज्य द्वारा कटकों का शोधन किया जाता था। वह प्रजा की आजीविका के लिए समुचित प्रबन्ध करता था। आवश्यकताग्रस्त लोगों को समय पर विशेष सहायता दी जाती थी। राज्य अकाल पीड़ितों, बाढ़ पीड़ितों एवं अन्य प्राकृतिक या भौतिक सकटों से ग्रस्त लोगों को सहायता प्रदान करता था। राज्य राहगीरों के आराम के लिए धर्मशालाएं, प्याऊ और कुएं आदि बनवाता था। नागरिकों की चिकित्सा के लिए समुचित प्रबन्ध किया जाता था। राज्य के द्वारा नागरिकों के सांस्कृतिक समारोहों में भाग लिया जाता था। वह समय-समय पर प्रजा के विश्वासों एवं परम्पराओं के अनुसार स्वयं भी अनुष्ठान किया करता था। प्रजा के कल्याण के लिए उचित समय पर, उचित वर्षा के लिए और नागरिकों को स्वस्थ रखने के लिए राजा देवताओं से प्रार्थना करता था। वह समय समय पर इन उद्देश्यों के लिए विभिन्न यज्ञों का अनुष्ठान करता था। राजा के ये सभी कार्य केवल ग्रन्थों तक ही सीमित नहीं थे, वरन् वास्तविक व्यवहार में भी इतिहास इनके अनेक उदाहरण प्रस्तुत करता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय आचार्य राज्य के लोक कल्याणकारी रूप में विश्वास करते थे। उनके मतानुसार राज्य को अपने नागरिकों की बाह्य आक्रमणों से और आन्तरिक उपद्रवों से रक्षा करनी ही चाहिए, और प्रजा के दुख निवारण एवं सुख अभिवृद्धि का भी समुचित उपाय करना चाहिए।

तानाशाही पर प्रतिबन्ध
(The Checks on Despotism)

यह सच है कि प्राचीन भारतीय आचार्यों ने दण्ड को पर्याप्त महत्व-पूर्ण माना है और इसकी स्थापना के लिए शक्ति का समर्थन किया है। उनके मतानुसार शक्तिहीन राज्य न तो बाहरी आक्रमणों से रक्षा कर सकता है और

न ही देश के अन्तर्गत दुष्टों का दमन कर सकता है। अतः राज्य का शक्तिशाली होना शांति एवं व्यवस्था के लिए परम आवश्यक है। शक्ति की महत्ता के साथ यह ध्यान रहना चाहिए कि वह इतनी न बढ़ जाए कि प्रजा के अधिकारों और स्वतन्त्रताओं को ही समाप्त कर दे। जब शक्ति का दुरुपयोग करके रक्षक ही भक्षक बन जाते हैं तो धर्म, न्याय, व्यवस्था, संस्कृति, कला साहित्य आदि सब कुछ अन्तराल को चला जाता है। मनुष्य अपनी मानवता से गिर कर उन पशुओं से भी हीन बन जाता है जो बुद्धि के अभाव में प्रकृति के नियमों से स्वतः ही संचालित होते हैं।

अनेक पाश्चात्य इतिहासकारों तथा राजनीतिज्ञों ने यह मत प्रकट किया है कि पूर्व के विशाल साम्राज्य केवल कर एकत्रित करने वाली संस्थाएं थे। वे अपनी प्रजा पर कुछ उद्देश्यों के लिए अनेक अवसरों पर बाध्यकारी शक्तियों का प्रयोग करते थे। यह मत उनकी दृष्टि से भारत पर भी लागू होता है। भारत में राजा के स्वेच्छाचारी बनने के अनेक अवसर थे। यहां की वंश परम्परागत राजाशाही कभी भी स्वेच्छाचारी बन सकती थी। राजा का पुत्र राजा बनेगा, इस नियम के होने पर ऐसे अवसर भी आते थे जबकि राज्य शक्ति, असमर्थ, दुष्ट, दमनकारी हाथों में चली जाती थी। कल्हण ने अपनी राज तरंगिणी में इस तानाशाही का उदाहरण प्रस्तुत किया है। सरकारी अधिकारियों के स्वेच्छाचारी व्यवहार को रोकना अत्यन्त कठिन होता है। स्वयं राजा भी उस पर प्रभावपूर्ण रूप से नियन्त्रण नहीं लगा सकता था। ऐसी स्थिति में यह जरूरी बन गया कि उनके व्यवहार पर कुछ प्रतिबन्ध लगाये जाते।

प्राचीन भारत में राजा और प्रशासनिक अधिकारियों की शक्ति पर जो प्रतिबन्ध लगाये गये उनमें पहला परम्पराओं तथा रीति रिवाजों का था। राज्य की परम्पराएं तथा प्रथाएं आसानी से ठुकराई नहीं जा सकती थीं। स्थानीय परम्पराओं के विरुद्ध व्यवहार जनता का समर्थन प्राप्त नहीं कर सकता था और इस प्रकार उसका सफल होना संदिग्ध था। शुक्र ने इन परम्पराओं को देश धर्म कहा है। उनके मतानुसार 'देश धर्म वह परम्परा है जो चाहे श्रुति से पैदा हुई हो या न हुई हो किन्तु उस क्षेत्र के विभिन्न वर्गों के लोग हमेशा उसका अनुशीलन करते हैं।" डा० बेनी प्रसाद के कथनानुसार 'स्थानीय व्यवहारों को केवल परेशानी की जोखिम उठाकर ही तोड़ा जा सकता था।"[1]

राज्य शक्ति पर दूसरी सीमा धर्म की लगाई गयी। धर्म शास्त्रों के द्वारा जिस व्यवहार का समर्थन किया जाता था, उसे आसानी से लोकमत की स्वीकृति प्राप्त हो जाती थी। इसके विपरीत प्रत्येक अधार्मिक कार्य का

---

1. The Local practices could be violated only at risk of trouble.–Dr. Beni Prashad op. cit. page 506.

जन विरोध होता था और इस जन विरोध की अवहेलना करने वाला अधिक समय तक अपने पद पर नहीं रह पाता था। धर्म द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त एवं व्यवहार सार्वजनिक कल्याण को अपना उद्देश्य मानकर चलते थे। इनके विरोध का तात्पर्य था सार्वजनिक हित का विरोध अथवा राजा के व्यक्तिगत स्वार्थ की सिद्धि। ये दोनों ही अनुचित थे। भारतीय आचार्यों ने राजा को यह निर्देश दिया है कि वह अधार्मिक राज्य पर तुरन्त आक्रमण कर दे। यह व्यवहारिक दृष्टि से भी उपयोगी था क्योंकि ऐसे राज्य की प्रजा कभी भी सन्तुष्ट नहीं रहती। इस प्रकार राजा अपने पड़ोसी राज्य के विरोध तथा जनता के असन्तोष के भय से, धर्म से भय खाता था और हमेशा उसके अनुकूल व्यवहार करने की चेष्टा करता था।

धर्म और परम्पराओं का प्रतिबन्ध नैतिक प्रतिबंध कहा जा सकता है, जिसका पालन राजा की स्वेच्छा पर आधारित था। इनके अतिरिक्त सजग स्वार्थ अथवा सुविधा की दृष्टि से भी राज शक्ति स्वयं अपने ऊपर प्रतिबंध लगा देती थी। जो राजा अपने राज्य के प्रसार की इच्छा रखते थे अथवा जिन्हें हमेशा पड़ोसियों के आक्रमण का खतरा रहता था वे अपनी प्रभावशील सुरक्षा एवं आक्रमण की सफलता के लिए अपनी प्रजा को सन्तुष्ट और सुव्यवस्थित रखना आवश्यक मानते थे। कौटिल्य ने विदेश नीति पर विचार प्रकट करते हुए यह मत अभिव्यक्त किया है कि विजय की इच्छा चाहने वाले राजा को अपनी प्रजा हमेशा सन्तुष्ट एवं प्रसन्न रखनी चाहिए। ऐसा न होने पर शत्रु राजा अपनी भेद नीति का जाल बिछा देते हैं और राज्य का पतन हो जाता है।

राजा की शक्तियों पर एक अन्य प्रतिबन्ध सामन्त व्यवस्था के कारण स्वतः ही लग जाता था। राज्य के आधीन रहने वाले सामन्त हमेशा अपनी स्वतन्त्रता के लिये तड़पते रहते थे और उन्हें उस अवसर की तलाश रहती थी जबकि वे अपनी इस इच्छा को पूरा कर सकें। ऐसी स्थिति में राजा को सदैव धर्म, न्याय और जनकल्याण की भावना से प्रेरित होकर कार्य करना पड़ता था। असन्तुष्ट प्रजा वाला राजा अपने सामन्तों पर कठिनाई से ही विजय पाता था।

राज्य शक्ति के दुरुपयोग पर एक अन्य प्रतिबन्ध राजा के जीवन की सुरक्षा द्वारा लग जाता था। राजा का पद अत्यन्त गौरव और अनेक दायित्वों से पूर्ण होता था। उसे अनेक प्रकार के लोगों से सम्पर्क रखना होता था। ऐसी स्थिति में उसके जीवन के लिए खतरे और भी बढ़ जाते थे। कौन किस समय राजा की जीवन लीला को समाप्त कर देगा, यह अनिश्चित था। अतः उसे ऐसी नीति अपनानी होती थी जिससे कि उसके कम से कम दुश्मन बन सकें और समर्थकों तथा पक्षपातियों की संख्या बढ़े। ऐसा होने पर ही उनके जीवन की सुरक्षा के अवसर बढ़ते थे।

प्रजातन्त्रात्मक आदर्श
(The Democratic Ideals)

प्राचीन भारतीय आचार्यों ने मुख्य रूप से राजतन्त्र का समर्थन किया था, किन्तु उनका राजतन्त्र वंश परम्परागत होते हुए भी स्वेच्छाचारी नहीं

था। उपर्युक्त प्रतिबन्धों ने राजा को जनकल्याण के कार्य करने के लिए मज-
बूर किया। इस प्रकार प्राचीन भारत में शासन का संचालन जनता के
लिए किया जाता था। इस दृष्टि से उसे प्रजातन्त्रात्मक कह सकते हैं। राजा
द्वारा किये जाने वाले कार्य तथा अनेक महत्वपूर्ण निर्णय उन प्रतिनिधियों
की सलाह से लिये जाते थे जो कि समाज के विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व
करते थे। जिस समय राजा का राज्याभिषेक किया जाता था उस समय
जनता के प्रतिनिधि राजा के शीर्ष पर जल छिड़कते थे। राजा की मन्त्रि
परिषद के सदस्य इस प्रकार नियुक्त किये जाते थे कि वे समाज के अधिकांश
वर्गों का प्रतिनिधित्व कर सकें। जनता के इन प्रतिनिधियों का चयन यद्यपि
मतदान के द्वारा नहीं किया जाता था; पर फिर भी जन इच्छा की अवहे-
लना नहीं की जाती थी। जो व्यक्ति अधिक लोकप्रिय एवं विद्वान होता था
उसे मन्त्रि परिषद में न लेकर राजा अपने लिए अनेक संकट आमन्त्रित
करता था।

भारतीय शासन पद्धति एक अन्य प्रकार से भी प्रजातन्त्रात्मक आदर्शों
से प्रभावित थी। इसमें सत्ता का विकेन्द्रीकरण किया गया था और अनेक
स्थानीय इकाइयां बनाकर जनता के हाथों में प्रशासनिक अधिकार एवं दायित्व
सौंपने का प्रयास किया गया था।

प्राचीन भारत में अनेक गणराज्यों का भी उल्लेख मिलता है, जहां
शासक एक न होकर अनेक होते थे तथा निर्णय व्यक्तिगत न होकर सामूहिक
रूप से लिये जाते थे।

आज यह सिद्ध हो चुका है कि तानाशाही प्रवृत्तियां जो कि पहले
केवल पूर्व की ही विशेषतायें बताई जाती थी, पश्चिम में भी व्यापक रूप से
व्याप्त थी। इसके अतिरिक्त पूर्व में प्रजातन्त्रात्मक विचारों एवं संस्थाओं का
अपना महत्व था। जब हम प्राचीन भारत में प्रजातन्त्रात्मक संस्थाओं के
अस्तित्व का मूल्यांकन करें तो हमको अपना उदार मापदण्ड लेकर नहीं चलना
चाहिए, जिसमें कि पहल, जन मत संग्रह, श्रेणी, समाजवाद एवं अन्य अनेक
आधुनिकतम, संवैधानिक विकास समन्वित हो। प्राचीन भारत की प्रशास-
निक संस्थाओं में प्रजातन्त्रात्मक तत्व केवल सीमित रूप में ही प्राप्त होता
था। इस सम्बन्ध में मिस्टर विनय कुमार सरकार ने उन मर्यादाओं का
उल्लेख किया है जिनमें रह कर प्राचीन भारत के प्रजातन्त्रात्मक मूल्य कार्य
करते थे। इनके मतानुसार राजतन्त्रात्मक भारत में जनता और मन्त्रि परिषद
के बीच कोई सावयवी सम्पर्क नहीं था। परिषद का कार्यकाल राजा की खुशी
पर निर्भर था।

यह सच है कि परिषदों द्वारा शासक की स्वेच्छाचारिता पर प्रतिबन्ध
लगाया जाता था, किन्तु यह कोई कानूनी प्रतिबन्ध नहीं होता था वरन्
इसका महत्व तथा प्रभाव स्वयं राजा की इच्छा पर आधारित था। दूसरे,
प्राचीन भारत में विकेन्द्रीकरण करके जो तथाकथित ग्राम्य समाज या छोटे
गणराज्य बनाये गये थे, वे राजधानियां या साम्राज्यों से स्वतन्त्र नहीं थे।

उनके पास सम्प्रभुता के अधिकार नहीं थे । वैदिक काल में वे स्वायत्त जातियों के समर्थन पर आश्रित रहने के कारण कुछ समय के लिये देहाती या शहरी गणराज्य बन रहे किन्तु बाद में आकर वे साम्राज्यवादी व्यवस्था के पद-सोपान में निम्नस्तर इकाइयां बन गये । केन्द्रीयकृत राष्ट्रीय प्रशासन में उनकी स्वतन्त्रता का प्रश्न ही नहीं उठता था । तीसरे, उस काल में आवागमन के अभाव अथवा सैनिक असमर्थता के कारण यदि केन्द्रीय सरकार जिलों, नगरों अथवा गांवों की प्रशासनिक इकाइयों पर नियन्त्रण नहीं रख पाती थी तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि वे राजनीतिक शक्ति का विधेयात्मक रूप से प्रयोग कर सकती थीं । इस प्रकार प्राचीन भारत में श्रेणियों गणों, मन्त्रि परिषदों और जनपदों के विकास का अर्थ यह नहीं था कि राज्य का स्वरूप प्रजातन्त्रात्मक बन गया । कुछ विचारक इन तत्वों को प्रजातन्त्र की गौण विशेषतायें मानते हैं । एक स्वेच्छाचारी शासक भी अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इन विशेषताओं को अपना सकता था ।

(७) दण्ड का महत्व
(The Importance of Punishment)

भारतीय आचार्यों ने राज्य में दण्ड को इतना महत्वपूर्ण माना है कि राजनीति के पर्यायवाची शब्द के रूप म 'दण्डनीति' शब्द का नाम लिया गया है । मनु ने यह माना था कि व्यक्ति उस समय तक अपने धर्म का पालन नहीं करता जब तक कि ऐसा न करने वालों के लिए समुचित दण्ड की व्यवस्था न हो । दण्ड के माध्यम से ही सम्पूर्ण सृष्टि आनन्दमयी बनती है । यह सम्पूर्ण जनता को शासन में रखता है । जब समस्त प्राणी सो जाते हैं तो यह उनकी रक्षा करता है । दण्ड के द्वारा समाज में धर्म की स्थापना की जाती है । जब दण्ड नहीं रहता तो लोग आचरण भ्रष्ट हो जाते हैं तथा समाज की सारी मर्यादायें नष्ट हो जाती हैं । महाभारत मे भी दण्ड की महत्ता को इस प्रकार वर्णित किया है । उसमें अर्जुन ने दण्ड के सामाजिक धार्मिक, आर्थिक, नैतिक आदि प्रभावों को अभिव्यक्त किया है । कौटिल्य ने अपराधियों को विभिन्न प्रकार के दण्ड देने की बात कही है ।

कामन्दक ने यम को ही दण्ड कहा है । यह राजा में स्थित होता है । दण्ड नीति के द्वारा अन्य तीनों विद्याओं की रक्षा की जाती है । दण्ड नीति का विकृत रूप मनुष्य का विनाश कर देता है । दण्ड न्यायोचित होना चाहिए । उचित से अधिक दण्ड प्रजा म उद्वेग पैदा कर देता है प्रजा असंतुष्ट हो जाती है और अपने राजा के प्रति कोई भावना नहीं रखती । दूसरी ओर जो राजा उचित से नर्म दण्ड का प्रयोग करता है उसका सब जगह तिरस्कार होता है । इस प्रकार अनुचित दण्ड जगलों में रहने वाली जनता को भी नाराज कर देता है । ऐसे दण्ड से अधम बढ़ता है और राजा भ्रष्ट हो जाता है । संसार में हर स्थान पर लोभ और काम फैल जाता है और ऐसा होने पर वह नष्ट होने लगता है ।

मनु आदि आचार्यों ने दण्ड के अनेक रूप माने हैं । जब अपराधी को उसके अपराध से परिचित कराके समझा-बुझा कर छोड़ दिया जाता है तो

उसे वाग्दण्ड कहा जाता है। जब अपराधी को उसके अपराध के लिए बुरा भला कह कर छोड़ देते हैं तो वह धिग्दण्ड कहलाता है। अपराधी से दण्ड के रूप में धन ग्रहण करके उसे मुक्त कर देना, अर्थ दण्ड होता है, जबकि काय दण्ड में अनेक प्रकार के शारीरिक दण्ड बेंत या रस्सी से मारना, अंग-भंग करना और मृत्यु दण्ड देना आदि को गिना गया है।

अपराधियों को दण्ड देने के लिए राज्य में कारागृहों के निर्माण की योजना प्रस्तुत की गयी। कुछ अपराधों के लिए मनु जाति बहिष्कार का दण्ड भी देना चाहते हैं। उन्होंने कुछ अपराधों के लिए केवल प्रार्याश्चत का विधान किया है। प्रायश्चित की कठोरता, अपराध की कठोरता के अनुसार तय की जाती थी। कुछ अपराधों के लिए निर्वासन के दण्ड की भी व्यवस्था की गयी।

दण्ड प्रदान करते समय कुछ सिद्धांतों को काम में लाने की सिफारिश की गई। आचार्यों का विश्वास था कि जब अधर्म पूर्वक दण्ड दिया जाता है तो संसार में अपयश और बदनामी फैलती है और परलोक में स्वर्ग के अवसर समाप्त हो जाते हैं। न्यायपूर्ण दण्ड के लिए यह जरूरी था कि दण्ड देने से पहले अपराध का प्रसंग, उसकी मात्रा, उसके प्रकार एवं स्वरूप, अपराधी की सामर्थ्य, देशकाल तथा परिस्थिति आदि पर गम्भीरतापूर्वक विचार करके दण्ड दिया जाना चाहिए। एक ही अपराध के लिए प्रत्येक व्यक्ति को एक ही प्रकार का दण्ड देने का पक्ष भारतीय आचार्यों ने नहीं लिया। उनका कहना था कि मूर्ख और विद्वान को एक जैसा दण्ड देना उचित नहीं होगा। यद्यपि दोनो को दण्ड देने का उद्देश्य एक है, किन्तु दण्ड के बाह्य रूप में अन्तर रहेगा। एक विद्वान व्यक्ति को फटकारना तथा बुरा भला कहना उतना ही असर डालता है जितना असर कि एक मूर्ख पर उसे पीटने से पड़ता है।

इस प्रकार दण्ड की समुचित व्यवस्था करके आचार्यों ने राज्य में शांति और व्यवस्था बनाये रखने का मार्ग सुझाया। आज भी केवल दण्ड के माध्यम से ही राज्य दुष्टों का दमन करता है और अच्छे व्यक्तियों को दण्ड न देकर प्रोत्साहित करता है।

मण्डल का सिद्धांत
(The Theory of Mandala)

अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों का वर्णन करते समय भारतीय आचार्यों ने जो मण्डल का सिद्धांत प्रतिपादित किया, वह उनकी अपनी विशेषता है। इस सिद्धांत के अनुसार सामान्यत: एक राज्य अपने पड़ोसी का मित्र होता है। इस मान्यता को आज की राजनीति के प्रसंग में देख कर सत्य प्रमाणित किया जा सकता है। मण्डल का सिद्धांत एक प्रकार से गुटबन्दी का सिद्धांत था। मनु ने इस सिद्धांत का वर्णन करते हुए राज्यों को चार श्रेणियों में विभाजित किया, ये थीं—मध्यम राज्य, शत्रु राज्य, मित्र राज्य और उदासीन राज्य। ये सभी राज्य अपना अलग से मण्डल बनाते थे। इस मण्डल सिद्धांत के अनुसार जो राजा अन्य राज्यों से ठीक प्रकार का सम्बन्ध रखना चाहता था (ऐसे राजा को विजिगीषु कहा गया है) यह प्रयत्न करना चाहिए कि यदि

अन्य कोई राजा उसका विरोधी या शत्रु है अर्थात् जो इस राज्य को नष्ट अथवा विजित करना चाहता है अथवा वह विजिगीषु राजा अन्य किसी राजा पर विजय प्राप्त करना चाहता है तो वह ऐसा प्रयत्न करे कि शत्रु राजा के समस्त सहायकों पर नियन्त्रण करने के लिए स्वयं भी उतने ही सहायक बना ले। इस प्रकार एक मण्डल में स्वयं विजिगीषु राजा, उसका मित्र तथा अन्य सहायक, उसका शत्रु, शत्रु के सभी सहायक तथा मध्यम और उदासीन राजा होते थे। यदि मध्यम और उदासीन राजाओं को एक ही समझ लिया जाए तो मण्डल में मुख्यतया तीन प्रकार के राज्य आये—अरि राज्य, मित्र राज्य तथा अरि मित्र राज्य। इन तीनों प्रकार के राज्यों के लिए जो उपर्युक्त योजना बनाई जाती थी उसे मण्डल कहा गया। प्रत्येक विजिगीषु राजा और उसका शत्रु राजा विजय प्राप्त करने के लिए अपने अपने सहायकों की सख्या मे वृद्धि करते हैं। मण्ड मे जो विभिन्न प्रकार के राजा होते हैं उनमें सबसे पहला विजिगीषु का निकटवर्ती शत्रु राजा होता है। वैसे शत्रु राजा कोई दूर स्थित राज्य का भी हो सकता था किन्तु अधिक सम्भावनाएं निकटवर्ती राजा के साथ शत्रुता की होती हैं। इसका कारण यह है कि ये दोनों राज्य एक दूसरे पर विजय प्राप्त करना चाहेंगे और इसके परिणामस्वरूप उनमें निरन्तर संघर्ष बना रहेगा। शत्रु के बाद विजिगीषु के मित्र और उसके शत्रु के मित्र का नाम आता है। इस प्रकार चार तरह के राज्य हमारे सामने आए। ये ऐसे राज्य हैं जो कि सामने आकर संघर्ष करते हैं। इन राजाओं के अतिरिक्त कुछ ऐसे राजा भी होते हैं जो पीछे से विजिगीषु को परेशान करते हैं। इस प्रकार के राजा को 'पार्ष्णिग्राह' कहा गया। इस प्रकार के राजा को युद्ध अहित करने से रोकने के लिए विजिगीषु को भी अपने सहायक बनाने होते हैं। इन सहायकों को आक्रन्द कहा गया है। इन दोनों प्रकार के राजाओं के भी सहायक होते थे। पार्ष्णिग्राह के सहायक को 'पार्ष्णिग्राह आसार' कहा जाता था और आक्रन्द के सहायक के 'आक्रान्दसार' कहते थे। इस प्रकार पीछे से सहायता करने वाले राजा भी चार हो गये। इस प्रकार कुल दस राजा हुए—विजिगीषु और शत्रु, इन दोनों के दो-दो सामने वाले सहायक और दो-दो पीछे वाले सहायक, इनके अतिरिक्त दो अन्य प्रकार के राजा हुआ करते थे। एक तो वह जो कि विजिगीषु और उसके शत्रु राजा दोनों के समीप रहता था और इसलिए वह इन दोनों के संघर्ष मे रुचि लेता था। इस प्रकार का राजा सहायता देने में समर्थ होने पर भी संघर्ष में नहीं पडता और अलग रहता है। उसकी उदासीनता या तो इसलिए होती है, कि वह संघर्ष में नहीं पडना चाहता अथवा इसलिए उसकी रुचि नहीं होती है कि वह अनुकूल अवसर की राह देखता है और जिधर उसका फायदा हो, उधर का पक्ष ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार के राजा को मध्यम राजा कहा गया। दूसरे प्रकार के वे राजा हुआ करते थे जो कि यद्यपि सामर्थ्यवान तो होते थे किन्तु विजिगीषु और शत्रु राजा से वे इतने दूर रहते थे कि इनको इस संघर्ष मे किसी प्रकार की रुचि नहीं होती थी। ये राजा उदासीन कहलाये। इस प्रकार राजाओं की १२ श्रेणियों में प्रत्येक राजा को अपने परराज्य सम्बन्धों पर विचार करते समय इन १२ प्रकार के राज्यों को ध्यान मे रखना होता था। यह जरूरी नहीं है कि प्रत्येक संघर्ष में ये सभी प्रकार के राजा सक्रिय

हों, किन्तु सम्भावना यह थी कि ये सक्रिय हो सकते थे। विजिगीषु को मंडल के इन सभी राजाओं तथा उनकी प्रकृतियों पर समुचित रूप से विचार करके आगे बढ़ना पड़ता था। मण्डल सिद्धान्त को मानते हुए प्रत्येक राजा को अपनी नीति इस प्रकार चलानी होती थी कि अन्य कोई भी राजा, चाहे उसका मित्र हो, चाहे शत्रु हो या मध्यम हो वह उससे अधिक शक्तिशाली न होने पाये। इस प्रकार कोई भी राजा उसके लिए संकट उत्पन्न न कर सके। स्वयं विजिगीषु इतना शक्तिशाली हो जाए कि वह अन्य राजाओं पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर सके। कामंदक का कहना था कि राजा को मण्डल में अपनी नीति इस तरह संचालित करनी चाहिए कि उसका प्रभाव बढ़ता रहे और मण्डल में उसके प्रति क्षोभ उत्पन्न न हो तथा सभी उससे प्रसन्न रहें।

उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय आचार्यों ने राज्य के विभिन्न पहलुओं पर विस्तार के साथ विचार किया। उनके सामने वे सभी महत्वपूर्ण प्रश्न थे जो कि आज भी राजनीति शास्त्र के विशारदों की विवेचना के विषय हैं। आचार्यों ने इन प्रश्नों का उत्तर तत्कालीन परिस्थितियों एवं विश्वासों के आधार पर दिया। अनेक स्थानों पर उन्होंने मनुष्यों की प्रकृति और उसके स्थाई मूल्यों को अपने अध्ययन का आधार बनाया। यही कारण है कि आज भी उनके अनेक सिद्धांत अपना पर्याप्त महत्व रखते हैं। राज्य की उत्पति उसके स्वरूप, संगठन तथा दायित्व, सरकार के रूप, कार्य प्रणाली एव औचित्य, प्रशासनिक सगठन तथा प्रशासनिक कर्मचारियों की समुचित व्यवस्था न्याय व्यवस्था, अपराधों और दण्डों का निर्धारण, कर प्रणाली एव आर्थिक प्रशासन से सम्बन्धित अन्य प्रश्न, परराज्य सम्बन्धों की विभिन्न समस्याओं आदि पर भारतीय आचार्यों ने अपने विचार प्रकट किये हैं। इनके विचार राजनीति शास्त्र के कोष की अमूल्य निधि हैं। यद्यपि यह बहुत समय तक अदृश्य रहे, किन्तु इससे इनका महत्व तथा प्रभाव ठीक उसी प्रकार नहीं घटता जिस प्रकार यदि अन्धे व्यक्ति सूर्य के अस्तित्व का आभास न कर पाये तो उसकी उष्णता, चमक, तेज और प्रभाव कम नहीं होता। ज्यों-ज्यों इस क्षेत्र में शोध कार्य किये जाएंगे, त्यों-त्यों नये तथ्य हमारे समक्ष प्रकट होंगे और राजनीति शास्त्र का भण्डार अधिक से अधिक समृद्ध होता जायेगा।

APPENDIX A : EXERCISES

1 Discuss the Hindu concept of the relationship of politics to ethics during the various periods of the ancient Indian political thought

प्राचीन भारतीय राजनैतिक विचारों के विभिन्न कालों में राजनीति और नीति शास्त्र के मध्य स्थित सम्बन्ध के बारे में हिन्दू मान्यता पर विचार कीजिए।

2 "In ancient India the concept of sovereignty was not unknown, but its content and character were very different to those of its modern counterpart" (H M Sinha) Comment.

'प्राचीन भारत में सम्प्रभुता का सिद्धान्त अज्ञात नहीं था किन्तु इसकी विषय वस्तु एवं प्रकृति इसके आधुनिक रूप से बहुत भिन्न थी।' —एच० एम० सिन्हा। व्याख्या कीजिये।

3 'The six persons should be avoided like a leaky boat on the sea viz., a preceptor that does not speak, a priest that has not studied the scriptures, a king that does not grant protection, a wife that utters what is disagreeable, a cowherd that likes to rove within the village, and a barber that is desirous of going to the woods" (Mahabharat) Comment

'छः व्यक्तियों को समुद्र में टूटी हुई नाव की तरह छोड़ देना चाहिए—एक उपदेशक जो कि बोलता नहीं है एक पुरोहित जो धर्म शास्त्रों का अध्ययन नहीं करता है एक राजा जो कि सुरक्षा प्रदान नहीं करता है एक पत्नी जो कि अमान्य बात कहती है एक चरवाहा जो कि गाँव में डकैती करना चाहता है तथा एक नाई जो कि जंगल में जाना चाहता है।' (महाभारत) व्याख्या कीजिये।

4 'To conclude Sovereignty in Ancient Indian Polity was sovereignty of the king, who was the chakravarti, the Dharmpravartaka, the maker of the age a god in human form the lord of the land and water, the source of law and justice' H.M Sinha)

What was the nature of sovereignty in ancient Indian state ? Where was sovereignty located in ancient Indian state? Did the ancient Hindu thinkers place any limitations on state sovereignty ? What were the views of Man on this subject ?

'निष्कर्ष रूप में प्राचीन भारतीय राजनीति में सम्प्रभुता राजा की सम्प्रभुता थी जो कि चक्रवर्ती था, धर्म प्रवर्तक था, युग निर्माता था,

मानवीय रूप में देवता था, पृथ्वी और जल का स्वामी था, कानून तथा न्याय का स्रोत था।" एच० एम० सिन्हा

प्राचीन भारतीय राज्य में सम्प्रभुता की प्रकृति क्या थी ? प्राचीन भारतीय राज्य में सम्प्रभुता कहां स्थित थी ? क्या प्राचीन हिन्दू विचारकों ने राज्य की सम्प्रभुता पर कोई सीमा लगाई थी ? इस विषय में मनु के क्या विचार हैं ?

5. Write a critical note on the role of religion in the Hindu Polity.

हिन्दू राजशास्त्र में धर्म के स्थान पर एक आलोचनात्मक लेख लिखिये।

6. Discuss the relationship between politics (dandniti) and the other branches of ancient learning (trayi, anwishiki and varta) according to kautilya, Manu, Vrihaspati and Sukra.

'कौटिल्य, मनु, बृहस्पति और शुक्र के द्वारा वर्णित राजनीति (दण्ड नीति) और प्राचीन विद्या की शाखाओं (त्रयी, अन्वीक्षिकी एवं वार्ता) के मध्य स्थित सम्बन्ध पर विचार कीजिये।

7. "The prince who is virtuous is a part of gods. He who is otherwise is a part of the demons, an enemy of religion and oppressor of subjects." (Sukrantisar) Comment..

एक सद्गुण सम्पन्न राजा देवताओं का अंश है। सद्गुण विहीन राजा शैतान का अंश है, वह धर्म का शत्रु तथा प्रजा को कष्ट देने वाला है।' [शुक्रनीति सार] व्याख्या कीजिये।

8. The Hindu state recognised the supremacy of Dharma but was not a theocracy." Discuss this statement

'हिन्दू राज्य ने धर्म की सर्वोच्चता को मान्यता दी थी किन्तु वह धर्म राज्य नहीं था'—इस कथन पर विचार कीजिए।

9. Give a brief review of the Hindu political theories regarding the origin of Government.

सरकार की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हिन्दू राजनैतिक सिद्धांतों की संक्षिप्त व्याख्या कीजिये।

10. Describe the sphere of state activity during Hindu period. What were the grounds of political obligation at that time ?

हिन्दू काल में राज्य के कार्य क्षेत्र की व्याख्या कीजिये। उस समय राजनैतिक आज्ञाकारिता के क्या आधार थे ?

11. To what extent to the political thinkers of ancient India support the theory do the contractual origin of the state ?

प्राचीन भारत के राजनैतिक विचारकों ने किस सीमा तक राज्य की उत्पत्ति में समझौते के सिद्धांत का समर्थन किया ?

12. "I have heard that formerly the people lived in anarchy, and like the fish in water, the larger ones eating up the smaller, were faced with destruction." (Mahabharat) Comment

'मैंने सुना है कि पहले लोग अराजक अवस्था में रहते थे घोर पानी की मछलियों की भांति शक्तिशाली कमजोर को खा जाता था। इस प्रकार उनका विनाश होने लगा।' [महाभारत]—व्याख्या कीजिये।

13. "The king as the head, the ministers the eyes, the allies the ears, the treasury the mouth, the forts the hands, the people the feet, and the army the will power of the state" (Sukranitisar)

In the light of above statement, describe the organic theory about the nature of state

'राजा मस्तक है, मंत्री लोग आखें हैं, मित्र गण कान है कोष मुह है, किला हाथ है, जनता पाव है तथा सेना राज्य की इच्छा शक्ति है।' —शुक्रनीति सार

उक्त कथन के सन्दर्भ में राज्य की प्रकृति से सम्बन्धित सावयवी सिद्धांत की व्याख्या कीजिये।

14. "The Hindu theories of the origin of the state represent the combination of the contract and divine origin theories" Explain and comment

'राज्य की उत्पत्ति से सम्बन्धित हिन्दू सिद्धांत समझौते तथा दैवीय उत्पत्ति के सिद्धातों के संयोग का प्रतिनिधित्व करते है।' स्पष्ट कीजिये तथा व्याख्या कीजिये।

15. Estimate the true nature of the Hindu theories of social contract. Compare them with the European contractual thought of the 17th and 18 centuries.

सामाजिक समझौते के हिन्दू सिद्धान्तों की वास्तविक प्रकृति को अनुमानित कीजिये तथा उनकी १७वी एवं १८वीं शताब्दी के यूरोपीय समझौते के विचार से तुलना कीजिये।

16 "State came into existance to remove the situation of Matsya Nyaya." Explain

'राज्य मात्स्य न्याय की स्थिति के निवारण हेतु अस्तित्व में आया' स्पष्ट कीजिये।

17. 'The kingdom is an organism of seven limbs.' (Sukraniti) Comment.

'राज्य सात प्रकृतियों का सावयवी है।' [शुक्रनीति] व्याख्या कीजिये।

18. It is interesting to note that while Indian philosophy is

highly individualistic.....the Indian social structure was communal." Comment.

'यह एक महत्वपूर्ण बात है कि भारतीय दर्शन के उच्च रूप से व्यक्तिवादी होते हुए भी यहां की सामाजिक संरचना साम्प्रदायिक थी।' व्याख्या कीजिये।

19. How far is the Saptang theory comparable with the modern organic theory of the state ?

सप्ताङ्ग सिद्धान्त की तुलना राज्य के आधुनिक सावयवी सिद्धान्त से किस प्रकार की जा सकती है ?

20. Discuss the role of spies in the polity envisaged in the Arthashastra.

अर्थशास्त्र में वर्णित गुप्तचरों के राजनीति में योगदान पर विचार कीजिये।

21. Discuss the concept of Danda in Hindu political philosophy with special reference to the Arthshastra, Mahabharat and Sukraniti.

अर्थशास्त्र, महाभारत एवं शुक्रनीति पर विशेष ध्यान देते हुए हिन्दू राजनैतिक दर्शन के दण्ड सिद्धान्त पर विचार कीजिये।

22. What was the relationship between the state and the citizen in ancient India ? Was the ancient state theocratic ? What were the various bases of political obligation in Ancient India ? In this connection discuss the views of J J Anjaria as expressed by him in 'The Nature and Grounds of Political Obligation in the Hindu State.'

प्राचीन भारत में राज्य और नागरिक के बीच क्या सम्बन्ध था ? क्या प्राचीन राज्य धर्मराज्य था ? प्राचीन भारत में राजनैतिक आज्ञाकारिता के विभिन्न आधार क्या थे ? इस सम्बन्ध में जे० जे० अन्जारिया के विचारों का उल्लेख कीजिये जो कि उन्होंने 'हिन्दू राज्य में राजनैतिक दायित्व की प्रकृति एवं आधार' में स्पष्ट किये हैं।

23. "The Danda governs the people: it protects all. The Danda keeps awake when all are asleep." (Manu) Comment.

'दण्ड लोगों को प्रशासित करता है; यह सभी की रक्षा करता है। जब सभी सो जाते हैं तो दण्ड जागता रहता है।' [मनु] व्याख्या कीजिये।

24. "The whole world is kept in order by punishment, for a guiltless man is hard to find" (Manusmriti) Comment.

'दण्ड के द्वारा ही सम्पूर्ण संसार को व्यवस्था मे रखा जाता है क्योंकि पापहीन व्यक्ति मिलना कठिन है।' [मनु स्मृति] व्याख्या करिये।

25 Examine the nature of law and the sanction behind it in the Hindu Polity

हिन्दू राजनीति में कानून की प्रकृति तथा उसके पीछे दबाव का परीक्षण कीजिये ।

26 Give an account of the administration of the capital city of Patliputra during the Maurya period

मौर्य कालीन पाटलिपुत्र नगर के प्रशासन का विवरण दीजिये ।

27 Describe the principal political institutions of the Indo-Aryans of the pre Brahmans period.

ब्राह्मण काल से पूर्व के हिन्दू आर्यों की प्रमुख राजनैतिक संस्थाओं की व्याख्या कीजिये ।

28 Examine the organisation and working of the ancient Indian village community as a self governing corporation

एक आत्म प्रशासित नियम के रूप में प्राचीन भारतीय ग्राम्य समाज के संगठन एवं कार्यों का परीक्षण कीजिये ।

29 Give a brief account of some of the typical republics in Buddhist India

बौद्ध कालीन भारत के कुछ विशेष गणराज्यों का संक्षिप्त विवरण दीजिये ।

30 "They report everything to the king where the people have a king and to the Magistrates where the people are self governed" (Megasthenes) Comment

जिन लोगों के बीच राजा है वे अपनी सारी बात राजा को प्रतिवेदित करते हैं और जो लोग आत्मप्रशासित हैं वे अपने न्यायाधीशों को सारी बात कहते हैं।' [मैगस्थनीज] व्याख्या कीजिये ।

31 "The King should punish the wicked by administering justice The King should attentively look after law suits (vyavharas) by freeing himself from anger and greed according to the dictates of Dharma Sastras, in the company of the chief justice, Amatya, Brahmana and priest" (Sukra)

Discuss the organisational system and machinery of judicial administration in Ancient India Was justice administered impartially and independently in Ancient India? Was any preference or special treatment given to any class or caste in the administration of justice?

राजा को न्याय के प्रशासन द्वारा दुष्टों को दण्ड देना चाहिये । राजा को धर्मशास्त्रों के निर्देशों के अनुसार लालच तथा क्रोध से अलग रहकर ध्यानपूर्वक व्यवहार की देखभाल करनी चाहिए । ऐसा करते

समय वह मुख्य न्यायाधीश, अमात्य, ब्राह्मण और पुरोहित को साथ रखे।' [शुक्र]

प्राचीन भारत में न्यायिक प्रशासन की संगठनात्मक व्यवस्था और यंत्र पर विचार कीजिये। क्या प्राचीन भारत में न्याय का प्रशासन निष्पक्ष और स्वतन्त्र रूप से होता था? क्या न्याय के प्रशासन में किसी वर्ग या जाति को कोई प्राथमिकता या विशेष व्यवहार प्रदान किया गया था।

32. "As a scheme of administrative organisation, the Arthshastra is *unsurpassed in Hindu literature It is complete* in its perspective, detailed in its regulations, thorough in its treatment. It makes provision for all contingencies, for all imaginable possibilities. As a system of Hindu administrative theory, it leaves hardly any thing to be desired" (Dr. Beni Pd.)

Discuss the system of Public Administration as depicted in Kautilya's Arthashastra.

'प्रशासकीय संगठन की योजना के रूप में अर्थशास्त्र हिन्दू साहित्य में लाजवाब है। यह अपने चित्रण में पूर्ण है, विनियमन में विस्तृत है तथा अपने व्यवहार में गहन है। इसमें सभी संकट कालों के लिए तथा सभी कल्पनात्मक सम्भावनाओं के लिए प्रावधान बनाये हैं। हिन्दू प्रशासकीय सिद्धान्त की व्यवस्था के रूप में इसने किसी भी वांछनीय चीज को मुश्किल से ही छोड़ा है।' [डॉ॰ बेनी प्रसाद]

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वर्णित लोक प्रशासन की व्यवस्था पर विचार कीजिये।

33. Explain the organisation, functions and role of Panchayats in ancient India

प्राचीन भारत में पंचायतों के संगठन, कार्यों एवं योगदान को स्पष्ट कीजिये।

34. Do you agree with the view that a democratic system of government existed in Ancient India ? Support your answer with arguments.

क्या आप इस मत से सहमत है कि सरकार की प्रजातंत्रात्मक व्यवस्था का प्राचीन भारत में अस्तित्व था? अपने उत्तर का तर्क सहित समर्थन कीजिये।

35. The Republics are open more to dangers from within than from outside. *(Mahabbarat) Comment.*

'गणराज्यों को बाहर की अपेक्षा आन्तरिक खतरा अधिक रहता है।' [महाभारत] व्याख्या करिये।

36. Give a brief account of the Republics found in Ancient India and of the sources of our information about them.

How do you account for the ultimate disappearance of the republics from the political scene ?

प्राचीन भारत में प्राप्त गणराज्यों का तथा उनसे सम्बन्धित सूचना के स्रोतों का सक्षेप में उल्लेख कीजिये । ये राजनैतिक मच पर से किस प्रकार अदृश्य हो गये ?

37 "The knower of the law should administer it after considering the laws of the caste, locality, guilds and the clans" (Manu)

Discuss the nature and sources of law in Hindu India in the light of the above remark.

'कानून के जानकार को इन्हें प्रशासित करने से पूर्व जाति, स्थानीय सघों तथा वशो के कानूनों पर विचार करना चाहिए ।' [मनु]

उक्त कथन के प्रकाश में हिन्दू-भारत में कानून की प्रकृति एव स्रोतों पर विचार कीजिये ।

38 Give an outline of the local administration in the rural areas as sketched in the Arthshastra and Mahabharat

अर्थशास्त्र एव महाभारत मे दी गई देहाती क्षेत्रों मे स्थानीय प्रशासन की रूप रेखा प्रस्तुत कीजिये ।

39. "So long may the Vajjis be expected not to decline but to prosper" (Buddha) Explain Point out the factors which contributed to the downfall of the Hindu Republican system

'उस समय तक वज्जियों का पतन नहीं होगा बरन् वे उन्नति करेंगे ।' [बुद्ध] स्पष्ट कीजिये । हिन्दू गणराज्य व्यवस्था के लिए उत्तरदायी तत्वो का उल्लेख कीजिये ।

40 "The Paur Janpada were a powerful check on royal authority" (Jayasawal) Discuss and show the history of the Paura Janpada

'पौर-जानपद शाही सत्ता पर शक्तिशाली प्रतिबन्ध थे ।' [जायसवाल] विचार करिये और पौर-जानपद के इतिहास का उल्लेख कीजिये ।

41 "The only friend who follows man even after death is justice" (Manusmriti) Explain and point out the salient features of the judical system in ancient India.

'व्यक्ति की मृत्यु के बाद भी रहने वाला उसका एकमात्र मित्र न्याय है ।' [मनुस्मृति] इस कथन को स्पष्ट करते हुए प्राचीन भारत में न्यायिक व्यवस्था की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख कीजिये ।

42 Write a short essay on the system of local government during the Gupta period.

गुप्त कालीन स्थानीय सरकार की व्यवस्था पर एक लेख लिखिये ।

43. Compare the views of Manu regarding the authority and obligation of the Monarch with the views enumerated in Mahabharat and Sukranitisara.

राजा की सत्ता और आज्ञाकारिता से सम्बन्धित मनु द्वारा वर्णित विचारों की महाभारत एवं शुक्रनीति सार के तत्सम्बन्धी विचारों से तुलना कीजिये ।

44. Explain the significance of the royal coronation ceremony and indicate the importance of Rajsuya and Ashvamedha sacrifices.

राज्याभिषेक समारोह की उपयोगिता स्पष्ट करते हुए राजसूय तथा अश्वमेघ यज्ञों के महत्व का उल्लेख कीजिये ।

45. Explain the main tenets of Rajdharma as expounded by Bhisma in Shantiparva.

शान्तिपर्व मे भीष्म द्वारा प्रतिपादित राजधर्म की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख कीजिये ।

46. Discuss the Hindu ideas on the position and functions of the king as seen in Dharmasutras, Arthsastra and Jatakas.

धर्मसूत्रों, अर्थशास्त्र एवं बौद्ध जातकों में प्रदर्शित राजा की स्थिति एव कार्यों से सम्बन्धित हिन्दू विचारों को स्पष्ट कीजिये ।

47. "Kingship in ancient India had an elective basis and was limited in nature." Critically examine.

'प्राचीन भारत में राजपद का आधार निर्वाचित था तथा उसकी प्रकृति सीमित थी ।' आलोचनात्मक परीक्षण कीजिये

48. 'The Hindu king was primarily an administrative-cum-judicial functionary rather than an absolute ruler.'

Summarise the various limitations on which the powers of the Hindu king were subject, with special reference to the above remark.

'हिन्दू राजा एक पूर्ण प्रशासक की अपेक्षा मुख्यतः प्रशासकीय एवं न्यायिक कार्यकर्त्ता था ।'

उक्त कथन के संदर्भ में उन विभिन्न सीमाओं का उल्लेख कीजिये जो कि हिन्दू राजा की शक्तियों पर लगायी गई थी ।

49. "The King has been created to be the protector of the castes and orders, who, all according to their rank, discharge their several duties." (Manusmriti) Comment.

'राजा की नियुक्ति जाति एवं व्यवस्था की रक्षा के लिए की गई थी जिसके अनुसार सभी अपने-अपने कर्त्तव्यों का पालन करते थे ।' [मनुस्मृति] व्याख्या कीजिये

50 Outline the checks on the tyranny of a Hindu King. What was their character and how far were they effective ?

राजा की तानाशाही पर लगाये गये प्रतिबन्धों का उल्लेख कीजिये । उनकी प्रकृति क्या थी तथा वे कितने प्रभाव शील थे ?

51 'It is the King in whom the duties of both Indra and Yama are blended" How.

'राजा में इन्द्र तथा यम दोनों के कर्त्तव्यों का सगम होता है ।' कैसे ?

52. Ruin would overtake everything if the king did not exercise the duty of protection. Explain.

यदि राजा रक्षा के कर्त्तव्य का पालन न करे तो प्रत्येक चीज नष्ट हो जायेगी । स्पष्ट कीजिये ।

53 "Between the night I am born and the night I die whatever good I might have done, my heaven, my life and my progeny may I be deprived of, if I oppress (injure) you" Examine the significance of the coronation ceremony in the light of this oath

'जिस रात मैं पैदा हुआ था और जिस रात मैं मरू गा उसके बीच में मैंने जो भी अच्छे कार्य किये हैं मेरा स्वर्ग, मेरा जीवन और मेरा वश आदि सब कुछ मुझ से छीन लिया जाये अगर मैं तुमको कष्ट दू ।' इस शपथ के प्रकाश में राज्याभिषेक समारोह के महत्व का परीक्षण कीजिये ।

54 How much limited the authority of king in ancient India was ?

प्राचीन भारत में राजा की सत्ता कितनी सीमित थी ?

55 Do you agree with the view that the ancient Indian writers did not recognise 'divine right" of kings ?

क्या आप इस दृष्टिकोण से सहमत हैं कि प्राचीन भारतीय लेखकों ने राजाओं के दैवीय अधिकारों को मान्यता नहीं दी थी ?

56 'Even the king [illegible]

'जो राजा सभी विद्याओं में कुशल है तथा शासन कला का अच्छा जानकार है उसे भी राजनैतिक हितों का बिना मन्त्रियों से परामर्श किये, स्वय ही अध्ययन नहीं करना चाहिए । जो राजा स्वेच्छापूर्ण व्यवहार करता है वह अनेक दुखों को आमन्त्रित करता है । वह अपनी जनता के लिए पराया बन जाता है तथा राज्य से वचित हो जाता है ।' व्याख्या कीजिये ।

57. What are the qualifications and disqualifications for ministers as prescribed by Bhishma in the Shantiparva of the Mahabharat.

महाभारत के शान्तिपर्व में भीष्म द्वारा वर्णित मंत्रियों की योग्यताओं एवं अयोग्यताओं का वर्णन कीजिये।

58. "One thousand sages form Indra's assembly of ministers. They are his eyes. (Arthshastra)" Comment.

'इन्द्र की मन्त्री परिषद में एक हजार ऋषि हैं। वे उसकी आंखें हैं।' (अर्थशास्त्र) व्याख्या करिये।

59. Write an essay on the composition, functions and importance of the Council of Ministers in ancient India.

प्राचीन भारत में मन्त्री परिषद की बनावट, कार्य एवं महत्व के संबंध में एक लेख लिखिये।

60. In what important respects do the Buddhist and Jain concepts of politics differ from that of the Hindus.

राजनीति की बौद्ध एवं जैन मान्यतायें हिन्दुओं से किन महत्त्वपूर्ण दृष्टियों में भिन्नता रखती हैं।

61. Describe the chief political institutions of the Aryans in the Vedic period.

वैदिक काल में आर्यों की प्रमुख राजनैतिक संस्थाओं की व्याख्या कीजिये।

62. Compare the views expounded in the Mahabharata, Arthshastra and Sukranitisara with regard to inter-state relations.

अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों के बारे में महाभारत अर्थशास्त्र, एवं शुक्रनीति-सार में प्रतिपादित विचारों की व्याख्या कीजिये।

63. Explain the main features of the Buddhist concept of polity. In what ways did it differ from the Hindu concept ?

राजशास्त्र के बौद्ध सिद्धांत की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिये। यह हिन्दू सिद्धांत से किन अर्थों में भिन्नता रखता है ?

64. What difference do you find in the approach of Dr. K.P. Jayaswal (Hindu Polity) and Dr. Beni Pd. (The State in Ancient India) towards the interpretation of the nature and working of the Hindu Political institutions ? Which of the two appears to you to be nearer the mark and why ?

हिन्दू राजनैतिक संस्थाओं की प्रकृति एवं कार्य प्रणाली की व्याख्या करते समय डा० के० पी० जायसवाल [हिन्दू राज शास्त्र] एवं डा० बेनी प्रसाद [प्राचीन भारत में राज्य] द्वारा अपनाये गये दृष्टिकोण

में आप क्या अन्तर पाते हैं ? आपकी दृष्टि से इन दोनों में से कौन सत्य के अधिक निकट है और क्यों ?

65 Write an essay on the Mauryan administrative system

मौर्य कालीन प्रशासकीय व्यवस्था पर एक लेख लिखिये।

66 Describe the nature and system of government prevailing in the Republics of the Buddhist period

बौद्ध कालीन गणराज्यों म प्रचलित सरकार की व्यवस्था एवं प्रकृति की व्याख्या कीजिये।

67 "*The Indians belong to the category of peoples who* have left their impression upon the pages of history as the founders of original system of political thought." (U N Ghosal) Comment

भारतीयों को ऐसे लोगों की श्रेणी मे रखा जा सकता है जिन्होंने राजनैतिक विचारों की मौलिक व्यवस्था के जन्मदाताओं के रूप म इतिहास के पृष्ठों पर अपनी छाप छोड़ी है।' [यू० एन० घोषाल] स्पष्ट करिये।

68 Critically examine the theory of Mandala as propounded in Kautilya's Arthshastra

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में प्रतिपादित मण्डल सिद्धान्त का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिये।

69 'All that we can do is to describe the Arthshastra Government as a peculiar type of administrative paternalism *which regulated the relation of classes and spent* its resources for the welfare of the community" (N C Bandopadhyaya)

In the light of the above statement discuss the functions of the state as suggested by Kautilya in his Arthshastra

'जो सब हम कर सकते हैं वह यह है कि अर्थशास्त्र की सरकार को प्रशासकीय पैतृकता के एक विशेष प्रकार के रूप में वर्णित करें जिसने वर्गों के सम्बन्धों को विनियमित किया तथा समाज के कल्याण के लिए अपने साधनों को लगाया।' [एन० सी० बन्द्योपाध्याय]

उक्त कथन के संदर्भ में कौटिल्य द्वारा अर्थशास्त्र में वर्णित राज्य के कार्यों पर विचार कीजिये। क्या कौटिल्य की व्यवस्था को राज्य समाजवाद कहा जा सकता है ? इस प्रश्न पर डी० आर० भण्डारकर [भारतीय राज शास्त्र के कुछ पहलू] डा० बेनी प्रसाद [प्राचीन

भारत में राज्य] तथा एन० सी० बन्द्योपाध्याय [हिन्दू राजशास्त्र एवं राजनैतिक विचारधारा का विकास] के दृष्टिकोण का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिये ।

70. "Kautilya's Arthashastra is more a treatise on public administration than an essay in political theory." Discuss.

'कौटिल्य का अर्थशास्त्र राजनैतिक विचारधारा पर एक लेख होने की अपेक्षा लोक प्रशासन पर एक ग्रन्थ अधिक है ।' विचार करिये ।

71. "The state on the border is a natural enemy; the one next beyond that, a natural friend. (Arthashastra) Discuss.

'सीमावर्ती राज्य स्वाभाविक शत्रु है और उसके परे का राज्य स्वाभाविक मित्र है ।' विचार कीजिये ।

72. "The Kautilyan state was all comprehensive." Elucidate and compare Kautilya with Machiavelli as master of statecraft.

'कौटिल्य का राज्य सर्वव्यापी है ।' चित्रण कीजिये तथा प्रशासन कला के विशेषज्ञों के रूप में कौटिल्य तथा मैक्यावेली की तुलना कीजिये ।

73. Examine the principles of taxation in Ancient India.

प्राचीन भारत में करारोपण के सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिये ।

74. Differentiate between the views of Kautilya and Bhishma on inter state relations and war.

अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों तथा युद्ध के सम्बन्ध में भीष्म तथा कौटिल्य के दृष्टिकोणों में अन्तर दिखाइये ।

75. "In brief the highest truth of all treatises on politics is Mistrust. For this reason mistrust of all persons is productive of greatest importance." (Mahabharat) Explain.

"संक्षेप में राजनीति के सभी ग्रन्थों का सर्वोच्च सत्य अविश्वास है अतः सभी व्यक्तियों के प्रति अविश्वास करना अत्यन्त महत्वपूर्ण है ।' [महाभारत] स्पष्ट करिये ।

76. "An arrow shot by an archer may or may not kill a person, but the skillful diplomacy of a wise man kills even those unborn.". In the light of this analyse Kautilya's conception of diplomacy.

'धनुष से छूटा हुआ तीर एक व्यक्ति को मार भी सकता है और नहीं भी किन्तु बुद्धिमान पुरुष की कुशल कूटनीति उन तक को भी मार देती है जो कि अभी पैदा नहीं हुए हैं ।' इस कथन के प्रकाश में कूटनीति से सम्बन्धित कौटिल्य की मान्यता का विश्लेपण कीजिये ।

APPENDIX B: BIBLIOGRAPHY

1. Agrawala, V.S. : India as Known to Panini, Lucknow, 1953
2 Aiyanagar, Rangaswami, K.V. Aspects of the Social and Political System of Manusmriti, Lucknow, 1949
3 Aiyanagar, Rangaswami, K. V. : Rajadharma, Madras, 1941.
4 Aiyanagar Rangaswami, K. V. . Some Aspects of Ancient Indian Polity, Madras, 1936.
5 Aiyanagar, Rangaswami, K.V. : Some Aspects of Hindu View of Life, Baroda, 1952
6 Aiyanagar S K : Evolution of Hindu Administrative Institutions in South India, Madras, 1931.
7 Aiyanagar, S K. . Ancient India, London, 1911. Aiyanagar Commemoration Volume.
8 Altekar, A S : State and Government in Ancient India, Banaras, 1949
9. Anjaria, J J. : The Nature and Grounds of Political Obligation in the Hindu State, London, 1935.
10 Aiyer, Ramaswami C. P. : Indian Political Theories, Madras 1937
11 Allen, C K. : Law in the Making, Oxford, U.P. 1958.
12 Bandyopadhyay, N C. : Kautilya Calcutta, 1927
13. Bandyopadhyay, N. C . Development of Hindu Polity and Political Theory, Calcutta, 1927.
14. Banerjea, P N Public Administration in Ancient India. London, 1916
15 Banerjea, P N : International Law and Custom in Ancient India, Calcutta, 1920
16 Banerjea, Pramathenath : A History of Indian Taxation, London, 1930
17. Banerji, R D : International Law and Customs in Ancient India, Bombay, 1934
18. Bhandarkar, D R · Some Aspects of Ancient Hindu Polity, Banaras, 1929
19 Bashan, A L. : The Wonder That was India New York, 1954.
20 Basu, Praphullachandra : Indo-Aryan Polity during the period of Rigveda, London, 1925.

21. Bosanquet Nernard : The Philosophical Theories of the State, Macmillan, 18 9.
22. Chakravarti, C. : A Study in Hindu Social Polity, Calcutta, 1923.
23. Chatterjee, H. L. : International Law and Inter state Relations in Ancient India, Calcutta, 1958.
24. Das, S.K. : Rig Vedic India, Calcutta, 1921.
25. Das Gupta, Ramprasad : Crime and Punishment in Ancient India, Calcutta, 1930.
26. Date, G.T. : The Art of War in Ancient India, London 1929.
27. Davar, R.S. & K.D.P. Madan, : General Principles of Indian Law, Bombay, 1950.
28. Dharma, P.C. : The Ramayan Polity, Madras, 1941.
29. Dikshitar, V.R.R. : The Gupta Polity, Madras, 1952.
30. Dikshitar, V. R. R. : Hindu Administrative Institutions. Madras, 1929.
31. Dikshitar, V.R.R. : The Mauryan Polity, Madras, 1953.
32. Dreckmeier, Charlse : Kingship and Community in Early India, Oxford, 1962.
33. Dutta, B. N. : Studies in Indian Social Polity, Calcutta, 1944
34. Ghoshal, U. N. : A History of Indian Political Ideas, Bombay, 1959.
35. Heesterman. J. C. : The Ancint Indian Royal Consecration, The Hage, 1957.
36. Hopkins, E W. : "The Social and Military Position of the Ruling Caste in Ancient India," urnal of the American Oriental Socie II (1889).
. yaswal, K. P. : Manu and Yajyavalkya, Calcutta, 1930.
38. Jayaswal, K.P. : Hindu Polity, Calcutta, 1934.
39. Jha, G. N. : Hindu Law and its Sources, Indian Press, Allahabad, 1933.
40. Kapadia, K.N. :Hindu Kinship, Bombay, 1947.
41. Krishna Rao, M. V. : Studies in Kautilya. Maysore, 1953.
42. Law, Narendra Nath : Inter State Relations in Ancient Indian, London, 1920.
43. Law, Narendra Nath ; Aspects of Ancient Indian Polity, Oxford, 1921.
Mac Crindle. J.W. : Invasion of India by Alexander the Great, West minister, 1896.

Milindapanho, Ed. V. Trenchkner, London, 1928, Tr. T W. Rhys Davids, SBE., Oxford, 1880-4
45. Mookerji, R K. : Local Government in Ancient India, Motilal Banarasidas, 1948.
46. Oppert, Gustav, : On the Weapons, Army Organization and Political Maxims of the Ancient Hindu, Madras, 1880
47 Panikkar, K M. : The Origin and Evolution of Kingship in India, Baroda, 1935.
48 *Prasad, Beni : Government in Ancient India, Allahabad.* 1928
49 Prasad, Beni : The State in Ancient India, Allahabad, 1928
50 Raghavan, V : Kalidasa and Kautalya, Nagpur, 1946
51. Sarkar B. K , . Political Institutions & Theories of the Hindus, Calcutta, 1939.
52 Sarkar, B K. : The Political Institutions and Theories of the Hindu, Calcutta, 1922
53. Saletore Bhaskar, : India's Diplomatic Relations with the East, Bombay, 1960
54 Saletore Bhaskar : India's Diplomatic Relations with the West, Bombay, 1958.
55 Saletore Bhaskar : Ancient Indian Political Thought and Institutions, Asia, 1963.
56 Sen, Ajit Kumar : Studies in Hindu Political Thought, Calcutta, 1926
57 Sen Gupta, N C . Evoluation of Ancient Indian Law, Calcutta, 1953.
58. Sen Gupta N. C . Sources of Law and Society in Ancient India, Calcutta, 1914.
59. *Shastri, Jagdish, Lal : Political Thought in Puranas,* Lahore, 1944.
60 Shastri, N K A · The age of Nandas and Mauryas, Motilal Banarsidas 1952.
61. Sinha, B P :' The King in the Kautilyan States' Journal of The Bihar Research Society, XL No 2.
62. Sinha, B P.. "The King in the Kautilyan State" Journal of the Bihar Research Society, XL No ¹.
63 Sinha, H N Sovereignty in Ancient Indian Polity, London. 1938
64 Subba Rao N S · Economic and Political Conditions in Ancient India as described in the Jatakas, Mysore, 1911

65. Viswanath, S. V. : International law in Ancient India, London, 1925.
66. Wittfogel, K. : Oriental Despotism, New Haven, 1957.
67. V.P. Verma : Hindu Political Thought.
68. J.J. Anjaria : Nature and Grounds of Political Obligation in Ancient India.
69. R.S. Sharma ; Political Ideas and Institutions in Ancient India.
70. Ram Chandra Dikshitar : Hindu Administrative Institutions.
71. Dr. Beni Prasad : Theory of Government in Ancient India.
72. Dr. Beni Prasad : State in Ancient India.
73. डा० वेनीप्रसाद : हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता
74. Krishnaswami Ayangar : Ancient India.
75. Verdachari : Hindu Judicial System.
76. J.W. Spellman : Political Theory of Ancient India.
77. श्री वेद व्यास : महाभारत, शांतिपर्व
78. शुक्र : शुक्रनीतिसार, अध्याय 1
79. कौटिल्य : अर्थशास्त्र (शामशास्त्री द्वारा अनुवादित)
80. T.N. Ramaswamy : Essentials of Indian Statecraft.
81. H.N. Sinha : The Development of Indian Polity.
82. Jean Filliozat : Political History of India.
83. सत्यकाम, सिद्धान्त शास्त्री : पंचतंत्र की भाषा
84. डा० श्यामलाल पाण्डेय : भारतीय राजशास्त्र प्रणेता
85. उदयनारायण राय : प्राचीन भारत में नगर तथा नागरिक जीवन
86. डा० सुरेन्द्र नाथ मीतल : समाज और राज्य—भारतीय विचार
87. डा० देवीदत्त शुक्ल : प्राचीन भारत में जनतन्त्र
88. Aiyangar, K. V. R. : Consideration on Some Aspects of Ancient Indian Polity.
89. G. Banerjee : Hindu Law of Marriage and Stridhana.
90. Coomaraswamy, A.K. : Indian Craftsman.
91. T.W. Rhys Davids : Buddhist India.
92. E.W. Hopkins : India Old and New.
93. J. Mathai : Village Government in Ancient India.
94. B.G. Row ; Ancient Hindu Judicature.
95. G.C. Sarkar : Hindu Law.

96. K.L. Sarkar : Rules of Interpretation in Hindu Law.

97. Pran Nath : Study in the Economic Conditions of Ancient India.

98 Ramchandra Pant : Amatya.

99. Mc. C Rindle : Ancient India as described by Megasthanes and Aryian.

100. E.B Havell : History of Aryan Rule in India.

101 E.J Rapson : Ancient India.

102. J N. Samadar : Economic Conditions of Ancient India.